लेखक के पिता श्री

स्वर्गीय रामधारी प्रसाद 'विशारद

पूज्य बाबू जी की स्मृति में

अनुक्रम

द्वितीय अध्याय

प्रेरणा

तृतीय अध्याय

प्रसार

हिन्दी के समस्या नाटककार और उनके नाटक

संस्कृत नाटकों में समस्या

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र में नाटक की उत्पत्ति की जो कथा आयी है
होता है कि भारत में नाटक की उत्पत्ति एक तात्कालिक समस्या के स
हुई। आर्यो ने वेद के अध्ययन-कार्य को द्विजों का एकान्त अधिकार
समाज का एक बहुत बड़ा भाग वेद से वंचित था। इधर त्रेता में स्व
की समाप्ति के बाद, लोक-जीवन में लोभ, क्रोध, काम, ईर्ष्या की दुष्प्रवृ
अनियंत्रित रूप में बढ़ा और आर्य-मनीषियों को ऐसा लगा कि उ
वृत्तियों का प्रभाव बढ़ रहा है। देश का जीवन 'ग्राम्य धर्म प्रवृत्त' ह
खतरा है कि कही आर्य-संस्कृति भहरा कर गिर न पड़े। राष्ट्रीय जीवन
स्थिति में एक पंचम वेद की सृष्टि की समस्या खड़ी हुई। नाट्य-शास्त्र
कि इसी माँग की पूर्ति हुई, नाटक की उत्पत्ति के द्वारा। इस नये पंचम
कुछ था, जिसकी समाज को जरूरत थी। नाट्य-शास्त्र का ही प्रमा
विद्या, इतिहास, ज्ञान, शिल्प, कला और कथा आदि का समाहार है। स्पष
वेद सार्ववर्णिक हुआ और उसका लक्ष्य था जम्बूद्वीप के निवासिय
परिहार करना और दानवता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति की रोक-थाम करना
यह भी स्पष्ट होता है कि संस्कृत के आरम्भिक नाटकों की रचना के पीछे
आग्रह था, अप्रकृत का परिहार कर प्रकृत की स्थापना की निष्ठा थी।
यद्यपि आर्य-धर्म तथा धर्म-विधियों, पूजा-पाठ आदि से कुछ लेना-देना
ये केवल मनोरंजन के अर्थ नहीं रचे गये थे। मनोरंजन के साथ ही
जातियों के बीच सांस्कृतिक समन्वय संघटित करने का पुनीत उद्देश्य भ
रचयिताओं के समक्ष था।

प्राप्त सूचनाओं से विदित है कि इन्द्र के 'ध्वजमह' उत्सव के
'पराजय' नामक एक नाटक खुले मैदान में अभिनीत हुआ। इस नाट
पराभव की एक ऐसी कथा आयी, जिससे आर्यो का उत्साह बढ़ता औ
हो कर असुरों से संघर्ष करते। कहते हैं, अप्सराओं ने इस नाटक के
भूमिका ग्रहण की और नारद जैसे संगीतज्ञ का योगदान भी इसे प्राप

राष्ट्र के इस पहले नाटक में एक समसामयिक कथा है, जिसको केवल मनोरंजनार्थ ग्रहण नहीं किया गया है, बल्कि उसकी रचना से एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति होती थी। उस नाटक की अन्य विशेषता है कि उसमें संगीत है और उससे भी बड़ी बात है कि उसमें स्त्री-पात्र रखे गये।

इस नाटक के अभिनय के समय असुरों ने स्वभावतः बड़ा उत्पात मचाया। कहा जाता है कि भरत को उनका उत्पात देख कर यह ध्यान आया कि नाटक को खुले मैदान में खेलना नहीं चाहिए था। बस यहीं से प्रेक्षागृह की, जहाँ नाटक निर्विघ्न खेले जा सकें, अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव भी होता है। इस प्रकार हमारे देश में प्रेक्षागृह का क्रम भी एक समस्या के समाधान के रूप में ही चला। भरत को इस नाटक के समय होने वाले असुरों के उत्पात से यह बोध भी हुआ कि नाटक ऐसे नही होने चाहिएँ, जिनसे किसी वर्ग की भावनाओं पर आघात हो। नाट्य-शास्त्र का प्रमाण है कि आगे चल कर 'अमृतमन्थन' नामक समवकार का अभिनय एक प्रेक्षागृह में हुआ और उसमें देवों के साथ दानवों ने भी भाग लिया। इस प्रकार नाटकों के द्वारा आर्य-अनार्य सास्कृतिक एकता की स्थापना का क्रम चला। सिद्ध यह हुआ कि नाटक के आयोजन के मूल में मनोरंजन की प्रवृत्ति की माँग तो रही ही, उसका एक और भी निश्चित उद्देश्य था कि देश की विरोधी प्रवृत्तियों के बीच सास्कृतिक एकता, समन्वय, स्थिर हो।

समाज में जो विकृतियाँ थीं, उनको हटाने के जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाटक का सिलसिला चला, उसके आग्रह पर प्रहसनों की रचना स्वाभाविक थी। प्रहसन से मनोरंजन तो सिद्ध होता ही है, विकृतियो का व्यंग्य-रूप प्रस्तुत कर, सुधार की प्रेरणा भी जगायी जा सकती है। नाट्य-शास्त्र ने बताया है कि ऐसे ही किसी प्रहसन का परिणाम हुआ कि भरत और उनके पुत्रों को ऋषियों द्वारा अभिशप्त भी होना पड़ा।

संस्कृत-नाटकों की यह विकास-कथा हमारे आज के बुद्धि-युग के लिए विश्वास्य चाहे न भी हो, इतना तो सिद्ध ही है कि नाट्य-शास्त्र के इस विवरण से नाटक की उत्पत्ति और विकास के विभिन्न चरणों का अनुमान किया जा सकता है। उक्त कथा से हम निम्नलिखित निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं :

(क) भारत में नाटक की उत्पत्ति तत्युगीन जीवन की विकृतियों के परिहार, समस्याओं के समाधान के अर्थ हुई।

(ख) इस साहित्य-विधा की ऐसी अनिवार्य अपेक्षा थी कि इसे पंचम वेद का गौरव मिला और इसकी कल्पना इतनी महत् थी कि कहा गया कि इसमें वह सब कुछ है, जो हमारी श्रेष्ठता की सूचना हो सकता है।

(ग) संस्कृत के इन नाटकों का लक्ष्य मनोरंजन का साधन उपस्थित करना तो था ही, साथ ही ये अप्रकृत का परिहार कर प्रकृत की स्थापना के आग्रही भी हुए। अस्तु, यथार्थ का चित्रण करने से ही उनका उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता, वरन् ये आदर्श की प्रतिष्ठा, पथ की योजना भी करते हैं।

(घ) संस्कृत नाटकों की रचना के पीछे धर्म तथा अनुष्ठान की किंचित् प्रेरणा नहीं है।

(च) संस्कृत नाटक सार्ववर्णिक हैं और सांस्कृतिक एकता के प्रयासी हैं।

(छ) संस्कृत नाटको में संगीत का क्रम तो आरम्भ से ही चला, बाद में विकास-क्रम में नृत्य की भी योजना हुई होगी।

(ज) स्त्रियों की भूमिका ग्रहण करने के लिए अप्सराओं का आवाहन बताता है कि स्वाभाविकता की ओर भी नाटककारों का यथोचित ध्यान था।

संस्कृत के नाटक सार्ववर्णिक तो रहे, लेकिन वे ब्राह्मण-प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। ब्राह्मणों की जातीय विशेषता यह रही है कि वे आदर्शवादी रहे हैं। अस्तु, नाटकों में सामयिक यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करते समय भी वे कथानक की परिणति आदर्शवादी ढंग से करते थे। डॉक्टर कीथ ने इस विषय में विचार करते हुए ठीक ही कहा है :

The drama bears, therefore, essential traces of its connection with the Brahmins. They were idealist in outlook, capable of large generalizations, but regardlecss of accuracy in detail, and to create a realistic drama was wholly incompatible with their temperament. [१]

संस्कृत के नाटकों की एक बड़ी विलक्षणता यह है कि उनके कथानक महाभारत और रामायण के अक्षय भंडार से लिये गये है। ब्राह्मण इन महाकाव्यों की परम्परा के बड़े पुराने उत्तराधिकारी थे और इससे यह स्वाभाविक ही था कि वे उसे नाटकों के साथ लेते हुए चलें। फिर एक दूसरी बात भी थी। संस्कृत नाटक, पश्चिमी नाटकों की तरह सब कुछ खोल कर दिखा नहीं देते, वे प्रेक्षक या पाठक के मानस को एक भाव [illegible] में ले जाने के आग्रही रहे हैं। संस्कृत का नाटककार अभिधा से अधिक व्यजना को प्रमुखता देता है। डॉ० कीथ ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है :

....They aimed at the creation in the mind of the audience of sentiment, and what was necessary for this end was all that was attempted....The dramatist, therefore, will normally choose a well-known theme which in itself is apt to place the spectator in the appropriate frame of mind to be affected by the appropriate emotion. [२]

महाकाव्य से कथानक लेने का अर्थ यह नहीं है कि हमारे नाटककारों ने वस्तु के संगठन के क्षेत्र में किसी प्रकार की मौलिकता नहीं दिखायी। प्राप्त सूचनाओं से

---

1. The Sanskrit Drama—A. B. Keith—Page 276
2. The Sanskrit Drama—A. B. Keith—Page 276-277

की कथा ने आगे चल कर बताया है कि अभिमारक वस्तुतः शूद्र नहीं है, राजपुत्र ही है और राजकन्या कुरंगी का उसके साथ विवाह सर्वथा निर्दोष है। तथापि यह बात तो सिद्ध ही हो जाती है कि भास के युग में भी प्रेम, जाति की बाधा से बाधित नहीं था, विवाह भले ही अनुशासित रहा हो। अस्तु, प्रेम के लिए संघर्ष की सम्भावना तो तब भी बनी हुई थी और इस सम्भावना में ही समस्या के लिए अवकाश बना हुआ था। नाटक रचना के ऊपर ब्राह्मण आदर्शवाद के व्यापक प्रभाव के होने पर भी 'अभिमारक' जैसे नाटकों की रचना सचमुच बड़ी बात है।

शूद्रक रचित 'मृच्छकटिक' : भास ने 'दरिद्र चारुदत्त' में जिस कथानक की प्रस्तुति की है, उसे ही फैला कर शूद्रक के 'मृच्छकटिक' की रचना हुई। भास ने वेश्या वसन्तसेना के रूपाजीवा धर्म छोड़ कर एक दरिद्र सार्थवाह के प्रति प्रेम-वृत्तान्त को कथा का रूप दिया था। शूद्रक ने आर्यक और पालक के संघर्ष की राजनीति को भी वसन्तसेना और चारुदत्त की इस कहानी के साथ जोड़ दिया। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' में गणिका वसन्तसेना और दरिद्र चारुदत्त की प्रेम-कथा, संसार की स्वार्थ-नीति, लोक-व्यवहार की दुष्टता, दुष्टों की प्रकृति और आर्यक की नियति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार कथा के फैल जाने से 'मृच्छकटिक' में, 'चारुदत्त' के चरित्रों को विकास के लिए अधिक स्वच्छन्दता तथा अनुकूलता मिल जाती है।

वेश्या का प्रेम भी कभी सच्चा हो सकता है—इसकी शूद्रक के युग में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी। और, इसी से 'मृच्छकटिक' का विदूषक चारुदत्त को गणिका वसन्तसेना के प्रेम से विरत करने की चेष्टा करता है। वह उसे बताता है कि गणिका के प्रेम में बाधा-ही-बाधा है। वेश्या यदि जीवन में एक बार घुस आये तो फिर पादुका में गड़े कंकड़ की तरह वह बाहर निकलना नहीं जानती। विदूषक जानता है कि वेश्या, हाथी, कायस्थ, भिक्षु, व्यसनी और गधे का जहाँ वास हो, वहाँ जाना कभी निरापद नहीं होता। लेकिन गणिका वसन्तसेना उसके सारे अनुभवों को झुठला देती है और सिद्ध कर जाती है कि वह लेने नहीं, देने आयी है। वह चारुदत्त के गुणों की दासी होने का भाग्य खोजने आयी है, दरिद्र चारुदत्त से उसे धन भला मिल भी क्या सकता है? 'मृच्छकटिक' का शकार चारुदत्त का प्रतिद्वन्द्वी है। राजा का साला होने के कारण वह अपना यह अधिकार मानता है कि वसन्तसेना उसे प्यार करे। राजा के इस साले की, कथा में आगे जो दुर्गति होती है, वह प्रेक्षक-समाज को पूर्णतः संतुष्ट करती है। राजा पालक विवेकहीन है, उसके जैसे व्यक्ति राजपद को कलंकित करते हैं और निर्दोष व्यक्तियों की हत्या के कारण बनते हैं।

'मृच्छकटिक' का नाटककार यद्यपि वेश्या के प्रेम को महिमा-मंडित बना कर एक यथार्थवादी रचना प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है तथापि नाटक में सर्वत्र आदर्शवाद की ही प्रतिष्ठा होती है। चन्दनक और संवाहक जैसे छोटे-छोटे पात्र अपने प्रति किये

गये उपकारों का बदला निष्ठापूर्वक चुकाते हैं और सिद्ध करते हैं कि स्वार्थ की दुनिया में भी सद्‌वृत्तियों के लिए सम्भावनाएँ बची हुई हैं। स्वयं चारुदत्त इस बात का प्रमाण है कि गुणों की प्रतिष्ठा होती ही है। आर्यक के हाथों राजा पालक के कुशासन का अन्त भी यही बताता है कि अत्याचारी का अन्ततः पराभव होता ही है।

'दरिद्र चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' दोनों में सेंध को नापने के लिए यज्ञोपवीत के उपयोग की बात आती है। किन्तु, दोनों विवरणों में एक अन्तर है, जो हमारा ध्यानाकर्षण करता है। 'दरिद्र चारुदत्त' के सज्जलक ने इस विषय में इतना ही कहा है—'अथ केनेदानीं सन्धिच्छेद मार्गः सूचयितव्यः एयात्। नन्विदं दिवा ब्रह्मसूत्रं रात्रो कर्मसूत्रं भविष्यति।'[1] किन्तु शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में इस विषय को बढ़ा कर व्यंग्य किया गया है और बताया गया है कि जनेऊ का बड़ा उपयोग है। यह इसलिए कि सेंध लगाने में वह नापने के काम में आ सकता है, यदि किसी का आभूषण उसके शरीर से जुड़ा हो तो उसे जनेऊ के द्वारा उतारा जा सकता है, यदि दरवाज़े की सिटकनी बन्द हो तो उसे जनेऊ के द्वारा खोला जा सकता है और जो कहीं साँप-बिच्छू काट ले तो कटे हुए हिस्से को बाँधने का काम भी वह कर देगा।[2] जिस यज्ञोपवीत को ब्रह्मसूत्र कहा जाता है और जो ब्राह्मण के द्विजत्व का सूचक है, उसके विषय में ऐसा कुछ कहना साधारण बात नहीं है। ऐसा लगता है कि ऐसा कहने वाला सचमुच क्रान्तिकारी रहा होगा। इस विरोध को ब्राह्मणों की सत्ता के प्रति विद्रोह तथा उनकी मान्यताओं की अवज्ञा निःसंकोच कह सकते हैं। इस नाटक से इस प्रकार यह सूचित होता है कि समाज में नये विचार फैल रहे थे और ब्राह्मणों की सर्वोपरि सत्ता तथा उनके महत्व के आगे प्रश्न-चिह्न खड़ा हो गया था। समस्या-नाटकों में वर्त्तमान के प्रति जो एक प्रकार का विरोध-भाव देखा जाता है, वह भास के 'दरिद्र चारुदत्त' और शूद्रक के 'मृच्छकटिक' दोनों में स्पष्टतः परिलक्षित है।

कवि कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' : संस्कृत नाटकों को महत्व के उत्तुंग शिखर पर प्रतिष्ठित करने वाले कवि कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' भी एक ऐसी श्रेष्ठ कृति है, जिसमें समस्या, प्रधान हो जाती है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का कथानक कवि को महाभारत के 'शकुन्तलोपाख्यान' से प्राप्त हुआ है—यह सर्वथा सिद्ध है। लेकिन इस नाटक से भी यही सिद्ध होता है कि महाकाव्य के भांडार से कथा का केवल सूत्र ही कवि ने पकड़ा है। उस पर जो पच्चीकारी है, वह कवि की मौलिकता है और महाकाव्य से कथानक लेने से कथानक बेजान ही रहे, यह आवश्यक नहीं है।

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान के दुष्यन्त को देख कर कवि कालिदास के सामने

१. दरिद्र चारुदत्त—सम्पादक—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित—पृष्ठ ११६
२. मृच्छकटिक—शूद्रक। अंक-३—श्लोक-१६

में नायक का मन इस तपोवन में भी चंचल हो उठता है। शकुन्तला की रूप माधुरी को देखते ही उसका मन हाथ से निकल जाता है । इस नये पाहुने को देख कर शकुन्तला के मन में भी ऐसी-वैसी बात उपजती है, जो तपोवन की मर्यादा के योग्य नहीं है । तपोवन की मर्यादा का राजा को पूर्ण स्मरण है । लेकिन वह करे तो क्या करे ? उसके अपने ही अंग उस पर परिहास करते हैं। शरीर आगे की ओर बढ़ता तो है किन्तु मन तो पीछे की ओर ही रह जाता है। इसी से वह कभी पाँव में दाभ की पैनी गड़ी होने का बहाना करके तो कभी कुरे की डार से उत्तरीय के उलझने के बहाने, शकुन्तला को एक नज़र देख ही लेता है। उसका विश्वास कहता है कि नायिका उसकी भोग्या है, ब्राह्मण-कन्या नहीं है। नायक-नायिका के इस मिलन का रंगमंच है—कण्व का तपोवन अर्थात् मर्त्यलोक। इससे इस मिलन में मर्त्यलोक की किसी बात की कमी नही है। वन है, युवक-युवतियाँ हैं, यौवन मदमत्तता के अनेकानेक हाव-भाव हैं, विलास-चेष्टाएँ है, लोला-चांचल्य है, सर्वस्व-समर्पण और आत्म-प्रकाशन की तरल आकांक्षा है और फिर व्रीड़ा भी है, जो सौंदर्य को लाज-भरा बना कर अनूठापन दे जाती है।

दुष्यन्त के रूप में साक्षात् कामदेव का कण्व के आश्रम में प्रवेश हुआ है और इधर वह शकुन्तला है, जिसने काम को जाना ही नहीं है, उससे जूझना क्या जाने। यही कारण है कि वह उस प्रबल उन्मत्त हाथी से अपना बचाव नहीं कर सकी। शकुन्तला अपने शरीर में लगने वाली धूल को जान भी न पायी। उसका यह भोलापन धूल लगने पर भी उसे हमारी सहानुभूति का पात्र बनाये रखता है। अपने आचरण, गुरुजनों से बिना पूछे दुष्यन्त के प्रति अपने राग के प्रति उसे जैसे ही शंका होती है, वह दुष्यन्त को बरजती है। कहती है कि वह स्वतन्त्र नहीं है और इससे वह बड़ों का अपराध नहीं लेगी। दुष्यन्त उसकी शंका का समाधान करते हुए कहता है कि गुरुजनों से भय करने का उसको कोई कारण नहीं है। यह इसलिए कि कण्व धर्म को जानते हैं और यह भी जानते हैं कि बहुतेरी ऋषिकन्याओं का गान्धर्व-रीति से विवाह हुआ है। शकुन्तला जिस पवित्र निश्छल वातावरण में पली है, उसमें अविश्वास के लिए स्थान नही है। वह विवश है कि दुष्यन्त का विश्वास कर ले और गान्धर्व रीति से उसके साथ विवाह कर ले।

प्रेमियों के प्रेम के इस सवाक् चित्र को प्रस्तुत करना ही कवि कालिदास का उद्देश्य नहीं हो सकता था। गुप्त-प्रीति और गान्धर्व-विवाह का प्रसंग प्रेमी-प्रेमिका के संयोग की स्थिति को प्राप्त हो कर शेष नहीं हो जाता।

कवि कालिदास को यह विदित है कि प्रेम और विवाह का यह रूप प्रकृत नहीं है, हमारी परम्परा के अनुकूल नहीं है। ऐसे प्रेम का एक ही परिणाम हो सकता है—विस्मरण। महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान का दुष्यन्त प्रेम की विराट कल्पना से अपरिचित है। विस्मरण उसके स्वभाव में ही है। भला जो राजा दुष्यन्त, नगर में,

नज़र के सामने रहने वाली हंसमती और वसुमती जैसी, अपनी रानियों को भूल जा सकता है, वह यदि नगर से दूर, नज़र से दूर रहने वाली शकुन्तला को भूल गया तो इसमें विस्मय की कहाँ गुंजायश है ? सच तो यह है कि उसके लिए किसी दुर्वासा के शाप की भी ज़रूरत नही है । [illegible] का दुष्यन्त प्रेम को शरीर का विषय ही मान सकता था । लेकिन कवि कालिदास का कहना है कि यदि प्रेमियों के जीवन में धर्म और कर्त्तव्य के बीच सामंजस्य न होगा तो ज़िन्दगी दूभर हो जायगी ।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि द्विजेन्द्र ने दुर्वासा के शाप की कल्पना की कड़े शब्दों में आलोचना की है । ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि दुर्वासा ने नाहक ही शकुन्तला को इस प्रकार परेशान किया । प्रश्न उठता है कि शकुन्तला ने आख़िर कौन-सा अपराध किया था कि उसे दुर्वासा का दंड मिले । शकुन्तला सती स्त्री की भाँति अपने पति की याद में लीन थी और यह सत्य दुर्वासा पर भी प्रकट था जैसा कि उनके कथन—'विचिन्तयन्ती यमनन्य मानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्' से विदित है । तो फिर दुर्वासा को क्या अधिकार था कि इस पतिलीना को अभिशाप दें ? द्विजेन्द्र का कहना है कि शकुन्तला की मानसिक दशा को सूचना रखने वाले व्यक्ति के लिए उचित तो यह होना चाहिए था कि शाप के बदले उसे आशीर्वाद दे जाता । यदि कहा जाय कि दुर्वासा ने शकुन्तला को इसलिए अभिशाप दिया कि उसने गुप्त-विवाह किया था तो द्विजेन्द्र जैसे लोग आपत्ति करते हुए कहेंगे कि यह कोरी कल्पना है । लेकिन सचाई यह है कि यह कोरी कवि-कल्पना नहीं है । शकुन्तला का अपराध एक ओर तो यह है कि उसने गान्धर्व-विवाह किया है और दूसरी ओर यह कि वह नियत-आचरित कर्म-मार्ग से विमुख हो गयी है । उसके प्रेम ने उसके कर्त्तव्य को भुलवा दिया है । दुर्वासा का शाप इसी प्रमाद का अवश्यम्भावी परिणाम है ।

प्रेम के जिस प्रकृत-पक्ष की स्थापना कवि कालिदास करना चाहते हैं, उसमें शारीरिक आकर्षण का स्थान, भागवत सौन्दर्य ग्रहण करता है । प्रेम के इस पक्ष में धर्म और काम के बीच सामंजस्य हो जाता है । प्रेमी-युग्म संसार को केन्द्र-स्थल में रख कर स्वधर्म-पालन, समाज-धर्म-निर्वाह करते हुए उत्तरोत्तर अपने प्रेम को स्वर्गोपम बनाते हैं ।

पाँचवें अंक के बाद राजा दुष्यन्त का प्रेम इसी पक्ष की ओर मुड़ता है । जिस राजा की भ्रमर-वृत्ति के प्रति हंसमती ने शिकायत की थी, वही वसुमती के प्रति अपनी दाक्षिण्य-वृत्ति के निर्वाह के लिए आगे चल कर छठे अंक में ऐसा सजग दीखता है कि उसके आने की सूचना पा कर शकुन्तला के चित्र को छिपाने के लिए वह विकल हो जाता है ।

सातवें अंक में राजा दुष्यन्त का शकुन्तला से जो मिलन होता है, वह बाहर की घटना है । सम्पूर्ण नाटक मे नायक का ऐसा एक भी व्यवहार नहीं हुआ, जिससे इस पुनर्मिलन के सम्भव होने की सम्भावना की जा सके । लेकिन कवि कालिदास जानते थे

कि दुरन्त प्रकृति के दावानल को भी अनुतप्त हृदय के अश्रुवर्षण से शान्त किया जा सकता है। दुष्यन्त के अनुताप का आभास हम उसके उस कथन से प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें उसने बताया है कि पुरुवंश की गरिमा उसे प्राप्त कर वैसे ही लुप्त हो रही है जैसे सरस्वती नदी ऐसे देश में, जो उसकी पवित्र धारा के बहने योग्य न था, जा कर लुप्त हो गयो। राजा वियोग के अश्रु-प्रवाह में ऐसे धोये गये हैं कि कहिए पाक हो गये हैं। अब उनकी यह स्थिति है कि वे इस घोर वियोग दशा में भी ब्राह्मण की पुकार पर शर-सन्धान कर लेते हैं, धर्म के निर्वाह के प्रति पूर्ण सजग हो जाते हैं।

दुष्यन्त और शकुन्तला का द्वितीय मिलन मरीचि के आश्रम में होता है। इस मिलन में न तो कोई गूढ़ रहस्य है न षड़यन्त्र है, और न उस समय असमय बसन्त का आगमन हुआ है। इस मिलन में भी वातावरण, परिवेश ठीक वैसा ही है, जैसा प्रथम मिलन के अवसर पर था। प्रथम मिलन के समय दुष्यन्त के रथ में बड़ी गति थी, लेकिन इस द्वितीय मिलन के समय दुष्यन्त का रथ निस्पन्द है। सारा वातावरण ही प्रशान्त है, सर्वत्र एक स्तब्ध नीरवता है। कण्व के आश्रम और उनके तपोवन में जो भीषण चंचलता थी, वह मरीचि के इस आश्रम में कहीं नहीं है। चंचलता यदि कहीं है तो सिर्फ़ दुधमुँहे भरत में और वह भी पूर्ण निर्विकार। कवि कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए नाटक में इतना कुछ किया। फिर भी दुष्यन्त को वह एकदम माफ़ नहीं कर पाते। भाग्य की विडम्बना इससे अधिक क्या हो सकती है कि दुष्यन्त का बेटा सर्वदमन अपनी माँ से पूछता है—माँ भला यह कौन है? कवि ने शकुन्तला के मुँह से सर्वदमन के प्रश्न के उत्तर में बस इतना ही कहलाया है—'ते भागधेयानि पृच्छ'। 'तू अपने भाग्य से पूछ।' शकुन्तला के इस उत्तर मे ग़ज़ब की व्यंजना है। वह जैसे कहना चाहती है कि यदि तेरे भाग्य मे यह लिखा हो कि पुरुवंश का कुल दीपक, भारत का चक्रवर्ती सम्राट, तुझे बनना है तो तेरे प्रश्न का उत्तर होगा कि यह तुम्हारा स्वन।मधन्य पिता है, और यदि तुम्हारी किस्मत में यह सब नहीं बदा है तो प्रश्न का उत्तर है कि यह है नराधम दुष्यन्त, जिसने प्रबल काम वेग से, मदमत्त हाथी की तरह महर्षि कण्व के आश्रम में घुस कर महर्षि का विश्वास भंग किया, उनकी पालिता भोली-भाली कन्या का ब्रह्मचर्य लूटा और रस का लोभी वह भ्रमर रस चूस कर भाग खड़ा हुआ। स्पष्ट है, कवि कालिदास के मानस में वह प्रेम बैठा हुआ है, जो भोग से आरम्भ हो कर वियोग झेलता हुआ योग में परिणत हो जाता है। यही प्रम का प्रकृत रूप है, यही प्रेमी-युग्म के जीवन में उदित हो कर मंगल विधान कर सकने में समर्थ सिद्ध होने की पात्रता रखने वाला है। कवि कलिदास मुक्त भोग के हिमायती नहीं हो सकते थे, गान्धर्व-विवाह को भी अपनी उदारता के कारण वे उसी तरह स्वीकार कर सकते थे, जैसे दाक्षिण्यवृत्ति के बन्धन से नियंत्रित बहुविवाह को। लेकिन यहाँ भी वे शर्त रखते हैं कि प्रेमी-युग्म संसार से विमुख न हो जाँय, समाज-धर्म के प्रति किसी भी परिस्थिति में प्रमाद न करें।

इस प्रकार सिद्ध यह होता है कि कालिदास के युग में कहीं बाहर से आयी हुई गान्धर्व-विवाह की यह रीति प्रचलित हो गयी थी। दुष्यन्त की गवाही है कि अनेकानेक ऋषि-कन्याओं का गान्धर्व-विवाह हुआ है और उसके कारण वह विहित भी है। लेकिन विवाह की इस दुर्निवार रीति को कालिदास जिन शर्तों के साथ स्वीकार करना चाहते थे, उनका ही उल्लेख उन्होंने अपने नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है। सारांशतः कवि ने सामयिक यथार्थ की इस समस्या को प्रस्तुति कर उसका आदर्शवादी ढंग से समाधान अपने इस नाटक में किया है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छठे अंक में धीवर और आरक्षी दल का जो प्रसंग आया है, उससे एक अन्य समस्या की ओर भी हमारा ध्यान जाता है। सच्ची बात यह है कि कुम्भिलक नामक धीवर को मछली का पेट चीरते समय हीरक-जटित राजा दुष्यन्त की वह अँगूठी प्राप्त हुई है, जिस पर राजा का नाम खुदा हुआ है। लेकिन यदि पुलिस सच्चाई को मान ही ले तो वह पुलिस क्या है? उस अँगूठी से मछली की गन्ध भी आती है, जो कुम्भिलक के कथन को प्रमाणित करती है। लेकिन इससे क्या हुआ? आरक्षी-दल का हाथ तो अपराधी कुम्भिलक को पीटने के लिए खुजला रहा है। इन खुजलाते हाथों का क्या होगा? घर मे आया हुआ शिकार यदि पुलिस छोड़ दे तब तो उसकी लुटिया ही डूब जाय। कहना नही होगा कि उस ज़माने से आज तक पुलिस की स्थिति, मनोवृत्ति एकरस है—निर्विकार। निरपराध कुम्भिलक को शूली से उतर कर हाथी पर चढ़ते देख कर सिपाहियों ने सचमुच मन मसोस लिया होगा।

पुलिस से निबटने का तरीका भी उस समय वही था, जो आज है। पुलिस को पूजा चाहिए और जो पूजा न करो तो चले नहीं। यही कारण है कि निरपराध कुम्भिलक को राजा से प्राप्त राशि का आधा भाग पुलिस को दे कर उसकी अनुकूलता प्राप्त करनी पड़ती है। स्पष्ट है, उत्कोच की समस्या उस समय भी बनी हुई थी और ग़रीब को पुलिस की नजर से बचने के लिए घूस देना पड़ता था।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' का उल्लेख करने का हमारा उद्देश्य सिर्फ़ इतना ही है कि यह बताया जाय कि कवि कालिदास ने अपने युग के स्पन्दनों को सुना था और युग की छोटी-बड़ी समस्याओं के प्रति वे पूर्ण सजग थे। श्री देशपांडे ने इस विषय में जो कुछ निम्नलिखित पंक्तियों में कहा है, वह हमारी धारणा को बल देता है:

It is a true picture of what life means for Kalidas, who has created an immortal World out of mortal clay.[1]

'मालविकाग्निमित्र' में कवि ने और भी स्पष्ट हो कर बताया है कि नाटक 'लोक चरित-दर्शन[2]' ही तो है। समस्या नाटक के लिए नाटक के इसी धर्म में अवकाश बनता

1. Indian Drama-Sanskrit Drama—Prof. G. T. Deshpande. p. 20

२. मालविकाग्निमित्र—त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक चरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। १।४।

कि दुरन्त प्रकृति के दावानल को भी अनुतप्त हृदय के अश्रुवर्षण से शान्त किया जा सकता है। दुष्यन्त के अनुताप का आभास हम उसके उस कथन से प्राप्त कर सकते हैं, जिसमें उसने बताया है कि पुरुवंश की गरिमा उसे प्राप्त कर वैसे ही लुप्त हो रही है जैसे सरस्वती नदी ऐसे देश में, जो उसकी पवित्र धारा के बहने योग्य न था, जा कर लुप्त हो गयी। राजा वियोग के अश्रु-प्रवाह में ऐसे धोये गये हैं कि कहिए पाक हो गये हैं। अब उनकी यह स्थिति है कि वे इस घोर वियोग दशा में भी ब्राह्मण की पुकार पर शर-सन्धान कर लेते हैं, धर्म के निर्वाह के प्रति पूर्ण सजग हो जाते है।

दुष्यन्त और शकुन्तला का द्वितीय मिलन मरीचि के आश्रम में होता है। इस मिलन में न तो कोई गूढ़ रहस्य है न षड़यन्त्र है, और न उस समय असमय बसन्त का आगमन हुआ है। इस मिलन में भी वातावरण, परिवेश ठीक वैसा ही है, जैसा प्रथम मिलन के अवसर पर था। प्रथम मिलन के समय दुष्यन्त के रथ में बड़ी गति थी, लेकिन इस द्वितीय मिलन के समय दुष्यन्त का रथ निस्पन्द है। सारा वातावरण ही प्रशान्त है, सर्वत्र एक स्तब्ध नीरवता है। कण्व के आश्रम और उनके तपोवन में जो भीषण चंचलता थी, वह मरीचि के इस आश्रम में कहीं नहीं है। चंचलता यदि कहीं है तो सिर्फ़ दुधमुँहे भरत में और वह भी पूर्ण निर्विकार। कवि कालिदास ने दुष्यन्त के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए नाटक में इतना कुछ किया। फिर भी दुष्यन्त को वह एकदम माफ़ नहीं कर पाते। भाग्य की विडम्बना इससे अधिक क्या हो सकती है कि दुष्यन्त का बेटा सर्वदमन अपनी माँ से पूछता है—माँ भला यह कौन है ? कवि ने शकुन्तला के मुंह से सर्वदमन के प्रश्न के उत्तर मे बस इतना ही कहलाया है—'ते भागधेयानि पृच्छ'। 'तू अपने भाग्य से पूछ।' शकुन्तला के इस उत्तर में ग़ज़ब की व्यंजना है। वह जैसे कहना चाहती है कि यदि तेरे भाग्य में यह लिखा हो कि पुरुवंश का कुल दीपक, भारत का चक्रवर्ती सम्राट, तुझे बनना है तो तेरे प्रश्न का उत्तर होगा कि यह तुम्हारा स्वनामधन्य पिता है, और यदि तुम्हारी किस्मत में यह सब नहीं बदा है तो प्रश्न का उत्तर है कि यह है नराधम दुष्यन्त, जिसने प्रबल काम वेग से, मदमत्त हाथी की तरह महर्षि कण्व के आश्रम में घुस कर महर्षि का विश्वास भंग किया, उनकी पालिता भोली-भाली कन्या का ब्रह्मचर्य लूटा और रस का लोभी वह भ्रमर रस चूस कर भाग खड़ा हुआ। स्पष्ट है, कवि कालिदास के मानस में वह प्रेम बैठा हुआ है, जो भोग से आरम्भ हो कर वियोग झेलता हुआ योग में परिणत हो जाता है। यही प्रेम का प्रकृत रूप है, यही प्रेमी-युग्म के जीवन में उदित हो कर मंगल विधान कर सकने में समर्थ सिद्ध होने की पात्रता रखने वाला है। कवि कलिदास मुक्त भोग के हिमायती नहीं हो सकते थे, गान्धर्व-विवाह को भी अपनी उदारता के कारण वे उसी तरह स्वीकार कर सकते थे, जैसे दाक्षिण्यवृत्ति के बन्धन से नियंत्रित बहुविवाह को। लेकिन यहाँ भी वे शर्त रखते हैं कि प्रेमी-युग्म संसार से विमुख न हो जाँय, समाज-धर्म के प्रति किसी भी परिस्थिति में प्रमाद न करें।

इस प्रकार सिद्ध यह होता है कि कालिदास के युग में कही बाहर से आयी हुई गान्धर्व-विवाह की यह रीति प्रचलित हो गयी थी। दुष्यन्त की गवाही है कि अनेकानेक ऋषि-कन्याओं का गान्धर्व-विवाह हुआ है और उसके कारण वह विहित भी है। लेकिन विवाह की इस दुर्निवार रीति को कालिदास जिन शर्तो के साथ स्वीकार करना चाहते थे, उनका ही उल्लेख उन्होने अपने नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है। सारांशत: कवि ने सामयिक यथार्थ की इस समस्या को प्रस्तुति कर उसका आदर्शवादी ढंग से समाधान अपने इस नाटक में किया है।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' के छठे अंक में धीवर और आरक्षी दल का जो प्रसंग आया है, उससे एक अन्य समस्या को ओर भो हमारा ध्यान जाता है। सच्ची बात यह है कि कुम्भिलक नामक धोवर को मछली का पेट चीरते समय होरक-जटित राजा दुष्यन्त की वह अँगूठी प्राप्त हुई है, जिस पर राजा का नाम खुदा हुआ है। लेकिन यदि पुलिस सच्चाई को मान ही ले तो वह पुलिस क्या है? उस अँगूठी से मछली की गन्ध भी आती है, जो कुम्भिलक के कथन को प्रमाणित करती है। लेकिन इससे क्या हुआ? आरक्षी-दल का हाथ तो अपराधी कुम्भिलक को पोटने के लिए खुजला रहा है। इन खुजलाते हाथों का क्या होगा? घर में आया हुआ शिकार यदि पुलिस छोड़ दे तब तो उसकी लुटिया ही डूब जाय। कहना नही होगा कि उस ज़माने से आज तक पुलिस की स्थिति, मनोवृत्ति एकरस है—निर्विकार। निरपराध कुम्भिलक को शूलो से उतर कर हाथी पर चढ़ते देख कर सिपाहियों ने सचमुच मन मसोस लिया होगा।

पुलिस से निबटने का तरीका भी उस समय वही था, जो आज है। पुलिस को पूजा चाहिए और जो पूजा न करो तो चले नहीं। यही कारण है कि निरपराध कुम्भिलक को राजा से प्राप्त राशि का आधा भाग पुलिस को दे कर उसकी अनुकूलता प्राप्त करनी पड़ती है। स्पष्ट है, उत्कोच की समस्या उस समय भी बनी हुई थी और ग़रीब को पुलिस की नजर से बचने के लिए घूस देना पड़ता था।

'अभिज्ञान शाकुन्तल' का उल्लेख करने का हमारा उद्देश्य सिर्फ़ इतना ही है कि यह बताया जाय कि कवि कालिदास ने अपने युग के स्पन्दनों को सुना था और युग की छोटी-बड़ी समस्याओं के प्रति वे पूर्ण सजग थे। श्री देशपांडे ने इस विषय में जो कुछ निम्नलिखित पंक्तियों में कहा है, वह हमारी धारणा को बल देता है:

> It is a true picture of what life means for Kalidas, who has created an immortal World out of mortal clay.[1]

'मालविकाग्निमित्र' में कवि ने और भी स्पष्ट हो कर बताया है कि नाटक 'लोक चरित-दर्शन[२]' ही तो है। समस्या नाटक के लिए नाटक के इसी धर्म में अवकाश बनता

1. Indian Drama-Sanskrit Drama—Prof. G. T. Deshpande. p. 20

२. मालविकाग्निमित्र—त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक चरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। १।४।

है। संस्कृत नाटकों के विकास के इतिवृत्त को देखने से ऐसा लगता है कि कला-साधना के जिस सुमेरु पर कालिदास ने संस्कृत नाटकों को पहुँचा दिया, उसके ऊपर कोई राह नहीं थी। इसी से तो कालिदासोत्तर काल में संस्कृत के नाटककारों का आदर्श बस इतना भर रह गया कि वे कालिदास की नकल करें, उस ऊँचाई तक पहुँचने की चेष्टा करें, जिस पर कालिदास ने पहुँच कर विजय-वैजयन्ती फहरायी थी। तभी तो हर्ष जैसे नाटककार की प्रतिभा शिल्प-साधना के क्षेत्र में ही अपने लिए गुंजायश बना सकी, अन्यत्र नहीं।

विशाखदत्त रचित 'मुद्राराक्षस' : संस्कृत के अगले नाटककारों में विशाखदत्त एक विशिष्ट व्यक्ति ठहरते हैं। उनकी अमर कृति है—'मुद्राराक्षस'। 'मुद्राराक्षस' का कथानक रामायण अथवा महाभारत से न ले कर भारतीय इतिहास से लिया गया है—यह उसकी एक महत्व-पूर्ण विशेषता है। इस नाटक से यह भी सूचित होता है कि [illegible] भी नाटकीय कथानक का विषय बन सकती है। इस नाटक में दो निपुण मंत्रियों—चाणक्य और राक्षस—के द्वन्द्व की चर्चा होती है। चन्द्रगुप्त की रक्षा में चाणक्य और मलयकेतु की रक्षा में राक्षस अपनी-अपनी कूटनीति का प्रयोग कर रहे हैं। नाटक के इन दो नीति-निपुण मंत्रियों के संघर्ष में पड़ कर नन्दवंश की राज्यलक्ष्मी जैसे झूले में झूल रही है। चन्द्रगुप्त का मगध की राजनगरी पाटलिपुत्र पर अधिकार हो गया है। नन्दवंश का अन्तिम अवशेष सर्वार्थसिद्धि राजनीति से संन्यास ले कर विरक्त हो गया है। लेकिन फिर भी राजा नन्द का स्वामिभक्त मंत्री राक्षस उनके नाम पर संघर्ष कर रहा है, चाणक्य की राजनीतिक योजनाओं को अस्त-व्यस्त करने में लगा हुआ है। चाणक्य और राक्षस में कोई किसी से ज़रा-सा भी कम नहीं है। बस कहिए—'प्रश्न यदि था एक, तो उत्तर द्वितीय उदार'। चाणक्य का यह विश्वास है कि जब तक राक्षस चन्द्रगुप्त पर कृपा करके उसका मन्त्री-पद स्वीकार नही करता, चन्द्रगुप्त का कल्याण नहीं है। इसी से नाटकीय कथावस्तु का एक और केवल एक लक्ष्य हो जाता है—किसी प्रकार राक्षस को चन्द्रगुप्त के प्रति अनुरक्त बनाना। नाटक के सारे व्यापार बस इस धुर-मूल के चारों ओर चक्कर काटते हैं। 'मुद्राराक्षस' की विशिष्टता इस अर्थ में भी है कि उसके पात्र जोड़े में रखे गये हैं। जोड़े के एक को जानने-पहचानने के लिए दूसरे को भी जानना ही होता है। ऐसा लगता है कि नाटक के दो खीमें हैं। नाटकीय कथावस्तु के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पात्रों का एक दल योजना बनाता है, आगे बढ़ता है, तो दूसरा दल उसे बाधित करने की पक्की योजना ले कर आ उपस्थित होता है। नाटकीय कथावस्तु की उद्देश्य-सिद्धि के प्रति नाटककार की विरल तन्मयता है, निष्ठा है। इसका ही परिणाम है कि विपक्षी पात्र भी अनजाने ऐसे कृत्य कर जाते हैं, जिनसे चरम-लक्ष्य की प्राप्ति की दिशा में ही प्रगति होती है।

संघर्ष में चाणक्य की विजय होती है और उसका समान-धर्मा राक्षस, जो विफल

होता है—इसका भी एक बड़ा कारण है। राक्षस, चाणक्य से भिन्न, भावुक है। जहाँ चाणक्य अपने निकट-से-निकट व्यक्ति, सहायक का भी विश्वास नहीं करता, वहाँ राक्षस यही नहीं जानता कि किसका अविश्वास किया जाय। चूँकि राजनीति के संसार में भावुकता के लिए स्थान नहीं है, राक्षस विफल मनोरथ होता है। वह संघर्ष में बाज़ी हार जाता है और चन्द्रगुप्त का मंत्री बनना स्वीकार करता है।

चाणक्य का यह राजनीतिक संघर्ष भीः विलक्षण है। इसमें सत्ता के हस्तगत करने की लालसा के बदले प्रतिद्वन्द्वी के आगे सत्ता के समर्पण की कामना है। स्वयं चाणक्य इस दृष्टि से एक विलक्षण पुरुष है, इतिहास का अकेला उदाहरण है। वह मगध के सम्राट का मंत्र-द्रष्टा है, विशाल मगध-साम्राज्य का प्रधानामात्य है, लेकिन एक कुटी में रहता है, भिक्षान्न से शरीर धारण करता है। कहीं कोई टीम-टाम नहीं, तड़क-भड़क नहीं, जीवन-निर्वाह के लिए राजकोष की कानी कौड़ी का भी ग्रहण नहीं और इस सबके ऊपर प्राध्यापक के दायित्व का सक्रिय निर्वाह! इस प्रकार मुद्राराक्षस के चाणक्य के चरितों में प्रभुत्व और ऋषित्व का विरल-विलक्षण संयोग घटित करके विशाख-दत्त राजधर्म का महत्तम आदर्श निरूपित कर जाते हैं।

इस नाटक की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से इसलिए जाता है कि इसमें एक राजनीतिक समस्या की प्रस्तुति हुई है और नाटककार सर्वात्मना उसी समस्या मे खो गया है। संस्कृत-नाटकों के कथानकों के दिशा-विस्तार की यह सूचना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

'देवी चन्द्रगुप्तम्' : विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नामक एक और नाटक भी लिखा था, जिसकी छाया 'प्रसाद' के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में बहुत ही स्पष्ट है। 'प्रसाद' के उस नाटक के विचार-क्रम में इस 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के विषय में आगे चर्चा की जायगी।

'श्रृंगार हाट' चतुर्भाणी : संस्कृत में एक-पात्री एकांकी नाटकों की एक परम्परा भी थी, जिसे भाण की परम्परा कहते हैं। विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विरचित इस प्रकार के ४ भाणों का संग्रह 'श्रृंगार हाट' नाम से डॉ० मोतीचन्द ने प्रकाशित कराया है। इस संग्रह में निम्नलिखित भाण उपलब्ध हैं :

शूद्रक कृत—पद्म प्राभृतक
ईश्वरदत्त प्रणीत—धूर्त्त विट संवाद
वररुचि रचित—उभयाभिसारिका
श्यामिलक विरचित—पाद ताडितक

चतुर्भाणी के इन चार भाणों के अतिरिक्त कई अन्य भाणों का भी पता चला है। ऐसे ग्रन्थों में कुछ के नाम इस प्रकार बताये गये हैं: श्रृंगार भूषण (वामन भट्ट) श्रृंगार सर्वस्व (नल्ला कवि) मुकुन्दानन्द (काशीपति कविराज) वसन्त तिलक

(वरदाचार्य) शृंगार तिलक (रामचन्द्र दीक्षित) रस सदन (केरल के युवराज) महिष मंगल (महिष मंगल) शृंगार सुधा (राम वर्मन)कर्पूर चरित (वत्सराज) आदि ।[१]

भाण एक विशेष प्रकार की रचना है, जिसमें कवि, लोगों का मज़ाक उड़ाता है, फब्तियाँ कसता है और किसी दुर्गुण का पर्दा-फ़ाश करता है । चतुर्भाणी के कवियों ने रूपाजीवाओं के शृंगार हाट की गलियों में मँडराने वाले बड़े लोगों—जैसे राजा, राजकुमार, सार्थवाह, राज कर्मचारी से ले कर व्याकरणाचार्य, पंडित, गुणी, विरक्त भिक्षु तक की कामुकता का रंगीन चित्र खींचा है । छुआछूत जैसे सामाजिक ढकोसले पर व्यंग्य कसा है और उस युग का सवाक् चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें नागरिक अतिरिक्त विलासी हो गये थे । नाटककार ने जिस समाज का चित्र इन भाणों में प्रस्तुत किया है, उसमें वेश्या, सुरा और द्यूत का प्रभूत प्रचलन था और नागरिक-जीवन के ये आवश्यक अंग जैसे हो गये थे । पाखण्ड तथा निर्बाध विलासिता के इस जीवन के प्रति विरोध होना ही चाहिए था । 'पद्म प्राभृतकम्' का विट छुआछूत का ढोंग बरतने वाले मद्यपायी से पूछता है—'क्या कहा, राजमार्ग में आने-जाने वाले लोगों की सहज छूत बचा रहा हूँ ? ओ हो, तू अनजानों की छूत से छटकता है, पर क्या वारुणी के जघनस्थल का पात्र गंगा के घाट की तरह बड़ा पवित्र है ?'[२]

इसी भाण में एक ऐसे भिक्षु की कथा आयी है, जो वेशवीथी की बावड़ी से निकलते हुए बगुले की तरह सहमा हुआ जा रहा है और उस पर विट की नज़र पड़ जाती है । विट उससे पूछता है—ननु सुरत पिंडपातम उष्ठीयते ? क्या तू सुरत पिंडपात भिक्षा की खोज में है ? भिक्षु उत्तर में कहता है—माता के मरने से दुखी संघ दासिका को बुद्ध-वचनों से सान्त्वना देने आया था । लेकिन विट इस भिक्षु की पापलीला को जानता है और इसलिए कहता है—तेरे मुख से निकला हुआ बुद्ध-वचन ऐसा लगता है, जैसे शराब के धोखे में आचमन हो[३] । विट का कहना है कि ऐसे बौद्ध को देखने से आँखें गंदी हो जाती हैं[४] ।

'धूर्त्त विट संवाद' नामक भाण में एक ऐसे नवयुवक की पीड़ा का उल्लेख किया गया है, जिसके ऊपर अपने पिता का नियंत्रण है । कहा गया है कि पिता जवान आदमी के लिए मूर्तिमान सिर दर्द है । पिता वाले आदमी को उस जुए की भनक

---

१. शृंगार हाट—डॉ० मोतीचन्द—भूमिका पृ० ३

२. किं ब्रवीषि—राजमार्गे सुलभविदित जन संस्पर्श परिहरामि—इति । अंधो अविशात जनसंस्पर्शी नाम परिहियते भक्ता । वारुणीजघन पात्रं जाह्नवीतीर्थमिव परम पवित्रं ननु ।—पद्मप्राभृतकम्—पृ० २३—(शृंगार हाट)

३. विनष्टं त्वन्मुखात् बुद्धवचनं मदभ्रमादितो स्पर्श पश्यामः । शृंगारहाट सम्पादक—डॉ० मोतीचन्द—पृ० २३

४. शृंगार हाट—सं०—डॉ० मोतीचन्द—पृ० ३५

कभी नहीं मिलती, जिसमें आपसी लाग-डाँट से बाज़ी का रंग बढ़ता है, जिसमें गाली-गुफ़्ते का समाँ बँधता है और जो दिलेर मर्दों को परखता है। वह कमल की पंखुड़ियों वाली, आम का तेल मिलाने से पड़ी चित्तियों वाली कामिनी की साँस से उठती लहरों वाली शराब के नाचते मोरों की आकृति वाले प्यालों की गन्ध मात्र भी नहीं पा सकता[1]। कहना नहीं होगा कि यह व्यंग्य कितना मुखर है।

वेश्यागमन की हानि का उल्लेख करते हुए वररुचि ने 'उभयाभिसारिका' में कहा है कि महौषधि से बल से साँपों का विष भी धीरे-धीरे शान्त हो जाता है। वन में मतवाले हाथी के मस्तक से भी अपनी रक्षा कर लेना सम्भव है। समुद्र में ग्राह के मुख में पड़ने से छुटकारा पा लेना भी सम्भव हो सकता है। लेकिन वेश्यारूपी बडवाग्नि में पड़ा हुआ आदमी फिर उठता नज़र नहीं आता।[2]

चतुर्भाणी के इस विवेचन से विदित होता है कि विट के रूप में कवि अपने समाज की अतिरिक्त विलासिता के प्रति विद्रोह करता है और वेश्यागमन, द्यूत तथा सुरापान के प्रचलन से होने वाली बुराइयों का उल्लेख करता है। हम कह सकते हैं कि चतुर्भाणी के नाटककारों ने अपने समाज की इन विकृतियों, समस्याओं की प्रस्तुति कर, सुधार करना चाहा है।

संस्कृत के कई महत्वपूर्ण नाटकों की चर्चा करने से हमारा प्रयोजन यह है कि हम यह अनुभव कर सकें कि प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं, जो कवि को कुरेदती हैं और वे अपनी रचनाओं में उनका समाधान ढूँढ़ते हैं। नाटक में समस्याओं की प्रस्तुति के लिए काव्य की अन्य विधाओं के मुकाबले अधिक अवसर होता है। इससे नाटकों में समस्या की प्रस्तुति बड़े ही सहज ढंग से होती आयी है। संस्कृत के इन नाटकों में समस्या की प्रस्तुति होने के साथ ही समस्या के समाधान के सोचने का उत्साह भी पाया जाता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि संस्कृत के नाटक ब्राह्मण-आदर्शवाद के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। इससे समस्या की प्रस्तुति के बाद हमारे देश के संस्कृत नाटककारों के कर्त्तव्य की इति श्री नहीं हो सकती थी। कवि की हमारे यहाँ महती कल्पना है। वह द्रष्टा है, ऋषि है। इससे, यथार्थ के चित्रण के बाद उसे यह बताने की लाचारी थी कि होना क्या चाहिए। अपने देश के नाटकों की इस विशिष्टता को हमें याद रखना होगा।

१. शृङ्गार हाट—सं०—डॉ० मोतीचन्द पृ० ७१-७२ पिता नाम खलु सयौवनस्य पुरुषस्य मूर्त्तिमान् शिरोरोगः। न च किल भोःपितमता शक्यं परस्परामर्ष-विवर्धितपणरागस्य नाभिश्लेषेण त्वनालंकृतस्य। तेजस्विपुरुष निकषोलस्य द्यूतस्य दर्शनमात्रमप्युपलब्धम्। न च किल शक्यं समुपहितोत्पल खंडकलां सहकार तैलोद्गत चन्द्रकाणां कामिनी निःश्वासविक्षोभिततरंगाणां प्रनृत्तबर्हिणाकाराणां वारुणी चषकाणां गन्धमात्रमपिविज्ञातुम्।

२. शृंगार हाट—संपादक—डॉ० मोतीचन्द—पृ० १३९

संस्कृत में प्रहसनों का जो रूप खड़ा हुआ, उसका उद्देश्य केवल मनोरंजन न हो कर, समाज-संस्कार भी हुआ। इससे यह स्थिर होता है कि कवि विकृतियों का व्यंग्य-रूप प्रस्तुत करके भी सुधार ही चाहता था। चतुर्भाणी के नाटक यथार्थ का चित्रण भर करने के उद्देश्य से रचित नहीं हैं, उनकी रचना के पीछे कोई पवित्र उद्देश्य भी था—यह तो स्पष्ट ही है।

आगे अब हम यह देखेंगे कि लोक भाषा हिन्दी के नाट्य-साहित्य ने संस्कृत की इस परम्परा से क्या कुछ ग्रहण किया है।

●

भारतेन्दु-कालीन नाटकों में समस्या

अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बताया है कि 'विशुद्ध नाटक-रीति से पात्र-प्रवेशादि नियम-रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक,' उनके पिताश्री कविवर गिरिधर दास अर्थात् बाबू गोपालचन्द्र-कृत 'नहुष' नाटक है ।[१] इस नहुष की रचना के पूर्व भाषा के नाटकों के नाम पर कवि देव कृत 'देवमाया प्रपंच,' 'प्रभावती' तथा 'आनन्द रघुनन्दन' (र० महाराजा विश्वनाथ सिंह) आदि नाटक प्रचलित थे। भारतेन्दु जी ने इन नाटकों को 'छंद-प्रधान काव्य' की संज्ञा दी है और बताया है कि इनमें 'नाटकीय यावत् नियमों' का प्रतिपालन नहीं है। भारतेन्दु ने यह भी स्वीकार किया है कि कवि नेवाज का 'शकुन्तला नाटक,' बनारसीदास रचित 'समय सार' तथा ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' अनूदित भाषा-नाटक के रूप में 'नहुष' के पूर्ववर्ती नाटक थे और वे प्रचलित भी थे। किन्तु, चूँकि वे अनुवाद थे इस कारण भाषा-नाटकों की परम्परा का उल्लेख करते समय उनका नामोल्लेख भारतेन्दु ने नहीं किया। और फिर उनकी रचना काव्य की भाँति है अर्थात् उनमें नाटक-रीत्यानुसार पात्र-प्रवेश इत्यादि कुछ भी नहीं है। इससे भारतेन्दु का दावा है कि 'नहुष' ही हिन्दी का प्रथम नाटक है।

डॉ० दशरथ ओझा ने भारतेन्दु के इस मत पर आपति की है और बताया है कि 'नहुष'-प्रणयन के पूर्व हिन्दी-नाटकों की जो विशाल परम्परा थी, उसको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उन्नीसवीं सदी के पूर्व हिन्दी में नाटक थे ही नहीं।[२] यह ठीक है कि आधुनिक नाटकों से भाषा के उन आदि-नाटकों की बड़ी भिन्नता है, लेकिन उसके लिए कारण भी हैं।

श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने बताया है कि १५वीं सदी से ले कर १९वीं सदी तक की अवधि में भाषा में १०६ नाटक लिखे गये और नाटककार भी एक-दो नही, पूरे ३५ हुए। ये नाटक वैष्णव-आन्दोलन से सम्बद्ध थे और मिथिला, बुन्देलखंड,

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ७५२

२. हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ९ (प्राक्कथन)

आसाम तथा नेपाल में इन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ[१]। हिन्दी-नाटकों की इस विशाल परम्परा को हमने भुला दिया है। माथुर जी का ऐसा अनुमान है कि भारतेन्दु को इन नाटकों के विषय में सूचना नहीं थी। तथापि यह भी सत्य है कि इन नाटकों की कतिपय विशेषताएँ, भारतेन्दु-युग में प्रचलित बंगला लोक-नाटकों, यात्रा-पार्टियों के नाटकों आदि की परम्परा में दबी-सिकुड़ी कहीं साँस ले रही थीं और स्वयं भारतेन्दु के नाटकों में वे उतर आयीं।[२] माथुर जी ने संकेत किया है कि भारतेन्दु के 'विद्यासुन्दर' नाटक और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक पर सन् १७२० में रचित 'विद्या-विलाप' और सन् १६५१ में रचित 'हरिश्चन्द्र नाट्यम्' नामक मैथिली नाटक का प्रभाव है। भारतेन्दु के नाटकों में सुप्रसिद्ध राग-रागिनियों में बँधे हुए जो गीत आये हैं, उनकी परम्परा भी इन वैष्णव-नाटकों में ही है। कहना नही होगा कि वैष्णव-नाटकों का जो भी प्रभाव भारन्तेन्दु ने ग्रहण किया, वह उन तक सीधे नहीं आया, बंगला और हिन्दी के जन-नाटकों के माध्यम से आया। इस वैष्णव नाटक-परम्परा को भारतेन्दु भले ही न जानते रहे हों, लेकिन उस युग में नाटकों की जो अन्य प्रचलित परम्पराएँ थीं, उनसे वे पूर्णतः परिचित थे। वे प्रचलित परम्पराएँ थीं : (क) ब्रज की रास-लीला-परम्परा (ख) उत्तर-भारत की लोक-प्रसिद्ध रामलीला-परम्परा (ग) यात्रा नाटक-परम्परा (घ) स्वांग जैसी जन-नाटक परम्परा और (च) इन सबसे अधिक प्रसिद्ध पारसी नाटक परम्परा। इनके अतिरिक्त 'नहुष' नाटक और 'आनन्द रघुनन्दन' की दो परस्पर भिन्न नाट्य-परम्पराएँ भी भारतेन्दु के सामने थीं। 'नहुष' ब्रजभाषा में रचित था और पद्य-प्रधान था। महाराज विश्वनाथ सिंह का नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' संस्कृत-परम्परा की रचना था।

काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ते समय भारतेन्दु का परिचय अंग्रेजी भाषा के नाटकों से हुआ। अपने देश में प्रचलित भिन्न-भिन्न नाटक-परम्पराओं के नाटकों के साथ अंग्रेज़ी नाटकों की तुलना करते समय भारतेन्दु के आगे अपने नाटकों का भीषण दारिद्रय भीमाकार हो उठता था और स्वदेश तथा स्वभाषाभिमानी भारतेन्दु को बड़ी पीड़ा होती थी। पारसी नाटक—रंग-मंच पर खेले जाने वाले नाटक, ऐसे भोंडे थे कि उनको पूरा देखा भी नहीं जा सकता था। भारतेन्दु ने अनुभव किया कि हिन्दी नाटकों को पारसी नाटक-मंडलयों के दलदल से उबारना ही होगा और उसके स्तर को ऊँचा भी उठाना होगा।

अपने पिता से नाटक की जो परम्परा भारतेन्दु को मिली थी, वह अवश्य ही ऐसी नहीं थी, जो आदर्श बन सके। खड़ी बोली पद्य के मुकाबले ब्रजभाषा-पद्य में नाटक लिखना बेमानी होता। 'आनन्द रघुनन्दन' वाली संस्कृत-परम्परा को ले कर भी नहीं चला जा सकता था। हिन्दी नाटक के लिए यह अनिवार्य जैसा हो गया था कि उसकी कला एकान्तिक रूप से न तो पूर्वी हो और न पश्चिमी ही। भिन्न परम्पराओं के बीच

१.२. Indian Drama—Hindi Drama & Theatre—J. C. Mathur—Page 23

ताल-मेल करके एक समाहार के रूप में ही नये नाटकों का सूत्रपात हो सकता था। इसी से भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-कला में प्राचीन और नवीन, देशी और विदेशी कलाओं का मेल किया। नाटक की भाषा क्या और कैसी हो, इसका आदर्श राजा लक्ष्मण सिंह ने कवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का उल्था करके स्थिर कर ही दिया था। भारतेन्दु यह जानते थे कि संस्कृत की नाट्य-परम्परा परम उन्नत है, लेकिन उनके सामने सहृदय सामाजिकों का जो वर्ग है वह उस परम उन्नत नाट्य-परम्परा से विच्छिन्न हो गया है। संस्कृत-परम्परा का अनुवर्त्तन करके नाटक लिखना श्रम का अपव्यय था। अस्तु, नये युग को जैसे लोकधर्मी नाटकों की अपेक्षा थी भारतेन्दु ने वैसे ही लोक-धर्मी नाटक प्रस्तुत किये।

नवीन नाटकों की रचना के उद्देश्य को स्थिर करते हुए भारतेन्दु जी ने लिखा है—इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं, यथा—शृङ्गार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार, देश-वत्सलता। ....समाज-संस्कार नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्त्तव्य, कर्म है। यथा, शिक्षा की उन्नति, विवाह-सम्बन्धी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि।[१] कहना नही होगा कि उन्नीसवीं सदी में अपने देश में जो महान वैचारिक क्रान्ति हुई थी, भारतेन्दु की भावना उसके कितने निकट पड़ती थी।

इस नये युग में नयी चाल के नाटकों की कैसी विलक्षण माँग थी, यह इस बात से भी सूचित है कि सन् १८८६ से लेकर १६०३ के बीच रामचरित को विषय बना कर कोई भी नाटक नही लिखा गया। कृष्ण-चरित को ले कर कुल दो नाटक रचित हुए। ऐतिहासिक भी तीन ही चार नाटक लिखे गये और फिर इन ऐतिहासिक नाटकों में भी देश की नयी भावना के अनुरूप वीर-रस की व्यंजना ही अधिक हुई। हिन्दी नाटकों में विषय-वस्तु की दिशा का यह परिवर्त्तन एक महत्वपूर्ण सूचना है।

अब हम यह देखेंगे कि भारतेन्दु के नाटकों मे नवीन चेतना की प्रस्तुति किस रूप में हुई है। सबसे पहले हम भारतेन्दु के 'विद्या सुन्दर' नाटक को विवेचनार्थ लेते हैं।

'विद्या सुन्दर' : मूल रूप में 'विद्यासुन्दर' एक बंगला नाटक है। प्रायः १८६५ ई० में रीवाँ नरेश महाराज यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने इसे काट-छाँट कर संशोधित रूप में तैयार कराया। यह नाटक बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। डॉ० दशरथ ओझा ने बताया है कि हिन्दी में विवाह-सम्बन्धी सामाजिक प्रश्न को कथानक बना कर इतने सुसंगठित रूप में लिखा हुआ यह प्रथम नाटक है।[२] ओझा जी ने इसे एक 'समस्या-नाटक' कहा है। उनके मतानुसार इसमें समस्या यह है कि विवाह केवल अभिभावकों के इच्छानुसार हो अथवा वर-वधू को भी विवाह में निर्वाचन का कोई अधिकार मिले।[३] वर्द्धमान नगर की राज-कन्या विद्या की प्रतिज्ञा है कि उसी

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्न दास—पृ० ७२०
२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा पृ० १५५
३. वही— —पृ० १५६

पुरुष के साथ वह विवाह करेगी, जो उसे विवाद में पराजित करे। उसने घोषणा कर रखी है कि अभ्यर्थी किसी भी जाति, गोत्र अथवा आर्थिक स्तर का हो सकता है। विवाह के विषय में कुल, गोत्र, जाति और धन-सम्पन्नता की ऐसी अनपेक्षा और उपेक्षा भारतीय समाज और विशेषकर उस जमाने के लिए सचमुच एक बड़ी बात है। विद्या से विवाह करने की कामना ले कर अनेक राजपुत्र आये। लेकिन विद्या के पिता के अनुसार अभ्यर्थियों का राजवंश में जन्म तो हुआ था, लेकिन उनमें किसी में मनुष्यता नहीं थी, सब-के-सब पशु थे। मनुष्यता से राजा का तात्पर्य था पौरुष से और राजपुत्र होने से ही पौरुष नहीं मिल जाता। स्पष्ट है, कुल के अभिमान के प्रति केवल विद्या की ही अनपेक्षा नहीं है, उसकी पुरानी पीढ़ी से उसके पिता राजा की दृष्टि में भी यह व्यर्थ है। काँचीपुर के राजकुमार सुन्दर के हृदय में भी विद्या को प्राप्त करने की कामना जगती है और वह अपने पौरुष न कि कुल-श्रेष्ठता के बल पर अनेक कष्ट झेल कर विद्या को प्राप्त करता है। विद्या और सुन्दर, नियोजित विवाह के बदले गान्धर्व-विवाह करते हैं। पीछे चल कर माता-पिता की उदार स्वीकृति भी उनके विवाह को प्राप्त होती है। इस प्रकार तप कर सुन्दर और विद्या का प्रेम और गान्धर्व-विवाह गुरु-जनों तथा समाज की स्वीकृति वैसे ही प्राप्त करता है, जैसे दुष्यन्त और शकुन्तला का।

इस नाटक से यह विदित होता है कि स्वेच्छा-विवाह को उदारता-पूर्वक स्वीकार करने के पक्ष में तो नाटककार थे, लेकिन वे यह भी चाहते थे कि ऐसे विवाह को अभिभावकों का आशीर्वाद भी प्राप्त हो। इस प्रकार गान्धर्व-विवाह की समस्या की इस नाटक में प्रस्तुति की जाती है और उसका समाधान उपस्थित किया जाता है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'

भारतेन्दु की कृति 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' एक मौलिक कृति है। इससे यह विदित होता है कि भारतेन्दु के युग में समाज और धर्म के क्षेत्र की विकृतियों का क्या रूप था। इस प्रहसन की प्रस्तावना से जाहिर है कि भारतेन्दु इसके द्वारा एक तमाशा दिखाना चाहते थे। 'जो लोग माँस लीला करते हैं, उनकी लीला करेंगे'[१]—ऐसा इस नाटक का सूत्रधार कहता है। यह नहीं है कि भारतेन्दु आचार-विचार विषयक कठोर सामाजिक-धार्मिक विषय बनाना चाहते थे। उन्होंने इस प्रहसन के यमराज से कहलाया ही है—'माँस-मदिरा खाना-पीना है तो यों ही खाने में किसने रोका है, धर्म को बीच में क्यों डालता है।'[२] स्पष्ट है कि भारतेन्दु को इस बात की रंजिश है कि माँस खाने वाले, शास्त्र की मनमानी व्याख्या करते हैं। इस विषय में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के निम्नलिखित उद्धरण ध्यातव्य हैं :

(क) मत्स्य की उत्पत्ति वीर्य और रज से नहीं है। इनकी उत्पत्ति जल से

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्न दास—पृ० ६९

२. वही— —पृ० ८३

है । इस हेतु जो फलादिक भक्ष्य हैं तो ये भी भक्ष्य हैं ।[१]

(ख) महाराज मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेन्द्र लाल के दोनों लेख देता हूँ । उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि माँस की कौन कहे गोमाँस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के हिन्दू सब खाते-पीते थे । आप चाहिए एशिआटिक सोसायटी का जर्नल मँगा के देख लीजिए ।[२]

अंग्रेज़ों के सम्पर्क के कारण तथाकथित उन्नत लोगों के बीच मदिरा का व्यापक प्रचलन हुआ । भारतेन्दु जी ने स्थिति-चित्रण करते हुए इस नाटक में लिखा है :

ब्राह्मण क्षत्री वैश्य अरु सैयद सेख पठान ।
है बताइ मोहि कौन जो करत न मदिरा पान ।।
पियत भट्ट के ठट्ठ अरु गुजरातिन के बूँद ।
गौतम पियत आनंद सों पियत अग्र के नन्द ।।
ब्राह्मण सब छिपि छिपि पियत जामैं जानि न जाय ।
पोथी के चोंगान भरि बोतल बगल छिपाय ।।[३]

इस मदिरा के कारण हिन्दू स्वधर्म परित्याग कर रहे हैं । भारतेन्दु ऐसे लोगों से व्यंग्य करते हुए कहते हैं :

मदिरा के ही पान हित हिन्दू धर्महिं छोड़ि ।
बहुत लोग ब्राह्मो बनत निज कुल सों मुख मोड़ि ।।
ब्रांडी को अरु ब्राह्म को पहिलो अक्षर एक ।
तासों ब्राह्मो धर्म में यामें दोस न नेक ।।[४]

स्थिति यह है कि मदिरा देवों के भी सिर चढ़ रही है । 'विष्णु वारुणी पोर्ट पुरुषोत्तम मद्य मुरारि । शापिन शिव गौड़ी गिरीश ब्रांडी ब्रह्म विचार' की स्थिति है । भारतेन्दु जी को मदिरा के व्यापक प्रचलन पर आपत्ति है । उनके मतानुसार यह अंग्रेज़ी शिक्षा का कुफल और गुलाम मनोवृत्ति का परिचायक है ।

भारतेन्दु के युग में विधवाओं के पुनर्विवाह का प्रश्न खड़ा हो गया था । विधवाओं की समस्या पहले बंगाल में खड़ी हुई—ऐसा संकेत इस नाटक से मिलता है । यह इसलिए कि इस नाटक में विधवा का प्रश्न ब्राह्मण के आगे न रख कर भट्टाचार्य के समक्ष रखा जाता है । इस नाटक का बंगाली पात्र कहता है—'पुनर्विवाह के न होने से बड़ा लोकसान होता है, धर्म का नाश होता है, ललनागन पुंश्चली हो जाती है, जो विचार कर देखिए तो विधवागन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है ।'[५] विधवा-विवाह के प्रश्न पर भारतेन्दु की सम्मति है कि विधवा-विवाह के

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ७७ ।

२. ३. ४. ५.—वही—पृ० ८५, ८६, ८५, ७३ ।

निमित्त शास्त्रानुमोदन अवश्य है। जो विधवा विवाह करती है, उसे पाप नहीं होता। लेकिन जो नहीं करती, उसको पुण्य अवश्य होता है। रही पुंश्चली होने की बात तो विवाह होने पर भी जिसको व्यभिचार करना होगा सो करेगी ही।[1]

हिन्दू समाज में, और-तो-और धार्मिक कहे जाने वाले संत-महंतों में भी चारित्रिक स्खलन देखा जा रहा था। गंडकीदास के रूप में एक गुरु की अवतारणा इस नाटक में की गयी है। गंडकीदास का चरित्र यह है कि उसने भक्तिभाव से कभी मूर्त्ति के आगे प्रणति नहीं की लेकिन जब मंदिर में कोई स्त्री आयी तो छूटते ही कहा—'मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी।'[2] और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्खा हैं कि ऐसे ही लोगों के पास जाती हैं। भारतेन्दु जी को देव-मंदिरों में होने वाली ऐसी पाप-लीला से घृणा थी और वे उसका अन्त चाहते थे। वे डट कर कहते है कि धर्मध्वजी गंडकीदास जैसे पर-स्त्री-सेवक साक्षात रौरव नरक हैं।

भारतेन्दु के सामने जो देशी नरेश थे, वे जन्म से ही पाप में रत थे, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानते थे। इन्होंने आड़ तो धर्म की रखी लेकिन घड़ों शराब गटक गये। परमेश्वर के प्रीत्यर्थ कभी कानी-कौड़ी इन्होंने खर्च नहीं की, जो किया नामवरी के लिए किया।[3] इनके मंत्री चाटुकार हैं, मुँह पर स्तुति और पीठ पीछे निंदा करने में पारंगत। मंत्रियों ने प्रजा पर कर लगाने में तो पहले सम्मति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी नही किया।[4] स्पष्ट है कि भारतेन्दु यह मानते थे कि यदि राजा कर लगाता है तो उसे प्रजा के कल्याण के लिए भी कुछ करना है। कर राजा की जरूरत पूरी करने के लिए नहीं लगाया जा सकता। भारतेन्दु को इस पर भी आपत्ति थी कि ये राजे विदेशियों के इशारे पर नाचते थे और उनकी दी हुई 'स्टार ऑफ़ इंडिया' जैसी पदवी पा कर फूले नहीं समाते थे।[5] पुरोहित अर्थात् धर्म के नियामकों से उनकी शिकायत थी कि वे भी राजा के मंत्रियों की ही तरह घूस खाते थे, टके-टके पर धर्म छोड़ कर मनमानी व्यवस्था देते थे। स्थिति यह है कि दक्षिणा-मात्र दे दीजिए फिर जो कहिए, उसी में पंडित जी की सम्मति है।[6] धर्म के नियामकों, व्यवस्थापकों, पुरोहितों के इस पतन पर भारतेन्दु जी को दुःखी होना ही चाहिए था।

इस नाटक से यह विदित होता है कि भारतेन्दु अपने युग के यथार्थ से दुःखी थे और जानते थे कि स्थिति के प्रति विद्रोह न किया जायगा तो भारतवर्ष और हिन्दू समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जावेंगे। अपनी परम्परा और संस्कृति की रक्षा के पुनीत उद्देश्य को सामने रख कर ही भारतेन्दु जी ने इस नाटक की रचना की थी और बताया था कि जातीय जीवन की समस्याएँ क्या कुछ हैं।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ७४

२. ३. ४. ५. ६.—वही—पृ० ६०, ८६, ६०, ८६, ६०।

'पाखंड विडंबन' : हिन्दुओं के सन्तों-महन्तों की जो हीन दशा है, वही दिगम्बर जैन भिक्षुओं और अर्हत बौद्धों की, कापालिक योगी के संसर्ग में जा कर हो गयी है। 'पाखंड विडंबन' नामक अपने नाटक में भारतेन्दु जी ने यही दिखाया है। कापालिक मत में सुरा और सुन्दरी का जो सिलसिला है, वह धर्म-भ्रष्टता का जनक है—ऐसा भारतेन्दु जी मानते थे। तभी तो इस नाटक का जैन भिक्षु कहता है—'अरी सुन्दरी एक बार तो फेर गरे सूँ लपटि जा'[1] और बौद्ध अर्हत गवाही देता है—'जो सुख माहि कपालिनी दीन न सो कबहूँ हम पायो।'[2]

'प्रेम जोगिनी' नाटिका : बाबू ब्रजरत्न दास से प्राप्त सूचना के अनुसार भारतेन्दु जी ने पहले 'प्रेमजोगिनी' के दो ही दृश्य लिखे थे, जिनमें प्रथम में काशी नगरी के बदमाशों और बुरे चाल-चलन के लोगों का वर्णन और दूसरे में काशी की प्रशंसा, वहाँ पर मिलने-योग्य महात्माओं के नाम, दर्शनीय स्थानों का वर्णन इत्यादि हैं। ये दोनों दृश्य 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' खंड १ संख्या ११ और खंड २ संख्या ३-७ सन् १८४५ में प्रकाशित हुए थे। ये काशी के छाया-चित्र अर्थात् काशी के दो बुरे-भले फ़ोटोग्राफ़ नाम से चन्द्रिका से उधृत हो कर हरिप्रकाश प्रेस से प्रकाशित भी हुए थे। नाटक के आमुख मे भारतेन्दु जी ने लिखा है—'बैठ कर सैर मुल्क की करना। यह तमाशा किताब में देखा।'[3] इससे विदित होता है कि नाटककार का उद्देश्य देश-दर्शन कराना है। उनको अपने वर्त्तमान के प्रति जो तीव्र आक्रोश है, अनास्था है और जिसे देख कर वे अत्यन्त दुखी हैं, उसे उनके इस कथन से भी जाना जा सकता है : 'क्या इस कमलवन-रूपी भारत-भूमि को दुष्ट गधों ने उसकी इच्छा बिना ही छिन्न-भिन्न कर दिया? क्या अब भरत-खंड के लोग ऐसे कापुरुष और दीन उसकी इच्छा के बिना ही हो गये?'[4]

भारतेन्दु जी ने देखा कि धर्म के नाम पर भोली-भाली जनता का शोषण होता है। पुराने संस्कारों और धर्म-भीरुता के कारण जनता विवश थी और यह भी समझ नहीं पाती थी कि उसके साथ अन्याय होता है। धर्म के प्रतीक संत-महंत उसकी आबरु तक लूट रहे थे। भारतेन्दु इस स्थिति का रोष-पूर्ण विरोध कैसे करते हैं यह इस नाटक की निम्नलिखित पंक्ति से स्पष्ट है :

'अरे भाई गोसँइयन पर तो ससुरी सब आये भहराय पड़ थीं पवित्र होवे के वास्ते, हम का पहुँचने। गुरु, इन सबन का भाग बड़ा तेज है, मालो लूटें मेहरारुवो लूटें।'[5] भारतेन्दु ने देखा कि मंदिरों के सन्त-महन्त अमारत की ज़िन्दगी बसर करते हैं। इस नाटक में कहा गया है : भाई मंदिर में रहैं से स्वर्ग में रहैं। खाय के अच्छा, पहिरे के परसादी, से महाराज कब्बौ गाढ़ा तो पहिरबै न करिये, मलमल,

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास—पृ० ६१
२. ३. ४. ५.—वही—पृ० ६०, ३२०, ३२२, ३२६

नागपुरो, ढाके पहिरिये, अतरै फुलेल केसर परसादी बीड़ा चाभो, सबसे सेवकी ल्यौ, ऊपर से ऊ बात का सुख अलगे है।'[१]

जनता हीन-चरित्र हो गयी है। साधारण जन के विषय में भारतेन्दु ने जैसे इस एक पंक्ति में सब कुछ कह दिया है—'लोग निकम्मे, भंगी, गंजड़, लुच्चे बे-विसवासी, महा-आलसी, झूठे, शुहदे, बेफिकरे बदमासी।[२]

जो लोग धनी-मानी हैं, उनकी दशा यह है कि वे परनिन्दक हैं, विश्वास-घातक हैं, डरपोक हैं, झूठे और अंग्रेज़ों के ख़ुशामदी टट्टू हैं। धर्म-कार्य में इनकी रुचि नहीं है, और इससे धर्म के शुभ-कार्य के निमित्त इनसे एक कौड़ी का मिलना भी कठिन है। लेकिन ये ही दाल-मंडी की रंडियों की पूजा करते हैं, साहब के घर ख़ुद दौड़े जा कर चन्दा जमा कर आते हैं।[३]

सरकारी शासन की ऐसी दुर्गति है कि ज़रूरत पड़ने पर यदि कचहरी जाइए तो अमले नोच लें, घर में कहीं चोरी हो गयी हो और पुलिस को ख़बर लग जाय तो चोर पकड़ने की बात तो अलग रही घर वाले की ही पुलिस नोच-खसोट करे।[४]

इस नाटक में वर्त्तमान की दयनीयता का दृश्य इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि उसके प्रति विद्रोह हो। काशी के वासी भंग की बेख़ुदी में पड़े हुए थे और भारतेन्दु को उन्हें जगा देना था। इस प्रकार तत्कालीन जन-जीवन की विद्रूपता के प्रति भारतेन्दु जी ने विरोध-भाव जगाया है; स्थिति से, अपनी समस्याओं से ऊपर उठ कर देश-दशा का सुधार करने की प्रेरणा उत्पन्न की है।

'विषस्य विषमौषधम्' : भारतेन्दु जी ने इस 'विषस्य विषमौषधम्' शीर्षक नाटक में बड़ौदा के महाराज मल्हार राव के दुष्ट चरित्र का परिचय दिया है और बताया है कि उसके जैसे विलासी इतिहास में केवल दो राजे हुए—एक था मुहम्मद शाह जिसके जमाने में नादिरशाह ने देश पर चढ़ाई की और दूसरा हुआ वाजिद अली शाह जिसके जमाने में लखनऊ की साहबी

---

१. (पाखंड विडंबन) भारतेन्दु ग्रन्थावली—अजरत्नदास—पृ० ३२६

२. वही— —पृ० ३३३

३. साहेब के घर दौड़े जावे चंदा तेहि निकासी।
चढ़ै बुखार नाम मंदिर का सुनतहि होय उदासी।
घर की जोरु लड़के भूके बने दास औ दासी।
दाल की मंडी रंडी पूजै मानो इनकी मासी।
—भारतेन्दु ग्रन्थावली—पृ० ३३४

४. वही— —पृ० ३३४
गए कचहरी अमला नोचै मोचि बनावे घासी।
चोरी भए पर पुलिस नोचै हाथ गले बिच ढाँसी

चली गयी। यह मल्हारराव इतना दुष्ट-चरित्र था कि जब वह शहर के अमीरों के घर जाता था तो उसके डर के मारे घर की औरतें कुएँ में उतारी जाती थीं ताकि उनकी इज़्ज़त पर हमला न हो।[१] नाटककार ने कहलाया है कि मुहम्मद शाह और वाजिद अली शाह तो मुसलमान थे इससे छूट गये, लेकिन मल्हार राव तो हिन्दू है। उसके बचने का रास्ता कहाँ है। मल्हार राव से नाटककार ने यह कह कर चुटकी ली है कि इस नये ज़माने में विधवा-विवाह तो कराने वाले बहुतेरे लोग हैं 'सौभाग्यवती विवाह' मल्हार राव ही कराता है।[२] ऐसे दुराचारी राजा को गद्दी से उतार कर अंग्रेज़ों ने अच्छा ही किया—ऐसा नाटककार मानते थे। अंग्रेज़ विदेशी हैं, अन्यायी हैं, कहिए विष ही हैं। लेकिन मल्हार राव जैसे विष की औषधि भी वे ही हो सकते थे। इसी अर्थ में अंग्रेज़ी राज्य का समर्थन इस नाटक में किया गया है।

इस नाटक से देशी नरेशों की स्थिति का भी परिचय मिल जाता है। इसमें कहा गया है कि कलकत्ते के प्रसिद्ध राजा अपूर्वकृष्ण से किसी ने पूछा था कि आप लोग कैसे राजा हैं। तो उन्होंने उत्तर दिया-जैसे शतरंज के राजा, जहाँ चलाइए वहाँ चलें।[३] अंग्रेज़ों ने देशी नरेशों और शासन के बीच मध्यवर्त्ती कड़ी के रूप में रेज़िडेन्ट की स्थिति बना रखी थी। यह रेज़िडेन्ट ही असली शासक हुआ करता था। कभी राजा से संघर्ष होता और बात आगे बढ़ कर गवर्नर जेनरल की कौंसिल तक पहुँचती तो अन्त में बात रेज़िडेन्ट की ही रहती और इस प्रकार राजा का महत्व अदने ज़मींदार का रह जाता।[४]

'विषस्य विषमौषधम्' के लेखक की दृष्टि बहुत ही स्पष्ट है। उनके सामने अंग्रेज़ी राज्य की राजनीति की समस्या थी। अंग्रेज सन् १५९९ में इस देश में सौदागरी करने आये थे, कृपाजीवी थे। लेकिन थोड़े ही दिनों में वे इस देश को ही हज़म कर गये। कहिए, उन्होंने भारत को सुशासन और न्याय दिया और इस कारण जनता ने स्वेच्छया उनका शासन स्वीकार किया तो बात ग़लत होगी। अंग्रेज़ों के ही राज्य में रामपुर मे दुरंत यवन हिन्दुओं को इतना दुःख देते थे, पूजा नहीं करने देते थे, शंख नहीं बजाने देते थे लेकिन सरकार ने मुसलमानों के प्रति अनुचित पक्षपात के कारण हिन्दुओं के प्रति न्याय नहीं किया, उनके धार्मिक अधिकारों की संरक्षा नहीं की।[५]

भारतेन्दु के युग के सामने अंग्रेज़ों का शक्तिवर्द्धन समस्या-रूप था और ऐसा अनुभव किया जा रहा था कि देश अंग्रेजों का ग़ुलाम हो जाने के लिए विवश है। देशी

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास—पृष्ठ ३६६

२. ३. वही—पृ० ३६७, ३६१

४. Minutes Dated the 12 June 1775, Governor General's Council—भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ३६१ पर उल्लिखित।

५. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृष्ठ ३६०

नरेशों से कुछ आशा की जा सकती थी पर उनकी हालत यह थी कि वे विलासिता के पंक में ऐसा फँसे थे कि स्वयं अपना ही उद्धार नहीं कर सकते थे, दूसरों को क्या सहारा देते।

इस प्रकार भारतेन्दु के सामने राजनीतिक जीवन की परवशता की स्थिति थी और देश को उन्नत बनाने की आशा सँजोने वाले उनके जैसे लोगों के आगे एक बड़ी समस्या खड़ी थी कि देश का उद्धार किस प्रकार किया जाय।

'भारत दुर्दशा' : 'प्रेम जोगिनी' नाटक की परम्परा ही आगे बढ़ कर 'भारत-दुर्दशा' में आती है। 'प्रेमजोगिनी' में जहाँ काशी नगरी की हीन दशा भारतेन्दु के परिताप का कारण है, वहाँ 'भारत-दुर्दशा' में सम्पूर्ण देश ही नाटककार के मानस-पटल पर खिंच आता है। भारतेन्दु इस बात का अनुभव करके अत्यन्त दुःखी थे कि जो भारत देश सभ्यता, विद्या और धन की सम्पन्नता प्राप्त करने में संसार का अग्रणी था, वही आज भयंकर रूप से दुर्दशा-ग्रस्त है।[१] भारत की दुर्दशा को जिस रूप में भारतेन्दु ने देखा था, उसे ही इस नाटक में उन्होंने उपस्थित किया है। देश में अविघ्न कुमति, फूट, आलस्य आदि का प्राबल्य हो गया है। धर्म दुर्दशा की प्रेरक-शक्ति बन रहा है। देश में अनेक मता-मतान्तर फैले हुए हैं।[२] स्वमत-स्थापन और परमत-खंडन में लगे हुए लोग इस बात का अनुभव ही नहीं कर पा रहे है कि वे एक ही देश-माँ की सन्तान हैं। सामाजिक क्षेत्र में न्याय नहीं रह गया है। एक ओर तो वृद्ध है, जो विवाह करते हैं। दूसरी ओर विधवा-विवाह पर वर्जन की पाबन्दी है। समाज की शक्ति बाल-विवाह और बहु-विवाह जैसे दोषों के कारण नष्ट-प्राय है।[३] सारे देश में निरुद्यमता है। लगता है, राज्य छोड़ कर कोई शासक पेन्शन पर गुज़ारा कर रहा हो।[४] उद्योग-धंधे चौपट हो गये हैं। हालत यह है कि सूखी रोटी को ही सराह-सराह कर खा रहे हैं।[५] भारत की रत्न-प्रसवा भूमि वन्ध्या हो गयी है। सारे देश में अतिवृष्टि और अनावृष्टि के प्रकोप के कारण अन्न के लाले पड़े हुए हैं। पूर्वजों का कमाया हुआ जो थोड़ा-सा धन बचा हुआ है, वह बर्बाद हो रहा है—अपव्यय, फ़ैशन, अदालत और सिफ़ारिश अर्थात अंग्रेज़ हाकिमों की सेवा।[६] कठमुल्लापन ऐसा है कि विद्या पढ़ने की रुचि ही नहीं होती। लोग शीतला के प्रकोप से बचने के लिए लाख कहने पर भी टीके नहीं लेते और इस प्रकार उपाय के रहते अपने प्यारे बच्चों की जान लेते हैं।[७] कोई हिम्मत कर पश्चिमी देशों की यात्रा विद्योपार्जनार्थ करता भी है तो जाति-बहिष्कृत होता है। भारतेन्दु को इस बात की बड़ी पीड़ा है कि परम उन्नत अंग्रेज़ों के सान्निध्य का कोई लाभ भारतवासी उठा नहीं पा रहे हैं। एक तो दुनिया का आठवाँ आश्चर्य यह कि विद्या का सूर्य पश्चिम में उगा और

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास—पृष्ठ ४६९

२. ३. ४. ५. ६. ७.—वही—पृ० ४७५, ४७५, ४७६, ४७६, ४७६, ४७९

हम हैं कि उस भासमान आलोक से कतराते हैं।[1] अंग्रेजों से भारतवासियों ने उनका गुण नहीं लिया, मदिरा पीने का अवगुण लिया। ठोकर खाते-खाते उसके ऐसे आदी हो गये हैं कि कोई प्रतिक्रियात्मक विद्रोह ही नहीं होता। भारतेन्दु जी ने स्थिति का बड़ा सच्चा चित्र इस प्रकार खींचा है :

> बाझ लादि के पैर छानि कै निज-सुख करहु प्रहार
> ये रासभ से कछु नहिं कहिहैं, मानहु छमा अगार।[2]

इधर दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य है, जिसकी स्वार्थनीति के कारण देश का सत्यानाश हो रहा है। देश का सोना बह कर समुद्र पार पहुँच रहा है और उसके ऊपर राजकरों का दुर्वह बोझ जनता पर पड़ा हुआ है।

अंग्रेजों के इस देश में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद लोगों को उन्हें देख कर ऐसा लगा था कि मूर्खों के प्रचंड शासन के दिन गये अब ऐसा जमाना आया है, जब प्रजा के स्वत्त्व की राजा चिंता करेगा ही।[3] विद्या का प्रचार संभव होगा और प्रजा को मौलिक अधिकारों की प्राप्ति होगी। सिपाही-विद्रोह के बाद जब भारत का शासकीय सम्बन्ध ब्रिटिश राज के साथ प्रत्यक्षतः जुट गया तो और तो और देश सिपाही-विद्रोह के रूप में प्रकट होने वाली भारतीय पौरुष की जागृति की पहली हुंकार को विफलता को भी भूल गया। रानी विक्टोरिया देश की 'राजराजेश्वरी विजयिनीमाता' के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। लेकिन प्रजा को यह देख कर बड़ी पीड़ा हुई कि भारत को न तो नयी-नयी कारीगरी मिली और न उसे कुछ कहने-सुनने का अधिकार ही दिया गया। अंग्रेज़ अपने देश में जनतंत्र का जो भी सुख भोग करते हों भारत का शासन तो 'इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफ़ा'[4] के अनुसार ही चलता था। यह ठीक है कि दुनिया बहुत आगे बढ़ आयी है और राजा निरंकुश होना भी चाहे तो संभव नहीं है। लेकिन शासन कैसा है यह समझने-बूझने की योग्यता भी तो शासित को हो। अस्तु, ज़रूरत इस बात की है कि प्रजा को उसके स्वत्व का बोध हो, आत्म-बोध हो। भारतेन्दु के विचार में यही प्रश्न खड़ा है, यही समस्या है कि प्रजा को आत्म-बोध कैसे कराया जाय। जो अपढ़, निरक्षर हैं, उनकी दशा तो उस गधे की है, जिस पर चाहे जो चाहो ज़ुल्म कर लो। जो पढ़े-लिखे हैं, उनकी दशा भी बहुत अच्छी नहीं है। 'भारत-दुर्दशा' के पाँचवें अंक में किताब-खाने में पढ़े-लिखे छः सभ्यों की जो बैठक होती है, उससे इस बात का प्रमाण मिलता ही है। इन सभ्यों में जो कवि है, वह तो और भी दयनीय है। अखबार निकालने वाले जो एडीटर महाशय हैं, वे अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले दागने की हिम्मत तो करते हैं लेकिन यही नहीं जानते कि निपट निरक्षरता जिस समाज में व्याप्त हो, उसमें उनकी बातों को पढ़ने और समझने वाले

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्न दास—पृष्ठ ४६६

२. ३. ४.—वही—पृ० ४६५, ४६६, ४६०

ही नहीं हैं। भारतेन्दु ने समस्या के समाधान का जो सीधा तरीका सुझाया है, वह यह है कि सब लोग मिल कर एक चित्त हों, विद्या की उन्नति करें, कला सीखें, जिससे कुछ वास्तविक उन्नति होगी, जैसे-जैसे शिक्षा-संस्कार दृढ़ होगा वैसे ही वैसे समस्याओं का समाधान भी हो जायेगा।[1]

'भारत जननी' : भारतेन्दु जी की स्वीकारोक्ति है कि 'भारत जननी' उनकी कृति नहीं है। वे लिखते हैं—'भारत जननी' रूपक जो गत नवम्बर सन् १८७८ ई० से छपता है, उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। हव रूपक मेरा बनाया नहीं है। बंगभाषा में 'भारतमाता' नामक जो रूपक है, वह उसी का अनुवाद है, जो मेरे एक मित्र का किया है, जिन्होने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैने उसको शोधा और जो अंश कुछ भी अयोग्य था, उसको बदल दिया। कवि की कीर्त्ति का लोभ नही करता।'[2] इस स्पष्ट प्रमाण के बाद भी पता नहीं क्यों डॉ० सोमनाथ अपने प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में इस रचना को भारतेन्दु की मौलिक कृति कहते हैं?[3]

इस नाटक के सूत्रधार के वचन से ही रचना के उद्देश्य पर प्रकाश पड़ जाता है। नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार कहता है—'भारत-भूमि और भारत-सन्तान क दुर्दशा दिखाना ही इस 'भारत जननी' की इति-कर्त्तव्यता है और आज तो यह आर्य-वंश का समाज यह खेल देखने को प्रस्तुत है उसमे से एक मनुष्य भी यदि इस भारत-भूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करे तो हमारा परिश्रम सफल है।'[4]

भारत के लोग उद्यम-रहित हो कर केवल सूद या नौकरी पर सन्तोष करके बैठे हैं। अज्ञानांधकार में ऐसे पड़े हैं कि दिग्भ्रम हो रहा है। बस नेत्र-निमीलन करके पड़े हैं। भारत-माता एक को जगाती है तो दूसरा सोता है, दूसरे को जगाती है तो पहला सोता है।

इस संकट की घड़ी में भी रानी विक्टोरिया से भारत को बड़ी आशाएँ थीं। नाटककार ने कहलाया है—'जगत विख्याता, ललनाकुल कमल कलिका प्रकाशिका-राजनिचय पूजित पाद पीठा, सरलहृदया, आर्द्रचित्ता प्रजारंजन-कारिणी एवम् दयाशीला आर्य स्वामिनी राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण कमलों में अपने इस दुःख का निवेदन करो, वह अतीव कारुण्यमयी दयाशालिनी और प्रजा-शोक-नाशिनी हैं, निस्सन्देह तुम लोगों की ओर कृपा-कटाक्ष से देखेंगी!'[5]

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—ब्रजरत्नदास—पृ० ४८८
२. भारतेन्दु नाटकावली—सं० श्यामसुन्दर दास—पृ० २ पर उल्लिखित
३. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डॉ० सोमनाथ—पृ० ५१
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ५०१
५. भारतेन्दु ग्रंथावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ५१०

नाटककार के अनुसार अंग्रेज़ दो कोटियों के हैं। पहले वर्ग में वे हैं, जो अनुदार नौकरशाही के प्रतीक हैं। दूसरा वर्ग उनका है, जो उदार हैं, सम्वेदनशील हैं। इसी दूसरे वर्ग में आते हैं—ग्लैडस्टोन, पॉसेट, ब्राइट और रिपन। नौकरशाही को इस बात का परिताप है कि यदि उसे मालूम होता कि पढ़-लिखे लोग समस्या हो जायेंगे तो उसने शिक्षा-प्रचार में रुचि ही नहीं ली होती।[1]

देश के उद्धार का जो रास्ता इस नाटक में सुझाया गया है, वह इस प्रकार है :

(क) अभिमान, लोभ, अपमान, आत्म-समाज प्रशंसा, पर-जात निंदा इन सब का समाधान-पूर्वक परित्याग करो, धैर्य का अवलम्बन करो।

(ख) धैर्य, उत्साह और ऐक्य के उपदेशों को मन में रख कर दुखिया के दुःख दूर करने में तन-मन से तत्पर हो।

स्पष्ट है कि इस नाटक में भी देश की दुर्दशा की चर्चा की गयी है और सुझाया गया है कि भारत-जननी का उद्धार कैसे सम्भव है।

'नील देवी' : भारतेन्दु जी ने 'नील देवी' को 'मातृ-भगिनी-सखी-तुल्या आर्य ललनागण' के नाम समर्पित किया है।[2] इससे यह विदित होता है कि इस रचना का उद्देश्य नारी-समाज को प्रेरणा देना था। बात यह है कि भारतेन्दु के सामने भारतीय और पाश्चात्य नारियों का अन्तर बड़ा ही स्पष्ट हो गया था। उन्होंने देखा कि प्रसन्नवदना गौरांगनाएँ ग़ज़ब की फुर्ती रखती हैं, सावधान होती हैं, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, अपनी सन्तान को शिक्षा देती हैं, अपना स्वत्व पहचानती हैं, कलह नहीं करतीं।[3]

इधर दूसरी ओर भारतीय महिलाएँ हैं, जो सीधी सादी, दीन-हीन हैं, कलह से घर बर्बाद करती हैं। इस प्रकार दोनों दो छोरों पर हैं। भारतेन्दु के आगे प्रश्न है कि नारी-जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए। इस नये ज़माने में भारत की नारियाँ पश्चिम की मेम-साहबों का आदर्श ग्रहण करें अथवा अपने पुरानेपन से चिपकी रहें और 'संस्कृति की रक्षा' के नाम पर असूर्यम्पश्या बनी रहें। इसी समस्या पर विचार करते-करते 'नील देवी' की रचना हो गयी होगी। इस विषय में भारतेन्दु जी का समाधान यह है कि भारत की नारियाँ अंग्रेज़ मेमों की तरह तितली बनी फुदकती न चलें लेकिन वे सही मानी में गृहिणी अवश्य बनें। वे अवश-अबला न रहें। जाति और देश के नाम पर वे भी मरना-जीना सीखें। भारतेन्दु की 'नीलदेवी' अपनी बहनों

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली—सम्पादक ब्रजरत्नदास—पृ० ५१२
२. ,, ,, पृ० ५१८
३. ,, ,, पृ० ५१८

को यही तो सिखाती है कि वे अपने पैरों पर खड़ी हों, पर्दे से निकल कर आवश्यकतानुसार खुले मैदान की चंडिका बनें। भारतेन्दु का तात्पर्य यह है कि नारी निरुद्यम, अकर्मण्य न रहे, देश-कार्य में भाग ले। आवश्यकता होने पर साहस-पूर्वक अपने शील की रक्षा करे, शत्रु का नाश करे। 'नील देवी' से हमें दो संदेश मिलते हैं—एक यह कि भारतेन्दु, भारत के नारी-वर्ग को पर्दे की रानी बना कर रखना नहीं चाहते थे। उसको भी राष्ट्र-यज्ञ में आहुति देनी होगी—देश-दशा को समझना होना और उद्योग करना होगा कि राष्ट्र कैसे आगे बढ़ेगा। दूसरा यह कि हमारे सामने जो हमारा शत्रु खड़ा है, वह बड़ा ही चालबाज़ है। उसकी नेकनीयती और उसके धर्माचरण पर भरोसा रखने से हानि-ही-हानि होगी। सबसे ऊपर तो यही है कि अधर्म-युद्ध करने वालों से धर्म-युद्ध नहीं किया जा सकता।

इस नाटक के ऊपर आक्षेप करते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास ने कहा है कि भारतेन्दु ने जिस आदर्श को सामने रख कर इसकी रचना की है, उसकी सिद्धि नहीं होती। इससे तो केवल प्रतिहिंसा के भाव को उत्तेजना मिलती है।[१]

बाबू साहब के कहने का तात्पर्य यह है कि इस नाटक से साम्प्रदायिक उत्तेजना फैल सकती है और फिर एक नयी समस्या खड़ी हो सकती है। बाबू साहब का यह आक्षेप सारहीन है—ऐसा तो नहीं कहा जा सकेगा। लेकिन हमें यह भी स्मरण होना चाहिए कि बिना संघर्ष प्रस्तुत किये नीलदेवी का चरित्र गढ़ा नहीं जा सकता और ऐसा संघर्ष नीलदेवी का मुसलमानों के साथ ही हो सकता था, अंग्रेज़ों से साथ नहीं। हमें तो ऐसा लगता है कि समस्या को प्रस्तुति का प्रश्न ही वह मुख्य कारण है, जिसके फल-स्वरूप 'नीलदेवी' का यह कलेवर खड़ा हो सका। मूल प्रश्न तो यही है कि क्या भारत की आर्य-ललनाएँ उस कुल-परम्परा को ढोती रहें, जो उनकी उन्नति के लिए अवरोधक है। नाटककार ने आर्य-ललनाओं के कुल-परम्परा-विषयक इस भ्रम के निराकरण हेतु ही इस नाटक की रचना की है और उनको विश्वास दिलाया है कि हमारे यहाँ स्त्री-गण सर्वदा इसी दयनीयता की स्थिति में नहीं रही हैं।[२]

'अन्धेर नगरी' : भारतेन्दु जी ने 'नेशनल थियेटर' नामक किसी संस्था के लिए कुल एक दिन में इस प्रहसन की रचना की थी। 'अन्धेर नगरी' में चौपट न्याय की जो कथा आयी है, वह जन-समाज में ख़ूब प्रचलित थी। इंशा अल्ला खाँ ने ऐसी ही किसी कथा को ध्यान में रख कर कहा था—

'न होगा राज में हरबोंग के लेकिन कहीं हज़रत सलामत आपके इन्साफ़ का जोड़ा।'

भारतेन्दु के इस प्रहसन में अंग्रेज़ नौकरशाही की खबर ली गयी है। इस देश

---

१. भारतेन्दु नाटकावली—सं० श्यामसुन्दरदास (इंडियन प्रेस)—पृ० ६८—सं० १९२७

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृ० ५१८

(छ) इधर देश की दशा यह है कि सर्वत्र फूट और बैर है।[1] टके के बल पर दोनों का ईमान बिकता है। टके के वास्ते लोग झूठी गवाही देते हैं, टके के वास्ते ब्राह्मण धोबी बनने को तैयार है और टके का बल हो तो धोबी ब्राह्मण का फ़तवा लिखा ले कि वह भी ब्राह्मण ही है। कहने का मतलब यह है कि टके पर जाति भी बिकने लगी है![2]

भारतेन्दु को स्पष्ट दीख गया है कि ऐसे चौपट राज्य में किसी की गर्दन कभी भी मारी जा सकती है। 'अन्धेर नगरी' का महंत ठीक ही कहता है कि ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं, है जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा बिके।[3] राजा ऐसा मतिमंद मूर्ख है कि फाँसी का फंदा कोतवाल की गर्दन में फ़िट नहीं बैठता तो एक ऐसे मोटे-तगड़े आदमी की खोज कराना शुरू करता है, जिसकी गर्दन में फंदा ठीक बैठ जाय। यह इसलिए कि किसी की फाँसी तो होनी ही है।

भारतेन्दु का विश्वास था कि देश उन्नत अवस्था को प्राप्त होगा और ऐसे मतिमंद राजा का भी अन्त होगा। यह जितनी जल्द हो जाये, उतना ही अच्छा। नाटककार अपने इस उतावलेपन पर नियंत्रण नहीं कर सके और इसी से राजा की फाँसी करा दी गयी है।

इस प्रकार इस प्रहसन से एक ओर देश की हीनता, शासक-वर्ग की धाँधली आदि पर प्रकाश पड़ता है तो दूसरी ओर यह विश्वास भी दृढ़ होता है कि कुशासन का अन्त भी होगा। भारतेन्दु जी ने कुछ सोच-विचार कर ही इस नाटक को प्रहसन का रूप दिया है।

'धनंजय-विजय' : महाभारत की कथा के एक अध्याय पर आधारित संस्कृत के इसी नाम के व्यायोग की रचना भारतेन्दु जी ने भरसक इसलिए की थी कि भिन्न प्रकार के नाटकों की रचना का सिलसिला हिन्दी में चले। इस नाटक का भरत-वाक्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उक्त भरत-वाक्य में अन्य बातों के साथ यह भी कहा गया है कि राज-वर्ग मद छोड़ दे, भारतीयों को विद्या की निपुणता प्राप्त हो, वे आलस्य मूर्खतादि तज दें, मेघ समय पर वर्षा करें और सबसे बड़ी बात यह कि राज-कर छूट जाय।[4] कहना नहीं होगा कि भारतेन्दु के युग की ये ही समस्याएँ थीं, जो समाधान माँग रही थीं। इस 'धनंजय विजय' का महत्व यही है कि उसके भरत-वाक्य से भारतेन्दु के युग की समस्याओं का रूप खड़ा होता है।

---

१. वही— —पृ० ६६२।
२. वही— —पृ० ६६३
३ भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं—ब्रजरत्नदास—पृ० ६६५
४. " " पृ० ११७

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के इन नाटकों के विवेचन से विदित होता है कि इनमें मुख्यतया देश की तत्कालीन समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। १९वीं सदी में पाश्चात्यों के सम्पर्क के बाद यह अनुभव किया गया कि दुनिया निरन्तर आगे की ओर बढ़ रही है और हमारा यह देश है, जो इस भागती हुई दुनिया से सर्वथा विच्छिन्न हो कर अपने पुरानेपन को दाँत से पकड़े हुए है। राजा राम मोहन राय जैसे मनीषियों ने देश-दशा के सुधार के लिए वैचारिक क्रान्ति का आवाहन किया। ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, थियोसॉफ़िकल-सोसायटी, [illegible] आदि संस्थाओं ने वैचारिक क्रान्ति की जो मशाल जलायी, उसका आलोक साहित्य पर भी पड़ा ही। भारतेन्दु के इन नाटकों की प्रेरणा के रूप में १९वीं सदी में होने वाली इस महान वैचारिक क्रान्ति का मरण होना ही चाहिए। हिन्दी में रीति-काव्य की जो परम्परा चल रही थी, उसे अब शेष होना ही था। भारतेन्दु जी के 'भारत-दुर्दशा' नाट्य-रासक में कवि की अवतारणा का एक-मात्र उद्देश्य यह दिखाना था कि साहित्य ज़िन्दगी की माँग पूरी करने में जैसे असमर्थ हो गया था और उसका सम्बन्ध जीवन से छूट गया था। 'भारत-दुर्दशा' में कवि ने भारत-दुर्दैव से बचने का एक रास्ता यह बताया है कि भारत-दुर्दैव की फ़ौज के उतरने के स्थान पर कनात खड़ी कर दी जाय और फ़ौज के सामने आने पर उँगली चमका कर लोग यह कहें कि 'मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं'।[1] जब उसे सुझाया जाता है कि असभ्य लोग यदि स्त्रियों का विचार न करके आक्रमण करें तो क्या होगा तो वह दूसरा उपाय यह सुझाता है कि सब हिन्दू-मात्र अपना फ़ैशन छोड़ कर कोट-पतलून इत्यादि पहिरें, जिसमें जब दुर्दैव की फ़ौज आवे तो हम लोगों को योरोपियन जान कर छोड़ दें।[2] कवि इतना बेचारा है कि उसे यह भी ध्यान नहीं आता कि कोट-पतलून काले को गोरा नहीं बना सकती। युगान्तकारी भारतेन्दु के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे साहित्यकार की इस दयनीयता, निर्वीर्यता की स्थिति का अन्त करें और साहित्य को जीवन के साथ संयुक्त करके युगान्तर करें। भारतेन्दु के नाटकों में सम-युगीन समस्याओं की प्रस्तुति का यही रहस्य है। अब हम यह भी स्मरण कर लें कि भारतेन्दु के युग की समस्याएँ क्या थीं।

भारतेन्दु के नाटकों में धर्म और समाज की विकृतियों के बड़े ही सजीव चित्र मिलते हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' 'पाखंड विडंबन,' 'प्रेमयोगिनी' तथा 'भारत-दुर्दशा'—भारतेन्दु के ऐसे नाटक हैं, जिनमें धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। धर्म के नियामक पुरोहितों, संतों-महन्तों की स्थिति यह है कि वे घोर स्वार्थी हो गये हैं। उनके बीच भयंकर रूप से दुराचार फैला हुआ है। पैसों पर उनका ईमान बिक रहा है। यह विकृति केवल हिन्दू-समाज के पंडे-पुरोहित, संत-

महन्त तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका फैलाव बौद्ध-धर्म और जैन-मत तक हो गया है। फल यह हुआ है कि उस देश से जगदाधार परमेश्वर भी रूठ गया है। समाज की स्थिति यह है कि विवाह-सम्बन्धी नियम, अन्याय-अधर्म का पोषण करने लगे हैं और सम्पूर्ण विवाह-संस्था के सामने प्रश्न-चिह्न खड़ा है। जिस समाज में छोटी उम्र के दुध-मुँहे बच्चों का विवाह होता हो, वृद्धों को अबोध बालिकाओं के साथ विवाह करने की अबाध स्वतंत्रता हो और विधवा के किसी से विवाह करके अपने गुज़ारे का इन्तज़ाम करने पर कठोर पाबंदी लगी हो, वह समाज स्वयं अपने में एक भीषण समस्या है। भारतेन्दु की पैनी निगाहों ने समाज की इस दुर्बलता को भाँप लिया और अपने नाटकों के द्वारा वे इस दुर्बलता का व्यंग्य-रूप खड़ा करने लगे। नयी रोशनी से हमारा जैसे-जैसे परिचय होता जा रहा था वैसे-ही-वैसे यह भी अनुभव होता जा रहा था कि हमारी यह कदर्थित विवाह-संस्था टूटेगी, हमारे समाज का नक्शा बदलेगा। प्रश्न था, तो क्या हमें पश्चिमी-प्रभावों को अंगीकृत कर अपने समाज तथा अपने सम्पूर्ण मानस को पश्चिमी नवीनता के अनुकूल परिवर्तित करना ही होगा। भारतेन्दु सच्चे अर्थ में क्रान्तिकारी थे और क्रान्तिकारी किसी का मानस-पुत्र नहीं होता। यही कारण है कि भारतेन्दु ने समाज के सोचने-विचारने की प्रक्रिया में आमूल-परिवर्तन करना तो अपना जीवनोद्देश्य बनाया लेकिन पश्चिम की गुलामी को स्वीकार करने से भी इन्कार किया। धर्म और समाज की विकृतियों का सुधार करने की प्रतिज्ञा करके भी वे इसीलिए सर्वात्मना भारतीय ही बने रहे। समस्याओं का भारतेन्दु ने जो समाधान प्रस्तुत किया, वह मौलिक तो है ही, कारगर भी हैं। 'विद्या-सुन्दर' नाटक में विवाह की समस्या का कितना मौज़ूँ हल उन्होंने ढूँढ़ निकाला है! उनको वर-वधू को अपने जीवन-साथी के चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्रता देना मन्ज़ूर तो है लेकिन वे विवाह के लिए माता-पिता के आशीर्वाद की शर्त भी रखने के आग्रही हैं। विवाह-संस्था को इसी मानी में संशोधित करने के वे आग्रही 'विद्या-सुन्दर' नाटक में दीखते हैं। नारी-समाज की जो दुर्दशा हमारे देश में थी, भारतेन्दु का भावुक हृदय अवश्य ही उसके प्रति विद्रोह कर उठता होगा। लेकिन गौरागनाएँ फिर भी भार-तेन्दु की दृष्टि में नारी-जाति का आदर्श नहीं हो सकीं। वे पश्चिम की नारियों के गुणों के प्रति श्रद्धानत तो हैं लेकिन वे यह नही चाहते थे कि हमारे घरों की नारियाँ भी उनकी तरह तितली बनी फुदकती चलें। वे नारी-जीवन का एक सहज आदर्श 'नीलदेवी' के रूप में गढ़ लेते हैं। भारत की नारियाँ प्रकृत्या हरिश्चन्द्र की शैव्या हैं, अपने पति की जान और पुत्र के प्यार पर अपना सर्वस्व होम कर देने वाली—यह भारतेन्दु ख़ूब अच्छी तरह जानते थे। लेकिन वे अबला हो गयी थीं—अपनी रक्षा करने, अपने सम्मान, अपनी मर्यादा को अक्षुण्ण रखने में जैसे असमर्थ हो गयी थीं। भारतेन्दु की 'नीलदेवी' भारतीय नारियों के सामने भवानी का आदर्श ले कर खड़ी होती है और उनको प्राणपद प्रेरणा देती है। हमें यह भी याद रखना होगा कि भारतेन्दु की नीलदेवी महिषासुर-विमर्दिनी माँ चंडिका का अवतार है—किसी 'जोन ऑफ़ आर्क' का प्रतिरूप नहीं।

भारतेन्दु के पूर्ववर्त्ती युग ने ईस्ट इंडिया कम्पनी बहादुर के शासन का अत्याचार देखा था। उसके विरोध में ही सन् १८५७ में भारतीय पौरुष की जागर्ति का पहला सिंहनाद 'विद्रोह' के रूप में हुआ था। अंग्रेज़ों की प्रबल सामरिक शक्ति और कूटनीति के छल-छद्म के कारण आज़ादी की इस पहली लड़ाई में भारत की हार तो अवश्य हुई लेकिन इसी विद्रोह ने ईस्ट इंडिया कम्पनी बहादुर का अन्त भी किया। सन् १८५७ में ग्रेट ब्रिटेन की महारानी ने भारत के शासन को अपने प्रत्यक्ष शासन में जब ले लिया तब यह स्वाभाविक ही था कि भारत की जनता को यह अनुभव हो कि आज के युग में निरंकुश-से-निरंकुश शासन को भी प्रजा के स्वत्व को स्वीकार करना होगा। प्रजा के स्वत्व का यह उद्घोष सचमुच उत्साह-वर्धक ही हुआ होगा।

रानी के घोषणा-पत्र के उद्घोष के बाद देश में सर्वत्र उमंग की जो एक लहर उमड़ कर आयी, उसको ध्यान में रखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि रानी विक्टोरिया के प्रति उस युग में श्रद्धा-भक्ति और आस्था क्यों उमड़ी। बात यह थी कि देश में सर्वत्र सुशासन की माँग थी। औरंगज़ेब के बाद के मुग़ल-बादशाहों के कुशासन और कम्पनी बहादुर की सरकार के शोषण से भारत की जनता जैसे ऊब उठी थी और चाहती थी कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था देश में कायम हो। अंग्रेज़ों ने अपने देश में शासन की जो जनतांत्रिक व्यवस्था चला रखी थी, वह बहुत ही उत्साह-वर्धक थी। उसके अंतर्गत जनमत की उपेक्षा असम्भव थी। अस्तु, रानी विक्टोरिया तथा ब्रिटिश-संसद के साथ भारत के शासन का सीधा सम्बन्ध होने पर आनन्द के उछाह-का उमड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। मुसलमानों से अंग्रेज़ों की भिन्नता इस बात में भी थी कि अंग्रेज़ विद्यानुरागी थे और भारत के पास प्राचीन विद्या, कला, कौशल आदि का जो विपुल भांडार था, उसको वह समुन्नत अंग्रेज़ जाति के समक्ष बड़ी शान के साथ ले कर खड़ा हो सकता था। भारत ने यह आशा भी सँजोयी थी कि अंग्रेज़ों के हाथ में आ कर वह अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलायेगा और सुख मान कर जन्म बितायेगा।[1] लेकिन उसके दुर्दैव को यह गवारा नहीं हुआ। रानी विक्टोरिया के शासन-काल में भी भारतीय जनता ने यही अनुभव किया कि शोषण और अनाचार की परम्परा में कोई अन्तर नहीं आया। देश का सोना बहा चला जा रहा है और वह प्रति क्षण दरिद्र-से-दरिद्रतर होता जा रहा है। न उसे कहने-सुनने की आज़ादी है और न राजसत्ता ने प्रजा के स्वत्व की कोई परवाह ही की है। बस इंग्लिश पालिसी की हाकिमेच्छा नामक दफ़ा के बल पर देश में पुलिस-राज्य खड़ा है और वह दृढ़-से-दृढ़तर होता जा रहा है। सरकारी कचहरियों में दिन-दहाड़े लूट मची रहती है, 'डिसलॉयल्टी' के नाम पर किसी को भी किसी क्षण पुलिस अपने चंगुल में ला कर नोच-खसोट सकती है।[2] राजकरों का बोझ बढ़ता जा रहा है और कर भी किन्हीं कल्याण-योजनाओं को पूरा करने के

महन्त तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका फैलाव बौद्ध-धर्म और जैन-मत तक हो गया है। फल यह हुआ है कि उस देश से जगदाधार परमेश्वर भी रूठ गया है। समाज की स्थिति यह है कि विवाह-सम्बन्धी नियम, अन्याय-अधर्म का पोषण करने लगे हैं और सम्पूर्ण विवाह-संस्था के सामने प्रश्न-चिह्न खड़ा है। जिस समाज में छोटी उम्र के दुध-मुँहे बच्चों का विवाह होता हो, वृद्धों को अबोध बालिकाओं के साथ विवाह करने की अबाध स्वतंत्रता हो और विधवा के किसी से विवाह करके अपने गुज़ारे का इन्तज़ाम करने पर कठोर पाबंदी लगी हो, वह समाज स्वयं अपने में एक भीषण समस्या है। भारतेन्दु की पैनी निगाहों ने समाज की इस दुर्बलता को भाँप लिया और अपने नाटकों के द्वारा वे इस दुर्बलता का व्यंग्य-रूप खड़ा करने लगे। नयी रोशनी से हमारा जैसे-जैसे परिचय होता जा रहा था वैसे-ही-वैसे यह भी अनुभव होता जा रहा था कि हमारी यह कदर्थित विवाह-संस्था टूटेगी, हमारे समाज का नक्शा बदलेगा। प्रश्न था, तो क्या हमें पश्चिमी-प्रभावों को अंगीकृत कर अपने समाज तथा अपने सम्पूर्ण मानस को पश्चिमी नवीनता के अनुकूल परिवर्तित करना ही होगा। भारतेन्दु सच्चे अर्थ में क्रान्तिकारी थे और क्रान्तिकारी किसी का मानस-पुत्र नही होता। यही कारण है कि भारतेन्दु ने समाज के सोचने-विचारने की प्रक्रिया में आमूल-परिवर्तन करना तो अपना जीवनोद्देश्य बनाया लेकिन पश्चिम की गुलामी को स्वीकार करने से भी इन्कार किया। धर्म और समाज की बिकृतियों का सुधार करने की प्रतिज्ञा करके भी वे इसीलिए सर्वात्मना भारतीय ही बने रहे। समस्याओं का भारतेन्दु ने जो समाधान प्रस्तुत किया, वह मौलिक तो है ही, कारगर भी है। 'विद्या-सुन्दर' नाटक में विवाह की समस्या का कितना मौजूँ हल उन्होंने ढूंढ़ निकाला है! उनको वर-वधू को अपने जीवन-साथी के चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्रता देना मन्ज़ूर तो है लेकिन वे विवाह के लिए माता-पिता के आशीर्वाद की शर्त भी रखने के आग्रही हैं। विवाह-संस्था को इसी मानी में संशोधित करने के वे आग्रही 'विद्या-सुन्दर' नाटक में दीखते हैं। नारी-समाज की जो दुर्दशा हमारे देश में थी, भारतेन्दु का भावुक हृदय अवश्य ही उसके प्रति विद्रोह कर उठता होगा। लेकिन गौरांगनाएँ फिर भी भारतेन्दु की दृष्टि में नारी-जाति का आदर्श नही हो सकीं। वे पश्चिम की नारियों के गुणों के प्रति श्रद्धानत तो हैं लेकिन वे यह नहीं चाहते थे कि हमारे घरों की नारियाँ भी उनकी तरह तितली बनी फुदकती चलें। वे नारी-जीवन का एक सहज आदर्श 'नीलदेवी' के रूप में गढ़ लेते हैं। भारत की नारियाँ प्रकृत्या हरिश्चन्द्र की शैव्या हैं, अपने पति की जान और पुत्र के प्यार पर अपना सर्वस्व होम कर देने वाली—यह भारतेन्दु खूब अच्छी तरह जानते थे। लेकिन वे अबला हो गयी थीं—अपनी रक्षा करने, अपने सम्मान, अपनी मर्यादा को अक्षुण्ण रखने में जैसे असमर्थ हो गयी थीं। भारतेन्दु की 'नीलदेवी' भारतीय नारियों के सामने भवानी का आदर्श ले कर खड़ी होती है और उनको प्राणपद प्रेरणा देती है। हमें यह भी याद रखना होगा कि भारतेन्दु की नीलदेवी महिषासुर-विमर्दिनी माँ चंडिका का अवतार है—किसी 'जोन ऑफ़ आर्क' का प्रतिरूप नहीं।

भारतेन्दु के पूर्ववर्त्ती युग ने ईस्ट इंडिया कम्पनी बहादुर के शासन का अत्याचार देखा था। उसके विरोध में ही सन् १८५७ में भारतीय पौरुष की जागर्ति का पहला सिंहनाद 'विद्रोह' के रूप में हुआ था। अंग्रेज़ों की प्रबल सामरिक शक्ति और कूटनीति के छल-छद्म के कारण आज़ादी की इस पहली लड़ाई में भारत की हार तो अवश्य हुई लेकिन इसी विद्रोह ने ईस्ट इंडिया कम्पनी बहादुर का अन्त भी किया। सन् १८५७ में ग्रेट ब्रिटेन की महारानी ने भारत के शासन को अपने प्रत्यक्ष शासन में जब ले लिया तब यह स्वाभाविक ही था कि भारत की जनता को यह अनुभव हो कि आज के युग में निरंकुश-से-निरंकुश शासन को भी प्रजा के स्वत्व को स्वीकार करना होगा। प्रजा के स्वत्व का यह उद्घोष सचमुच उत्साह-वर्धक ही हुआ होगा।

रानी के घोषणा-पत्र के उद्घोष के बाद देश में सर्वत्र उमंग की जो एक लहर उमड़ कर आयी, उसको ध्यान में रखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि रानी विक्टोरिया के प्रति उस युग में श्रद्धा-भक्ति और आस्था क्यों उमड़ी। बात यह थी कि देश में सर्वत्र सुशासन की माँग थी। औरंगज़ेब के बाद के मुग़ल-बादशाहों के कुशासन और कम्पनी बहादुर की सरकार के शोषण से भारत की जनता जैसे ऊब उठी थी और चाहती थी कि किसी भी प्रकार की व्यवस्था देश में कायम हो। अंग्रेज़ों ने अपने देश में शासन की जो जनतांत्रिक व्यवस्था चला रखी थी, वह बहुत ही उत्साह-वर्धक थी। उसके अंतर्गत जनमत की उपेक्षा असम्भव थी। अस्तु, रानी विक्टोरिया तथा ब्रिटिश-संसद के साथ भारत के शासन का सीधा सम्बन्ध होने पर आनन्द के उछाह-का उमड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। मुसलमानों से अंग्रेज़ों की भिन्नता इस बात में भी थी कि अंग्रेज़ विद्यानुरागी थे और भारत के पास प्राचीन विद्या, कला, कौशल आदि का जो विपुल भांडार था, उसको वह समुन्नत अंग्रेज़ जाति के समक्ष बड़ी शान के साथ ले कर खड़ा हो सकता था। भारत ने यह आशा भी सँजोयी थी कि अंग्रेज़ों के हाथ में आ कर वह अपने दुखी मन को पुस्तकों से बहलायेगा और सुख मान कर जन्म बितायेगा।[1] लेकिन उसके दुर्दैव को यह गवारा नहीं हुआ। रानी विक्टोरिया के शासन-काल में भी भारतीय जनता ने यही अनुभव किया कि शोषण और अनाचार की परम्परा में कोई अन्तर नहीं आया। देश का सोना बहा चला जा रहा है और वह प्रति क्षण दरिद्र-से-दरिद्रतर होता जा रहा है। न उसे कहने-सुनने की आजादी है और न राजसत्ता ने प्रजा के स्वत्व की कोई परवाह ही की है। बस इंग्लिश पालिसी की हाकिमेच्छा नामक दफ़ा के बल पर देश में पुलिस-राज्य खड़ा है और वह दृढ़-से-दृढ़तर होता जा रहा है। सरकारी कचहरियों में दिन-दहाड़े लूट मची रहती है, 'डिसलॉयल्टी' के नाम पर किसी को भी किसी क्षण पुलिस अपने चंगुल में ला कर नोच-खसोट सकती है।[2] राजकरों का बोझ बढ़ता जा रहा है और कर भी किन्हीं कल्याण-योजनाओं को पूरा करने के

लिए नहीं लगाये जाते, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के फ़ौलादी पंजों को मज़बूत बनाने के लिए लगाये जाते हैं। यही कारण है कि भारत के प्रबुद्ध जन-समाज के आगे अंग्रेज़-शासन एक भीषण समस्या बन कर खड़ा हुआ। सिपाही-विद्रोह के बाद जिस शासन के लिए इतनी शुभाशंसा प्रकट की गयी थी, उसकी जय पुकारी गयी थी, उसी शासन के प्रति अब विद्रोह-भाव उत्पन्न होने लगा।

सिपाही-विद्रोह के बाद से ले कर भारतेन्दु-युग तक की कालावधि में भारत का अंग्रेज़ों के साथ जो सम्बन्ध रहा उसके तीन अध्याय हैं। पहले, देश ने अंग्रेज़ों के राज्य का मंडन किया। भारतेन्दु के 'विषस्य विषमौषधम्' में एक पंक्ति आती है—'अंगरेजन को राज ईस इत चिर करि थापे।'[1] यही नहीं बल्कि इस नाटक में तो यहाँ तक कहा गया है कि हमारी सरकार के विरुद्ध जो कुछ कहे, वह झख मारे।[2] भारत की इसी जनता ने यह भी थोड़े ही दिन बाद अनुभव किया कि अंग्रेज़-शासन के अतर्गत जीवन की सुविधाएँ जैसे डाक-तार-रेल की सुविधाएँ तो बढ़ रही हैं लेकिन देश का धन विदेश चला जा रहा है, मँहगी बढ़ रही है, राज-कर 'टिक्कस' की आफ़त अलग; यानी संक्षेप में भारत की दुर्दशा हो रही है। भारत-दुर्दशा की निम्नलिखित पंक्तियाँ उस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं :

> अंगरेज राज सुख साज सबे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जातिइहै अति खारी॥
> ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
> दिन-दिन दूने दुख ईस देत हाहारी॥
> सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
> हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥[3]

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी ने कहा है कि यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इसको राज-भक्ति की रचना कहा जाय या देश-भक्ति और राजद्रोह की।[4] अवश्य ही अंग्रेज़ों के साथ भारतीय जनता के सम्बन्ध का यह दूसरा अध्याय है, जिसमें मंडन के साथ-साथ खंडन की प्रतिक्रिया भी है। इस नाते का तीसरा चरण यह है, जब अंग्रेज़ों की स्वार्थनीति की कलई खुल गयी है और यह स्पष्ट होता है कि हाथी के दिखाने और खाने के दाँत जुदा-जुदा होते हैं। अपनी भौगोलिक सीमा के बाहर जनतांत्रिक शासन-व्यवस्था के धनी ये अंग्रेज़ ही साम्राज्यवादी और दुर्दान्त शोषक बन जाते हैं। अपने

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सं० ब्रजरत्नदास—पृष्ठ ३६८
२. ,, ,, —पृष्ठ ३६७
३. ,, ,, —पृष्ठ ४७०
४. साहित्यिक निबन्धावली—(भारतेन्दु की कला—लेखक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद)—पृ० ८५। प्रकाशक—ग्रन्थमाला कार्यालय पटना।

मिलते हैं। उदाहरण के लिए कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं :

जन्म-पत्री की व्यर्थता के विषय में लेखक के विचार देखिए—'यह तो केवल मूर्खता है, ब्राह्मणों ने खाने का यह भी एक ढंग निकाला है। क्योंकि वेद, पुराण, शास्त्र किसी में जन्म-पत्री देख के विवाह करना नहीं लिखा है। उदाहरण—श्री रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, अँगरेज, मुसलमान....भला उनको जाने दीजिए, आप अपने यहाँ ही देखिए, जिनका विवाह जन्म-पत्री दिखा कर होता, है वे क्यों विधवा होती हैं ? क्यों उनको सन्तान नहीं होती ? क्यों उनको शारीरिक और मानसिक सुख नहीं मिलता ? क्यों उनमें आपस में लड़ाई होती रहती है ? निदान यह कि जन्म-पत्री दिखाने से कुछ लाभ नहीं होता।'[1] बाल्य-विवाह की बुराई की ओर इशारा करते हुए नाटककार ने नायिका सरला से कहलाया है—'यदि बाल्य-विवाह न होता तो क्यों न मैं स्वयं अपनी भलाई-बुराई को समझ कर अपनी इच्छानुसार पति करती ? मुझको उस समय कौन रोक सकता था ?'[2] नाटककार विधवा-विवाह-वर्जन के विरोधी थे। उनका दावा है कि मुक्ति से, शासन से, सभी तरह से विधवा-विवाह को विहित सिद्ध किया जा सकता है।[3] उनका कहना है कि शरीर के स्वाभाविक वेग को रोकना कठिन है। काम के प्रबल झोंके से नवयुवती विधवा का बच सकना सहज नहीं है। इसलिए जो विधवा संयम न रख सके, उसे यह सुविधा होनी ही चाहिए कि वह पुनर्विवाह कर ले। समाज में स्त्री की जो दुर्गति थी, उससे राधाकृष्ण दास को बड़ा कष्ट होता था। 'दुःखिनी बाला' की सरला कुछ पढ़ी-लिखी है, दीन-दुनिया की ख़बर रखती है और ठोकर खाने के लिए तैयार नहीं है। उसका पति पुरानी दुनिया का है और सोचता है कि उसकी पत्नी की शिक्षा-संस्कृति-प्रियता ही उसके दुख का कारण है। वह अपनी पत्नी को डपटते हुए कहता है—'लाख बेर समझाया कि हमरे इहाँ पढ़ना नाहीं सहता पर यह सुन्तिये नाहीं।' पत्नी जब खड़ी बोली हिन्दी में उससे बातचीत करती है तो वह बिगड़ कर कहता है—'तू अपनिये बोली बोला करो।' पत्नी भी दो टूक उत्तर देती है—'मैं पढ़ना-लिखना छोड़ सकती हूँ, पर बोली नहीं बदल सकती जो चाहे सो हो।' लेकिन इस उत्तर से पति अप्रतिहत होने वाला थोड़े ही है। उसका संस्कार उसे सुझाता रहा है कि स्त्री तो ताड़ने से ही काबू में रहती है। इसलिए वह कहता है—'तैं ऐसे न मनबे जी अब न मनबे तो हम तोरी खूब पूजा करेब।'[4]

राधाकृष्ण दास सड़ी-गली परम्परा के पालन करने के विरोधी थे। वे कहते हैं, 'जो कहिए कि जो बाप-दादे करते आये हैं, वही करना चाहिए सो यह करना मूर्खता

है। जो गुण हो वही ग्रहण करना चाहिए अवगुण को न लेना चाहिए।....वे लोग (बाप-दादे) झूठ नहीं बोलते थे अब कौन सच बोलता है?....तब सब लोग सभी हिन्दुस्तानी वस्तुएँ काम में लाते थे अब कौन अँग्रेजी के आगे हिन्दुस्तानी को छूता है?'[1]

नाटककार कठमुल्लेपन के परम विरोधी थे। प्रवाद प्रचारित था कि जो लोग अंग्रेज़ी पढ़ते हैं, वे नास्तिक हो जाते हैं। नाटककार इसका बड़े ज़ोर से प्रतिवाद करते हुए कहलाते हैं—'कभी नहीं। यह भी एक विद्या है उसके पढ़ने से कोई नास्तिक नहीं हो सकता।'[2] ब्राह्मणों को उचित सम्मान देने से उनको इन्कार नहीं है। लेकिन वे यह नहीं मानते कि ब्राह्मण जो कुछ कहे अच्छा हो या बुरा, किया ही जाय।[3]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस नाटक में भी वे ही समस्याएँ उभर कर आती हैं, जो भारतेन्दु जी के समक्ष खड़ी थीं। जागरण के बढ़ते चरण का आभास भी सरल[1] के चरित के व्याज से उपलब्ध है। 'दुःखिनी बाला' को नाटकीय कला-विषयक परिपक्वता चाहे भले ही न मिली हो, कथानक-संगठन का दोष भी उसमें विद्यमान हो, लेकिन फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि नयी चाल के नाटकों की परम्परा में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। समाज-संस्कार और देश-दशा के परिवर्त्तन की जो व्याकुलता उस युग में थी, वह इस नाटक में भी मुखर है। सरला का उदाहरण पुराने-पन को तमाचा मार कर चौंका देने में समर्थ है—इसमें सन्देह नहीं। नाटककार सन्देश देता है कि यदि विधवा-विवाह को सामाजिक स्वीकृति नहीं मिली तो जो दुर्भाग्य सरला का हुआ, वही दूसरी विधवाओं के लिए भी सुरक्षित रहेगा।

बालकृष्ण भट्ट : पं० बालकृष्ण भट्ट इस युग के ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने बड़ी संख्या में नाटकों की रचना की। डॉ० दशरथ ओझा के मतानुसार भट्ट जी के प्रकाशित और अप्रकाशित नाटकों की संख्या १५ है।[4] किन्तु भट्ट-नाटकावली के सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' उक्त ग्रन्थ के वक्तव्य में लिखते हैं कि वह संख्या प्रायः २० की है।[5] भट्ट जी के इस रचना-भांडार की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से जिन तीन नाटकों के कारण जाता है, उनका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

१. वेणु-संहार

'वेणु-संहार' नाटक का कथानक तो पौराणिक है किन्तु नाटककार कथा की

१. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० ४
२. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० ५
३. वही — पृ० ५
४. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १९५
५. भट्ट नाटकावली—सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल'—वक्तव्य—पृ० ३

हुआ है और वह इस काल की रचनाओं की मुख्य देन है।[1] श्री ओझा जी ने इन सामाजिक नाटकों को समस्या-नाटक की संज्ञा दी है।[2] बाल-विवाह, दुःखिनी बाला, विवाहित-विलोप, विवाह-विडंबन, वृद्धावस्था-विवाह, [illegible], अबला-विलाप—ये उस युग के नाटकों के सुपरिचित शीर्षक बने। धार्मिक और सामाजिक विकृतियों का व्यंग्य-रूप प्रहसनों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। 'तन-मन-धन गोसाईं जी को अर्पण,' 'कलि-कौतुक,' 'जय नारसिंह की,' 'बूढ़े मुँह मुँहासे,' 'भंग-तरंग,' 'देशी कुत्ता विलायती बोल' जैसे नाटकों की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि सुधार के प्रति उत्साह जगाने में भारतेन्दु और उनके मंडल के नाटककारों को वांछित सफलता मिली थी। 'एक एक के तीन तीन' नामक देवकी नन्दन तिवारी का नाटक सूद की एक नयी समस्या की ओर इंगित करने वाला हुआ। 'भारतोद्धार,' 'भारत-आरत,' 'भारत सौभाग्य,' 'वर्तमान दशा,' 'देश दशा,' 'भारत दुर्दिन,' 'भारत-हरण' आदि नाटक राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं की प्रस्तुति करने वाले हुए। स्मरण रखने की एक बड़ी बात यह है कि इस युग के नाटककारों ने जीवन को अलग-अलग कबूतरखानों में विभक्त करके नहीं देखा। इससे देश-देशा की दुर्गति का जब ये चित्रण करने लगते तो एक ही साँस में छुआछूत, बाल-विवाह और अंग्रेजों के शोषण की कथा कह जाते। लगता है कि उन्होंने भारतीय लोक-जीवन के उस रूप को ग्रहण किया, जो अशिक्षा, कूप-मंडूकता, कठमुल्लेपन और दरिद्रता से मुमूर्षु भी हो रहा है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है। इस प्रकार इन नाटकों के द्वारा मरण की बेला में जीवन का स्तर ऊँचा किया गया है। सन् १८५८ ई० के बाद के भारतीय लोक-जीवन की आशा-आकांक्षा, उसकी समस्याओं का इतिवृत्त ही भारतेन्दु-मंडल के नाटककारों की कृतियों में जैसे सुरक्षित है। अब हम भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि नाट्यकारों की कृतियों के सहारे यह दिखाना चाहते हैं कि भारतेन्दु द्वारा उठायी गयी समस्याओं की परम्परा कैसे आगे बढ़ कर उपस्थित हुई।

प० प्रताप नारायण मिश्र : भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि नाटककारों में पं० प्रताप नारायण मिश्र का नामोल्लेख डॉ० दशरथ ओझा ने भारतेन्दु जी के सुहृद, लाला श्रीनिवास दास के बाद ही किया है।[3] मिश्र जी ने भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाट्य-रासक के वज़न पर 'भारत-दुर्दशा रूपक' की रचना की। इनका दूसरा नाटक है 'कलि-कौतुक' इस नाटक में नारी-समस्या की प्रस्तुति हुई है। एक वेश्यासक्त पति के हाथों ज़ुल्म का शिकार होने वाली नारी का बड़ा ही मार्मिक चित्र इस नाटक में उपस्थित किया गया है। किन्तु मिश्र जी की नारी

१. हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १९८

२. ,, ,, —पृ० २००

३. हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १९२

विरोध नहीं जानती। 'तुम नीके रहो उनहीं के रहो' की भावना की परम्परा से वह छूट नहीं पाती। इसीलिए अपने दुराचारी, अन्यायी पति के लिए उसके हृदय में बस केवल कल्याण-भावना है। नाटककार का उद्देश्य वेश्यागमन की बुराई करना ही अधिक है, नारी के प्रति पुरुष द्वारा होने वाले अनाचार को समस्या-रूप में प्रस्तुत करना उतना नहीं। मिश्र जी के 'गो-संकट,' 'कलि-प्रभाव', तथा 'जुआरी-खुआरी' शीर्षक नाटक तत्कालीन परिस्थितियों के परिचायक ही अधिक हैं। समस्या की प्रस्तुति का जो अवसर इनमें है, उसका लाभ मिश्र जी ने नहीं उठाया। अस्तु, इन नाटकों का महत्व हमें इतना ही दीखता है कि लेखक का ध्यान जन-जीवन की ओर गया है। जन-जीवन की कठिनाइयों को देख कर मिश्र जी के हृदय में सुधार की वेगवती प्रेरणा भी जागी। लेकिन इसके आगे कुछ भी नहीं हो पाया। डॉ० दशरथ ओझा ने मिश्र जी के बाद जिन राधाकृष्णदास का नाम गिनाया है, वे भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे। भारतेन्दु के अत्यन्त निकट नातेदार होने के कारण वे उनके नितान्त अपने थे।

श्री राधाकृष्णदास : इन्होंने 'दुःखिनी बाला' (एक छोटा-सा रूपक) नामक एक नाटक लिखा, जिसका प्रकाशन-काल १६५५ वि० सं० है और उसका मूल्य कुल डेढ़ आना है। इस रचना को डॉ० दशरथ ओझा ने 'एकांकी' कहा है लेकिन स्वयं लेखक ने इसे एक 'छोटा-सा रूपक' ही कहा है। यह इसलिए कि राधाकृष्णदास जी के सामने शायद एकांकी का रूप स्पष्ट नहीं था। इस नाटक के मुख-पृष्ठ पर लिखा है—'बाल्य-विवाह, जन्म-पत्र निषेध और विधवा-विवाह के न होने का अशुभ परिणाम दिखाने को श्री राधाकृष्ण दास ने लिखा।' दृश्य-१ में सूत्रधार का वचन भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। वह कहता है—'हमको अपने देश की बुराइयों को दिखलाना अवश्य है।'[1] सूत्रधार का अनुमोदन करती हुई नटी कहती है—'इस भारतवर्ष में बहु-विवाह, बाल्य-विवाह के होने और विधवा-विवाह के न होने से कैसी हानि है....हम लोगों के द्वारा यह कुरीति जितनी उठे, उतना ही हम अपने को धन्य समझें।'[2] इस नाटक का अन्तिम रूप दो प्रयत्नों के उपरान्त स्थिर हुआ। इसका प्रथम संस्करण सं० १६३७ में भारतेन्दु जी के जीवन-काल में ही प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में नायिका के स्वेच्छाचार भर का उल्लेख है। वह विधवा होने के बाद संयम और ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने के बदले कुलटा का मुक्त जीवन व्यतीत करने लगती है। नाटक के दूसरे संस्करण में कथानक कुछ और फैल जाता है और अन्त में नायिका विष-पान करती है।

छै दृश्यों में विभाजित नाटकीय कथावस्तु में सामाजिक कुरीतियों के प्रति तीव्र आक्रोश, ब्राह्मणों के माया-जाल के प्रति करारे व्यंग्य और तिलमिला देने वाले तर्क

---

१. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० २
२. वही — पृ० २

हुआ है और वह इस काल की रचनाओं की मुख्य देन है।[1] श्री ओझा जी ने इन सामाजिक नाटकों को समस्या-नाटक की संज्ञा दी है।[2] बाल-विवाह, दुःखिनी बाला, विवाहित-विलोप, विवाह-विडंबन, वृद्धावस्था-विवाह, विधवा-विवाह, अबला-विलाप—ये उस युग के नाटकों के सुपरिचित शीर्षक बने। धार्मिक और सामाजिक विकृतियों का व्यंग्य-रूप प्रहसनों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। 'तन-मन-धन गोसाईं जी को अर्पण,' 'कलि-कौतुक,' 'जय नारसिंह की,' 'बूढ़े मुँह मुँहासे,' 'भंग-तरंग,' 'देशी कुत्ता विलायती बोल' जैसे नाटकों की लोकप्रियता इस बात का प्रमाण है कि सुधार के प्रति उत्साह जगाने में भारतेन्दु और उनके मंडल के नाटककारों को वांछित सफलता मिली थी। 'एक एक के तीन तीन' नामक देवकी नन्दन तिवारी का नाटक सूद की एक नयी समस्या की ओर इंगित करने वाला हुआ। 'भारतोद्धार,' 'भारत-आरत,' 'भारत सौभाग्य,' 'वर्तमान दशा,' 'देश दशा,' 'भारत दुर्दिन,' 'भारत-हरण' आदि नाटक राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं की प्रस्तुति करने वाले हुए। स्मरण रखने की एक बड़ी बात यह है कि इस युग के नाटककारों ने जीवन को अलग-अलग कबूतरखानों में विभक्त करके नही देखा। इससे देश-देशा की दुर्गति का जब ये चित्रण करने लगते तो एक ही साँस में छुआछूत, बाल-विवाह और अग्रेज़ों के शोषण की कथा कह जाते। लगता है कि उन्होंने भारतीय लोक-जीवन के उस रूप को ग्रहण किया, जो अशिक्षा, कूप-मंडूकता, कठमुल्लेपन और दरिद्रता से मुमूर्षु भी हो रहा है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है। इस प्रकार इन नाटको के द्वारा मरण की बेला में जीवन का स्तर ऊँचा किया गया है। सन् १८५८ ई० के बाद के भारतीय लोक-जीवन की आशा-आकांक्षा, उसकी समस्याओं का इतिवृत्त ही भारतेन्दु-मंडल के नाटककारों की कृतियों में जैसे सुरक्षित है। अब हम भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि नाट्यकारों की कृतियों के सहारे यह दिखाना चाहते हैं कि भारतेन्दु द्वारा उठायी गयी समस्याओं की परम्परा कैसे आगे बढ़ कर उपस्थित हुई।

प० प्रताप नारायण मिश्र : भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि नाटककारों में पं० प्रताप नारायण मिश्र का नामोल्लेख डॉ० दशरथ ओझा ने भारतेन्दु जी के सुहृद, लाला श्रीनिवास दास के बाद ही किया है।[3] मिश्र जी ने भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाट्य-रासक के वज़न पर 'भारत-दुर्दशा रूपक' की रचना की। इनका दूसरा नाटक है 'कलि-कौतुक' इस नाटक में नारी-समस्या की प्रस्तुति हुई है। एक वेश्यासक्त पति के हाथों ज़ुल्म का शिकार होने वाली नारी का बड़ा ही मार्मिक चित्र इस नाटक में उपस्थित किया गया है। किन्तु मिश्र जी की नारी

१. हिन्दी नाटक— उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १९८
२. ,, ,, —पृ० २००
३. हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १९२

मिलते हैं। उदाहरण के लिए कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं :

जन्म-पत्री की व्यर्थता के विषय में लेखक के विचार देखिए—'यह तो केवल मूर्खता है, ब्राह्मणों ने खाने का यह भी एक ढंग निकाला है। क्योंकि वेद, पुराण, शास्त्र किसी में जन्म-पत्री देख के विवाह करना नहीं लिखा है। उदाहरण—श्री रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, अँगरेज, मुसलमान....भला उनको जाने दीजिए, आप अपने यहाँ ही देखिए, जिनका विवाह जन्म-पत्री दिखा कर होता, है वे क्यों विधवा होती हैं ? क्यों उनको सन्तान नहीं होती ? क्यों उनको शारीरिक और मानसिक सुख नहीं मिलता ? क्यों उनमें आपस में लड़ाई होती रहती है ? निदान यह कि जन्म-पत्री दिखाने से कुछ लाभ नहीं होता।'[1] बाल्य-विवाह की बुराई की ओर इशारा करते हुए नाटककार ने नायिका सरला से कहलाया है—'यदि बाल्य-विवाह न होता तो क्यों न मैं स्वयं अपनी भलाई-बुराई को समझ कर अपनी इच्छानुसार पति करती ? मुझको उस समय कौन रोक सकता था ?'[2] नाटककार विधवा-विवाह-वर्जन के विरोधी थे। उनका दावा है कि मुक्ति से, शासन से, सभी तरह से विधवा-विवाह को विहित सिद्ध किया जा सकता है।[3] उनका कहना है कि शरीर के स्वाभाविक वेग को रोकना कठिन है। काम के प्रबल झोंके से नवयुवती विधवा का बच सकना सहज नहीं है। इसलिए जो विधवा संयम न रख सके, उसे यह सुविधा होनी ही चाहिए कि वह पुनर्विवाह कर ले। समाज में स्त्री की जो दुर्गति थी, उससे राधाकृष्ण दास को बड़ा कष्ट होता था। 'दुःखिनी बाला' की सरला कुछ पढ़ी-लिखी है, दीन-दुनिया की खबर रखती है और ठोकर खाने के लिए तैयार नहीं है। उसका पति पुरानी दुनिया का है और सोचता है कि उसकी पत्नी की शिक्षा-संस्कृति-प्रियता ही उसके दुख का कारण है। वह अपनी पत्नी को डपटते हुए कहता है—'लाख बेर समझाया कि हमरे इहाँ पढ़ना नाहीं सहता पर यह सुन्तिये नाहीं।' पत्नी जब खड़ी बोली हिन्दी में उससे बातचीत करती है तो वह बिगड़ कर कहता है—'तू अपनिये बोली बोला करो।' पत्नी भी दो टूक उत्तर देती है—'मैं पढ़ना-लिखना छोड़ सकती हूँ, पर बोली नहीं बदल सकती जो चाहे सो हो।' लेकिन इस उत्तर से पति अप्रतिहत होने वाला थोड़े ही है। उसका संस्कार उसे सुझाता रहा है कि स्त्री तो ताड़ने से ही काबू में रहती है। इसलिए वह कहता है—'तैं ऐसे न मनबे जौ अब न मनबे तो हम तोरी खूब पूजा करेब।'[4]

राधाकृष्ण दास सड़ी-गली परम्परा के पालन करने के विरोधी थे। वे कहते हैं, 'जो कहिए कि जो बाप-दादे करते आये हैं, वही करना चाहिए सो यह करना मूर्खता

१. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास —पृ० ३
२. वही — पृ० ८
३. वही — पृ० १०
४. वही — पृ० ७

है। जो गुण हो वही ग्रहण करना चाहिए अवगुण को न लेना चाहिए।....वे लोग (बाप-दादे) झूठ नहीं बोलते थे अब कौन सच बोलता है?....तब सब लोग सभी हिन्दुस्तानी वस्तुएँ काम में लाते थे अब कौन अँग्रेजी के आगे हिन्दुस्तानी को छूता है?'[१]

नाटककार कठमुल्लेपन के परम विरोधी थे। प्रवाद प्रचारित था कि जो लोग अंग्रेज़ी पढ़ते हैं, वे नास्तिक हो जाते हैं। नाटककार इसका बड़े ज़ोर से प्रतिवाद करते हुए कहलाते हैं—'कभी नहीं। यह भी एक विद्या है उसके पढ़ने से कोई नास्तिक नहीं हो सकता।'[२] ब्राह्मणों को उचित सम्मान देने से उनको इन्कार नहीं है। लेकिन वे यह नहीं मानते कि ब्राह्मण जो कुछ कहे अच्छा हो या बुरा, किया ही जाय।[३]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस नाटक में भी वे ही समस्याएँ उभर कर आती हैं, जो भारतेन्दु जी के समक्ष खड़ी थीं। जागरण के बढ़ते चरण का आभास भी सरल[।] के चरित के व्याज से उपलब्ध है। 'दुःखिनी बाला' को नाटकीय कला-विषयक परिपक्वता चाहे भले ही न मिली हो, कथानक-संगठन का दोष भी उसमें विद्यमान हो, लेकिन फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि नयी चाल के नाटकों की परम्परा में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। समाज-संस्कार और देश-दशा के परिवर्त्तन की जो व्याकुलता उस युग में थी, वह इस नाटक में भी मुखर है। सरला का उदाहरण पुरानेपन को तमाचा मार कर चौंका देने में समर्थ है—इसमें सन्देह नही। नाटककार सन्देश देता है कि यदि विधवा-विवाह को सामाजिक स्वीकृति नहीं मिली तो जो दुर्भाग्य सरला का हुआ, वही दूसरी विधवाओं के लिए भी सुरक्षित रहेगा।

बालकृष्ण भट्ट : पं० बालकृष्ण भट्ट इस युग के ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने बड़ी संख्या में नाटकों की रचना की। डॉ० दशरथ ओझा के मतानुसार भट्ट जी के प्रकाशित और अप्रकाशित नाटकों की संख्या १५ है।[४] किन्तु भट्ट-नाटकावली के सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' उक्त ग्रन्थ के वक्तव्य में लिखते हैं कि वह संख्या प्रायः २० की है।[५] भट्ट जी के इस रचना-भांडार की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से जिन तीन नाटकों के कारण जाता है, उनका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

१. वेणु-संहार

'वेणु-संहार' नाटक का कथानक तो पौराणिक है किन्तु नाटककार कथा की

१. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० ४
२. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० ५
३. वही — पृ० ५
४. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १६५
५. भट्ट नाटकावली—सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल'—वक्तव्य—पृ० ३

मिलते हैं। उदाहरण के लिए कुछ नमूने प्रस्तुत किये जाते हैं :

जन्म-पत्री की व्यर्थता के विषय में लेखक के विचार देखिए—'यह तो केवल मूर्खता है, ब्राह्मणों ने खाने का यह भी एक ढंग निकाला है। क्योंकि वेद, पुराण, शास्त्र किसी में जन्म-पत्री देख के विवाह करना नहीं लिखा है। उदाहरण—श्री राम चन्द्र, कृष्णचन्द्र, अँगरेज, मुसलमान....भला उनको जाने दीजिए, आप अपने यहाँ ही देखिए, जिनका विवाह जन्म-पत्री दिखा कर होता, है वे क्यों विधवा होती हैं ? क्यों उनको सन्तान नहीं होती ? क्यों उनको शारीरिक और मानसिक सुख नहीं मिलता ? क्यों उनमें आपस में लड़ाई होती रहती है ? निदान यह कि जन्म-पत्री दिखाने से कुछ लाभ नहीं होता।'[1] बाल्य-विवाह की बुराई की ओर इशारा करते हुए नाटककार ने नायिका सरला से कहलाया है—'यदि बाल्य-विवाह न होता तो क्यों न मैं स्वयं अपनी भलाई-बुराई को समझ कर अपनी इच्छानुसार पति करती ? मुझको उस समय कौन रोक सकता था ?'[2] नाटककार विधवा-विवाह-वर्जन के विरोधी थे। उनका दावा है कि युक्ति से, शासन से, सभी तरह से विधवा-विवाह को विहित सिद्ध किया जा सकता है।[3] उनका कहना है कि शरीर के स्वाभाविक वेग को रोकना कठिन है। काम के प्रबल झोंके से नवयुवती विधवा का बच सकना सहज नहीं है। इसलिए जो विधवा संयम न रख सके, उसे यह सुविधा होनी ही चाहिए कि वह पुनर्विवाह कर ले। समाज में स्त्री की जो दुर्गति थी, उससे राधाकृष्ण दास को बड़ा कष्ट होता था। 'दु:खिनी बाला' की सरला कुछ पढ़ी-लिखी है, दीन-दुनिया की ख़बर रखती है और ठोकर खाने के लिए तैयार नहीं है। उसका पति पुरानी दुनिया का है और सोचता है कि उसकी पत्नी की शिक्षा-संस्कृति-प्रियता ही उसके दुख का कारण है। वह अपनी पत्नी को डपटते हुए कहता है—'लाख बेर समझाया कि हमरे इहाँ पढ़ना नाहीं सहता पर यह सुन्तिये नाहीं।' पत्नी जब खड़ी बोली हिन्दी में उससे बातचीत करती है तो वह बिगड़ कर कहता है—'तू अपनिये बोली बोला करो।' पत्नी भी दो टूक उत्तर देती है—'मैं पढ़ना-लिखना छोड़ सकती हूँ, पर बोली नहीं बदल सकती जो चाहे सो हो।' लेकिन इस उत्तर से पति अप्रतिहत होने वाला थोड़े ही है। उसका संस्कार उसे सुझाता रहा है कि स्त्री तो ताड़ने से ही काबू में रहती है। इसलिए वह कहता है—'तैं ऐसे न मनबे जो अब न मनबे तो हम तोरी खूब पूजा करेब।'[4]

राधाकृष्ण दास सड़ी-गली परम्परा के पालन करने के विरोधी थे। वे कहते हैं, 'जो कहिए कि जो बाप-दादे करते आये हैं, वही करना चाहिए सो यह करना मूर्खता

---

१. दु:खिनी बाला—राधाकृष्णदास —पृ० ३
२. वही — पृ० ८
३. वही — पृ० १०
४. वही — पृ० ७

है। जो गुण हो वही ग्रहण करना चाहिए अवगुण को न लेना चाहिए।....वे लोग (बाप-दादे) झूठ नहीं बोलते थे अब कौन सच बोलता है?....तब सब लोग सभी हिन्दुस्तानी वस्तुएँ काम में लाते थे अब कौन अँग्रेजी के आगे हिन्दुस्तानी को छूता है?'[1]

नाटककार कठमुल्लेपन के परम विरोधी थे। प्रवाद प्रचारित था कि जो लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं, वे नास्तिक हो जाते हैं। नाटककार इसका बड़े जोर से प्रतिवाद करते हुए कहलाते हैं—'कभी नहीं। यह भी एक विद्या है उसके पढ़ने से कोई नास्तिक नहीं हो सकता।'[2] ब्राह्मणों को उचित सम्मान देने से उनको इन्कार नहीं है। लेकिन वे यह नहीं मानते कि ब्राह्मण जो कुछ कहे अच्छा हो या बुरा, किया ही जाय।[3]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस नाटक में भी वे ही समस्याएँ उभर कर आती हैं, जो भारतेन्दु जी के समक्ष खड़ी थीं। जागरण के बढ़ते चरण का आभास भी सरल[1] के चरित के व्याज से उपलब्ध है। 'दुःखिनी बाला' को नाटकीय कला-विषयक परिपक्वता चाहे भले ही न मिली हो, कथानक-संगठन का दोष भी उसमें विद्यमान हो, लेकिन फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि नयी चाल के नाटकों की परम्परा में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। समाज-संस्कार और देश-दशा के परिवर्त्तन की जो व्याकुलता उस युग में थी, वह इस नाटक में भी मुखर है। सरला का उदाहरण पुराने-पन को तमाचा मार कर चौंका देने में समर्थ है—इसमें सन्देह नहीं। नाटककार सन्देश देता है कि यदि विधवा-विवाह को सामाजिक स्वीकृति नहीं मिली तो जो दुर्भाग्य सरला का हुआ, वही दूसरी विधवाओं के लिए भी सुरक्षित रहेगा।

बालकृष्ण भट्ट : पं० बालकृष्ण भट्ट इस युग के ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने बड़ी संख्या में नाटकों की रचना की। डॉ० दशरथ ओझा के मतानुसार भट्ट जी के प्रकाशित और अप्रकाशित नाटकों की संख्या १५ है।[4] किन्तु [illegible] के सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' उक्त ग्रन्थ के वक्तव्य में लिखते हैं कि वह संख्या प्रायः २० की है।[5] भट्ट जी के इस रचना-भांडार की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से जिन तीन नाटकों के कारण जाता है, उनका विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

१. वेणु-संहार

'वेणु-संहार' नाटक का कथानक तो पौराणिक है किन्तु नाटककार कथा की

---

१. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० ४
२. दुःखिनी बाला—राधाकृष्णदास—पृ० ५
३. वही — पृ० ५
४. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० १६५
५. भट्ट नाटकावली—सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल'—वक्तव्य—पृ० ३

काल-सीमा से बाहर जा कर अपने तत्कालीन समाज की बुराइयों का विवरण प्रस्तुत कर जाता है। डॉ० ओझा नाटकीय कथा-वस्तु के इस काल-विरोध पर उचित ही आपत्ति करते हैं। लेकिन बात यह है कि उन्नीसवीं सदी में होने वाले वैचारिक आन्दोलन तथा अपनी हीन दशा से उबरने की देश की बलवती आकांक्षा ने नाटककार को इस तरह अभिभूत कर रखा था कि वह पौराणिक कथानक ले कर नाटक रचते समय भी अपने समाज और देश की वर्तमान समस्याओं को भूल नहीं पाया। इस नाटक की प्रस्तावना समयुगीन परिस्थितियों के निरूपण की दृष्टि से मुख्य है। इस प्रस्तावना-भाग में तत्कालीन कुशासन की ओर सकेत करते हुए कहा गया है—'दुसह दुःख यह मिटे सकल कुछ ऐसा यतन करो।' यह गाना अभी शुरू ही हुआ है कि एक ध्वनि उठ कर आती है—'यह कौन राजा के विरुद्ध गाना गा रहा है। ठहर, ठहर, अभी आय तेरा सिर कच्चे घड़े के समान फोड़ चूर-चूर किये देता हूँ।'[1] नौकरशाही का यह आतंक है! राजा सर्वशक्तिमान हो गया है। कहा जाता है कि लोक-सिद्ध प्रत्यक्ष देवता राजा ही परमेश्वर है। यह राजा जो कुछ न्याय-अन्याय करे, सब न्याय है। प्रजा यदि सुख से जीवन बिता लेना चाहे तो उसे हाथ-पैर नहीं फैलाना चाहिए। प्रतिकूल आचरण का साहस करने पर उसे जेल में ठूँस दिया जायगा या देश-निकाला दंड भोगना पड़ेगा।[2] प्रजा राज-करों के बोझ से दबी पड़ी है, चारों ओर त्राहि-त्राहि-मची है।[3]

भट्ट जी राजा के कुशासन को देख यही आकांक्षा पालते हैं कि—अच्छा तो यह होगा कि सब लोग अपने मन से चुन कर किसी को राजा बना दें। कुल परम्परागत राज का होना ही बुराई है।[4] विदेशी शासन के प्रबल अत्याचार के युग में प्रजातंत्र की यह कल्पना बहुत बड़ी बात है। ऐसा लगता है कि नवीन स्वातंत्र्य-विचार लोगों के हृदय में घर कर रहे थे और जब अंग्रेजी पढ़े-लिखे जागरूक, प्रबुद्ध कहे जाने वाले लोग सरकारी ऊँची नौकरियों में भारतीयों के प्रवेश के लिए ही आन्दोलन कर रहे थे तब भट्ट जी अपने देश में प्रजातंत्र की संस्थापना का सपना बहुत आगे बढ़ कर देख रहे थे।

'वेणु-संहार' से यह भी सूचित होता है कि भट्ट जी अंग्रेजों के फ़ैशन के अनुकरण को समाज तथा देश के हित में घातक समझते थे। नये जमाने को वह किस रूप में देख रहे थे यह उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है:

(क) हवा पछियाँव जब से चल पड़ी है नकलची भाइयों की बन पड़ी है
हिन्द में आवारगी का गुल खिल गया है।[5]

---

१. भट्ट नाटकावली—सं० धनंजय भट्ट 'सरल'—पृ० ५६
२. ” ” पृ० ५७
३. ” ” पृ० ७६
४. भट्ट नाटकावली (वेणु संहार)—बालकृष्ण भट्ट—पृ० ६८
५. ” ” पृ० ६१-६२

(ख) छोटे-बड़े का अदब न रखें—अपनी तबीयत की करें—पावरोटी उड़ावें, होटलों में भोजन करें, ब्रांडी और टी की चुस्की का मजा लें, मटन बिस्कुट ह्विस्की उड़ावें, नेकी बदी की फिक्र छोड़ दें, जोरू को सदा साथ ले कर निकलें और सती सीता का नाम मिटा दें।[1]

इस नयी चाल ने समाज में भयंकर अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है। भट्ट जी कहते हैं, 'नर-नारी दोनों अपनी ओर से स्वतंत्र हैं। जब जिसका जो चाहे उतने समय के लिए वह किसी की ब्याही को गाड़ी पर चढ़ाय जहाँ चाहे डोलता फिरे इसमें बिगड़ा क्या है?'[2] इस अव्यवस्था को रोकने का दायित्व जिन पुरोहितों, अग्रिमों, समाज-व्यवस्था-निर्धारकों का हो सकता था, उन ब्राह्मणों की ऐसी अधोगति थी कि जैसा रुपया पावें वैसी व्यवस्था दे दें।[3] भट्ट जी उनके विषय में खुले शब्दों में कहते हैं—'निपट लालची हैं, कलियुग में द्विजता दाग लगाते हैं।'[4] अंग्रेज़ी चाल सीखने वाले खुशामदी लोगों के विषय में निष्कर्षतः भट्ट जी का कहना है :

'हैं कोरे अक्ल के बेदुम के टट्टू, हुए ऐसे नये फैशन पै लट्टू।
समय यह खूब आया सभ्यता का, खिला गुल हिंद में आवारगी का।'

अवश्य ही 'वेणु संहार' के मुख्य कथानक की दृष्टि से यह सारा प्रसंग बाहर का है। लेकिन भट्ट जी, जैसा कि ऊपर कहा गया, अपने युग की समाजगत समस्याओं का चित्रण किये बिना रह न सके। इस नाटक से यह विदित होता है कि अंग्रेज़ों के आचार-विचार, उनकी रीति-नीति का देश में फ़ैशन खूब चल रहा था और प्रबुद्ध समाज के लिए यह स्थिति समस्या-रूप थी। लेकिन ऐसा नहीं है कि पं० बालकृष्ण भट्ट पुरानेपन से चिपटे हुए रहने के आकांक्षी हैं। नयी रोशनी की अच्छी बातों को ग्रहण करने में उनको आपत्ति नहीं है। हाँ, वे बेदुम के टट्टू होने को तैयार नहीं हैं, अपनी परम्परा की अच्छी बातों को भी केवल इसलिए छोड़ दिया जाय कि अंग्रेज़ों की दृष्टि से उनमें पुरानापन है, यह भट्ट जी को अंगीकार नहीं है।

२. बृहन्नला

'बृहन्नला' नामक उनका एक नाटक है, जिसका कथानक महाभारत से लिया गया है। भारतेन्दु जी ने 'धनंजय विजय' में जो कथा ली है, उससे किंचित् भिन्न कथा इस 'बृहन्नला' नाटक की है। इस नाटक में भी कथा की सीमा से बाहर जा कर भट्ट जी ने तत्कालीन समाज की विकृतियों के यथार्थ का चित्रण किया है। हिन्दू समाज में पर्दे की जो घातक कुप्रथा चल रही थी, भट्ट जी उसके विरोधी थे। इस 'बृहन्नला' नाटक

१: भट्ट नाटकावली (वेणु संहार)—बालकृष्ण भट्ट—पृ० ६१-६२

२. ३. ४. —वही—पृ० ६१, ७४, ७८

में उन्होंने उसकी उपयोगिता पर घोर अनास्था प्रकट की है । वे कहते हैं कि नारी की स्वतंत्रता को बाधित करने के लिए ही यह कुप्रथा चल रही है । लेकिन स्वतंत्रता का अपहरण इतनी सहजता से नहीं किया जा सकता । नारी को पर्दे में रखने से ही उसकी पवित्रता अक्षुण्ण रह जाय, यह कहाँ है ? भट्ट जी कहते हैं कि असल बुराई तो है— अनमेल विवाह । कच्ची उम्र की बालिकाएँ वृद्धों के खूँटे से बाँध दी जाती है और वृद्ध पति अपनी पत्नी के प्रति प्रतिक्षण सशंक रहता है । इसी शंका के कारण वह अपनीं पत्नी को जकड़बन्द रखता है । लेकिन क्या वह सफल हो पाता है ? 'बृहन्नला' के एक ऐसे ही प्रवासी पति की गवाही है : 'हम उसे सात पर्दे के भीतर रखते थे, यहाँ तक कि सूर्य और चन्द्रमा भी उसे नहीं देख सकते थे तो भी किसी-न-किसी भाँति वह अपना काम कर ही लेती थी तो अब वह आनन्दपूर्वक स्वच्छन्द विहार करती होगी ।'[1] भट्ट जी कहते हैं कि बन्धन के टूटने पर नारी वही हो जाती है, जो पुरुष नहीं चाहता कि वह हो । तो क्या नारी के विषय मे भट्ट जी की ऐसी बुरी धारणा थी कि वह बिगड़ने के लिए ही बनी है ? नही, भट्ट जी यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य-प्रकृति की स्वाभाविक माँग को अनदेखा नहीं किया जा सकता । अनमेल विवाह का परिणाम क्या हो सकता है यदि इस पर कभी समाज ने गम्भीरता के साथ विचारा होता तो फिर उस बुरी प्रथा का समर्थन नहीं करता । यदि समाज में वर-कन्या की आयु की न्यायोचित शर्त स्थिर हो जाय तो न पति को पत्नी का अविश्वास करना पड़े और न पत्नी को लुक-छिप कर अपनी यौनाकांक्षा की तृप्ति का उपाय खोजना पड़े । और फिर पर्दे की प्रथा भी व्यर्थ सिद्ध हो जाय । इस प्रकार सूचित यह है कि महाभारत की इस कथा को ले कर चलते समय भी नाटककार अपनी देश-दशा का चित्रण कर जाता है और बुराई की एक प्रथा का तिरस्कार करता है । देश के उत्थान के लिए पर्दे की इस कुप्रथा की समाप्ति कितनी आवश्यक थी, कदाचित् इसके कहने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए।

३. जैसा काम वैसा परिणाम

भट्ट जी का 'जैसा काम वैसा परिणाम' शीर्षक नाटक एक सोद्देश्य रचना है । नाटक के आमुख में इस उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए कहा गया है :

(क) 'नहींदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ।
यदृशं पुरुषस्येह परदारामिमर्षणम् ।'

(ख) परतिय यमन समान, नहिं कुमर्म होउ आन जग ।
सुख ज्यों ग्रीषण भान हरत आयु यह नरन कै ।

---

१. भट्ट नाटकावली—(बृहन्नला)—पृ० २१

इस नाटक की रचना उनकी शिक्षा के लिए हुई है, जो 'फ़ेश और चौकड़ माल' की खोज में रसिकलाल की तरह सम्पत्ति बर्बाद करते हैं और अपनी साध्वी पत्नी की जिन्दगी ख़राब करते हैं। हिन्दू समाज मे नारी की जो दुर्दशा है, उससे भट्ट जी को बड़ी पीड़ा होती है। भट्ट जी की नारी यही सोचती है कि पुर्वले में उसने बड़े-बड़े पाप शायद किये थे, जिनका प्रायश्चित करने के लिए उसे नारी की योनि प्राप्त हुई है। हिन्दू घरों की नारी पराधीन है और उस पर अनेक प्रकार की यातनाएँ भोगती है। लिखने-पढ़ने से नारी का चरित्र बिगड़ जाता है—ऐसा मानने के कारण पुरुष-समाज उसकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध नहीं करता। बचपन से ही रोना-गाना, गिल्ला-जबाव का अभ्यास ही वह कर सकती है और बचपन की इन आदतों के कारण ही वह उम्र चढ़ जाने के बाद कर्कशा, कलह-कारिणी, चंडिका बन जाती है। कुल आठ वर्षों की छोटी अवस्था मे उसका विवाह होता है और वह सर्वथा अपरिचित व्यक्ति के गले मढ़ दी जाती है।[1] पराधीनता की ऐसी हालत है कि अपने पति कहे जाने वाले व्यक्ति का विरोध करने की हिम्मत भी वह नहीं कर सकती। पराधीनता का उसका यह संस्कार उससे कहला लेता है कि 'उन्हें जिसमें सुख मिले सो करें। जैसी उनकी मौज हो वैसे रहें। हम सब मै राजी हैं।'[2] पुरुषों की चरित्र-हीनता और वेश्या-गमन-दोष के लिए भट्ट जी के अनुसार उत्तरदायी है धनी-वर्ग की धन-सम्पन्नता। इस नाटक की एक ग़रीब स्त्री, ठकुरानी बताती है कि उसका पति ठहरा 'गरीब मनई।' वह बेचारा यह सब क्या जाने ? इन्द्र की अप्सरा भी उसका ध्यान नहीं खींच पाती।[3] स्पष्ट है कि ये चोंचले अमीरों के हैं।

वेश्यागमन की बुराइयों की ओर संकेत करते हुए भट्ट जी ने कहलाया है : 'एक नारि जब दो से फँसी, जैसे सत्तर वैसे असी।'[4] वेश्या तो रूप के बाज़ार में बैठने वाली ठहरी; उसे प्रेम से क्या बहस ? वेश्या की नजर में रसिकलाल की स्थिति बस तानपुरे की सी है। तानपुरा तब तक दुरुस्त नहीं होता, जब तक अच्छी तरह उसका कान न मला जाय। वेश्या के घर में रसिकलाल की हजामत जब अच्छी तरह से बन जाती है तब उसे होश आता है। और परितप्त हो कर कहता है कि एक राक्षसी के कारण उसने अपनी ब्याही सती स्त्री को इतना दु:ख दिया। सचमुच उसके जैसा गधा कहाँ होगा ?[5] परिताप के इस क्षण में वह अनुभव करता है कि निस्संदेह अपनी सती पत्नी को कष्ट पहुँचाने के कारण ही उसकी दुर्दशा हुई है। अब तो जैसे हो उसी

---

१. भट्ट नाटकावली—पृ० ९२
२. ,, —पृ० ९५
३. भट्ट नाटकावली—पृ० ९८—भला मजूरा मनई ऊ ई सब बात का जानै। चाहे कोई इन्दर की अपछरा काहे न होय पर हम उन्हें आँखी उठाय कोई की ओर ताकत न देखा।
४. भट्ट नाटकावली—पृ० ११२
५. ,, —पृ० ११५

सती को प्रसन्न करने में उसका कल्याण है। सच है, जिसका जैसा काम होता है उसको वैसा ही परिणाम भी मिलता है।[1]

भारतेन्दु-युग के इन प्रतिनिधि-नाटककारों के नाटकों के विवेचन से हमारा प्रयोजन बस इतना है कि यह विदित हो कि १९वीं शताब्दी में जन-जीवन की जो समस्याएँ थीं, जिनका निरूपण भारतेन्दु के नाटकों में हुआ, वे ही उनके परवर्ती नाटककारों के ध्यान में भी थीं। उस युग के नाटककारों ने बड़े ही खेद के साथ देखा कि धनियों का चरित्र बिगड़ गया है। वे वेश्या, शराब और जुए में अपनी ज़िन्दगी खराब कर रहे हैं। इससे भारतेन्दु के परवर्ती नाटककारों ने वेश्या-गमन की बुराइयों का उल्लेख कर मार्ग-निर्देश किया। यह विषय इतना लोकप्रिय हुआ कि देवकीनन्दन तिवारी जैसे नाटककारों ने 'रक्षा-बन्धन,' 'स्त्री-चरित्र,' 'वेश्या-विलास' और 'सैकड़े में दस-दस' शीर्षक अपने चार-चार नाटकों में केवल इस प्रश्न पर विचार किया। भारतेन्दु से प्रभावित इन नाटककारों ने स्थिति-चित्रण के साथ-साथ सुधार की प्रेरणा भी जगायी है। इस प्रकार इनको कला सोद्देश्य रही। समाज की विकृतियों के परिहार के लिए नाटक का माध्यम सबसे अधिक कारगर होता है। यही सोच कर इन्होंने नाटकों और प्रहसनों के द्वारा समस्या को प्रकट किया और बुराई दूर करने की चेष्टा की।

उत्तर भारतेन्दु कालीन नाटकों में समस्या

बीसवीं शताब्दी के अरुणोदय-काल में पारसी नाटकों की वह परम्परा भी चल रही थी जिसकी प्रतिक्रिया में भारतेन्दु के नाटक, नाटक-रचना के क्षेत्र में अभिनव-जागरण का मंत्र फूँकने के लिए रचे गये थे। भारतेन्दु और उनसे प्रेरणा ग्रहण करने वाले नाटक-कारों की नाट्य-कृतियों को डॉ० श्री कृष्णलाल ने 'गोष्ठी-नाटक' की संज्ञा दी है और बताया है कि इन गोष्ठी-नाटकों के दर्शक इने-गिने सुसंस्कृत-रुचि के विद्वान ही होते थे।[1] अस्तु, इन नाटकों के द्वारा लोक-रुचि के संस्कार का कार्य किसी बड़े पैमाने पर नही हो पाया। हिन्दी का अपना कोई विशिष्ट रंग-मंच नही था। इससे गोष्ठी-नाटकों को भी पारसी-नाटक-रंगमंच का ही अपना लेने की लाचारी थी। भारतेन्दु बड़ी प्रतिभा के नाटककार थे। लेकिन उनके बाद के लोगों के पास अभिमान करने योग्य प्रतिभा नहीं थी। जैसे लोगों के आगे एक ओर भारतेन्दु-युग की जागति-चेतना की प्रेरणा थी, गोष्ठी-नाटकों का आदर्श था और फिर दूसरी ओर पारसी-नाटक थे, जो लोक-समाज में अत्यन्त लोकप्रिय थे। भारतेन्दु-युग के उत्तरवर्त्ती नाटककार न तो भारतेन्दु के आह्वान का विस्मरण कर पाते थे और न पारसी-नाटकों की लोकप्रियता को अनदेखा कर पाते थे। इसी विवशता की स्थिति में उन्हें परिस्थितियों के साथ समझौता करना पड़ा। जमुनादास मेहरा ने अपने नाटक 'पाप-परिणाम' के वक्तव्य में इस तथ्य को बड़े ही स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है।[2] पारसी-नाटकों की छाया इन नाटकों में ऐसी घनी हो गयी कि हास्य की योजना के लिए गम्भीर नाटकों में प्रहसन जुटने लगे। नन्दकिशोर वर्मा के 'महात्मा विदुर' जैसे शिष्ट गम्भीर नाटक में शिवनारायण सिह के प्रहसन—

---

१. आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल—पृ० २०८।

२. पाप-परिणाम-वक्तव्य (प्रस्तुत पुस्तक में हमने उद्योग किया है कि दोनों ही कार्य रहें, अर्थात् विषय सामाजिक, वर्त्तमान समय के उपयुक्त और उपदेशप्रद तथा चित्ताकर्षक हो और जो सदा से पारसी-कम्पनियों के भक्त रहते आये हैं, वे भी यदि इसे खेलें, तो उनका भी मनोरंजन हो।)

'कलियुगी साधु' के जोड़े जाने[1] का यही रहस्य है। स्वयं पारसी-नाटकों में ऐसा ही होता था। लोक-रुचि ऐसी असंस्कृत तथा भोंडी थी कि मुख्य कथानक को रंगमंच पर दर्शक आने भी नहीं देना चाहते थे, कहते थे 'कॉमिक' ही चलता रहे। स्पष्ट है, दर्शक नाटक नहीं, तमाशा देखने आते थे। दर्शकों का नैतिक स्तर इतना गिर गया था कि 'नज़ीर' के रामलीला नाटक में राम द्वारा सीता के प्रति इस कथन पर किसी को आपत्ति नहीं होती थी :

परमेश्वर ने क्या सूरत है सँवारी,
सीता ने जिगर पर नैन कटारी मारी
अलबेली बाँकी तिरछी विरछी चितवन,
चलते में लचके कमर हिचकती कामन

फिर 'हसरत' रचित 'गंगावतरण नाटक' के लक्ष्मी-सरस्वती संवाद का यह अंश देखिए :

'हँस के दिल लेना तुम्हें आता नहीं,
बोसा भी देना तुम्हें आता नहीं।'

बात यह थी कि पारसी-नाटकों के रचयिताओं का कर्त्तव्य-कर्म था—अपने स्वामियों के व्यवसाय को बढ़ाना और वह व्यवसाय तभी बढ़ सकता था, जब हीन-रुचि जन-साधारण को तमाशा देखने का सुख मिलता। अस्तु, पारसी-नाटककारों का ध्यान न तो वस्तु-संगठन की ओर जा पाता था और न चरित्र-चित्रण के महत्व और कौशल की ओर ही। उनकी शक्ति और प्रतिभा अति नाटकीय एवं रोमांचकारी दृश्यों की योजना करने में ही शेष हो जाती थी।

शिष्ट गोष्ठी-नाटकों के किये फिर भी इतना ज़रूर हुआ कि पारसी-नाटकों में भी सुधार की प्रेरणा जगी। अब पं० नारायण प्रसाद 'बेताब,' आग़ा 'हश्र' काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर,' तुलसीदत्त 'शैदा', राधेश्याम 'कथावाचक' आदि, पारसी-नाटक कम्पनियों के नये नाटककारों ने सुधार का कार्य अपने हाथ में लिया। रंगमंचीय नाटकों की भाषा के रूप में सरल हिन्दी को प्रतिष्ठित किया गया। 'बेताब' तथा 'कथावाचक' जी ने पारसी-रंगमंच पर से फ़ारसी प्रेम-कथाओं के एकाधिकार को हटाया। इन्होंने पुराणों तथा महाकाव्यों से कथा ले कर विलास का नयनाभिराम वातावरण अपने नाटकों में खड़ा किया। साथ ही इन्होंने अंग्रेज़ी के श्रृङ्गारिक नाटकों के कथानक तथा लोक-समाज में प्रचलित श्रृङ्गारिक दन्त-कथाओं को भी ग्रहण किया। कभी-कभी शुद्ध कल्पना के बल पर रोमांचकारी श्रृङ्गार-कथाओं का निर्माण भी किया गया। इस प्रकार पारसी नाटकों के कथानक में विविधता का सन्निवेश हुआ। अब पारसी नाटकों में जो कथा

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल—पृ० २१२

आती थी, उसका सामान्य ढाँचा यह स्थिर हुआ कि किसी रमणीय एकान्त स्थान में नायक-नायिका का परस्पर साक्षात् होता, प्रथम-दर्शन में ही उनके बीच प्रेम हो जाता, प्रेमी-प्रेमिका के माता-पिता की परस्पर शत्रुता धन-सम्पन्नता की दृष्टि से परस्पर असमानता, भिन्न-धर्म आदि कारणों से विवाह में बाधा खड़ी होती और नाटकीय कथा संघर्ष की स्थिति में पड़ती। फिर बाधाओं का अन्त होता और विवाह सम्पन्न होता। 'बेताब' तथा राधेश्याम 'कथावाचक' के पात्रों में व्यक्तित्व की निजता नहीं आने पायी। पात्र सारे के सारे एक-रस, आदर्श हैं। चाहे तो वे आदर्श प्रेमी हैं, आदर्श मित्र हैं अथवा आदर्श धूर्त और आदर्श शत्रु। इनके नाटकों से, जिनको 'थियेट्रिकल ड्रामा' कह कर कभी-कभी पुकारा गया है, पता चलता है कि इनका जीवन-विषयक दृष्टिकोण बड़ा ही संकीर्ण और अनुदार था। यथार्थ-चित्रण करना जैसे इन्हें आता ही नहीं था। आगा 'हश्र' ने मुख्य अथवा आधिकारिक कथा के साथ प्रहसन की एक अवान्तर कथा के जोड़ने की जो परम्परा चलायी थी, उससे हट कर 'बेताब' ने मुख्य गम्भीर कथानक के बीच ही हास्योत्पादक प्रसंग रखे। इस प्रकार हास्य और व्यंग्य का पुट अब मूल कथानक के पात्रों के सम्वाद, क्रियाओं और प्रसंगों में ही दिया जाने लगा।

समस्या-नाटकों की रचना की दृष्टि से पारसी नाटकों का कोई महत्व सूचित नहीं होता। यह इसलिए कि पारसी नाटककारों में ऐसा कोई भी व्यक्ति नही हुआ, जिसको जीवन की वास्तविकता को समझने की क्षमता हो।[1] पारसी नाटकों का जीवन-संघर्ष जब सिनेमा के साथ हुआ तब 'चमत्कारपूर्ण रोमांचकारी घटनाओं, प्रणय-युक्त हाव-भाव,' 'हास्योत्पादक अंग-संचालन,' उत्तेजक संवाद और 'सीन सीनरी' की योजना से नाटक का लोगों में 'पास' कराने की प्रवृत्ति आदि को ही बढ़ावा मिला।[2] पारसी नाटक, जो पहले से ही जीवन से दूर थे, अब और दूर जाने के लिए विवश हुए।

इस युग में बंगला-भाषा के लोकप्रिय नाटककारों की ओर हिन्दी भाषा-भाषियों का ध्यान गया। गिरीश घोष तथा द्विजेन्द्र लाल राय के अनेक नाटकों का अनुवाद हिन्दी में हुआ। बंगला के इन नाटकों में साहित्यिकता थी और रंगमंचीय दृष्टि से भी वे उन्नत थे। डॉ० श्री कृष्णलाल ने बताया है कि अनुवादों की एक ऐसी बाढ़-सी आयी कि मौलिक कृतियाँ विस्मृत-सी हो गयीं।[3] अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण पश्चिमी नाटकों से पढ़े-लिखे समाज का परिचय बढ़ता जा रहा था। स्वयं भारतेन्दु ने पूर्वी और पश्चिमी नाट्य-कलाओं का ताल-मेल किया था। विवेच्य-काल में संस्कृत के नाटकों का भी कई लोगों ने अनुवाद किया। पं० बदरीनाथ भट्ट ने सन् १९१२ में 'कुरुवन दहन' नाम से संस्कृत के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद किया, जिसमें उन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेज़ी [illegible] का योग करने के साथ ही लोक-रुचि का ध्यान रखते

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्ण लाल—पृ० २१३
२. वही— ,, —पृ० २११
३. वही— ,, —पृ० २१३

हुए हास्योत्पादक दृश्य की योजना की।[1] इस युग में नाटकों के अनुवादकों में पं० रूपनारायण पांडेय, पुरोहित गोपीनाथ, पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र आदि मुख्य हैं।

इधर गोष्ठी-नाटकों की जो परम्परा थी, उसका विकास भी क्षीण-रूप में ही सही, हो रहा था। मौलिक नाटकों की रचना की दृष्टि से भारतेन्दु के अनन्तर एक प्रकार का मौन व्याप्त रहा। डॉ० प्रेम शंकर ने बताया है कि प्रत्येक साहित्य में इतिहास की भाँति इस प्रकार का अन्धकार-युग आता है, जब केवल पिछली बातों को दुहराया जाता है। इस पुनरावृत्ति का कारण होता है कि किसी महान व्यक्ति के पथ-प्रदर्शन के अभाव में नया कुछ नहीं आता और अनुवादों अथवा टीकाओं से ही सन्तोष करना पड़ता है।[2] हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जो काल सामान्यतः 'द्विवेदी काल' कहलाता है, मौलिक नाटकों की रचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। फिर भी इस काल में कुछ ऐसे लेखक हुए, जिन्होंने साहित्य के अन्य क्षेत्रों में सेवा-कार्य करते हुए नाटक-रचना भी कर डाली है। ऐसे लेखकों की नाट्य-कृतियों की सूची नीचे प्रस्तुत है :

पं० माखनलाल चतुर्वेदी	—कृष्णार्जुन-युद्ध
पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	—रुक्मिणी-परिणय, प्रद्युम्न-विजय व्यायोग
बाबू शिवनन्दन सहाय	—सुदामा-चरित
पं० बलदेव मिश्र	—प्रभात मिलन, मीराबाई, ललता बाबू
पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र	—सीता-बनवास
राय देवी प्रसाद पूर्ण	—चन्द्रकान्ता-भानुकुमार
पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी	—तुलसी दास
मिश्रबन्धु	—शिवाजी
वियोगी हरि	—प्रबुध यामुन

---

१. **कुरुवन दहन**—Foreword : ....I have even introduced some new characters together with humorous dialogues, whenever I thought it necessary. In fact, I have tried to make this work a type of the combination of English and Sanskrit Dramaturgy.

—आ० हि० सा० का विकास—डॉ० श्रीकृष्ण लाल—पृष्ठ २१४ पर उल्लिखित।

२. **आलोचना (१६) नाटक विशेषांक—पृष्ठ ६२ (आधुनिक नाटक—ले० डॉ० प्रेमशंकर)**

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विवेच्य-काल के मौलिक नाटकों के विषय में कहा है कि उनमें तात्कालीन सामाजिक और पारिवारिक जीवन की उलझनों का निरीक्षण और उद्घाटन नहीं किया गया है।[१] डॉ० प्रेमशंकर ने इससे भी आगे बढ़ कर यह कहा है कि इन नाटकों में जीवन का कोई संस्पर्श नहीं मिलता। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि ये नाटक केवल लिखने के लिए ही लिख दिये गये हैं।[२] डॉ० प्रेमशंकर का मत इसलिए भी ठीक जँचता है कि इन लेखकों में किसी को भी सही मानी में नाटककार की संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकी।

विवेच्य-युग के इन मौलिक नाटकों का रचना-विषय मुख्यतः पौराणिक अथवा ऐतिहासिक प्रसंग ही हुए।[३] द्विवेदी-युग पुनरुत्थान का युग था। उसका दृष्टिकोण सुधारवादी था और वह आदर्श की खोज में लगा था। जाहिर है, इससे उस काल के लेखकों का ध्यान अपने प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित महापुरुषों की ओर जाता। विवेच्य-काल में पौराणिक और ऐतिहासिक कथा के स्वीकार का यही कारण है।

विवेच्य-काल की लोक-रुचि का यदि हम विचार करें तो विदित होगा कि देहातों में जो लोग रहते थे, वे आधुनिक अंग्रेजी-शिक्षा संस्कृति तथा शिष्टाचार-विषयक मान्यताओं से अनजान थे, खेती-बारी, मिहनत-मजदूरी करके गुज़ारा करते थे। ऐसे लोगों के मनोरंजन के लिए राम-लीला, रास-लीला, पूरन भगत तथा गोपीचन्द आदि की कथाएँ ही काफ़ी थीं। ऐसे लोगों के जीवन में मनोरंजन के लिए गुंजायश भी आख़िर कितनी होती ही है। नगरों में रहने वाले लोग दो तरह के थे। एक तो वे थे, जो शहरों में रहते तो ज़रूर थे लेकिन शहराती जिन्दगी के अनभ्यस्त थे। ऐसे लोग या तो दूकानदार थे अथवा दफ़्तरों में काम करने वाले बाबू। शहर-निवासियों का यह वर्ग अपनी घरेलू जिन्दगी को नानाविधि समस्याओं में उलझा हुआ था। ज़िन्दगी की मार की थकान और ऊब मिटाने के लिए इस वर्ग को मनोरंजन की अपेक्षा थी और यह माँग पूरी हो जाया करती थी—सस्ते-घटिया-पारसी रंगमंचीय नाटकों से। इन नाटकों में यों वह सब कुछ मिल जाया करता था, जिसके लिए यह वर्ग अपनी नीरस जिन्दगी में ललचाया करता था। शहरी लोगों का दूसरा वर्ग उच्च शिक्षा-सम्पन्न था, पश्चिम आधुनिकता का प्रेमी था और अपने पिछड़ेपन कारण सन्तप्त था। इस वर्ग के लिए स्वयं हिन्दी में ही कुछ नहीं था, नाटकों की क्या चर्चा? इनके ही मुकाबले वे थोड़े से लोग थे, जो विचारवान् थे, अपने देश, समाज, साहित्य, संस्कृति आदि के प्रति निष्ठावान् थे और पारसी नाटकों की फ़ारसी प्रेम-कथाओं के प्रसार को बुरा समझते थे। ऐसे लोग नाटक की उपयोगिता को ख़ूब ठीक से समझते थे और चाहते थे कि सांस्कृतिक पुनरुत्थान हो, जन-सामान्य का रुचि-संस्कार हो और नाटक-रचना को एक

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ४६६
२. आलोचना (१६) नाटक विशेषांक—पृष्ठ ६३
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ४६६

निश्चित गति मिले। ऐसे लोग यह चाहते थे कि सामाजिक और धार्मिक विकृतियों का पर्दाफ़ाश किया जाय, स्वातंत्र्य-चेतना का प्रसार किया जाय और देश-दशा में सुधार हो।

इस वर्ग ने दो प्रकार के नाटक लिखे। कुछ नाटक तो ऐसे हुए, जिनमें रामायण, महाभारत, पुराणादि की कथा आयी है और नाटककारों ने अपने अतीत के स्मरण द्वारा प्रेरणा देने का उपक्रम किया है। दूसरे वर्ग में वे प्रहसन आते हैं, जिनमें राष्ट्रीय, धार्मिक अथवा सामाजिक विकृतियों को विषय बनाया गया है। सामाजिक विषयों को ले कर थोड़े से गम्भीर नाटक भी लिखे गये। मिश्रबन्धु का [illegible] नाटक इसी तरह की एक रचना है। आगे चल कर पश्चिम के नाटकों के प्रभाव से प्रभावित यथार्थ-वादी नाटक भी लिखे गये। इस प्रकार विवेच्य-युग के प्रहसन तथा वे गम्भीर नाटक, जिनमें सामजिक यथार्थ का व्यंग्य-रूप प्रस्तुत किया गया है, समस्या-नाटकों की रचना के लिए भूमिका प्रस्तुत करते हैं। यही इनका ऐतिहासिक महत्व है।

अब इस खेवे के नाटकों और प्रहसनों में कुछ का विचार करें। मिश्रबन्धु पं० श्यामबिहारी मिश्र और पं० शुकदेव बिहारी मिश्र द्वारा प्रणीत 'नेत्रोन्मीलन' पाँच अंकों का नाटक है।

'नेत्रोन्मीलन' में सरकारी कचहरी, पुलिस, वकील, मुख़्तार आदि के शोषण की कथा कही गयी है। इस नाटक के मधुकर शुक्ल का अमीर अली के साथ उस बाग़ को ले कर झगड़ा होता है, जिसकी डिग्री और दख़लदिहानी मधुकर के पक्ष में हो जाती है। मधुकर के सिपाही गजराज सिंह को अमीर अली और उसके पक्ष धर जहाँगीर की लाठी की ऐसी चोट लगी है, जिससे उसका हाथ टूट जाता है। बस, इसी पर फ़ौजदारी खड़ी हो जाती है। कचहरी में मामले को ले जाना है इसलिए पुलिस की डायरी में घटना का वह रूप खड़ा होना चाहिए, जिसके बल पर मधुकर अपने प्रतिपक्षी अमीर अली और उसके भलेमानस भाई निसार अली तथा निसार के मित्र कमल को सज़ा दिला सके। यदि सच्ची बात सनहा में लिखायी जाय तो निसार और कमल पर मुकदमा ही न चले। इस प्रकार मधुकर को बैर साधने के लिए पुलिस की मदद चाहिए। पुलिस जिसका खाती है, उसका गाती है। उसे घटना की सचाई और न्याय से क्या मतलब हो सकता है! मुकदमे को संगीन बनाने के लिए कमल द्वारा मधुकर के गले से मोहन-माला को झटक लेने की झूठी कथा गढ़ी जाती है और सभी अभियुक्तों के हाथ में लाठी पकड़ा दी जाती है। बात यह है कि ऐसी चालबाज़ी के बग़ैर मुकदमा खड़ा ही नहीं हो सकता और 'कचहरी जाने वालों के दीन धर्म का कुछ भी ठिकाना नहीं।'[1] घटना के प्रत्यक्षदर्शी थे 'नैमिषारण्य' की यात्रा करने वाले दो बटोही। लेकिन वे गवाही देने की झंझट में नहीं पड़ते और अपनी राह चल देते हैं। लेकिन पुलिस को इनके जाने से कोई कठिनाई नहीं होती। वह झूठे गवाह खड़े कर लेती है। मुशर्रफ़ टमटम वाला एक ऐसा ही गवाह है। जो सच्चे गवाह हैं, वे यदि सच्ची घटना का बयान

१. नेत्रोन्मीलन—मिश्रबन्धु—पृ० ७

कर दें तो मुकदमा बिगड़ जाय। इससे पुलिस और वादी के वकील को यह देखना पड़ता है कि गवाह एक खेत की और एक खलिहान की न कहे।[1] इस प्रकार गवाहों को सिखाया जाता है कि उनको कहना क्या है। आँखों देखी बात को भुला कर पुलिस की डायरी में दर्ज की हुई घटना का समर्थन, वादी का गवाह जब करने लगता है तो वह टूटता है और जिरह में उसकी मिट्टी पलीद होती है।[2] जैसे वादी झूठे गवाहों के सहारे मुकदमा खड़ा करता है वैसे ही प्रतिवादी को भी झूठे ही गवाह खड़े कर, अपना बचाव करना पड़ता है और जिरह में उसके गवाह भी टूटते हैं। 'नेत्रोन्मीलन' में प्रतिवादी पक्ष का गवाह रामानन्द स्वामी एक ऐसा ही गवाह है।[3] तभी तो बड़े ही पुरलुत्फ़ ढंग से कचहरी में यह सिद्ध होता है कि पुलिस गवाह को बयान देना सिखाती है। मधुकर के पक्ष में गवाही देने के लिए खड़ा होने वाला रमज़ान एक ऐसा ही दृश्य उपस्थित करता है।[4]

मिश्रबन्धु के सामने प्रश्न है, पुलिस ईमानदारी क्यों नहीं बरतती, अपनी डायरी में झूठे सनहे क्यों दर्ज करती है? इस प्रश्न पर सोच कर उन्होंने बताया है कि पुलिस को अल्प-वेतन मिलता है और इस कारण उससे उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह पूरी ईमानदार हो।[5] और फिर यदि लोग झूठी गवाही न दें तो कौन दारोग़ा एक मामले में भी ज़ुल्म कर सकता है? यहाँ तो हालत यह है कि बिना दबाव पड़े, लोग सच्चे मामलों में भी गवाही नहीं देते। सबसे बड़ी बात तो यही है कि सरकार फ़रिश्ते कहाँ से उतार लाये थानेदारी करने के लिए। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसी प्रजा होती है, वैसी ही सरकार होती है। हमारा नैतिक चरित्र यदि गिरा हुआ है तो पुलिस कैसे उन्नत-चरित्र हो सकती है?[6] सिद्ध है, मिश्रबन्धु के समक्ष पुलिस की अनैतिकता और मनमानी समस्या बन कर खड़ी नहीं है—खड़ी है प्रजा की चरित्र-हीनता।

कचहरी में इन झूठे-सच्चे मुकदमों के चलाने वाले होते हैं मुख़्तार और वकील। वकील शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए इस 'नेत्रोन्मीलन' नाटक का एक पात्र कहता है—'वकील व(ह) कील है जहाँ मवक्किल हलाक होते हैं।'[7] एक दूसरी उक्ति भी इस प्रकार कही गयी है :

---

१. नेत्रोन्मीलन—मिश्रबन्धु —पृ० १८
२. ३. वही— —पृ० ७०-८० । पृ० ९६-१०२ ।
४. नेत्रोन्मीलन—मिश्रबन्धु—पृ० ८२ : 'हुजूर मेरा कुछ कुसूर नहीं। मुझसे कानिस्टिबिल साहब ने कहा था कि अदालत में तुमसे जो कहा जावे वही कहना'
५. वही— —पृ० ६१ : 'छोटी तनख्वाह वाले लोग कैसे पूरे ईमानदार हो सकते हैं ?'
६. वही—
७. नेत्रोन्मीलन—मिश्रबन्धु—पृ० ९० ।

गोल मोल वोलत मुकीलन सों आठो जाम लीन्हें भील कैसी डील
ताल के न सुर के।
निपट बेसील चील ऐसे मँड़रात फिरैं माई के न बाप के न
भाई के न गुर के ।।
धारे नील अम्बर चबात जात खीलन को कील काँटे सों
दुरुस्त पै न साफ उर के।
मील मील धावत हैं पील इन चारो लेत निपट बखील ये
वकील झामपुर के ।।[1]

वकील यह नही चाहते कि मुकदमे का फ़ैसला जल्द हो जाय। वे मुवक्किल से अधिक-से-अधिक झटक लेने की फ़िक्र में रहते हैं।[2] कचहरी के अमले अलग से आफ़त बने रहते हैं। पेशकारों के चरित्र का निरूपण करते हुए इस नाटक में कहा गया है :

कार बड़ो पेसकार को पाय कै धर्म को मूल नसावन लागे।
ग्वाहन को घुरकी बतराय कै आपनो ढंग जमावन लागे ।।
बैठि समीप ही हाकिम के तरफैन को सैन चलावन लागे।
मुद्रिका पाँच लिये जब ही तब झूठ को साँच बनावन लागे ।।[3]

हाकिम है, जो मुकदमा खारिज करने को ही इन्साफ़ करना समझता है। वह खुले-आम कहता है कि वह काम साफ़ करने आया है, इन्साफ़ करने नहीं। बात यह है कि सरकार में नक्शे ही तो देखे जाते हैं। जिसका काम अधिक होता है, उसकी प्रशंसा विशेष रूप से होती है। इससे सरकारी अफ़सर काम की उत्तमता का ख़याल उतना नही करते, जितना वे काम साफ़ करने का ध्यान रखते हैं।[4]

कचहरी, पुलिस और वकील के शोषण के इस यथार्थ का चित्र उपस्थित करने के साथ ही नाटककार ने कतिपय सामाजिक समस्याओं की ओर भी इशारा किया है। बार-लाइब्रेरी में बैठे हुए वकील लोग आपस में विधवा-विवाह के प्रश्न पर विवाद करने लगते हैं। नाटक-कार ने इस प्रश्न पर कहलाया है कि विधवा का विवाह न करना अच्छा है, लेकिन जैसे शास्त्र के आदेश के प्रतिकूल लोग झूठ बोलते हैं और तदर्थ जाति-बहिष्कृत अथवा पतित नहीं घोषित होते, वैसे ही विधवा पुनर्विवाह करने

---

१. नेत्रोन्मीलन—मिश्रबन्धु—पृ० ६२।
२. वही— —पृ० ६६—मुकदमे टिकते ही नहीं, दायर हुआ नहीं कि फैसला रक्खा है। दो पेशियों से ज्यादा मेहनताना ही हाथ नहीं आता।
३.४. वही— पृ० ६२। पृ० ८८।

पर दूषिता नहीं हो जाती ।[1] नाटककार की दृष्टि में सबसे बड़ी बुराई है अल्प-वयस के बच्चे-बच्चियों का विवाह अथवा लेखक के शब्दों में 'बिला सिने बुलूगियत के पहुँचे शादी' ।[2] नाटककार का निश्चित मत है कि जब तक बाल-विधवाओं का होना बन्द न हो जाय तब तक विधवा-विवाह को रोकना मानो पाप की वृद्धि करना है ।[3] कहना नहीं होगा कि मिश्र-बन्धु के ये विचार वैसे ही हैं, जैसे भारतेन्दु के थे । सरकारी कचहरी में न्याय किस प्रकार किया जाता है और न्याय कितना मँहगा पड़ता है, वह इस नाटक से स्पष्ट होता है । आलोचना के नाटक-विशेषांक में डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने हिन्दी-नाटकों में 'मध्यवर्गीय वस्तुतत्व का विकास' शीर्षक निबन्ध में यह लिखा है कि 'नेत्रोन्मीलन' में महाजन और कर्ज़दार का संघर्ष वर्णित है ।[4] किन्तु, नाटक के अध्ययन से ऐसे किसी संघर्ष का पता नहीं चलता । जिस बाग़ को ले कर मधुकर शुक्ल और अमीर अली का झगड़ा हुआ है, वह पहले सुकेत नामक एक किसान का था । उस सुकेत ने उसे अस्सी रुपये में अमीर अली के यहाँ रेहन रखा था । अमीर अली सोचता था कि यह रेहन कभी वापस नहीं होगा क्योंकि वापस लेने के लिए सुकेत के पास रुपये ही कभी नहीं होंगे । इससे सभी तरह से उस बाग़ को अपनी कायमी जायदाद समझ कर अमीर अली ने उस पर और भी पेड़ उगाये थे, बाग़ की हैसियत में सुधार किया था । लेकिन सुकेत वह बाग़ कुछ दिनों के बाद मधुकर शुक्ल के हाथ चार सौ रुपये ले कर बेच देता है और अमीर अली का उस पर जो अधिकार था, मधुकर के हाथ आ जाता है । इस कथा में कर्ज़दार सुकेत और महाजन अमीर अली के संघर्ष का कहीं उल्लेख नहीं होता । कर्ज़दारी की समस्या यहाँ इसी रूप में आयी है कि जिस बाग़ की कीमत एक हज़ार होनी चाहिए उसके लिए मधुकर से सुकेत को कुल चार सौ रुपये मिलते हैं । सुकेत अपनी विवशता और मन्दभाग्यता की चर्चा करते हुए इतना ही कह पाता है— 'हमरे पुरिखा अमीर के बाप के हियाँ ८०) पर हाथा बाहूँ बाग गिरौं कै कै कब्जा दै दिहिन रहै, जब छोड़ावै पर भैन, तब इगिर-दिगिर करै लाग, बोले हमार मुखालफाना कब्जा चला आयति है । वहै फिरि हजार ,रुपयाक मालु सुकुल जी कै हाथ ४००) पर बेंचि डारा । एकु एकु विरवा उड विहंगम ठाड़ है कि कहति नाई बन्ति है ।'[5] सुकेत के इस कथन से भारत के विपन्न किसान की, जिस पर कर्ज़ और महाजन कुंडली मार कर बैठे हैं, पीड़ा का अनुमान होता है । सुकेत के इस कथन से महाजन-कर्ज़दार के संघर्ष की समस्या व्यंजित नहीं होती ।

हिन्दी-नाटकों के 'हरिश्चन्द्र-स्कूल' और 'प्रसाद-स्कूल' की मध्यवर्त्ती कड़ी के रूप में जिन पं० बदरीनाथ भट्ट का उल्लेख किया जाता है, उनका महत्व इस बात को

१. नेत्रोन्मीलन—मि० ब०—पृ० ८६
२. ३. वही— —पृ० ८७ ।
४. आलोचना (१९) नाटक-विशेषांक—पृ० ११९
५. नेत्रोन्मीलन—मिश्रबन्धु—पृ० ४८-४९

ले कर तो है ही कि उनके नाटक 'कुरुवन दहन' से नाटक के शिल्प के क्षेत्र में एक बदली हुई प्रवृत्ति की सूचना मिली किन्तु इसके साथ ही उनका महत्व इस कारण भी है कि उन्होंने थोड़े वैसे प्रहसन भी रचे, जिनमें समसामयिक समस्या तथा समयुगीन जीवन की विकृतियों पर हास्य-व्यंग्य के सहारे प्रकाश डाला गया है। इनके प्रहसनों में 'चुंगी की उम्मीदवारी,', 'लबड़धोंधों,' 'विवाह-विज्ञापन,' 'मिस अमेरिकन' आदि मुख्य हैं। 'चुंगी की उम्मीदवारी' प्रहसन का विषय चुनाव-दुर्योवन है। इसमें आजकल की चुनाव-पद्धति पर व्यंग्य किया गया है। 'विवाह-विज्ञापन,' में बताया गया है कि एक के बाद दूसरा विवाह करते जाने वाले व्यक्ति की क्या दुर्गति होती है। इस प्रहसन के नायक बेचैनीराम का रोना यह है कि उसके जैसे गुणवान, अत्यन्त सुन्दर सुशिक्षित, सुप्रसिद्ध, सुलेखक, सुकवि, सुस्वस्थ, सुसमृद्धिशाली वर के लिए—जिसने हैज़े की दवा मुफ़्त बाँटी, सेवा-समिति का मेम्बर बन कर प्लेग के समय इतने मुर्दे ढोये, नागरी प्रचारिणी सभा का सदस्य[२] हो कर राष्ट्र-भाषा को इतनी सेवा की, भारत की पाँच करोड़ विवाह-योग्य कन्याओं में एक का भी ठाँर ठिकाना नहीं लग पा रहा है। अस्तु, वह अपने विवाह के लिए समाचार-पत्र में एक विज्ञापन छपवाता है। इसके बाद उसको मिलती है बाल्टी देवी, जिसका सब कुछ नकली है। उसके जिन बालों को देख कर बेचैनीराम को मेनका की याद हो आयी थी उन पर बाल्टीदेवी के पिता जी के पूरे पाँच सौ रुपये खर्च हुए हैं और वे पेरिस से आये हैं। बाल्टी देवी की जिस नासिका को देख बेचैनीराम को लगाथा कि वह ब्रह्मा धन्य है जिसने वह नाक गढ़ी, वह नासिका जिस ब्रह्मा की रचना है, उसका नाम है हर्मन, जिसे दो हज़ार रुपये दे कर बाल्टी ने नाक पायी है। वैसे ही उसकी निर्मल दंत-पंक्ति भी एक हज़ार रुपयों की देन है विधाता की नहीं। संक्षेप में यह बाल्टी देवी अपने भावी पति को, यदि उसे धीरज रह सके, विलायती कारीगरी के तरह-तरह के नमूने दिखा कर अपने सौन्दर्य की छटा दिखा सकती है।[३] 'मिस अमेरिकन' प्रहसन में भट्ट जी ने पश्चिमी भौतिकवादी सभ्यता के प्रति व्यंग्य किया है। इनके दूसरे प्रहसनों में 'पुराने साहब का नया नौकर' मे परिवार की कटुता, 'आयुर्वेद कसेरू वैद्य बैगनदास जी कविराज' में वैदकी के खोखलेपन, 'घोंघा बसन्त विद्यार्थी' में नयी शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की मरम्मत की गयी है। 'एडीटर की धूल दच्छना' में पत्रकार की मुसीबतों का उल्लेख है और 'हिन्दी की खींचा-तानी' में हिन्दी के प्रचार के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार इनके प्रहसनों के द्वारा एक ओर समसामयिक समस्याओं तथा उनकी विकृतियों पर हास्य-व्यंग्य के सहारे प्रकाश डाला गया है[४] तो दूसरी ओर शिक्षा भी दी गयी है।

---

१. विवाह विज्ञापन—बदरीनाथ भट्ट—पृ० १५
२. वही— —पृ० ३
३. विवाह विज्ञापन—बदरीनाथ भट्ट—पृ० ११४
४. हिन्दी साहित्य कोश—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—(बदरीनाथ भट्ट—डॉ० देवीशंकर अवस्थी) पृ० ३४२।

भट्ट जी के इन प्रहसनों पर फ्रांसीसी हास्य-नाटककार मोलियर का भी कुछ प्रभाव है—ऐसा डॉ० देवीशंकर अवस्थी ने बताया है।[१]

मोलियर का रंग गंगा प्रसाद श्रीवास्तव (जो जी० पी० श्रीवास्तव के नाम से सुविख्यात हैं) के ऊपर ख़ूब गहरा पड़ा। मोलियर के कई नाटकों का अनुवाद श्रीवास्तव जी ने किया। 'मार मार कर हकीम' शीर्षक उनके प्रहसन-संग्रह में मोलियर के तीन नाटकों का अनुवाद संकलित है। संग्रह का 'मार मार कर हकीम' Le Medecin Malgre Lui, 'आँखों में धूल' L' Amour Medecin तथा 'हवाई डाक्टर' Le Medecin Volant के हिन्दी-रूप हैं। जी० पी० श्रीवास्तव की अन्य कृतियों में 'गड़बड़ झाला' जिसमें वृद्धों की कामुकता, 'बंटाधार' जिसमें सूदखोर महाजन के चरित्र-स्खलन, 'लकड़बग्घा' जिसमें ऋण की समस्या, 'करिया अच्छर भैंस बराबर' जिसमे निरक्षरता से होने वाली हानियों की चर्चा, तथा 'दुमदार आदमी' जिसमें अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त स्नातक की दयनीयता का उल्लेख हुआ है मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त 'भूल-चूक' नामक एक रचना है, जिसमें लेखक ने विधवा-विवाह के औचित्य का समर्थन किया है। साहित्यकार तथा पत्रकार की स्थिति का उल्लेख करते हुए श्रीवास्तव जी ने क्रमशः 'साहित्य का सपूत' और 'पत्र-पत्रिका सम्मेलन' शीर्षक नाटक लिखा था। श्रीवास्तव जी के 'मोहिनी' शीर्षक एकांकी का डॉ० रामचरण महेन्द्र ने विशेष रूप से उल्लेख किया है और बताया है कि उसमें 'कृत्रिम तथा पुरानी जीर्ण-शीर्ण परम्परा वाले गन्दे साहित्य पर व्यंग्य तथा स्वाभाविकता एवं मनोविज्ञान की गहराइयों का प्रतिपादन करने वाले यथार्थवाद का अनुमोदन है।'[२] इस कृति से यह सूचना मिलती है कि हिन्दी नाटकों के द्वारा साहित्य-धारा के परिवर्तन तथा यथार्थवाद के स्वीकार का आन्दोलन भी चला। जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों के विषय में उनके गुरु श्री सी० जे० ब्राउन ने कहा था:

Mr. Shrivastava has introduced a new attitude of looking at life, new to India at least, and his study of Moliere has enabled him to put a new edge to his humour. Yet the matter is Indian enough, and Mr. Shrivastava is an acute observer, with a real talent for writing lively dialogue.[३]

श्री ब्राउन ने ही आगे यह बताया है कि श्रीवास्तव जी ने अपने युग की उस तरुणाई के लिए लिखा है, जिसके समक्ष समाज के बूढ़ों का प्रतिबन्ध था। पुराचीनता और नवीनता के इस संघर्ष को अपने ध्यान में रख कर ही जी० पी० श्रीवास्तव ने अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं।[४]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश—सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—(बदरीनाथ भट्ट—डॉ० देवीशंकर अवस्थी) पृ० ३४२।

२. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—डॉ० रामचरण महेन्द्र—पृ० १०२

३. मार मार कर हकीम—Foreword—C. J. Brown—पृ० ६-७

४. मार मार कर हकीम—Foreword—C. J. Brown—पृ० ७ :

विवेच्य-काल में जीवानन्द शर्मा, हरिशंकर शर्मा, तुलसीदत्त 'शैदा,' चंडी प्रसाद हृदयेश, डॉ० सत्येन्द्र आदि ऐसे प्रहसन-लेखक हुए, जिनके विषय कमोबेश वे ही थे, जो भारतेन्दु-युग के प्रहसनों के थे। विवाह-विषयक कुरीतियों जैसे बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, बहु-विवाह, दहेज, कन्या-विक्रय आदि की ओर इन लेखकों ने विशेष रूप से ध्यान रखा। जीवानन्द शर्मा का 'बाबा का ब्याह,' हरिशंकर शर्मा का 'बुढ़ऊ का ब्याह,' तुलसीदत्त शैदा का 'लज्जा,' चंडी प्रसाद हृदयेश का 'विनाश लीला' और डॉ० सत्येन्द्र का 'दहेज' हमें इसी निष्कर्ष पर ले जाते हैं। ये विषय भारतेन्दु-युग से ही लेखकों के प्रिय विषय थे। बँगला के प्रसिद्ध नाटककार दीनबन्धु मित्र ने भी वृद्ध-विवाह को ले कर 'बिए पागल बूढ़' नामक नाटक लिखा था। बँगला नाटक का अनुवाद बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने 'बूढ़ा वर' शीर्षक से प्रकाशित कराया था। विवाह-विषयक कुरीतियों के आगे जिस विषय की ओर हरिश्चन्द्र-स्कूल के लेखकों का ध्यान आता था वह था जुआ, शराब, वेश्यागमन में पड़ कर आदमी की बर्बादी। विवेच्य-युग में बदलती हुई परिस्थितियों के कारण नयी समस्याएँ खड़ी हुईं। इस युग में विवाह के प्रश्न से सम्बद्ध नये प्रश्न खड़े हुए। ऐसे ही एक नये प्रश्न को ले कर प्रेमचन्द जी ने 'प्रेम की वेदी' शीर्षक नाटक लिखा, जिसका कथानक एक अंक के सात दृश्यों मे विभाजित है। इस एकांकी में भिन्न धर्मों के प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम तथा विवाह की समस्या की प्रस्तुति हुई है और समाज के ढकोसलों, कृत्रिम प्रतिबन्धों, धार्मिक रूढ़ियों, वर्ण-भेद आदि के ऊपर व्यंग्य किया गया है। प्रेमचन्द का आदर्शवादी सुधारक-रूप जिसके निर्माण में आर्य-समाज की प्रेरणा भी इस एकांकी में सुरक्षित है। इसमें उन्होंने भिन्न-धर्म के प्रेमियों के विवाह का समर्थन किया है। इस नाटक से स्पष्ट है कि हमारा मानस सामाजिक-धार्मिक अर्थताओं को पार कर कहाँ जाने का उपक्रम कर रहा था।

नये ज़माने के कुछ और नये विषय लेखकों के सामने आये। देश में अंग्रेज़ों की खुशामद और उनके रीति-रिवाज की नकल होने लगी थी। इस प्रकार भौतिक गुलामी के साथ-साथ ही बौद्धिक गुलामी भी देश पर चढ़ी जा रही थी। अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार से अंग्रेज़ियत का रंग दिनानुदिन गाढ़ा होता जा रहा था। शासन के ख़ुशामदी, ओहदे पा कर निहाल होने लगे थे। विवेच्य-युग में प्रहसनों के द्वारा इस स्थिति पर करारा व्यंग्य किया गया। 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' की पदवी पाने वाले लोग इस व्यंग्य के सीधे शिकार हुए। बात यह थी कि जिन लोगों को न लियाकत थी और न न्याय-विवेक था, उनको सरकार ने केवल खुशामद पर दंडाधिकारी बना कर न्याय-विधान का

—His readers are either young or just entering upon middle age; the leaven of Western thought is still working there, but conservative forces are still strong. Moulvi Saheb still commands the respect of the older generation but is frequently merely an object of mirth with the younger.

अधिकार दे रखा था। सुदर्शन ने इसी को ले कर 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' शीर्षक एक ऐसा एकांकी लिखा, जिसमें दो बज्र गँवार मजिस्ट्रेट बन कर न्याय का गला घोंटते हैं। इन मूर्ख न्यायाधीशों का मजाक उड़ा कर सुदर्शन यह दिखाना चाहते हैं कि अंग्रेज़-शासक न्याय के प्रति कितने सन्नद्ध हैं। पं० रूपनाराण पांडेय रचित 'प्रायश्चित' शीर्षक प्रहसन भी ऐसी रचना है, जिसका विषय है देशी मुर्गी विलायती बोल।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने प्रहसन-रचना के क्षेत्र में पदार्पण कर कुछ ऐसी कृतियाँ प्रस्तुत कीं, जो अंग्रेज़ी के 'सेटायर' के निकट पड़ती हैं। त्रिपाठी जी ने बताया है कि 'प्रहसन' शब्द 'सेटायर' के बहुत निकट का शब्द तो है, कम से कम 'व्यंग्य' के मुकाबले अधिक मौजूँ शब्द ज़रूर है लेकिन यह 'सेटायर' के साँचे के लिए छोटा पड़ता है। असल में 'सेटायर' के पर्यायवाची शब्द को हमें अब भी सोचना ही है। त्रिपाठी जी की कृतियाँ 'सेटायर' हैं, उन्हें 'विद्रूपात्मक प्रहसन' कहना चाहिए किन्तु बड़ा होने से शायद यह शब्द चल न पाये। इसी से विवशता की स्थिति में उन्हें 'प्रहसन' की संज्ञा दी गयी है। स्पष्ट है, त्रिपाठी जी 'प्रहसन' से आगे बढ़ कर 'सटायर' तक आने के प्रयासी हैं।[1] विद्या के क्षेत्र में पश्चिम की ओर यह झुकाव ध्यान देने योग्य है। हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव आगे चल कर और भी करारा पड़ता है। 'दिमागी ऐयाशी' में संकलित त्रिपाठी जी के विद्रूपात्मक प्रहसनों मे 'कवियों की एसेम्बली,' 'नख-शिख,' 'नायिका-भेद' और 'कवियों की कहानियाँ' ऐसे नही है जिनको नाटक की संज्ञा दी जा सके किन्तु 'स्त्रियों की एसेम्बली,' 'छायावादी कवि और चित्रकार,' तथा 'कवि' ऐसी कृतियाँ हैं, जो नाटक की श्रेणी में परिगणित होंगी। त्रिपाठी जी ने कहा है कि कवि लोग औरों का मज़ाक उड़ाया करते हैं, अपने प्रहसनों मे उन्होंने कवियों का मज़ाक उड़ाया है।[2] कविता में अवांछनीय कामुकता तथा आधार-च्युत अतिशयोक्तियों की जो धारा बह रही थी, उसकी गति को मन्द कर देना त्रिपाठी जी के इन प्रहसनों का उद्देश्य है।[3] लेखक यह मानते हैं कि जो कवि वर्तमान के साथ न चलेंगे, भूत उनको खा जायगा![4] उनको यह देख कर कष्ट होता है कि हिन्दी के कवि वर्तमान में नहीं हैं। उनको वर्त्तमान में आने की प्रेरणा देने के लिए ही ये नाटक लिखे गये। त्रिपाठी जी के इन प्रहसनों से प्रकट है कि साहित्य-क्षेत्र में पर्यायवाची दृष्टि के अपनाने पर उस काल में बल दिया गया! ऊपर सुदर्शन रचित जिस 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' की चर्चा की गयी, वह भी नवीन यथार्थवादी पद्धति की ही एक रचना है। साहित्य के क्षेत्र में परिष्कार का आन्दोलन खड़ा करने वाले कुछ अन्य नाटकों के नाम इस प्रकार हैं: 'हिन्दी की खींचा-तानी' लेखक बदरीनाथ भट्ट, 'साहित्य का सपूत,' 'मरदानी औरत' और 'पत्र-

---

१. दिमागी ऐयाशी—भूमिका -पं० रामनरेश त्रिपाठी—पृ० ७-८
२. ३. वही— —पृ० ५। पृ० ६
४. वही— —

पत्रिका सम्मेलन' लेखक जी० पी० श्रीवास्तव, 'साहित्य सेवा'—लेखक लोचन प्रसाद।

लोचन प्रसाद रचित 'साहित्य-सेवा' नाटक एक प्रहसन है और उसके चार अंक है। सन् १९१४ में हरिदास एंड कम्पनी, कलकत्ता ने उसका प्रकाशन कराया। इस नाटक का मुख्य पात्र है एक साहित्य-सेवी—श्री गोविन्द प्रसाद जिसको इस बात का रंज है कि दादाभाई नौरोजी से लेकर लाला लाजपत राय प्रभृति राष्ट्रकवियों ने स्वतंत्रता का जो शंखनाद किया है, उसकी गूंज साहित्य में भरपूर नहीं उठ पायी है। वह स्वयं आगे बढ़ने को तैयार है और चाहता है कि नवयुवकों की एक उत्साही टोली उसके साथ हाथ बँटाये।[1] साहित्य की सेवा काँटों की शय्या है। इस नाटक का एक पात्र कहता ही है—साहित्य-सेवा करे वही बेशरम, फूटा हो जिस बेवकूफ का करम।[2] इस नाटक के दूसरे अंक में साहित्य-सेवी की कठिनाइयों का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ग्रन्थ-प्रकाशन की क्या-क्या बाधाएँ है। एक तो प्रकाशक नहीं मिलता, कहीं मिला तो खरीदार नही मिलता और अन्त मे ग्रन्थ पंसारी की दूकान पर जीरा-धनिया बाँधने के काम आता है।[3] इसी दूसरे अंक में हिन्दी-कविता की दुर्गति का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इससे आगे बढ़ कर लेखक ने यह भी बताया है कि गोविन्द प्रसाद हिन्दी का एक समाचार-पत्र निकाल कर किस फ़रेब में पड़ जाता है। फिर भी गोविन्द प्रसाद को कोई शिकायत नही है। यह जानता है कि लक्ष्मी और सरस्वती का कभी साथ नहीं होगा। यदि यह साथ हो पाता तो माइकेल मधुसूदन दत्त जैसे कवि को विदेश में जा कर दर-दर भीख माँगनी पड़ती ? उनके बाल-बच्चों को अनाथालय में आश्रय लेना पड़ता ? उसके सामने भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, जयदेव कवि, गोल्डस्मिथ, बौगेलस, केमीइन्स, सर्वेन्टीज़ आदि का दृष्टान्त है, जिससे सिद्ध है कि साहित्य-सेवा का अन्तिम परिणाम है विपन्नता[4] और उसको अंगीकार करने के लिये वह तैयार है। स्पष्ट है, इस नाटक के द्वारा साहित्यकारों की हिम्मत बढ़ायी गयी है और उनसे कहा गया है कि साहित्य-सेवा का धनोपार्जन के साथ सर्वथा वैपरीत्य का नाता है। इस प्रकार इन प्रहसनों में साहित्य और साहित्यकार, हिन्दी पत्र-पत्रिका तथा पत्रकार की कठिनाइयों का उल्लेख हुआ और फिर उन कठिनाइयों से संघर्ष करने की प्रेरक, बलवती प्रेरणा भी जगायी गयी। हिन्दी की सेवा राष्ट्र की सेवा है और राष्ट्र-सेवा हमारा पुनीत कर्त्तव्य है यह संदेश ले कर ये नाटककार जन-समाज के सामने उपस्थित हुए।

'हरिश्चन्द्र-स्कूल' और 'प्रसाद-स्कूल' के नाटकों की मध्यवर्ती कड़ी रूप में जिन नाट्य-कृतियों का उल्लेख होता है उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने हरिश्चन्द्र-स्कूल के नाटककारों की समस्याएँ तो लीं ही, साथ ही बदलती हुई परिस्थितियों और तज्जन्य समस्याओं पर भी नज़र रखी। समयुगीन समस्याओं का चित्रण इस खेवे के

---

१. साहित्य-सेवा—लोचन प्रसाद—पृ० ७

२. ३. ४. वही— —पृ० ६ —पृ० ११—पृ० ३५-३७

नाटककारों ने प्रहसनों के माध्यम से अधिक किया। इसका कारण यह था कि जन-सामान्य का आग्रह तमाशे के प्रति ही अधिक रहा। गम्भीर नाटकों के देखने-खेलने का संस्कार अभी तक जम कर आया भी नहीं था। इससे छोटे लुभावने प्रहसन ही चल सकते थे।

इन प्रहसनों का एक महत्व यह भी है कि इनके द्वारा हिन्दी-नाटकों में यथार्थवाद का सन्निवेश हुआ। नाटक जीवन के अधिकाधिक निकट आने लगे। इस प्रकार समस्या-नाटकों की रचना के लिए इनसे बड़ी प्रेरणा प्राप्त हुई।

अब हम हिन्दी नाटकों के विकास के उस अध्याय में पहुँचते हैं, जिसे 'प्रसाद-स्कूल' की संज्ञा प्राप्त हुई है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों में समस्या

हिन्दी नाटकों के इतिहास में जयशंकर प्रसाद का महत्व सदा अक्षुण्ण रहेगा। यह इसलिए कि उन्होंने हिन्दी नाटकों को एक नयी गति दी, एक नया आयाम दिया। प्रारम्भ में प्रसाद जी ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को ही अपना आदर्श बनाया और उनकी ही शैली अपना कर, 'सज्जन' की रचना की। किन्तु, आगे चल कर भारतेन्दु की परम्परा से वे बहुत दूर, आगे निकल आये। जिस समय प्रसाद जी ने नाटकों की रचना आरम्भ की, उस समय हिन्दी में बंगला के द्विजेन्द्र लाल राय के ऐतिहासिक नाटकों की बड़ी धूम थी। हिन्दी भाषा-भाषियों के बीच राय महोदय इतने लोकप्रिय थे कि प्रसाद को उन्हें ध्यान में लेना ही पड़ता। राय महोदय ने प्रसाद जी का ध्यान इतिहास की ओर खींचा और 'विशाख' की रचना करते समय प्रसाद जी ने एक नयी प्रतिज्ञा की। वह नयी प्रतिज्ञा उनके ही शब्दों में इस प्रकार है: 'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्त्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है, और जिन पर कि वर्त्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।'[1]

इतिहास के पृष्ठों को इस प्रकार पलट कर प्रसाद जी एक ओर अपनी गरिमा-पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहते थे और दूसरी ओर इतिहास के प्रमाण पर देश की दुर्दशा के कारणों का अनुसन्धान कर रहे थे। अपने युग के लोक समाज की समस्याओं का समाधान भी प्रसाद जी अपने इतिहास के पन्नों में ही ढूँढ़ रहे थे। इस प्रकार नाटककार प्रसाद जी केवल इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने वाले नहीं हुए, वरन् उनके ऐतिहासिक नाटकों ने देश मे सांस्कृतिक चेतना फैलायी और अतीत को पटभूमि पर वर्त्तमान की समस्याओं का विचार कर, भविष्य का सुनहला सपना भी दिखाया।

यों तो प्रसाद जी ने 'चन्द्रगुप्त मौर्य' जैसे अपने ऐतिहासिक नाटक में भी

---

१. विशाख—भूमिका—जयशंकर प्रसाद

अवसर बना कर अपने वर्त्तमान की क्षुद्र प्रान्तीयता-क्षेत्रीयता की संकुचित दृष्टि को एक तरह की समस्या समझ कर ही उठाया और बताया कि भारत की अखंडता, एकता और विशालता का ही हमें स्मरण करना चाहिए, उसकी क्षुद्र इकाइयों का नहीं। यह इसलिए कि प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता ऐसी क्षुद्र इकाइयाँ हैं, जो हमें बाँधती है, बाँटती हैं और उनके रहते आर्यावर्त्त की विशाल कल्पना हम कर ही नहीं सकते। तथापि विषय के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से हम उनके तीन ही नाटक—'कामना,' 'एक घूँट' और 'ध्रुवस्वामिनी' का विचार करना यहाँ उचित समझते हैं।

कामना : 'कामना' प्रसाद जी का एक ऐसा नाटक है, जो प्रसाद के अन्य नाटकों से बहुत भिन्न है। इस नाटक में सन्तोष, विनोद, विलास, विवेक, दम्भ, कामना, लालसा, लीला, करुणा, प्रमदा, महत्वाकांक्षा आदि भाव-वृत्तियों को पात्रत्व प्राप्त हुआ है। इस नाटक में एक ऐसी जाति की कथा कही गयी है, जो जीवन के प्राथमिक प्रसन्न उल्लास का सुख भोगती है; प्रकृति के साहचर्य में जीवन के खेल खेलती है; और ऐसी भोली-भाली है कि पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, विधि-निषेध की द्विविधा को भी नहीं जानती। उसके जीवन में न कोई अभाव है और न कोई संघर्ष। फूलों के उस द्वीप मे, जिसमे तारा की ये सन्तानें बसती हैं, न कोई शासक है और न कोई शासित। द्वीप में व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसी कोई वस्तु नही, प्रकृति की विभूतियों का आवश्यकतानुसार सभी प्राणी उपभोग करते हैं, इस विषय में कहीं कोई रोक-टोक नहीं। इस जाति के लोग उपासना का नेतृत्व करने के लिए अपना एक प्रधान चुन लेते हैं और तब तक उसे नेता मानते रहते हैं, जब तक वह अयोग्य प्रमाणित नही होता।

समुद्र के उस पार के किसी देश से विलास नामक एक साहसी पुरुष फूलों के इस द्वीप में आ धमकता है! यह विलास अपने कुकर्मो के कारण अपने देश से निर्वासित हुआ है और अब चाहता है कि इस सरल जाति का शासक बन जाय। अपने स्वार्थ की इस एषणा की पूर्ति के निमित्त वह इस द्वीप के निवासियों को अपने सोने की ओर ललचाता है, उनके बीच मदिरा का प्रचार कर वह उन्हें पतित, उच्छृंखल और उन्मत्त बनाता है और मृगया में प्रवृत्त करा उन्हें हिंसक बनाता है। द्वीप की नेत्री कामना के हृदय में असन्तोष का भाव जगा कर, वह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता है और उसके महत्व तथा पद का लाभ उठा कर [illegible] का मंत्र-द्रष्टा बन बैठता है। पवित्र पक्षियों के माध्यम से पिता परमेश्वर का संदेश सुनने वाली इस जाति को अब मनुष्य (विलास) से उपदेश सुनना पड़ता है। यह विलास द्वीपवासियों को बताता है कि पाप और पुण्य क्या है, अपराध और दंड क्या हैं, नरक और स्वर्ग क्या है, परम पिता को परम प्रेममय सत्ता के रूप में जानने वाले, फूलों के द्वीप के निवासियों को विलास सुझाता है कि वही पिता परमेश्वर नियम-भंग के अपराध पर अपने पुत्रों को दंड दिया करता है। इस प्रकार परम प्रेमनिधि परमेश्वर को विलास ने अब भय का कारण बना दिया।

उपासना की नेत्री कामना अब रानी-पद पर प्रतिष्ठित होती है और इस प्रकार द्वीप में राजतंत्र का सिलसिला खड़ा होता है। फिर राजसत्ता की संरक्षा के लिए सेना खडी होती है, कारागार बनाये जाते है और अपराध-विचार के लिए न्याय-मंत्री चुना जाता है। सोने की मरीचिका द्वीप-निवासियों को ऐसा भरमाती है कि वे विवेक को सिरफिरा पागल मान बैठते हैं। द्वीप-निवासियों के बीच मदिरा का इतना अबाध प्रचलन होता है कि उनकी सोचने-विचारने की शक्ति कुंठित हो जाती है। प्राप्त से सन्तोष न करके अप्राप्य के लिए लोग संघर्ष करने लगते हैं। एक शब्द में सभ्यता की सारी बुराइयाँ उस समाज में आ जाती हैं। प्रस्तुत नाटक का एक सुधी पात्र है—विवेक, जो इस बात पर हैरान है कि फूलों के द्वीप के ये निवासी सभ्य हो कर क्या होते जा रहे हैं! वह देख रहा है कि अब द्वीप के बच्चे दुर्बल, चिन्ताग्रस्त और झुके हुए दिखायी देने लगे है। स्त्रियों के नेत्रों में विह्वलता सहित और भी कैसे-कैसे कृत्रिम भावों का समावेश हो गया है। व्यभिचार ने लज्जा का प्रचार कर दिया है।[१] जो विवेकवान है, उन्हें पागल, मूर्ख और पुरानी लकीर पीटने वाला कह कर उनका उपहास किया जाता है।[२] थोड़े से ऐश्वर्यशाली मनुष्य द्वीप भर को दास बना लेते हैं।[३] जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य हो जाता है।[४] अपराध से अपराध-परम्परा की सृष्टि करने वाले अपने द्वीप के सभ्य लोगों से विवेक पूछता है—'तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे भी क्या विशेष असभ्य थे?'[५] विलास की दुर्वृत्ति तथा क्रूरता जब अपने प्रकर्ष पर पहुँच जाती है तब उसके विरुद्ध विद्रोह होता है। स्वयं कामना रानी-पद का त्याग करती है। वह घोषित करती है कि यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार होता है तो उसे वह कदर्थित पद नहीं चाहिए। इतना ही नही बल्कि वह अपने देशवासियों को प्रेरित करती है कि वे नयी सभ्यता के इन्द्रजाल की भयानकता से भागें; मदिरा से सिंचे हुए, चमकीले स्वर्ण-वृक्ष की छाया से दूर ही रहें।[६] प्रजा के इस विद्रोह के परिणाम-स्वरूप विलास और उसकी चहेती लालसा को द्वीप त्याग कर भागना पड़ता है। लेकिन वे भाग भी नहीं पाते। समुद्र की चंचल लहरें उन्हें लील जाती हैं।

'कामना,' एक प्रतीक नाटक है। इस नाटक के द्वारा प्रसाद जी ने भौतिकवाद के विरुद्ध एक मोर्चा खड़ा किया है। 'कामना' की समस्या प्रसाद जी के मानस में इस रूप में जा कर बैठ गयी कि उन्होंने 'कामायनी' में भी इसकी फिर से प्रस्तुति की। 'कामायनी' में कथा आयी है कि मनु ने अपनी श्रद्धा का एक दिन परित्याग किया और वह छुटे तीर के समान भाग निकला। भाग कर वह सारस्वत-प्रदेश पहुँचा और वहाँ की रानी इड़ा के साथ रह कर उसने नवीन सभ्यता का प्रसार किया। किन्तु वह प्रजा-पति मनु श्रद्धाविहीन हो कर ऐसा पतित तथा भ्रष्ट-चरित्र हुआ कि उसने अपनी ही प्रजा

१. कामना—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ ५९।

२. ३. ४. ५. ६—वही—पृ० ५९, ६०, ८०, ८५, १३३।

यज्ञ-सन्तान इड़ा के साथ बलात्कार करना चाहा। इस पर देवशक्तियाँ कुपित हो उठीं और शिव ने उस पर प्रहार करने के लिए अपना नाराच उठा लिया। इस कथा की व्यंजना है कि आदमी श्रद्धाविहीन होने पर इतना भ्रष्टमति हो जाता है कि अपनी ही आत्मजा विभूति के साथ बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है। 'कामना' नाटक में फूलों के द्वीप के अकलुष, निश्छद्म भोले-भाले प्राणियों का प्रजापति विलास भी उच्छृंखल हो जाता है और कामना से अब उसे सन्तोष नहीं होता। उसे चाहिए बिजली के समान वक्ररेखाओं का समर्थन करने वाली, आँखों को चौंधिया देने वाली तीव्र और विचित्र वर्णमाला, जिस हृदय में ज्वालामुखी धधकता हो, जिसे ईंधन का काम न हो, वह दुर्दमनीय तेज-ज्वाला।[1] उसे गरल-हृदया, इन्द्रधनुष के समान उदय हो कर विलीन होने वाली कामना से तृप्ति हो भी कैसे सकती थी? इससे आगे बढ़ कर 'कामना' नाटक में भौतिकता की उच्छृंखला लालसा के कुपरिणामों की ओर भी इशारा किया गया है। प्रश्न है, प्रसाद जी ने इस समस्या का कोई समाधान भी प्रस्तुत किया है या नहीं। 'कामना' की कथा से विदित है कि विलास की छलना से मुक्त कामना को प्रसाद जी ने विवेक की गोद में ले जा कर बैठाया है। विवेक उसे भाग-दौड़ से बचा कर वृक्षों की शीतल छाया में लौटा ले जाने के लिए प्रस्तुत होता है।[2] विवेक द्वारा निर्दिष्ट यह शीतल छाया क्या है? इस प्रश्न का उत्तर हमें ढूंढ़ना चाहिए।

विलास ने फूलों के द्वीप में आ कर देखा था कि वहाँ के निवासी अनियंत्रित जीवन व्यतीत करते है। उसने उन्हें सुझाया है कि नियमपूर्ण संसार में अनियंत्रित जीवन व्यतीत करना मूर्खता है।[3] इससे वह राजतंत्र की व्यवस्था करता है, राजा और प्रजा का वर्ग-भेद खड़ा करता है और फिर राजा के दैवी अधिकार की घोषणा करता है। वह प्रजा को बताता है कि जिस प्रकार ईश्वर असंख्य प्राणियों का, इस समस्त सृष्टि का, अधिपति है, उसी प्रकार राजसत्ता का प्रजा पर अगाध अधिकार है। लेकिन फिर एक ऐसा दिन भी आया जब कामना का रानी-पद शक्तिशाली विलास की कृपा पर अवलम्बित हो गया।[4] विवेक ने ठीक ही समझा है कि मनुष्यता की रक्षा के लिए, पाशवी वृत्तियों का दमन करने के लिए जिस राजतंत्र की व्यवस्था की गयी थी, उसी की आड़ में दुर्दमनीय अपराधों की सृष्टि भी हुई। फल यह हुआ कि अब राजसत्ता ही जनता की समस्या बन गयी। विवेक मानता है कि प्रजा की यह समस्या तब तक भयावह बनी रहेगी, जब तक राजसत्ता अपने अधिकार को सीमित नहीं कर लेती। उसे चाहिए कि जनता को, व्यक्ति को आत्मसंयम और आत्म-शासन सिखा कर आप विश्राम करे! विवेक कहता है कि तभी अपराधों की मात्रा घटेगी और अपराध-वृत्ति का क्रमशः समूल नाश होगा। फिर संघर्षमय शासन स्वयं तिरोहित हो जायगा।[5] विवेक के कहने का तात्पर्य यह है कि राजसत्ता की बढ़ी हुई शक्ति ही अपराध का कारण

१. कामना—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ ६४।

२.३. ४.५. —वही—पृष्ठ १३३, ४६, १०५, १३४-१३५।

बनती है। इससे उसे क्रमशः निर्बल बनाना होगा! राजसत्ता को निर्बल बनाने के लिए ज़रूरी है कि जन-जन अपने दायित्व का अनुभव करे, 'जिये और जीने दे' के सिद्धान्त में विश्वास रखे। स्पष्ट है प्रसाद चाहते हैं कि व्यक्ति में सन्तोष, करुणा, विवेक आदि की शुभ वृत्तियाँ सजग हों। वह लालसा, विनोद, महत्वाकांक्षा, विलास, क्रूरता, दम्भ आदि वासनाओं से मुक्त हो। तभी वह ऐसे समाज का सपना साकार कर सकता है, जिसमें प्रेम, न्याय, ममता और विश्वास का साम्राज्य होगा और किसी से किसी का संघर्ष नही होगा, युद्ध नहीं होंगे। यही प्रसाद के समाज-तंत्र का आदर्श है। यही भौतिकवाद की समस्या का उनका समाधान है। लेकिन यह आदर्श क्या हमें सहज ही प्राप्त हो सकता है? प्रसाद ऐसे आदर्शवादी, कल्पना-विहारी नही हैं कि उत्तर में कह दें, 'क्यों नहीं।' वे 'कामना' नाटक में ही विवेक के मुख से कहलाते हैं—'आत्मप्रतार को उस दिन की प्रतीक्षा में कठोर तपस्या करनी होगी, जिस दिन ईश्वर और मनुष्य, राजा और प्रजा, शासित और शासक का भेद विलीन हो कर विराट विश्व, जाति और देशों के वर्णों से स्वच्छ हो कर एक मधुर मिलन-क्रीड़ा का अभिनय करेगा।'[१]

'प्रसाद के नाटक,' शीर्षक अपने ग्रन्थ में श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने लिखा है—'मुझे कुछ ऐसा लगता है, किन्तु कह नहीं सकता कि यह धारणा सत्य के कितने निकट है कि प्रसाद ने अपने पात्रों को मनोवृत्तियों का नाम दे कर हमारे सम्मुख हमारी पराधीनता की कथा प्रस्तुत की है।'[२] श्री गुप्त आगे कहते हैं—'विलास के रूप में अंग्रेजी सत्ता और उसके कारनामों को हम इस नाटक में भली-भाँति पहचान सकते हैं। उनका दयनीय व्यापारी के रूप में महत्वाकांक्षाओं के साथ समुद्र पार से आना, सुवर्ण और मदिरा का प्रचार करना, पारस्परिक फूट डालना आदि चित्र इस नाटक में गुँथे हुए-से हैं।'[३]

यह ठीक है कि अंग्रेज़ यहाँ व्यापारी की स्थिति में समुद्र पार से आये थे। लेकिन इस देश की स्थिति अंग्रेज़ों के भारत-आगमन के समय वैसी नहीं थी, जैसी फूलों के द्वीप की तब थी, जब अपने देश से अभिशप्त हो कर विलास वहाँ आ धमका था और फिर भौतिकवादी सभ्यता का अकेले अंग्रेज़ों से ही नाता था, ऐसा भी तो नही है। अस्तु, गुप्त जी के उपर्युक्त विचार तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतर पाते।

सच्ची बात यह है कि 'कामना' की रचना उस समय हुई, जब प्रथम महायुद्ध की ज्वाला को शान्त पड़े बहुत दिन नहीं हुए थे। सन् १९१४-१८ के उस महायुद्ध के कुपरिणामों को देख कर सर्वत्र यह आवाज़ उठी थी कि हमें ऐसा कुछ करना ही होगा, जिससे राष्ट्रों का संघर्ष कम हो, दुनिया युद्ध से छूट कर शान्ति का सुख भोग सके। इसी उद्देश्य से युद्धोपरांत 'लीग आफ नेशन्स' भी स्थापना भी हुई थी। इन्हीं दिनों रूस में लाल-क्रान्ति को सफलता प्राप्त हुई और वहाँ के शासक क्रूर ज़ार का

१. कामना—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ १३५

२. ३. प्रसाद के नाटक—श्री परमेश्वरी लाल गुप्त—पृ० २३४

तख़्ता पलट कर, सर्वहारा-वर्ग ने शासन-तंत्र पर अधिकार कर लिया था। प्रसाद ने देखा कि प्रथम महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप पूँजी का साम्राज्य एक ओर खड़ा हो गया है और महाजनी संस्कृति की कुरूप छाया उन देशों पर भी पड़ने लगी, जिनको भौतिकवादी नयी सभ्यता का वरदान, किंवा अभिशाप तब तक नहीं मिल पाया है। इस नयी शक्ति के मुकाबले में रूस की क्रान्ति तो अवश्य थी किन्तु प्रसाद ने उसे भी समस्या का अन्तिम समाधान नहीं समझा। शायद वे यह सोचते थे कि हिंसा से हिंसा का, घृणा से घृणा का अन्त नहीं होता। इसी से 'कामना' में समस्या को उन्होंने दार्शनिक धरातल पर ले जा कर विचार का विषय बनाया।

'कामना' को रचना के समय तक भारत के राजनैतिक रंगमंच पर महात्मा गाँधी का पदार्पण हो चुका था। महात्मा जी ने अपने सर्वथा मौलिक विचारों से लोगों को विस्मय-विमुग्ध कर दिया था। उन्होंने पहली बार यह सुझाया कि राजनीति और धर्म में कही कोई विपर्यय नहीं है। राजनीति का धर्म के साथ यह समन्वय, धर्माग्रही भारतीय जनता को एक सुखद विस्मय-सा लगा और गाँधी जी भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदय-सम्राट अनायास ही बन गये। गाँधी-दर्शन वर्तमान युग की अन्यतम उपलब्धि है—ऐसा मानने में आज किसी को तनिक संकोच नही होगा। प्रसाद जी यदि विचार-क्षेत्र में उस गाँधी-दर्शन से प्रभावित हुए तो यह स्वाभाविक ही था। गाँधी जी ने जिस आचार-दर्शन का प्रवर्त्तन किया, उसमें व्यक्ति की भावना और क्रिया-शुद्धि पर बड़ा ही बल दिया गया है। गाँधी जी का सत्याग्रही, सच्चे अर्थ में साधक हुआ करता था, तपःपूत होता था। गाँधी जी मानते थे कि तपःपूत व्यक्ति के लिए दुनिया में कुछ भी असम्भव नहीं है। तभी तो मुट्ठी भर सत्याग्रहियों को साथ ले कर उन्होंने उस प्रबल ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी, जिसका लोहा सारा संसार मानता था और उसका अधिकार-क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तीर्ण हो गया था कि उसमें सूर्यास्त ही नही होता था। प्रसाद के 'कामना' नाटक का विवेक कहता है कि जब तक प्रत्येक व्यक्ति आत्मसंयम और आत्म-शासन का पाठ पढ़ नही लेता तब तक राजतंत्र शिथिल नही होगा। इसी अर्थ में हमें प्रसाद पर गाँधी-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। डॉ० दशरथ ओझा ने भी बताया है कि 'कामना' की रचना के समय प्रसाद जी गाँधी जी से प्रभावित हुए थे। उन्होंने लिखा है: 'इस नाटक का रचना-काल है संवत् १९८०-८१ वि०। यह समय भारत मे महात्मा जी के उपदेशों द्वारा नवजागरण का युग था, जिसमें रूई का ओटना, चर्खा कातना, कृषि-कार्य मे हाथ बँटाना आवश्यक कार्यक्रम माना जाता था।'[1] ओझा जी का यह कहना तो एकदम सत्य है कि प्रसाद पर महात्मा गाँधी का प्रभाव था लेकिन उस प्रभाव को दिखलाने के लिए उन्होंने रूई, चर्खा, कृषि-कार्य आदि जिन तथ्यों का उल्लेख किया है, वे बिल्कुल ऊपरी हैं। हम तो ऐसा समझते हैं कि महात्मा जी के दर्शन ने स्वयं प्रसाद के मानस

---

१. हिन्दी नाटक : उदभव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० २३८

को प्रभावित किया था। नाटक की समस्या का समाधान हमें इसी निष्कर्ष की ओर प्रेरित करता है।

'कामना' की समस्या के विषय में एक और बात हम कहना चाहेंगे। इस नाटक में जो समस्या उठायी गयी है, वह व्यक्ति और समाज दोनों की है और प्रसाद जी द्वारा प्रस्तुत समाधान भी दोनों के विषय में सिद्ध है।

'कामना' के विषय में डॉ० श्रीकृष्णलाल ने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में लिखा है कि यह एक ऐसा नाटक है, जिसमें किसी व्यक्ति-विशेष का अनुकरण नहीं किया गया है और न यह किसी विशेष काल का प्रतिनिधित्व करता है; यह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के लिए सत्य है, समय और स्थान की सीमा से अतीत हो कर चिरंतन हो गया है।[1] कहना नहीं होगा कि डॉ० लाल का ध्यान 'कामना' के उस प्रतीक की ओर है, जिसमें व्यक्ति कुप्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण स्वार्थान्ध हो कर समाज के प्रति अनाचार करता है और स्वयं विपत्ति मे फँसता है। इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के बाद जिस भौतिकता और व्यक्तिवाद की धूम मची, उसे समाज की दृष्टि से अनिष्टकारी ही कहा जायेगा। इसी ख़तरे की ओर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने नाटक 'रक्त करवी' में भी इशारा किया है। डॉ० दशरथ ओझा ने ठीक ही कहा है कि 'महत्व की बात तो यह है कि भारत के दो प्रमुख नाटककारों—(रवीन्द्र और प्रसाद) ने एक ही समय में, एक ही लक्ष्य से, एक ही विषय को अपनी-अपनी भाषा में, अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रतीकात्मक रूप दिया है'।[2] हिन्दी में 'कामना' के अनुकरण पर कई प्रतीक नाटक लिखे गये। उदाहरण के लिए ज्ञानदत्त सिद्ध का 'मायावी' नाटक है, जिसमें कला, विद्या, बुद्धि और फ़ैशन शराब, व्यभिचार आदि के संघर्ष की कथा प्रस्तुत की गयी है और फिर भगवती प्रसाद बाजपेयी का 'छलना' नाटक है, जिसका विचार आगे चल कर थोड़े विस्तार में किया गया है। 'कामना' का एक महत्व यह भी है कि उसके रूप मे 'प्रबोध चन्द्रोदय' की परम्परा का विकास हुआ।

एक घूँट : प्रसाद का 'एक घूँट' भी इसी परम्परा को एक रचना है। शिल्प की दृष्टि से यह नाटक विवाद का विषय रहा है। कुछ आलोचकों ने इसे एकांकी नाटक माना है।[3] और कुछ लोगों ने यह कहा है कि चूँकि इसमें एकांकी की दीप्ति अनुपस्थित है, इसे संवादात्मक प्रबन्ध कहना चाहिए।[4]

'एक घूँट' में प्रसाद जी ने प्रेम और आनन्द के प्रश्न पर विचार किया है।

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डॉ० श्रीकृष्णलाल—पृ० २७०
२. हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० २४०
३. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ १३१
४. आलोचना (नाटक विशेषांक)—हिन्दी में रूपक कथात्मक नाट्य परम्परा —जितेन्द्रनाथ पाठक—पृष्ठ ११०

अरुणाचल पहाड़ी के समीप एक हरे-भरे प्राकृतिक वन-प्रदेश में कुछ लोगों ने एक स्वास्थ्य-निवास बना लिया है। प्रसाद ने बताया है कि उन लोगों की जीवन यात्रा का अपना निराला ढंग है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की सन्धि है।[१] इस वन-प्रदेश के निवासियों में एक है भावुक हृदय कवि रसाल, जो काल्पनिक विचारों के आनन्द में अपनी सच्ची संगिनी वनलता को भूल गया है।[२] रसाल की पत्नी वनलता को उससे शिकायत है कि वह जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कल-नाद का अर्थ तो समझ लेता है लेकिन उसने उसके आर्त्तनाद को समझने की कभी कोई चेष्टा नहीं की।[३] इस प्रकार विवाहिता होने पर भी, भावुक पति प्राप्त करने पर भी, वनलता का हृदय सर्वथा भूखा और प्यासा है।

इस आश्रम में आनन्द नाम का एक अतिथि आता है। वह स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक है और चाहता है कि 'जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलो की पँखुड़ियों को गद्गद् कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरन्तर परिस्थिति बनी रहे'।[४] आनन्द के अनुसार प्रेम की आत्मा स्वतंत्र होती है, उसे परिवार या वैसी ही इकाइयों में सीमित कर बन्दीगृह में डालना नहीं चाहिए। स्वतंत्र प्रेम के इस प्रचारक को उस बुड्ढे की, जिसके घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई दिनों से उपवास कर रही है; अथवा उस छुन्नू मूँगफली वाले की, जिसकी सारी पूँजी को दो लड़कों ने उछल-कूद कर डुबा दिया है, पीड़ा की कोई परवाह नहीं है। वह तो यहाँ तक कह जाता है कि 'यही तो होना चाहिए, स्वच्छन्द प्रेम को जकड़ कर बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है'।[५] यह आनन्द सामाजिकता के मूल उद्गम—वैवाहिक प्रथा को तोड़ने और उद्भ्रान्त जीवन बिताने का आग्रही है। वह सुझाता है कि अरुणाचल आश्रम के आदर्श शब्दों—स्वास्थ्य, सरलता और सौन्दर्य—में प्रेम को मिला देने से इन तीनों की प्राण-प्रतिष्ठा हो जायेगी। उसके मत के अनुसार इन विभूतियों का एकत्र होना विश्व के लिए आनन्द का उत्स खुल जाना है।[६]

प्रश्न है, इस प्रकार के स्वच्छन्द प्रेम में भाई, माता, पिता, पुत्र-कलत्र के प्रति होने वाले प्रेम की क्या स्थिति होगी? रसाल आनन्द की ओर से इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि स्वच्छन्द प्रेमी सम्पूर्ण मानवता का ही प्रेमी होता है और मानवता के विशाल विस्तार में जगत के ये नाते भी आ जाते हैं।[७] वनलता को इस मान्यता पर आपत्ति है। वह कहती है—'मानवता आदान-प्रदान चाहती है, विशेष स्वार्थों के साथ। इससे फिर क्यों न झरनों, चाँदनी रातों, कुंज और वनलताओं को ही प्यार किया

१. एक घूँट—परिचय—जयशंकर प्रसाद।

२. वही—जयशंकर प्रसाद—पृ० ८

३. ४. ५. ६, ७. वही—पृ० १२, पृ० १३, पृ० १८, पृ० २३, पृ० २५।

जाय—जिनकी किसी से कुछ माँग नहीं।'[१] इस प्रकार आनन्द के तर्क के थोथेपन की ओर वनलता इशारा करती है और बताती है कि 'प्यार समर्पण खोजता है, हृदय की, अन्तर की समता खोजता है। यह प्यार पूर्णता पाता है दाम्पत्य जीवन की रीझ-खीझ में।' ऐसे प्रेम में वैसे ही झगड़े होते है, जैसा झाड़ूवाले और उसकी पत्नी के बीच इस नाटक मे हुआ है। लेकिन यह झगड़ा भी कितना सुखद है—कितना आनन्द-विधायक। वनलता कहती है—'एक दूसरे को समझ कर जब समझौता करने के लिए, मनाने के लिए दम्पति उत्सुक होते है तब जैसे स्वर्ग इस भीषण संसार में ही हँसने लगता है'।[२] वनलता के प्रेम का आदर्श है: 'असंख्य जीवनों की भूल-भुलैयाँ में अपने चिर-परिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठ कर एक घूँट पीना और पिलाना।'[३] इस प्रेम की बड़ी शर्त है—एकनिष्ठता की। आनन्द जिस प्रेम का प्रचार करता है, उसमें एकनिष्ठता का सर्वथा अभाव है। इसीलिए वनलता को उसके प्रति कोई आकर्षण नही हो सकता। स्पष्ट है, प्रसाद जी के इस नाटक में प्रेम के प्रश्न पर वनलता और आनन्द के विचार परस्पर टकराते है। लेकिन अन्त में विजय होती है हृदय की और आनन्द को अपना भ्रम दीख जाता है,[४] उसके मस्तिष्क और हृदय का मेल हो जाता है। आश्रम की एकमात्र कुमारिका प्रेमलता, आनन्द के उच्छृंखल प्रेम को बाँधने के लिए उसकी परिणीता हो जाती है। कवि रसाल भी अपनी वनलता की भावना को अब समझ जाता है और इससे उसकी भ्रांति भी दूर हो जाती है।

प्रसाद जी शैव आनन्दवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। आनन्द उस आनन्दवाद के दर्शन का व्याख्याता बन कर 'एक घूँट' नाटक में उपस्थित हुआ है। प्रसाद जी के सामने प्रश्न है कि आनन्द-तत्व व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार प्रतिष्ठित हो। आनन्द का कहना है कि 'विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। इस जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है; क्योंकि आनन्दमयी प्रेरणा, जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ—अपने आत्म-भाव में, निर्विशेष रूप में—रहने पर सफल हो सकती है।'[५] सारतः वह सरलता को उस आनन्द का अंतरंग और सौंदर्य को उसका बहिरंग मानता है।[६] आनन्द देखता है कि दुनिया में कुछ लोग हैं, जो अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख का काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलो को कलुषित करते रहते है। दुःख के वे उपासक, उसकी प्रतिमा बना कर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते हैं। आनन्द का उनसे मतभेद है।[७] वह यह नही मान पाता कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही सच्चा पुरुषार्थ है।[८] उसका प्रस्ताव है कि व्यक्ति को चाहिए वह कटु और मधुर भावों के द्वैत के बीच होने वाले हृदयस्थ द्वन्द्व का तटस्थ दर्शक मात्र हो कर रहे।[९]

१. एक घूँट—जयशंकर प्रसाद—पृ० २५।
२.३.४.५.६.७.८.९. वही—पृ० ३७, पृ० ४०, पृ० ४३, पृ० १५, पृ० १५, पृ० १६, पृ० १६, पृ० १३।

आनन्द दुःख की वास्तविकता को स्वीकार नहीं करता। दुःख को आनन्द अधिकतर 'काल्पनिक और व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा की वृत्ति को ठोस बनाने का साधन' मानता है। वह चाहता है कि हमारी दृष्टि ही ऐसी विमल हो जाय कि दुःख भी आनन्द में ही पर्यवसित हो उठे। लेकिन आनन्द के इस सोचने-विचारने में बड़ी त्रुटि है। उस त्रुटि की ओर स्वभावतः रसाल जैसे कल्पना-विहारी का ध्यान तो नहीं जा सकता, लेकिन वनलता को तो स्पष्ट दीख जाता है कि आनन्द की तर्क-पद्धति एकांगी तथा अव्यावहारिक होने के कारण सर्वथा अग्राह्य है। प्रसाद जी ने प्रेमलता और आनन्द, हृदय और मस्तिष्क का अन्त में मेल करा कर एक प्रकार का रुचिकर और व्यवहारिक सामंजस्य स्थापित किया है। इस प्रकार इस नाटक में प्रसाद जी ने मुक्त प्रेम और संयमित प्रेम के संघर्ष को उपस्थित कर, प्रेम के प्रकृत रूप की स्थापना की है और फिर आनन्द के व्यवहारिक रूप का निर्धारण किया है।

ध्रुवस्वामिनी : 'मुद्राराक्षस' के अमर कलाकार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य को चरितनायक बना कर 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक जो एक नाटक लिखा था, वह काल-प्रवाह में नष्ट हो गया। उसके कुछ अंश 'शृंगार-प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' मे उपलब्ध थे।[1] उस बिखरी हुई सामग्री का उद्धार सन् १९२३ में हुआ और उससे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के इतिहास के ये पृष्ठ सामने आये, जिनका पता नही था। चन्द्रगुप्त द्वितीय को उसी कथा का मूलाधार ग्रहण कर प्रसाद जी ने 'ध्रुवस्वामिनी' नामक अपनी अन्तिम नाट्य-कृति प्रस्तुत की।

'देवीचन्द्रगुप्तम्' के प्रमाण से यह विदित हुआ कि चन्द्रगुप्त ने अपने अग्रज रामगुप्त की विधवा ध्रुवदेवी से विवाह किया था। इतिहास की इस कथा का सहारा ले कर प्रसाद जी ने अपने समाज की एक बड़ी महत्वपूर्ण समस्या का समाधान करने का उद्योग किया।

'ध्रुवस्वामिनी' में जो कथा आयी है, उससे विदित होता है कि समुद्रगुप्त विक्रमादित्य के विजय-अभियान के क्रम मे गुप्तों के लिये ध्रुवदेवी का कन्योपायन दान हुआ था और ध्रुवदेवी दो राजकुलों के बीच होने वाली सन्धि के बालुकामय कगारों के मध्य निर्मल स्रोतस्विनी बन कर गुप्त-राजकुल में आयी थी। समुद्रगुप्त ने यह विधान कर रखा था कि उसके मरणोपरान्त उसका द्वितीय राजकुमार चन्द्रगुप्त राज्याधिकारी होगा[2] और ध्रुवदेवी महादेवी के पद पर प्रतिष्ठित की जायगी। सम्राट ने इस प्रकार अपने ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त को उत्तराधिकार-वंचित कर दिया था। गुप्तों के वंश में उत्तराधिकार-विषयक नियम निश्चित नहीं था, जिससे यह आवश्यक नहीं था कि सम्राट का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र ही बने। किन्तु, चालाक अमात्य शिखरस्वामी ने चन्द्रगुप्त के सम्मुख उसके पिता सम्राट समुद्रगुप्त की मर्यादा के प्रश्न का ऐसा कपट-

---

१. ध्रुवस्वामिनी—सूचना—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ ३

२. वही— —पृष्ठ १७

जाल खड़ा किया कि चन्द्रगुप्त ने अपने अधिकार का त्याग, अपने अग्रज रामगुप्त के लिए कर दिया। फलस्वरूप रामगुप्त राजा हुआ और समुद्रगुप्त के उस उत्तराधिकारी की महादेवी बनी ध्रुवदेवी।

ध्रुवदेवी के हृदय में 'प्राची के बालारुण' चन्द्रगुप्त के प्रति, प्रथम दर्शन में ही एक प्रबल आकर्षण हुआ था और उसने 'कुमार की स्निग्ध, सरल, सुन्दर मूर्त्ति' के आगे अपना सर्वस्व-दान किया था। किन्तु, 'विधि के विधान की स्याही का एक बिन्दु' गिर कर चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी दोनों की 'भाग्य लिपि पर कालिमा' चढ़ा गया। अब तो स्थिति यह है कि 'प्रत्येक क्षण चन्द्रगुप्त के प्राणों पर सन्देह' करता है और उधर ध्रुवस्वामिनी भी 'अपने प्राणों का मूल्य' नही समझ पाती। उस पर राजा का कितना अनुग्रह है, यह भी वह नही जानती। विवाह के बाद कभी उसने राजा का मधुर सम्भाषण सुना ही नहीं।[1] मद्यप रामगुप्त को विलासिनियों के साथ मौज करने से फुर्सत ही भला कब थी कि ध्रुवस्वामिनी के पास आता। उलटे उसने ध्रुवदेवी के मनोविज्ञान को समझने के लिए उसके चारों ओर चतुर चरों का जाल फैला दिया। ध्रुवदेवी भी यही समझ पायी कि रामगुप्त के राजकुल के अन्तःपुर में 'उसके लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित था जो उसे आते ही मिला'।[2] उसकी सेवा के लिए जो लोग नियत किये गये है, वे ऐसे हैं, जिन्हें देख कर ही वह चिढ़ती है। राजकुल में 'सम्पूर्ण मनुष्यता का उसे कोई निदर्शन' नही दीखता।[3] रामगुप्त को यह खूब अच्छी तरह मालूम है कि ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त की अर्पिता है। आज वह उसकी महादेवी अवश्य है लेकिन वह यह भी जानता है कि जो स्त्री एक के शासन में रह कर दूसरे से प्रेम करती है, वह न जाने कब आघात कर बैठे।[4] रामगुप्त का मन इस पर टूटता है कि 'जगत की अनुपम सुन्दरी ध्रुवदेवी' उससे प्रेम नही करती। लेकिन वह भी तो ध्रुवदेवी की घृणा को घृणा से ही जीतने का उपक्रम करता है, प्रेम से नहीं। इसी बीच एक घटना हो जाती है। शकराज का विवाह समुद्रगुप्त के विजय अभियान के पूर्व ध्रुवदेवी के साथ स्थिर हुआ था।[5] लेकिन समुद्रगुप्त की भारी तलवार ने उसकी वाग्दत्ता को उससे छीन लिया। तलवार की यही ताकत आज शकराज के पक्ष में है। इससे वह रामगुप्त को आदेश देता है कि वह उसकी वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी को उसके पास पहुँचा दे। यह घटना इस तेज़ी और आकस्मिकता के साथ घट जाती है कि मंत्री शिखरस्वामी को सोचने का भी अवसर नही मिलता। किन्तु, रामगुप्त कहता है कि वह घटना आकस्मिक होने पर एकबारगी उसके सर्वथा प्रतिकूल भी नहीं है।[6] वह इस बहाने से 'जितनी विरोधी प्रकृति है, उस सबको सहज ही हटा लेगा।' इसलिए वह 'एक ही चाल में घर और बाहर के शत्रुओं को पराभूत करने का निश्चय करता है।[7] निश्चय यह होता है कि ध्रुवदेवी को शकराज के पास भेज दिया जाय और उससे कहा जाय कि वह अवरोध

---

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ १३

२. ३. ४. ५. ६. ७. वही—पृ० १२, पृ० १२, पृ० १६, पृ० २२, पृ० १७, पृ० १७।

हटा ले । इस प्रकार यह मूर्ख और क्लीव राजा स्वार्थ के लिए आर्य समुद्रगुप्त के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लेता है और उसका मंत्री भी यह सोच कर उमसे सहमत हो जाता है कि 'राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने का आदेश है । उसके राजा, रानी, कुमार और अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है; किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है' ।[1] रामगुप्त को यह अच्छी तरह मालूम है कि आर्य समुद्रगुप्त के गौरव का धनी चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास सहज ही जाने नहीं देगा । इस प्रकार चन्द्रगुप्त का शकराज के साथ संघर्ष होगा । चूँकि यह संघर्ष रामगुप्त के भीतर और बाहर के शत्रुओं के बीच होगा, इसके परिणाम का विचार वह क्यों करे ?

ध्रुवदेवी को रामगुप्त के इस निश्चय पर आपत्ति है । वह खुले शब्दों में घोषित करती है कि 'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझ कर उन पर अत्याचार करने का जो अभ्यास बना लिया है, वह उसके साथ नहीं चल सकता ।' यदि रामगुप्त उसकी रक्षा नहीं कर सकता, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव, नहीं बचा सकता तो वह उसे बेच भी नहीं सकता ।[2] वह अपने पति नामधारी व्यक्ति के आगे खड़ी हो कर अपने पत्नीत्व का अधिकार माँगती है और उसको प्रेरित करती है कि वह पति के धर्म की रक्षा करे, अपने दायित्व का निर्वाह करे, उसके सम्मान की रक्षा के लिए अपने प्राणों का पण लगा दे ।[3] रामगुप्त के आगे वह स्वीकार करती है कि 'आज तक वह उसके विलास की सहचरी नहीं हुई । किन्तु उसका वह अहंकार चूर्ण हो गया । अब वह उसकी हो कर रहेगी ।' यह इसलिए कि 'राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को, पुरुष को बहुत-सी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं, किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता ।'[4] संक्षेप में, ध्रुवदेवी रामगुप्त को याद दिलाती है कि विवाह मंडप में बैठ कर उसने उसके आजीवन रक्षण का जो उत्तरदायित्व ग्रहण किया था, उसे वह निभाये और उसकी लाज बचा ले । किन्तु रामगुप्त का पक्ष तो यह है कि ध्रुवदेवी सुन्दर है, अतीव सुन्दर है; किन्तु सोने की कटार पर मुग्ध हो कर कोई उसे अपने कलेजे में चुभा नहीं लेता । ध्रुवदेवी की सुन्दरता के साथ ही उसका नारीत्व भी अमूल्य हो सकता है लेकिन ध्रुवदेवी कदाचित यह नहीं जानती कि रामगुप्त स्वयं अपने लिए कितना आवश्यक है ।[5] नहीं तो वह उसे यह सलाह नहीं देती कि वह शकराज से जूझ कर आत्मघात कर ले । रही बात पति के दायित्व के निर्वाह की तो उसका दृढ़ विश्वास है कि उसने अग्निदेव के समक्ष सुख-दुःख में ध्रुवदेवी का साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा कभी नहीं की होगी । वह ऐसी भूल कभी कर नहीं सकता । और फिर विवाह के समय तो वह द्राक्षासव के सरोवर में डुबकी लगा रहा था । पुरोहितों ने न जाने क्या-क्या पढ़ दिया होगा । अवश्य ही उन बातों का बोझ वह अपने सिर नहीं

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ २४

२. ३. ४. ५. वही—पृष्ठ २४-२५, पृष्ठ २५, पृष्ठ २६, पृष्ठ २६

उठा ले सकता।[1] इस प्रकार शरण की प्रार्थिनी ध्रुवदेवी अपने पति राजा रामगुप्त से सर्वथा हताश-निराश होती है। रामगुप्त न केवल अपने दायित्व से भागता है बल्कि उसका तो यह कहना है कि ध्रुवदेवी तो उपहार की वस्तु है। आज यदि उसे वह किसी दूसरे को देना चाहता है तो उसे आपत्ति क्यों है?

ध्रुवदेवी को अपने पति रामगुप्त से तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की जैसी भीख मिली है, ठीक वैसी ही भीख मिलती है नाटक की दूसरे स्त्री-पात्र कोमा को अपने प्रेमी [illegible] से। शकराज की स्नेह-सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने जिस दिन कोमा के मन के नीरस और नीरव शून्य में संगीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि कर दी थी, उस दिन से ही वह 'दर्प से दीप्त उसकी महत्वमयी पुरुष-मूर्ति की पुजारिन' बन गयी है। दार्शनिक आचार्य मिहिरदेव की पालिता पुत्री कोमा, जो भावलोक की सूक्ष्म-तारिका है, विचारों और संस्कारो की दृष्टि से अपने प्रेमी—[illegible] पाषाण शकराज से सर्वथा भिन्न पड़ती है। वह यही समझ नही पाती कि 'जीवन के प्राथमिक प्रसन्न उल्लास को भुला कर आदमी रण को क्यों निमन्त्रित करता है। संसार के नियम के अनुसार अपने से महान के सम्मुख थोड़ा-सा विनीत बन कर आदमी बहुत-से उपद्रवों से बच जा सकता है। लेकिन मनुष्य की यह प्रकृति भी खूब है कि मकड़ी की तरह लटकने के लिए आदमी प्रश्नों का आल-जाल तानता जाता है। 'तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात' कहने वाली यह नारी अहमन्यता के मद में बैठे हुए शकराज से पूछती है कि क्या राजनीति का प्रतिशोध एक नारी को कुचले बिना पूरा नही हो सकता।[2] वह शकराज को याद दिलाती है कि 'स्त्रियों का स्नेह-विश्वास भंग कर देना कोमल तन्तु को तोड़ने से भी सहज है।[3] लेकिन उसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ करता है। इस तरह वह अपने प्रेमी को सच्ची प्रेमिका के समान जीवन के प्रकृत मार्ग पर लाना चाहती है। लेकिन क्षणिक सफलता से प्रमत्त शकराज को अब इस बात के सुनने का भी धीरज कहाँ रह गया है कि कोमा उसकी भावी पत्नी है[4] और इससे उसे यह अधिकार है कि वह ध्रुवदेवी के शकदुर्ग में लाये जाने पर आपत्ति करे? कोमा के आगे यह तथ्य अब स्पष्ट हो जाता है कि 'छल का बहिरंग सुन्दर होता है—विनीत और आकर्षक भी; पर दुःखदायी और हृदय को बेधने के लिए।'[5]

इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी और कोमा दोनों वैसी नारियाँ ठहरती हैं, जिन पर पुरुष ने अत्याचार किया है, जिनके पति और प्रेमी ने उनके साथ कपट किया है और अब उनके आगे प्रश्न है कि पति अथवा प्रेमी से ठुकरायी जाने पर वे क्या करें?

प्रसाद के युग के सामने यह एक बड़ा प्रश्न खड़ा था और अपना समाधान माँग रहा था। देश की तरुण पीढ़ी पूछ रही थी—'जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँध कर, उनकी सम्मति के बिना उनका सब अधिकार छीन लिया जाता है तब क्या धर्म के

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ २४
२. ३. ४. ५. वही—पृष्ठ ४१, पृष्ठ ४२, पृष्ठ ४२, पृष्ठ ४३

पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ा जाता, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलंब माँग सकें।[१] दो अनजान प्राणियों को एक खूँटे से बाँध कर 'भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से सन्तुष्ट, हो जाने वाली' विवाह-संस्था क्या अपने उत्तर-दायित्व का सम्यक रूप से निर्वाह कर पाती है ? पश्चिमी आदर्शों से अनुप्राणित भारत की तरुणाई स्वयं हिन्दू विवाह-संस्था की उपयोगिता, सार्थकता के प्रति आस्थाहीन होती जा रही थी। प्रसाद ने अनुभव किया कि हमारे आचार और धर्मशास्त्र की व्यावहारिकता की परम्परा भी विच्छिन्न-सी हो गयी है। समाज और धर्म के नेता ऐसे जड़ हो गये हैं कि सुधार या परीक्षात्मक प्रयोगों को वे अचिन्तित और नवीन समझते हैं। वे बहुधा उन्हें अभारतीय भी कह देते हैं।[२] प्रसाद जी का यह निश्चित विश्वास है कि प्राचीन आर्यावर्त्त ने समाज की दीर्घ-काल-व्यापिनी परम्परा में प्रायः प्रत्येक विधान का परीक्षात्मक प्रयोग किया था।[३] प्रसाद जी ऐसे हठवादी दुराग्रही नही हैं कि वे आवश्यक तथा अपेक्षित सुधार से भागें। वे चाहते हैं कि जरूरत के अनुसार हम अपने सामाजिक नियमों में संशोधन और सुधार कर लें। तभी तो समाज जिन्दा रह सकता है।

'ध्रुवस्वामिनी,' नाटक में प्रसाद की एक मानस-पुत्री है—मन्दाकिनी। वह स्त्री की दयनीयता और परवशता का इतिवृत्त उपस्थित करती हुई कहती है कि 'स्त्रियाँ अपने निर्बल और अवलम्ब खोजने वाले हाथों से पुरुषों के चरणों को पकड़ती हैं और पुरुष समाज सदैव उनको तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है।'[४] नाटककार के सामने यह जो समस्या है, उसकी ओर नाटक के प्रथम अंक की प्रथम पंक्ति से ही इशारा हो जाता है। मंच पर आ कर सामने के पर्वत की ओर देखती हुई ध्रुवस्वामिनी कहती है—'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर। और इन क्षुद्र कोमल लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न ?'[५] गर्वोन्नत पर्वत और कोमल लताओं के इस प्रतीक द्वारा नाटककार ने पुरुष-नारी सम्बन्ध की बड़ी सुन्दर व्यंजना यहाँ प्रस्तुत की है। ध्रुवस्वामिनी के मुकाबले कोमा के चरित की अवतारणा भी सोद्देश्य ही है। कोमा भारतीय नारी का वह सनातन रूप है, जो विरोध करना जानती ही नहीं और उसके मुकाबले है ध्रुवस्वामिनी, जो इस युग की जागरित चेतना की हुँकार है। 'वह उपहार मे देने की वस्तु, शीतल मणि नहीं है।'[६] उसकी धमनियों में ऊष्ण रक्त का प्रवाह है और उसमें इतनी क्षमता है कि अपने अपमान पर आपत्ति कर सके, अपने लिए राह बना सके। ध्रुवस्वामिनी की कथा बताती है कि जब वह अपने 'प्राणों की क्षमता' बढ़ा लेती है, उसका पथ प्रकाश-मान हो उठता है और फिर वह शकराज की कामुकता, रामगुप्त की क्लीवता और धर्म के भ्रान्तिपूर्ण बन्धन पर एक साथ ही विजय प्राप्त करती है। रामगुप्त के प्रति उसका विरोध इतना तीखा हो उठता है कि उसकी हत्या पर भी उसकी आँखों में एक

---

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद—पृ ठ ५२

२. ३. ४. ५. ६. वही—पृ० ७, पृ० ७, पृ० ५३, पृ० १२, पृ० २६

बूँद आँसू नहीं छलकता। बल्कि दूसरे ही क्षण वह चन्द्रगुप्त की महादेवी हो जाती है।

इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी के प्रमाण पर प्रसाद जी ने यह दिखाया है कि हमारे प्राचीन आर्यावर्त्त में किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पत्नी को अपने पति से मोक्ष पा लेने और विधवा होने पर पुनर्लग्न करने का अधिकार प्राप्त था।

प्रसाद जैसा कवि समाज में अराजकता और उच्छृंखलता फैलने नहीं देता। देश में पश्चिमी संस्कारों के प्रसार-प्रचार से तलाक और विधवा विवाह की ज़ोरदार माँग होने लगी थी। प्रसाद ने पुरातन-पंथियों की तरह धर्मशास्त्र के प्रमाण ले कर इस माँग का विरोध नहीं किया। बल्कि उन्होंने इतिहास के इस प्रमाण पर बताया कि तलाक और विधवा-विवाह की प्रथा प्राचीन भारत में प्रचलित थी। यह ठीक है कि शास्त्रों में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तरह की बातें मिलती हैं। किन्तु प्रसाद का कहना है कि जिस प्रथा के लिए विधि और निषेध दोनों तरह की सूचनाएँ मिलें, इतिहास की दृष्टि से उसे उस काल में सम्मान्य तो मानना ही चाहिए।

ऊपर यह बताया गया है कि देश में हिन्दू विवाह-संस्था की सार्थकता के विषय में अनास्था का भाव क्रमशः बद्धमूल होता जा रहा था। प्रसाद जी ने इसे शुभ नहीं समझा और अपने सारे बल के साथ उन्होंने विवाह-संस्था की सार्थकता का प्रतिपादन किया। नयी पीढ़ी के स्वर में उनकी मन्दाकिनी प्रश्न खड़ा करती है कि 'जिन स्त्रियों को धर्म-बन्धन में बाँध कर, उनकी सम्मति के बिना आप उनका सब अधिकार छीन लेते हैं, तब क्या धर्म के पास कोई प्रतिकार—कोई संरक्षण नहीं रख छोड़ते, जिससे वे स्त्रियाँ अपनी आपत्ति में अवलम्ब माँग सकें? क्या भविष्य के सहयोग की कोरी कल्पना से उन्हें आप सन्तुष्ट रहने की आज्ञा दे कर विश्राम ले लेते हैं?'[1] उसके इस प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रसाद ने धर्म के नियामक पुरोहित से कहलाया है—'नहीं, स्त्री और पुरुष का परस्पर विश्वास-पूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग ही तो विवाह कहा जाता है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल हैं।'[2] पुरोहित का यह वचन विवाह के आदर्श के विषय में हमारे पूर्वजों की मान्यताओं का स्पष्ट निर्धारण करता है। हमने कभी यह नहीं माना कि मंत्रों के उच्चारण के साथ वर-वधू का पाणि-ग्रहण मात्र विवाह है। हमारी भावना में विवाह तो एक प्रतिज्ञा है, जिसके अनुसार दम्पति एक दूसरे के अधिकारों की रक्षा करते हुए परस्पर सहयोग करते हैं और जीवन के बीहड़ पथ पर एक दूसरे की सहायता और परस्पर सहयोग का सम्बल ले कर आगे बढ़ते हैं। यदि परस्पर सहयोग और अधिकार-रक्षा की शर्त पूरी नहीं हो तो विवाह सचमुच खेल हो जाता है और खेल को खत्म करते कितनी देर हो सकती है!

रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी के अधिकारों की रक्षा नहीं की। पुरोहित

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ ५१
२. वही— —पृष्ठ ५१

के ही शब्दों में 'रामगुप्त मृत और प्रव्रधित तो नहीं है, लेकिन वह गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीव है'।[1] इसलिए उसका ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं रह जाता। इस प्रकार ध्रुवदेवी रामगुप्त से मोक्ष पा कर स्वतंत्र हो जाती है। हमें यह स्मरण रखना होगा कि प्रसाद तलाक की प्रथा का अंगीकार उसी स्थिति में करना चाहते थे, जब दम्पति के जीवन में परस्पर विश्वासपूर्वक अधिकार-रक्षा और सहयोग की शर्त पूरी नहीं होती। ध्रुवस्वामिनी के पुरोहित ने विवाह के विषय में एक और व्यवस्था प्रस्तुत की है, जिसकी ओर भी हमारा ध्यान जाता है। वह कहता है, 'माता और पिता के प्रमाण के कारण से धर्मविवाह केवल परस्पर द्वेष से नहीं टूट सकते।'[2] पुरोहित की यह व्यवस्था बहुत ही महत्वपूर्ण है। हमारे हिन्दू समाज में कन्या और वर का विवाह-सम्बन्ध माता-पिता और गुरुजनों के द्वारा स्थिर होता है। नये ज़माने में इस रीति का बड़ा विरोध हुआ। पश्चिम की आधुनिकता से प्रभावित नये लोगों ने इस रिवाज में कोई तुक नहीं देखा और कहा कि विवाह माता-पिता तो नहीं करते, वर-वधू करते हैं। इससे माँ-बाप की पसन्द का क्या अर्थ हो सकता है? प्रसाद जी भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक थे। वे ऐसे क्रान्तिकारी थे कि अपनी हर चीज़ को गर्हित मान लें। वे विवाह के लिए माता-पिता की सहमति और आशीर्वाद की अनिवार्यता के कायल थे। दूसरी ओर तलाक की प्रथा का समर्थन करके भी वे यह पसन्द नहीं करते थे कि तनिक-तनिक-सी बात पर विवाह-सम्बन्ध टूटते रहें। वे तलाक को वह अन्तिम संरक्षण बनाना चाहते थे, जिसकी सुविधा ग्रहण कर, स्त्री अपनी आपत्ति में अवलम्ब पा सके। प्रसाद जी प्रेम विवाह के प्रति बहुत आस्था नहीं रखते थे। यह इसीलिए कि पुरुष के सहसा प्रवर्त्ती हृदय से वे डरते थे। उनकी कोमा के ऊपर जो बीती है, वह उन्हें इस विषय में आस्थावान बना भी कैसे सकती थी? प्रेम को वे वासना से बहुत भिन्न समझते थे। शकराज में वह पौरुष था, जिसका सर्वथा अभाव रामगुप्त में था। लेकिन शकराज के प्रेम में एकनिष्ठता नहीं थी। प्रेम को वह वासना, सहसा प्रवर्त्ती तूफ़ान ही समझ सका था; इसी से तो वह कोमा को प्रेमिका रूप में ग्रहण करके भी ध्रुवदेवी के लिए पलक-पाँवड़े बिछाये रहा और उसके सामने एक तीसरी चन्द्रा को भी रख लेने में कोई बाधा नहीं थी।

इस प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में प्रसाद जी ने अपने युग की एक बड़ी समस्या की प्रस्तुति की और उसका समाधान ढूँढ़ा।

'ध्रुवस्वामिनी' इसलिए भी प्रसाद की एक महत्वपूर्ण रचना है कि उसमें आ कर प्रसाद जी ने अपनी उस नाट्य-कला को भी (जिसका चरम विकास उनके 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'स्कन्दगुप्त' शीर्षक नाटकों में हुआ) छोड़ दिया और एक नयी शैली का प्रयोग किया। इस नवीन शैली का प्रयोग करते समय वे पाश्चात्य

१. ध्रुवस्वामिनी—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ ६१
२. ,, ,, पृष्ठ ६१

यथार्थवादी विधान के बहुत नजदीक खिंच आते हैं। इस प्रकार प्रसाद की नाट्य-शैली का यह नया मोड़ इस बात का प्रमाण बन जाता है कि हिन्दी नाटकों की दिशा अब बदलने ही वाली है। हिन्दी के अगले समस्या नाटकों के पस्पक्ष के रूप में ही हम 'ध्रुवस्वामिनी' का यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं।

प्रश्न उठता है कि क्या 'ध्रुवस्वामिनी' को समस्या नाटक की संज्ञा दी जा सकती है। यह ठीक है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में एक निश्चित समस्या की प्रस्तुति हुई है और बहुत सोच-विचार कर उस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया, 'ध्रुवस्वामिनी' का नाट्य-शिल्प भी प्रसाद के अन्य नाटकों के शिल्प से दूर हट कर समस्या नाटकों के यथार्थवादी शिल्प के निकट चला आया है। इससे स्वभावतः यह प्रेरणा होती है कि उसे 'समस्या-नाटक' कहा जाय। किन्तु, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने सम्मति दी है कि 'ध्रुवस्वामिनी' फिर भी समस्या-नाटक नहीं है।[1] उनका कहना है कि 'समस्या नाटक का बौद्धिक होना पहली शर्त है और नाटक की सारी विचार-धारा किसी एक समस्या को केन्द्र बना कर चलती है। समस्या-नाटककार विशुद्ध दार्शनिक या विचारक-कलाकार हुआ करता है। प्रसाद जी विचारक-कलाकार के रूप में उपस्थित नही हुए हैं।'[2] आचार्य बाजपेयी के इस विचार से मतभेद नहीं हो सकता कि 'ध्रुवस्वामिनी' उस अर्थ में 'समस्या-नाटक' नही है, जिस अर्थ मे इब्सन, गॉल्सवर्दी अथवा शॉ की नाट्य-कृतियाँ 'समस्या-नाटक' की संज्ञा से अभिहित की जाती हैं। किन्तु प्रश्न यह भी है कि पश्चिम के समस्या-नाटकों की उस कसौटी पर हिन्दी के कितने वैसे नाटक (जो समस्या-नाटक कहे-सुने जाते हैं) खरे उतर सकेंगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा मन्तव्य यह स्पष्ट करने का है कि हिन्दी में प्रसादोत्तर काल में नयी चाल के कुछ ऐसे नाटक लिखे गये, जिनमें समस्याओं की प्रस्तुति हुई और उनके समाधान-विषयक संकेत ढूँढ़े गये। ऐसे नाटकों की रचना के लिए यूरोप के समस्या-नाटकों से अवश्य प्रेरणा मिली। किन्तु हमारे समस्या-नाटक बिल्कुल वही नहीं हैं, जो इब्सन-परम्परा के नाटक हैं। प्रसाद की नाट्य-परम्परा के इस बढ़ाव का आकलन और विवेचन—हमारे इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य होगा। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक हमारे विचार से इस नये आयाम की ओर इंगित करता है और यही उसका महत्व है।

●

१: आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—पृ० २५०
२: वही—

द्वितीय अध्याय

• •

प्रेरणा

समसामयिक जीवन
पाश्चात्य प्रॉब्लेम प्ले

समसामयिक जीवन

समस्या-नाटकों में समसामयिक जीवन की जटिल उलझनों, कुरूपताओं और मलिनताओं के यथार्थ की प्रस्तुति होती है और समाज के स्वीकृत विश्वासों, धारणाओं और रूढ़ियों की विकृतियों पर कशाघात किया जाता है। इसलिए समस्या-नाटकों पर विचार करते समय यह उचित होगा कि हम अपने देश के उस शिक्षित मध्यम-वर्ग की पहचान उसके यथार्थ रूप में, कर लें, जिसकी आशा-आकांक्षा, जिसके राग-विराग, सुख-दुःख और पाप-पुण्य की झलक समस्या-नाटकों में प्राप्त होती है।

सभी सप्राण और सचेष्ट जातियाँ, प्रत्येक रक्त-स्नान के पश्चात् नये मंत्र-जल से एक अवभय-स्नान भी किया करती हैं। राष्ट्र के भौतिक स्वास्थ्य के लिए यदि कोई लोहित शल्यक्रिया समय-समय पर आवश्यक होती है तो जाति के बौद्धिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए यह विमर्शित उत्तर-मीमांसा भी परम अनिवार्य होती है। सन् १८५७ का हमारा प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम, जिसे अंग्रेजों ने सिपाही-विद्रोह कहा, जहाँ इस देश के एक महत्वपूर्ण परिच्छेद का अंतिम पूर्णविराम था, वही एक विशिष्ट वैचारिक क्रान्ति से व्युत्पन्न जीवन-प्रणाली का समारम्भ भी था। उस वर्ष भारतवर्ष के मध्यप्रदेश में जो खून की होली खेली गयी, उसने यहाँ के ऋषियों को एक नया चैता ही गाने को उद्बुद्ध कर दिया। राजनीति में मुस्लिम सामंतवाद की अन्त्येष्टि और अंग्रेज़ी पूँजीवाद का सिर उठाना, समाज-नोति में अंध-विश्वास-पूर्ण धर्म-जर्जर जीवन-प्रणाली का क्षय और तर्कपूर्ण, सुचिंतित, वैधानिक व्यवस्था का उदय; अर्थनीति में सुनियोजित वैज्ञानिकता का सन्निवेश और सुशिक्षित मध्यम-वर्ग का जन्म; साहित्य में भक्ति-रीति के स्थान पर राष्ट्रीयता का, काव्य के स्थान पर नाटक-निबन्ध-पत्रकारिता आदि विधाओं का, साहित्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का और पद्य के स्थान पर गद्य का प्रचुर प्रयोग और प्रचलन—ये कुछ ऐसी अभिनव रश्मियाँ थीं, जो इसी घटना से विच्छुरित होती हुई दिखायी पड़ती हैं। हम कह नहीं सकते कि किसी भी देश के इतिहास में ऐसी महत्वपूर्ण घटना कभी घटी है, जब स्वदेशी नहीं,

एक विदेशी शासक ने एक ओर जहाँ जन-जीवन में चटक उठने वाली स्वतंत्रता की पहली चिनगारियों को इतनी भयंकर नृशंसता और निर्ममता के साथ अपने पैरों तले रौंद दिया हो और दूसरी ओर उसकी बुद्धि को अद्यतन, प्रखर और सतेज बनाने के लिए अभूतपूर्व उदारता और सदाशयता के साथ उसी वर्ष, एक नहीं, तीन-तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना भी की हो।

भारतीय इस्लामी-सामंतवादी-संस्कृति के पतन का क्रम अठारहवीं शताब्दी से चल कर, उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध तक आते-आते एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गया था, जहाँ वह एक हल्के आघात से ही दम तोड़ बैठती। अंग्रेज इस देश में व्यापार करने आये थे; व्यापारिक संस्थाओं को यदि सुशासन की सुरक्षा उपलब्ध रहती तो शायद उनके मन में इस देश का शासन-भार ग्रहण करने की कभी इच्छा न जगती। लेकिन मुग़ल-साम्राज्य की पतन-कालीन परिस्थितियों से व्युत्पन्न अराजकता, दुर्व्यवस्था और कुशासन आदि से बाध्य हो कर, तथा अपने यहाँ के समुन्नत आर्थिक जीवन और प्रावैधिक कौशल से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने शनैः-शनैः राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसके लिए भारतवर्ष की समस्त तत्कालीन परिस्थितियाँ विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुईं। अनेक सामन्त और सूबेदार स्वतंत्र हो कर मनमानी करने लगे थे; देश में एकता, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशीलता, दूरदर्शिता और जीवन की समकालीन समस्याओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव था। दिन-रात के युद्ध-विग्रह के फलस्वरूप सामान्य जन-जीवन विविध अत्याचारों और अनाचारों से पीड़ित होता रहता था। लोकहित की भावना के स्थान पर स्वार्थपरता, जन-कल्याण के स्थान पर आत्मतुष्टि, प्रदर्शन के नाम पर विलासप्रियता और वीरता के नाम पर पारस्परिक कलह का देश में प्राधान्य हो गया था। मिथ्याभिमान, झूठी चाटुकारिता, निरर्थक प्रदर्शनप्रियता और खोखली लफ़्फ़ाज़ी का सर्वत्र बोल-बाला था।

देश का आर्थिक ढाँचा पूरा-का-पूरा चरमरा उठा था, उसका सारा ताना-बाना बिखर गया था। युगों से चली आती हुई प्रजा-तांत्रिक ग्राम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी। इस्तमरारी बन्दोबस्त के स्थान पर महालवारी जैसे छोटे-छोटे बन्दोबस्तों से भारतीय कृषकों को कोई आर्थिक लाभ नहीं हो रहा था, बल्कि वे ईस्ट इंडिया कम्पनी की अर्थलोलुपता और महाजनों की दोहननीति के शिकार बने हुए थे। उचित संरक्षण और राजकीय सुरक्षा के अभाव में वे प्रसिद्ध व्यापारिक औद्योगिक केन्द्र उखड़ने लगे थे, जो जल और थल के मार्ग से आधे यूरेशिया के बाज़ारों में सुन्दर और अमूल्य वस्तुओं का एकाधिकार स्थापित किये, सतत गतिशील थे। अंग्रेज़ों ने औद्योगिक क्रांति के बाद की साम्राज्यवादी और औपनिवेशक आर्थिक नीति के अवलम्बन से भारतीय उद्योग-धन्धों को यह अवसर ही नहीं दिया कि वे अपनी दशा सुधार सकें। अंग्रेज़ शासकों का मुख्य लक्ष्य अपने देश के कल-कारखानों के लिए भारत से कच्चा माल उपलब्ध कर, अपना तैयार माल फिर यहीं खपाने का था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त उन्होंने समय-

समय पर ऐसी आर्थिक नीतियों का आश्रय लिया, जिनसे यहाँ के उद्योग-धन्धे क्रमशः क्षयग्रस्त होते गये और इस देश के निवासियों को आजीविका के लिए कृषि पर एकान्त रूप से निर्भर हो जाना पड़ा। बेकार कारीगरों ने जब कृषि-व्यवसाय ग्रहण किया तो कृषि पर अनावश्यक और भारी दबाव पड़ा, साथ ही उत्पादन-शक्ति के साधनों का विकास अवरुद्ध हो गया। शेष कारीगर, मशीन से बने सस्ते माल की प्रतिद्वन्द्विता में टिक नहीं पाये। विदेशी शासकों ने देशी उद्योग के विकास में अपरिमित अवरोध उपस्थित किये, नये उद्योगों की स्थापना की तो बात ही क्या ? कोयले और भाप की शक्ति ने जिस प्रकार यूरोप के जीवन में आमूल परिवर्तन उपस्थित किया था, उस प्रकार की कोई बात यहाँ नहीं हुई। शासकों की दुर्नीति के फलस्वरूप ये नवाविष्कृत शक्तियाँ भारतीय जन-जीवन को एक हद तक पतन की ओर धकेलने में ही सहायक सिद्ध हुईं। दिन-पर-दिन विदेशी माल की खपत से देश का धन निचुड़-निचुड़ कर विदेश जाने लगा। अंग्रेज़ों ने भारतीय साम्राज्य की स्थापना सैनिक शक्ति के बल पर नहीं, भाप की शक्ति और विषम आर्थिक नीति के बल पर की थी। राजनीतिक स्वार्थपरता और अराजकता ने उन्हें प्रकारान्तर से सहायता ही पहुँचायी थी। क्रमशः ये राजे-महाराजे और नवाब-उमराव भी अंग्रेज़ों के सर्वातिशयी फ़ौलादी पंजों में आते गये और एक-एक कर ख़त्म होते चले गये।

भारतीयों का धार्मिक जीवन अनेकानेक अंध-विश्वासों, ढोंगों, निर्मूल धारणाओं और कुत्सित संस्कारों का सम्मिलित रूप बन गया था। वे अपने उच्च आध्यात्मिक शिखर से ढुलक कर पतन के गर्त की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। वे अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदायों में तो बँट ही गये थे, साथ-साथ अपने नित्य प्रति के व्यावहारिक जीवन को भी उन साम्प्रदायिक मतभेदों के चलते, कटु, विषाक्त और विकलांग बनाते चले जा रहे थे। भक्ति-आंदोलन का वह समन्वयवादी स्वर, क्षीण-से-क्षीणतर होता जा रहा था। धर्म,.मुट्ठी भर अर्द्ध शिक्षित, परम्पराभक्त, अंधविश्वासी और स्वार्थी ब्राह्मणों के हाथों की कठपुतली बन, जन-समाज को कोई समुचित जीवनादर्श देने के बदले पथभ्रष्ट कर रहा था। समाज के अधिकांश लोगों के बीच कर्मकांड धर्म का पर्यायवाची प्रचलित रूप बन कर गर्हित और विकृत बना खड़ा था। पेट के बल रेंगते हुए तीर्थ यात्रा करना, भूखा रह कर प्राणोत्सर्ग कर देना, जीवितावस्था में ही गंगा में पैठ कर जल-प्रवाह लेना, सती-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि अनेक यातनापूर्ण धार्मिक कुप्रथाओं का हिन्दू समाज में अत्यधिक प्रचार था। निर्मम वर्ण-व्यवस्था और अनार्थिक सम्मिलत-कुटुम्ब-प्रथा, कठोर-से-कठोरतर होती चली जा रही थी और कुलाचार का पालन न करना ही धर्म और जाति से च्युत हो जाने के लिए पर्याप्त मान लिया जाता था। इस्लाम से सैकड़ों वर्षों तक जूझने के पश्चात् दर्पदीप्त ईसाई धर्म को अचानक अपने सामने पा कर हिन्दू धर्म और समाज आक्रमणात्मक और सुधारात्मक रूप छोड़ कर रक्षणात्मक प्रवृत्ति अपना बैठा था और युगों से आती हुई अपनी डपोरशंखी खोल में मुँह छिपा कर 'निर्बल के राम' का पाठ

कर रहा था। यह जर्जर खोल ही उसके लिए वर्तमान परिस्थिति में सबसे बड़ा रक्षा-कवच बन गयी थी।

यह संक्रान्ति-काल एक दिन और एक क्षण में ही उपस्थित नहीं हो गया था। लगभग एक हज़ार वर्ष पहले से ही बौद्ध-धर्म के पराभव के साथ ही भारतीयों ने छुआ-छूत-सम्बन्धी प्रतिबन्ध, ज्योतिष और जादू-टोनों में विश्वास आदि के चलते अपने आपको सिमटाना और सिकोड़ना शुरू कर दिया था और इस प्रकार वे भौगोलिक विघूर्णनों और शेष विश्व की गतिविधियों से सर्वथा अपरिचित हो गये थे। उनके पास बाहर से जो भी ज्ञान, संस्कार, धारणा, आविष्कार आदि तत्व आये, वे किसी-न-किसी आक्रमणकारी के साथ ही। यही कारण है कि वे उन तत्वों को भी उनके असली रूप में पहचान नहीं पाये और उनके प्रति उनकी पहली दृष्टि शंका और घृणा से ही पूर्ण हुआ करती थी। इधर उनकी अपनी मेधा पर ज़ंग लग ही चुका था। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय समाज अपना संघ-बल खो कर अलग-अलग इकाइयों के रूप में उस आहत, नख-दन्त-हीन वृद्ध व्याघ्र की भाँति अपनी मुड़ी टाँगों के बीच सिर रख कर साँस ले रहा था, जो किसी गहन गुफा में कभी तो अपने लहू-लुहान घाव चाट लेता है और कभी थोड़ा-सा खड़का होने पर ही कान खड़े कर लेता है। इस प्रकार हमारा जातीय जीवन प्रातःकाल के दीपक की उस लौ के समान हो गया, जो निर्वापित होने के लिए हिल-डुल रही थी।

इन्हीं परिस्थितियों में पश्चिम से अंग्रेज़ अपनी संस्कृति ले कर उपस्थित हुए। प्रारम्भ में कम्पनी के माध्यम से भारतीयों ने उस संस्कृति के जिन रूपों के दर्शन किये, वे आध्यात्मिक की अपेक्षा भौतिक ; शासनिक की अपेक्षा व्यापारिक ; और सुधार-परक की अपेक्षा व्यावहारिक ही अधिक थे। "कम्पनी ने जो कुछ किया, वह बहुत कम और ऊपरी बातों तक ही सीमित था—वह भी इस काल के लगभग अन्त (यानी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ) में और सरकारी आवश्यकताओं के फलस्वरूप, न कि जन-हित की दृष्टि से। घुणाक्षर-न्याय से हिन्दी-भाषियों का जीवन और साहित्य भी नयी-नयी बातों से प्रभावित हुए बिना न रह सका। किन्तु इसका प्रत्यक्ष फल उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दृष्टिगोचर हुआ।"[1]

भारतीयों को नवजात चेतना के मूल में वैज्ञानिक साधन और विज्ञान-सम्मत नव-शिक्षा—ये दो प्रधान कारण थे। भारत में उस समय जो शिक्षा प्रचलित थी, वह प्राथमिक व्यावहारिकता से पूर्ण होती हुई भी अन्ततः धार्मिक और पौराणिक थी—वह समयानुकूल नहीं रह गयी थी। सन् १८५४ में सर चार्ल्स वुड की शिक्षा-आयोजना के अनुसार उच्च शिक्षा के साथ-साथ गाँव-गाँव में पाठशालाएँ खोलने की व्यवस्था की गयी। गाँवों में प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ और ज़िलों में हाई स्कूल खोले गये। देशी भाषाओं पर भी ज़ोर दिया गया और निम्न-कक्षाओं के लिए उनमें पुस्तकों की रचना नये सिरे से शुरू हुई। उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेज़ी भाषा माध्यम बनी। सन्

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—पृ० १४

१८५७ में कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। सन् १८४४ में ही हार्डिन्ज का वह घोषणा-पत्र प्रकाशित हो चुका था, जिसके अनुसार सरकारी नौकरियाँ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को ही मिलने वाली थीं। उच्च अंग्रेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप भारतीय शिक्षित समुदाय यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का महत्व समझने लगा था। पश्चिमी सभ्यता और भाषा तथा विचार का यह ज्ञान, युगों से अलसित जन-जीवन को झकझोरने और उस पर तीव्र आघात करने लगा। और, चूंकि वह शिक्षा अल्पसंख्यक वर्ग तक ही सीमित थी, इसलिए पश्चिमी सभ्यता द्वारा प्रदत्त जीवन-क्रम सम्पूर्ण देश के परम्परागत एवं स्वाभाविक जीवन-क्रम के साथ मेल न खा सका। फलतः एक नया मध्यम वर्ग उभरा, जो, न तो पूर्णतः पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध से दिग्भ्रमित हो कर ईसाई बन गया था और न परम्परागत जीवन-क्रम की जड़ता के पंक में चिरकाल तक फँसा रहना ही बर्दाश्त कर पा रहा था। यह वह वर्ग था, जो शासकों तथा देश की सामान्य जनता, दोनों के बीच का सेतु बन कर, भारतीय सामाजिक जीवन के सभी प्रधान तत्वों का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए कटिबद्ध हुआ। इस वर्ग का घरेलू जीवन पुरातनत्व में लिप्त और बाह्य जीवन पाश्चात्य आधुनिकता से सिक्त था। यह वर्ग घर में अपनी गँवार बोली और बाहर खाँटी अंग्रेज़ी बोल रहा था। इस तरह कि व्याकरण के एक साधारण दोष तक के लिए वह मन-ही-मन अपनी जीभ काट लेता था, कान मरोर लेता था। वह अध्ययन तो कर रहा था मिल्टन, मिल और मैकॉले के विचारों का, गैलीलियो और कोपरनिकस के आविष्कारों का—पर जीवन उसे जीना पड़ रहा था—मूर्ख पंडों का, धूर्त्त ज्योतिषियों का। कहने का अर्थ यह कि बौद्धिक दृष्टि से हिन्दू धर्म के प्रचलित रूप में विश्वास न रह जाने पर भी उसका सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन उसी से संचालित हो रहा था। यही वह वर्ग था, जो यूरोप की सभ्यता का आघात पा कर, पहले बंगाल में, और फिर समूचे देश में उत्तेजित हो उठा—समस्त भारतीय जनता की अभ्युदय-आकांक्षा, नवजीवन और समाहार-शक्ति सर्वप्रथम इसी वर्ग में जागरित हो उठी। पाश्चात्य विज्ञान और साहित्य तथा इतिहास के अध्ययन से देश की सामाजिक और धार्मिक अवस्था में सुधार का बीजारोपण हुआ, नये-नये विचारों का उदय और राष्ट्रीयता का जागरण हुआ, औद्योगिक क्रांति की अवतारणा हुई और स्त्रियों तथा उपेक्षितों की स्वाधीनता का स्वर बुलन्द हुआ। इस प्रकार सारा देश एक नयी हलचल से परिपूर्ण हो उठा।

बीसवीं शताब्दी के आते-आते पाश्चात्य [illegible] और ज्ञान-विज्ञान तथा शिक्षा-दीक्षा से विच्छुरित, सभी प्रकार की शुभाशुभ नयी किरणें, अनेकमुखी हो कर न केवल हमारे सामान्य जन-जीवन मे प्रसारित ही होने लगी थी, बल्कि हमारी मनीषा और भावना मे घुल-मिल कर हमारे जातीय व्यक्तित्व का अपरिहार्य और अविभाज्य अंग भी बनने लगी थीं। भारतेन्दु-युग में जहाँ उनकी चकाचौंध और चाकचिक्य मे पड़ कर हमारा युगों से अलसाया जीवन कुछ हद तक दिग्भ्रमित और वर्णान्ध हो गया था, इस युग में

आते-आते उसने आँखें मल कर अपनी दृष्टि एक सीमा तक साफ़ कर ली थी, बहुत दूर तक वह उसका अभ्यस्त भी बन गया था; और अब पूरी तरह आसनस्थ हो कर अपने भविष्य की रूपरेखा निश्चित करने लगा था। जाति की जड़ता, जो पहले पाषाणवत् थी, अब पिघलने लगी थी; अंधविश्वास चनक उठे थे, रूढ़ियों में लम्बी दरारें पड़ गयी थीं। धारणाओं का खोखलापन स्पष्ट हो चुका था और सभी पुरातन संस्कार या तो युगानुकूल रूप लेने लगे थे, नहीं तो अतिजीवित होने के कारण मन्द पड़ने लग गये थे। इस समस्त नव-जागरण का वाहक वह प्रबुद्ध मध्यम वर्ग था, जो समाज के दो अन्त पदों के बीच योजीतंतु का कार्य करते हुए, सभी बाह्य प्रभावों को जहाँ एक ओर अंतर्भुक्त करता चला जा रहा था, वहीं समाज की आंतरिक घुमड़नों की गूँज भी प्रकट कर रहा था। वह बड़ा भले ही न हो; लेकिन अपने प्रति जागरूक और समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षा सर्वाधिक आत्मविश्वासी अवश्य था। वह यथार्थ की प्रकृति को पहचान रहा था और अनुभूतियों की समसामयिकता और उनके मानवीय पक्ष को अत्यधिक सबल रूप में स्वीकार करने लगा था।

डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने स्पष्टरूपेण यह निष्कर्ष निकाला है कि 'आधुनिक साहित्य की क्षिप्र प्रगति और विकास तथा इन क्रांतिकारी परिवर्तनों के तीन मुख्य कारण हैं: (१) भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना (२) पश्चिमीय विचारों तथा भावों का आयात और (३) अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव।'[१] इन कारणों ने भारतीय मनीषा को राजनीतिक दृष्टि से शासन-तंत्र की गहनता, दुर्नीति, अर्थनीति तथा उनके दूरवर्ती परिणामों पर तर्क-वितर्क करने के लिए प्रेरित किया; सामाजिक दृष्टि से अपनी दुर्बलताओं, अंध-विश्वासों और रूढ़ियों को छोड़ने के लिए बाध्य किया; और साहित्यिक दृष्टि से अभिव्यक्ति की नयी विधाओं को अपनाने की सत्प्रेरणा प्रदान की। हमने उनके चलते जहाँ शासनतंत्र के भारतीयीकरण, संप्रदायवाद के तिरोहन, औपनिवेशिक स्वतंत्रता, पूर्ण स्वतंत्रता और अंतिम रूप से सार्वभौम गणतंत्र की स्थापना के व्रत लिये; छुआछूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा-विवाह, नारी-स्वतंत्रता, देश-पूजा, पर्वों के राष्ट्रीयकरण आदि के त्याग और ग्रहण की उपयोगिता समझी; वहीं पद्य-गद्य की एक भाषा, पत्रकारिता, नाटक-निबन्ध, जीवनी-संस्मरण आदि के अध्ययन-मनन और प्रणयन का भी बीड़ा उठाया। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने जहाँ राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संगठन और संघर्ष किया, ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, थियोसॉफ़िकल सोसायटी आदि संस्थाओं ने जहाँ सामाजिक और साम्प्रदायिक उदारता बरतने की सीख दी, वहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और आचार्य द्विवेदी ने उन साहित्यिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया, जो तब तक की परम्परा से भिन्न, एक नयी ही चेतना के प्रतीक थे। नायक-नायिका-भेद, अलंकार-ग्रंथों के सर्जन की भावना से हटते

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—'भूमिका'—डॉ० श्रीकृष्णलाल—पृष्ठ—६-७

हुए अब साहित्य में भारतवर्ष की दुर्दशा का भी वर्णन होने लगा। पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित नवीन पद्धतियों का भी अनुकरण किया जाने लगा और इस प्रकार हिन्दी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों का विकास और समुत्थान हुआ।

विभिन्न सांस्कृतिक आन्दोलनों का प्रभाव हमारी सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ा और रूढ़िवादी परम्परागत प्रचलनों के प्रति एक प्रकार की बौद्धिक अनास्था धीरे-धीरे बढ़ने लगी। इस बौद्धिक संघर्ष की छाया साहित्य में अधिक मार्मिक ढंग से प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् व्यक्त हुई। स्वतंत्रता और राष्ट्रीय चेतना के साथ सदाचार-युक्त आदर्श-जीवन की कल्पना भी की गयी और उन आदर्शों को जीवन में उतारने की बात भी सोची गयी। पुरानी रूढ़िग्रस्त जीवन-पद्धति की आलोचना प्रस्तुत करके सर्वथा नवीन मानववादी सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का आयोजन, पतनग्रस्त भारतीय जीवन की हतोत्साहित मनःस्थिति को नैतिक प्रधानता दे कर उसको स्वच्छ और पवित्र आत्म-शक्ति प्रदान करने के साथ-साथ प्रबल इच्छा-शक्ति का सन्निवेश; समस्त जीवन के विभिन्न पहलुओं को नवीन चेतना प्रदान करके आत्म-गौरव और स्वाभिमान की सजीव मान्यताओं का प्रतिष्ठापन; उपेक्षित पौराणिक चरित्रों में देव-तुल्य गुणों को चित्रित करने का प्रयास; जाति-भेद, वर्ग-भेद और वर्ण-भेद को मिटाने की चेष्टा, आदि—ये कतिपय नये तत्व थे, जो हमारे साहित्य के भाव-पक्ष में बड़ी तेजी से उमड़े। सांस्कृतिक मान्यताओं को नया मूल्य मिला, साहित्यिक मान्यताओं को आधुनिकता प्राप्त हुई और मध्यकालीन जर्जर मान्यताओं का अन्त होना आरम्भ हुआ। इस पृष्ठभूमि में साम्यवादी विचार-धारा के प्राबल्य से वर्ग-हीन समाज की स्थापना और सर्वहारा-शासन-पद्धति की कल्पना ने भी भारतीय जीवन को स्पन्दित किया—'सूक्ष्म' से 'यथार्थ,' आत्मा से 'भौतिक,' आधार पर समस्त मानव-जीवन का इतिहास और भविष्य उधेड़ कर रखा जाने लगा। किसान, मजदूर और सर्वहारा वर्ग अब साहित्य की विषय-वस्तु बनने लगे, और मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप मे ग्रहण करने का आग्रह प्रबल हुआ। समाज-व्यवस्था मे धर्म की निन्दा और उस समाज की प्रशंसा की जाने लगी, जिसमे मनुष्य विज्ञान के आधार पर सुख, अवकाश और चिन्तामुक्त हो कर जीवन बिता सके।

और तब सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य विषय-वस्तु की नवीनता, स्वस्थ व्यक्तित्व और व्यंजना के प्रति सहज ईमानदारी, बौद्धिक आधार और सर्वथा नयी मान्यताओं के प्रति आग्रह से दीप्त हो कर अनेकानेक विधाओं मे प्रवाहित होता हुआ एक विशाल सागर के रूप में परिणत हो उठा और समस्या-नाटकों की रचना के लिए इस प्रकार अपेक्षित भूमि भी प्राप्त हुई।

अब हम अगले पृष्ठों में पाश्चात्य समस्या-नाटकों का विवरण प्रस्तुत कर, उनकी उन प्रवृत्तियों का आकलन करेंगे, जिन्होंने हिन्दी के समस्या-नाटककारों को बड़ी प्रेरणा दी है।

पाश्चात्य 'प्रॉब्लेम प्ले'

प्रसादोत्तर काल के हिन्दी नाटकों के आदर्श अंग्रेज़ी के वे नाटक रहे हैं, जिनको 'प्रॉब्लेम प्ले' की संज्ञा प्राप्त है। 'समस्या-नाटक' अंग्रेज़ी के इसी 'प्रॉब्लेम प्ले' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है भी। हम नीचे की पंक्तियों में अंग्रेजी 'प्रॉब्लेम प्ले' का परिचयात्मक विवरण संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

'प्रॉब्लेम प्ले' के रूप में इस नाट्य-विधा के नामकरण का श्रेय 'सिडनी ग्रंडी' नामक व्यक्ति को है, जिसने इसका सर्वप्रथम प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक के बुद्धिवादी नाटकों के लिए अनादर और उपेक्षा-भाव से अप्रैल सन् १८९६ की 'द थियेटर' नामक पत्रिका में प्रकाशित 'मार्चिंग टू आवर डूम' शीर्षक अपने निबन्ध में किया। उक्त निबन्ध में उसने इस बात पर खीझ प्रकट की कि 'उत्साही झक्कियों की मंडली के हाथों पड़ कर नाटक-साहित्य अपने विनाश की ओर अप्रतिहत बढ़ता चला जा रहा है।'[1] 'सिडनी ग्रंडी' ने जिस समय 'प्रॉब्लेम प्ले' शब्द का एक विशिष्ट प्रकार के नाटकों के सन्दर्भ में प्रयोग किया, उस समय इस नाम का कोई निस्संदिग्ध गुणार्थ नहीं था; और जिस प्रकार के अनिश्चय से प्रायः सभी साहित्यिक नामकरण आवृत्त रहते हैं, उस प्रकार की अनिश्चितता इस शब्द के साथ भी लगी हुई थी। यह 'प्रॉब्लेम प्ले' पद यद्यपि स्पष्ट और सुरुचिपूर्ण नहीं है तथापि साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में गृहीत हो कर उन गम्भीर नाटकों के लिए बहुधा प्रयुक्त होता रहा है, जो महारानी विक्टोरिया के राज्य-काल के अन्तिम वर्षों में प्रणीत हुए तथा रंगमंच पर प्रस्तुत किये गये। 'मार्टिन एलहोग' ने यह स्वीकार किया है कि 'प्रॉब्लेम प्ले' नाम उन नये यथार्थवादी और बुद्धिवादी नाटकों—विशेषकर उनके अंग्रेजी प्रकारों—के निमित्त आया, जो यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले दशकों में विकसित हुए थे।[2]

---

१. द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० २१-२२ पर उल्लिखित

२. वही—पृ० २२—पाद टिप्पणी : २।

'द प्रॉब्लेम प्ले एन्ड इट्स इन्फ्लुएंस ऑन मॉडर्न लाइफ़ एन्ड थॉट' नामक अपने ग्रन्थ में 'रैम्सडेन वॉमफ़ोर्थ' ने समस्या-नाटकों की चर्चा उठा कर उन्हें एक विशिष्ट प्रकार का नाटक तो माना है, किन्तु इस 'विशिष्ट प्रकार' के नाटक की परिभाषा देते समय वे इतना ही कह सके कि 'प्रत्येक महान नाटक समस्या-नाटक होता है।'[1] स्पष्ट है, 'रैम्सडेन वॉमफ़ोर्थ' समस्या-नाटक की परिभाषा देने से कतराते हैं। यह भी जाहिर है कि 'वॉमफ़ोर्थ' का यह निर्वचन अनिश्चितता के अन्तिम छोर पर पहुंच जाता है और समस्या-नाटक की कोई पहचान नहीं करा पाता। वह समस्या-नाटक की विभिन्न गम्भीर विधाओं के पारस्परिक पार्थक्य पर भी कोई प्रकाश नहीं डालता तथा मध्ययुगीन चमत्कार और उपदेश-परक नाटकों के साथ-साथ सुखान्त और दुःखान्त नाटकों के उन सभी भेदोपभेदों को समेट लेता है, जो प्रारम्भिक युग से ले कर आज तक उपलब्ध रहे हैं। 'वॉमफ़ोर्थ' की परिभाषा इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष-दूषित सिद्ध होती है।

इस प्रकार के नाटकों के सबसे अधिक प्रतिष्ठा-प्राप्त रचयिता बर्नार्ड शॉ ने समस्या-नाटक को परिभाषित करते हुए कहा है कि वह मानव की इच्छा और उसके परिवेश के बीच के संघर्ष का दृष्टान्त-रूप में प्रस्तुतिकरण है।[2] शॉ की यह परिभाषा भी हमें कोई निश्चित निकर्ष या आधार प्रदान नहीं कर पाती। यह इसलिए कि नाटक में सदैव ऐसे किसी-न-किसी संघर्ष की पूर्व-कल्पना रहती ही है, जिसमें मानव की नियति उलझी रहती है और सामान्यतः उसमें कोई-न-कोई प्रश्न ठोस समस्या के रूप में अवतरित हो कर अपना निदान ढूँढ़ता ही रहता है। अतएव, समस्या-नाटक के विषय में शॉ का यह विचार नाटक की शास्त्रीय अवधारणा के ही पथ का अनुगमन करता हुआ ऐसे संकथनों का अनुमोदन करता है कि समस्या-नाटक उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं यह जगत[3] अथवा उतना प्राचीन तो हम उसे मान ही लें, जितना पुराना यम-यमी सम्वाद है। शॉ की परिभाषा 'समस्या' की जो व्यंजना छोड़ जाती है, वह तो प्रत्येक नाट्य-कृति में सहज ही प्राप्त रहती है, तथापि हम यह नहीं कह पाते कि सभी प्रकार के नाटक समस्या-नाटक होते हैं। हम समस्या-नाटकों को एक विशिष्ट नाटक-विधा के रूप में ही ग्रहण करने के आदी हैं। कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि समस्या-नाटक उन स्थितियों से सम्बद्ध हुआ करते हैं, जो जीवन में केवल नैतिक और सामाजिक समस्याओं के रूप में—अमूर्त्त और मानव-प्रकृति तथा उसकी विलक्षण रूपताओं से सर्वथा निस्संग—उत्पन्न होती हैं। ऐसा निश्चय-कथन, असंदिग्ध रूप से मानव की

---

१. द प्रॉब्लेम प्ले एण्ड इट्स इन्फ़्लुएंस ऑन मॉडर्न लाइफ़ एण्ड थॉट—रैम्सडेन वॉमफ़ोर्थ—पृ० १४

२. 'प्लेज अनप्लेज़ेन्ट' की भूमिका (द ऑथर्स एपोलोजी)

३. टाइप्स ऑफ़ ट्रैजिक ड्रामा—सी० ई० वॉन—पृ० २६६ (द प्रॉब्लेम प्ले इज ऐज़ ओल्ड ऐज़ द वर्ल्ड) द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० २३ पर उल्लिखित।

अभिरुचि तथा नाटक की इस विशिष्ट विधा के अभ्याह्वान के प्रति अनभिज्ञता तो प्रदर्शित करता ही है; साथ ही साथ, नाटक को समाज-शास्त्रीय पुस्तिका का सादृश्य दे देने का प्रमाद भी कर जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि जीवन केवल सामाजिक समस्याओं की ही संरचना नहीं है। इसलिए विधायक या समाज-शास्त्री भले ही इन्हें अपना विषय बना लें, सामान्य पुरुष या स्त्री को तो एक दिलचस्प, बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। ऐसी आलोचना की जाती रही है कि नाटककार अपनी कृति के प्रतिपाद्य को बिना विकृत किये, इन समस्याओं को ग्रहण ही नहीं कर सकता। रवीन्द्र नाथ का भी कहना था कि 'सामाजिक समस्याओं की चर्चा, जो कि शॉ के मत में आधुनिक कला की महत्वपूर्ण विशिष्टता है, आधुनिक काव्य और नाटक के लिए विष-तुल्य है।'[1] वे 'समस्या-नाटक' संज्ञा-प्राप्त नाटकों को नाटक ही नहीं मानते थे और यही अनुभव करते थे कि साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का प्रवेश अनधिकार अतिक्रमण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

कतिपय लेखकों ने समस्या-नाटक को निष्कपट प्रचार की संज्ञा से भी अभिहित किया है। ऐसे लोगों की धारणा है कि समस्या-नाटक में नाटककार अपनी एक स्थापना की निदान-सहित प्रस्तुति किया करता है। कुछ दूसरे लोग हैं, जो 'समस्या-नाटक' के 'समस्या' शब्द का औचित्य इस प्रमाण पर सिद्ध करना चाहते हैं कि समस्या-नाटक एक प्रश्नवाचक चिह्न के साथ समाप्त हुआ करता है। ऐसे लोगों मे 'वॉमफ़ोर्थ' और 'बेंटले' के नाम ध्यान में आते हैं, जो यह मानते हैं कि 'प्रत्येक गम्भीर नाटक एक परिप्रश्नात्मक टिप्पणी के साथ समाप्त हुआ है।'[2] शॉ ने भी यही माना है कि 'समस्या-नाटक का विशिष्ट लक्षण यह है कि उसका अन्तिम विराम-चिह्न प्रश्नवाचक हुआ करता है।' ऐसे लोग यह भी सुझाते हैं कि नाटककार का काम समस्या का कोई पूर्व निष्पन्न समाधान या विशिष्ट निदान स्थिर करना नहीं, प्रत्युत उसकी ओर स्पष्ट और प्रभावोत्पादक ढंग से संकेत भर करना है। वे यह भी कहते हैं कि निष्कर्ष निकाल लेने का दायित्व तो अवश्यमेव पाठक-प्रेक्षक के निर्णय और विवेक पर ही छोड़ देना होगा। जो लोग समस्या-नाटकों के अनिर्णीत रूप पर बल देते हैं और चाहते हैं कि उनकी परिसमाप्ति रहस्य अथवा पहेली के रूप में हो, वे इस सत्य की ओर से आँखें फेर लेते हैं कि समस्या-नाटक में उठायी गयी समस्या का कुछ-न-कुछ निदान अनिवार्य रूप से संकेतित रहता ही है—भले ही हम उसे संक्षिप्त कहें, अथवा उससे आगे बढ़ कर अटकल पच्चू।

ऐसा भी कहा गया है कि समस्या-नाटक १८वीं शताब्दी के भावना-वादी नाटकों के प्रतिक्रिया-स्वरूप उद्भूत हो कर 'ड्रामे' के तद्वत् सिद्ध हुआ, जो दुःखान्त न होते हुए

१. शरतचन्द्र के ५५वें जन्म-दिवस पर दिया गया अभिभाषण—(द प्रॉब्लेम प्ले में उल्लिखित)

२. द प्रॉब्लेम प्ले ऐन्ड इट्स इन्फ़्लुएन्स ऑन मॉडर्न लाइफ़ ऐन्ड थॉट—रैम्सडेन वॉमफ़ोर्थ—पृ० १३

भी गम्भीर हुआ करता था और जिसमें हास और रुदन की दो परस्पर भिन्न वृत्तियों के मध्य दोलायित जीवन की प्रस्तुति हुआ करती थी। इस विचार के ग्रहण करने का अर्थ यह होता है कि 'ड्रामे' अथवा समस्या-नाटक में सामान्यतः उन विचारों, स्थितियों और आवेगों की प्रस्तुति होती है, जिनके दुखात्मक आयाम नहीं होते। सुखान्त नाटकों से ऐसे नाटक की कोटि-भिन्नता इस कारण तो है हो कि 'ड्रामे' में मनोरंजक घटना का अभाव हुआ करता है ; साथ ही इसलिए भी है कि 'ड्रामे' का सहज स्वर-समायोजन गम्भीर और उसका अन्तिम लक्ष्य उपदेशात्मक तथा सुधारात्मक होता है। यह एक सुविचारित धारणा है कि प्रेरणा की कोई भी मात्रा और नाट्य-कौशल का कोई भी परिमाण केवल अपने बल पर समस्या-नाटक को न तो दुःखान्त बना सकता है और न सुखान्त ही। यही कारण है कि समस्या-नाटक नाटकीय संरचना का एक मिश्रित रूप माना जाता रहा है। किन्तु, प्रोफेसर लॉरेन्स का विश्वास है कि उसका सम्बन्ध दुःखान्त नाटकों के उस तथाकथित मिश्रित रूप—'दुःख-सुखान्त' के साथ भी नही है, जिसमें आवश्यक गम्भीरता का अभाव रहता है और जो कुल मिला कर विश्लेषणात्मक नहीं, केवल रंगमंचीय ही हुआ करता है।[१]

दुःखान्त, सुखान्त तथा दुःख-सुखान्त, जिसके लिए डॉ० नगेन्द्र ने 'प्रसादान्त' शब्द का प्रयोग किया है, तथा समस्या-नाटक के बीच अवस्थित सूक्ष्म अन्तर वस्तुतः हमें किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा भी नहीं पाते। सच्ची बात यह है कि समस्या-नाटक ने सुखान्त और दुःखान्त दोनों प्रकार के नाटकों की विशेषताओं को आत्मसात् किया है। शॉ के नाटक, जहाँ एक ओर विशेष समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं, वहीं दूसरी ओर उनमें हास-परिहास तथा उपहास के तत्व भी प्रचुर मात्रा में भरे हुए है। 'जोन्स' का 'माइकेल ऐन्ड हिज़ लॉस्ट एन्जेल', 'पिनेरो' का 'मिड चैनेल', 'ग्रैन-विले-बार्कर' का 'वेस्ट' और 'गॉलसवर्दी' के 'स्ट्राइफ़' और 'जस्टिस' आदि नाटक ऐसे सशक्त दुःखान्तों के, जो आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं और असहायावस्था को प्रत्यक्ष करते हैं, रूप में भी बहुमान-प्राप्त हुए हैं। इसलिए इन सारी बातो को ध्यान में रख कर डॉ० आर० सी० गुप्त ने यह स्थिर किया है कि इसके पीछे कोई औचित्य नही दीखता कि दुःखान्त या सुखान्त नाटकों का सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं से क्यों नही होना चाहिए। यदि नाटक-कार में संकेन्द्रित तथा संकेतित करने की उचित क्षमता है तो उसका समस्या-नाटक भी 'सर्वव्यापकता' के वैसे ही प्रभाव उत्पन्न कर सकता है, जैसे कि श्रेष्ठ दुःखान्त या सुखान्त नाटक। इसके अतिरिक्त समस्या-नाटकों और अठारहवीं शताब्दी के 'ड्रामे' नामधारी नाटकों को एक ही कोटि में रख देना भी बहुत हद तक भ्रमोत्पादक इसलिए भी सिद्ध होगा कि 'ड्रामे' में विक्टोरिया-युग की उन सामाजिक उत्तेजनाओं और साहित्यिक प्रवृत्तियों की झलक तक नहीं मिलती, जिनकी

---

१. शेक्सपियर्स प्रॉब्लेम कॉमेडीज़—प्रोफेसर लॉरेन्स—पृ० ७
आर० सी० गुप्त के ग्रन्थ 'द प्रॉब्लेम प्ले—पृ० २५ पर उल्लिखित।

कोख से समस्या नाटकों का जन्म हुआ है ।[1]

यूरोप में समस्या-नाटकों के उदय के समय जन-रुचि की जो स्थिति थी, उसका आकलन अब हम अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे ।

'सेन्ट्स ऐन्ड सिनर्स' की भूमिका में एच० ए० जोन्स ने बताया है कि उन दिनों 'महान अंग्रेज़ जनता' ऐसे ही नाटकों का तालियों की गड़गड़ाहट के साथ स्वागत करती थी, जिनमें कृत्रिमता, अतिशयोक्ति और अति-नाटकीयता ठसाठस भरी होती थी ।[2] 'क्वार्टरली रिव्यू' के नाट्य समीक्षक ने 'द विक्टोरियन स्टेज' में यह सम्मति दी थी कि हम तो चाहते है कि हमारा मनोविनोद हो; कैसे ? इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता ।[3] इससे भी अधिक स्पष्ट हो कर 'Piece bein Faite' के आविष्कारक स्क्राइव ने फ्रेन्च-अकादमी के सम्मुख भाषण करते हुए कहा कि 'हम रंगशाला में उपदेश और आत्म-शुद्धि के लिए नही बल्कि मनोविनोद और मन-बहलाव के लिए जाया करते हैं ।'[3] इस प्रकार उन दिनों फ्रांसीसी नमूने पर ढले जो नाटक चल रहे थे, उनमें सम-सामयिक जीवन और अनुभवों की छाया भी नहीं थी । थियेटरों के सूत्रधार सस्ते सुखान्तों, ठिठोलियों, स्वांगों, परिहासों और भाँडों के बल पर रुपये की तीन अठन्नी भुना रहे थे । प्रेक्षकों की रुचि भी कुछ ऐसी भोंडी हो गयी थी कि लगता था, वे जीवन के कटु यथार्थो से भाग कर कल्पना के नीड़ में ही रमना चाहते हैं । उनके लिए नाटक की रंगशाला एक ऐसी जगह सिद्ध हो रही थी, जहाँ प्रकाश और ध्वनि, जादू और रहस्य के चाकचिक्य से उद्भूत उल्लास और प्रसन्नता टके सेर मिल जाय ।

रंगशाला के खचाखच भर जाने को ही नाटक की उत्कृष्टता का प्रमाण मानने वाले सूत्रधारों, मनोविनोद और मन-बहलाव को ही नाटक की सफलता का निकष मानने वाले समीक्षकों और यथार्थ से पलावन को ही साहित्य समझ लेने वाले प्रेक्षकों को यदि नाट्य-कला के साथ-साथ रंगमंचीय विधान में भी सर्वथा नवीन प्रयोग करने वाले समस्या-नाटककार धूमकेतु जैसे दीख पड़े तो इसमें विस्मय के लिए गुंजायश ही नहीं हो सकती । नये नाटक प्रचलित भाव या सिद्धान्त-पक्ष के प्रति नास्तिक तो थे ही परम्परागत शैली-पक्ष को भी त्याज्य मानते थे । इन नये नाटकों के अभ्याक्रमी नूतन आकल्प ने पुरानेपन के टाट को एकबारगी ही उलट देना चाहा और इस कारण पुराने लोगों के आगे समस्या-नाटक एक भयंकर व्याघात के रूप में ही प्रकट हो पाया । उन्होंने अपने जानते पूरी कोशिश की कि समस्या-नाटक रंगमंच के लिए अछूत बने रहें । उन्होने इन नये समस्या नाटकों के विषय में भाँति-भाँति के प्रवाद फैलाये । कहा गया कि समस्या-नाटक अधम उद्देश्यों और हीन प्रयोजनों की सिद्धि के निमित्त ऐसे प्रकरणों

---

१. द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० २६
२. ३. सेन्ट्स ऐन्ड सिनर्स की भूमिका—एच० ए० जोन्स—आर० सी० गुप्त के द प्रॉब्लेम प्ले'—पृ० २ पर उल्लिखित—देखिए पाद टिप्पणियाँ ।
३. मानदंड—भाग-१—नलिन विलोचन शर्मा—पृ० ६२

तथा प्रसंगों को महत्व देते हैं, जो न केवल अशोभन हैं, बल्कि कुरुचिपूर्ण भी हैं और इस कारण वे रंगमंच का दुरुपयोग ही करेंगे, कुछ बना न पायेंगे। एच० ए० जोन्स ने समस्या-नाटकों को पानी पी-पी कर कोसा और कहा कि समस्या-नाटक, 'रोग, कुरूपता और दुर्गुण' पर आधृत नाटक है और उसका तिरस्कार होना ही चाहिए। क्लीमेन्ट स्कॉट ने तो यह भी प्रतिज्ञा की कि यदि कोई व्यक्ति यह सप्रमाण सिद्ध कर दे कि जनता नये नाटकों को पसन्द करती है, उनका अनुमोदन करती है, तो वह नाटक लिखना ही छोड़ देगा। सन् १८९१ में जब 'रॉयल्टी थियेटर' में इब्सन रचित 'घोस्ट्स' नामक नाटक प्रस्तुत किया गया तब 'डेली टेलीग्राफ़' नामक पत्र ने 'अश्लीलता और आत्म-श्लाघा, अशिष्टता और विवेकशून्यता की संचित राशि तथा एक खुली नाली, बिना पट्टी का एक घिनोना फोड़ा और सरेआम किया गया एक गंदा कृत्य' कह कर उसकी भर्त्सना की।[1] इब्सन पर काम-विकृत होने का गम्भीर आरोप किया गया और उनके नाटकीय पात्रों को प्रकृति और समाज का द्रोही कह कर लांछित किया गया। 'पिनेरो' के 'द सेकेन्ड मिसेज टेंक्वरी' नामक नाटक की भी इसी तरह खिल्ली उड़ायी गयी और उसे गर्हित बताया गया। आलोचकों ने उसको भी एक अति अश्लील और घृणित कृति करार दिया। इन नाटकों से भी अधिक विरोध 'जोन्स' के 'वेल्थ' का हुआ। यह इसलिए भी कि उसमें पहली बार रंगमंच पर राजनीतिक वाद-विवाद को प्रस्तुत किया गया था और उसके नायक को समाजवादी विचार-धारा के प्रचेता-रूप में उपस्थित किया गया था। 'जोन्स' के 'सेन्ट्स ऐन्ड सिनर्स' तथा 'माइकेल ऐन्ड हिज़ लॉस्ट एन्जेल' को एकदम धर्म-विरुद्ध ही घोषित कर दिया गया। आलोचकों ने कहा कि उनमें दूषित वासना का चित्रण है और उनके पात्र धर्म के विरुद्ध भाषण करने की हिमाकत करते हैं।

इतनी कटु और निर्मम आलोचनाओं तथा विमर्शित उपेक्षाओं के बावजूद गॉल्सवर्दी, ग्रैनविले-बार्कर तथा हैनकिन आदि नाटककार एक के बाद एक, ऐसे-ऐसे समस्या-नाटकों का प्रणयन करते चले जा रहे थे, जिनमें उनके पात्र परम्परागत नैतिक मर्यादाओं का, बिना किसी हिचक और परिताप के, विमर्शतः उल्लंघन करते थे और फिर स्वभावतः उन पाठकों को पीड़ा पहुँचाते थे, जो समाज में धर्मानुरागी प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते थे। इन नाटककारों के मौलिमणि बर्नार्ड शॉ को तो उनके उदय के साथ ही 'अनैतिक एवं उद्धर्मी नाटकों के विशेषज्ञ'[2] की संज्ञा दे दी गयी थी। शॉ के आलोचकों का कहना था कि वे जान-बूझ कर अप्रिय और अशोभन प्रकरणों का समावेश कर अपने पाठकों पर करारी चोट करने के लिए कृत-संकल्प और उतारू-से दीखते हैं।

१: द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० ५ (पाद टिप्पणी)
'ए मास ऑफ़ वल्गेरिटी ऐन्ड इरोटिज्म, कोर्सनेस ऐन्ड एब्सर्डिटी। एन ओपन ड्रेन, ए लोथसम सोर अन-बैंडेज्ड, ए डर्टी ऐक्ट पब्लिकली डन।'

२: द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० ६

उन्नीसवी शताब्दी के नवें दशक में शॉ के नाटकों की इतनी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि उन्हें हज़ारो-हज़ार गाली, अपमान, प्रतिरोध और दमन का शिकार बनना पड़ा। लोग उन्हें सरेआम 'शैतान का अवतार' कह कर चिढ़ाते थे। फिर भी शॉ और उनके जैसे दूसरे समस्या-नाटककारों ने घुटने नहीं टेके। उन्होने अत्यन्त निष्ठापूर्वक समाज के खोखले आदर्शों और परम्परागत नीतियों की धज्जी उड़ायी और तत्कालीन समाज के दुर्गुणों और उसकी अनीतियों का पर्दाफ़ाश किया। शॉ के निन्दकों ने चाहे उन्हें मनहूस और सनकी कह कर उनकी कितनी ही निन्दा क्यों न की हो, खरो सचाई यह भी थी कि वे उनके नाटकों के प्रति दिनानुदिन खिचते भी चले गये। वे शॉ के नाटकों में अपने को प्रतिबिम्बित देख, पहले तो हँस पड़ते और फिर यह सोच कर चिढ़ते कि वे अपने ही विद्रूप के प्रति रसमग्न हो रहे हैं। शॉ ने उनको भावनाओं पर और भी चोट करने के लिए 'विडोअर्स हाउसेज़' जैसे नाटक लिखे। शॉ के 'विडोअर्स हाउसेज़' में मध्यवर्गीय रूढ़ियों का इतना नाटकीय, पर साथ ही इस हद तक तथ्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया गया कि सारा समाज ही जैसे बौखला कर सिर धुनने लगा। शॉ के 'मिसेज वॉरेन्स प्रोफ़ेशन' के चित्रण ने तो एक भयंकर नैतिक आतंक-सा फैला दिया। शॉ के इस नाटक का महत्व यह है कि उसमें आर्थिक विवशता के उस मूल कारण का उद्-घाटन किया गया है, जिसकी बदौलत नारी को अपने शरीर का रोज़गार करना पड़ता है और जिसके फलस्वरूप वेश्यावृत्ति का अनीतिपूर्ण घिनौना व्यापार समाज में चलता है। शॉ के 'आर्म्स ऐन्ड द मैन' के अभिनय तथा उसमे प्रस्तुत युद्ध तथा वीरता-विषयक विचारों से क्षुब्ध हो कर प्रिन्स ऑफ़ वेल्स ने बड़े ही तैश में घोषित किया था कि इस नाटक का रचयिता चाहे जो भी हो, वह निस्सन्देह पागल है।[1]

जनता में इन समस्या-नाटकों के प्रति जो क्षोभ था, उसके कारण सरकार ने उन पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया, जिसके फलस्वरूप वे रंगमंच पर उतारे न जा सके। लेकिन इस सरकारी प्रतिबन्ध का अनिवार्य परिणाम यह भी हुआ कि असंख्य पाठक उन नाटकों को अपने उन एकान्त कक्षों में ले गये, जहाँ सरकार के लम्बे हाथ भी नही पहुँच पाये और इस प्रकार पाठकों को गुदगुदा कर वे चिकोटी काटते रहे।

०

समस्या-नाटक की एक बड़ी विशेषता इस बात में है कि उसने जीवन पर पड़े हुए मिथ्यात्व के आवरण को हटाने की चेष्टा की, साधारणतः स्वीकृत तथा प्रचलित विश्वासों और रूढ़ियों की धज्जी उड़ायी और कुरूपता तथा मलिनता के सामयिक यथार्थ को अनावृत करके खड़ा कर दिया। इस अर्थ में समस्या-नाटक भ्रमनिवृत्ति का नाटक है। इन नये नाटकों ने पाखड का पर्दाफ़ाश किया, आडम्बर को उघाड़ कर रख दिया और ऊँचे आसनों पर प्रतिष्ठित देवताओं को धराशायी कर दिया। इन नाटकों ने जीवन और चरित्र के न केवल गोचर दृश्यों का ही अंकन किया, बल्कि मध्य-

१: द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० ७

वर्गीय समाज द्वारा सम्पूजित और सम्पोषित पवित्र आदर्शों तथा नित्य के चित्र-विचित्र व्यवहारों की तह में जा कर भयंकर यथार्थ को छान लाने का प्रयत्न भी किया। इन्होंने झूठे छल-कपट का प्रत्याख्यान किया और बताया कि उसका आश्रयण कर किस प्रकार अपराधों को कानूनी रूप दिया जाता है और कुकर्मों के लिए सदाचार का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने का कूट-कर्म सिद्ध किया जाता है।

समस्या-नाटककारों ने न जाने कितने ऐसे सत्यों के दर्शन कराये, जो या तो भावुक मिथ्या वाक् से आवृत थे अथवा नीति और सदाचार की शिला तले दबे पड़े थे। उन्होंने आकर्षक रंगों या रूमानी असंगतियों का पुट भर कर सत्य के साथ किसी प्रकार का छल नहीं किया, असत्य की संरक्षा के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। प्रत्युत यह प्रयत्न किया कि झूठे विश्वासों और जीर्ण-शीर्ण आदर्शों का आँख मूँद कर अनुगमन करने का परिणाम घातक हुआ करता है। उन्होंने मध्यवर्गीय आचार और जीवनादर्श की इस प्रकार कठोर आलोचना की कि समस्या-नाटक का वास्तविक लक्ष्य ही मध्यवर्गीय प्रतिष्ठा के आधारभूत वास्तविक सत्य की गवेषणा बन गया। समस्या-नाटककारों ने रानी विक्टोरिया के युग की रूढ़ि-मान्यताओं तथा मिथ्या विनय की अवमानना की और समसामयिक जीवन का सविस्तार चित्रण करने के साथ-साथ अद्यावधि उपेक्षित और अस्पृश्य समझे जाने वाले विषयों एवं प्रकरणों को अपना रचना-विषय बनाया। मध्यवर्ग अपनी कृत्रिम प्रतिष्ठा की सुरक्षा के निमित्त अपने कर्म, राजनीति एवं यौन सम्बन्धी अप्रिय तथ्यों पर एक झीना-सा पर्दा डाले बैठा था; और इस प्रकार जीवनानुभव के एक बहुत बड़े घेरे पर संस्कार और सदाचार का ताला लगा कर उसने गम्भीर नाटकों के लिए 'प्रवेश निषिद्ध' की तख्ती टाँग रखी थी। ऐसे मध्यवर्गीय शिष्टाचारों की अर्गलाओं से मुक्त ये नये नाटककार इस वर्जित प्रदेश में आ धमके और उन्होंने ऐसी स्पष्टवादिता के साथ उसकी एक-एक अन्तर्गुहा का वर्णन करना आरम्भ किया कि टेनीसन की आनन्दपूर्ण मूर्च्छनाओं पर थिरक उठने वाला सम्पूर्ण 'विक्टोरियन' लोक-समाज झुँझला उठा। नये नाटकों ने पुरानेपन को पुकार कर कहा—'ज़रा यह तो देखो कि तुम्हारे पास कोई शाश्वत सत्य भी है या महज़ कल्पना की बेख़ुदी में तुम डूबे पड़े हो'।[1] इस पुकार की अवहेलना आसान भी नहीं थी।

इस प्रकार समस्या नाटककारों ने नयी पीढ़ी को, मानव-विचार और व्यवहार को ग्रस लेने वाले, झूठे अन्ध-विश्वासों की दासता और रूढ़ियों के शिकंजे से मुक्त किया। उन्होंने उन चिहुँका देने वाले यथार्थों को खोद कर बाहर निकाला, जो तथाकथित पवित्र विवाह-संस्कार तथा माँ-बाप के बाल-बच्चे पर अधिकार आदि मान्यताओं के मलबे के नीचे युगों से दबे पड़े थे और जिन पर सुखी गृह-जीवन, राष्ट्रभक्ति, सैन्य-शक्ति का गौरव, कानूनी लेकिन फ़र्ज़ी समानता तथा न्याय, एवं उदार दृष्टि तथा वर्ग-

---

१. द रेनासाँ ऑफ़ इंगलिश ड्रामा—एच० ए० जोन्स—पृ० २४६—आर० सी० गुप्त के 'द प्रॉब्लेम प्ले' पृ० ७७ पर उल्लिखित।

चेतना की विविध हरी-हरी वल्लरियाँ आच्छादन बना कर फैली हुई थीं। इन नये नाटककारो ने आदर्श और मिथ्या विनय के इन्द्रजाल से यौन-सम्बन्ध को तथा रोमानी सम्बन्धों के प्रेमजाल से प्रेम को जैसे फटक कर अलग कर दिया। इन्होने प्रेम को उच्च आध्यात्मिक आदर्श अथवा उदात्त एवं निरपेक्ष भावना के रूप में ग्रहण करने से साफ़-साफ़ इन्कार किया, उसकी पवित्रता एवं उसके स्थायित्व को भ्रम बताया और उसे एक प्रकार की प्राकृतिक दैहिक भूख अथवा उत्पादक उत्तेजना के रूप में पूर्ण ईमानदारी के साथ स्वीकार किया। उनकी दृष्टि मे यौन-सम्बन्ध अपनी महत्तम उपलब्धि के शाश्वतीकरण के निमित्त सम्पन्न एक प्राकृतिक योजना के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। यही कारण है कि बिना किसी भावनात्मक प्रसाधन के, पडित लक्ष्मीनारायण मिश्र के शब्द में बेठनके, उसकी समस्त व्यावहारिक उलझनों तथा परिणामों के साथ उसे चित्रित करने की प्रवृत्ति जागरित हुई। (समस्या-नाटकारों ने आनन्द के स्थायी एवं अन्तिम शरण-स्थल के रूप में गृहीत विवाह के वाक्छल का भी पर्दाफ़ाश किया और उसकी पवित्रता, अनिवार्यता एवं अभेद्यता-सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं का खंडन किया। दूसरी ओर, उन्होंने लोगों का ध्यान प्रेम-शून्य गठ-बंधनो की ओर आकृष्ट किया और घरेलू ज़िन्दगी की पवित्रता, सतीत्व आदि के ढकोसलों की अवमानना की। उनके विचार से विवाह अधम दासता या वेश्यावृत्ति से किसी मानी मे उत्तम नही है; कहना चाहिए कि विवाह कृत्रिम भावोच्छ्वासों और काल्पनिक कर्त्तव्यों के रेशमी धागों में नारी को बाँध, पुरुष की मर्ज़ी पर उसकी असहाय निर्भरता को टिकाये रखने का एक कपट-विधान है।) नारी के अधिकारों की वकालत करते हुए उन्होंने पुरुष की श्रेष्ठता को चुनौती दी और घोषित किया कि रसोई तथा प्रसूति-गृहों की चहारदीवारियों तक ही नारी की गति-विधि को सीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इन्होंने सुकुमारिता और शील की सीमाओं में बँधी हुई नारी को मुक्त किया और पुरुष को ही यौन-प्रयत्नों का एकमात्र अधिकारी मानने वाली प्रचलित रूढ़ि को ध्वस्त किया। समस्या-नाटकों के रचयिताओं ने नारी की पलकों पर डोलने वाली अश्रु-बूँदों को ही नहीं पोंछा अपितु मोम की उन पुतलियों को पहली बार फ़ौलादी दृढ़ता प्रदान करने की भी चेष्टा की।)

नये नाटककारों ने प्रचलित कौटुम्बिक आदर्श का मखौल, उसे पाखंड और अनुत्रास कह कर, उड़ाया और जनक-जन्य-सम्बन्ध के विषय में आर्थिक और मनोवैज्ञानिक सचाइयों का मौलिक उद्घाटन किया। उन्होंने सुझाया कि परिवार में वरिष्ठों द्वारा कनिष्ठो के स्वस्थ उद्वेगों का अस्वस्थ दमन होता है और कौटुम्बिक पितरों के निरंकुश अधिकार के तले व्यक्ति का स्वस्थ विकास बाधित होता है। समस्या-नाटकों ने ही सम्भवतः पहली बार मध्यवर्गीय घरेलू जीवन के विघटन के इष्ट का प्रतिपादन किया। इस प्रकार उन्होंने गतानुगतिक तथा उदीयमान—इन दो पीढ़ियों के संघर्ष को वाणी दी।

समस्या-नाटकों ने न्याय-संस्थानों की उपयोगिता के विषय में पुर्नविचार का प्रश्न उठाया और यह सुझाया कि प्रचलित न्याय-तंत्र दुर्बलों के हितों की दृष्टि से अतिचारी और कठोर ही सिद्ध होता है। उससे धनियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति की ही रक्षा होती है, ग़रीबों के स्वत्व की नहीं। वह 'यथा-स्थिति' को ही बनाये रखने का अभ्यासी है और इससे उनको, जो परिवर्त्तन करना चाहते हैं, वह 'अपराधी' तथा समाजद्रोही समझ कर कड़े-से-कड़े दंड का भागी समझता है। समानता का सिद्धान्त, जिसका ढोल न्याय-तंत्र अपने गले मे बाँध कर रात-दिन पीटता रहता है, सच पूछिये तो एक भयंकर छलावा है। सचाई यही है कि न्याय-तंत्र पैसे वालों का क्रीतदास है और सिर्फ ग़रीबों को ही पीड़ित करने के लिए बनाया गया है।

समस्या-नाटककारों ने अभिशापों को छिपाने अथवा उनके अर्थहीन उदात्तीकरण को भूल बताया और यह प्रतिपादित किया कि तथाकथित महत्ता, वीरता अथवा देश-शक्ति आदि से स्वीकृत गुणों में भी उनकी आस्था नहीं हो सकती। यह इसलिए कि इन सारी वस्तुओं के पीछे कोई-न-कोई छोटा या बड़ा स्वार्थ निहित हुआ करता है।

समस्या-नाटकों की इस नवीन यथार्थवादी चेतना ने समाज को झकझोर दिया, उसने नयी-नयी विचार-लहरियाँ उत्पन्न कीं और सबसे ऊपर तो यह किया कि नाट्य विधा को एक नया मोड़ दे दिया। कला की लतिका, जो अपने मूल से दूर हो कर पीली तथा शिशिराक्रान्त हो कर ठिठुरी जा रही थी, इन नाटकों से पोषक तत्व ग्रहण करके, एक बार फिर से हरी-भरी बनी। जोन्स ने कहा है कि 'जब कभी कला जर्जर, जीर्ण और मरणासन्न दीखे उसे प्रकृति, सत्य और यथार्थ की ओर ले चलना चाहिए'।[1] समस्या-नाटककारों ने इसी जीवन-देवता को उसके समस्त गुण-अवगुणों सहित, बिना किसी पूर्वाग्रह के, रूपायित करने का प्रयत्न किया और उसके उन्मुक्त हास, तीखी पीड़ा और उफनते हुए दर्प को अभिव्यंजित करने की प्रतिज्ञा की।

यह स्वाभाविक ही था कि अपने सुन्दर परिधानों के अन्दर छिपे हुए कोढ़ को एक झटके में उघड़ते देख, लोग चिहुँक उठते, हतप्रभ हो जाते और अपने सामने भारी भीड़ को देख एकबारगी ही 'नहीं' कर उठते।

o

नाटक का यह साधारण नियम रहा है कि उसमें किसी विरोधी शक्ति के साथ व्यक्ति के संघर्ष की प्रस्तुति हो। यह संघर्ष-प्रदर्शन ही नाटक का प्रतिपाद्य माना जाता रहा है। देश-काल के अनुसार व्यक्ति की विरोधी शक्ति का स्वरूप भी बदलता रहता है और इसी से नाटक के प्रतिपाद्य के विषय में भिन्न-रूपता देखी जाती है। अत्यन्त द्रुतगति से परिवर्तित होने वाले आज के जीवन में किसी भी स्वतंत्रता-कामी का, उसके परिवेश

---

१. द रेनासाँ ऑफ़ द इंगलिश ड्रामा—एच० ए० जोन्स—पृ० २२१ 'व्हेनएवर आर्ट बिकम्स एफ़्फ़ीट, डेक्रेपिट मॉरबंड, देयर इज़ बट नन मेडिसिन फ़ॉर इट—कम बैक टू नेचर, टू ट्रूथ, टू रियेलिटी।'

के साथ संघर्ष का हो जाना सहज सम्भव है। कभी कहा गया कि ईश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्र बन कर रहने के लिए उत्पन्न किया था, लेकिन वह सर्वत्र बन्धन में है। इस कथन की सार्थकता आज इतनी स्पष्ट है कि उसके प्रतिपादन के लिए तनिक भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है। व्यक्ति और उसके परिवेश के बीच होने वाले इस संघर्ष में समस्या-नाटककारों को अपने दिमाग़ के लिए ख़ुराक और अपने नाटकों के लिए मसाला मिलता है।

समस्या-नाटकों में पहले के नाटकों की भाँति मानव का अपनी नियति के साथ संघर्ष नहीं दिखाया जाता; और न तो उसकी कुमति और सुमति के द्वन्द्व की ही व्यंजना की जाती है। बल्कि इनसे सर्वथा भिन्न, समस्या-नाटक का प्रतिपाद्य होता है—सामाजिक सीमाओं के भीतर के विरोधों और संघर्षों को प्रकट करना। नये नाटकों के पात्र प्रधान रूप से कानून और विक्टोरियन समाज की रूढ़ियों और परम्पराओं के साथ संघर्ष करते हैं; और सामाजिक वैषम्य तथा पाखंड के प्रति विरोध का नारा बुलन्द करते हैं। इन नाटकों की सम्वेदना उन अभागे लोगों और समुदायों के प्रति है, जो समाज के ढाँचे में उपेक्षित, अनादृत, पद-दलित और पीड़ित थे; और इन्होंने सम्भवतः पहली बार समाज की जर्जर परम्पराओं की उपेक्षा करते हुए व्यक्ति के चिन्तन और कर्म के स्वातन्त्र्य की माँग प्रस्तुत की।

यूरोप में नाटक के क्षेत्र में इस नये दृष्टिकोण के प्रस्तोता इब्सन थे। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने पुरानी रूढ़ियों का परित्याग किया और नये विचारों की सम्पुष्टि की। प्रायः अपने सभी नाटकों में इब्सन ने बताया कि आधुनिक समाज मूलतः झूठा है और कुछ असत्य परम्पराओं की बैसाखी पर उसका कंकाल टिका खड़ा है। स्थिति की सबसे बड़ी विरूपता यह है कि जिन बातों से समाज के झूठ के प्रकट होने का ख़तरा होता है, उन्हें वह दबाने को सतत चेष्टा करता रहता है। इब्सन ने अपनी कृति 'ए डॉल्स हाउस' में नारी-स्वातन्त्र्य तथा जागर्ति का समर्थन किया और 'घोस्ट्स' में, समाज में फैली हुई यौन-विकृतियों को उघाड़ कर रख दिया। ये ऐसे तथ्य थे, जिनसे समाज अब तक कतराता रहा था। व्यक्ति और समाज, तथ्य और भ्रान्ति तथा सत्य और असत्य के द्वन्द्व पर व्यक्त किये गये विचार तथा उनके प्रमाण पर अनन्तकालीन तथा विश्वजनीन समस्याओं की प्रस्तुति इब्सन की महत्वपूर्ण देन माने गये हैं।

समस्या-नाटकों का उद्भव जनरुचि के साथ-साथ रंगमंचीय परम्पराओं के क्षेत्र में भी एक बड़े परिवर्तन का सूचक बन गया। नये नाटकों ने प्रेक्षक की आँखों और उसके कानों को तृप्त करने से अधिक उसके मस्तिष्क को ख़ुराक देने का प्रयास किया। इस प्रकार रंगशाला अब वह जगह नहीं रह गयी, जहाँ जा कर कोई दो क्षण का मन-बहलाव ख़रीद ले अथवा अपना थोड़ा-सा भारी वक्त काट ले। अब प्रेक्षक रंगशाला जाता था—नाटककार के अनुभवों के साथ एक-रूप होने के लिए; और वह देखता था कि नये नाटकों से उसे जीवन, व्यवहार और नीति के विषय में वैसे नवीन दृष्टि-

कोण और विचार मिलते हैं, जैसे उसे चाहिए थे ।

शॉ ने अपने गम्भीर नाटकों का प्रणयन 'आनन्दपूर्ण दिवास्वप्नों या रोमानी असंगतियों के आग्रह पर न करके बौद्धिक अभिरुचि तथा मानव-चिन्ता'[1] को उभारने के अभिप्राय से किया था। शुद्ध कला के नाम पर वे एक भी पंक्ति लिखने के लिए भरसक लेखनी न पकड़ते। उनका लक्ष्य निश्चित था और वे उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र के मानस को जागरित करना चाहते थे । उन्होंने समझ लिया था कि 'महान कला सिर्फ कला के लिए कदापि नहीं तैयार की जा सकती, उसका निमित्त शिक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता ;'[2] उसकी सार्थकता इसी बात मे है कि वह बुद्धि को चेतन बनाये और अन्याय के विरोध की प्रेरणा दे ।

'गॉल्सवर्दी' एक ऐसे नाटककार है, जो खुल कर शिक्षा देने में संकोच करते हैं। वे कुछ हद तक स्वान्तः सुखाय रचना करने के आग्रही भी हैं। तथापि यह भी उतना ही ठीक है कि उनके नाटकों में भी अभिप्राय का एक आवर्त्त रहता है और उनका शिल्प भी किसी-न-किसी विचार के पुश्ते पर ही स्थिर रहता है।[3]

'ग्रैनविले-बार्कर' गम्भीर विचारों के व्यक्ति थे और उन्होंने मध्यवर्गीय समाज के पूर्वाग्रहों और दोषों पर अपने क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-निमित्त रंगमंच का यथेच्छ उपयोग किया। 'संत जॉन हैनकिन' में, न तो 'शॉ' का प्रचारोत्साह एवं संकल्प था और न 'गॉल्सवर्दी' की मानवीय सदाशयता । इसलिए उन्होंने न तो किसी प्रश्न-विशेष को रेखांकित किया और न किसी समस्या का निदान ही प्रस्तुत किया। फिर भी उन्होंने नाटक को तुच्छ मनोरंजन के रूप में कभी ग्रहण नही किया, प्रत्युत् अपने नाटकों के द्वारा समाज के छल और पाखंड पर चुभने वाली आलोचना की। 'हेनरी आर्थर जोन्स' ने तो इस मान्यता पर ही खीझते हुए आपत्ति की कि अंग्रेज़ी नाटक को शिक्षा देने का विचार भी नहीं करना चाहिए। जोन्स ने अपने अनुभवों के प्रमाण पर बताया कि बिना किसी गम्भीर उद्देश्य के, रचना कर पाने में नाटककार एक प्रकार की असमर्थता का अनुभव करता है। यह ठीक है कि जोन्स समसामयिक विचारों के साथ पग-से-पग मिला कर नहीं चल पाये। लेकिन 'द हिपोक्रैटस' और 'द ट्रायम्फ़ ऑफ़ द फ़िलिस्टीन्स' नामक नाटकों में उन्होंने मध्यवर्गीय पाखंड, दंभ और दृष्टि-संकोच पर तीखी टिप्पणियाँ की। इस प्रमाण पर हम कह सकते है कि उनके उपरिलिखित नाटक किसी गम्भीर उद्देश्य की प्रेरणा पर ही रचित हैं। 'पिनेरो' ने यद्यपि मौलिक चिन्तक होने का दावा नही किया, तथापि 'विलियम आर्थर' ने उन्हें एक मेधावी और साहसी

---

१. मिसेज़ वारेन्स प्रोफ़ेशन की भूमिका—जा० ब० शॉ

२. पिगमॅलियन की भूमिका

३. सम प्लैटिट्यूड्स कनसर्निंग ड्रामा—'द प्रॉब्लेम प्ले'—आर० सी० गुप्त पृ० १०५ पर उल्लिखित ।

अग्रदूत[1] ही माना। उन्होंने अपने नाटकों में उन नारियों की हताशा और निरीहता का भरपूर चित्रण किया, जिन्होंने प्रतिष्ठित समाज के स्वीकृत पूर्वाग्रहों तथा परम्पराओं की अवमानना की।

यह सही है कि गम्भीर समस्या-नाटक प्रस्तुत करने वाले रंगमंच का, लोक-जीवन में प्रभाव की दृष्टि से घर और गिरजाघर के बाद ही स्थान पड़ता था। इसलिए राष्ट्रीय जीवन के स्वरूप-निर्माण में उसका बड़ा महत्व हुआ। 'इब्सन' ने रंगमंच के शैक्षणिक महत्व पर और 'ग्रैनविले-बार्कर' ने उसकी दुर्दमनीय शक्ति एवं अभ्याह्वान पर प्रकाश डाला। 'जोन्स' ने तो यहाँ तक कहा कि जन-मानस पर उसका धर्म और नीति-संस्कार से भी अधिक व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'गॉल्सवर्दी' ने उसे सभ्यता का आकाश-दीप और 'शॉ' ने विचारों का कारखाना, चिन्तन का उद्बोधक, सामाजिक रीति का व्याख्याता, हताशा और उदासी का निवारक और मानव-विकास का मंदिर माना है। इस प्रकार के समस्या-नाटकों का जन-मानस पर ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि सारा समाज ही जैसे पंजों के बल पर उचक कर खड़ा हो गया और परिणाम-स्वरूप विचारों और धारणाओं में अद्भुत परिवर्तन होने लगा। इन नाटकों के द्वारा युग के त्रास और शोषण की चक्की को जनता ने पहचान लिया और उनके विरुद्ध मोर्चा खड़ा करके न्याय और सच्चे प्रजातंत्र की स्थापना की माँग की।

समस्या-नाटकों के प्रति आक्षेप करने वालों ने यह कह कर उनका जो तिरस्कार किया था, कि उनमें उपदेश की अतिशयता है, उसके प्रतिकार के लिए नये नाटककारों की ओर से यह सुझाया गया कि प्रचार का सामान्य अर्थ होता है—किसी दृष्टिकोण का प्रस्तुतिकरण अथवा किसी विचार का विमर्शित प्रतिपादन और यह कदापि बुरा नहीं है। समस्या-नाटकों के आलोचकों ने 'प्रचार' के साथ 'सस्तापन,' 'झूठ' और 'अपवाद' के प्रवाद को जोड़ रखा था और प्रचार करने वाले गम्भीर नाटकों को घटिया बताया था। ऐसा कहने वालों का विरोध करने के लिए 'शॉ' खड़े हुए और उन्होंने डट कर कहा कि वे प्रचार को बुरा नहीं मानते। यह इसलिए कि महान कला का साहित्य मूलतः प्रचार ही है।[2] इस विषय में एक बड़ी बात यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि नाटककार का विचार या लक्ष्य उसकी कला को कुंठित ही कर दे। प्रचारक का उद्देश्य नाटक-रचना के पथ में कोई दुस्तर बाधा उपस्थित नहीं किया करता और यह भी अनिवार्य नहीं है कि तलाक या नारी-अधिकार पर लिखा गया नाटक अच्छा और प्रभावशाली होने से रह जाय।

सच्ची बात यह है कि प्रचार जब एकांगी और पक्षपातपूर्ण होता है तभी असफल होता है और कला को क्षत-विक्षत करता है। वह प्रचार, जो न्याय और अच्छाई

१. द प्रॉब्लेम प्ले—आर० सी० गुप्त—पृ० १०६ पाद टिप्पणी २ में उल्लिखित।

२. ऑन द रॉक्स की भूमिका—जा० ब० शॉ

का पक्षधर हो, प्रभावहीन नहीं हो सकता। यदि नाटककार दो दलों, दो दृष्टिकोणों और दो विचारों में से किसी एक के प्रति ऐसा अनुचित पक्षपातपूर्ण रवैया अपना लेता है कि उस का पलड़ा भारी और दूसरे का हल्का पड़ जाय तभी उसकी कृति पक्षपात-पूर्ण अभिलेख बन जाती है और तब उसकी एकाग्रता, एक-तानता और प्रभावोत्पादकता के तत्व कुंठित पड़ जाते हैं और वह असफल हो कर बेकार हो जाती है। 'मार्टिन फ्लेविन' का 'क्रिमिनल कोड' और जान वेक्सली का 'द लास्ट माइल' एक ही विषय—मृत्यु-दंड के विरोध में रचे गये हैं। पहले नाटक का शीर्षक तो अत्यन्त नीरस है। किन्तु उसमें समस्या के विविध पहलुओं पर बड़े अच्छे ढंग से प्रकाश डाला गया है और विशेषज्ञों ने सर्व-सम्मति से उसे एक शक्तिशाली दुःखान्त नाटक के रूप में बहुमान दिया है। दूसरे नाटक का नाम आकर्षक तो ज़रूर है, किन्तु एक-तरफ़ा भावुक दलीलों से भरे हुए होने के कारण उसमें नाटकोचित गहनता नहीं आ पाती और इस प्रकार वह प्रभावशाली सिद्ध न हो सका। कलाकार जब अपनी तटस्थता को बनाये नहीं रख पाता तभी वह वैसा प्रचारक हो जाता है, जिसके हाथों में पड़ कर कला की सारी बारीकी और सूक्ष्मताएँ नष्ट हो जाती हैं। नारी-अधिकार के लिए संघर्ष करने वाली कतिपय महिला समस्या-नाटककारों की कुछ कृतियों में जोश की अतिशयता देखी जाती है। उनकी वैसी रचनाओं में प्रचार का सस्तापन भी है। ऐसे नाटकों में एक मिस रॉबिन-कृत 'वोट्स फ़ॉर विमेन' है, जो निश्चय ही 'प्रचार-पर्चा' है। 'मिस रॉबिन' के साथ-साथ इस क्रम में जिन अन्य नाटककारों के नाम गिनाये जा सकते हैं, वे हैं—'मिस हैमिल्टन,' 'मिस लीबरलिंग' आदि। इतिहास की गवाही है कि इन नाटककारों की एक भी कृति ऐसी नहीं हो पायी, जो रंगमंच पर उतर कर लोकप्रिय बन सके।

सामान्यतः यह माना जाता है कि 'बर्नार्ड शा' ने जो नाटक लिखे, उनमें प्रचार इतना प्रमुख हो गया है कि उन्हें 'प्रचार-नाटक' ही कहना चाहिए। लेकिन सचाई यह है कि 'शॉ' ने अपने प्रचार को अपने नाटकों की विस्तृत भूमिका तक ही सीमित रखा है। अपने नाटकों में तो उन्होंने शायद ही कभी शुद्ध उपदेश छाँटा हो। नाटकों में उन्होंने परस्पर विरोधी मतों को इस निर्लिप्तता के साथ उपस्थित किया है कि प्रत्येक पक्ष अपने आप में अकाट्य दीखता है। पाठक और प्रेक्षक कभी-कभी तो यही निर्धारित नहीं कर पाते कि नाटककार की अपनी सहानुभूति अथवा विश्वास दोनों विरोधी पक्षों में से किस के प्रति है। शॉ ने अपने सभी पात्रों को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखी है कि वे जैसे चाहें, स्वमत स्थापन करें, अपने अनुभवों का बखान करें। उन्होंने 'मैन एन्ड सुपरमैन' में और तो और शैतान को भी अपनी बात को प्रभावपूर्ण ढंग से कहने की स्वतंत्रता दी है। उन्होंने खुले शब्दों में घोषित किया है कि वे नग्न सत्य और सफ़ेद झूठ के संघर्ष को ले कर दिमाग खपाने के लिए कदापि तैयार नहीं। ऐसी सस्ती बातों में उनकी रुचि कभी नहीं रमी—ऐसा उन्होंने पूरी निष्ठा के साथ विश्वास

दिलाया है ।[1] शॉ की विशेषता यह है कि वे प्रश्न के सभी पहलुओं को उपस्थित करके, बारी-बारी से, बिना किसी पक्षपात या पूर्वाग्रह के, या तो उनकी खबर लेते हैं अथवा उनका समर्थन करते हैं। 'हैरल्ड हैब्सन' ने 'शॉ' की इसी निरपेक्षता को 'विचारों के नाटककार' के रूप में उनकी सफलता का सबसे बड़ा रहस्य बताया है ।[2]

'गॉल्सवर्दी' भी कभी पक्षधर या वकील के रूप में अपने नाटकों में नहीं आते। वे भी अपने प्रत्येक पात्र के प्रति पूर्ण न्याय बरतते हैं। ऐसा लगता है कि वे यह चेष्टा करते हैं कि विवादग्रस्त विचारों के बीच किसी पक्ष-विशेष के साथ अपने को एकाकार किये बिना वे एक संतुलन जैसा बनाये रखें। ऐसे स्थलों पर भी जहाँ गॉल्सवर्दी के विश्वास और उनकी सहानुभूति एकदम स्पष्ट है, वे अतिरिक्त सतर्कता के साथ अपर पक्ष को भी यथोचित अवसर, भाषा और तर्क प्रदान करते हैं। अपने प्रसिद्ध नाटक 'स्ट्राइफ़' में श्रम और पूँजी दोनों के संघर्ष को उन्होंने सर्वथा निस्पृह रूप से प्रकट किया है। ठीक ऐसी ही निर्लिप्तता और तटस्थता हमें ग्रैनविले-बार्कर और 'संत [illegible]' के नाटकों में भी प्राप्त होती है। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि समस्या-नाटककारों के विषय में उनके अनुदार आलोचकों के आक्षेपों-आरोपों की यदि हम ठीक से छानबीन करें तो हम उनके प्रति शायद बहुत अनुदार नहीं हो सकेंगे।

अपने विचारों और विश्वासों को व्यंजित करने के उद्देश्य से समस्या-नाटककार कभी-कभी ऐसे पात्रों की अवतारणा करते हैं, जिनको नाटककार की 'मानस-सन्तान' कहा जा सकता है। ऐसे पात्र कथा-विकास के दर्शक होते हैं और नाटककार की आत्मा के दर्शन कराते हैं। कुछ ऐसे ही पात्रों की सृष्टि प्रसाद ने अपने नाटकों में भी की है, जैसे—मंदाकिनी, देवसेना, मालविका, मिहिरदेव और दांड्यायन आदि। समस्या-नाटकों के ऐसे पात्र बड़े ज्ञान की बात तो कहते ही हैं, नाटककार द्वारा उपस्थित समस्याओं पर टिप्पणियाँ भी देते हैं और उसके विचारों का निचोड़ भी प्रस्तुत किया करते हैं।

समस्या-नाटक गम्भीर विचारों और कल्पनाओं को प्रकट एवं संकेतित करता है और मानव के जीवन एवं नियति को प्रभावित करने वाले प्रश्नों को उठाता है तथा उन्हें विशेष रूप से विवेचन का विषय बनाता है। आलोचकों ने ऐसा आक्षेप किया है कि ऐसे नाटकों में कार्य, चरित्र और कथोपकथन आवश्यक रूप से विचार और समस्या के अधीन हो जाते हैं और इस प्रकार वे रचयिता के विचारों के वाहक भर बन कर रह जाते हैं। किन्तु, ऐसा नहीं है कि समस्या-नाटककार विचार और निमित्त को मानव-परिवेश तथा नाटकीय प्रसंग से सर्वथा विच्छिन्न करके रखता है। उसके लिए यह प्रश्न वस्तुतः अधिक महत्वपूर्ण है कि वह किन गम्भीर विचारों को रेखांकित करता है। किन्तु, उसे इस बात का भी पूरा ध्यान रखना पड़ता है कि वह विचार-पक्ष को नाटकीय कथा में कौशल के साथ सन्निविष्ट करे।

---

१. प्लेज़ अनप्लेज़न्ट की भूमिका—जा० ब० शॉ

२. वर्डिक्ट ऐट मिडनाइट—हैरोल्ड हैब्सन—पृ० ६७

समस्या-नाटककार अपने विचारों को एक दार्शनिक, वक्ता, समाज-शास्त्री या पर्चेबाज़ की तरह उपस्थित नहीं कर सकता। अमूर्त्त विचारों या स्मृति-ग्रन्थों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह सत्य का कोई निगूढ़ दर्शन भी उपस्थित नहीं करता। रंगमंच पर विचार हवा में नहीं तैर सकते; इसलिए नाटककार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने विचारों को ठोस प्रतीकों या वास्तविक घटना-क्रम मे गूँथे। उसे अपने विचारों और ठोस व्यावहारिक अनुभवों के साथ किसी-न-किसी वस्तु-निष्ठ सापेक्षता या वैषयिक सह-सम्बन्ध को अनुस्यूत करना ही पड़ता है, विचारों को नाटकीय रूप में प्रस्तुत करने के लिए उसे कोई-न-कोई मूर्त्त काया प्रदान करनी ही पड़ती है। यह मुख्यतः इसलिए भी कि जो नाटक अमूर्त्त रूप में किसी समस्या का प्रयोग करता है, वह निबन्ध या भाषण हो जाने से बच नही सकता।

समस्या-नाटक के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु, विवेचित समस्या नहीं, उसके द्वारा प्रस्तुत कार्य और जीवन-दृश्यों में उसका अन्तर्लयन है। नाटककार का उद्देश्य, मानव-चरित्र का निदर्शन है, 'वृत्त' तैयार करना नहीं। उसके विचार सीधे व्यक्त नही हो सकते, नाटकीय पात्रों के संघर्षो और अनुभवों के, अभिनय के माध्यम से ही प्रस्तुत होसकते हैं; वे परिवेश और चरित्र के तर्कानुसार मज्जा और रक्तगत यथार्थों से ही उभरेंगे। जब सामान्य नाटक ही आँकड़ागत इत्तिवृत्त नहीं हुआ करता, मानव-अभिलेख होता है, तब उस समस्या-नाटक के विषय में क्या कहा जाय, जो जीवन और चरित्रों का ही नाटक होता है ?

समस्या-नाटक उन मध्यकालीन रीति-नीतियो से मूलतः भिन्न पड़ता है, जिनमें शुभ-अशुभ की अमूर्त्त शक्तियों का निर्जीव प्रस्तुतिकरण हुआ करता था। इसी से इसकी रीति-पद्धति स्पष्टतः नवीन है।

समस्या-नाटक के लिए अत्यावश्यक है—आकार के सम्बन्ध में गहरी सतर्कता और अपेक्षित साध्य की दृष्टि से उपयुक्त साधन का यथोचित अनुकूलन। नाटककार घटनाओं और तथ्यों का जैसा-तैसा विपर्यस्त संग्रह नही प्रस्तुत किया करता—उसकी कला का आग्रह है कि उसकी परियोजना क्रमबद्ध और प्रयत्न सुनिर्दिष्ट हों। यही कारण है कि उसके लिए विन्यास और वरण अत्यावश्यक होते हैं। नाटकीय स्वरूप-विधान की माँग ही होती है—वस्तु का स्पष्ट और [illegible] तथा तथ्य और ब्योरों का सतर्क विन्यास।

नाटक के ।शल्प के अभिन्न अंग—कार्य, चरित्र, सम्वाद आदि नाटककार के उद्देश्य से स्वतंत्र नहीं होते; वे उसके साथ एकमेव होते हैं। इससे वे नाटककार द्वारा सम्प्रेषित अनुभवों के नाटकीय प्रतीक होते हैं। अस्तु, अपने विचार व्यक्त करने और उसे प्रेक्षक-पाठक तक ले जाने के निमित्त नाटककार जिस साधन का प्रयोग करता है, उसकी पर्याप्तता तथा प्रभावोत्पादकता के विषय में उसे बड़ी सावधानी से सोचना पड़ता है।

शॉ, ग्रैनविले-बार्कर आदि के नाटक नीरूप या अनियत माने गये हैं। यह प्रधानतः इसलिए कि उन्होंने नाट्य-कला और शिल्प की प्रचलित परम्परा का तिरस्कार किया। आलोचकों की इस मान्यता को कभी स्वयं 'शॉ' के एक कथन से बल मिला था। एक अवसर पर खीझ कर 'शॉ' ने कह दिया—'मेरे नाटक विचार और उद्देश्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।'[1] इससे भी आगे बढ़ कर उन्होंने कहा कि 'गम्भीर नाटक के लिए कथावस्तु एक अभिशाप ही है।'[2] उनके इन प्रमाणों के बल पर आलोचकों ने कहा कि 'शॉ' और उनकी कोटि के नाटककार कथानक को अनिवार्य नहीं मानते। लेकिन हमें तो ऐसा लगता है कि 'शॉ' ने परम्परा के तिरस्कार के उद्देश्य से ही यह खीझ प्रकट की थी। हमें ऐसा नहीं लगता कि वे नाटक की नीरूपता के आग्रही थे। स्वरूप-विधान की शिथिलता एक बात है और नीरूपता दूसरी। जीवन की 'कथा' या मानव-अनुभव के बिना—चाहे वह रुक्ष अथवा सूक्ष्म ही क्यों न हो—नाटककार अपने विचार उपस्थित ही नहीं कर सकता। इसलिए समुचित और विश्वसनीय कथावस्तु समस्या-नाटक की भी एक अनिवार्य शर्त्त ठहरती है। अरस्तू के समय से ही कथानक को नाटकीय संरचना में जो यह बहुमान प्राप्त है, उसकी अवमानना के लिए जब कभी प्रयत्न किया जायगा, निराशा ही हाथ लगेगी। 'हेनरी आर्थर जोन्स' ने इस सत्य का अनुभव करके ही यह कहा था कि 'नाटककार तब तक नाटक की रचना नहीं कर सकता, जब तक उसके मस्तिष्क में कार्य की कोई स्थूल रूपरेखा तैयार नहीं हो गयी हो।'[3] कहने का अभिप्राय यह है कि समस्या-नाटक के भी विचार और चरित्र तब तक शून्य में ही तैरते रह जायेंगे जब तक कि उन्हें किसी कहानी में, चाहे वह अशरीरी और असार ही क्यों न हो, घुला-मिला नहीं दिया जाता। समस्या-नाटककारों ने भी स्वरूप-विधान को ताक पर नहीं रख दिया। उन्होंने इतना ही किया कि स्वरूप-विधान की प्रचलित स्वीकृत पद्धतियों और मान्यताओं से अपने को विच्छिन्न कर लिया। अतीत की परम्पराओं में बद्ध रंगमंच भी अब कसमसा कर करवटें लेने लगा। नये परिवर्तन के थोड़े लक्षण उभर कर सामने आये—यथा—पद्य के स्थान पर गद्य, प्रज्ञ-प्रेक्षक-समान और नाटक रचना तथा प्रस्तुतिकरण की नयी शैलियाँ। कथावस्तु के मूल द्रव्य का परिवर्तन नाटक के स्वरूप-विधान और संरचना के साथ-साथ उसके उद्देश्य और शिल्प में भी परिवर्तन का नया आयाम ले आया। और सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि जो महत्व कभी अभिनेता को प्राप्त था, वह अब नाटक के रचयिता को मिला।

इस प्रकार समस्या-नाटक न तो पुराने चलन के षड्यन्त्रों का नाटक है और न

---

१. आवर थियेटर इन द नाइन्टीज—पृ० ९१ (फ़ॉर मी द प्ले इज़ नथिंग बट इट्स थॉट, इट्स परपज़।)

२. सिम्बेलीन की भूमिका—ज० ब० शॉ

३. द लाइफ़ ऐन्ड लेटर्स ऑफ़ एच० ए० जोन्स—पृ० ४३४—आर० सी० गुप्त के 'द प्रॉब्लेम प्ले'—पृ० १३५ पर उल्लिखित।

वह शत-प्रतिशत प्राविधिक कौशल या बाजीगरी का प्रदर्शन ही है। उसका कथानक किसी विचार-विशेष की सीमित परिधि के मध्य परिस्थितियों और चरित्रों के परस्पर घात-प्रतिघात से उभरता है, उसका रूपांकन समसामयिक समाज और जीवन की किसी समस्या या तथ्य-विशेष के प्रदर्शन अथवा समाधान के निमित्त हुआ करता है। समस्या-नाटककार का उद्देश्य उन घटनाओं और तथ्यों का समूह तैयार करना होता है, जो इसके प्रतिपाद्य को, नाटकीय तर्क और सम्भावना की हत्या किये बिना, यथापेक्ष अभिव्यक्त कर सके। इसीलिए उसे अपने कथानक और प्रतिपाद्य का इस तरह संकलन, अनुकूलन और एकीकरण करना पड़ता है कि पहला, दूसरे का अकृत्रिम, सहज और सम्प्रत्यायक सम्वाहक बन जाय। समस्या-नाटक की संरचना के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उसमें 'क्रियात्मक कथानक' और 'विचारात्मक कथानक' के बीच एक प्रकार का प्रच्छन्न अन्योन्याश्रय सम्बन्ध गुंफित रहा करता है। किसी भी प्रभावशाली कलात्मक कृति में 'विचारात्मक कथानक' उसके क्रियात्मक कथानक के, न केवल समानान्तर चला करता है बल्कि उसके साथ पूर्णतः संतुलित भी होता है।

कथानक अथवा क्रिया पर अधिक बल देने से विचारों के प्रकाशन में बाधा पड़ती है, ठीक उसी तरह जिस तरह विचार पर ज़ोर देने से कथानक कृत्रिम-सा दीखने लगता है। 'शॉ' और 'ग्रैनविले-बार्कर' की कृतियों में जहाँ भी विचार को कथानक से पूर्ववर्त्तिता प्राप्त हुई है, वहाँ तार्किकता की प्रवृत्ति परिलक्षित हो जाती है और ऐसा लगने लगता है कि कृतिकार के विचार नाटकीय संरचना पर थोप दिये गये हैं।

यद्यपि समस्या-नाटकों ने नाटकीय संरचना के लिए संकलन-त्रय की प्रणाली को सैद्धान्तिक अनिवार्यता और आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं किया, तथापि व्यवहार मे उसका कमोवेश पालन अवश्य किया। समस्या-नाटककार पुराने शास्त्रीय नाटककारो की भाँति अति तक संकलन-त्रय के सिद्धान्त का अनुगमन नहीं करते, लेकिन शायद ही कभी उन्होंने एलिज़ाबेथ-कालीन नाटककारों की तरह स्थान और काल की एकता के प्रति उपेक्षा दिखायी हो। 'इब्सन' के 'घोस्ट्स' में सारे क्रिया-कलाप एक ही कोठरी में कुछेक घंटों के भीतर सम्पन्न हो जाते हैं। उनके 'ए डॉल्स हाउस' तथा 'द पिलर्स ऑफ़ सोसायटी' में भी ऐसा ही होता है। उसी तरह 'ऐन एनिमो ऑफ़ द पीपल' का सारा कार्य-व्यापार कुल ४८ घंटों का है और सब कुछ एक ही नगर में घटित भी होता है। इंग्लैंड के समस्या-नाटककारों ने भी स्थान और काल के संकलन का पूरा ध्यान रखा है—केवल दो चार नाटकों में ही उसकी थोड़ी-बहुत उपेक्षा हुई है। 'कैन्डिडा' का पूरा कथानक एक छोटी-सी कोठरी में बारह घंटों के ही अन्दर घटित होता है। 'गेटिंग मैरिड' और 'मिसेलियेन्स' ऐसे अति दीर्घ नाटकों में भी इन संकलनों का पालन प्राचीन यूनानी नाटकों की ही तरह किया गया है। 'गेटिंग मैरिड' की भूमिका में 'शॉ' ने अपने पाठकों का ध्यान इन संकलनों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करते हुए लिखा भी है—'इन नाटकों में प्राविधिक अभिरुचि की एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। अंकों और

दृश्यों में विभाजित करने के प्रचलित ढंग को छोड़ कर स्थान और काल के संकलनों का इसमें दृढ़ता के साथ पालन किया गया है, ठीक वैसे ही जैसे यूनानी नाटकों में हुआ है।'[१]

समाज और काल की एकता का यह बन्धन समस्या-नाटककारों को जहाँ एक ओर प्रेक्षकों की अभिरुचि के सामाजिक अनुभव के किसी विशेष पक्ष या पहलू पर केन्द्रित करने में सहायता प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर सम्भावना के प्रभाव की अभिवृद्धि में भी सहायक सिद्ध होता है। वह नाटक के मूल उद्देश्य को गम्भीर और दर्पयुक्त तो बनाता ही है, कला में लाघव और संरचना में निबिड़ता भी ले आता है। काल का दीर्घ अन्तराल तथा द्रुतगति से झटपट पट-परिवर्त्तन निश्चय ही प्रेक्षक के सहज विश्वास को डुला देता है और कथा के तनाव को ढीला कर देता है। रंगमंच पर बारम्बार दृश्य-परिवर्त्तन कठिन व्यापार तो होता ही है, खर्चीला भी सिद्ध होता है। इसलिए यह एक व्यावहारिक अनिवार्यता थी कि समस्या-नाटककार विक्टोरिया-युगीन नाट्य-प्रणालियों से शीघ्रातिशीघ्र सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

जहाँ तक 'एक और पूर्ण कार्य' विषयक अरस्तू की व्यवस्था का प्रश्न है, वह तो नाटक-रचना का मूल-भूत, स्वाभाविक और अन्तर्वर्ती सिद्धान्त ही है। कोई भी समस्या-नाटककार नाटकीय संरचना की निबिड़ता तथा कार्य के सुनियोजित संकलन की रक्षा के निमित्त उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। समस्या-नाटक की संरचना, मकड़ी के जाल की तरह पूर्ण और संघटनात्मक इकाई होती है; और उसका प्रत्येक सूत्र उस केन्द्रीय अभिरुचि से इस प्रकार गुंथा हुआ होता है कि उसमें छूटी हुई कोई भी घुरची, अथवा महीन-से-महीन गिरह डाल कर बनाया गया कोई भी जोड़ साफ़ दिखलायी पड़ जाता है; और वह नाटककार की कला की दुर्बलता का ही परिचायक होता है। समस्या-नाटक में घटनाएँ और अनुक्रम इस प्रकार कथावस्तु और उद्देश्य के साथ गुँथे होने चाहिएँ कि कहानी एक विचार के ही इर्द-गिर्द चरखी की तरह चक्कर काटती रहे, और कार्य को इस तरह रूपायित होना चाहिए कि वे उसे विशद करते हुए चलें। कथावस्तु दिग्घटी की सुई की तरह साध्य के ध्रुव की ओर ही सदा उन्मुख रहती है। यह पूरी-की-पूरी नाटकीय संरचना जितनी ही सुनियोजित, सुगठित और सुनिबिड़ होती है, प्रभाव उतना ही सघन, सतेज और स्थायी हुआ करता है। घटनाएँ और उपाख्यान परस्पर गुंथे रहते हैं और विचार पूरी कहानी से उन्यज्जित होता है—उसके किसी अंश या भाग से नहीं। कार्य की ऐसी एकता अपने साथ विचार और प्रभाव की एकता भी

---

१. गेटिंग मैरिड की भूमिका—जा० ब० शॉ—

There is a point of some technical interest to be noted in this play. The customary division into Acts and Scenes has been disused and a return made to the unities of time and place; as observed in Greek drama.

ले आती है। 'शॉ' का 'गेटिंग मैरिड' तथा 'गॉल्सवर्दी' का 'जस्टिस,' संकलन-त्रय के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

अरस्तू का विश्वास था कि नाटक के आरम्भ, यत्न और नियताप्ति की स्थितियाँ सुनिश्चित होनी चाहिएँ। समस्या-नाटक बहुधा प्रथम दो का तिरस्कार करते-से दिखायी पड़ते हैं, और समस्त कार्य-व्यापार को प्रत्याशा के उन चन्द निर्णायिक क्षणों में सीमित कर देते हैं, जो नियताप्ति के पूर्ववर्त्ती होते हैं। शॉ ने कहा भी है—'द्वितीय कोटि के नाटककार अपनी कृतियों का प्रारम्भ सदैव 'आरम्भ' से करते हैं; प्रथम कोटि के नाटककार 'यत्न' से; और इब्सन सरीखे विचक्षण नाटककार नियताप्ति से।'[1] समस्या-नाटक वहाँ से शुरू होता है, जहाँ पूर्ववर्ती नाटक समाप्त हो जाया करते हैं और वह उस लम्बी घटना-शृंखला के चरम-बिन्दु को ही रूपायित करता है, जो उसकी आरम्भ की प्रेरणा है। विक्टोरिया-युगीन नाटकों का प्रारम्भ किसी सुन्दर नवयुवक और सुन्दरी नवयुवती की प्रेम-केलि से होता था और जैसे दोनों के विवाह की शहनाई के साथ समाप्त हो जाया करता था; नये नाटकों का आरम्भ ही मँगनी अथवा शादी से होता है और वह विवाहोत्तर जीवन की उलझनों तथा विकृतियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। लगभग सभी समस्या-नाटककारों ने यह अनुभव किया है कि विवाह, जीवन का भरत-वाक्य नहीं, विपत्तियों का नान्दी-पाठ है।

इब्सन की नाट्य-कला का अनुगमन करते हुए समस्या-नाटककारों ने विगत घटनाओं के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिणामों के अभिनय के द्वारा गज़ब की नाट्य-एकाग्रता और नाभ्य गम्भीरता अर्जित की। उन्होंने पहले के स्फीत कार्यों को चाँप-चाँप कर कस दिया और उनके परवर्त्ती विकास पर बल देते हुए अपनी कृतियों के नाट्य-प्रभावों को व्यग्र-उदग्र रूप से प्रस्तुत किया।

समस्या-नाटक का उपसंहार सर्वान्त्य प्रभावों का सूत्रबद्ध रूप होता है। कृति की समस्त नैतिक और नाटकीय अभिरुचियों को अन्तिम दृश्यों में सूत्रबद्ध करके प्रक्षिप्त कर दिया जाता है। समस्या-नाटक की परिसमाप्ति उस गतानुगतिक ढंग से नहीं की जाती, जिसमें दुष्टों को समुचित दण्ड और साधुओं को यथोचित पुरस्कार मिलते रहे हैं। साथ ही उनमें उस स्वच्छन्दतावादी सुखान्त रूप का भी परित्याग किया गया, जिसमें नायक-नायिका की सप्तपदी प्रस्तुत करके नाटकीय कथा को विश्रान्ति दे दी जाती थी। समस्या-नाटकों में फ्रांसीसी प्रणाली के उस सुनियोजित उपसंहार को भी ग्रहण नहीं किया गया, जिसमें सभी प्रकार की उलझनों और सारे संघर्षों का परिशमन हो जाया करता था। समस्या-नाटककारों ने इन सारी योजनाओं में असत्यता, अव्यावहारिकता

---

१. **आवर थियेटर इन द नाइन्टीज़—भाग दो—पृ० ८४**

The second-rate dramatist always begins at the beginning of the play; the first-rate one begins in the middle; and the genius, Ibsen for instance, begins at the end.

श्रौर श्रनाटकीयता देखी श्रौर फिर बड़ी बात तो यह थी कि वे श्रन्याय, निर्दयता, शोषण श्रौर पीड़न की श्रोर से श्राँख नही मूँद पाते थे ।

समस्या-नाटककार जीवन के कठोर यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता बल्कि वही तो उसकी कृति की प्रेरणा होता है । इसीलिए समस्या-नाटक बहुधा प्रश्नवाचक टिप्पणी के साथ समाप्त होता है । इन नये नाटकों के रचयिता नाटक की परिसमाप्ति किसी श्रानन्दपूर्ण 'थाप' या चमत्कारिक भव्य दृश्य की योजना में नहीं करते ; प्रत्युत् वे उस श्रनिर्णायक तथा सरल-सहज श्रंत के श्राग्रही होते हैं, जो सामान्य श्रनुभवों के श्रनुकूल, तथ्यपरक श्रौर यथार्थ तो होता ही है ; साथ-ही-साथ, श्रपनी श्रतिशय सहजता के कारण गम्भीर विचार एवं परावर्त्तन को उत्प्रेरित करने वाला भी हुश्रा करता है । समस्या-नाटककार का लक्ष्य कोई [illegible] तराशी हुई, लुभावनी कहानी कहना श्रथवा किसी समस्या को उठा कर उसका संक्षिप्त गणितीय समाधान प्रस्तुत करना नहीं होता । वह श्रपनी कृति का उपसंहार किसी श्रव्यावहारिक भरतवाक्य से नही किया करता श्रौर बहुधा उस परम्परा-मुक्त रूढ़ि का तिरस्कार करने को बाध्य होता है, जिसके चलते रससिद्ध सुखद फलागम श्रावश्यक है । वह श्रपनी कृतिया का श्रन्त किसी परिणति के साथ न करके, कथानक को एक व्यंग्यात्मक उमेठ श्रौर श्राक्षेपात्मक संस्पर्श दे कर किया करता है, जिससे वह श्रपने [illegible] उदग्र श्रौर प्रोद्भासित कर सके ।

इब्सन ने कहा है कि उसकी वृत्ति जवाब देने की नही सवाल करने की है । इब्सन के किसी भी नाटक का पटाक्षेप निर्णय-स्थिति में नही होता, सदैव श्राकस्मिक श्रौर उद्बोधक हुश्रा करता है । शॉ के नाटकों का समापन उमेठदार चुभन श्रौर व्यंग्य के साथ ही होता है श्रौर उसी तरह गॉल्सवर्दी के नाटकों का श्रन्तिम पूर्ण विराम भी प्रश्नवाचक ही है ।

समस्या-नाटककारों ने कथावस्तु की ही भाँति कार्य श्रौर कथोपकथन का प्रयोग प्राचीन रूढ़ियों से स्वतंत्र हो कर किया तथा इस बात का सम्यक् ध्यान रखा कि वे परिष्कृत रुचि के सर्वथा श्रनुकूल हों । उन्होंने उनमें नयी-नयी श्रर्थवत्ता तथा व्यंजना का सन्निवेश भी किया । उनका कहना था कि ऐसी कथाएँ, जो दुरभिसन्धियों से परिपूर्ण हों श्रौर जो पाठक को विस्मयकारी बाजीगरी से उत्तेजित करती हों, श्राज के समसामयिक जीवन के यथार्थ का प्रतिनिधित्व नहीं कर पातीं श्रौर इसलिए समस्या-नाटककार के लिए कोई श्राकर्षण नहीं रखतीं । उनकी बुद्धि म श्रपराध, युद्ध, श्रग्निदाह श्रथवा श्रशनिपात के दृश्यों का समावेश नाटक की कला को गिराने वाला ही सिद्ध होता है, उसकी सफलता का प्रमाण नही बनता । श्रस्तु, उनकी योजना समस्या-नाटक में नहीं होती । समस्या-नाटककारों ने मनुष्य के जिस जीवन को नाटकीय कथा का विषय बनाया, वह रोजमर्रे का जीवन था । उस जिन्दगी में मजबूरियों की कसमसाहट थी श्रौर जंजीरों को छिन्न-भिन्न करने की श्रान्तरिक विकल लालसा थी । समस्या-नाटककारों ने सामान्यतः स्वच्छन्दतावादी श्रपव्ययों से श्रपनी कृतियों को बचाया, ऐसे संकेतों के

माध्यम से जैसे, एक गम्भीर चुप्पी, एक दीर्घ निःश्वास, बंकिम भंगिमा आदि—जिनकी ओर अब तक नज़र भी कभी नहीं गयी—अभूतपूर्व 'प्रभावों' का सर्जन किया।

यह ठीक है कि समस्या-नाटकों में भी वे ही और वैसे ही भौतिक कार्य प्रदर्शित किये जाते हैं, जैसे पिछले खेवे के नाटकों में, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि समस्या-नाटक में आ कर नाटक के सारे-के-सारे भौतिक कार्य, विचारों और भावों के चंचल विघूर्णन के अधीन हो जाते हैं। समस्या-नाटककार अपना सारा ध्यान सामाजिक जीवन की उलझनों तथा विषमताओं और यथार्थो से व्युत्पन्न मनोवैज्ञानिक ऊहापोहों की ओर निर्देशित करता है—उसके नाटकीय कार्यों के स्वरूप के अन्तर्गत भावों और विचारों की अभिव्यक्तियाँ भी आ जाती हैं। यही कारण है कि वह भौतिक कार्यो को भावात्मक एवं बौद्धिक स्तर तक पहुँचा कर उदात्त बना दिया करता है।

अपने सामाजिक नाटकों में इब्सन ने बाह्य कार्य-व्यापार को न्यूनतम स्तर तक पहुँचा दिया और उनमें से निकलने वाली गम्भीर और साभिप्राय गूँज को अधिक-से-अधिक उत्कर्ष प्रदान करने में अपना समस्त कलात्मक कौशल लगा दिया। इस प्रकार उनके नाटकों का कार्य-व्यापार बाह्य से अधिक आन्तरिक, दैहिक से अधिक मनोवैज्ञानिक हो गया है। वही प्रणाली 'शॉ' ने भी अपनायी। वे विचार-विकास पर जितना ध्यान देते हैं, उतना घटना-विकास पर नहीं। वे भौतिक क्रिया-कलापों और वृत्तान्तों को किसी-न-किसी सशक्त और ओजस्वी बौद्धिक-क्रिया का अनुवर्ती बनाते हुए चलते हैं। तदर्थ वे विवृत कार्यो को इस रूप में क्रमबद्ध कर लेते हैं कि वे मनोवैज्ञानिक ऊहापोहों को प्रकाशित करने के योग्य बन सकें। यही 'शॉ' के पात्रों का 'कलाप रहित द्वन्द्व' है, जो शॉ के नाटकों को तीव्र गति देता है और उनको बौद्धिक स्तर तक पहुँचा आता है।

विचारों और प्रवृत्तियों के इसी संघर्ष को मुखरित करने तथा उद्देश्य की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने के निमित्त समस्या-नाटककार अपना सारा ध्यान कार्य-कलाप से हटा कर कथोपकथन पर डाल देता है। यदि विचार उसकी कृति को बौद्धिक स्तर प्रदान करते है तो कथोपकथन उसका वह पूर्ववर्त्ती सोपान तैयार करते है, जिसे हम मनोवैज्ञानिक स्तर कहना चाहेंगे। समस्या-नाटको के पात्र साधारणतः बातूनी-से हुआ करते हैं—जो काम तो कुछ करते नहीं, केवल अपनी समस्याओं और उलझनों पर बातें बहुत लम्बी-लम्बी किया करते है। सम्भाषण ही वह एकमात्र सरलतम माध्यम है, जिसके द्वारा रगमंच पर विचार उपस्थित किये जा सकते है। कज़ामियाँ ने भी स्वीकार किया है कि सम्भाषण-कला और मानव-विचार तथा प्रवृत्तियों की विचित्रता की गहरी पहचान ही वह प्रधान तत्व है, जो इस प्रकार के नाटकों को सजीवता और नूतनता प्रदान करता है।[1] प्रज्ञ कथोपकथन की पहली माँग है—एकाग्र श्रोताजन।

समस्या-नाटकों में प्रस्तुत प्रश्नों पर गम्भीर सम्भाषण रहते हैं और समस्या-

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ़ इंग्लिश लिटरेचर—ला० कज़ामियाँ—पृ० १३१५

नाटककार वैयक्तिक की अपेक्षा सामाजिक अभिरुचि के ही प्रश्न उठा कर ऐसे पात्र गढ़ते हैं, जो उसके सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श कर सकें। इसीलिए, सम्भाषण-दृश्य निर्णायक महत्व के प्राविधिक नव प्रवर्धन हैं; और नये नाटककारों ने इनकी नाटकीय सम्भावनाओं का पर्याप्त प्रदर्शन भी किया है। इब्सन ने 'ए डॉल्स हाउस' के अन्तिम दृश्य में अपनी इस नयी प्रणाली का सर्वप्रथम प्रयोग किया, जिसमें नाटक की नायिका 'नोरा' ने अपने पति 'हेल्मर' के सामने आ कर कहा है कि हम थोड़ी देर के लिए शान्तचित्त हो कर बैठें और हम पर जो कुछ गुज़र रहा है, उसके विषय में विचार-विमर्श कर लें। 'ऐन एनिमी ऑफ़ द पीपल' में डाक्टर स्टॉकमान और उनके विरोधी गर्मा-गर्म बहस करते हुए दिखलाये गये हैं। शॉ के नाटकों में तो आदि से अन्त तक इस तरह का विचार-विमर्श माला में धागे की भाँति पिरोया हुआ-सा रहता है। पात्रों की बाजाप्ता गोलमेज़ परिषदें बैठती हैं, जिनमें व्यंग्य, उपहास और कटूक्तियों की तलवारें चलती रहती हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसी सम्भाषण-कौशल के चलते, उनके नाटक अपरिमित शक्ति और प्रभाव से युक्त हो कर सचेत और ज्ञानोदीप्त श्रोतृजन को भी दबोच लिया करते हैं। वार्त्तालाप के क्रम में ही पात्रों के संघर्ष को व्यक्त करने की कला में शॉ निपुण हैं और उनमें वह प्रतिभा-बल है, जिससे वे तर्क-वितर्क को मल्ल-युद्ध की तरह सनसनी-खेज़ बना दें। 'मैन ऐन्ड सुपरमैन' का वह नरक-दृश्य तो सचमुच अपूर्व है, जिसमें चार स्थिर-चित्त व्यक्ति, बिना हिले-डुले, लगभग एक घंटे तक अपने वार्त्तालाप मे ही समस्त प्रेक्षक-समाज को केन्द्रित किये रखते हैं और जो कि नाटककार के ही शब्दों मे, 'शॉ-सुकरात सम्वाद' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

समस्या-नाटकों में प्रस्तुत सम्भाषण-दृश्य उनके उद्देश्यों को विविध पक्षों में बड़ी सुतीक्ष्ण अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। समस्या-नाटककार अपने उद्देश्यों पर विभिन्न और परस्पर विरोधी कोणों से इस तरह प्रकाश-बिम्ब डालते हैं कि वे एक दूसरे को काटते चलते हैं और एक बौद्धिक चाकचिक्य उत्पन्न किया करते हैं। ये सम्भाषण-दृश्य पात्रों के मन को मथने वाली किसी-न-किसी स्थिति के विस्फोट से फूटते हैं और उपस्थित समस्या पर उनकी भावुक और बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। उसी क्रम में उनके पूर्वाग्रहों, प्रमादों, मूर्खताओं और नैतिक मूल्यों के भी संकेत भर दिये जाते हैं—और तब अन्त मे तर्क की सूक्ष्म किरणों से बँधे एक प्रकाशपिंड की तरह एक नव-विचार उनके सम्मुख झलमला उठता है। उसमें से व्यंग्य और कटूक्तियों के बिम्ब झलकते रहते हैं।

पात्र नाट्य-विधा की पहली अनिवार्यता होते हैं और उनका निर्माण समस्या के साथ ही होता है। यह कहना प्रमाद होगा कि समस्या-नाटकों के पात्र रक्तहीन चेतना या लाक्षणिक प्रतीक भर ही हुआ करते हैं! 'इब्सन' के पात्र मार्मिक और संश्लिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न होते हैं और शॉ के पात्र अभूतपूर्व जिगीषा से पूर्ण। प्राचीन नाटकों से अन्तर केवल इस मानी में होता है कि नये नाटकों के पात्र विच्छिन्न इकाई न हो कर

नाटक के मूल विचार के ही वाहक होते हैं। निहित उद्देश्य के चलते वे तराशे हुए-से दिखलायी पड़ते हैं, क्योंकि वे उस सम्पूर्ण नाटकीय परियोजना या कार्य-प्रणाली से एक क्षण के लिए भी स्वतंत्र नहीं हो सकते। यह सम्भव है कि वे अपने ढंग से ही अपनी पीड़ा और तड़प को व्यक्त करें, अपनी सूझ-बूझ के ही अनुसार जीवनानुभव से पाठ-ग्रहण करें ; पर यह सब-कुछ नाटककार के दृष्टिकोण और उद्देश्य की लक्ष्मण-रेखा के अन्दर ही हो सकता है, उसे उसकी सुनिर्धारित और सुस्पष्ट समस्या के किसी-न-किसी पहलू पर ही प्रकाश डालने वाला होना होगा। समस्या-नाटककार अपने पात्रों के मनोविज्ञान को रेखांकित करता हुआ चलता है। यह इसलिए कि वह समझता है कि मनुष्य के आन्तरिक जीवन को उसके सामाजिक परिवेश से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। यही कारण है कि उसके छोटे-बड़े सभी पात्र मानव की स्थिति में नहीं, दृष्टिकोण रूप में कार्य-व्याप्त दिखायी पड़ते हैं।

समस्या-नाटकों के पात्र किसी भी परिस्थिति में सामाजिक और बौद्धिक शून्यक के प्राणी नहीं होते—वे समसामयिक जीवन के अतिशय प्रबुद्ध, सजीव और गम्भीर सामाजिक होते हैं। वे अपने चरित्र और प्रारब्ध पर सामाजिक और आर्थिक परिवेश के दबाव के प्रति अत्यधिक सचेष्ट भी होते हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा अभिव्यक्त विचार उधार लाये हुए-से नहीं, बल्कि वैयक्तिक अनुभवों और धारणाओं से उन्मज्जित हुए-से लगते हैं।

समस्या-नाटकों में शास्त्रीय नायक अपने उच्चासन से उतर कर जन-समाज में खो जाता है। अब अभिजातवर्गीय नायक, प्रवीण नायिका, हँसोड़ विदूषक और केलिचतुरा परिचारिका का युग ही नहीं रह गया। न पुराना जीवन रहा, न पुरानी कहानी ; न पुराना प्रेम रहा और न पुराना खलनायक। नायक का स्थान उस सामान्य, कहिए अति साधारण, व्यक्ति को प्राप्त हुआ है, जो सामाजिक अन्याय और अंधविश्वास का शिकार, क्षुद्ध-प्रज्ञा और विवश-मनीषा का निरीह प्राणी भर होता है। खलनायक का स्थान उस अंध-विश्वासी और पोंगापंथी व्यक्ति को मिला है, जिसकी चेतना कभी-कभी निस्पृह हो कर मानव-मानव के सम्बन्धों पर विचार करने के लिए तो तत्पर हो उठती है, लेकिन या तो अपनी विवशता के चलते या नहीं तो अज्ञान के चलते, दुष्ट सामाजिक-चक्र या बासी नैतिकता के जाल में फँसा, विवश-पशु-सा बन गया होता है। इन पात्रों का निर्माण विशिष्ट समस्याओं के अनुकूल—समसामयिक संश्लिष्ट समाज के ताने-बाने से हुआ करता है—इस यथार्थ रूप में कि वे अपने परिवेश और तज्जन्य मनीषा की सच्ची उपज लगते हैं। सती और पतिव्रता नायिकाओं की जगह पर नये नाटकों में वे रमणियाँ प्रतिष्ठित हुईं, जो इस नृशंस समाज द्वारा योनि-मात्र करार दी गयी थीं और इस प्रकार निरन्तर शोषण और पीड़न का शिकार बनने के लिए विवश थीं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि समस्या-नाटककारों ने व्यावसायिक पुरुषों और महिलाओं के एक ऐसे बड़े और दिलचस्प समुदाय को रंगमंच पर उतारा, जो अपने

विविध सामाजिक कार्य, बिना किसी समझदारी, जानकारी या प्रातिभ-ज्ञान के, अहर्निश सम्पन्न करता रहता है। लिपिक, सिपाही, जेल-चौकीदार, डॉक्टर, कर-दारोगा, सैनिक, व्यापारी, शिल्पी आदि उसी महान समाज-यंत्र के पुर्ज़ों के रूप में, नये नाटकों में उपस्थित किये गये, जिनकी पीड़ा, जिनके अप्रतिहत शोषण की ओर से कला और साहित्य ने अद्यावधि आँखें मूंद रखी थीं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 'पिनेरो' और 'जोन्स' ने इंग्लैंड के नाटकों तथा रंगमंच के उत्थान-कार्य का जो समारम्भ किया, उसको पूर्णता प्रदान की—'शॉ' ने। इस क्रम में हमारा ध्यान 'जे० टी० ग्राइन' और 'विलियम आर्थर' की ओर भी जाता है, जिनका महत्व इतिहास में इस बात को ले कर अक्षुण्ण रहेगा कि उन्होंने इंग्लैंड के रंगमंच पर 'इब्सन' को लोकप्रिय बनाया और इस प्रकार 'शॉ' को रंगमंच की वह सुविधा भेंट की, जिसके अभाव में 'शॉ' को वह महत्व शायद नहीं मिल पाता—जो उन्हें प्राप्त हुआ।

विचारों को प्रमुखता देने वाले नये नाटकों की उपलब्धि के विषय में स्वर्गीय नलिन विलोचन शर्मा ने एक बड़ी बात यह कही है कि नवीन विचार स्वीकृत हो जाने के बाद ऊबाने वाले सामान्य तथ्य हो जाते हैं और अस्वीकृत होने पर वे खीझ पैदा करने वाले पुराने और संकीर्ण विरोधाभास बन जाते हैं।[1] यही कारण है कि समस्या-नाटकों की जीवन-अवधि अनतिदीर्घ होने के लिए विवश है।

१. मान दण्ड—भाग १—नलिन विलोचन शर्मा—पृ० ६६

तृतीय अध्याय

● ●

प्रसार

हिन्दी के समस्या-नाटककार और उनके नाटक

श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र

जिस प्रकार प्रसाद के आरम्भिक नाटक भारतेन्दु की नाट्य-रचना-पद्धति की परम्परा में लिखे गये, उसी प्रकार पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के प्रथम नाटक 'अशोक' की रचना भी द्विजेन्द्रलाल राय और जयशंकर प्रसाद की नाट्य-परम्परा के ही अन्तर्गत हुई। किन्तु उसके आगे चल कर मिश्र जी ने 'अशोक' की उस परम्परा का परित्याग तो किया ही, उसका विरोध भी किया। डॉ० दशरथ ओझा ने बताया है कि मिश्र जी ने उनको वार्त्तालाप के क्रम में बताया कि 'अशोक' नाटक उनके 'प्रमाद का फल' है।[1] मिश्र जी ने कहा कि शेक्सपियर का भूत द्विजेन्द्रलाल राय के हृदय का देवता बन गया था, जिसकी अर्चना जाने या अनजाने देश की कितनी ही भाषाओं के नाटककारों ने की थी। मिश्र जी का 'अशोक' नाटक भी उसी अर्चना के क्रम में रचित हुआ।[2] पीछे चल कर मिश्र जी को अनुभव हुआ कि जिस कवि को जीवन की कल्पना करनी है, जीवन का निर्माण करना है, जीवन की अभिव्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ा करता।[3] मिश्र जी ने 'संन्यासी' की रचना करते समय इस बात का अनुभव किया कि व्यक्ति के जीवन पर देश और काल की समस्याओं का जो प्रभाव पड़ता है, उसको इतिहास के महान चरित्रों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता।[4] इसी वजह से उनको ऐसे चरित्रों की कल्पना करनी पड़ी, जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धड़कन के साथ मिल जा सके।[5] डॉ० दशरथ ओझा के साथ अपने वार्त्तालाप-क्रम में मिश्र जी ने बताया है कि उनके नाटक, कैथेराइन की 'मदर इंडिया' तथा 'हिंडमन ब्लांड,' 'पुटनमवील,' 'लाथास्तोदार' सरीखे, गोरी जाति की उच्चता के उद्घोषक

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३१५

२. वही—

३. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० २

४. वही—

५. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० २-३

लेखकों के विचारों की प्रतिक्रिया में लिखे गये हैं।[1] डॉ० ओझा ने भी कहा है कि जाति के गौरव-बोध, अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों की विभूति-निष्ठा ने 'अन्तर्जगत' के कवि, लक्ष्मी नारायण मिश्र को समस्या नाटककार बना दिया।[2] किन्तु मिश्र जी के नाटकों में गोरी जाति के इस दर्प की न कहीं कथा कही गयी है और न उनके प्रति कोई प्रति[illegible] विद्रोह ही कहीं मुखर हो जाता है। केवल एक नाटक 'सन्यासी' में चलते-फिरते ढंग से एशियाई-संघ की चर्चा आयी है। इससे यही कहना अधिक समीचीन होगा कि मिश्र जी के नाटक शेक्सपियर की न[illegible] की हिन्दी में प्रसाद द्वारा अनुकृति के विरोध में ही लिखे गये हैं।

मिश्र जी का विश्वास है कि शेक्सपियर की अनुकृति हमारी परम्परा, संस्कृति और हितों के सर्वथा प्रतिकूल है। उसके कारण अपने देश में भावुकता की एक गन्दी प्रवृत्ति फैली और उस गन्दी प्रवृत्ति के सबसे बड़े प्रतिनिधि नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय हुए। मिश्र जी ने राय महोदय को 'अन्तःकरण का अन्धा साहित्यकार' कहा है। उनके शब्दों में शेक्सपियर की यह दूषित परम्परा ही द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम से प्रसाद के नाटकों में उतर आयी और यों भारतीय संस्कृति की बड़ी हानि हुई। मिश्र जी प्रसाद को भारतीय संस्कृति का उद्धारक, जैसा कि उनको आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जैसे आलोचकों ने माना है, मानना नहीं चाहते। श्री पद्मसिह 'कमलेश' के साथ अपनी वार्त्ता में उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि प्रसाद जी भारतीय दर्शन से सर्वथा दूर थे और इसलिए उनको भारतीय संस्कृति का उद्धारक समझना भ्रम है।[3] 'वत्सराज' नामक अपने नाटक की भूमिका में प्रसाद जी के विरुद्ध मिश्र जी ने ऐसे ही गहरे आरोप किये हैं। वे लिखते हैं—'वे (प्रसाद) अपने नाटकों में भारतीय जीवन-दर्शन के सिद्धान्तों को पहले से ही भूल चुके थे। उनके नाटक भास और कालिदास की परम्परा में न हो कर शेक्सपियर की परम्परा में ढल चुके थे और इसीलिए उनके नाटकों में प्रणय की जगह छिछले रोमांस और कर्मयोग की जगह आत्म-हत्याओं की बाढ़ आ गयी है।.... ईशावास्य की वाणी भूल कर भारतीय जीवन-दर्शन के सबसे बड़े पाप और कर्म के कर्मफल से भाग निकलने वाली कायरता को उन्होंने अपने नाटकों में कर्त्तव्य और प्रेम का आदर्श बना दिया। आत्महत्या जैसा जघन्य कर्म संस्कृत-साहित्य में कहीं नहीं है। पालि, प्राकृत और अंग्रेज़ी के आने से पहले देशी साहित्य में जो कर्म सदैव हेय रहा, प्रसाद के नाटक उसी से भरे पड़े हैं।'[4]

प्रसाद जी के विरुद्ध मिश्र जी की एक शिकायत यह भी है कि उन्होंने कौमार्य

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३४५

२. वही—

३. मैं इनसे मिला—श्री पद्मसिह कमलेश (लक्ष्मी नारायण मिश्र—लेखक—उमेशचन्द्र मिश्र—पृ० ४६ पर प्राप्त)

४. वत्सराज—भूमिका—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० ११

को विवाह से श्रेष्ठ मान कर भारतीय संस्कृति और नाट्य-पद्धति के विरुद्ध आचरण किया।[1] संक्षेप में, मिश्र जी की बुद्धि में प्रसाद विदेशी नाट्य-पद्धति के अनुसरणकर्त्ता हैं, भारतीय संस्कृति के प्रति द्रोह करने वाले हैं और हिन्दी नाटक को भास और कालिदास की स्वाभाविक परम्परा से विच्छिन्न करके, शेक्सपियर की दूषित परम्परा में ले जाने वाले अपराधी नाटककार हैं। मिश्र जी कहते हैं कि 'यह युग कलाकार नहीं—तत्वदर्शी कलाकार' का है। और तत्वदर्शी कलाकार अगली पीढ़ी की स्वतंत्रता के लिए साहित्य का सर्जन करता है, अपने मनोवेगों की तृप्ति के लिए नहीं। इसी से वे भी भविष्य का ध्यान रख कर 'संन्यासी' की रचना करते हैं और 'संन्यासी' की भूमिका—अपने आलोचक मित्र से—मैं यह भी वादा करते हैं कि संन्यासी जैसे कई और नाटकों की रचना वे करेंगे।[2]

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यूरोप में शेक्सपियर के नाटकों के विरुद्ध इब्सन और उसके अनुयायियों ने जैसा जोरदार आन्दोलन चलाया था, वैसा ही आन्दोलन प्रसाद जी की नाट्य परम्परा के विरुद्ध मिश्र जी खड़ा करना चाहते थे।

डॉ० दशरथ ओझा ने यह प्रस्ताव किया है कि अब समय आ गया है कि मिश्र जी के प्रसाद-विरोधी विचारों की समीक्षा की जाय और गम्भीरता से यह विचार किया जाय कि मिश्र जी की उक्तियाँ उनके अहंकार के पोषण के लिए है अथवा उनमें कुछ सार भी है।[3] आगरा में डॉ० रामबिलास शर्मा के सम्पादकत्व में निकलने वाले (किन्तु अब अस्तंगत) पत्र, 'समालोचक' के सितम्बर १९५९ वाले अंक में श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने मिश्र जी की प्रसाद-सम्बन्धी मान्यताओं की एक समीक्षा प्रकाशित करायी थी। उस समीक्षा में श्री शास्त्री ने प्रसाद के नाटकों के प्रमाण पर मिश्र जी के आक्षेपों का ज़ोरदार खंडन किया था। उनके निष्कर्ष मुख्यतः ये हैं[4] :

१. प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव की प्रतिष्ठा एवं अर्वाचीन भारतीय जीवन की विकृतियों का परिहार कर अपनी उदार परम्परा के अनुरूप बलशाली, विकासशील भारतीय समाज की रचना का संकल्प ही प्रसाद के सम्पूर्ण साहित्य के मूल में है।

२. कामना-त्याग की उदारता एवं स्वाभिमान की सूक्ष्मता के योग को न समझ सकने के कारण ही मिश्र जी ने प्रसाद पर यह आरोप लगा दिया है कि वे कौमार्य को विवाह से श्रेष्ठ मानते थे।

३. प्रसाद ने कहीं आत्महत्या को कर्त्तव्य और प्रेम का आदर्श नहीं बनाया है, कर्त्तव्य और प्रेम का आदर्श बनाया है उन्होंने आत्मोत्सर्ग को।

---

१. हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३१६
२. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० ३-८
३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—३१५
४. समालोचक : सितम्बर १९५९—पृ० ५ से १५ तक

आत्मोत्सर्ग और आत्महत्या में दिन और रात जितना अन्तर है। स्वेच्छया शरीरान्त कर देना ही आत्महत्या नहीं है। किसी महत् उद्देश्य के लिए वीरतापूर्वक स्वेच्छया शरीर त्याग करना आत्मोत्सर्ग है और कायरतापूर्वक निराश हो कर कर्मफल से भाग निकलने के लिए किया गया शरीरान्त आत्महत्या है, जो अवश्यमेव निन्दनीय है और जिसकी निन्दा प्रसाद ने भी की है।

४. निन्दनीय माना जा कर भी यह कर्म (आत्महत्या) हमारे समाज में अनेक बार घटित हुआ है और पवित्र माने जाने वाले साहित्य में उसका उल्लेख भी हुआ है। अतः प्रसाद-साहित्य में यदि आत्महत्यायें हुई हैं तो उसे दूषणीय नहीं माना जा सकता।

५. अपनी मूल विशिष्टता एवं दार्शनिकता की रक्षा करते हुए प्रसाद जी ने दृश्यविधान, चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व एवं कथावस्तु में चरम की योजना आदि कुछ ऐसे पाश्चात्य नाटकीय गुणों को स्वीकार किया, जो भारतीय नाट्य-परम्परा के अविरोधी हैं।

६. प्राचीन भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों के कई निर्देशों का उल्लंघन प्रसाद ने परम्परा को भूल कर नहीं किया था, परम्परा को विकसित करने के लिए किया था। अपनी परम्परा की सच्ची सेवा रूढ़ियों से चिपके रहने में नहीं —उसे समयानुकूल विकसित करते रहने मे है।

अन्त में श्री शास्त्री ने मिश्र जी से अनुरोध करते हुए कहा है कि वे अपने वक्तव्य पर पुनर्विचार करें और विरोध के लिए विरोध की अभारतीय पद्धति का परित्याग कर, भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक उदार दृष्टि अपनायें।

हमें तो यही समझ में नहीं आता कि मिश्र जी का ध्यान 'कामना,' 'एक घूंट' और विशेषतः 'ध्रुवस्वामिनी' शीर्षक उन नाटकों की ओर क्यों नहीं गया, जिनमें मिश्र जी को संतुष्ट करने के अनेक तत्व थे। पिछले पृष्ठों में हमने यह निवेदन किया है कि प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का महत्व इसी बात के कारण है कि उससे हिन्दी नाटकों के दिशा-परिवर्त्तन की सूचना मिलती है।

मिश्र जी ने यदि प्रसाद को शेक्सपियर और अपने को इब्सन अथवा शॉ मान कर प्रसाद का विरोध करना नहीं चाहा हो तो लगता है कि उन्होंने व्यर्थ ही प्रसाद के प्रति इतने अनुदार विचार प्रकट किये। फिर एक दूसरी भूल भी उनसे हो गयी है। यूरोप के रंगमंच पर प्रायः चार सौ वर्षों तक शेक्सपियर के नाटकों के चलने के बाद कहीं जा कर वहाँ शेक्सपियर का विरोध हुआ था और नये नाटक लिखे गये। तभी तो सदियों के अनुभव का बल उस विरोध को प्राप्त हुआ था। अपने देश में प्रसाद-परम्परा के नाटकों को मिश्र जी ने यह सुविधा नहीं दी और प्रसाद के आमने-सामने बैठ कर उन्होंने उनकी नाट्य-परम्परा का विरोध शुरू किया। शायद यही कारण है कि मिश्र

जी के प्रसाद-विरोध का परिणाम कुछ न निकला और स्वयं उन्हें समस्या-नाटकों की रचना से संन्यास ले कर ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटक फिर से लिखने पड़े। यों तो उन्होंने डॉ० दशरथ ओझा को बातचीत[1] में कहा कि प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया में ही उनको अपनी वह प्रतिज्ञा भी तोड़नी पड़ी, जो उन्होंने 'संन्यासी' की रचना करते समय यह कहते हुए की थी कि 'इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं है'[2] किन्तु, उनकी यह कैफ़ियत ऐसी नहीं हो पायी कि उसे बेहिचक मान लिया जा सके।

मिश्र जी ने प्रसाद के नाटकों का विरोध इसलिए भी किया कि उनकी समझ से उनमें भावुकता का अतिरेक था। मिश्र जी ने अपने पाठकों, प्रेक्षकों और आलोचकों को भरसक आश्वस्त करना चाहा है कि वे भावुक नहीं, बुद्धिवादी हैं। लेकिन डॉ० नगेन्द्र को उनके नाटकों और उनके 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ?' जैसे 'गर्म वक्तव्य' को पढ़ कर भी यह भरोसा नहीं हो पाता कि मिश्र जी सचमुच भावुकता से बच सके हैं।[3]

डा० नगेन्द्र ने तो यहाँ तक कह दिया है कि मिश्र जी की सफलता का कारण उनकी भावुकता और उनकी असफलता का कारण उनकी विचारधारा है।[4] डॉ० नगेन्द्र की शिकायत है कि मिश्र जी के मस्तिष्क में यूरोप के इब्सन, शॉ, रोम्याँ रोलाँ, लॉरेन्स, फ्रायड, वर्जीनिया वुल्फ़ और भारत के उपनिषद्, गाँधी और शरत् इस बेतरतीबी से भर दिये गये हैं कि वे एक विचित्र उलझन में पड़ गये हैं। उनका मस्तिष्क सुस्थिर नहीं हो पाया है[5] और उसी का परिणाम होता है कि वे परस्पर विरोधी निष्कर्ष ग्रहण करते हैं।

अब हम मिश्र जी के उन नाटकों का विचार आरम्भ करते है, जिनको समस्या-नाटक की संज्ञा प्राप्त हुई है। मिश्र जी के ऐसे नाटक निम्नलिखित हैं:

१. संन्यासी
२. राक्षस का मंदिर
३. मुक्ति का रहस्य
४. आधी रात
५. राजयोग
६. सिन्दूर की होली

संन्यासी

आलोचकों ने ऐसा बताया है कि श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र की रचना 'संन्यासी'

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३१६
२ संन्यासी—अपने आलोचक मिश्र से—ल० ना० मिश्र—पृ० २
३. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ५४
४. वही—पृ० ५५। ५. वही—पृ० ५५-५६

हिन्दी का पहला समस्या-नाटक है।[1] संन्यासी की रचना की प्रेरणा के विषय में स्वयं लेखक ने डॉ० दशरथ ओझा से वार्त्तालाप के क्रम में कहा था कि जाति के गौरव-बोध, अपनी संस्कृति और अपने पूर्वजों की विभूति-निष्ठा ने 'अन्तर्जगत' के कवि को समस्या-नाटककार बना दिया।'[2] अन्तर्जगत के कवि ने ऐसा अनुभव किया कि छायावादी हिन्दी कवियों के रूप में अंग्रेज़ी कवियों की 'लिरिक पोएट्री' का जो प्रभाव चल रहा है, वह व्यक्ति की अतृप्त लालसा, वासना, परिताप तथा एकांगी स्वार्थ के उन्माद का फल है। इसमें जातीय जीवन और अपनी संस्कृति का ह्रास है। इससे उसने मुक्तक कवितात्रों की रचना का काम छोड़ दिया और सदा के लिए वह नाटककार हो गया ताकि उसे जीवन की स्वाभाविक धारणा और उसके चित्रण का अवसर प्राप्त हो।[3]

लेखक ने 'संन्यासी' नाटक के आमुख के रूप मे अपने आलोचक मित्र के प्रति जो दो शब्द कहे हैं, उनसे भी इस रचना के उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। उस क्रम मे लेखक ने लिखा है—'मैंने अपना नाटक (जैसा कि तुम्हें भ्रम है) सामाजिक क्रान्ति या राजनैतिक उलट-फेर के लिए नहीं लिखा। मैं अपने को उस योग्य नहीं समझता। यह बड़े उत्तरदायित्व का काम होगा। इसका मतलब यह नहीं कि मैं चाहता नहीं। मैं कर नहीं सकता। यदि तुममें से कोई यह करे तो मुझे सन्तोष होगा—यथाशक्ति मैं इसमें सहायता भी करूँगा। मैं जिस वातावरण में हूँ, वह मेरे हृदय और मेरी आत्मा के अनुकूल नहीं है। मैंने जो कुछ अनुभव किया है, देखा है, उसे इस नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ। यथार्थ—ज्यों का त्यों—ईमानदारी के साथ।'[4]

प्रस्तुत रचना का केन्द्र है एक कॉलेज, जिसमें सह-शिक्षा की व्यवस्था है। मिश्र जी पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनकी शिकायत है कि 'पश्चिमा शिक्षा पश्चिमी आदर्श, पश्चिमी जीवन हमारे रक्त में विषैले कीटाणुओं की तरह प्रवेश कर, हमें अशान्त बना रहे हैं।' और इधर हम हैं, जो इस भ्रम में हैं कि इस शिक्षा से हमारा उन्नयन हो रहा है! मिश्र जी की आपत्ति है कि शिक्षा की इस प्रणाली में अच्छे और बुरे मस्तिष्क वाले सभी एक साथ जोत दिये जाते हैं। संस्कार और चरित्र-बल किसे कहते हैं—इसका पता इस शिक्षा में नहीं चलता। अपनी आँखों से तब तक नहीं सूझता, जब तक कि दूसरे का चश्मा न लगे।[5] लेखक के अनुसार इस प्रणाली की सबसे बढ़ कर बुराई है—लड़के और लड़कियों का साथ पढ़ना। कॉलेजों में शिक्षकों की नियुक्ति के लिए जो आधार स्थिर है, लेखक को उसके प्रति भी गहरी शिकायत है। वे लिखते हैं, 'प्रथम श्रेणी का एम० ए०, प्रोफ़ेसर होने की योग्यता है चरित्र का संस्कार कुछ हो या नहीं।'[6]

---

१. २. ३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३४४-३४५, पृ० ३४५, पृ० ३४५

४. ५. ६. अपने आलोचक मित्र से—संन्यासी—लक्ष्मीनारायण मिश्र—पृ० ७, पृ० १२, पृ० १३

प्रस्तुत नाटक में रमाशंकर नाम का एक प्रोफ़ेसर है, जो नयी उम्र का है और कॉलेज में पढ़ने वाली लड़कियों में विशेष रुचि रखता है। कॉलेज के एक छात्र विश्वकान्त का अपनी सहपाठिनी मालती से घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह रमाशंकर के लिए ईर्ष्या का विषय है। रमाशंकर का ईर्ष्या-भाव इतना प्रबल है कि मामूली-सी बात के लिए वह विश्वकान्त को कठोर दंड देता है, 'पूर्वीय संसार' नामक स्थानीय पत्र में छपने वाले उसके श्रेष्ठ निबन्ध को घटिया बताता है, उसकी आलोचना स्वयं लिख कर अपने पट्ट शिष्य सुधाकर के नाम छपवाने का निश्चय करता है और अन्त में सुधाकर की सहायता से विश्वकान्त और मालती के विवाह-सम्बन्ध के स्थिर होते समय विघ्न उपस्थित करता है। विश्वकान्त के पिता बेटे से इतना नाराज़ हो जाते हैं कि उसे शपथ दे जाते हैं—'मेरी लाश न छूना।'[1] इस प्रकार मातृहीन विश्वकान्त पिता के बन्धन से भी मुक्त कर दिया जाता है।

'पूर्वीय संसार' नामक पत्र के सम्पादक हैं—मुरलीधर नामक व्यक्ति, जिनकी विश्वकान्त पर विशेष कृपा रहती है। उनके पत्र में विश्वकान्त के लेख छपते हैं और विश्वकान्त भी पत्र के सम्पादन-कार्य में उनकी सहायता करता है। मुरलीधर यह जानते हैं कि विश्वकान्त बड़े जीवट का आदमी है, 'दूरदर्शी मनस्वी' है[2]। जब वह व्याख्यान देने लगता है तो मालूम होता है कि भूकम्प और उल्कापात होगा। इससे वह चाहता है कि विश्वकान्त अपने जीवन की परिधि का विस्तार करे, उसमे सारे समाज और सारे देश को आने दे।[3] मुरलीधर विश्वकान्त को देश के महायज्ञ का पुरोहित बनाना चाहता है और इसलिए चाहता है कि वह विवाह-बन्धन में न बंधे और सर्वथा निर्द्वन्द्व हो कर देश-माँ की सेवा करे। विश्वकान्त भी विवाह न करने की शपथ ले लेता है। रमाशंकर मालती के घर जा कर उसके टेबल पर से उसके नाम विश्वकान्त का पत्र उठा लाता है और अधिकारियों के पास उसे पहुँचा कर विश्वकान्त का विश्वविद्यालय से निष्कासन करा देता है। अब विश्वकान्त कॉलेज से भी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार लेखक ने उसे सब प्रकार से मुक्त करा दिया और अब वह एशियाई-संघ के संगठन-कार्य मे लग जाता है।

'संन्यासी' के आमुख में लेखक ने लिखा है—'साहित्यकार भी नागरिक है—विदेशी शासन की बुराइयों का फल उसे भी भोगना पड़ रहा है।'[4] लेखक ने अनुभव किया है कि जातियों अथवा राष्ट्रों का युद्ध अब प्रायः समाप्त-सा हो रहा है—अब रंगों का युद्ध छिड़ेगा। गोरी जातियाँ एक हो कर अपने स्वार्थ के लिए हम रंगीनो—कालों, भूरों, पीलों को दबाना चाहेंगी।[5] डॉ० दशरथ ओझा के साथ अपने वार्त्तालाप में भी लेखक ने बताया है कि—'रंगीन जातियों को सब ओर से हीन करने की चेष्टा की जा

---

१. २. ३. संन्यासी—ल० ना० मिश्र—पृ० ३८, पृ० ५७, पृ० ४३

४: अपने आलोचक मित्र से—संन्यासी—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १४

५. संन्यासी—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १४

रही थी'[1] काशी विश्व-विद्यालय में विद्याध्ययन करते समय लेखक को हिंडमन ब्लांड, पुटनमवील, लाथास्तोदार, मिस मेयो, स्टेफेन किंगहॉल जैसे, गोरी जातियों की वर्ण-उच्चता के उद्घोषक-लेखकों की रचनाओं के पढ़ने का अवसर मिला था। इन गोरे लेखकों के विचारों को पढ़ कर लेखक का स्वाभिमान जग उठा। ये गोरे लेखक कहते थे कि गोरी जातियां ही संसार की सभ्यता की रक्षा कर सकती हैं। रंगीन जातियाँ जन्म और रक्त से ही गोरी जातियों से हीन हैं—न तो वे किसी सभ्यता का निर्माण कर सकती हैं, न उनकी रक्षा। गोरी जातियों को संसार के हित के लिए इनका नियंत्रण करना चाहिए। गोरी जातियों—की दर्पोक्तियों को पढ़-सुन कर राष्ट्राभिमानी लेखक के ख़ून का खौल उठना सर्वथा स्वाभाविक था। इसी से उसने निश्चय किया—नहीं, हमें एशियाई-संघ की स्थापना अवश्य करनी पड़ेगी—अपनी रक्षा करने के लिए और एक नयी सभ्यता के निर्माण के लिए—जिसका आधार संस्कार और सेवा होगा। रंगों की विषमता और घृणा नहीं।[2] मुरली धर को प्रेरणा प्राप्त कर विश्वकान्त इसी एशियाई-संघ की संस्थापना के लिए काबुल चला जाता है।

पुस्तक की रचना की मूल प्रेरणा के रूप में इस तथ्य का संकेत लेखक ने किया तो है, किन्तु इस 'समस्या-नाटक' की मुख्य समस्या के रूप में इसे ही रखा गया है—ऐसा अनुभव नहीं होता। कथानक इसी मुख्य तथ्य की ओर ही हमें ले जाता है—यह नहीं कहा जा सकता। लेकिन हम लेखक की, इसके लिए, बहुत आलोचना नहीं कर सकते। यह इसलिए कि जिस समय इस नाटक की रचना हुई, उस समय 'एशियाई-संघ' की तस्वीर बहुत स्पष्ट नहीं हुई थी। इसलिए यदि मुरलीधर और विश्वकान्त संघ की स्थापना और संगठन से आगे नहीं बढ़ पाते तो इसमें आश्चर्य की, निराशा की कोई बात नहीं है। समस्या-नाटककार एक विचार ले कर उपस्थित होता है और यही काम लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस सन्दर्भ में किया है। समस्या-नाटक में जिस विचार को प्रस्तुत किया जाता है, वह हमें सोचने-विचारने की प्रेरणा देता है और यही पर्याप्त होता है। 'संन्यासी' में प्रस्तुत यह विचार हमें उद्वेलित करता है—इसमें क्या सन्देह ?

गोरी जातियों की वर्ण-उच्चता की समस्या यदि इस नाटक की मुख्य समस्या नहीं है तो वह कौन-सी समस्या है, जो लेखक के मानस को उद्वेलित किये हुए है ? अब हम इस प्रश्न पर विचार करें।

'संन्यासी' में विश्वकान्त, मालती और रमाशंकर की कथा के साथ-साथ एक दूसरी कथा भी चलती है जिसका सम्बन्ध दीनानाथ, किरणमयी और मुरलीधर से है। मालती और विश्वकान्त एक दूसरे से प्यार करके भी विवाह-सम्बन्ध में नहीं बँध पाते। मालती को विश्वकान्त के कमरे में देख कर विश्वकान्त के दहेज-लोलुप पिता अनुभव करते हैं कि जब उनका लड़का ही हाथ से निकल गया है तब उन्हें दहेज़ क्या मिलेगा

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३४५
२. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मिश्र—पृ० १४-१५

और इसी क्रोध में वे विश्वकान्त से नाता तोड़ कर चल देते हैं। इधर उमाकान्त शुक्ल हैं, जो अपनी बेटी मालती की इस स्वच्छन्दता से खीझते है और कह जाते हैं कि 'विश्वकान्त से कभी न मिलना—त्याग में ही जीवन है—जो त्याग नहीं कर सकता, उसे जीने का अधिकार नहीं।'[१] लेकिन इस घटना का मालती और विश्वकान्त के जीवन-क्रम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी तरह कॉलेज से विश्वकान्त का 'रस्टिकेशन' भी मालती को प्रभावित करने में असमर्थ है। मालती ने कहा ही है—'रस्टिकेशन हम लोगों को अलग नहो कर सकता! यह बात यहाँ के ढोंगी अधिकारी जान लें।'[२] लेकिन फिर भी मालती यह नही चाहेगी कि विश्वकान्त तपोभ्रष्ट हो कर, अपनी शपथ तोड़ कर उसे पति के रूप में प्राप्त हो। विश्वकान्त की अनुरागिनी मालती की समस्या इस प्रकार यह है कि वह विश्वकान्त की पत्नी नहीं हो सकती। तो क्या वह चिरकुमारिका रहे? मिश्र जी ने देखा है कि पाश्चात्य नाटककार वासना की क्षुद्र प्रवृत्ति को नारी और पुरुष के सम्बन्ध का आधार मानते हैं। वे जानते है कि बर्नार्ड शॉ जैसे नारी-समस्या के कलाकार की नारियाँ पुरुष की ओर हाथ बढ़ाती है—किसी स्थायी और आध्यात्मिक सम्बन्ध के लिए नही, वरन् क्षणिक और शारीरिक सम्बन्ध के लिए। लेखक समस्या के इस समाधान को स्वीकार नही कर पाते। उनकी मालती को, विवाह न करने की कसम खाने के बाद, जब विश्वकान्त अपनी ओर पकड़ कर खीचता है तब वह आपत्ति करती हुई कहती है—'अब मुझे उस भाव से स्पर्श करोगे तो पाप होगा।'[३] मालती का कहना है कि विश्वकान्त के साथ जो उसका सम्बन्ध है, वह आत्मिक है, शारीरिक नहीं। इससे वह विश्वकान्त से आग्रह करती है कि वह आत्मा के सुख के लिए शरीर का सुख छोड़ दे।[४] विश्वकान्त के लिए उस ऊँचाई तक पहुँचना कठिन व्यापार है, इसलिए कि वह निर्बल मनुष्य है। लेकिन वह अपने को ऊपर उठाने को सतत चेष्टा करता रहेगा। नाटककार ने प्रेम और विवाह की अलग-अलग स्थितियाँ इसी अर्थ मे स्थिर की हैं। मालती विश्वकान्त की प्रेमिका हो कर ज़िन्दगी गुज़ार सकती है, लेकिन वहीं वह हिन्दू-नारी है, जिसके अपने आदर्श हैं। समाज की भलाई के प्रश्न के आगे व्यक्ति के प्रश्न का कोई मोल नहीं हो सकता। विश्वकान्त ने एक पते की बात इस सिलसिले में कही है कि इस मानी में हम लोग पूरे सोशलिस्ट हैं।[५] इसी परिप्रेक्ष्य में हमें मालती के इस कथन का मर्म समझना होगा—'मैं रोमान्टिक प्रेम नही चाहती—विश्वकान्त के साथ मेरा यही था। मैं वह प्रेम चाहती हूँ, जो आजकल की दुनिया में समझदारी के साथ निबाहा जा सके।'[६] मालती अनुभव करती है कि विश्वकान्त प्रेम करने की चीज़ है, विवाह करने की नहीं।[७] वह ज़िन्दगी की ठोस बातों को समझना चाहती है।[८] इससे वह रमाशंकर के साथ विवाह करने को तैयार हो जाती है। लेकिन वह रमाशंकर को साफ़ कह देती है—'हम लोग प्रेम नहीं करेंगे—विवाह करेंगे—

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. संन्यासी—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० ३६, पृ० ८६, पृ० ७१, पृ० ७१, पृ० १४४, पृ० १६६, पृ० १६६, पृ० १६७

समझदारी के साथ एक दूसरे का खयाल करेंगे।'[1] वह जानती है कि 'ज़िन्दगी में रोमान्स बड़ी बुरी चीज़ है—जब तक देह में नया ख़ून रहता है, दुनिया भर की ख़ुराफ़ात, व्यर्थ की बातें, पागलपन फिर तो वही परेशानी, यह नहीं, वह नहीं, उमर ढलने लगती है दुनिया जैसे अपनी नहीं रहती। इसके लिए पहले से ही बचाव करना चाहिए।'[2] किरणमयी जब उसके सामने उपस्थित हो कर उसे समझाने की चेष्टा करती है, उसे अपने निश्चय से विरत करना चाहती है, तो वह और भी खुल जाती है और कहती है—'मुझे ज़रूरत है किसी पुरुष की मेरे साथ रहने के लिए....अपनी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए। इसलिए मैंने रमाशंकर को पसन्द किया है।'[3] इस प्रकार मालती विवाह को एक प्राकृतिक आवश्यकता समझती है और जब तक जीना है, जिन्दगी के साथ किसी-न-किसी रूप में समझौता करना ही होता है। मालती ने विश्वकान्त को इस विषय में आगे चल कर यह कहा है कि 'जब प्यास के मारे प्राण निकलने लगता है....यह नहीं सूझता कि पानी में हैज़े के कीटाणु तो नहीं हैं। पीना ही पड़ता है....प्राण जायेगा या रहेगा इसका विचार तब नहीं होता।'[4] मालती के अनुसार प्रेम का आधार वासना, जवानी के उपभोग की इच्छा, को नहीं होना चाहिए। अपने मत को और भी स्पष्ट करती हुई मालती कहती है—'जिस तरह भोजन या पानी बिना काम नहीं चल सकता...उसी तरह स्त्री या पुरुष बिना काम नहीं चल सकता। यह प्रकृति की बात है। इसे इसी रूप में छोड़ देना चाहिए। जब जरूरत पड़े तब....पर रात दिन उसी की चिन्ता में पड़े रहना और इसे प्रेम का नाम देना—यही पाप है। और कुछ पाप है या नहीं पर यह तो ज़रूर पाप है।'[5] मालती के प्रति इस नारकीय प्रेम,[6] देह की इस भूख के कारण विश्वकान्त अपने कर्त्तव्य से गिरे, यह मालती का सह्य नहीं है। वह भगवान को धन्यवाद देती है कि उसने उसे और विश्वकान्त दोनों को बचा लिया। मालती जानती है कि संसार में जन्म लेना, खाना, पीना और मर जाना यही जीवन नहीं है। जीवन तो वह चीज़ है, जिसकी गति आँधी, तूफ़ान, प्रेम, शोक, सुख, दुःख, मरण किसी के रोके न रुके।'[7] विश्वकान्त के लिए ऐसे ही जीवन की कल्पना मालती करती है। उसे प्रेरित करती हुई वह कहती है—'मेरे लिए दुनिया न छोड़ो—यह कोई ऊँचा आदर्श नहीं होगा। अपनी रक्षा करो। तुम्हारी यह यात्रा, दूसरों को प्रोत्साहित करे और आगे बढ़ने के लिए।'[8] विश्वकान्त की आँखें खोलने में मालती इस प्रकार सफल सिद्ध होती है। वह अपने अतीत का अन्त करके नया जीवन ग्रहण करने का निश्चय कर लेता है।[9] विश्वकान्त अब मालती का देवता बन सकता है। इधर मालती के शरीर को विश्वकान्त से मुक्ति मिल जाती है। अब बची आत्मा, तो वह तो अपने देवता के घुटनों पर अर्पित

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. संन्यासी—लक्ष्मी नारायण मिश्र —पृष्ठ १६८, पृष्ठ १६८, पृष्ठ १६९, पृष्ठ १७८, पृष्ठ १८०, पृ० १७८, पृष्ठ १८१, पृष्ठ १८०-१८१, पृष्ठ १८२

है ही।[1] इस प्रकार मालती अपनी समस्या का समाधान कर लेती है। कहना नहीं होगा कि उसका यह समाधान अति-बौद्धिक है। शारीरिक और मानसिक प्रेम के बीच अलगाव करना सहज नहीं है। स्वयं मालती इस समाधान के क्षण में भी तो विश्वकान्त के घुटनों पर सिर टिकाये बैठी हुई है। मिश्र जी की समस्या और उसका समाधान दोनों ही बौद्धिक हैं। उनका इस विषय में यह कहना ही है कि 'संसार की समस्याएँ, जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझायी जा सकीं....वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।'[2]

इस नाटक की किरणमयी की कथा भी कई उलझनपूर्ण समस्याओं का उद्घाटन करती है। किरणमयी का विवाह दीनानाथ नामक एक प्रोफ़ेसर से हुआ है, जो ढलती उम्र के हैं। दोनों में वय का ऐसा अन्तर है कि किरणमयी जब अपने पति दीनानाथ को देखती है तब उसे अपने पिता की याद हो आती है।[3] अनमेल विवाह की प्रथा और उसके अनाचार की मारी हुई किरणमयी का दाम्पत्य-जीवन स्वभावतः विषाक्त है। इधर दीनानाथ है, जो अपने प्रेम के अनाचार से किरणमयी को पीड़ित किये जा रहा है। फल यह है कि जब किरणमयी दीनानाथ को देखती है तो काँप उठती है।[4] वह उस अनाचार को सह नही पाती। वह चाहती है कि चौबीस घंटों में कोई दो घंटे दीनानाथ ऐसे निकाल ले, जब किरणमयी अपने शरीर को ले कर दीनानाथ की सेवा में प्रस्तुत हो जाय। यह इसलिए ताकि शेष बाईस घंटे तो उसके लिए चैन के हों।[5] किरणमयी की समस्या इस अनमेल विवाह के कारण यह है कि उसे बूढ़ा पति मिल गया है, और बूढ़ा भी ऐसा कि उसे अपने पिता का स्मरण हो आये। ऐसी स्थिति में यही सहज है कि वह ऊब जाय। वह स्पष्ट शब्दों मे कहती है कि उसका दीनानाथ के साथ जो दाम्पत्य-सम्बन्ध है वह स्वाभाविक नहीं है—बनावटी है।[6] अनमेल चीजों का मिलना स्वाभाविक नही ही होता। मिश्र जी इस प्रकार अपने इस नाटक में हमारे समाज की उस बुराई की ओर इशारा कर रहे हैं, जिसके कारण हज़ारों कुसुम-कलिकाओं का जीवन-रस सूख जाता है। किरणमयी का दीनानाथ के साथ दाम्पत्य जीवन तभी सफल हो सकता था, जब किरणमयी विधवा होती और उसकी उम्र चालीस की होती।[7] किरणमयी के इस कथन के ब्याज से लेखक बताना चाहता है कि यदि कोई वृद्ध पुरुष विवाह करना ही चाहता है तो उसे प्रौढ़ा विधवा से विवाह करना चाहिए, न कि किसी कुमारिका से।

किरणमयी की समस्या केवल यही नहीं है कि उसका अनमेल विवाह हुआ है, बल्कि यह भी है कि वह प्रेम करती थी मुरलीधर से और ब्याही गयी है वृद्ध दीनानाथ के साथ। मुरलीधर राष्ट्र-सेवा के निमित्त अपने को उत्सर्ग किये हुए है और वह राष्ट्र-सेवा और विवाह-परिवार के बीच परस्पर विरोध मानता है। इससे उसने किरणमयी

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. संन्यासी—ल० ना० मिश्र—पृ० १८३, ५०, ५५, ४५, ५४-५५, १०७, १०६

को, जो उसके साथ अपने बचपन से ही प्रेम करती रही है, अपनी ओर से कभी प्रोत्साहित नहीं किया है ।[1] लेकिन किरणमयी उसे अपना देवता मान बैठी है ।[2] एक अवसर पर तो मुरलीधर उससे यह भी कह जाता है कि वह उसकी तपस्या भंग न करे ।[3] उसके प्रेम के स्वर्ग को वासना का नरक न बनाये । लेकिन किरणमयी समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों के आगे सिर झुकाना नहीं चाहती, वह नष्ट होना नहीं चाहती । यही अन्तर है मालती और किरणमयी में । मालती विश्वकान्त के पथ को प्रशस्त करने के लिए उसके जीवन से जहाँ भौतिक रूप में हट जाती है, वहाँ समाज द्वारा मुरलीधर के जीवन से हटायी जाने पर भी किरणमयी उससे चिपक कर रहना चाहती है । उसकी भावना कहती है कि धर्म या सदाचार कुछ भी किरणमयी को मुरलीधर के पास आने से रोक नहीं सकता ।[4] अपने पति के साथ किरणमयी जो समझौता चाहती है, उसका रूप यह होगा कि दीनानाथ अपनी राह चले और किरणमयी को अपनी राह चलने दे । वह कहती है—'तुम इधर-उधर मिस और मेमों से मिला करते हो । मुझे भी अपने मित्रों से मिलने दो । हम लोगों का नाता विश्वास के बल पर जितना टिक सकता है, उतना सन्देह और ईर्ष्या से नही ।'[5] सुशिक्षित दीनानाथ की आँखें खुल जाती हैं और वह स्वीकार कर लेता है कि किरणमयी के साथ मित्र के रूप मे ही वह रह सकता है—पति-पत्नी के रूप में नहीं ।[6] उन दोनों को समझना होगा कि वे वेटिंग-रूम अथवा होटल में टिके हुए ऐसे दो अनजान व्यक्तियों की तरह हैं, जो कभी-कभी मन बहलाव के लिए यों ही बातें कर लिया करते हैं ।[7] इस प्रकार दीनानाथ और किरणमयी अपनी समस्या का समाधान कर लेते हैं । प्रश्न है, क्या यह समाधान ऐसा है, जिसे दूसरे भी सहज-रूप में ग्रहण कर सकें ? यहाँ भी हम यही देखते हैं कि मिश्र जी के सामने जो समस्याएँ हैं, वे उनकी हैं, जो सर्व-साधारण नहीं है । ऐसे लोगों के पास बुद्धि का अपार वैभव है और वे अपनी उसी विभूति के बल पर अपनी समस्या का समाधान ढूँढ सकते हैं । कहना नहीं होगा कि समाज में मिश्र जी के दीनानाथ और किरणमयी जैसे पात्र चिराग ले कर ढूँढ़ने पर भी न मिलेंगे । पति अपना अधिकार इस सहज भाव से छोड़ देगा—ऐसा देखा नहीं गया । दीनानाथ के समान समाज में कितने बूढ़े मिलेंगे, जो कह सकें—'जी हाँ, मुझसे ग़लती हुई, मैंने बुढ़ापे में विवाह किया ।'[8]

आज के छात्र हैं, जो साल भर आराम किया करते हैं, पढ़ते-लिखते नहीं और परीक्षा के दिनों में दस दिन पढ़ कर ज्ञानी हो जाने का दम्भ करते हैं ।[9] कॉलेज में पढ़ने वाले लोग क्लास करने आते हैं तो उनके हाथ में न कोई किताब होती है न कापी और पेन्सिल । इस शिक्षा-प्रणाली की सबसे बड़ी त्रुटि है कि लड़के और लड़की साथ पढ़ते हैं । उनका मुक्त जीवन नाटककार को पसन्द नहीं है । सह-शिक्षा की यह रीति पश्चिम से आयी है । हमारे देश की प्रकृति के अनुकूल यह व्यवस्था नहीं हो सकी है ।

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. **संन्यासी—ल० ना० मिश्र—पृ०** १६०, ५२, १२१, १२३, १०७, ११२, ११२, १६१, १९,

पश्चिम में समाज का जो ढाँचा है, वह हमारे समाज के ढाँचे जैसा नहीं है। वहाँ घरों में पर्दा नहीं है और इसलिए शिक्षण-संस्थाओं में भी पर्दा नहीं है। हमारे यहाँ की स्थिति भिन्न है। नाटककार को यह नहीं कहना है कि हमारे देश में सह-शिक्षा का क्रम न चले। उसे सिर्फ इतना ही कहना है कि एतद्विषयक जो सहिष्णुता पश्चिम में है, उसे भी हमें ग्रहण करना होगा। लेकिन अपने देश में वह सहिष्णुता है कहाँ ? विश्वकान्त का मालती साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है और यही वह कारण है जिससे प्रोफ़ेसर रमाशंकर का वह कोपभाजन है। यदि विश्वकान्त और मालती में वह सहिष्णुता नहीं है, जिसकी अपेक्षा है तो वही असहिष्णुता तो उनके प्रोफ़ेसर रमाशंकर में भी है। जो स्थिति है, उसका निरूपण कॉलेज में पढ़ने वाला एक छात्र बड़ी सचाई के साथ करते हुए इस नाटक में कहता ही है—'इस बार मिसेज गुप्ता के ऊपर गेंदे का फूल पड़ा....दूसरी बार कदम्ब का पड़ेगा।....दर्जे में जिस ओर परियाँ बैठेंगी, लड़के देखेंगे ही।'[1] यह ठीक है कि इस देखने से क्या ? लेकिन इस विषय में कोई 'फ़िलासफ़ी' भी कहाँ है ? किसी लाभ के लोभ से लड़कों की प्यासी आँखें वर्ग में पढ़ने वाली छात्राओं की ओर थोड़े ही उठती हैं ? देखने में एक प्रकार का सुख मिलता है। बस, मानसिक व्यभिचार की बात समझिए। नाटककार कहते हैं कि यह मानसिक व्यभिचार शारीरिक व्यभिचार के अधिक भयंकर है।[2] इसी व्यभिचार से बचने से लिए सहिष्णुता की अपेक्षा है। उसके अभाव में अनर्थ होता है। नाटककार ने अपने आलोचक मित्र से इस विषय में यह प्रश्न किया है कि जवान लड़के और लड़कियाँ जहाँ दो चार नहीं, दस बीस नहीं, सौ पचास साथ रहते हैं, बहुत सम्भव है कि कोई किसी की ओर देख ले, भूल कर पत्र लिख दे तो क्या इसका प्रतिकार यही है कि ऐसे लड़के को कालेज से निकाल असामाजिक तत्वों के बीच ठेल दिया जाय ? विश्वकान्त ने मालती के नाम पत्र भेजा है, जिसके साथ उसकी अत्यन्त निकटता हो चुकी है। और इस कारण उसे कॉलेज से निकाल दिया जाता है। लेखक कहते हैं कि यह कोई प्रतिकार नहीं हुआ। जब हम किसी लड़के को ऐसी परिस्थिति में कॉलेज से निकाल देते हैं तब यह ख़तरा तो रहता ही है कि वह असामाजिक तत्वों के बीच पड़ जाय। फिर इससे लाभ क्या है ? शिक्षालयो का नियमन, नाटककार के मतानुसार 'मार्शल लॉ' से नहीं हो सकता, 'स्पिरिचुअल' अथवा 'कल्चरल लॉ' से ही होना उचित है। यदि दंड मे सुधारने की शक्ति होती तो पुलिस के डंडे और जेलख़ाने दुनिया के सबसे बड़े शिक्षक और सुधारक होते।[3] यह तो बड़े भाग्य की बात हुई कि विश्वकान्त को मुरलीधर की प्रेरणा मिली और वह एशियाई-संघ की संस्थापना के पुनीत उद्देश्य की सिद्धि के प्रयत्न में लग गया अन्यथा वह कहाँ जा पहुँचता—यह कौन कहे ?

'संन्यासी' के लेखक ने अपने आलोचक मित्र को बताया कि यह सर्वथा स्वाभाविक है कि देश के राजनीतिक संघर्ष से कलाकार प्रभावित हो। इस नाटक में

---

१. २. संन्यासी—ला० ना० मिश्र। पृष्ठ ८०, ८२

२. अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १३

वह प्रभाव प्रचुर मात्रा में मुखर है। विदेशी शासन को यह सह्य नहीं था कि देश में स्वतंत्र विचारों का जन्म हो।[1] इस नाटक में देवधर की गिरफ़्तारी और मुरलीधर की जेल की सजा इसी तथ्य की ओर ले जाने वाली घटनाएँ हैं। सबसे दुखद बात तो यह है कि भारत की जनता को अंग्रेज़ शासकों से न्याय मिलने का विश्वास ही नहीं रह गया था। 'संन्यासी' का मुरलीधर कहता है—'नौकरशाही का न्याय और कानून....सब उसकी नीति की बात है।....नौकरशाही तजवीज़ लिखती है पहले; सबूत लेती है पीछे !'[2] मुरलीधर ने अपने पत्र, 'पूर्वीय समाचार' के द्वारा विचार-स्वातंत्र्य की प्रेरणा दी है। इसके दंड-स्वरूप अंग्रेज़ों की नौकरशाही उसका मुँह सदा के लिए बन्द करना चाहती है और इसी से जानबूझ कर उसे उस सेल में रखा जाता है, जिसमें रह कर एक बंदी यक्ष्मा की भेंट हो चुका है। जेल के डाक्टर ने स्वास्थ्य-नियम को देखते हुए अधिकारियों से कहा था कि मुरलीधर को उस कमरे में न रखा जाय।[3] लेकिन उस बेचारे की सुनता कौन है ? मैजिस्ट्रेट राय इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहता है—'मैं हिन्दुस्तानी हूँ....अंग्रेज़ी राज्य में हम लोगों की बात का क्या मूल्य ?'[4] हिन्दुस्तानी अधिकारियों के हृदय में भी प्रतिक्रियात्मक विद्रोह-भाव का जन्म होने लगा है और उसकी ही प्रेरणा से 'संन्यासी' का मि० राय सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे देने का निश्चय करता है। नाटककार आश्वस्त है कि अपने देश में मि० राय की परम्परा में खड़े होने वाले असहयोगी अधिकारियो की संख्या बढ़ेगी। उनका मुरलीधर यह मानता ही है कि 'बेजबान इन अधिकारियों का मुँह भी एक दिन खुलेगा और आयरलैंड में जैसा कुछ हुआ था उसकी आवृत्ति भारत में अंग्रेज़ों को देखनी पड़ेगी।'[5] कहना नही होगा कि इस योजना के पीछे गाँधी जी के सविनय-असहयोग आन्दोलन की प्रेरणा काम कर रही है।

'संन्यासी' में एक और भी समस्या उपस्थित की गयी है। वह है मोती की समस्या। मोती मालती के पिता उमाकान्त शुक्ल के ही शब्दों में उनके 'पाप का फल' है। अपनी जवानी में उन्होंने एक भोली-भाली मूर्ख लड़की का धर्म बिगाड़ा था और उसी का परिणाम है मोती। समस्या है ऐसी अवैध सन्तान की सामाजिक प्रतिष्ठा की और उसके अधिकारों की। उमाकान्त ने मोती को मालती का ड्रायवर बना कर रखा है लेकिन वह ड्रायवर की साधारणता की स्थिति में नही है। उसके ही भरोसे उमाकान्त मालती को अपने से दूर शहर में रखे हुए है। मोती को इस बात का अधिकार है कि वह मालती की गतिविधि पर नियंत्रण रखे।[6] उमाकान्त मोती को 'बाबू' भी कहता है और मोती को भी यह अभिमान और दर्प है कि वह 'नौकर' नहीं है। इतने पर भी उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और अधिकार की समस्या का सवाल तो खड़ा ही है। उमाकान्त उसे सम्पत्ति का अधिकार भी देता है।[7] लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा देने का काम उसका तो है नहीं। वह काम तो समाज का ठहरा। अपनी ओर से उसने उसके

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. संन्यासी—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ७३, ११६, १५८, १६२, १५६, ३७, १५०

प्रति पिता का धर्म अवश्य निबाहा है और मोती को भी इस विषय में कोई शिकायत नहीं हो सकती। मिश्र जी ने मोती के उत्तराधिकार के प्रश्न को उठा कर एक बड़ी कानूनी समस्या खड़ी की है। मोती की यह समस्या व्यक्ति की समस्या नहीं है, उसके जैसे अनेक लोगों की यह समस्या है। देश को आगे चल कर इस विषय में कानून बनाना ही पड़ा। जागरूक समस्या-नाटककार मिश्र जी की यही विशेषता है कि उन्होंने इस प्रश्न को भी उठाया और राष्ट्र को उसके विषय में सोचने की प्रेरणा दी।

अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ों की संगति का परिणाम भारतीयों के जीवन पर गहरा पड़ रहा था। लेखक को शिकायत है कि यह प्रभाव शुभ नहीं है। अपनी पुराचीनता के प्रति एक प्रकार का उपेक्षा-भाव आधुनिक समाज में देखा जा रहा है। परिणाम होता है कि हमें अपनी हर चीज़ बुरी लगती है और हम उसका तिरस्कार करते हैं। प्रोफ़ेसर रमाशंकर को सुधाकर से विदित होता है कि वह अपने रोग की दवा पड़ोस के वैद्य से कर रहा है। वह छूटते ही पूछता है—'वैद्य की दवा करते हो? अंग्रेज़ी पढ़ कर?' उसकी शिकायत है कि हम लोगों में यही तो बुराई है कि पुरानी बातों को नहीं छोड़ते।

राक्षस का मन्दिर

'संन्यासी' की रचना करते समय श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र ने अनुभव किया था कि सर्व-साधारण के जीवन में विचारहीनता, संकीर्णता, निम्न कोटि के स्वार्थों के लिए सिद्धान्तों और आदर्शों की हत्या, असहिष्णुता आदि की दूषित प्रवृत्तियों का ज़ोर बढ़ता जा रहा है और सर्व-साधारण के लिए समझदारी और ज़िन्दगी की भलाई-बुराई का अन्दाज़ लगाने के लिए जब तक सही पैमाने नहीं बनाये जाते, ख़तरा बना रहेगा। अस्तु, आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य की सारी ज़िन्दगी को प्रकाशित किया जाय।[1] मिश्र जी के 'संन्यासी' नाटक की रचना की यही मूल प्रेरणा है। उनका 'राक्षस का मन्दिर' भी संन्यासी की ही परम्परा में है। मिश्र जी के विचार से भविष्य की कला और साहित्य का यही उद्देश्य होना चाहिए।[2] इसी से 'राक्षस का मन्दिर' नामक अपने नाटक में मिश्र जी ने मनुष्य की ज़िन्दगी को सब ओर से, भीतर और बाहर, प्रवृत्तियों के चढ़ाव और उतार को, दैवी और राक्षसी द्वन्द्व को, आशा और निराशा के सम्मिलन को, देखने-परखने की चेष्टा की है।[3] प्रस्तुत नाटक में राम लाल, अश्करी और मुनीश्वर ऐसे ही पात्र हैं, जिनके जीवन के उपकरणों का विश्लेषण यथार्थ के धरातल पर किया गया है। मनुष्य की ज़िन्दगी की सचाई को छिपा लेने के लिए सभ्यता, शिक्षा, नियम और कानून के जो एक के ऊपर दूसरे पर्द पड़े हुए हैं, नाटककार ने उन्हें हटाया है। यह इसलिए कि ज़िन्दगी की चहारदीवारी के चारों ओर घूम आने

---

१. २. ३. **राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—मेरा दृष्टि कोण—पृष्ठ ७, ७, ६**

से ही वह सन्तुष्ट नहीं हो पाता, उस चहारदीवारी को कहीं से तोड़ कर उसे उसमें घुसना भी था।

अच्छी-खासी आमदनी वाले, ढलती उम्र के वकील राम लाल की ज़िन्दगी के दो हिस्से हैं—एक है उसकी वेश्या अश्करी, जिसे उसकी उस छोटी उम्र में, जब उसे यह भी पता नहीं था कि प्रेम क्या होता है, मुहब्बत किसे कहते हैं, रुपये और ऐश-आराम का प्रलोभन दे कर वकील साहब ने घर में बिठा लिया है और दूसरा है 'शैम्पेन'। अपनी ज़िन्दगी के इस क्रम को सुरक्षित रखने के लिए वकील रामलाल ने एक-एक करके सभी रस्सियाँ काट डाली हैं। रामलाल की विलक्षणता इस बात में है कि दुनिया के और आदमी जिसके लिए वेश्या रखते हैं, उसके लिए उसने नहीं रखी। शाम को कचहरी से रामलाल के वापस आने पर अश्करी उसके सामने बोतल और ग्लास ले कर खड़ी होती थी और रामलाल जब तक शराब पीता रहता, उसकी ओर देखा करता। इतने ही भर के लिए अश्करी से उसका नाता था।[1] क्रान्तिकारी मुनीश्वर को वह बहुत चाहता है। उसके विचार उसे भाते हैं। रामलाल इस बात का अनुभव करता है कि अश्करी उम्र की सीढ़ियों पर बढ़ती जा रही है और बूढ़े रामलाल मे इतनी शक्ति नहीं कि वह अश्करी की यौन-एषणा को सन्तुष्ट कर सके। मिस्टर बैनर्जी से वह कहता ही है—'वह सन्तुष्ट कैसे....ग़ैरमुमकिन है। मुझ में प्रेम करने की शक्ति नहीं....उसे आवश्यकता है....यौवन की।'[2] अश्करी का अतृप्त यौन-भाव भयंकर रोग बन कर उसे ग्रसता जा रहा है। अश्करी अपने इस रोग की दवा खोज रही है। उसने स्वीकार किया है कि वह जिस झोली वाले को देखती, उसकी झोली भरने लगती।[3] इस क्रम में वह रघुनाथ पर, जो वकील रामलाल का पुत्र है और कवि-हृदय है, डोरे डालने की चेष्टा करती है। रामलाल जानता है कि रघुनाथ और अश्करी जैसे जवान स्त्री-पुरुष साथ रहेंगे, आपस में मिलेंगे तो कोई-न-कोई बात हो ही जायगी।[4] लेकिन शराबी रामलाल को इतना होश तो है ही कि वह अपने पुत्र को अश्करी की छाया से अलग रखे। उसने यह दावा किया ही है कि 'वह, वह बाप नहीं है, जो प्रेम में आ कर अपने लड़के की ज़िन्दगी ख़राब करता है....उसके दिल और दिमाग़ को गुलामी के लिए तैयार करता है'।[5] अस्तु, वह रघुनाथ को घर से निकाल देता है और यह सोच कर सन्तुष्ट है कि उसने अपने बेटे को अपने जेलखाने से मुक्त कर दिया है। अब रघुनाथ के लिए यह सम्भव है कि वह ज़िन्दगी की खुली सड़क पर पहुँच कर अपने ही पुरुषार्थ के भरोसे अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। 'संन्यासी' की रचना करते समय मिश्र जी ने कहा था कि उस नाटक की रचना उन्होंने आने वाली पीढ़ी की स्वतंत्रता के लिए की थी और उनके अगले नाटक भी उसी क्रम में लिखे जायेंगे। इस स्वतन्त्रता से मिश्र जी का अभिप्राय प्राय: आत्म-निर्भरता से है। रामलाल रघुनाथ को इसी स्वतन्त्रता का

१. २. ३. ४. ५. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ६८, २४, ६९, २०, २०

पाठ ग्रहण करने के लिए अपनी सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित कर देता है।

अश्करी और रघुनाथ के अतिरिक्त यदि रामलाल किसी और व्यक्ति से प्यार करता है तो वह है मुनीश्वर। यह मुनीश्वर, मनोहर नामक क्रान्तिकारी के रूप में रामलाल से परिचित हुआ था और रामलाल उसके व्यक्तित्व के विकास के प्रति भी उतना ही उत्सुक है, जितना वह रघुनाथ के विकास के प्रति है। लेकिन मुनीश्वर ने उसके साथ छल किया है। वह अश्करी से प्रेम करने लगता है। रामलाल यह जानता है कि अश्करी वह जलती हुई आग है, जिसके संसर्ग में, जो भी आयेगा, जल जायेगा और इसीलिए, जब वह मुनीश्वर और अश्करी को आलिंगन-बद्ध देखता है तो मुनीश्वर से सरोष कहता है—'यही तुम्हारा दर्शन है, मूर्ख !'[1] इतने पर भी रामलाल उसे क्षमा करता है और साथ ही उस अश्करी को भी, जिसने उसके ही शब्दों में, उसके साथ 'विश्वासघात'[2] किया है। यह इसलिए कि मुनीश्वर उसे समझा देता है कि अश्करी का खाने और कपड़े से ही काम नहीं चलता।[3] मनोहर नाम धारी क्रान्तिकारी, पुलिस कप्तान बैनर्जी का ही पुत्र मुनीश्वर है—यह रामलाल को पहले विदित नही था। मुनीश्वर ने यह तथ्य उससे छिपा रखा है। लेकिन रामलाल उसके इस छल को भी नज़र-अन्दाज़ करता है। मुनीश्वर रघुनाथ के प्रति रामलाल की भावना और अश्करी के प्रति उसके सहज प्रेम को बख़ूबी जानता है और ऐसा जाल खड़ा करता है कि रामलाल की सम्पूर्ण सम्पत्ति का, 'मातृमन्दिर' के नाम ट्रस्ट हो जाता है। रामलाल अपनी अश्करी को उस 'मातृ-मन्दिर' की व्यवस्था का दायित्व सौंपता है और मुनीश्वर को ट्रस्ट का अधिकारी बनाता है। स्पष्ट है, मुनीश्वर का वह बड़ा विश्वास करता है। प्रश्न है, क्या मुनीश्वर उस विश्वास के योग्य पात्र है ? मुनीश्वर ने अश्करी से बातें करते हुए एक बार कहा है कि वह राक्षस है और राक्षस का अपना कोई घर नहीं होता। वह देवता के मन्दिर में घुस आता है और निर्बल होने के कारण देवता उसे रोक भी नहीं पाता।[4] मुनीश्वर रामलाल को शक्तिहीनता का लाभ उठाता है और अश्करी पर अधिकार प्राप्त करता है। मातृ-मन्दिर के उच्च उद्देश्य का छलावा खड़ा कर और अश्करी के प्रति रामलाल की कोमल भावना का लाभ उठा कर वह यह योजता बनाता है कि वह रामलाल की सम्पत्ति और अश्करी दोनों का अधिकारी हो जाय। अश्करी का मुनीश्वर के प्रति कथन—'मुनीश्वर जी ! आप जगत को धोखा दे रहे हैं....नहीं तो आप वेश्या-सुधार-आश्रम में क्या करेंगे.... मुझे मालूम है। आप सुधार करने लिए बनाये नहीं गये थे। आप तो बनाये गये थे, सबको ठगने के लिए। सुधार के बहाने जिनको फँसा कर आप अपने आश्रम में रखेंगे, उनमें कोई-न-कोई आपके मलतब की मिल जायेगी—'[5] इसका प्रमाण है। मुनीश्वर भी यह स्वीकार करता है कि आश्रम की उसकी कल्पना अश्करी के बिना व्यर्थ है और इसी वजह से वह उसके द्वार पर प्रेम की भीख माँग रहा है।[6]

---

१. २. ३. ४. ५. ६. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ २७, ४५, ४०, ३७, ८५,

से ही वह सन्तुष्ट नहीं हो पाता, उस चहारदीवारी को कहीं से तोड़ कर उसे उसमें घुसना भी था।

अच्छी-खासी आमदनी वाले, ढलती उम्र के वकील राम लाल की ज़िन्दगी के दो हिस्से हैं—एक है उसकी वेश्या अश्करी, जिसे उसकी उस छोटी उम्र में, जब उसे यह भी पता नहीं था कि प्रेम क्या होता है, मुहब्बत किसे कहते हैं, रुपये और ऐश-आराम का प्रलोभन दे कर वकील साहब ने घर में बिठा लिया है और दूसरा है 'शैम्पेन'। अपनी ज़िन्दगी के इस क्रम को सुरक्षित रखने के लिए वकील रामलाल ने एक-एक करके सभी रस्सियाँ काट डाली हैं। रामलाल की विलक्षणता इस बात में है कि दुनिया के और आदमी जिसके लिए वेश्या रखते हैं, उसके लिए उसने नहीं रखी। शाम को कचहरी से रामलाल के वापस आने पर अश्करी उसके सामने बोतल और ग्लास ले कर खड़ी होती थी और रामलाल जब तक शराब पीता रहता, उसकी ओर देखा करता। इतने ही भर के लिए अश्करी से उसका नाता था।[१] क्रान्तिकारी मुनीश्वर को वह बहुत चाहता है। उसके विचार उसे भाते है। रामलाल इस बात का अनुभव करता है कि अश्करी उम्र की सीढ़ियों पर बढ़ती जा रही है और बूढ़े रामलाल में इतनी शक्ति नही कि वह अश्करी की यौन-एषणा को सन्तुष्ट कर सके। मिस्टर बैनर्जी से वह कहता ही है—'वह सन्तुष्ट कैसे....ग़ैरमुमकिन है। मुझ में प्रेम करने की शक्ति नहीं....उसे आवश्यकता है....यौवन की।'[२] अश्करी का अतृप्त यौन-भाव भयंकर रोग बन कर उसे ग्रसता जा रहा है। अश्करी अपने इस रोग की दवा खोज रही है। उसने स्वीकार किया है कि वह जिस झोली वाले को देखती, उसकी झोली भरने लगती।[३] इस क्रम में वह रघुनाथ पर, जो वकील रामलाल का पुत्र है और कवि-हृदय है, डोरे डालने की चेष्टा करती है। रामलाल जानता है कि रघुनाथ और अश्करी जैसे जवान स्त्री-पुरुष साथ रहेंगे, आपस में मिलेंगे तो कोई-न-कोई बात हो ही जायगी।[४] लेकिन शराबी रामलाल को इतना होश तो है ही कि वह अपने पुत्र को अश्करी की छाया से अलग रखे। उसने यह दावा किया ही है कि 'वह, वह बाप नहीं है, जो प्रेम में आ कर अपने लड़के की ज़िन्दगी ख़राब करता है....उसके दिल और दिमाग़ को ग़ुलामी के लिए तैयार करता है'।[५] अस्तु, वह रघुनाथ को घर से निकाल देता है और यह सोच कर सन्तुष्ट है कि उसने अपने बेटे को अपने जेलखाने से मुक्त कर दिया है। अब रघुनाथ के लिए यह सम्भव है कि वह ज़िन्दगी की खुली सड़क पर पहुँच कर अपने ही पुरुषार्थ के भरोसे अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सके। 'संन्यासी' की रचना करते समय मिश्र जी ने कहा था कि उस नाटक की रचना उन्होंने आने वाली पीढ़ी की स्वतंत्रता के लिए की थी और उनके अगले नाटक भी उसी क्रम में लिखे जायेंगे। इस स्वतन्त्रता से मिश्र जी का अभिप्राय प्रायः आत्म-निर्भरता से है। रामलाल रघुनाथ को इसी स्वतन्त्रता का

---

१. २. ३. ४. ५. **राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ** ६८, २४, ६६, २०, २०

पाठ ग्रहण करने के लिए अपनी सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित कर देता है।

अश्करी और रघुनाथ के अतिरिक्त यदि रामलाल किसी और व्यक्ति से प्यार करता है तो वह है मुनीश्वर। यह मुनीश्वर, मनोहर नामक क्रान्तिकारी के रूप मे रामलाल से परिचित हुआ था और रामलाल उसके व्यक्तित्व के विकास के प्रति भी उतना ही उत्सुक है, जितना वह रघुनाथ के विकास के प्रति है। लेकिन मुनीश्वर ने उसके साथ छल किया है। वह अश्करी से प्रेम करने लगता है। रामलाल यह जानता है कि अश्करी वह जलती हुई आग है, जिसके संसर्ग में, जो भी आयेगा, जल जायेगा और इसी-लिए, जब वह मुनीश्वर और अश्करी को आलिंगन-बद्ध देखता है तो मुनीश्वर से सरोष कहता है—'यही तुम्हारा दर्शन है, मूर्ख !'[१] इतने पर भी रामलाल उसे क्षमा करता है और साथ ही उस अश्करी को भी, जिसने उसके ही शब्दों में, उसके साथ 'विश्वासघात'[२] किया है। यह इसलिए कि मुनीश्वर उसे समझा देता है कि अश्करी का खाने और कपड़े से ही काम नहीं चलता।[३] मनोहर नाम धारी क्रान्तिकारी, पुलिस कप्तान बैनर्जी का ही पुत्र मुनीश्वर है—यह रामलाल को पहले विदित नहीं था। मुनीश्वर ने यह तथ्य उससे छिपा रखा है। लेकिन रामलाल उसके इस छल को भी नज़र-अन्दाज़ करता है। मुनीश्वर रघुनाथ के प्रति रामलाल की भावना और अश्करी के प्रति उसके सहज प्रेम को बख़ूबी जानता है और ऐसा जाल खड़ा करता है कि रामलाल की सम्पूर्ण सम्पत्ति का, 'मातृमन्दिर' के नाम ट्रस्ट हो जाता है। रामलाल अपनी अश्करी को उस '[illegible]' की व्यवस्था का दायित्व सौंपता है और मुनीश्वर को ट्रस्ट का अधिकारी बनाता है। स्पष्ट है, मुनीश्वर का वह बड़ा विश्वास करता है। प्रश्न है, क्या मुनीश्वर उस विश्वास के योग्य पात्र है ? मुनीश्वर ने अश्करी से बातें करते हुए एक बार कहा है कि वह राक्षस है और राक्षस का अपना कोई घर नहीं होता। वह देवता के मन्दिर में घुस आता है और निर्बल होने के कारण देवता उसे रोक भी नहीं पाता।[४] मुनीश्वर रामलाल की शक्तिहीनता का लाभ उठाता है और अश्करी पर अधिकार प्राप्त करता है। मातृ-मन्दिर के उच्च उद्देश्य का छलावा खड़ा कर और अश्करी के प्रति रामलाल की कोमल भावना का लाभ उठा कर वह यह योजता बनाता है कि वह रामलाल की सम्पत्ति और अश्करी दोनों का अधिकारी हो जाय। अश्करी का मुनीश्वर के प्रति कथन—'मुनीश्वर जी ! आप जगत को धोखा दे रहे हैं....नहीं तो आप वेश्या-सुधार-आश्रम में क्या करेंगे.... मुझे मालूम है। आप सुधार करने लिए बनाये नहीं गये थे। आप तो बनाये गये थे, सबको ठगने के लिए। सुधार के बहाने जिनको फँसा कर आप अपने आश्रम में रखेंगे, उनमें कोई-न-कोई आपके मलतब की मिल जायेगी—'[५] इसका प्रमाण है। मुनीश्वर भी यह स्वीकार करता है कि आश्रम की उसकी कल्पना अश्करी के बिना व्यर्थ है और इसी वजह से वह उसके द्वार पर प्रेम की भीख माँग रहा है।[६]

---

१. २. ३. ४. ५. ६. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ २७, ४५, ४०, ३७, ८५,

मुनीश्वर अपने माँ-बाप, अपनी पत्नी और बच्चे को छोड़ कर 'मनोहर' क्यों हो गया, इसका पता नहीं चलता। उसकी क्रान्ति की दिशा भी प्रायः अस्पष्ट ही है। क्रान्तिकारी मुनीश्वर जिस तरह के जीवन का पक्षधर है; उसका रूप स्पष्ट करते हुए उसने कहा है—'मैं तो दिल से चाहता हूँ....मनुष्य की वही प्रारम्भिक ज़िन्दगी फिर लौट आती। न कोई बन्धन, न कोई चिन्ता, न धर्म, न सदाचार, न कानून, न क्रान्ति ....जहाँ न पितृधर्म है, न मातृधर्म, न पत्नीधर्म, न पतिधर्म, जहाँ न कर्त्तव्य, न आदर्श !'[1] वह क्रान्तिकारी है, इस अर्थ में कि वह अनुभव करता है कि 'राज्य करने के, कानून बनाने के, शिक्षा देने के, धर्म और सदाचार बनाने के सभी तरीके मनुष्य को, उसके भीतर की शक्तियों को दुर्बल बनाते चले जा रहे हैं।'[2] वह चाहता है कि 'सब किसी को अपनी इच्छा पर छोड़ दिया जाय।'[3] लेकिन जब उसकी पत्नी दुर्गावती उसके सामने उपस्थित हो कर अपने विवाह के अधिकार की ओर उसका ध्यान ले जाती है तो वह विवाह-संस्था की व्यर्थता का उल्लेख करके उसका मुँह बन्द करना चाहता है। उसकी यह भी शिकायत है कि दुर्गा ने प्रतिष्ठित घराने की बहू की मर्यादा तोड़ी है और घर के बाहर पैर निकाल कर वह दूसरे के यहाँ आयी है। मुनीश्वर एक ओर तो क्रान्ति की बात करता है, रूढ़ियों को तोड़ने निकला है, जीवन के ऊपर पड़े हुए नियम के बन्धन को हटाने का उत्कट आग्रही है और दूसरी ओर पत्नी को घर की चहारदीवारी में कैद करके रखने का अभिलाषी भी है। स्पष्ट है, उसकी कथनी और करनी में कोई एकता नहीं है। वह घोषित करता है कि उसने दुर्गा को छोड़ दिया है और अब दुर्गा को पत्नीत्व को भूल कर मातृत्व का सम्बल ग्रहण करना चाहिए। मुनीश्वर एक ओर तो अपनी पत्नी के प्रति इतना निर्मम है, अनुदार है और दूसरी ओर अगले ही क्षण झुक कर उसके ओंठ चूम लेता है।[4] इतने विरोधों को ले कर चलने वाला मुनीश्वर, नाटककार के लिए एक बड़ी समस्या है।

मुनीश्वर के विषय में उन्होंने कहा है—'मुनीश्वर के भीतर विवेक और प्रवृत्ति का जो द्वन्द्व मुझे दीख पड़ता है, आज दिन शिक्षित समुदाय की वही सबसे बड़ी समस्या है।'[5] मिश्र जी ने मुनीश्वर को उस समुदाय अथवा प्रवृत्ति की आधुनिक लहर का प्रतिनिधि बताया है, जिसमें बुद्धि और तर्क के आगे और किसी भी वस्तु का स्थान नहीं है।[6]

मुनीश्वर के चरित्र का एक दूसरा पहलू भी है, जिसकी ओर ध्यान दिया जाय तो वह उतना गर्हित कुपात्र नहीं दीखता, जितना ऐसे वह और-तो-और अश्करी को दीखता है। अपने चरित्र के उस पहलू का उद्घाटन करते हुए उसने रघुनाथ से यह कहा है कि 'जिस सम्पत्ति का उपभोग केवल आपकी लालसा में होता, उससे कितने दुखी प्राणियों का निर्वाह हो रहा है। मैं पापी हूँ या पुण्यात्मा, इस पर विचार करने के

१. २. ३. ४. ५. ६. **राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ** ३२, ३३, ३३, ५३, ७, ७

अधिकारी आप नहीं। मैं क्या करता हूँ, उसको देखिये—वह बुरा है या भला।'[1]

मुनीश्वर ऐसा कह कर हमसे आग्रह करता है कि हम उसके चरित्र की समीक्षा सहानुभूति के साथ करें। मिश्र जी यह मानते हैं कि मनुष्य में सत् और असत् की दोनों प्रवृत्तियाँ रहती हैं। इस संसार में 'असत्' वृत्तियों के पोषक तत्व बहुत हैं और इस कारण मनुष्य की 'सत्' प्रवृति दब जाती है। फिर भी यह नहीं होता कि वह सर्वथा मृत हो जाय। ज्योंही परिवेश में परिवर्तन होता है, उसे प्रकट होने की अनुकूलता प्राप्त होती है। मिश्र जी कहते हैं कि मनुष्य का देवता जब जग उठता है मनुष्य की जिन्दगी की बागडोर अपने हाथ में ले लेता है।[2]

मुनीश्वर की 'असत्' प्रवृत्ति का रूप ऊपर स्पष्ट है। अब हम देखें कि उसका देवता किस रूप में जगता है। रामलाल दस हज़ार रुपये प्रति माह वकालत से कमाता है और इस तरह बेशुमार धन-सम्पत्ति उसके पास अर्जित हो गयी है। मुनीश्वर देखता है कि इस सम्पत्ति का उत्तराधिकार यदि रामलाल के एकमात्र पुत्र रघुनाथ को प्राप्त हो जाता है तो उस धन का उपयोग केवल लालसा-पूर्ति में होगा। उससे केवल एक व्यक्ति रघुनाथ को लाभ होगा। चूंकि आज हमारे जीवन में सहिष्णुता नहीं रह गयी है, इससे ख़तरा यह है कि इस सम्पत्ति का दुरुपयोग होगा। स्वयं रामलाल ने उसका दुरुपयोग किया है। अस्तु, मुनीश्वर मातृमन्दिर की योजना बनाता है और चाहता है कि इस धन का व्यय उनके हित में हो, जिनके लिए दुनिया में कहीं जगह नहीं है और परिणाम-स्वरूप जो नरक के द्वार में प्रविष्ट होने के लिए विवश हैं। इस प्रकार मुनीश्वर समाज के हित के लिए रामलाल की सम्पत्ति का ट्रस्ट कराता है। यदि ऐसा होने से रघुनाथ की हानि होती है तो हो। जहाँ समाज के हित का सवाल खड़ा हो, वहाँ व्यक्ति के स्वार्थ की चिन्ता नहीं की जा सकती। शंका की जा सकती है कि मुनीश्वर रामलाल के धन के बल पर समाज में अपना यश बढ़ाना चाहता है, नामवरी चाहता है। रघुनाथ के मन में ऐसी शंका का उठना सर्वथा स्वाभाविक है। इसी शंका का निरा-करण करने के लिए मुनीश्वर रघुनाथ को कहता है—'आप समझते हैं नाम के लिए, यश के लिए, अधिकार....धन की लालसा से मैंने इस रास्ते में कदम बढ़ाया है। यह आपका भ्रम है। सत्य इससे बहुत दूर है।'[3] मुनीश्वर का इतिहास शायद उसके इस दावे का समर्थन नहीं करे। इससे वह अपनी सफ़ाई में यह भी कह देता है कि मैं वह नहीं हूँ, जो पहले था। मेरी वह आत्मा मर गयी अब दूसरी आत्मा ने जन्म लिया है।[4] उसके कहने का तात्पर्य है कि अब उसका देवता जग गया है और उसने उसकी जिन्दगी की बागडोर सँभाल ली है। लेकिन आज भी मुनीश्वर अपने चरित्र के विषय में शुद्धता का दावा नहीं कर सकता। उसने कहा है कि सम्भव है कि जिन वेश्याओं के उद्धार-कार्य में वह लीन है, उनमें से कोई उससे लिपट जाय और उसका चरित्र स्खलित हो जाय। लेकिन फिर भी देखना यही चाहिए कि जिस उद्देश्य को ले कर वह चल रहा है,

१. २. ३. ४. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १४८ ४-५ १४८

वह कितना महान है।[1] रघुनाथ यदि मातृ-मन्दिर के संचालन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले ले तो वह अपने को वहाँ से हटा ले। आगे चल कर जब अश्करी यह ज़िम्मा ले लेती है तो मुनीश्वर उसके लिए स्थान खाली कर ही देता है।

इस तरह स्पष्ट है कि नाटककार ने मुनीश्वर को उसकी दुर्बलताओं, क्षुद्रताओं से ऊपर उठाया है। उन्होंने न उसके राक्षस को चित्रित करने में कोई संकोच दिखाया है और न उसके देवता के दर्शन कराने में कोई कोताही की है। रामलाल के चरित्र-निर्माण के पीछे भी यही बात है। एक ओर तो वह सुरा और सुन्दरी के मोह में पड़ा हुआ है और दूसरी ओर बेटे के रहते अपने सर्वस्व का ट्रस्ट समाज-हितार्थ कर देने का विरल त्याग दिखाता है।

अश्करी के चरित्र में भी प्रवृत्ति और विवेक के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया गया है। अश्करी रामलाल वकील की वेश्या है और चूँकि रामलाल अपने घर को आबाद नहीं कर सकता[2] वह मुनीश्वर को अपना शरीर सौंपती है। उसका अतृप्त यौन-भाव उसकी घोर विवशता है। लेकिन यही अश्करी मुनीश्वर की पत्नी दुर्गावती के प्रेम की उच्चता, गम्भीरता और एकनिष्ठता को देख कर मुनीश्वर से आग्रह करती है कि वह अपनी स्त्री के पास चला जाय। रामलाल के प्रति अपने अपराध को स्वीकार करती हुई वह रामलाल से कहती है—'मैंने आपके साथ ईमानदारी नहीं की है।'[3] रामलाल ने जब यह निश्चय किया कि वह निस्संग रहेगा, सब कुछ छोड़ कर संन्यास-ग्रहण करेगा तो अश्करी उसके इस नये पथ को प्रशस्त करने में लग जाती है। जो अश्करी ऐश-आराम और रुपयों के प्रलोभन के कारण पचास वर्ष के बूढ़े रामलाल के घर आयी थी, वही आज बहुत थोड़े में गुज़ारा करने को तैयार है। रामलाल के मन की बागडोर जब ढीली पड़ने लगती है तो वह अपने संयम की बागडोर कड़ी कर लेती है और रामलाल को सुझाती है कि निवृत्ति का निश्चय करने के बाद उसका यह असंयम पाप है, अपराध है।[4] अश्करी अपने पर नियंत्रण रख सकती है, अपनी ओर से रामलाल को निस्संग रहने देने में उसे कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन वह तो रामलाल पर हैरान है। आज न जाने क्या हो गया है उसे। जब वह शराब के नशे में होता था तब तो उसने कभी अश्करी को वासना की ऐसी नजर से नहीं देखा और आज जब वह भगवान की शरण आया है, उसकी ऐसी दशा है।[5] लेकिन वह रामलाल को कमज़ोर होने नहीं देगी और इसी से वह ऐसी जगह चली जाती है, जहाँ कोई उसे नहीं जानता और जहाँ किसी को वह नहीं जानती।

रामलाल को मुनीश्वर ने देवता कहा है[6]—यह इसलिए कि अश्करी को वह सब कुछ देता है, बदले में उससे लेता कुछ भी नहीं। इस देवता के संसर्ग में आ कर मुनीश्वर का राक्षस जैसे अपने आसन से खिसक जाता है, वैसे ही अश्करी का भी उसी

१. २. ३. ४. ५. ६. **राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ३७, ६१**
६१, ६२' ४३,

की प्रेरणा से कायाकल्प हो जाता है। अश्करी यह जानती है कि उसके जीवन का जो कलंक है, उसे मिटाया नहीं जा सकता।[1] लेकिन अपने जीवन के क्रम को, अपने रास्ते को बदला तो जा सकता है। और उठना-गिरना तो खैर वह नहीं जानती—उसने अपना रास्ता बदल लिया है।[2] लेखक का मत है कि, जहाँ मनुष्य प्रवृत्तियों और मानसिक दुर्बलताओं का गुलाम न हो कर अपना राजा बन बैठता है और जहाँ उसके जीवन का सत्य ब्रह्मांड के सामंजस्य में मिल कर एक हो जाता है वहीं समूची कला का अन्त होता है।[3] इस नाटक में अश्करी उस भावभूमि पर अधिष्ठित हो जाती है, जहाँ घृणा किसी के निमित्त नही है, सबके लिए प्रेम है। रघुनाथ को इस उच्च भूमिका को प्राप्त कराने वाली अश्करी ही यह कह सकती है कि 'जिन बातों से तुम्हें कष्ट होता है....उन्हें हृदय से निकाल फेंको। तुम्हारे भीतर का भगवान प्रसन्न होगा। मुनीश्वर को क्षमा कर दो....अपने पिता जी को क्षमा कर दो और यदि हो सके तो मुझे भी। अपनी सीमाओ को पार कर जाओ....बस तुम देवता हो...देवत्य के लिए बस इतना ही....।'[4]

जैसा कि ऊपर कहा गया है रघुनाथ की कल्पना के पीछे लेखक का यह विचार है कि इस युग के आदमी को ज़िन्दगी की खुली सड़क पर अपने व्यक्तित्व का स्वयं निर्माण करना चाहिए। ऐसे ही आत्म-निर्भर व्यक्तियों की इस पीढ़ी को ज़रूरत है। यह रघुनाथ भी 'प्रवृत्ति और विवेक के द्वन्द्व में पड़ा हुआ है। पिता उसे कुछ तो सन्देह पर और उससे भी अधिक आत्म-निर्भर बनाने के लिए घर से निकाल देता है और बाद में सम्पत्ति के उत्तराधिकार से भी वंचित कर देता है। रघुनाथ कवि-हृदय होने पर भी इतना तो समझता ही है कि पिता ने उसके साथ न्याय नहीं किया है। अपने प्रति होने वाले इस अन्याय का कारण वह अश्करी और मुनीश्वर को समझता है। पिता जब उसे घर से निकल जाने को कहता है तो वह उत्तर में कहता ही है—'ठीक है....वह वेश्या रहे....लड़का रह कर क्या करेगा....।'[5] बाद में जब रामलाल उस आवेश के क्षण के बीतने पर उससे कहता है—'मेरे बच्चे! अतीत की बातों को अतीत के गर्भ में विलीन हो जाने दो, मै अपना सब कुछ बदल देना चाहता हूँ—अपना जीवन, अपनी आत्मा, अपना हृदय, अपना संसार....जो बीत गया, भूल जाओ'[6] तब वह दो टूक बात कह जाता है—'यह नहीं हो सकता...या तो मैं रहूँगा या यह रहेगी। दोनों नही रह सकते।'[7] रामलाल जब उसे सुझाता है—'आदमी तो ऐसे होते हैं, जो शेर के साथ रहते हैं। तुम आदमी के साथ नहीं रह सकते? मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी चिन्ता स्वयं करे। अपना बनाना-बिगाड़ना अपने हाथ है। दूसरे को दोष देना....क्यों ?'[8]

१. २. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ९७, १००

३. मेरी दृष्टिकोण—राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ३

४. ५. ६. ७. ८. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १३१-२, १५८, ५८, ५८, ५९

लेकिन रघुनाथ को यह मालूम है कि उसमें पर्याप्त शक्ति नहीं है। सचमुच अश्करी के प्रति सर्वथा निरपेक्ष होने की उसमें शक्ति नहीं है। अश्करी उसके बाप की वेश्या है, इसलिए उसे उसकी ओर वासना की नजर से, प्रेम की नज़र से नहीं देखना चाहिए। लेकिन क्या उनके हृदय में भावुक कोमल तारों को अश्करी ने झनझना नहीं दिया है ?—इसके उत्तर में 'नहीं' कहना आसान नहीं है।

रामलाल से हट कर जब अश्करी ललिता के घर आ जाती है और अपने जीवन का रास्ता बदल कर अपने भगवान के आगे अर्पिता हो जाती है तो उसके इस रूप का दर्शन कर रघुनाथ उसे अपना 'पहला और अन्तिम वरदान' देने का उत्कट आग्रही हो जाता है। लेकिन अश्करी को अब मनुष्य के वरदान की चाह नहीं है। रघुनाथ की ओर ललिता आकृष्ट होती है। लेकिन उसको वही वरदान देने की स्थिति में रघुनाथ नहीं है ? यह इसलिए कि दूसरी बार वरदान देने के पहले उसे फिर एक बार देवता बनना पड़ेगा, जो अब सम्भव नहीं है।[1] स्पष्ट है कि रघुनाथ जो कुछ अश्करी को दे चुका है, उसे वह ललिता को देने में असमर्थ है। ललिता और उसमें बड़ा अन्तर है। ललिता का संस्कार दूषित है, जिससे वह अश्करी के विषय में यह जान कर कि वह मुसलमान है, उसका अपमान करती है। इसे जान कर रघुनाथ निश्चय करता है कि ललिता उसके योग्य नहीं है। रघुनाथ मुनीश्वर के प्रति जब प्रतिहिंसा के लिए पागल बना हुआ था और कहता था—'या तो मैं इसे मार डालूँगा या अपने मर जाऊँगा !'[2] उस समय भी अश्करी ही उसे राक्षस होने से बचाती है और उसे उस उच्च भाव-स्थिति की ओर बढ़ चलने की प्रेरणा देती है, जिसमें घृणा का नामोनिशान नहीं होता। इस प्रकार अश्करी जहाँ भौतिक रूप से उसकी विपत्ति का कारण है, वहीं उसके आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा-शक्ति भी है। मातृ-मन्दिर की स्थापना के बाद मुनीश्वर से झगड़ने और अपने अधिकार की माँग उपस्थित करने के लिए जब रघुनाथ अपने पिता के नाम मुनीश्वर के पत्रों का पुलिन्दा ले कर उपस्थित होता है तब मुनीश्वर इस बात पर राज़ी हो जाता है कि यदि रघुनाथ मातृमन्दिर के प्रबन्ध का भार अपने ऊपर ले ले तो वह वहाँ से हट जायगा। रघुनाथ मुनीश्वर के प्रस्ताव पर 'हाँ' कहने ही वाला है कि वहाँ अश्करी उपस्थित हो जाती है और वह यह सारी बात ही काट देती है।[3] वह जानती है कि रघुनाथ अभी बच्चा है और उसके पैरों में अब तक बल नहीं आया है।[4] फिर यह भी तो है कि रघुनाथ फूलों के साथ खेलने के लिए बनाया गया है। पहाड़ों के साथ खेलने के लिए जिस कलेजे की ज़रूरत है, वह उसके पास नहीं है।[5] अश्करी का ख़याल है कि यदि रघुनाथ मातृ-मन्दिर के झमेले में पड़ेगा तो उसके जीवन का सौन्दर्य और हृदय की मधुरता बिगड़ जायगी।

कहने का मतलब यह कि अश्करी की बुद्धि में रघुनाथ की जीवन-विषयक शिक्षा

---

१. २. ३. ४. ५. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १५१, ६०, १४८-१४६, १००, १४६

अब तक अधूरी है और 'मातृ-मन्दिर' का मार्ग उसके लिए बड़ा कठिन होगा। इस प्रकार पापियों के इतने बड़े गिरोह[1] में फँसने से अश्करी रघुनाथ को बचा लेती है और स्वयं उससे जूझने के लिए अपने भगवान के भरोसे वह उपस्थित हो जाती है।[2]

इस नाटक में ललिता भी एक महत्वपूर्ण भूमिका ले कर उपस्थित होती है। वह रघुनाथ से प्रेम करती है। रघुनाथ की वह उसी तरह पूजा करना चाहती है, जिस तरह अश्करी अपने भगवान की पूजा करती है।[3] रघुनाथ की दरिद्रता की भी उसे परवाह नहीं है। अश्करी भी चाहती है कि रघुनाथ धरती के साथ समझौता कर ले। उसे आगे बढ़ने के लिए या ऊँचे उठने के लिए तैयारी करनी ही चाहिए।[4] रघुनाथ की एक विलक्षणता है। जैसे और लोग सोच-विचार कर, सब तरह से हर एक पहलू देख कर कुछ करते हैं—वैसा वह नहीं कर सकता। वह प्रकृत्या किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में रहने के लिए विवश है।[5] इसी से वह ललिता के साथ अपने इस सम्बन्ध को, जिसे अश्करी 'जीवन की जीत' समझता है, समझ नहीं पाता।[6] लेकिन ललिता का अश्करी के प्रति होने वाला दुर्व्यवहार उसे सुझा जाता है कि ललिता और वह जीवन-साथी नहीं हो सकते। वह ललिता की 'हृदय-[illegible]ना' को सह नहीं पाता है और ललिता को कहता है कि वह उसे क्षमा कर दे, किसी दूसरे को प्राप्त कर ले।[7]

ललिता के चरित्र के स्वाभिमान को प्रकट होने का यहाँ अवसर आता है और वह रघुनाथ के कथन पर आपत्ति करती हुई कहती है—'चुप रहिए। अब मैं आपको क्षमा करती हूँ....एक दिन एक वर्ष के लिए नहीं सारे जीवन के लिए मैं दूर हूँ....ठीक है मुझे दूर रहना ही चाहिए। आप क्या समझते हैं मैं आपका चरण पकड़ कर रोने लगूँगी? प्रेम की भिक्षा नहीं माँगी जाती।'[8]

ललिता और दुर्गावती का जो चारित्रिक अन्तर है, वह भारतीय नारी-समाज की दो पीढ़ियों के संस्कार का अन्तर है। दुर्गावती पति के नाम पर, उसके प्यार के अणु-मात्र पर जिन्दगी को झेल लेगी। इधर उससे भिन्न ललिता है, जो वह चूहा नहीं बन पाती, जिसको बिल्ली खेलते-ही-खेलते मार डालती है।[9] यह नहीं है कि ललिता के प्रेम में कोई न्यूनता है। लेकिन वह यह अवश्य जानती है कि सन्देह और शंका के बीच प्रेम नहीं चल सकता।[10] ललिता रघुनाथ का आभार मानती है कि उसने 'उसके हृदय को ठुकरा कर उसकी आत्मा को जगा दिया।[11] ललिता अपने पर नियंत्रण रखेगी और जीवन का नया पथ निकालेगी। उसका यह नया पथ क्या है? वह रघुनाथ को सहानुभूति और सम्मान के साथ जीवन भर याद रखेगी। लेकिन दोनों के बीच वह बात न होगी, जिसके कारण एक बार देख लेने से हृदय काँप उठता है। समासतः वह 'पत्नीत्व' को सुला कर नारीत्व को जगायेगी।[12] रघुनाथ और ललिता जीवन भर मित्र रहेंगे।

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९, १०. ११. १२. **राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १५६, १०७, ११०, १०५, १०६, १५२ १५२, १५४, १५२, १५६,**

सुख-दुःख में एक-दूसरे का साथ देंगे। यही उनका आपसी समझौता है।[1] इस समझौते का अभिप्राय है कि ललिता रघुनाथ से प्रेम करती रहेगी। लेकिन उसका उसके साथ किसी प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध नहीं होगा। मिश्र जी ने अपने अन्य नाटकों में भी ऐसी परिस्थिति में इसी प्रकार समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा भी मनोजशंकर को यही कहती है कि वह मनोजशंकर को अपना दूल्हा तो नही बना सकती, प्रेमी बना लेगी।[2]

अश्करी, रामलाल, मुनीश्वर, रघुनाथ अथवा ललिता के चरित्र का विश्लेषण करने से, उनकी मनःस्थिति को समझने से इतना तो ज्ञात होता ही है कि अनातोले फ्रांस का यह कथन (जिसे नाटककार ने 'मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक राक्षस का मन्दिर की भूमिका में प्रस्तुत किया है) कि कहीं भी ऐसी जिन्दगी नहीं, जिसमें कोई-न-कोई बुराई न हो—वस्तुतः सत्य है।[3] कलाकार का काम यह नहीं होना चाहिए कि वह सचाई के ऊपर एक के बाद दूसरे पर्दे चढ़ाता जाय। अश्करी और रामलाल, मुनीश्वर और रघुनाथ—जैसे है, उन्हें वैसा ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यह यथार्थवाद मनुष्य की सारी जिन्दगी को प्रकाशित करेगा। हाँ, एक खतरा है। वह यह कि आलोचक यह आक्षेप कर सकते हैं कि रचना अश्लील हो गयी है और इस अर्थ में वह संहारक है। मिश्र जी ने स्वीकार किया है कि यह आक्षेप कुछ अंश तक ठीक भी होगा। लेकिन उसका उत्तरदायित्व वे स्वयं नहीं लेते, मुनीश्वर, रामलाल, अश्करी और ललिता पर डाल देते हैं। ये पात्र समाज से लिये गये हैं। इसलिए अन्ततः समाज ही उत्तरदायी ठहरेगा।[4]

प्रश्न है, 'राक्षस का मन्दिर' की समस्या क्या है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें अश्करी की ओर ध्यान ले जाना होगा। कहना नही होगा कि अश्करी ही वह पात्र है, जिसके इर्द-गिर्द नाटक के तीनों प्रमुख पुरुष पात्र चक्कर काटते हैं। रामलाल उसे अपना साकी बना कर रखे हुए है और अपने काम का भोग, उसे नजरों के सामने रख कर करता है। मुनीश्वर उस घर को आबाद करता है, जिसे रामलाल स्वयं नहीं कर पाता और रोटी और कपड़े के आगे जो भूख हुआ करती है, अश्करी की उस बुभुक्षा को शान्त करता है। रघुनाथ उसे अपने जीवन का पहला और अन्तिम वरदान देता है। इस प्रकार एक अश्करी रामलाल को धन-सम्पत्ति, मुनीश्वर की वासना और रघुनाथ की कोमल भावुकता तीनों का भोग करती है। रामलाल धनी है, मुनीश्वर पहाड़ों से खेलने का जीवट रखने वाला है और रघुनाथ फूलों से खेलने वाला, गीतों की माला गूँथने वाला भावुक कवि है।

इसी अश्करी के अभुक्त काम की समस्या इस नाटक की मुख्य समस्या है।

---

१. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १५८।

२. सिन्दूर की होली—पृ० ४६

३. ४. मेरा दृष्ठिकोण—पृ० ८, पृ० ७

नाटककार ने बताया है कि अश्करी अपनी छोटी उम्र में ही रामलाल के घर पर ऐश-आराम और पैसों के प्रलोभन के कारण आयी थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि आर्थिक दृष्टि से विपन्न होने के कारण ही वह वेश्या बनी होगी और वह भी उस समय, जब वह यह भी नहीं समझती थी कि प्रेम किसे कहते हैं। इस पात्र की इस रूप में कल्पना करके मिश्र जी एक संकेत यह छोड़ जाते हैं कि हमारे समाज में ग़रीबी इस रूप में व्याप्त है कि एक नारी को अपनी छोटी अवस्था में ही ज़िन्दा रहने के लिए वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती है। हमारे समाज में ही रामलाल भी है, जिसकी मासिक आय दस हज़ार रुपयों की है। सम्पत्ति के विभाजन के इस असन्तुलन और उसके हानि-कर प्रभाव की एक व्यंजना नाटककार इस रूप में छोड़ जाते हैं। अश्करी कहती है—'दुनिया में इतना दुःख है और पाप इसलिए है कि यहाँ छोटा-बड़ा, धनी-ग़रीब इत्यादि....।'[1] एक ओर बेशुमार धन-सम्पत्ति है और दूसरी ओर भूख की ज्वाला के कारण एक छोटी-सी बच्ची को वेश्या बनना पड़ता है। समाज का यह ढाँचा कितने दिन बना रहेगा—यह स्वयं एक बड़ा प्रश्न है।

अवस्था प्राप्त होने पर अश्करी की भूख का रूप बदल जाता है। रामलाल उसे अपना साक़ी बना कर अपनी काम-वासना की तृप्ति तो कर लेता है लेकिन अश्करी की काम-तृप्ति इतने से कैसे होती! वह रात को इधर-उधर करवटें बदलती, घंटों आसमान की ओर, तारों की ओर, चाँद की ओर देखती रहती....ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये उसका रोग बढ़ता गया और इधर दवा करने वाला कोई था नहीं।[2] दुनिया ऐसी नहीं है कि कोई उसके रोग की परीक्षा करके उपयुक्त दवा देता। वह जिस किसी भी झोली वाले को देखती, आँचल फैला देती। जिसके जो मन में आता, दे देता। परिणाम में ख़ालीपन रहता।[3] इसी क्रम में अश्करी के जीवन में मनोहर के रूप में मुनीश्वर का प्रवेश होता है। मुनीश्वर अथवा उसके जैसे दूसरे लोगों के संसर्ग से उसके काम की भौतिक, शारीरिक रूप में तृप्ति हुई भी हो तो भी इतना तो स्पष्ट है कि वह फिर भी ख़ाली रही। काम का सम्बन्ध केवल तन की भूख से नहीं है तन के ऊपर जो मन की भूख होती है, उसके तृप्त होने का अश्करी को साधन नहीं मिलता और उससे उसका काम-भाव हाहाकार करता रहता है। आगे चल कर अश्करी ने मुनीश्वर के विषय में शिकायत की है—'इसी ने मुझे स्वर्ग से खींच कर नरक में पटक दिया।'[4] इस आक्षेप के उत्तर में मुनीश्वर ने जो यह कहा है कि, 'मैं नहीं रहता तो पता नहीं कितने गहरे गयी होती। मैंने उस तूफ़ान को रोका, जो तुम्हें पत्ते की तरह जहाँ चाहता उड़ाता फिरता,'[5] उससे इतना तो मालूम ही होता है कि काम-वासना की अतृप्ति की अवस्था में अश्करी की क्या दशा थी। अश्करी ने रामलाल के सूने घर का पूरा लाभ उठाया। जब रामलाल कचहरी में होता, उसके उस सूने घर में कोई भी

---

१. २. ३. ४. ५. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृ० ६५, ६६, ६६, ८६, ८६,

जा सकता था। शाम होते ही रामलाल खूब पी लेता था और तब उसका जगना और सोना बराबर होता था[1] इस तरह मारे प्यास के बेचैन हो कर अश्करी ने अपने गले में तेजाब उँड़ेल लिया,[2] अपने जीवन को एक तमाशा बना दिया। इस तमाशे का अनुभव भी अश्करी किया करती थी। भगवान ने धीरे-धीरे उसे सोचने-विचारने का विवेक भी दिया। लेकिन बात उसके वश से बाहर चली गयी थी। विवेक की आवाज उसके सामने उठ कर आती तो थी, लेकिन टिकी न रह पाती थी। वह उसे बहुत जल्द भूल जाती थी।[3] मुनीश्वर अश्करी को पिशाचिनी बनाता है, इसलिए कि वह स्वयं पिशाच है और उसे अपने साथ रखना चाहता है। इधर अश्करी की आत्मा उस पर धिक्कारती है, उसका रोम-रोम उस नरक से निकलना चाहता है। वह मुनीश्वर से आग्रह करती है कि वह उसके पास न आये। वह कहती है—'अब तुमको यहाँ नहीं आना चाहिए—मैं अपने पाप का फल भोग लूँगी।'[4]

अपने जीवन की इस रिक्तता, व्यर्थता का, जब अश्करी अनुभव कर रही थी तभी रामलाल उसे उपदेश देते हुए कहता है—'तुमने भी दुनिया की मुहब्बत देखी, अब खुदा की मुहब्बत की ओर देखो तो अच्छा।'[5] अश्करी का कर्त्तव्य अब स्थिर हो जाता है। अश्करी उस मुनीश्वर को अन्त तक क्षमा नहीं कर पाती, जिसके विषय में वह मानती रही है कि वही उसे नरक की ओर खींच लाने वाला है।

अश्करी को भावना की तृप्ति जिस व्यक्ति को प्राप्त कर हो सकती थी, वह है रघुनाथ। लेकिन रघुनाथ की भावना, संस्कार, सदाचार, रूढ़ि की सीमाओं में बँधी हुई है। यह नहीं है कि उसका कोई राग अश्करी के प्रति नहीं है। कौन जाने उसके गीतों की रानी अश्करी ही रही हो।

रघुनाथ की अश्करी के प्रति जो भावना है, उसके विषय में नाटककार ने कई जगह इशारा किया है। नाटक के आरम्भ में ही एक ऐसा अवसर आता है, जब हम रघुनाथ की प्रवृत्ति की झाँकी पा जाते हैं। रघुनाथ रात में देर तक जम कर गीत लिख रहा है। अश्करी रामलाल के पास से हट कर रघुनाथ के कमरे में आती है और रघुनाथ की दोनों आँखें दबाती है, उसकी गर्दन-से-गर्दन सटा कर रघुनाथ के गीत को पढ़ने लगती है। रघुनाथ आपत्ति करता है और कहता है—'छोड़ दो'। लेकिन जब अश्करी उससे कुछ और सट जाती है तो कहता है—'अच्छा मत छोड़ो। मैं छुड़ाऊँगा भी नहीं।'[6] रघुनाथ की भावना पर इस संस्कार का पत्थर पड़ा हुआ है कि अश्करी उसके पिता की भोग्या है और इसलिए उसकी ओर खिंचना उसके लिए अनुचित है। इस प्रकार रघुनाथ की भावना का अनुशासन, संस्कार, सदाचार और रूढ़ि के हाथों होता है और वह अश्करी से बचना चाहता है। यह सत्य है कि उसने कहा है—उसके घर में या तो अश्करी रहेगी, या वह, दोनों साथ नहीं रह सकते। लेकिन इससे यह सिद्ध

---

१. २. ३. ४. ५ ६. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृ० ७०, ७०, ६७, ४६, ६०, ११।

कहाँ है कि अश्करी के प्रति उसके हृदय में कोई राग नहीं है। सच तो यह है कि वह समाज के जाने-माने नियमों के बन्धन में पड़ा हुआ है और अपने इस अभुक्त काम का भोग, अपने काव्य के संसार में करता है। अश्करी रघुनाथ की इस 'बाधा' को समझ नहीं पाती। वह कहती है—'मेरी वजह से आपको तकलीफ़ हुई ही क्यों, समझ में नहीं आता।'[1] शायद अश्करी उस बाधा की कायल नहीं है, जो रघुनाथ की भावना की सहजता को कुण्ठित किये हुए है। लेकिन रघुनाथ में अपनी सीमाओं से ऊपर उठने की शक्ति नहीं है। उसने अपनी इस शक्तिहीनता, साहसहीनता को छिपाया भी नहीं है। उसने स्वयं अश्करी के आगे-आगे चल कर यह स्वीकार किया है और कहा है—'मैं जो कुछ करता हूँ, विवश हो कर करता हूँ।'[2] अश्करी रामलाल का घर छोड़ते समय उससे माँग करती है—'अपनी किताब की एक जिल्द आप मुझे दे सकेंगे? रास्ते के लिए?'[3]—और रघुनाथ उसका आग्रह स्वीकार कर लेता है। स्पष्ट है, अश्करी जीवन के विजन में चलते समय रघुनाथ के काव्य-संसार को पाथेय के रूप में ग्रहण कर रही है। रघुनाथ की भावना के बढ़ाव को भी देखने का एक अवसर हमें उस समय मिलता है जब मुन्नी के हाथ से अपनी उस प्रति को, जो अश्करी के पास थी, रघुनाथ ले लेता है और बदले में दूसरी—'सप्रेम....लेखक' के साथ उसे दे देता है।[4] अश्करी ने अनुताप के अश्रु-वर्षण से अपने मन के विकारों को धो कर इतना पुनीत कर लिया है कि अब उसकी भाषा बदल गयी है और इस रूप में बदल गयी है कि रघुनाथ विस्मय-विमुग्ध हो कर उससे पूछ ही तो लेता है—'यह भाषा तुम्हें कहाँ मिली....कहाँ मिले ये शब्द....।'[5] यदि वह मनुष्य के वरदान में विश्वास रखती होती तो रघुनाथ के प्रथम और अन्तिम वरदान को वह स्वीकार कर लेती और यदि भगवान के विस्मरण का खतरा न होता तो अश्करी रघुनाथ को साथ भी लिये चलती।[6] अश्करी ने नाटक के अन्त में मुनीश्वर की बुराई करते हुए कहा है कि मुनीश्वर के भीतर जो राक्षस है, वह अब तक अधर्म को धर्म और झूठ को सच करता रहा है। इसी राक्षस के माया-जाल ने अश्करी, रामलाल और रघुनाथ के जीवन को व्यर्थ किया है।[7]

मिश्र जी ने अभुक्त काम की इस समस्या को प्रस्तुत करने के साथ कुछ और समस्याएँ भी इस नाटक में खड़ी की हैं। समस्या-नाटककार विचारक होता है और अपनी रचना में अपने विचारो को यत्र-तत्र उपस्थित करता चलता है।

नाटक के तीसरे अंक में कॉलेज के कुछ विद्यार्थी विभिन्न विषयों पर चर्चा करते हैं। उनमें एक ने बडी सच्ची बात यह कही है कि आज की दुनिया मनुष्य को समझ ही नही पा रहा है। वह मनुष्य से ऊँची जगह कुर्सी को दे रही है। जिन गुणों के कारण मनुष्यता सार्थक होती है, उनका जिनके जीवन में सर्वथा अभाव है, वे भी ऊँची कुर्सी के कारण समाज में आदर पाते है। आज के शिक्षकों से उनके छात्रों की

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ६२, १०५, ६३, ७३, १००, १०० ११०

शिकायत होती है कि और-तो-और उनमें मनुष्यता भी नहीं रह गयी है। इस नाटक में एक छात्र आप-बीती सुनाते हुए कहता है—प्रोफ़ेसर लोगों के यहाँ जाइए—घंटे भर बाहर बैठे रहिए। कभी तो चपरासी ने कह दिया सो रहे हैं। कभी कह दिया स्नान कर रहे हैं। कभी कह दिया तबीयत ख़राब है। बड़े भाग्य से अगर भेंट हो गयी तो सवाल हुआ, 'कहिए क्या बात है? मेरे पास समय नहीं है। ज़रा जल्दी कीजिए।' मिश्र जी इसके द्वारा उस खाई की ओर इशारा कर रहे हैं, जो हमारे शिक्षकों और छात्रों के बीच बढ़ती जा रही है। जिन शिक्षकों के ऊपर छात्रों के जीवन-निर्माण का दायित्व है, उनके पास अपने छात्रों से मिलने के लिए समय नहीं है—यह स्थिति सचमुच विषम है। हज़ार-हज़ार पुस्तकों के पढ़ने से जो नहीं सीखा जा सकता, वह शिक्षक के शील और आचरण की एक हल्की-सी झाँकी से सहज ही प्राप्त हो सकता है। हमारे अध्यापकों को अपनी इस महिमा का विस्मरण नहीं होना चाहिए और अपने छात्रों के चरित्र-निर्माण के विषय में भी उनको प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मिश्र जी को प्रोफ़ेसरों के वर्ग से और भी शिकायतें हैं। 'राक्षस का मन्दिर' में एक दूसरे साहब का उल्लेख होता है, जो हिन्दी के प्रोफ़ेसर हैं। एक विद्यार्थी उनसे आग्रह करने गया कि वे तुलसी-जयंती के उपलक्ष में आयोजित सभा की अध्यक्षता करें। ये प्रोफ़ेसर साहब आध पाव सुपारी मुँह में भरे हुए थे। साफ़ बोली भी मुँह से नहीं निकल पा रही थी। बेचारे 'तुलसीदास' के बारे में नहीं जानते थे। यह इसलिए कि तुलसीदास का विशेष अध्ययन उन्होंने नहीं किया था। वे सूर या बिहारी पर निबन्ध लिखते हैं परन्तु तुलसीदास पर कुछ भी बोल नहीं पाते। मिश्र जी ने इस प्रश्न को उठा कर हमारी शिक्षा-व्यवस्था की एक भयंकर त्रुटि की ओर दृष्टि-निक्षेप किया है। विशिष्टीकरण के इस युग में यह सहज ही सिद्ध है कि उच्च-से-उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति की शिक्षा भी अधूरी, अपूर्ण और वायव्य हो। यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के सम्पूर्ण बोझ को उठा लेना किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। इससे यही सम्भव है कि किसी विशिष्ट दिशा में ही व्यक्ति उपलब्धि प्राप्त करे। फिर भी उस विशिष्टीकरण की क्या सार्थकता हो सकती है, जिसके कारण हिन्दी का एक प्रोफ़ेसर हिन्दी के सबसे श्रेष्ठ महाकवि के विषय में इतना कोरा हो कि आध घंटे भी कुछ कह न पाये। विशिष्टीकरण को स्वीकार करने पर भी हमें इस अतिवाद से बचना ही होगा।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी के अध्यापन-कार्य का दायित्व जिस तरह के लोगों के ऊपर डाल दिया गया है, उनके विषय में भी नाटककार को गहरी शिकायतें हैं। वे यह समझते हैं कि हिन्दी में लिख कर रुपया कमाने के लिए लोग मैदान में कूद रहे हैं लेकिन उनमें न तो आत्म-विश्वास है और न सेवा का भाव।[1] ये प्रोफ़ेसर-लेखक ऐसे हैं कि जब कभी साहित्यिक सार्वजनिक कार्यों में इन्हें भाग लेने के लिए कहा जाता

---

१. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १२९

है तब लगता है कि इन पर पहाड़ टूट पड़ा।[1] लेखक को इनकी योग्यता के विषय में भी आश्वासन नहीं है। इनकी रचनाओं में एक वाक्य भी ऐसा नहीं मिलता, जो मौलिक हो, उधार का अनुवाद न हो।[2] नौकरी करने वाला यह वर्ग विचारों के क्षेत्र में भी गुलाम है और इसलिए लेखक के अनुसार सबसे निम्न कोटि के जीवों का वर्ग है। लात मारने पर यह दाँत दिखलाता है....पूँछ हिलाता है।[3] देश में बंधन-मोचन के निमित्त जो आन्दोलन चल रहा था, उसका भी यह वर्ग विरोधी था। एक प्रोफ़ेसर हैं, जो गाँधी-वाद और खादीवाद से घृणा करते हैं। उनकी चर्चा करते हुए उनका एक छात्र सरोष कहता है कि उनकी रुचि गुण्डों जैसी है, वे बुढ़ापे में भी चार अंगुल चौड़े किनारे की धोती पहन कर कॉलेज आते हैं। ऐसे राष्ट्रद्रोही प्राध्यापक अपने छात्रों का जीवन-निर्माण का दायित्व लिये बैठे हैं। यह क्या कोई छोटी, साधारण समस्या है ? मिश्र जी कहना चाहते हैं कि हमें विचार करना पड़ेगा कि अगली पीढ़ी के जीवन-निर्माण का दायित्व जिन पर रखा जाये, उनकी अपनी योग्यता क्या हो।

नाटककार देख रहे हैं कि देश जब अँगड़ाई लेने लगा है, उस समय ऐसे उप-देशकों की बाढ़ आ गयी है, जो कहते तो बहुत हैं पर करते कुछ नहीं। किसी राष्ट्र का उत्थान कर्त्तव्य से ही हो सकता है। इसलिए कर्त्तव्य-विमुख उपदेशक हमारी समस्या सिद्ध होते हैं। वे अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। हमें इस शक्ति-क्षय से राष्ट्र को बचाना ही चाहिए। जब हमारे कर्त्तव्य ही हमारे उपदेश होंगे, राष्ट्र आगे बढ़ेगा।

मिश्र जी इस नाटक की रचना करते समय महाजनी संस्कृति की कुरूप छाया को भी देश की ओर बढ़ते हुए देख रहे थे और अनुभव कर रहे थे कि जितना अत्याचार और जितना उत्पीड़न आज है, उतना कभी नहीं रहा।[4] इसका कारण उनके अनुसार यह है कि संसार का धन थोड़े-से पूँजी-पतियों के हाथ में चला गया है और संसार के तीन-चौथाई आदमी शाम की रोटी के लिए दिन भर मरते हैं।[5] इस पूँजीवाद के युग में मनुष्य की भौतिक शक्तियों का विकास हो रहा है और उसकी आध्यात्मिक शक्तियाँ कुण्ठित हो रही हैं।[6] आज प्रेम और त्याग का मूल्य भी रुपये में आँका जाता है।[7] महात्मा गाँधी ने भारत में अंग्रेज़ों के साथ जो संघर्ष छेड़ रखा था, उसका उद्देश्य भारत की राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति मात्र नहीं था—ऐसा मिश्र जी मानते हैं और समझते हैं कि गाँधी जी का आन्दोलन सारे संसार से अन्याय, अत्याचार और विषमता मिटाने और करोड़ों भूखे मनुष्यों के कल्याण-साधन के उद्देश्य से प्रेरित था।[8]

मुक्ति का रहस्य

एम० ए० की परीक्षा में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो कर डिप्टी कलेक्टरी के लिए मनोनयन प्राप्त करने वाला, उमाशंकर शर्मा गाँधी की आँधी में बह कर असहयोगी

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. राक्षस का मन्दिर—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १२९ १३१, १३२, १३७, १३६, १३७, १३८, १३७।

हो जाता है और अपने पद से इस्तीफ़ा दे कर दो साल की कैद की सजा पा जाता है।

उमाशंकर का चाचा काशीनाथ पुराने ढंग का ज़मीदार है। बार-बार अपने भतीजे को समझाते हुए कहता है कि 'सुराज' के फेर में न पड़ो, गाँधी बनिया है, उसकी बात में न आओ।'[१] काशीनाथ को भय है कि स्वराज्य होने पर उसके आसामी उसे लूट लेंगे।[२] कलेक्टर साहब और उनकी मेम साहब के नाम की माला जपने वाले इस काशीनाथ को इज़्ज़तदार लड़के उमाशंकर का चक्की पीसने जेलखाने जाना घोर परिताप का विषय दीखता है।[३] जेल-जीवन के उन चौबीस महीनों में न तो उमाशंकर के चाचा ने और न दाँत-काटी रोटी खाने वाले उसके किसी दोस्त ने उसकी कभी खोज-ख़बर ली। दुनिया में जो अपने सगे कहे जाते हैं, उनके इस व्यवहार से उमाशंकर को बड़ी पीड़ा हुई। उसकी रिहाई के दिन भी जब जेल के फाटक पर उसे लेने के लिए कोई नहीं आया तो उसे अनुभव हुआ कि जैसे अनन्त-काल से वह अकेला है, न उसके नीचे पृथ्वी है और न ऊपर आकाश।[४]

जेल-यात्रा से वापस होने पर उमाशंकर अपनी पत्नी को खो बैठता है। तपेदिक की उस रोगिणी की ठीक से दवा करा सकने की स्थिति उसी उमाशंकर को नही थी, जो पढ़ते समय एक वर्ष में पाँच-पाँच हजार रुपये ख़र्च किया करता था। इधर चाचाजी थे, जो चाहते थे कि वह रोता हुआ उनके सामने खड़ा हो और वे दुनियादारी का लेक्चर पिला कर उसके हाथ पर कुछ रुपये रख दें।[५] लेकिन उमाशंकर का स्वाभिमान उसे इस दुनियादारी का पाठ सीखने नही देता।

अपनी पत्नी के मरने के बाद, जब वह सब तरफ से बेसहारा हो जाता है, आशा देवी नामक एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत महिला उसे सहारा देती है। मनुष्य जितना अधिक से अधिक त्याग कर सकता है, आशा देवी ने उमाशंकर की विपत्ति के समय उसके सहायतार्थ किया है।[६] इधर समाज है, जो यह मानता है कि आशादेवी को उमाशंकर के साथ रहने का कोई अधिकार नही है।[७] अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को तोड़ कर आगे बढ़ने वाली नारी अपने देश में सदा सन्देह का शिकार बनती है।[८] समाज को यह स्वीकार नही है कि व्यक्ति को यह सुविधा दी जाय कि वह अपना विकास निजी अनुभवों के बल पर करे। समाज को यह सूझता ही नही कि सब के लिए विकास का एक ही रास्ता हो भी नही सकता। इसलिए समाज आशादेवी को भी अपने जीवन-पथ का निर्माण करने की स्वतंत्रता नही देता।[९] लेकिन उमाशंकर हर बात को व्यक्ति की आँख से देखता है, दुनिया या समाज की आँख से नहीं। इसलिए वह इस विषय में पूर्ण आश्वस्त है कि आशा देवी को उसके साथ रहने का अबाध अधिकार है।[१०]

यह आशा देवी उमाशंकर से प्रेम करने लगती है। उमाशंकर की पत्नी के जीवित रहते, उसके इस प्रेम के लिए गुंजायश नहीं थी—ऐसा सोच कर वह डॉ०

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ७१, ७१, ७१, ६२, ५९, ६८-६९, ६८, ६९, ६७, ६८

त्रिभुवन नाथ के यहाँ से ज़हर ला कर दवा के नाम पर उमाशंकर की पत्नी को पिला देती है और अपने प्रेम के इस साझीदार की बाधा का अन्त कर देती है। आशा का अभुक्त काम उमाशंकर की मुस्कुराहट, उसके स्पर्श के लिए इतना आकुल हो उठता है कि वह यह पाप कर बैठती है। इधर त्रिभुवन नाथ है, जो उसकी इस भूल का अनुचित लाभ उठाने के लिए बेचैन है। यह डॉक्टर इस पीढ़ी के उन [illegible] युवकों का प्रतिनिधि है, जो प्रवृत्तियों के गुलाम हैं—संस्कार, चरित्र-बल या ऐसी सभी बातों को, जो मनुष्य को पशुत्व के ऊपर उठाये रहती हैं, तिलांजलि दे कर पतन की चरम दशा को प्राप्त हैं![1] आशा के इस क्षणिक उन्माद-जन्य स्खलन, उसकी इस दुर्बलता के प्रति वह वैसे ही अनुदार है, जैसे कोई महाजन अपने कर्ज़दार के प्रति होता है। डॉक्टर जब-तब आशा के पास आ कर उसे धमकाता है कि वह उसके पाप का भंडाफोड़ कर देगा। आशा को पुलिस अथवा न्यायाधिकरण की कोई चिन्ता नहीं है, उसे दंड का भी भय नहीं है। वह तो इस बात के लिए मरी जा रही है कि उमाशंकर को विश्वासघातिनी सिद्ध हो कर वह उमाशंकर के पास क्या मुँह ले कर खड़ी होगी।[2] इधर डॉक्टर है, जो उसकी शारीरिक हत्या न करके, नैतिक हत्या करने पर तुला हुआ है, देवता के सिर पर लात मार कर मंदिर में आतिशबाज़ी करने का वरदान माँगता है।[3] अन्त में आशा को अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त डॉक्टर को अपनी पवित्रता, अपना शरीर, अपना शील दे देना पड़ता है। अपने इस दूसरे पाप का बोझ सह लेना आशा देवी के लिए असम्भव हो जाता है और वह आत्मघात कर, इस अपराध के बोझ से उबरने की चेष्टा करती है। लेकिन वह मर नहीं पाती। डॉक्टर उसे बचा लेता है। मृत्यु के घर से वापस आने वाली आशादेवी, डॉक्टर त्रिभुवन नाथ की आत्मा को धो कर पवित्र कर देती है। उसकी गवाही है कि बहुत दिनों की उसकी बुराई निकल जाती है और वह मनुष्य हो जाता है।[4] मनुष्य बनने के लिए आशादेवी भी यह निश्चय करती है कि वह अपने पापों को उमाशंकर के आगे प्रकट कर देगी। उसका विश्वास है कि उमाशंकर गंगा की तरह पवित्र है और वह सब कुछ धो देगा।[5] घड़ी भर की उस पीड़ा के बाद वह सदा सर्वदा के लिए मुक्त हो जायेगी।

प्रश्न है, उमाशंकर के आगे अपने पाप का स्वीकार करके क्या वह फिर से उमाशंकर की दुनिया में आ सकेगी? गंगा की तरह पवित्र उमाशंकर तो इतना महान है, देवत्व के उस सोपान पर है कि आशा देवी की कलाई पकड़ कर भी वह सर्वथा निर्विकार रह सकता है।[6] वह तो सहज भाव से यह कह सकता है कि, 'उठो, मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ....आज से मेरे बच्चे की तुम्हीं माँ हो।'[7] लेकिन आशादेवी की भावना बड़ी ही ईमानदारी से यह समझती है कि उमाशंकर को छूने का भी अधिकार उसके अपवित्र हाथों को नहीं रह गया है।[8] नहीं, वह अपने देवता को अपवित्र नहीं करेगी।

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. **मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृ० ४१, ४७, ४७, १३२, १३३, १३८, १४३, १४५।**

उमाशंकर के देव-मन्दिर में उस पापिनी के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता ।[1] वह अपने इस वर्तमान जीवन का अन्त करेगी—दूसरे जन्म में अपने इस जीवन के उपास्य-देव को प्राप्त करने की आशा में ।[2] वह जानती है कि डॉक्टर को छोड़ कर उसकी दूसरी कोई गति नहीं है । डॉक्टर भी उसी की तरह अविवाहित है । अस्तु, उससे वह कहती है कि जिस तरह उन दोनों का पाप एक है—उसी तरह उनके जीवन को भी एक ही होना होगा ।[3] उनका पाप तब तक नहीं मिट सकता जब तक वे दोनों जीवन में एक न हो जायँ—....पाप में....पुण्य में....सब में साथी ।[4] इसी से तो वह अपने पतन के साथी डॉक्टर त्रिभुवन नाथ को प्यार करने लगती है और उससे विवाह करना चाहती है ।[5]

उमाशंकर डॉक्टर त्रिभुवन के इस अन्याय, अनाचार को कथा आशादेवी के मुँह से सुन कर आवेश में आ जाता है और उसकी हत्या करने के लिए पिस्तौल ले कर बढ़ना चाहता है । लेकिन आशादेवी उसे रोक लेती है । वह कहती है—जो विश्वासघात का दंड हत्या हो तो पहले उसे ही वह दंड मिलना चाहिए ।[6] वह उसे सुझाती है कि हत्या करने से भी बदला नहीं निकलता । वह तो अब पवित्र होने से रही ! और इस पर उमाशंकर हाथ की पिस्तौल फेंक देता है ।

'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में इस घटना की चर्चा करते हुए डॉक्टर दशरथ ओझा ने लिखा है—'शर्मा जी अपनी स्त्री की मृत्यु और डॉक्टर के साथ आशा देवी के अवैध सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन होने पर खिन्न होते हैं । और उन्हें सांसारिक प्रपंचों से इतनी वितृष्णा होती है कि ऐसे जीवन से मृत्यु को अधिक कल्याणकर समझ पिस्तौल से आत्महत्या करना चाहते हैं ।'[7] किन्तु नाटकीय कथा इस रूप में नहीं है ।

आशा देवी से यह जान कर कि उसने मनोहर की माँ अर्थात् उसकी पत्नी को विष दिया था, उमाशंकर को विस्मय-मिश्रित खिन्नता अवश्य होती है लेकिन आशा देवी को तदर्थ उसने क्षमा भी कर दिया ।[8] फिर जब आशा देवी उसे यह बताती है डॉक्टर के हाथों लुट कर अब वह उमाशंकर के योग्य नहीं रह गयी है तो उसकी प्रतिक्रिया उग्र हो उठती है और डॉक्टर को उसके इस अनाचार के लिए दंड देने के लिए वह उद्यत हो जाता है । उमाशंकर डॉक्टर की हत्या के लिए पिस्तौल हाथ में लेता है, न कि आत्म-हत्या करने के लिए ।[9]

इस तरह आशा उस पुरुष को, जो उसके लिए प्रथम पुरुष था, अपना पति बना कर अपने इस जीवन के अर्थ अन्तिम पुरुष भी बना लेती है और इस रूप में उसकी समस्या का समाधान हो जाता है । मिश्र जी ने इस समाधान को प्रस्तुत करके यह

१. २. ३. ४. ५. ६. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृ० १४७, १४६, १३६, १४५, १४४, १४७

७. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३४६

८. ९. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ १४३, १४४

निर्धारित किया है कि नारी को उसी पुरुष की हो कर रहना चाहिए, जो चाहे जिस परिस्थिति में, उसके जीवन में आ जाता है और उसके शरीर पर अधिकार कर लेता है। मिश्र जी पश्चिम के मुक्त-भोग के आदर्श को स्वीकार नहीं करते। शरीर कोई सौदे की वस्तु नहीं है, जो एक के बाद दूसरे ग्राहक के हाथों सौंपी जाय।

आशा देवी के इस समाधान में उसकी समस्या का समाधान तो है ही, उसमें डॉक्टर को भी मनुष्य बनाने की शक्ति है। उसका यही समाधान उमाशंकर की मुक्ति का रहस्य भी है। आशा देवी जब उसके जीवन से हट कर डॉक्टर त्रिभुवन नाथ की पत्नी हो जाती है तब वह भी अपने बेटे मनोहर की (जो आशादेवी के स्वार्थ का शिकार हो कर अनाथ हो गया है और स्वयं उमाशंकर की निरपेक्षता झेल रहा है) ममता में अपनी मुक्ति का रहस्य ढूँढ़ लेता है। यह सत्य है कि उमाशंकर सर्वथा निस्संग हो जाता है, फिर भी जैसा कि आशा देवी ने कहा—'देवता का तो स्वभाव ही है अकेले रहना—गिरोह बाँध कर तो भूत रहते हैं।' और, यह तो पहले ही सिद्ध हो चुका है कि उमाशंकर मनुष्य नहीं देवता है।

'मुक्ति का रहस्य' की एक और समस्या है—पट्टीदारी की। उमाशंकर के पिता ने बड़े परिश्रम से, वर्षों घर से बाहर रह कर अपार सम्पत्ति खड़ी की थी। इसी धन के पैदा करने में उनकी ज़िन्दगी बीती।[1] उनके मरने के बाद वह सम्पत्ति उमाशंकर के चाचा काशीनाथ के अधिकार में है। आज उस पर वह इस कदर कब्जा करके बैठ गया है कि उमाशंकर को अपनी बीमार पत्नी की दवा-दारु के लिए भी आर्थिक साधन-सम्पन्नता उपलब्ध नहीं। चाचा की चिन्ता है कि किसी उपाय से उस पारिवारिक सम्पत्ति का वह एकान्त अधिकारी हो जाय। इसलिए वह बीस हज़ार पाँच सौ तिरानबे रुपये ग्यारह आने की राशि का हिसाब ले कर उमाशंकर के साथ बँटवारे के लिए खड़ा हो जाता है। वह जानता है कि उमाशंकर हिसाब देखने नहीं जायेगा और इस बात को भी मुँह पर नहीं लायेगा कि यह सारी सम्पत्ति तो उसके पिता की ही जोड़ी हुई है। दुनियादारी में अकुशल उमाशंकर अपने हिस्से की सात हज़ार की ज़मींदारी का, जिसकी मालियत हिसाब की रकम से कहीं अधिक है,[2] पूरा अधिकार अपने चाचा को इसलिए बात-की-बात में सौंप देता है कि वह अपने लिए परिवार को छिन्न-भिन्न करना पसन्द नहीं करता।[3]

ऐसे, दुनिया के आगे भला बना रहने के लिए काशीनाथ कहता ही है कि सम्पत्ति में उमाशंकर के भाग की रजिस्ट्री वह सिर्फ़ इसलिए कराता है कि जायदाद बची रहे।[4] लेकिन उसकी सारी शुभाशंसाओं का पर्दाफ़ाश, रजिस्ट्री के बाद मनोहर के प्रति किये गये उसके व्यवहार से हो जाता है।[5] उमाशंकर को दुनियादारी आती नहीं—यह तो सिद्ध ही है। लेकिन पैतृक-सम्पत्ति के इस स्वत्व-विसर्जन के लिए उसका

---

१. २. ३. ४. ५. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ८५, ७२, ६९, ७४, ९८

आदर्श भी प्रेरणा-रूप है। वह इस सम्पत्ति का त्याग अपनी मुक्ति के लिए भी कर रहा है। देश में साम्यवाद की लहर आ रही है। अब आने वाले ज़माने में सम्पत्ति पर व्यक्ति-विशेष का स्वत्व नहीं होगा, सम्पूर्ण समाज का होगा। हमारे समाज का आर्थिक ढाँचा बदलने के क्रम में है। पुराने महल की दीवारें खिसक चुकी हैं। अब उस महल की मरम्मत भी नहीं हो सकती। उमाशंकर यह मानता है कि समाज की सच्ची भलाई चाहने वाले का कर्त्तव्य यही है कि वह उस महल की नींव से एक ईंट निकाल ले, उसकी मरम्मत की कोशिश न करे। अपनी पुश्तैनी जायदाद को लात मार कर उमाशंकर इसी आने वाले युग का स्वागत कर रहा है।[1]

मिश्र जी ने इस प्रकार काशीनाथ और उमाशंकर की पट्टीदारी के इस मामले को उठा कर यह दिखाया है कि देश के ज़मींदारों का वर्ग समय की पुकार को नहीं सुन पा रहा है और जो व्यवस्था भहरा कर गिरने के लिए बस एक धक्के की राह देख रही है, उसको कायम रखने के लिए विदेशी शासन की छाया का सहारा ढूँढ़ने की जड़ता में लगा हुआ है।[2] उमाशंकर के आगे स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है। अस्तु, जो चीज़ जाने ही वाली है, उसके व्यामोह में पड़ कर वह पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध को बाधित नहीं करेगा।

प्रस्तुत नाटक में स्वायत्त-शासन की स्थिति के विषय में भी नाटककार ने विचार किया है। उमाशंकर अपने शहर की नगरपालिका के अध्यक्ष-पद के लिए उम्मीदवार है। अपने प्रगतिशील विचारों के कारण नगर के धनी-श्रीमानों की आँखों के लिए वह कंटक-तुल्य है। उसके मुकाबले निपट-निरक्षर कोई लक्ष्मी का वाहन लक्ष्मीपति सेठ चुनाव के लिए खड़ा है और वह रुपयों से वोट ख़रीद रहा है। उमाशंकर का परम मित्र बेनी माधव भी पाँच सौ रुपये पर बिक गया है। उमाशंकर को यह देख परिताप होता है कि जिन पढ़े-लिखे लोगों के बल पर स्वराज्य का शोर हो रहा है, वे भी अपना वोट बेचते हैं। फिर, जैसा कि डॉक्टर त्रिभुवन नाथ ने उमाशंकार को बताया, बेनी माधव जैसे लोगों का सेठजी से बहुत तरह का मतलब सधेगा, उमाशंकर ऐसे स्वार्थियों के भला किस काम आयेगा।[3]

उमाशंकर चेयरमैन होने के बाद अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लेता है। वह जानता है कि अमीरों के लिए बहुत कुछ हो चुका है। अब गरीबों को बसाने का काम होना चाहिए। यदि यह पुनीत कार्य नहीं किया जायगा, गरीबों की दशा सुधारी नहीं जायेगी, तो इस देश का इतिहास भी वही होगा, जो रूस का हुआ। साम्यवाद के आते हुए तूफ़ान को रोक लेना सम्भव नहीं है। स्पष्ट है कि ऐसे विचार वाले उमाशंकर का विरोध वह वर्ग करेगा ही, जो ग़रीबों को पशु से अधिक नहीं समझता।

---

१. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र —पृष्ठ ७८-७९

२. वही—पृष्ठ ७१—अंग्रेज न रहेंगे तो हमारे आसामी हमें लट लेंगे।

३. मुक्ति का रहस्य—ला० ना० मिश्र—पृ० ९३

समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। हमारे देश में स्वायत्त-शासन की शक्ति और उसके साधन का दुरुपयोग स्वार्थ की पूर्ति के लिए हो रहा है। जो भी चेयरमैन होता है, वह सबसे पहले अपने को देखता है। यही साधारण नियम हो गया है। इसीलिए बेनी माधव उमाशंकर से कहता है कि अपने बँगले के सामने की सड़क मरम्मत करा लो।[1] लेकिन उमाशंकर तो वैसा ही नहीं है, जैसे दूसरे है। इसी से वह उस गली का उद्धार करेगा जिसमें चमार और बंसफोर बसे हुए हैं।[2]

नगरपालिका के किसी स्कूल के एक प्रधानाध्यापक हैं—मुरारी सिंह। वे होशियार आदमी हैं और समय के साथ चलते हैं। चेयरमैनी के चुनाव में वह अपने सहयोगियों के साथ उमाशंकर के पक्ष में भिड़े हुए है। इधर आ कर उमाशंकर को यह बता भी जाते हैं कि वे उसके लिए क्या कुछ कर रहे हैं।[3] वे यह सब इसलिए कर रहे हैं कि उनके होने वाले साहब उनसे खुश रहें। वे साफ़-साफ़ कह देते हैं—'हुजूर, अपनी तरक्की के लिए कौन आदमी मिहनत नहीं करता !'[4] उसके ही स्कूल में जगदीश तिवारी नामक एक ऐसा शिक्षक भी है, जो कहता है कि 'इन चीज़ों से हम लोगों का क्या मतलब ? चेयरमैन कोई हो....हमारा काम पढ़ाना है....पढ़ाते चलना चाहिए।'[5] उमाशंकर यह देख कर हैरान है कि नगरपालिका में यह कैसी हवा बह रही है कि स्कूलों के शिक्षक चुनाव में प्रचार-कार्य करने के लिए स्कूल बन्द कर देते है। पता नहीं, उनको वेतन किस बात के लिए मिलता है—पढ़ाने के लिए अथवा 'कनवासिंग' करने के लिए।[6] वह निश्चय करता है कि मुरारी सिंह को वह बरखास्त कर देगा। इसका वांछित परिणाम होगा कि दूसरे शिक्षक भी जगदीश तिवारी की ही तरह यह अनुभव करेंगे कि उनका चुनाव से कोई मतलब नहीं है—उनका धन्धा है—विद्यार्थियों को पढ़ाना और इसके आगे फिर कुछ नहीं।

स्पष्ट है कि मिश्र जी इस बात के विरोधी हैं कि नगरपालिका के चुनाव-संघर्ष में उसके वेतन-भोगी रस लें, प्रचार-कार्य करें। संक्षेप में, शिक्षकों का दलगत राजनीति में उतरना भी मिश्र जी को पसन्द नहीं है। उमाशंकर के माध्यम से उन्होंने अपना ही विचार इस नाटक में प्रस्तुत किया है।

आधी रात

प्रकाश चन्द्र नामक एक कवि है, जिसको उसके मित्र राघवशरण के शब्दों में, शब्दों और भावों की आँधी पैदा कर लेने की शक्ति प्राप्त है।[7] इन दिनों वह अपनी अपढ़ गँवार, कुरूप स्त्री से असन्तुष्ट हो कर मायावती नामक एक सुन्दर, सुशिक्षित और सुसंस्कृत महिला के साथ उसके पति के रूप में रहता है।

प्रकाश का मित्र राघवशरण यह समझता है कि मायावती प्रकाश की 'समस्या'

---

१. २. ३. ४. ५. ६. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृ० १२०-१२१, १२०-१२१, ८८, ८६, ६०, ८६

७. आधी रात—ल० ना० मिश्र—पृ० २५

है,[१] उसका बन्धन है। राघवशरण चाहता है कि प्रकाश व्यक्ति की इस समस्या से ऊपर उठ कर, अपनी सत्ता से ऊपर उठ कर अपने को विश्व में लय कर दे।[२] राघवशरण की दृष्टि मे मायावती का इतिहास बुरा है। उसने एक ही साथ दो पुरुषों से प्रेम किया और अन्त में वह दोनों के नाश का कारण बनी। उसके दोनों प्रेमियों में एक मारा गया और दूसरे को कालापानी की सज़ा हुई। राघवशरण डरता है कि इस स्त्री ने जो कुछ पहले किया, अब भी कर सकती है।

इस रोमांचक और भयानक इतिहास वाली मायावती विलायत में रह कर शिक्षा पा चुकी है। किन्तु आज वह यह अनुभव करती है कि इस शिक्षा से उसका स्त्रीत्व बिगड़ गया और हासिल कुछ नहीं हुआ।[३] योरोप के नारी-सुधार आन्दोलन का भी उसके ऊपर असर पड़ा था, वहाँ वह उस आन्दोलन के साथ हो गयी थी। उक्त आन्दोलन में जिन स्त्रियों ने भाग लिया था, उन्हें वह देवी समझती थी।[४] पश्चिम से नये विचारों का तूफ़ान ले कर, जब वह स्वदेश वापस आयी थी तो उसने अनुभव किया था कि भारतीय दाम्पत्य-जीवन ग़ुलामी और मूर्खता का परिचायक है। आज इतने दिन बाद उसे लगता है कि स्वतंत्रता की धुन में, नयी सभ्यता और नयी रोशनी की चमक-दमक में वह अंधी हो गयी थी।[५] आज वह इस सत्य को समझ रही है कि योरोप के जागरित नारी-समाज ने स्वतंत्रता के नाम पर दम्भ और आत्म-वंचना को ही प्रश्रय दिया है और उसने आज़ाद हो कर वासना की ही अभितृप्ति की है। वैसी नारियों की स्वतंत्रता की माँग का अर्थ था, मुक्त भोग के लिए अधिकार-प्राप्ति और उनके कौमार्य का, ब्रह्मचर्य नहीं—व्यभिचार।[६] पश्चिम की इस हवा ने हमारे यहाँ पहुँच कर हमारे दाम्पत्य और सामाजिक जीवन को भी विषाक्त कर दिया है।

मायावती की आँखें आज खुल गयी हैं। आज वह यह समझने लगी है कि सामाजिक मर्यादा और विधान तोड़ने की चीजें नही हैं। व्यक्तित्व का विकास उनके भीतर से ही होना चाहिये।[७] वह जानती है पश्चात्ताप से कुछ होने वाला नहीं है। पछतावा पाप को धो डालता है, यह तो ईसाइयों की मान्यता है, हिन्दुओं की नहीं। वह मुसलमान भी नहीं है कि कयामत के दिन के लिए उसे प्रतीक्षा करनी हो। उसने तो उस हिन्दू-समाज में जन्म ग्रहण किया है, जिसका कर्मफल में विश्वास होता है; जो यह मानता है कि पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार ही मनुष्य का अगला जन्म बनता या बिगड़ता है। मायावती जानती है कि उसका वर्त्तमान तो नष्ट है ही, उसके सुधार की भी कोई आशा नहीं है। यह इसलिए कि पैबंद से काम चल जाय तो चल जाय—कपड़ा नया नहीं होता और वह चाहती है कि उसका पुनर्जन्म हो, पुनर्निर्माण हो, उसके अगले जन्म का सुधार हो।[८] जो आने वाला है, वह न बिगड़े—यही देखना है।

अस्तु, वह इस उद्देश्य से एक प्रयोग करती है। उसने राधाचरण नामक व्यक्ति

१. २. ३. ४. ५. ६. ७ ८. आधी रात—पृ० १८, १६, ४५, ४४, ३६; ४४, ४८, ४३

से विवाह किया था—यह सही है। आज भी वह कालापानी के उसी मुजरिम के घर में प्रकाशचन्द्र की पत्नी के रूप में रहती है। प्रश्न है, अपने एक पति के जीवन-काल में ही वह दूसरे के साथ रह कर किस समाज-धर्म की रक्षा करने का दावा करती है। मायावती ने इसी की कैफ़ियत देते हुए कहा है कि राधाचरण के साथ उसका विवाह अंग्रेज़ी ढंग से हुआ था। उस तरह के विवाह में सन्देह के लिए जगह है, तलाक उसका परिणाम है। उस तरह के विवाह में मुक्त भोग की बात है और आकांक्षा है तो यही कि पति-पत्नी के जीवन को अनुशासित, बाधित करने वाला कोई बन्धन न हो, और-तो-और, बच्चे पैदा न हों। वैसा विवाह स्त्री-पुरुष की व्यक्तिगत भिन्नता का अन्त करके उनके सम्मिलित व्यक्तित्व के उदय के लिए अवसर नहीं देता।[1] आज उसका नारीत्व सच्चे अर्थ में पुरुष के आगे अर्पित होने का आकांक्षी है, उसकी सेवा का अवसर पा कर धन्य होने का सौभाग्य चाहता है।

अपने नारीत्व की इस उदयवेला में उसने प्रकाश को अपने पुरुष के रूप में स्वीकार किया है और उसके साथ वह जीवन का एक प्रयोग सिद्ध कर रही है। पत्नीत्व के किसी सुख की उसे न चाह रह गयी है और न उसको उसका अधिकार ही हो सकता है, तब, जब कि उसको ले कर एक पुरुष की हत्या हो चुकी है और दूसरे को कालापानी का दंड मिला है। इसलिए उसने प्रकाशचन्द्र को स्वीकार किया है, जिसके साथ वह वासना विरति की स्थिति में रह सके। मायावती ने कहा ही है, 'मुझे ज़रूरत थी पुरुष की, जो पुरुष होते हुए भी पुरुष न हो। जिसके साथ रहने में किसी तरह का ख़तरा न हो। जिसके साथ शरीरिक सुख-भोग और रसमय जीवन की आशंका न हो। जिसकी इतनी चिन्ता करनी पड़े कि उसके कुछ लेने, माँगने या आग्रह करने का अवसर ही न मिले।[2] भारतीय समाज में एक पत्नी जिस निष्ठा के साथ अपने पति की मंगल-कामना किया करती है, उसी निष्ठा को मायावती ने ग्रहण किया है। कुछ तो प्रवृत्तियों के संयम के लिए और कुछ इस साध को पूरा करने के लिए (कि वह जिस समय मरने लगे, केवल अपढ़, गँवार हिन्दू स्त्री रहे) वह व्रत, उपासना आदि भी निभाती है।[3]

पश्चिम के भोगवाद के प्रति प्रतिक्रियात्मक विद्रोह-भाव ने मायावती को इस आध्यात्मिक प्रयोग की ओर उन्मुख किया है। नारी और पुरुष के इस सम्बन्ध में कहीं कलुष नहीं है। प्रश्न है, यदि वासना-विरति ही नारी और पुरुष की समस्या का समाधान है तो विवाह की अपेक्षा ही क्या है? प्रकाशचन्द्र ने मायावती से पूछा ही है—'तुम्हारा यह प्रयोग बिना विवाह के भी तो चल जाता'?[4] मायावती ने इसी की कैफ़ियत देते हुए कहा है—'तुम्हारी आत्मा का मेरी आत्मा के साथ सान्निध्य न हो पाता। तुम मुझसे सदैव सावधान रहते, सचेत रहते। तुम अपने को मुझे उस तरह न सौंप देते, जिस तरह तुमने सौंप दिया।'[5]

मायावती पिछले ५ वर्षों से प्रकाशचन्द्र के साथ रह रही है। इस लम्बे समय में-

१. २. ३. ४. ५. आधी रात—पृष्ठ ३७, ४१, ४२-४३, ६७, ६७।

उसने प्रकाश के सामने अपनी कोई इच्छा प्रकट नहीं की। प्रकाशचन्द्र ने भी कहा है कि—'तुम्हारे साथ रहते हुए भी जैसे मैं निर्वासित रहा।'[1] प्रकाश की इस रिक्तता के विषय में जान कर मायावती को पीड़ा होती है। यह देख कर कि प्रकाश का कविरूप ऊपरी मुलम्मा है, जीवन के रहस्यों को समझने का उसका दावा झूठ है, वह मर्माहत हो उठती है और आपत्ति करती हुई कहती है—'तुम विचारों में जितने सुन्दर हो.... अगर तुममें उतनी भयंकर वासना नही होती, अगर तुम वही नहीं चाहते, जो कोई भी पुरुष जवानी में चाहता है, तो तुम देवता होते।'[2]

प्रकाशचन्द्र को मायावती ने आदर्श के जिस सिंहासन पर बैठा रखा था और उसके चरित्र की जिस दृढ़ता के भरोसे वह अपना आध्यात्मिक प्रयोग कर रही थी, उससे प्रकाश को स्खलित होता हुआ देख कर माया को बड़ी पीड़ा होती है। वह चाहती है कि प्रकाश देवत्व की आर उन्मुख हो और उसकी आशा के प्रतिकूल प्रकाश का मनुष्यत्व जागरित हो रहा है।' माया यह देख कर हैरान है कि जिस प्रकाश से वह इतनी उम्मीद रखती थी, उसमें और उसके मित्र राघवशरण में कोई तात्विक भेद नहीं है। माया का अनुभव बताता है कि पुरुष के पतन का कारण सदा नारी होती है।[4] इससे उसे अपना कर्तव्य याद आ जाता है। वह पुरुष के इस विष को पी कर पुरुष को पतन के गर्त में गिरने से बचाएगी। उसका अपना प्रयोग पूरा हो जाता है। अब वह अगले जन्म में एक हिन्दू नारी का संस्कार ले कर उत्पन्न हो सकती है। इस जीवन में उसके लिए करणीय कुछ रह नहीं जाता। यदि कुछ है भी तो यही कि वह प्रकाशचन्द्र को पतन से बचावे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह नदी में डूब कर आत्मघात करती है।

उसके आत्मघात के बाद राधाचरण ने बड़े पते की बात कही है। वह कहता है—'जिस स्त्री के जीवन में एक, दो, तीन, चार—इतने प्रेमी हो उठें—सिवा आत्महत्या के वह और कर भी क्या सकेगी ?'[5] प्रश्न है, मनुष्यता की इस विडम्बना के लिए क्या मायावती जिम्मेदार है—पाश्चात्य आदर्शो, विचारों, संस्कारों की चकाचौंध में अन्धी हो कर रहने वाली माया के लिए इस बात में कोई आश्चर्य नहीं हो सकता कि उसके प्रेमियों, पतियों की सूची बड़ी लम्बी हो। यह इसलिए कि पश्चिम में विवाह एक तरह का ठेका है, जिसे कभी भी तोड़ा जा सकता है।[6] लेकिन उसने तो उस संस्कार को छोड़ दिया था और प्रकाश चन्द्र के साथ विवाह कर लिया था—'ऐसा विवाह जिसके टूटने का भय नहीं—जिसमें सारी जिन्दगी और सारे जगत को बाँध लेने की क्षमता है।' 'इस विवाह को कल्याणी का एकान्त समर्पण कहिए, मनुषत्व को देवत्व की ओर उन्मुख करने का आयोजन कहिए। लेकिन पुरुष इस ऊँचाई तक पहुँचा कहाँ है ? पुरुष प्रकृति की ही यह विडंबना है कि उसने नारी को या तो रोते हुए देखा है

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. आधी रात—पृ० ६०, ६०, १०६, ६३, १४३, ११३, ११३

या हँसते हुए। कभी यह नहीं सोचा कि नारी जीवन का इनसे ऊपर भी कोई लक्ष्य हो सकता है। वासना के पंक में पड़ा हुआ पुरुष नारी को न अधिकार दे सकता है और न उसको कर्त्तव्य का स्मरण करा सकता है। यदि माया जैसी कोई नारी ज़िन्दगी की बिजली और उसके वज्र के आघात का अनुभव करके अपनी सीमाओं के ऊपर उठने का प्रयास करे भी तो वहीं राघवशरण जैसा पुरुष खड़ा हो जायेगा और अपनी वासना-तृप्ति के लिए उसके इतिहास का अनुचित लाभ उठाना चाहेगा। पुरुष प्रकृति की यह विडम्बना सचमुच भयानक है। ऐसी स्थिति में माया ने जो कुछ किया, उसके आगे वह कर भी क्या सकती थी ? कहना तो यह चाहिए कि उसका आत्मघात भी सफल है। यह इसलिए कि उसने प्रकाश को 'मिथ्या' से हटा लिया। अब प्रकाश मरण को अमरत्व और नरक को स्वर्ग नहीं समझेगा।

मिश्र जी के नाटकों के अध्ययन से यह विदित है कि वे यह मानते हैं कि नारी चाहे जिस रूप में पहली बार जिस पुरुष के राग का माध्यम बनती है, उसे जन्म भर उसी के साथ रहना है।[1] मायावती इस नियम के अनुसार राधाचरण के साथ 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी की तरह रहने को बाध्य थी। लेकिन राधाचरण के साथ अपने विवाह को तो वह विवाह मानती नहीं, उसे तो वह एक समझौता भर मानती है, जिसे किसी क्षण तोड़ा जा सकता है और राधाचरण के साथ का उसका वह समझौता टूट भी चुका है। इसलिए उसके साथ अब मायावती का रहना बेमानी है और इधर प्रकाश के साथ उसका रहना अशक्य हो गया है। ऐसी स्थिति में उसके लिए आत्मघात के अतिरिक्त दूसरा रास्ता ही क्या बच गया था ?

मिश्र जी के विषय मे यह कहा गया है कि उनके ऊपर पश्चिम के नवीन यथातथ्यवाद का प्रभूत प्रभाव पड़ा था और अति-यथार्थवादी बुद्धिवाद को हिन्दी में उतार कर वे ले आये थे। पश्चिमी जीवन में जो समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं, उनको यह समाज, जो पश्चिमी शिक्षा, आदर्श, विचारादि से पूर्णतः प्रभावित हो गया था और अपनी हर बात का तिरस्कार कर रहा था—पश्चिम से उधार ले आया। मिश्र जी के समस्या-नाटकों में पश्चिमी बुद्धिवाद को प्रस्तुत तो किया गया है किन्तु समस्या-निरूपण मात्र के लिए, समर्थन के लिए नहीं। मिश्र जी की विशेषता इस बात में है कि भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा इस पश्चिमी बुद्धिवाद पर हावी हो उठी है। इस तरह उनके नाटकों का बुद्धिवाद अन्ततः पश्चिम से उधार लिया हुआ बुद्धिवाद नहीं रह जाता—उससे भिन्न हो जाता है। कहना चाहिए, मिश्र जी का बुद्धिवाद पश्चिम की मान्यताओं के विरोध में पड़ता है।

माया ने अपनी समस्या का जो समाधान ढूँढ़ा है, वह भारत की संस्कृति की उच्चता का उद्घोष ही तो है। पश्चिम वालों ने हमें हीन माना था। मिश्र जी के नाटक उनकी इस धारणा को झुठलाने के लिए ही लिखे गये हैं। 'आधी रात,' की मायावती

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—दशरथ ओझा—पृ० ३४७

प्रेतात्मा की सत्ता में विश्वास करती है। मायावती जैसी पश्चिमी शिक्षा प्राप्त नारी के इस विश्वास को देख कर दूसरों को हैरानी हो सकती है। लेकिन मायावती को अपने इस विश्वास के विषय में किसी प्रकार का न तो आश्चर्य है और न सन्देह। वह जानती है कि पश्चिम के विद्वानों ने भी अध्ययन, अन्वेषण के उपरान्त प्रेतात्मा की स्थिति को स्वीकार किया है। 'सर ओलिवर लॉज' इस विषय में प्रमाण हैं।[1] मायावती को नये विचार के उन लोगों से विरोध है, जो कहते तो यह हैं कि वे भूत-प्रेत को नहीं मानते लेकिन भूत-प्रेत से डरते इतना हैं कि अँधेरी रात में घर से सौ गज़ दूर अकेले जा नहीं सकते।[2] इनसे तो वे पुराचीन संस्कार वाले अच्छे हैं, जो भूत-प्रेत की सत्ता स्वीकार करते हैं और साथ ही अँधेरी रात में मुर्दे की छाती पर बैठ कर शक्ति की आराधना करने का उत्साह और बल भी रखते हैं।[3] पश्चिम के नवीनतावादी ऐसे लोगों को मूर्ख कहते हैं। लेकिन वे यह नहीं समझते कि प्रकृति में जो भीषण है, उसके उपर विजय पाने की उनकी चाह उन्हें मनोविकारों के ऊपर उठा कर ले जाती है। पश्चिम से माया वती को यही शिकायत है कि वह उसकी बुराई करता है, जिसकी कोई धारणा उसके पास नहीं है।[4] माया की दृष्टि में पश्चिम की इस अधूरी शिक्षा से व्यक्तित्व का निर्माण नहीं हो सकता। शिक्षालयों में पढ़ने वाले छात्रों, अदालतों में तर्क करने वाले वकीलों तथा न्याय करने वाले न्यायाधीशों को, वह और-तो-और मनुष्य कहना भी नहीं चाहती, क्योंकि उनमें उसे व्यक्तित्व नहीं मिलता।[5] वह शिक्षा का विरोध नहीं करती—विरोध करती है, उसके इस परिणाम का। पश्चिम की इस आधुनिकता ने मनुष्य के सारे बन्धन तोड़ डाले हैं। बन्धन के अभाव में मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रह गया है। मनुष्य भी पशु की तरह मनमानी करने के लिए स्वतंत्र हो गया है। अपनी इस मनमानी को ही उसने शिक्षा, स्वतंत्रता, और सभ्यता की आकर्षक संज्ञा दे रखी है।[6] लेकिन अपनी आँखों की पट्टी के हट जाने के बाद भी माया इन बातों का विरोध न करे—यह कैसे सम्भव है ?

'आधी रात' में वैज्ञानिक युग की बड़ी देन 'घड़ी' को जीवन की स्वाभाविकता को बिगाड़ने वाली शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मायावती का कहना है कि समय की बिल्कुल सही जानकारी व्यर्थ है। पश्चिम की आधुनिकता ने मानव-जीवन को एक प्रकार से जड़-यान्त्रिक बना दिया है।[7] घड़ी इस मशीनयुग की जड़-यान्त्रिकता का प्रमाण है। मायावती को घड़ी की ज़रूरत नहीं है, इसलिए कि प्रकृति उसको समय का आवश्यक ज्ञान करा देती है और फिर इसलिए भी कि वह मौलिक बुद्धि का नाश कर मन को नीरस कर देती है।[8]

इस प्रकार 'आधी रात' की यह आधुनिका मायावती आधुनिक युग से विद्रोह

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. आधी रात—पृ० ६०, ६२, ६२, ६२, ६२, ८३, ५६ ५७

करके भारतीय पुराचीनता को अंगीकार करते हुए भारतीय आदर्शों की उच्चता का जय-घोष करती है।

राजयोग

रतनपुर रियासत के अधिपति शत्रुसूदन सिंह ने अपनी प्रथम पत्नी के जीवन काल में ही, उससे असन्तुष्ट हो कर, चम्पा नामक एक आधुनिक शिक्षा-प्राप्त स्त्री से विवाह किया है। चम्पा के पिता बिहारी सिंह बाल-विवाह की कुरीति के विरोधी थे। इससे उन्होंने कन्या का बचपन में विवाह नहीं कराया और उसे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विश्व-विद्यालय में भेज दिया। विद्याध्ययन-काल में ही चम्पा का हृदय रतनपुर रियासत के दीवान रघुवंश सिंह के पुत्र नरेन्द्र से, जो उसका सहपाठी था, उलझ गया। लेकिन शत्रुसूदन ने अपने राजपद के अधिकार के बल पर चम्पा को अपनी पत्नी बना लिया। चम्पा उच्च शिक्षा प्राप्त हो कर भी नरेन्द्र के प्रति अपने प्रेम को प्रकट नहीं कर सकी, माँ-बाप की अकरुण आज्ञा का प्रतिवाद नहीं कर सकी और इस प्रकार आज वह शत्रुसूदन की दूसरी रानी के रूप में रतनपुर के राजभवन में रहती है। उसका प्रेमी नरेन्द्र मारे शर्म के, मारे रंज के, कहीं चला गया।

विवाहोपरान्त चम्पा ने सदा यह प्रयत्न किया है कि वह शत्रुसूदन की धर्मपत्नी बन कर रहे। लेकिन वह अनुभव करती है कि वह सती स्त्री नहीं है। वह अपने हृदय को जानती है और यह जानती है कि उसमें कितना विकार है।[1] ग्रेजुएट हो कर भी वह यही मानती है कि सधवा स्त्री के लिए तीर्थ और व्रत शास्त्रों में वर्जित है। पति ईश्वर है....पति भगवान है।[2] उसने सदैव श्रद्धा और सम्मान के साथ अपने पति के सामने आत्म-समर्पण किया है, लेकिन प्रेम देना उसके वश में नहीं है। इस प्रकार चम्पा की समस्या है कि वह अपने धार्मिक संस्कारों से प्रेरित हो कर अपने पति के सामने अर्पिता तो हो जाती है लेकिन उसे प्रेम नहीं दे पाती।

रियासत के दीवान रघुवंश सिंह बहुत बूढ़े हो गये हैं। अब उनका शरीर उनका साथ नहीं देता। पिछले ५ वर्ष से वह अपने बेटे नरेन्द्र की खोज कर रहे हैं, जिसकी जरूरत उन्हें अपने लिए उतनी नहीं है, जितनी रियासत के लिए है। रियासत की दीवानी का उनका अधिकार वंशानुक्रम से है। शत्रुसूदन इस पुश्तैनी हक को नहीं मानना चाहता। सच्ची बात तो यह है कि शत्रुसूदन रघुवंश सिंह के पुत्र नरेन्द्र का विश्वास नहीं कर सकता। वह जानता है कि चम्पा को नरेन्द्र से उसने छीन लिया है और इससे नरेन्द्र की स्वाभाविक प्रतिक्रिया क्या हो सकती है। इस प्रकार चम्पा के कारण शत्रुसूदन का नरेन्द्र के साथ एक अघोषित संघर्ष चल रहा है।

शत्रुसूदन के घर में एक और आदमी है—गजराज, जिसने अपनी उम्र के ४० साल रियासत और शत्रुसूदन की तन्मय सेवा में लगाए हैं। पिछले २४

---

१. २. राजयोग—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ २३, २५

वर्षों से वह अपने एक पाप की अग्निज्वाला में दग्ध हो रहा है। उसका कहना है कि वह ऐसा पापी है, जैसा धरती पर खोजने से भी कहीं नहीं मिलेगा। उसके ही पाप के कारण नरेन्द्र घर छोड़ कर चला गया है। वही चम्पा के दुःख का भी कारण है और सच्ची बात तो यही है कि वह अकेले सबके दुःख का मूल है। अपने इस पाप का भार वह अकेले ही ढो रहा है और 'सिन्दूर की होली' के माहिर अली की तरह अपनी पाप कथा को ज़बान पर ला भी नहीं सकता।

इस प्रकार इस नाटक के सभी पात्र दुःखी हैं। शत्रुसूदन का दुःख यह है कि उसकी पहली पत्नी ने तो उसे असन्तुष्ट किया ही है, उसकी दूसरी पत्नी चम्पा भी उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाती। चम्पा की व्यथा यह है कि वह अपने पूर्व प्रणय का विस्मरण नहीं कर पाती। रघुवंश सिंह का शरीर साथ नहीं देता लेकिन रियासत की चिन्ता से उनको मुक्त करने वाला नरेन्द्र आज पिछले ५ वर्ष से लापता है। गजराज की पीड़ा है कि वह पिछले २४ वर्षों से अपने एक पाप का बोझ ढो रहा है। इसी पृष्ठभूमि में शत्रुसूदन के यहाँ एक राजयोगी आ धमकता है।

यह राजयोगी आते ही समझ गया कि गजराज का रोग मानसिक है और इसलिए उसका शारीरिक उपचार व्यर्थ सिद्ध होगा। अस्तु, वह उसके ऊपर इन्द्रजाल की क्रिया का प्रयोग करके उसे बेहोश करता है और उसी दशा में उससे यह कहला लेता है कि २४ वर्ष पहले कभी ठाकुर बिहारी सिंह की पत्नी के साथ उसका अवैध यौन-सम्बन्ध हुआ था और उसी का परिणाम है—चम्पा, शत्रुसूदन की दूसरी रानी।

चम्पा के जन्म विषयक इस वृत्तान्त के प्रकट होने पर शत्रुसूदन की समस्या और भी बढ़ जाती है। अब उसे मालूम होता है कि चम्पा का रक्त अशुद्ध है और उस कारण वह उसकी वंश-मर्यादा के योग्य नहीं है।[1] लेकिन उसमें यह साहस भी नहीं है कि वह चम्पा को स्वतंत्र कर दे।[2]

आज सैकड़ों-हज़ारों वर्षों के बाद भारत की नारी की जीभ खुलना चाहती है। शिक्षा ने नारियों को अपने अधिकार का स्मरण दिलाया है और अधिकार की उनकी माँग, पर्वत से निकली हुई नदी की धारा के समान उद्दाम वेग से फूट पड़ी है। पुरुष-समाज ने आज तक नारी को सेज की शोभा और अपनी मर्ज़ी की कठपुतली के रूप में ही जाना है। शत्रुसूदन चम्पा को यह अधिकार नहीं दे सकता कि वह रियासत के बारे में विचार करे, अपने पति को राज-काज विषयक किसी प्रकार की सम्मति दे सके। आज की नारी को अपनी इस दयनीयता से विद्रोह है। लेकिन चम्पा यह भी जानती है कि नारी सब कुछ होने पर भी अन्ततः नारी ही है। मंच पर व्याख्यान देते समय वह पुरुष के लिए चंडी बन सकती है लेकिन व्याख्यान समाप्त होने पर जब वह मोटर में बैठेगी तो वह फिर वही रति, रंभा, उर्वशी, तिलोत्तमा—वही ममता और मोह की बेहोशी हो जायेगी।[3] यह इसलिए कि स्त्री का मार्ग भक्ति और त्याग का है—ज्ञान और

१ २. ३. राजयोग—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ७८, ७८, ५०

अपहरण का नहीं। इसी से तो वह हारी-की-हारी रहती है। इसी का परिणाम है कि पुरुष की दृष्टि में नारी की स्थिति उस जूते की है, जो जब तक नया रहता है, उससे चमक निकलती रहती है, तबीयत चाहती है उसी को देखा करें। लेकिन आकर्षण के इस ज्वार के उतर जाने पर चन्द्रमा को वही कला क्रमशः क्षीण हो कर अमावस्या की ओर बढ़ती है। फिर एक दिन ऐसा भी आता है, जब कथा ही समाप्त हो जाती है और चूँकि नारी की अपनी कोई जगह तो होती नहीं इससे सूनापन भी नज़र नही आता।[1] तभी तो भारतीय नारी यह अनुभव करती है कि पुरुष का काम है स्त्री का अविश्वास करना और उसके हृदय को ठोकर मार कर अपमान और लांछन से भर देना।[2] चम्पा व्यंग करती है कि वह पुरुष ही क्या, जिसने स्त्री का अविश्वास नहीं किया, उसे सदैव सन्देह की दृष्टि से नहीं देखा, उसके पीछे पहरा नहीं बैठाया और उसके हृदय को अपमान और लांछन से चूर-चूर नहीं किया।[3]

'राजयोग' एक [illegible] है और फलतः पुरुष और नारी के जीवन की यह समस्या अपनी सारी प्रचंडता के साथ इसमें उभार कर आयी है। मिश्र जी ने इस गहन समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया है। राजयोगी सन्यासी नरेन्द्र की अवतारणा इसी उद्देश्य से इस नाटक में की गयी है। नरेन्द्र की अपनी समस्या भी कम मार्मिक नहीं है। चम्पा उसकी प्रणयिनी है और वह उसे खो बैठा है। उसका प्रेम शत्रुसूदन की प्रभुता के हाथों लुट गया है। ऐसे व्यक्ति को समाधान-प्रस्तोता के रूप में प्रस्तुत करके मिश्र जी ने बड़ी कलात्मकता दिखायी है।

नरेन्द्र ने समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है—'सब लोग गंगा-स्नान करने चलो, स्नान के बाद सबके साथ फिर नये सिरे से सम्बन्ध पैदा किया जाय।'[4] अर्थात् पिछले धब्बे को धो दिया जाय ; पिछली जंजीरें काट कर फेंक दी जाँय। यह मन में मान लिया जाय कि हम लोगों का जन्म आज हो रहा है, हम पहले नहीं थे; जो कुछ था, हमारा भूत था। इस धरती पर हम आज उतरे हैं और आज से ही हम लोगों को अपनी यात्रा प्रारम्भ करनी है।[5]

अपने इस समाधान को स्पष्ट करने के लिए ही उसने घड़ी के समय को परिवर्तित कर दिया है। उसका कहना है कि यह घटती-बढ़ती केवल घडी में है, इस घटती-बढ़ती का प्रभाव काल पर तो पड़ता नही।[6]

चम्पा ठाकुर बिहारी सिह की औरस सन्तान नहीं है, गजराज की है—इससे शत्रुसूदन की नज़र में उसका रक्त अशुद्ध है। लेकिन इसके लिए चम्पा कहाँ दोषी है ? चम्पा ने ठीक ही कहा है—'जो अपराध उसका नहीं है, उसे उसके सिर मढ़ना इन्साफ नहीं है।'[7] चम्पा के भीतर उसकी माता का जो रक्त है, उसे आपरेशन करा कर भी निकाला नहीं जा सकता।[8] इससे किसी-न-किसी तरह समझौता तो करना ही होगा।

१. २ ३. ४. ५. ६. ७. ८. **राजयोग—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ** ८८-८९, ४२, ४३, ८५, ८६, ७०, ७४, ७४

नरेन्द्र ने ठीक ही सुझाया है कि शत्रुसूदन यदि घड़ी भर के लिए उसकी आत्मा को चम्पा के शरीर में जाने दे और चम्पा की आत्मा को अपने शरीर में आने दे तो व्यक्तिगत संस्कार और वंश की मर्यादा की लौह-दीवारें भी भहरा कर गिर पड़ें।[1]

ऐसी स्थिति में बुद्धिमानी इसी में है कि शत्रुसूदन, चम्पा और गजराज जिस एक ही नाव पर बैठे हुए हैं, उसे डूबने न दिया जाय। नरेन्द्र जानता है कि चम्पा को भी अपनी पृथक् सत्ता मिटानी होगी, अपने पति के साथ अपने व्यक्तित्व को मिला देना होगा। तभी उसकी आत्मा भी स्वस्थ और नीरोग होगी।[2] आधुनिका चम्पा के लिए अपने स्वाभिमान को भूलना, अपनी स्वतंत्र स्थिति की कल्पना को छोड़ना आसान नहीं है और इसलिए खतरा यही है कि उसकी रोज़-रोज़ की झंझट कभी नही मिटेगी। संन्यासी राजयोगी नरेन्द्र उसके इस भ्रम के निवारण का भी प्रयास करता है। वह कहता है कि चम्पा की आधुनिक शिक्षा ने उसके मन में एक प्रकार का दुराग्रह, दुस्साहस पैदा कर दिया है, जिसके कारण वह प्रकृति के उस सत्य को स्वीकार नहीं कर पाती कि स्त्री सदैव पुरुष की आश्रिता है, वह अपनी रक्षा आप नहीं कर सकती। यह ठीक है कि शत्रुसूदन ने बल-प्रयोग कर उसे अपनी पत्नी बनाया है, उसकी निजी कोमल भावना को चूर-चूर कर दिया है। लेकिन क्या उसे इसके लिए शत्रुसूदन से बदला लेना ही चाहिए ? जिस नारी-सुधार-आन्दोलन ने चम्पा को प्रभावित करके उसे विद्रोहिणी बनाया है, उसने एक बड़ी भूल की है। वह यह नहीं मान पाता कि चाहे जितना भी आन्दोलन किया जाय स्त्री को पुरुष नहीं बनाया जा सकता।[3] नारी-समस्या का समाधान व्याख्यानों और प्रस्तावों के द्वारा नही हो सकता। नारी को अपनी आँखों के आँसू और हृदय के उद्वेग रोक कर अपनी परिस्थितियों से ऊपर उठना होगा, यह अनुभव करना होगा कि नारी का जीवन केवल उसका नहीं होता, सारे संसार का होता है और फिर सचाई तो यह है कि ज़िन्दगी उसे ही मिलती है, जो उसे छोड़ना जानता है।

प्रश्न है, चम्पा नरेन्द्र के प्रणय को कैसे भुला दे; जो प्रेम नरेन्द्र के लिए अर्पित हो चुका है, उसे कैसे वापस ला कर शत्रुसूदन को सौंप दे। नरेन्द्र अब प्रकट हो कर चम्पा को सुझाव देता है कि उसे अपने पूर्व प्रेम का विस्मरण करना चाहिए। यह इसलिए भी कि उसके प्रेमी को ही उस प्रेम की कोई चिन्ता नहीं है। नरेन्द्र उसे यह भी बताता है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का कोई आध्यात्मिक पहलू नहीं होता, आध्यात्मिक आधार नहीं होता; जो कुछ होता है, वह नितान्त भौतिक है। इस भौतिकता को आकर्षक और सम्मोहक बनाने के लिए उस पर आध्यात्मिकता का झूठा बेठन चढ़ाया जाता है। अस्तु, इस झूठ का अनुभव करके, जीवन से, परिस्थितियों से समझौता करना बड़ा आसान है।[4]

समस्या-नाटककार मूलतः विचारक होता है। जीवन और जगत की नानाविध

---

१. २. ३. ४. राजयोग—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ७५, ७४, ६२, ६२

समस्याओं के विषय में वह सोचता रहता है। 'राजयोग' का लेखक भी वैसे ही सोच-विचार करता है।

[illegible]—[illegible], नरेन्द्र और चम्पा के प्रेम की समस्या की तह में जा कर उसके कारण का अनुसन्धान करना चाहते हैं। हमारे देश के वैवाहिक जीवन में आज जो अशान्ति है, कुंठा है, वह पहले कभी इस रूप में भयानक नहीं बनी थी। मिश्र जी मानते हैं कि यह समस्या आधुनिक शिक्षा के प्रचलन और पाश्चात्य विचारों के ग्रहण के बाद इस रूप में बढ़ कर खड़ी हुई है। आज शिक्षालयों में पुरुष और नारी सह-शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस व्यवस्था के विषय में गजराज के माध्यम से नाटककार का विचार प्रकट होता है। गजराज चम्पा से कहता है—'मुझे अच्छी तरह याद है। आप नहीं पढ़ रही थीं! नरेन्द्र भी नहीं पढ़ रहे थे। पढ़ तो रहे थे मास्टर साहब! लड़के लड़की सब एक साथ बैठे थे, मै तो मारे लाज वहाँ से हट कर दूसरी ओर चला गया। उसके बाद नरेन्द्र बाबू ने मुझे बहुत समझाया कि एक साथ पढ़ने में कोई बुराई नहीं है—लेकिन मेरे मन में यह बात नही जमी।'[१]

चम्पा की भी स्वीकारोक्ति है—'विवाह होने से पहले ही मेरा जीवन बिगड़ चुका था। यह अपराध मेरा नहीं—उन लोगों का था, जिन्होंने मुझे पढ़ने के लिए कॉलेज में भेज दिया—बाल-विवाह की कुरीतियों को मिटाने के लिए, जिन्होंने आदर्श की वेदी पर मेरा बलिदान कर दिया। पढ़ाई के दिनों में ही हृदय उलझ गया।[२] नाटककार चम्पा के इस उलझने को भी स्वाभाविक मानता है। चम्पा कहती है—'स्त्री के जीवन में सोलह वर्ष की अवस्था से ले कर बीस वर्ष तक, यह चार वर्षों का काल....तो सपने का होता है, कल्पना का इन्द्रधनुष सहस्र रंगों में रँग उठता है।'[३]

पापी और पाप के विषय में भी नाटककार ने अपना मत इस नाटक में स्थिर किया है। वे कहते हैं कि पापी एक पाप को छिपाने के लिए ही दूसरा पाप करता जाता है। गजराज ने ठाकुर बिहारी सिंह की धर्मपत्नी के साथ अवैध यौन-सम्बन्ध स्थिर करके जो पाप किया था, उसका २४ वर्षों से वह प्रायश्चित करता रहा है—भय और सन्देह, पश्चात्ताप और प्रायश्चित की आग में धीरे-धीरे सुलगता हुआ। इस पाप के प्रकाशित होने के बाद उसका बोझ हल्का हो गया और उसका प्रायश्चित पूरा हो गया। कहिए, मनुष्य के न्यायाधिकरण में गजराज के पाप का भी तो दंड है, उसे ग्रहण करने में क्या कठिनाई है, जो किसी दूसरे तरीके की चिन्ता की जाय। मिश्र जी बताते हैं—मनुष्य की अदालत जिसे दंड देती है, उसे सदैव के लिए अपराधी बना देती है। न्याय तो वास्तव में होता है—मनुष्य के हृदय में, और विचारक का काम करती है—स्वत: उसकी आत्मा।[४] यही दंड-विधान अधिक उपयोगी है। इसे ग्रहण करने वाला ही पाप-मुक्त होता है।

नाटककार ने इस समस्या-नाटक की मुख्य समस्या से भिन्न प्रश्नों पर भी अवसर

---

१. २. ३. ४. राजयोग—ल० ना० मिश्र—पृ० ३४-३५, ८१, ८१, ७२

पा कर विचार किया है। ऐसे प्रश्नों में एक है कि राजपद का अधिकार किसको मिलना चाहिए। शत्रुसूदन राजयोगी के उस प्रयोग को देख चुका है, जिसके फलस्वरूप गजराज के हृदय का पर्दा पलट गया है। वह यह नहीं चाहता कि वही प्रयोग उस पर भी हो और उसके हृदय की गुत्थियाँ भी प्रकाश में आयें। वह इस विषय में एक तरह से डरता है। अस्तु, वह राजयोगी से प्रार्थना करता है कि वह अपनी सिद्धियों का प्रयोग उस पर न करे। शत्रुसूदन कहता है कि वह साधक बनने के लिए इसलिए तैयार नहीं है कि उसे रियासत का काम करते रहना है। राजयोगी उसके मिथ्या-अभिमान को खंडित करने के लिए पूछता है—'यह तो कहो, रियासत में बाढ़ और दुर्भिक्ष से कितने आदमी इस वर्ष मरे हैं ?[1] पिछले बारह महीनों में कितनी हत्याएँ और कितनी चोरियाँ हुई हैं ?'[2] नरेन्द्र के इस दो-टूक प्रश्न का कोई उत्तर शत्रुसूदन के पास नहीं है।—नरेन्द्र उसे बताता है कि राजा होने का अधिकार तो न्यायतः उसका होना चाहिए, जिसके मन में प्रजा के प्रति कल्याण-भाव हो, जो प्रजा के लिए कुछ करता हो, कर सके। अस्तु, इस कसौटी पर दीवान रघुवंश सिंह को राजपद मिलना चाहिए, न कि शत्रुसूदन को।[3] इस प्रकार राजयोगी यह सुझाता है कि राज्य के अधिकारी के ऊपर कोई उत्तरदायित्व भी होता है। उस उत्तरदायित्व के प्रति असावधान व्यक्ति को राज्य करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं हो सकता। नरेन्द्र के परिवार को वंशानुक्रम से जो दीवान-पद प्राप्त है, उसे वह इसलिए स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह तो संन्यासी है, त्यागी, निस्पृह। राजसी भेष में तो वह इसलिए रहता था कि उसे चम्पा को समझाना था कि वह उसके जीवन-पथ से हट गया है और अब उसे नये उत्साह और जीवन-बल के साथ बिल्कुल नये ढंग से जीवन प्रारम्भ करना चाहिए। राजयोगी नरेन्द्र अब कर्मयोगी और फिर राजयोगी बनेगा। उसे प्रजा का हित-साधन करने के लिए रियासत के दीवान-पद पर रहने का अवकाश कहाँ है ?

साहित्य और कला के विषय में सोचते हुए मिश्र जी कहते हैं कि जो साहित्य जीवन से संत्रस्त हो कर किसी कल्पना-लोक में बसता हो, उससे समाज-धर्म की माँग पूरी नहीं होती। इसी कारण वे 'छायावाद' के विरोधी बने। 'राजयोग' के नरेन्द्र के मुँह में नाटककार की ही वाणी उस समय मुखरित होती है, जब वह कहता है—'छायावाद में तो साहित्य के रोगी बोलते हैं और धर्म के अन्धे।'[4] इसी तरह नाटककार सिनेमा का भी इसीलिए विरोधी है कि वह अवास्तविक है, अस्वाभाविक है, कला के नाम पर व्यभिचार फैलाने वाला है। चम्पा कहती है—'गँवारों को भड़काने के लिए, उन्हें पागल करने के लिए, कला के नाम पर यह व्यभिचार चल रहा है। स्वाभाविक मनुष्य की बोली सुन लेने....समझ लेने के बाद तस्वीरों की बोली में कोई रस नहीं रह जाता।'[4]

---

१. २. ३. ४. ५. राजयोग—ल० ना० मिश्र—पृ० ७६, ७७, ७७, ५४, ५३

उत्पन्न होती है कि मनोज मुरारीलाल का अपना तो कोई है नहीं, वैसे ही यही शंका मनोजशंकर के मन में भी उठती है। धीरे-धीरे मनोज यह समझने लगता है कि मुरारीलाल का व्यवहार असामान्य है। वह यह भी अनुभव करता है कि मुरारीलाल अपनी वैध आय की पूरी राशि उसे भेज कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अवैध आमदनी बटोर कर पाप का भागी हो रहा है। लेकिन यह क्यों? इस लिए तो नहीं कि मनोज ऐश्वर्य और विनोद की चकाचौंध में अन्धा बना रहे और यह कभी जानने की चेष्टा न करे कि उसके पिता ने आत्म-हत्या क्यों की थी। यह अनुभव मनोज को अपनी स्थिति से विद्रोह करने की प्रेरणा देता है।

मुरारीलाल मनोज के अन्तर की इस बात को समझ नहीं पाता, समझना भी नही चाहता। मनोज जब भी अपने पिता की आत्महत्या के कारण के विषय मे जिज्ञासा करता है, मुरारीलाल इतना ही कहता है कि वह विशेष बात मनोज को बता सकने में असमर्थ है। और फिर उसके जानने की जल्दी ही क्या है! और जो नही ही मालूम हो तो क्या बिगड़ता है?[1] स्पष्ट है मुरारीलाल को वह आत्म-बल प्राप्त नही है कि मनोज को सच्ची बात बता दे और पाप के इस बोझ से छुटकारा पा ले। मनुष्य की यही तो दुर्बलता है कि वह साहसहीन होता है। अस्तु, मुरारीलाल अपने रास्ते ही चलेगा। मनोजशंकर को विलायत भेज कर वह एक ओर अपने पाप का प्रायश्चित करेगा और दूसरी ओर कुछ समय के लिए मनोज के प्रश्न को, उसकी जिज्ञासा को भी टाल लेगा।

मनोज के विलायत जाने के लिए रुपयों की आवश्यकता है और मुरारीलाल इसी चिन्ता को ले कर जब परीशान है तभी उसके सामने भगवन्त सिंह उपस्थित हो जाता है। यह भगवन्त सिंह इलाके का बड़ा ही ज़ालिम ज़मींदार है, जो आनरेरी मैजिस्ट्रेट तो है ही, इधर आ कर राय साहब भी हो गया है।[2] वह रुपयों के ज़ोर से न्याय ख़रीदने का अभ्यासी है। लाखों रुपये उसने हाकिम-हुक्कामों पर ख़र्च किये हैं।[3] उसका एक पट्टीदार है—सत्रह-अठारह साल की उम्र का रजनीकान्त, जिसे राय साहब ग़रीब और कमज़ोर समझ कर ज़मींदारी का उसका हक़ भी हड़प लेना चाहता है।[4] रजनीकान्त बहुत ही उदार, समझदार और होनहार व्यक्ति है। उसकी आन्तरिक शुचिता सहज मुस्कान बन कर उसके मुखमंडल को प्रभापूर्ण बनाये रहती है। उसके व्यक्तित्व में गज़ब का आकर्षण और सम्मोहन है। तभी तो उसे देखते ही मुरारीलाल का वात्सल्य उमड़ पड़ता है और उसकी हँसी मुरारीलाल की कन्या चन्द्रकला के कलेजे में ऐसी गड़ जाती है कि वह उस पर लुट जाती है। भगवन्त सिंह का इस सरल-हृदय सुन्दर युवक से इसलिए बैर है कि वह असामियों से ज़मींदारी के रिवाज के नाम पर प्राप्त होने वाली उन सहूलियतों, बर-बेगार का पट्टीदार होने के नाते भगवन्तसिंह से साझा खोजता है, जिनका उपभोग वह अकेले करता है। राय साहब सोचता है कि एक

१. २. ३. ४. सिन्दूर की होली—ला० ना० मिश्र—पृ० ५८, १६, २१, १६

जंगल में दो शेर नहीं रहते। उसका उद्धत दर्प यह सह नहीं पाता कि रजनीकान्त जैसा आने-दो-आने का उसका अदना-सा पट्टीदार हली-हुकूमत के मामले में उसका साझीदार और प्रतिद्वन्द्वी होने की हिम्मत करे।[1] अस्तु, भगवन्त सिंह के हक के लिए इस बात की ज़रूरत हो गयी है कि वह रजनीकान्त रूपी अपने काँटे को सदा के लिए दूर कर दे। राय साहब जानता है कि पट्टीदार और दाल, गलाने की चीजें है। दाल गल जाने पर मीठी होती है और पट्टीदार गल जाने पर काबू में रहता है।[2] वह मुरारीलाल की सेवा में दस हज़ार रुपयों के साथ उपस्थित होता है और चाहता है कि वह अनदेखी कर जाय ताकि राय साहब रजनीकान्त को हत्या करके अपने जंगल का अकेला शेर हो जाय। मुरारीलाल को मनोज के विलायत जाने का ख़र्च चाहिए और ज़रूर चाहिए। इससे वह एक नये पाप-कर्म में आ फँसता है। अपने मुंशी माहिर अली को यह हिदायत दे देता है कि भगवन्त सिंह से वह रुपये ज़रूर वसूल ले, इसी में उनकी चालाकी है।[3] माहिर अली को डिप्टी साहब का आदेश पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं है। भगवन्त सिंह तो इशारे पर नाचने के लिए खड़ा है ही। फिर भी वह इतना ज़रूर करता है कि डिप्टी साहब को याद करा देता है कि इस सौदे की वजह से रजनीकान्त की हत्या कर दी जायेगी।[4] मुरारीलाल पर इस चेतावनी का कोई असर नही होता और दस हजार रुपये उसके घर में आ जाते हैं। अब मनोजशंकर को विलायत भेज कर वह कुछ दिनों के लिए चिन्तामुक्त हो सकता है। उसे प्रति क्षण इस बात का खतरा नज़र आता है कि उसके पाप का भंडा-फोड़ हो जायगा और वह कहा मुंह दिखाने लायक नहीं रह जायगा। लेकिन जैसे ही उसे यह सूचना मिलती है कि रायसाहब के आदमियों ने रजनीकान्त का काम-तमाम कर दिया, वह अपना सन्तुलन खो बैठता है। रह-रह कर भगवन्त सिंह से कहता है—'जाओ, देखो, यह न होने पाये उस लड़के को चोट न लगे'।[5] स्पष्ट है, मुरारीलाल का घूस के दस हजार रुपये हथिया लेने के बाद यह सब कहना कितना असार है! उसे याद आता है, रजनीकान्त ने उसे कहा था—'अगर मै मारा गया तो इसके उत्तरदायी हुजूर होंगे।'[6] मुरारीलाल को अब स्पष्ट दीखता है कि यह दूसरी हत्या उसके सिर पर चढ़ी।

भगवन्त सिंह को मुरारीलाल की प्रतिक्रिया देख कर डर हो जाता है और वह रजनीकान्त के ख़ून को पचा जाने के लिए मुरारीलाल की और सेवा करने को तैयार हो जाता है। मुरारीलाल प्रायः आवेश की दशा में ही ४० हज़ार की माँग करता है और राय साहब उसे पूरी भी करता है।[7] इस तरह एक के बाद दूसरे पाप के आवर्त्त में मुरारीलाल फँसता चला जाता है। लेकिन इतने पैसे जोड़ने के बाद भी उसे शान्ति कहाँ है?

मनोजशंकर ने उस पर आरोप लगाया है कि वह उसे मार डालना चाहता है और

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. **सिन्दूर की होली—ला० ना० मिश्र—पृ० २४, २४, १६, १७, ३०, ३१, २६**

फिर पाप की कमाई भी बटोर रहा है ।[१] मुरारीलाल उसके इस आक्षेप से तिलमिला जाता है । अपने हृदय की उसी पीड़ा को वह प्रकट करते हुए मनोजशंकर को उत्तर देता है—'मैं तुम्हें अपने पुत्र से किसी अंश में भी कम नही समझता । मैं तुम्हें मार डालना चाहता हूँ ? जिसके लिए चोरी करे वही कहे चोर' ।[२]

मनोज का मानसिक रोग इतना बढ़ जाता है कि वह पढ़ना ही छोड़ देता है ।[३] उसका दुःख उसकी आत्मा में सब ओर से व्याप्त हो जाता है और उसे लगता है कि वह ज़िन्दा नहीं रह सकेगा ।[४] उसे जब यह ज्ञात होता है कि उसके विलायत जाने के लिए ही रजनीकान्त मारा गया है तो उसकी पीड़ा और बढ़ जाती है । वह देख रहा है कि मुरारी उसके विषय की एक मरीचिका को सत्य करने के लिए पतन के किस गर्त्त में गिर पड़ा है । लेकिन मनोज जानता है कि विलायत उसे जाना नही है । वह 'जीवन और शक्ति' के उस लोक में जा कर करेगा भी क्या ? उसके जीवन में आशा के लिए स्थान ही कहाँ है ?[५] इस प्रकार मनोजशंकर को विलायत भेज कर आई० सी० एस० बनाने का मुरारीलाल का सपना बिखर जाता है और उसके लिए भी उत्तरदायी वह स्वयं है ।

मुरारीलाल की भाग्यहीनता की कथा यहीं समाप्त नहीं होती । हार्डी के उपन्यास 'मेयर ऑफ़ कास्टरब्रिज' के प्रधान पात्र हेन्चर्ड की तरह वह सब ओर से हारा हुआ सिद्ध होता है । मुरारीलाल ने अपनी इकलौती कन्या चन्द्रकला का विवाह मनोज-शंकर के साथ करने का निश्चय किया है । लेकिन एक बड़ी भूल यह की है कि उसनें अपनी शिक्षिता पुत्री तथा मनोजशंकर के मनोभावों को जानने की ज़रूरत नह समझी । उसने यह जानने का कष्ट नहीं किया कि चन्द्रकला और मनोजशंकर का वैवाहिक जीवन सुखी भी हो सकेगा या नहीं । इधर चन्द्रकला की स्थिति यह है कि मनोजशंकर के इस निकट साहचर्य के होने पर भी उसका चित्त उससे कभी लगा नहीं ।[६] आज्ञाकारिणी पुत्री अपने जीवन-साथी के चुनाव के विषय में अपने अधिकार की चिन्ता कर अपने पिता की भावना को ठेस लगाना नहीं चाहती । वह सोचती है कि मनोज के साथ वह जीवन का समझौता कर लेगी । ऐसे मनोज सब तरह से योग्य है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी चन्द्रकला उसकी ओर आकृष्ट न हो सकी । चन्द्रकला अनुभव करती है कि मनोज के भीतर एक प्रकार का सन्देह, एक प्रकार का अन्धकार है, जिसे चन्द्रकला समझ नहीं पाती ।[७] इसी के चलते चन्द्रकला और मनोज अपने बीच की दूरी को मिटा नहीं पाते । मनोज भी यह स्वीकार करता है कि चन्द्रकला के मन में वह अपने लिए कोई जगह नहीं बना पाया ।[८] मनोजशंकर की शिक्षा, उसका संस्कार, संयम और बड़प्पन चन्द्रकला के आगे व्यर्थ गये । यह इसलिए कि स्त्री के लिए ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं होता । जैसे प्लेटो के प्रजातन्त्र में कवि के लिए स्थान नहीं था वैसे ही

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. सिन्दूर की होली—ला० ना० मिश्र पृ० ४५, ४६, ४४, ५७, ५५, ३६, ८४, ५६

स्त्री के प्रेमतंत्र में बुद्धि और ज्ञान की अपेक्षा नहीं है ।[१] मनोजशंकर अपनी इस विफलता के लिए अपने को दोषी नही मानता । उसका दावा है कि यह बात नहीं है कि उसमें वह कला नहीं थी, वह कौशल नहीं था, जिससे एक और एक हज़ार चन्द्रकलाएं आँचल पसार कर भीख माँगतीं । फिर क्या कारण है कि वह रजनीकान्त के आगे प्रेम की बाजी हार गया ? मनोज ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—'मेरे मन में विषाद की आग जो चलती रही—इसलिए चन्द्रकला के लिए मुझमें कोई आशा न रही—उसने देख लिया कि मुझमें जो कुछ था, वह नीरस था । दूसरी ओर रजनीकान्त एक अधूरी तान की तरह उसके सामने आया और क्षण भर में ही वह जीत गया ।'[२] आत्मघाती पिता का पुत्र मनोज जैसे अपने को आई० सी० एस० जैसे किसी बड़े पद, किसी बड़ी मर्यादा के अयोग्य समझता है, वैसे ही चन्द्रकला को, वैसी हँसी भेंट कर पाने में भी अपने को अक्षम समझता है, जिसमें मस्ती हो, कम्पन हो, और जो उसके अबोध हृदय का आशापूर्ण प्रतिबिम्ब हो ।[३] लेकिन इसके लिए भी तो मुरारीलाल ही उत्तरदायी है, जिसने उसके पिता की मृत्यु का रहस्य छिपा कर उसे जीवित लाश बना रखा है ।

मुरारीलाल की बेटी रजनीकान्त की मृत्यु से इस रूप में भावाविष्ट हो जाती है कि वह सिन्दूर की होली खेल कर अपने पिता के पाप, भगवन्त सिंह के पचास हज़ार रुपयों के लिए प्रायश्चित करने का निश्चय कर लेती है ।[४] वह अपने पैरों पर खड़ी होने का भरोसा लिये मुरारीलाल के घर से चल देती है !

इस प्रकार मुरारी लाल के सारे अरमान टूट जाते हैं । न मनोज पढ़-लिख कर आई० सी० एस० हो पाता है और न चन्द्रकला तथा मनोजशंकर का विवाह सम्पन्न हो पाता है । और सबसे भयंकर बात तो यह होती है कि माहिर अली रजनीकान्त की हत्या से अपना सन्तुलन ही खो बैठता है और यह सोच कर कि रोज़-रोज़ की फाँसी से तो एक दिन ही फाँसी चढ़ जाना अच्छा है, मनोजशंकर को बता देता है कि उसके पिता की मृत्यु किस प्रकार हुई ।[५] इस प्रकार वह गोपन रहस्य सूर्य के प्रकाश की तरह प्रकट हो जाता है, जिसे छिपाये रखने के लिए मुरारीलाल ने इतना भोगा है, इतना पाप किया है।

अन्त में मुरारीलाल एक ऐसे व्यक्ति के रूप में बिल्कुल अकेला पड़ जाता है, जिसके सिर पर मनोज के पिता की हत्या का अपराध है, मनोज के विकास का खून है, रजनीकान्त की हत्या है और फिर अपनी ही बेटी चन्द्रकला के अरमानों की चिता-भस्म भी है । उसके सामने ही भगवन्त सिंह से प्राप्त पचास हजार रुपये पड़े हुए हैं जो उस पर भयंकर रूप से व्यंग्य कर रहे हैं । भगवन्त सिंह से इन रुपयों को लेते समय उसने सोचा था कि राय साहब भगवन्त सिंह जैसे लोगों के हाथ में न्याय एक खिलौना मात्र है । न्याय की कुर्सियों पर जो लोग प्रतिष्ठित हैं, उनका दायित्व मनुष्य और उसके

---

१. २. ३. ४. ५. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ६०, ६०, ६०, ६२, ८२

फिर पाप की कमाई भी बटोर रहा है।[1] मुरारीलाल उसके इस आक्षेप से तिलमिला जाता है। अपने हृदय की उसी पीड़ा को वह प्रकट करते हुए मनोजशंकर को उत्तर देता है—'मैं तुम्हें अपने पुत्र से किसी अंश में भी कम नहीं समझता। मैं तुम्हें मार डालना चाहता हूँ ? जिसके लिए चोरी करे वही कहे चोर'।[2]

मनोज का मानसिक रोग इतना बढ़ जाता है कि वह पढ़ना ही छोड़ देता है।[3] उसका दुःख उसकी आत्मा में सब ओर से व्याप्त हो जाता है और उसे लगता है कि वह जिन्दा नहीं रह सकेगा।[4] उसे जब यह ज्ञात होता है कि उसके विलायत जाने के लिए ही रजनीकान्त मारा गया है तो उसकी पीड़ा और बढ़ जाती है। वह देख रहा है कि मुरारी उसके विषय की एक मरीचिका को सत्य करने के लिए पतन के किस गर्त्त मे गिर पड़ा है। लेकिन मनोज जानता है कि विलायत उसे जाना नहीं है। वह 'जीवन और शक्ति' के उस लोक मे जा कर करेगा भी क्या ? उसके जीवन में आशा के लिए स्थान ही कहाँ है ?[5] इस प्रकार मनोजशंकर को विलायत भेज कर आई० सी० एस० बनाने का मुरारीलाल का सपना बिखर जाता है और उसके लिए भी उत्तरदायी वह स्वयं है।

मुरारीलाल की भाग्यहीनता की कथा यहीं समाप्त नहीं होती। हार्डी के उपन्यास 'मेयर ऑफ़ कास्टरब्रिज' के प्रधान पात्र हेन्चर्ड की तरह वह सब ओर से हारा हुआ सिद्ध होता है। मुरारीलाल ने अपनी इकलौती कन्या चन्द्रकला का विवाह मनोज-शंकर के साथ करने का निश्चय किया है। लेकिन एक बड़ी भूल यह की है कि उसनें अपनी शिक्षिता पुत्री तथा मनोजशंकर के मनोभावों को जानने की ज़रूरत नह समझी। उसने यह जानने का कष्ट नहीं किया कि चन्द्रकला और मनोजशंकर का वैवाहिक जीवन सुखी भी हो सकेगा या नहीं। इधर चन्द्रकला की स्थिति यह है कि मनोजशंकर के इस निकट साहचर्य के होने पर भी उसका चित्त उससे कभी लगा नहीं।[6] आज्ञाकारिणी पुत्री अपने जीवन-साथी के चुनाव के विषय में अपने अधिकार को चिन्ता कर अपने पिता की भावना को ठेस लगाना नहीं चाहती। वह सोचती है कि मनोज के साथ वह जीवन का समझौता कर लेगी। ऐसे मनोज सब तरह से योग्य है, किन्तु प्रयत्न करने पर भी चन्द्रकला उसकी ओर आकृष्ट न हो सकी। चन्द्रकला अनुभव करती है कि मनोज के भीतर एक प्रकार का सन्देह, एक प्रकार का अन्धकार है, जिसे चन्द्रकला समझ नहीं पाती।[7] इसी के चलते चन्द्रकला और मनोज अपने बोच की दूरी को मिटा नहीं पाते। मनोज भी यह स्वीकार करता है कि चन्द्रकला के मन में वह अपने लिए कोई जगह नहीं बना पाया।[8] मनोजशंकर की शिक्षा, उसका संस्कार, संयम और बड़प्पन चन्द्रकला के आगे व्यर्थ गये। यह इसलिए कि स्त्री के लिए ज्ञान और विद्या का कोई मूल्य नहीं होता। जैसे प्लेटो के प्रजातन्त्र में कवि के लिए स्थान नहीं था वैसे ही

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. सिन्दूर की होली—ला० ना० मिश्र पृ० ४५, ४६, ४४, ५७, ५५, ३६, ८४, ५६

स्त्री के प्रेमतंत्र में बुद्धि और ज्ञान की अपेक्षा नही है ।[१] मनोजशंकर अपनी इस विफलता के लिए अपने को दोषी नही मानता। उसका दावा है कि यह बात नहीं है कि उसमें वह कला नहीं थी, वह कौशल नहीं था, जिससे एक और एक हज़ार चन्द्रकलाएँ आँचल पसार कर भीख माँगतीं। फिर क्या कारण है कि वह रजनीकान्त के आगे प्रेम की बाजी हार गया ? मनोज ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—'मेरे मन में विषाद की आग जो चलती रही—इसलिए चन्द्रकला के लिए मुझमे कोई आशा न रही—उसने देख लिया कि मुझमें जो कुछ था, वह नीरस था। दूसरी ओर रजनीकान्त एक अघूरी तान की तरह उसके सामने आया और क्षण भर में ही वह जीत गया।'[२] आत्मघाती पिता का पुत्र मनोज जैसे अपने को आई० सी० एस० जैसे किसी बड़े पद, किसी बड़ी मर्यादा के अयोग्य समझता है, वैसे ही चन्द्रकला को, वैसी हँसी भेंट कर पाने में भी अपने को अक्षम समझता है, जिसमें मस्ती हो, कम्पन हो, और जो उसके अबोध हृदय का आशापूर्ण प्रतिबिम्ब हो।[३] लेकिन इसके लिए भी तो मुरारीलाल ही उत्तरदायी है, जिसने उसके पिता की मृत्यु का रहस्य छिपा कर उसे जीवित लाश बना रखा है।

मुरारीलाल की बेटी रजनीकान्त की मृत्यु से इस रूप में भावाविष्ट हो जाती है कि वह सिन्दूर की होली खेल कर अपने पिता के पाप, भगवन्त सिंह के पचास हज़ार रुपयों के लिए प्रायश्चित करने का निश्चय कर लेती है।[४] वह अपने पैरों पर खड़ी होने का भरोसा लिये मुरारीलाल के घर से चल देती है!

इस प्रकार मुरारी लाल के सारे अरमान टूट जाते हैं। न मनोज पढ़-लिख कर आई० सी० एस० हो पाता है और न चन्द्रकला तथा मनोजशंकर का विवाह सम्पन्न हो पाता है। और सबसे भयंकर बात तो यह होती है कि माहिर अली रजनीकान्त की हत्या से अपना सन्तुलन ही खो बैठता है और यह सोच कर कि रोज़-रोज़ की फाँसी से तो एक दिन ही फाँसी चढ़ जाना अच्छा है, मनोजशंकर को बता देता है कि उसके पिता की मृत्यु किस प्रकार हुई।[५] इस प्रकार वह गोपन रहस्य सूर्य के प्रकाश की तरह प्रकट हो जाता है, जिसे छिपाये रखने के लिए मुरारीलाल ने इतना भोगा है, इतना पाप किया है।

अन्त में मुरारीलाल एक ऐसे व्यक्ति के रूप में बिल्कुल अकेला पड़ जाता है, जिसके सिर पर मनोज के पिता की हत्या का अपराध है, मनोज के विकास का खून है, रजनीकान्त की हत्या है और फिर अपनी ही बेटी चन्द्रकला के अरमानों की चिता-भस्म भी है। उसके सामने ही भगवन्त सिंह से प्राप्त पचास हजार रुपये पड़े हुए हैं जो उस पर भयंकर रूप से व्यंग्य कर रहे हैं। भगवन्त सिंह से इन रुपयों को लेते समय उसने सोचा था कि राय साहब भगवन्त सिंह जैसे लोगों के हाथ में न्याय एक खिलौना मात्र है। न्याय की कुर्सियों पर जो लोग प्रतिष्ठित हैं, उनका दायित्व मनुष्य और उसके

---

१. २. ३. ४. ५. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ६०, ६०, ६०, ६२, ८२

अधिकार की रक्षा करना नहीं है, उनका काम है केवल कानून की रक्षा करना। इधर कानून की दशा यह है कि न्यायाधिकरण में सजा उसको नहीं दी जाती, जो अपराध करता है....'सज़ा तो केवल उसी को होती है, जो अपराध छिपाना नहीं जानता'। उसको यह अच्छी तरह मालूम था कि राय साहब दस-दस रुपये दे कर गवाहों को बिगाड़ देगा तो मुरारीलाल को ही कानून की रक्षा करते हुए उस नारकीय अपराधी को छोड़ देना पड़ेगा।[1] हमारा कानून ही कुछ ऐसा विचित्र है कि जब न्याय दंड देने के लिए कहता है, कानून छोड़ने के लिए कह सकता है।[2] ऐसी स्थिति में मुरारीलाल का निदान है कि भगवन्त सिंह ने दूसरों को लूट कर जो सम्पत्ति खड़ी कर ली है और जिसके बल पर वह न्याय खरीदता चलता है, उसकी ही शक्ति को क्षीण कर दिया जाय। वह सोचता है कि भगवन्त सिंह की सम्पत्ति ले लेने में कोई अपराध भी नहीं है। यदि इसी तरह दस पाँच बार हाकिमों को देना पड़े तो उसकी सारी गर्मी ही निकल जाय।[3] फिर किसी रजनीकान्त की हत्या सम्भव ही न हो। लेकिन मुरारीलाल ने इस बात को नहीं सोचा कि भगवन्त सिंह के पाप की कमाई उसके घर पहुँच कर उसके सुख-सन्तोष का कारण नहीं बन सकती। जो सम्पत्ति भगवन्त सिंह को पाप की ओर प्रेरित करती है, वही मुरारीलाल के घर आ कर पुण्यविधायिनी कैसे बन सकती है? पाप की यह कमाई तो जलती हुई आग है जिसे जो भी छुएगा, 'उँगली जल उठेगी। हमारे प्रचलित न्याय-विधान में अवश्य ही त्रुटियाँ हैं। किन्तु, उसके विकल्प में मुरारीलाल का यह निदान भी नितान्त अर्थहीन है।

'सिन्दूर की होली' में नारी-समस्या के कतिपय रूप भी पाये जाते हैं। इस नाटक में दो नारी-पात्रों की अवतारणा की गयी है। एक है मनोरमा, जिसका विवाह तब हुआ था जब वह कुल आठ वर्षों की दुधमुँही बच्ची थी और उसके दो वर्षों के बाद उसका पति नामधारी व्यक्ति दिवंगत हो गया। स्वभावतः उसे न अपने पति की कोई पहचान हो सकी और न विवाह की ही कोई याद उसके पास अवशिष्ट है। होश होने के दिन से उसे यह मालूम है कि वह विधवा है और वह इस सामाजिक विधान को स्वीकार कर मानसिक रूप से भी विधवा हो जाती है। लेकिन वैधव्य किसे कहते हैं, उसे जानने का अनुभव करने का अवसर उसे नहीं मिला है। वैधव्य का अर्थ वह उतना ही जानती है, जितना सामाजिक रूढ़ियों से वह जान सकती थी। अपने इस वैधव्य के प्रति न तो उसे कोई शिकायत है और न उसका दुःख। उसकी भावना है कि जिस वस्तु का अनुभव हुआ ही नहीं....उसके अभाव का दुःख क्या? उसे सुहाग के सुख का कभी अनुभव नहीं हुआ तो जो मिला नहीं....उसका चला जाना....उसका सुख क्या है? और उसका दुःख क्या है?[4] अपने वैधव्य को मनोरमा त्याग, तपस्या, साधना अनासक्ति के उच्च आदर्श के रूप में ग्रहण कर अपनी निष्ठा निभा रही है। रंग और कलम अर्थात् चित्रकला की जो शिक्षा और उसमें जो कुशलता उसे प्राप्त है, वह उसको

---

१. २. ३. ४. सिन्दूर की होली—ला० ना० मिश्र—पृ० ३२, ३२, ३३, ३६

गुज़ारे के लिए किसी पर बोझ बनने से बचाती है। वह अपनी रोटी का, अपनी इस शिक्षा के बल पर, आप अर्जन करती है। हमारे समाज में अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जैसे अन्य विधवाएँ परिवार या समाज पर निर्भर रहती है, वैसे मनोरमा नहीं है। लेकिन हमारा समाज ऐसा विचित्र है कि वह मनोरमा जैसी निष्ठावती को भी चैन से रहने नहीं देगा। हमारे ही समाज मे वह मुरारीलाल भी है, जो पढ़ा-लिखा ओहदेदार आदमी है, दुनिया का इन्साफ़ करता है आँखों में लाल डोरे भर कर मनोरमा के आगे प्रस्ताव करता है कि वह उसके ही घर को अपना घर बना ले।[1] मुरारीलाल अपनी बेटी चन्द्रकला से भी उम्र मे दो वर्ष छोटी इस मनोरमा के आगे प्रेम-भिखारी हो कर यह सिद्ध करता है कि पुरुष आँख के लोलुप होते हैं, विशेषत: स्त्रियों के सम्बन्ध में, मृत्यु-शय्या पर भी सुन्दर स्त्री इनके लिए सबसे बड़ा लोभ हो जाती है।[2] लेकिन मनोरमा जानती है कि पुरुष अन्ततः दशाश्वमेध घाट के उन भिक्षुकों की कोटि का जीव है, जिनके बीच एक-एक टुकड़े के लिए द्वन्द्व चलता है।[3] अस्तु, मुरारीलाल की लाल आँखों का उस पर कोई असर नहीं हो सकता। यदि वह भय से घबड़ाने वाली होती तो न जाने इन हिंसकों के हाथों कब की वह लुट गयी होती और नरक के अतल तल में धँस गयी होती।[4] स्पष्ट है, मनोरमा के पास आत्मबल नही होता तो लोलुप समाज ने उसका सर्वनाश कर दिया होता। अरक्षिता विधवा को निगल जाने के लिए पुरुष समाज की भूखी आँखें टूटी तो पड़ती हैं लेकिन विधवा यदि चाहे तो उन आँखों की ज्योति भी बुझा दे सकती है। मनोरमा का आत्मबल उसके लिए समर्थ है।

मनोरमा के प्रति मनोज शंकर का भी आकर्षण है। मनोज शंकर उलाहने के स्वर मे मनोरमा से शिकायत करता है कि वह उसके जीवन के साथ खेल रही है और शायद उसका यह खिलवाड़ मनोज के जीवन के अन्त तक चलता रहेगा।[5] मनोरमा मनोज के भ्रम का निराकरण करने के लिए उसके आगे स्थिति स्पष्ट करना चाहती है। वह कहती है कि यह ठीक है कि वह मनोज के प्रति एक प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करती है, लेकिन मनोज ने उस आत्मीयता की ऊँचाई का अनुभव नही किया। वह मोह में पड़ गया है। किन्तु, स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपने से ऊपर उठे। मनोरमा यह स्वीकार करती है कि वह डिप्टी साहब से जी भर घृणा करना चाहती है और मनोज से जी भर प्रेम। लेकिन मनोरमा का प्रेम एक विशिष्ट कोटि का है। मनोज उसके वैशिष्ट्य को समझने की चेष्टा करे। उसे यह समझ लेना चाहिए कि मनोरमा विधवा है, ज्वालामुखी है। वह मनोज को अपना दूल्हा नहीं बना सकती, हाँ प्रेमी बना सकती है।[6] मनोरमा मनोज का हाथ पकड़ कर संसार में एक अभिनव प्रयोग-सिद्धि के लिए उतरने को प्रस्तुत है। लेकिन उसके लिए

---

१. २. ३. ४. ५. ६. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ४०, ४२, ४६, ४३, ४८, ४६।

यह आवश्यक है कि विधवा मनोरमा के साथ मनोज विधुर बन कर रहने को प्रस्तुत हो। मनोरमा इस अभिनव प्रयोग द्वारा नर-नारी के शुद्ध सात्विक परस्पर प्रेम का, जिसमें वासना का लवलेश न हो, नूतन आदर्श प्रस्तुत करना चाहती है। ऐसा प्रेम शारीरिक सुख का विषय न हो कर आत्मा को प्रकाशित करने वाला होगा। यदि अपने वायदे के मुताबिक मनोजशंकर वासना-विरति की स्थिति में मनोरमा के साथ रह पाये तो उसका और मनोरमा का यह सम्मिलन देह की भाषा से अतीत हो कर जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध हो जाय।[१]

ऐसे मनोज ने मुरारीलाल को भी आश्वस्त किया है कि उसने विधवा मनोरमा का हाथ जीवन भर अविवाहित रहने के लिए पकड़ा है, इसलिए नहीं कि उसे अपनी स्त्री बनाये।[२] लेकिन मनोज शंकर का यह सारा निश्चय उस समय बालू की भीत सिद्ध होता है, जब मनोरमा उसे यह बताती है कि वह निःसंग रहने के उद्देश्य से, और-तो-और अपनी कला से भी विदा ले कर हृषीकेश जाना चाहती है।[३] सिद्ध है, मनोज उसी पुरुष-वर्ग का है, जिसकी सबसे बड़ी दुर्बलता नारी-शरीर है। मनोज अब सचमुच खुल पड़ता है और मनोरमा से कहता है कि बदलते हुए युग में अब समाज मे विधवाएँ नहीं रहेंगी। समाज अपने इस कलंक को मिटा रहा है और विधवा-विवाह को समाज स्वीकृति प्राप्त हो रही है।[४] मनोज का संकेत स्पष्ट है और मनोरमा उसे ताड़ भी जाती है। मनोरमा देख रही है कि मनोज मे अपने से ऊपर उठने की शक्ति नहीं है। अब वह भी उसे दो टूक कह देती है कि उसके साथ मनोज के रहने मे कहीं कोई ऐसी चीज़ नहीं है, जो उसके पुरुषत्व के अनुकूल हो।[५] और फिर किसी विधवा के साथ किसी अविवाहित पुरुष का रहना जीवन की वास्तविकता के लिए भयंकर बात है।[६] मनोज अपने से ऊपर उठ नहीं सकता और इस कारण उसके मन में मनोरमा के प्रति विकार सदा बना रहेगा।[७] इधर मनोरमा है—विधवा; जिसे यह अधिकार नहीं है कि अपने हृदय को धनी बनाये। अनासक्ति का आदर्श-पालन, विधवा-जीवन का एक पुनीत उत्तरदायित्व है। विधवा मनोरमा इस आदर्श के प्रति ऐसी निष्ठा रखती है कि जैसे ही वह यह अनुभव करती है कि उसके निर्जीव चित्रों से भी उसको एक प्रकार का सुख और सहवास मिलने लगा है, वैसे ही वह अपने हृदय में संचित इस रस को निचोड़ कर त्याग और साधना का जीवन ग्रहण करने के लिए हृषीकेश की तपोभूमि की ओर चल देने का निश्चय कर लेती है।[८] वह मनोज के विवाह-विषयक संकेत का लाभ उठाने में सर्वथा असमर्थ है। वह जानती है कि विधवा के विवाह की सामाजिक स्वीकृति वैधव्य की समस्या का समाधान नहीं है।[९] उसका तो ख़याल है कि एक प्रकृत विधवा, वैसी, जैसी वह स्वयं है, जो पुरुष के विषैले वातावरण में न आयी हो, विवाह का प्रस्ताव सुनते ही धरती में गड़ जायेगी। नारी-जीवन की इस समस्या को ले कर पुरुषों

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ५२, ५६, ६६, ६६, ७२, ७२, ७२, ६६, ६६,।

ने अपने स्वार्थ के लिए आन्दोलन खड़ा किया है।[1] समाज इस आग को बुझा नहीं पाता। इस लिए उसे अपने छज्जे से उठा कर अपनी नीव में रख रहा है[2] ताकि समस्या की गम्भीरता दिन का प्रकाश न देख सके। विधवा विवाह के रूप में वह जो समाधान प्रस्तुत कर रहा है, उससे तो तलाक की एक नयी समस्या ही खड़ी होगी।[3] मनोरमा यही समझ नहीं पाती कि वैधव्य को समाज अपना कलंक ही क्यों समझे। प्रकृति की दुहाई दे कर विधवा विवाह का समर्थन करने का अर्थ है, चिरन्तन पशु-वृत्ति की ओर बढ़ना। यदि नारी-उद्धार-आन्दोलन इसी पाशविकता, वासना, विकार की प्रदर्शनी के हेतु प्रेरित है तो फिर उसकी उपलब्धि क्या है? प्रवृत्तियों को बेलगाम घोड़े की तरह ही खुला छोड़ना है तो आन्दोलन की अपेक्षा ही क्या है? अस्तु, मनोरमा की रुचि विधवा-विवाह-आन्दोलन के प्रति नहीं हो सकती। वह वैधव्य के आदर्श को संकल्प, साधना, त्याग और तपस्या का आदर्श मानती है।[4] इस आदर्श की महत्ता चित्तवृत्ति का निरोध करने के कारण है। अस्तु, उसकी बुद्धि में वैधव्य, समाज के लिए गौरव की वस्तु है, कलंक नही है। पश्चिम की प्रेरणा और उसके प्रभाव ने हमारे मानस को विकृत कर दिया है। नही तो समाज विधवा के इस पुनीत आदर्श को मारने के लिए आन्दोलन खड़ा न कर, उसे जीवित रखने के लिए प्रयत्न करता।[5] मनोरमा नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी कल्पना नहीं कर पाती। उसने कहा है—'स्वतंत्र स्त्रीत्व, आज दिन के नये विचार, जो संसार को एकदम स्वर्ग बना देना चाहते हैं, उनमें से एक है। लेकिन इस नये स्वर्ग की कल्पना के मूल में कोई आदर्श नहीं है, हाँ, प्रवृत्तियों की घुड़दौड़ के लिए यह काफ़ी मैदान दे सकेगा।'[6]

मनोरमा मानती है कि आत्मा का रस शरीर में नहीं है, घृणा को तज देने में है, चित्तवृत्ति के निरोध-योग में है।[7] वैधव्य इसी आनन्द-योग की सिद्धि का अवसर देता है। सेवा और उपकार के इस आदर्श को मिटा कर हम प्रवृत्तियों की बागडोर ही ढीली करेंगे, अधिक-से-अधिक उपभोग की प्रवृत्ति को ही प्रोत्साहन देंगे।[8]

मनोरमा का तो विश्वास है कि नारी और पुरुष एक दूसरे से भिन्न, स्वतंत्र भी नही है। स्त्री-जीवन का सबसे सुन्दर और सबसे कठोर सत्य यही है कि उसे पुरुष के लिए प्रायश्चित करना पड़ता है।[9] अस्तु, स्वतंत्र नारीत्व का प्रश्न उठाना एक बड़ा धोखा खड़ा करना है। समाज के लिए एक व्यवस्था की मर्यादा होनी ही चाहिए। अराजकता में सर्जन-क्षमता नही होती और समाज को विकास के लिए यह सर्जन-क्षमता चाहिए ही। मनोरमा इसी से नारी की उसी स्वतंत्रता को अंगीकार कर सकती है, जो रचनात्मक सम्भावनाओं से पूरित हो, विनाशात्मक न हो, भागदौड़ न हो।[10]

'सिन्दूर की होली' का दूसरा नारी-पात्र है—चन्द्रकला। मुरारीलाल डिप्टी कलेक्टर की यह इकलौती बेटी सुशिक्षिता, बी० ए० पास है। पिता ने मनोजशंकर के

---

१. २. ३. ४. ५. ६.७. ८. ९. १०. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ७१, ७०, ७०, ७१, ७१, ९१, ५१, ७०, ६८, ९१।

साथ इसके विवाह का निश्चय कर रखा है। लेकिन रजनीकान्त ने इसके सामने ग्रा कर इसकी दुनिया ही बदल दी ग्रौर उसकी मृत्यु के बाद वह उसकी विधवा के रूप में ज़िन्दगी के दिन गुज़ार देना चाहती है। मनोरमा उसके इस वैधव्य को स्वीकार नहीं कर पाती। चन्द्रकला भी जानती है कि ग्रब प्रथम दर्शन में प्रेम का युग नही रह गया। प्रथम दर्शन का यह प्रेम तब की बात है, जब मनुष्य ग्रधिक भावप्रवण होता था ग्रौर इससे ग्रनायास उसके हृदय का रस किसी ग्रोर बह उठता था।[1] उसके सामने राम ग्रौर सीता, दुष्यन्त ग्रौर शकुन्तला, नल ग्रौर दमयन्ती, ग्रज ग्रौर इन्दुमती जैसे ग्रनेक उदाहरण है।[2] लेकिन बुद्धिवाद के इस युग में वैसे प्रेम के लिए गुंजायश नहीं रह गयी है। ग्राज चन्द्रकला के शब्दों में, 'व्यय की मात्रा संचय से ग्रधिक हो गयी है।'[3] लेकिन वह तो ग्रपने हृदय से हारी हुई है। वह करे भी क्या ? मनोज ने ठीक ही कहा है—प्रेम न तो वकील से सलाह करके ग्रौर न जज से ग्रधिकार-पत्र ले कर किया जाता है। वह तो प्राकृतिक क्रिया है, हो जाता है।[4] ग्रौर चन्द्रकला की गवाही है कि प्रेम भी दो-चार से नही हो सकता, एक से होता है। चन्द्रकला ने जिस एक से प्रेम किया है, ग्राज वह नही रहा। फिर उसकी स्थिति विधवा की-सी हो ही जाती है।

मनोरमा देख रही है कि भावुकता के बहाव में चन्द्रकला ग्रपना जीवन नष्ट कर रही है। इससे वह उसे मनोज के साथ समझौता कर लेने के लिए प्रेरणा देती है। लेकिन रजनीकान्त को कसौटी पर उस प्रकार के समझौते की कलई उसके सामने खुल चुकी है ग्रौर इसलिए वह मनोरमा को बताती है कि उसने उसके ही ग्रादर्श को ग्रहण कर लिया है। वह सोचती है कि जब ग्राठ-दस वर्ष की ग्रवस्था में विधवा होने वाली मनोरमा का निभ रहा है तो फिर बीस वर्ष की होशियारी की ग्रवस्था में स्वीकृत उसका वैधव्य क्यों नहीं निभेगा।[5] मनोरमा देख रही है कि यह भी चन्द्रकला की भावुकता का ही ग्रंग है। मनोरमा उसे समझाती हुई, ग्रपने ग्रौर उसके वैधव्य में जो एक बड़ा ग्रन्तर है, उसकी चर्चा करती है। वह कहती है कि उसका वैधव्य समाज द्वारा स्वीकृत है। उसका ग्रपने पति के साथ विवाह हुग्रा था। इसलिए उसके मरने पर उसका विधवा होना सिद्ध है।[6] चन्द्रकला के जीवन में रजनीकान्त विवाह-विधान के फलस्वरूप तो ग्राया नहीं। ऐसी स्थिति में विवाह-सम्बन्ध के ग्रभाव में चन्द्रकला का रजनीकान्त की विधवा होना समाज द्वारा मान्य नहीं हो सकता। लेकिन चन्द्रकला इस ग्रापत्ति का भी निराकरण कर देती है। वह कहती है कि यह ठीक है कि उसका विवाह शंख बजा कर, मंत्र ग्रौर श्लोक पढ़ कर, उत्सव मना कर, हज़ार दो हज़ार ग्रादमियों को भोज खिला कर सम्पन्न नहीं हुग्रा। फिर भी ग्रपने पति से उसे भी सिन्दूर का दान मिला था। चन्द्रकला ग्रपने इस विवाह के समर्थन में यह तर्क भी देती है कि विवाह की ग्रनेक प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं ग्रौर इस प्रकार उसने रजनीकान्त से विवाह ही किया है,

---

१. २. ३. ४. ५. ६. **सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ३६, ८४, ३६, ६१, ८४, ८५**

कुछ और नहीं। इसलिए वैधव्य का उसका अधिकार भी अक्षुण्ण है।[1]

चन्द्रकला का तो यह भी दावा है कि जहाँ मनोरमा का वैधव्य निरर्थक है, वहाँ उसका अपना वैधव्य सार्थक है।[2] मनोरमा उस पुरुष की विधवा है, जिसे उसने कभी देखा नहीं, जिसकी कोई स्मृति उसकी आत्मा को हिला नहीं पाती अर्थात् उसका वैधव्य रूढ़ियों का है। लेकिन चन्द्रकला को पूर्णरूपेण विदित है कि वह रजनीकान्त की निर्विकार मुस्कान, यौवन और पौरुष की विधवा है। वह जानती है कि वह किस की, काहे की विधवा है।[3]

मनोरमा अब भी चन्द्रकला के वैधव्य का समर्थन नहीं कर पाती। वह कहती है कि चन्द्रकला पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण ही अपनी सामाजिक रूढ़ियों पर विष उगलती रही है। लेकिन वे रूढ़ियाँ हँसी उड़ाने की चीज़ें नहीं है। मनोरमा की तरह ही चन्द्रकला वैधव्य ग्रहण करने तो चली है। लेकिन वह यह नहीं सोच पाती कि सामाजिक रूढ़ियों, विवाह की विधि ने मनोरमा को व्यभिचार से बचाया है। मनोरमा कहती ही है—'मैं विधवा हुई थी एक बार, मेरे किसी दूसरे वैधव्य की सम्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि अब फिर कभी मेरे विवाह के नाम पर वेद-मंत्र, शंख-ध्वनि, ब्रह्म-भोज का अवसर नहीं आयेगा।' इस तरह मनोरमा किसी एक की विधवा है, दूसरे का प्रश्न ही नहीं उठता।[4] विधवा का आदर्श ग्रहण का न हो कर विसर्जन, आसक्ति का न हो कर अनासक्ति और विरक्ति का जो है। लेकिन चन्द्रकला भी क्या ऐसा ही दावा कर सकती है? वह जिसके मोह में पड़ कर वैधव्य धारण कर रही है क्या उसके जीवन में भी वह उसी तरह अकेला रहेगा, जिस तरह मनोरमा के जीवन में उसका पति नामधारी व्यक्ति है? मनोरमा ने चन्द्रकला से सीधे पूछा है—'तुम क्या समझती हो? वैसी हँसी, मुस्कराहट, शरीर की सुन्दरता और उसका विकास, आँखों की बिजली और बातों का उन्माद उस कोटि का इतने बड़े संसार में दूसरा न होगा? और तुम्हारी दानशील प्रवृत्ति वहाँ भी न उलझ जायेगी?'[5] मनोरमा जानती है कि शंख-ध्वनि और वेद-मन्त्रों का सवाल नहीं होने से चन्द्रकला के साथ अनेक बार विधवा होने की सम्भावना है। वैधव्य के आदर्श में इस मानसिक व्यभिचार के लिए स्थान नहीं होता। चन्द्रकला के पास सचमुच इस तर्क का उत्तर नही है। वह अपनी व्यक्तिगत इच्छा और प्रवृत्ति की दुहाई दे कर इस प्रश्न को टाल देने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकती है? वह इतना ही कह पाती है कि वह शास्त्र, संस्कार नही जानती, अपनी बुद्धि को ही प्रबल मानती है। लेकिन उसका यह समाधान ऐसा कहाँ है, जहाँ तर्क निरुत्तर हो जाय!

प्रकृति और प्रवृत्ति की दृष्टि से इतना भिन्न होने पर भी इन दोनों स्त्री-पात्रों ने एक बड़ी समस्या का समाधान, समान रूप से प्रस्तुत किया है। रोटी और कपड़े की मजबूरी हमारे समाज की स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर बनाती है। मनोरमा और

---

१. २. ३. ४. ५. सिन्दूर की होली—पृ० ८५, ८८, ८६, ६१, ६१

चन्द्रकला के आगे यह मजबूरी नहीं है। उनकी शिक्षा, इस मानी में, उन्हें अपने पैरों पर खड़ी होने के योग्य बनाती है ।[१]

चन्द्रकला नारी की उस दशा से भी विद्रोह करती है, जिसमें रोटी और कपड़े के कारण नारी, पुरुषों की गुलामी करने के लिए विवश हो और पराधीनता की यह परम्परा उसकी नस-नस में इस प्रकार व्याप्त हो जाय कि अपनी दयनीयता के प्रति कोई विरोध करके वह पुरुष की चार हाथ की सेज को ही अपने जीवन का चरम फल समझ ले ।[२]

इन समस्याओं के अतिरिक्त 'सिन्दूर की होली' में एक अन्य प्रश्न को भी लेखक ने उठाया है । इस नाटक में, प्रचलित एलोपैथी चिकित्सा-पद्धति की त्रुटियों की ओर भी संकेत किया गया है । रजनीकान्त के विषय में सूचना पा कर चन्द्रकला पर एक मानसिक आघात पड़ा है और वह बीमार हो गयी है । डॉक्टर आ कर उसकी परीक्षा करता है । चन्द्रकला के रोग का कोई शारीरिक लक्षण डॉक्टर को नही दीखता ।[३] लेकिन उसे लगता है कि चन्द्रकला के हृदय की धड़कन किसो भी क्षण बन्द हो सकती है ।[४] इससे वह कहता है कि रोगिणी के नाड़ी-जाल में रक्त को उत्तेजित करने के लिए दवा भरनी होगी ।[५] मनोज शकर इस पद्धति का आलोचक बन कर उपस्थित होता है और डॉक्टर से कहता है—'इसका मतलब कि अब आप उसके भीतर रोग पैदा करना चाहते हैं । अब तक रोग रहा या नहीं, लेकिन अब ज़रूर हो जाना चाहिए ।'[६] इस चिकित्सा-पद्धति में रोग के कारण का अनुसन्धान नहीं किया जाता, रोग को कल्पना करके दवा दी जाती है ।[७] मनोजशंकर डॉक्टर को सुझाता है कि अधिकाश बीमारियाँ मानसिक विक्षोभ के कारण होती हैं । शरीर पर तो उस विक्षोभ की प्रतिक्रिया भर पड़ती है । अस्तु, स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य के जीवन-बल को दृढ़ किया जाय, प्रकृति के रास्ते पर लौट आया जाय ।[८] हमने प्रकृति और जीवन के इस मार्ग को छोड़ दिया है । परिणाम यह हुआ है कि डॉक्टर संजीवनो लिये रहते हैं और मृत्यु-संख्या रोज़-रोज़ बढ़ती ही जा रही है ।[९]

लेखक ने इस प्रश्न पर शायद इसलिए भी विचार किया है कि इस चिकित्सा-पद्धति के विकास ने हमारे स्वास्थ्य को डॉक्टरों और दवाखानों की आल्मारियों में बन्द कर रखा है ।[१०] स्वास्थ्य के कृत्रिम साधनों और बोतलों की दवाओं ने हमारे स्वास्थ्य की जड़ ही काट डाली है । यह स्थिति असह्य है । प्रकृति हमें इसके लिए माफ़ नहीं कर सकती ।[११]

पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के अनेकांकी समस्या नाटकों का विचार कर लेने के बाद यह उचित होगा कि उनके उन एकांकी नाटकों को भी चर्चा कर ली जाय, जिनमें समस्याओं की प्रस्तुति हुई है । मिश्र जी का एक एकांकी-नाटक-संग्रह है —'प्रलय के

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ८६, ८५-८६, ९२, ९२, ९३, ९५, ९३. ९४, ९५, ९५

पंख पर।' इस संग्रह में एक उसी नाम का एकांकी है, जिसमें केशवचन्द्र और दयाराम की दो पीढ़ियों के विचारों के संघर्ष की कथा कही गयी है। दयाराम नये विचारों का एक क्रान्तिकारी युवक है। दुनिया के विषय में उसके अपने सपने हैं, जिनको साकार करने के उद्देश्य से उसने कॉलेज के लड़के-लड़कियों के सहयोग से एक क्रान्तिकारी दल खड़ा कर रखा है। अपने दल का वह नेता है और मंजुला उसकी कॉमरेड, सहयोगिनी है। पिता केशवचन्द्र को कॉलेज की बिगड़ी हुई लड़कियों का इस तरह आवारा मर्दों के साथ उठना-बैठना और वह भी रात में, एकान्त में, गवारा नहीं होता। वह आपत्ति करते हुए कहता है कि उसका घर कोई सराय नहीं है कि ऐसे-तैसे लोग उसमें लंगर डाले रहें। वह गृहस्वामी, अभिभावक के अधिकार का प्रयोग कर अपने बेटे को राह पर लाना चाहता है। लेकिन बेटा विद्रोह कर उठता है। बेटे का यह विद्रोह इतना तीखा हो जाता है कि वह यहाँ तक कह देता है कि वह केशवचन्द्र का इस बात के लिए तनिक भी एहसान नहीं मानेगा कि उसने उसे जन्म दिया है। विद्रोही क्रान्तिकारी पुत्र का कहना है कि वह तो कभी पिता से यह कहने नहीं गया था कि वह उसको जन्म दे। दयाराम तो पिता की सत्ता ही मिटाना चाहता है। उसकी समाज-व्यवस्था में पिता की कोई हस्ती नहीं रहेगी—स्थिति होगी बस माँ की; वैसे ही जैसे पशु-समाज में आज भी होता है। बछड़ा गाय का कहा जाता है, किस साँड़ से पैदा हुआ, यह कौन जानता है। दयाराम पिता से लड़ कर उस घर का परित्याग कर देता है, जो उसके पिता के अभिमान का आधार है। पिता भी उसे जाने से रोकता नहीं। लेकिन उसी समय प्रबल आँधी और तूफ़ान का झोंका उठता है और केशवचन्द्र का वात्सल्य सारी अर्गलाओं को तोड़ कर बेटे को खोजने के लिए निकल पड़ता है। कहानी के अन्त में पिता के वात्सल्य को देख कर विद्रोही पुत्र पितृ-चरणों में प्रणत होता है और पिता भी स्वीकार करता है कि दयाराम और मंजुला के परस्पर सम्बन्ध में कहीं कोई पाप नहीं है। यदि कहीं कोई पाप हो भी तो उसकी परम्परा आदि-पुरुष और आदिम नारी के इतिहास के साथ ही चली आ रही है और उसके लिए दयाराम अथवा मंजुला दोषी नहीं ठहराये जा सकते। हाँ, पिता की शिक्षा है कि दयाराम और मंजुला को दम्पति के रूप में रहना चाहिए, कॉमरेड, मित्र के रूप में नहीं। यह इसलिए कि मित्र रूप में या तो दो पुरुष साथ रह सकते हैं अथवा दो नारियाँ।

मिश्र जी विपरीत लिंगी प्राणियों में मैत्री के लिए अवकाश नहीं देखते। वे चाहते हैं कि परस्पर आकर्षण की दशा में उन्हें दम्पति हो जाना चाहिए। युवा स्त्री-पुरुष का एक साथ मित्र की हैसियत में रहना उन्हें आग और पानी का एक-साथ रहने जैसा दीखता है।

'गंगा की लहरें' इस संग्रह का एक दूसरा समस्या-एकांकी है। इसमें मिश्र जी ने बताया है कि वे किन परिस्थितियों में विवाहिता स्त्री को अपने पति से मुक्त होने का अधिकार देना चाहेंगे। 'गंगा की लहरें' का नायक श्रीचन्द एक चरित्रवान् युवक

है। वह अपनी परिचिता यमुना को उसके शराबी भावी पति के अत्याचारों से बचाने के शुभ उद्देश्य से घर से भगा कर ले जाता है। यमुना चाहती है कि श्री चन्द उसकी भोगेषणा को भी तृप्त करे। लेकिन श्रीचन्द उसे निराश करता है। उसका कहना है कि विवाह के पहले किसी प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध अनुचित है, पाप है। इस पर यमुना की प्रतिहिंसा भड़क उठती है और वह अदालत के सामने खड़ी हो कर बताती है कि श्रीचन्द उसे भगा ले गया था। एक नाबालिग़ लड़की को भगा ले जाने के अपराध में श्रीचन्द को सात साल क़ैद की सज़ा भोगनी पड़ती है। उसके जेल रहते यमुना का विवाह उसी शराबी के साथ हो जाता है, जिससे बचने के लिए वह श्रीचन्द के साथ घर से भाग निकली थी। जेल से श्रीचन्द के वापस आने के बाद यमुना फिर एक बार श्रीचन्द के आगे शरण की प्रार्थिनी हो कर खड़ी होती है। श्रीचन्द को वह आश्वस्त करती है कि उसके शराबी पति के साथ उसका शरीर-सम्बन्ध कभी नहीं हुआ और फिर श्रीचन्द भी उसका भरोसा करके उसे पत्नी-रूप में स्वीकार कर लेता है।

इस एकांकी के द्वारा मिश्र जी जैसे यह कहना चाहते हैं कि शरीर-सम्पर्क ही वह दुर्निवार बन्धन है, जो स्त्री-पुरुष को बाँधता है। उसके अभाव मे विवाह-सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है। यमुना अरति है। इसलिए उसे यह अधिकार है कि वह उस पुरुष से मुक्त हो जाय, जिसे उसका पति कहा जाता है। मिश्र जी यह मानते हैं कि नारी के साथ शरीर-सम्बन्ध स्थिर करने वाले प्रथम पुरुष को उसका अन्तिम पुरुष होना चाहिए। कहना नहीं होगा कि विचार की दृष्टि से यह एकांकी 'मुक्ति का रहस्य' के निकट है।

'एक दिन' इस संग्रह का एक ऐसा नाटक है, जिसमें मिश्र जी स्थिति का विरोध न कर, उसका समर्थन करते हैं। हमारे देश में वर-वधू का विवाह-सम्बन्ध माता-पिता की पसन्द पर स्थिर हुआ करता है। नये ज़माने में शिक्षित समुदाय को समाज की यह प्रथा बहुत ही भोंडी दीखती है। उसका कहना है कि विवाह माता-पिता तो करते नहीं, करते हैं वर-वधू। इसलिए माता-पिता की आँखों से जीवन साथी का देखना बेमानी है। नये ज़माने के युवकों ने कन्या को अपनी आँखों देखने की ज़ोरदार माँग की। इस 'एक दिन' शीर्षक एकांकी की शीला को अपनी पत्नी बनाने के पूर्व निरंजन अपनी आँख से देखने आया है। शीला बड़े ही वेधक तर्कों के बल पर सिद्ध करती है कि वर का वधू को अपनी नज़र से देखना लाहासिल है, व्यर्थ है। यह इसलिए कि निरंजन की उम्र का कोई युवक शीला की उम्र वाली किसी लड़की के निकट पहुँच कर अन्धा हो जाता है और यदि वह लड़की कही खूबसूरत हुई तो फिर तो वह अन्धा युवक अपना होश-हवास भी खो बैठता है। इससे उसके हित की बात यही है कि कोई दूसरा आँख वाला, होश-हवास न खोने वाला व्यक्ति लड़की को देख ले।

इस विवरण से स्पष्ट है कि मिश्र जी को इस बात का भरोसा नहीं है कि वर अपनी आँखों से कन्या को देख कर उचित निर्णय ले सकता है। इसी से तो वे पुरानी प्रथा का, जिसके अन्तर्गत माँ-बाप ही वर-कन्या का चुनाव करते हैं, समर्थन करते हैं।

'प्रलय के पंख पर' के दो नाटक 'बालू से रेत' और 'मेड़ तोड़ दी' यह सुझाते हैं कि मिश्र जी की मान्यताओं में परिवर्तन होने लगा है। समकालीन लोक-जीवन पर महात्मा गाँधी का जो प्रभाव पड़ रहा था, उससे मिश्र जी का अछूता रह जाना सम्भव नहीं था। गाँधी जी ने बतलाया था कि दुर्बल-से-दुर्बल मनुष्य का हृदय-परिवर्त्तन सम्भव है। 'बालू से रेत' में सद्वृत्तियों के पोषक-पात्र जगदीश के चरित्र-बल के प्रभाव के कारण दुर्वृत्त भोलानाथ का हृदय-परिवर्त्तन होता है और वही भोलानाथ जिसने बँटवारे में अपने बड़े भाई का हिस्सा मार लिया था और जिसने अपने अग्रज के एकमात्र पुत्र के मरने पर उत्सव मनाया था, इस हृदय-परिवर्त्तन के बाद क्या-से-क्या हो जाता है। मिश्र जी के 'मेड़ तोड़ दी' एकांकी में तो सद्वृत्ति ही जैसे पात्रत्व ग्रहण कर भोलानाथ के रूप में उपस्थित हो जाती है, जिसके आगे रघुनाथ की दुर्वृत्ति को क्षमा का भिखारी बनना पड़ता है।

मिश्र जी के ये नाटक समस्याओं की प्रस्तुति की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण न होने पर भी इस मानी में ध्यान देने योग्य हैं कि ये इस बात की सूचना देते हैं कि मिश्र जी की रचना-प्रवृत्ति किसी अन्य मार्ग की ओर जाने के लिए उपक्रम कर रही है।

मिश्र जी के समस्या-नाटकों की विशेषताओं के उद्घाटन के बाद अब हम उनके विचारों को क्रमबद्ध कर लेना चाहते हैं। 'संन्यासी' के आमुख अर्थात् 'अपने आलोचक मित्र से' में मिश्र जी ने बताया है कि उन्होंने 'सामाजिक क्रान्ति अथवा राजनैतिक उलट-फेर' करने के उद्देश्य से अपने नाटकों की रचना नहीं की।[१] उन्होंने अपनी आत्मा के प्रतिकूल वातावरण में रह कर जैसा अनुभव किया है, जो कुछ देखा-सुना है, उसे ही यथार्थ—ज्यों का त्यों—ईमानदारी के साथ अपने नाटकों में रख दिया है।[२] मिश्र जी ने बार-बार यह दावा किया है कि वे बुद्धिवादी हैं और इससे उन्होंने सचाई को तो स्वीकार कर लिया है लेकिन उस सचाई पर चढ़ाये जाने वाले कपड़ों, गहनों और ज़ंजीरों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया है।[३] वे मानते हैं कि कलाकार को उपदेशक नहीं बनना चाहिए। कलाकार को इन बातों से मतलब नहीं होना चाहिए कि क्या होना चाहिए अथवा क्या नहीं होना चाहिए। कला अपने शुद्ध रूप में इस तरह के विधि-निषेध-नियमों से परे है।[४] मिश्र जी का दावा है कि उन्होंने जो है, उसे ही दिखा दिया है, अपनी ओर से कुछ थोपा नहीं है। उन्होंने अपने चरित्रों को ज़िन्दगी की खुली सड़क पर ला कर छोड़ दिया है और वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार

---

१. २. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मि०—पृष्ठ ५

३. ४. मुक्ति का रहस्य—'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ'—ल० ना० मि०—पृष्ठ ३, ४

घेरे में हो कर, रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए, आगे बढ़ते गये हैं।[1] यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि मिश्र जी ने अपने वातावरण में अपनी आत्मा के लिए जो प्रतिकूलताएँ देखी हैं, उनको ज्यों-का-त्यों उन्होंने अपने नाटकों में रख दिया है। अब हम उन प्रतिकूलताओं पर क्रम से विचार करें।

मिश्र जी ने 'संन्यासी' के आमुख में लिखा—'इस वातावरण में सबसे बड़ा दुःख या सबसे बड़ी बुराई जो मुझे देख पड़ी है, वह यह नहीं है कि आजकल शिक्षा से संस्कार नही बनता या चरित्र-बल नहीं आता या यह कि हमारी जाति विदेशी शासन के कीचड़ में फँसी है, बल्कि यह कि हम यह सब जानते हैं, समझते हैं, किन्तु इधर ध्यान नहीं देते। इसके प्रतिकार के लिए चल नहीं पड़ते। जिसे हम समझते हैं कि यह बुरा है, उसी में और योग देते हैं। यही दुःख है, यही दासता है, यही पृथ्वी पर नरक है।'[2] मिश्र जी का कहना है कि जिस हालत में हमें सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, उसी में हम सन्तुष्ट रहने के आदी हो गये हैं। यही आत्म-विस्मृति, आत्म-हत्या है।[3] मिश्र जी कहते हैं कि आधुनिक शिक्षा की बुराई यह है कि व्यक्तित्व का नाश कर वह मनुष्य को मशीन बना देती है। शिक्षा की इस प्रणाली में अच्छे और बुरे मस्तिष्क वाले सभी एक जगह जोत दिये जाते हैं। और फिर मनुष्य कुछ स्वयं न सोच कर, कुछ स्वयं न समझ कर, दूसरों का सोचा-समझा बार-बार दुहराता है। संक्षेप में, अपनी आँखों से तब तक नही सूझता, जब तक कि दूसरे का चश्मा न लगे।[4] शिक्षा की लम्बी और दीर्घकालीन यात्रा परिणाम की दृष्टि से सर्वथा निष्फल सिद्ध होती है। उससे संस्कार और चरित्र बल नहीं मिलते।

इस शिक्षा पद्धति की बड़ी बुराई है—सहशिक्षा[5]—पुरुष और नारी का एक साथ रह कर शिक्षा पाना। मिश्र जी कहते हैं कि पश्चिमी शिक्षा की यह पद्धति हमारे देश के अनुकूल नहीं पड़ती। पश्चिम में सहशिक्षा की पद्धति के सफल होने के लिए जो साधक कारण है, वे हमारे यहाँ अब तक आये ही नही। पश्चिमी समाज हमारे समाज से भिन्न है, उसकी धारणाएँ, हमारी धारणाओं से बहुत भिन्न हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्वयं वहाँ की नारी हमारे देश की नारी से बहुत ही भिन्न पड़ती है। पश्चिम की इस सहशिक्षा की पद्धति को तभी स्वीकार करना चाहिए था, जब उसके साथ पश्चिम जैसी सहिष्णुता भी आती।[6] लेकिन बिना सहिष्णुता के इस संस्कार को दृढ़ किये, हमने पश्चिम की इस पद्धति का प्रचलन अपने देश में कर दिया। 'संन्यासी' के विश्वकान्त को अपनी सहपाठिनी मालती के नाम पत्र लिख देने के अपराध में विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ता है। मिश्र जी की आपत्ति है कि हमारे एतद्विषयक प्रतिकार—नियम विद्यार्थी का सुधार नहीं कर पाते, उसका जीवन ही नष्ट कर देते हैं।[7] मिश्र जी

---

१. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मि०—पृष्ठ ८

२. ३ ४. ५. ६. ७. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना मि०—पृष्ठ ६, ६, १०, ११, ११, ११

प्रस्ताव करते हैं कि शिक्षालयों का नियमन 'मार्शल लॉ' से नहीं, 'स्पिरिचुअल' अथवा 'कल्चरल लॉ' से करना चाहिए। यही कारगर होगा। उन्होंने कहा कि हमें यह याद रखना चाहिए कि पुलिस और जेलखाने सदाचार बढ़ाने में सफल नहीं हुए हैं।[1]

इस सहशिक्षा ने हमारे देश में विवाह के प्रश्न को ले कर नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के बीच एक प्रकार की संघर्ष-स्थिति उत्पन्न कर दी। कॉलेज में पढ़ने वाले लड़के-लड़कियों के बीच परस्पर खिचाव का हो जाना सहज सम्भव है। उनके आकर्षण की परिणति होनी चाहिए—उनके विवाह के रूप में। तभी उनका जीवन सुखद हो सकता है। लेकिन हमारे समाज में विवाह के प्रश्न को तो घेर कर बैठे हुए हैं दूसरे सवाल, जैसे—जाति की अभिन्नता, कुंडली का मेल, माँ-बाप की पसन्द और फिर दहेज़ आदि। इससे परस्पर प्रेम करने वाले दो व्यक्ति जीवन यात्रा के साथी हो ही जॉय—यह आवश्यक नहीं है। परिणाम है वह संघर्ष, जो बड़े बूढ़ों और उनके बच्चों के बीच अनायास ही उठ खड़ा होता है।

आधुनिक शिक्षा-सम्पन्न शिक्षकों से भी मिश्र जी को बहुत शिकायत है। उनका कहना है कि शिक्षक की नियुक्ति करते समय देखना तो यह चाहिए कि उसका संस्कार कैसा है, उसको कितना चरित्र-बल प्राप्त है। लेकिन हम तो केवल उसकी ऊँची डिग्री देखते हैं।[2] इसी से प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास होने वाला व्यक्ति शिक्षक के दायित्व-पालन की दृष्टि से असफल भी सिद्ध होता है। 'संन्यासी' नाटक में दो प्राध्यापकों की चर्चा आती है। एक है—नवयुवक रमाशंकर, जो अपने कॉलेज में पढ़ने वाली छात्रा मालती के पीछे घात लगाये रहता है। इसी मालती के कारण उसका अपने विद्यार्थी विश्वकान्त से संघर्ष होता है। दूसरा है—पचास वर्ष से अधिक की उम्र वाला दीनानाथ, जो अपनी बेटी की उम्र की किरणमयी से विवाह करके उसकी ज़िन्दगी बर्बाद करता है। स्पष्ट है, इतना कुछ पढ़ने लिखने के बाद भी इन प्रोफ़ेसरों में चरित्र बल नहीं है। इस प्रकार शिक्षा, शिक्षार्थी और शिक्षकों से मिश्र जी एक तरह से निराश हैं। किन्तु, समस्या-नाटक की रचना के लिए इस निराशा में जो सम्भावना है, उसका लाभ मिश्रजी नहीं उठाते। चलते-फिरते कुछ कह जाते हैं।

मिश्र जी के नाटकों की मूल समस्या यौन-समस्या है। वे मानते हैं कि भिन्न-लिंगी पुरुष और नारी के बीच आकर्षण का उत्पन्न हो जाना परम स्वाभाविक है। उनका कहना है कि, 'स्त्री और पुरुष इस विश्व के दो पहलू हैं, वे एक होते हैं, प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार, प्रकृति की निश्चित प्रणाली की रक्षा और प्रचार के लिए। उसे ही 'संतानोत्पत्ति,' या 'प्रजनन,' या 'प्रजाये गृहमेधिनाम्'—इन नामों से पुकारा गया है।[3] मिश्र जी विवाह को प्रकृति की माँग, प्राकृतिक अपेक्षा के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन वे यह भी चाहते हैं कि पुरुष और नारी का यह सम्बन्ध

---

१. २. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ११, ११

३. मुक्ति का रहस्य—मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ—ल० ना० मिश्र—पृ० ११

क्षणिक न हो। यह इसलिए कि वे मुक्त-भोग के समर्थक नहीं हैं। इसलिए वे यह व्यवस्था करते हैं कि ारी को उसी पुरुष के साथ रह कर अपनी जिन्दगी गुज़ार देनी चाहिए, जो उसके शरीर पर पहली बार अधिकार करता है। अपनी इस मान्यता के कारण मिश्र जी विधवा के पुनर्जन्म का पुनर्लग्न नहीं कर सके।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पंडित लक्ष्मी नारायण मिश्र के समस्या-नाटकों को देख कर यह कहा कि मिश्र जी ने अपने नाटकों के द्वारा यूरोप में प्रवर्तित यथातथ्यवाद का खरा रूप दिखाने का प्रयत्न किया है और नाटक का यह नया रूप वे यूरोप से ही ले आये हैं।[1] मिश्र जी ने शुक्ल जी के इस मत का प्रतिवाद करते हुए कहा—'यूरोप के संघर्ष के कारण हमारी ऊपरी वेश-भूषा में जिस प्रकार कुछ परिवर्तन आया है या जिस प्रकार स्वयं शुक्ल जी अंग्रेज़ी कोट पहन कर काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते थे, उतना ही ऊपरी प्रभाव मेरे नाटकों पर पश्चिम का पड़ा है।'[2] मिश्र जी के अनुसार पश्चिम का यह ऊपरी प्रभाव उनके नाटकों के आकार-प्रकार, भाषा, सम्वाद, व्यंग्य आदि पर पड़ा है लेकिन उनका भीतरी भावलोक भारतीय है, कालिदास और भास की परम्परा में है।[3] मिश्र जी ने और भी अधिक खुल कर यह स्वीकार किया है कि यूरोप से वस्त्र के ही ले आने का अभियोग उन पर लगाया जा सकता है।[4] उनका दावा है कि वस्त्र का अनुकरण जितना बड़ा अपराध है, उससे कहीं बड़ा अपराध है आत्मा का अनुकरण, जो द्विजेन्द्र और प्रसाद ने किया और जिस पर शुक्ल जी ने आपत्ति नहीं की। अपने प्रथम समस्या नाटक 'संन्यासी' की रचना करते समय ही मिश्र जी ने अनुमान किया था कि उनके आलोचक यह आक्षेप करेंगे कि उन्होंने बर्नार्ड शॉ का अनुकरण किया है। उन्होंने इस आक्षेप का उत्तर देते हुए 'अपने आलोचक मित्र' को साफ़-साफ़ कह दिया है कि 'शॉ का अनुकरण भारत में सम्भव नहीं है'[5] और उससे भी बड़ी बात यह है कि शॉ की प्रणाली उन्हें ऐसे रूक्ष विवेक और तर्क की प्रणाली दीखी, जिसका आधार ले कर आध्यत्मिक अनुभूति नहीं की जा सकती।[6] शॉ से उनका विरोध इसलिए भी है कि 'शॉ ने शान्ति के किसी नये रास्ते का पता नहीं लगाया। उनका काम उपहास करना है, सुधार करना नहीं।'[7] मिश्र जी ने इस विषय में जो कुछ कहा है, उससे यही सिद्ध होता है कि शॉ से उनका गहरा मतभेद है। मिश्र जी का आक्षेप है कि शॉ ने 'नारी उपासना' का जितना ही अधिक विरोध किया है, उतना ही अधिक वे नारी-आकर्षण पैदा करते गये हैं और अन्त में जीत हुई है इसी नारी मोह की। शॉ की नारी, पुरुष की ओर किसी स्थायी और आध्यात्मिक सम्बन्ध के लिए हाथ नहीं बढ़ाती। वह हाथ बढ़ाती है, क्षणिक शारीरिक सम्बन्ध के लिए[8] और यहीं शॉ से मिश्र जी का विरोध हो जाता है।[9] फिर भी शॉ की प्रशंसा मिश्र जी ने इस बात

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृ० ५५४
२. ३. ४. मुक्ति का रहस्य—उन्नीस वर्ष बाद—ल० ना० मिश्र—पृ० २६
५. ६. ७. ८. ९. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मिश्र—पृ० १

के लिए की है कि उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के आकर्षक पर्दे के भीतर की बुराइयों, यूरोप में प्रचलित दुराचार और वहाँ फैले नैतिकता के ढोंग को खोल कर रख दिया।[1] सामाजिक मशीन के रूप में ही शॉ के नाटकों का महत्व मिश्र जी के सामने स्पष्ट हुआ। इस प्रकार सिद्ध यह हुआ कि मिश्र जी पश्चिम के इब्सन और शॉ से प्रेरणा तो अवश्य लेते हैं लेकिन वह उनका अनुकरण करना नही चाहते। यह इसलिए कि उनको अपनी संस्कृति और परम्परा से बड़ा मोह है।

मिश्र जी के नाटको में जो समस्याएँ प्रस्तुत हुई हैं, उनको स्पष्ट करने की चेष्टा हमने उनके नाटकों का विवेचन करते समय पहले की है। मिश्र जी ने उन समस्याओ की प्रस्तुति के साथ-साथ यथासम्भव उनके समाधान के स्वरूप का आभास भी दिया है। हमने उसे भी यथावसर स्पष्ट किया है।

समस्या-नाटकों में समस्या का समाधान, कथानक और पात्रों के अन्तर और बाह्य के घात-प्रतिघात के बोच से उभर कर आता है। नाटककार की सफलता इस बात से आँकी जाती है कि उसने समस्या के समाधान की प्रस्तुति करते समय उपदेश नही दिया बल्कि ऐसे वातावरण का निर्माण किया कि प्रेक्षक-पाठक के सम्मुख समाधान-विषयक-संकेत की व्यंजना आप-से-आप हो गयी, उसे ऊपर से थोपना नहीं पड़ा। इस तरह के समाधान में बुद्धि-विभ्रम के लिए अवसर नहीं रहता।

मिश्र जी को आज के जीवन की समस्याओं की परख है—इसमे किसी को सन्देह नही हो सकता। लेकिन समस्याओं का जो निदान उन्होंने निर्दिष्ट किया है, वह ऐसा नहीं है, जिसे बुद्धि मान ले और तर्क निरुत्तर हो जाय। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि मिश्र जी परिस्थितियों के दबाव में पड़ कर एक समझौता-सा कर लेते हैं। 'संन्यासी' नाटक की मालती यह गवारा नहीं कर पाती कि उसका प्रेमी विश्वकान्त तपोभ्रष्ट हो जाय। इसलिए वह रमाशंकर के साथ समझौता कर लेती है और विश्वकान्त को प्रेरित करती है कि वह आत्मा के सुख के लिए शरीर का सुख छोड़ दे। कुछ ऐसा ही समझौता दीनानाथ भी अपनी पत्नी किरणमयी के साथ कर लेता है। मिश्र जी के दूसरे नाटकों में भी इसी तरह नारी-जीवन की समस्या का समाधान समझौते के रूप में हुआ है। 'मुक्ति का रहस्य' की आशा देवी उस डॉ० त्रिभुवननाथ के साथ समझौता कर लेती है, जिसने उसके सपनों की दुनिया में आग लगा दी है। 'राजयोग' की चम्पा को भी नरेन्द्र ने बताया कि उसकी समस्या का समाधान पिछली ज़ंजीरों के काट देने से ही सम्भव है। 'सिन्दूर की होली' में वैधव्य की समस्या को नाटककार ने उठाया तो है लेकिन उसे यह भी शंका है कि इस समस्या को ले कर साहित्य-सृष्टि करने वाले लेखक संयम और शासन को निकाल कर प्रवृत्तियों की बागडोर ढीली कर रहे हैं। मिश्र जी के अनुसार ऐसे लेखकों का उद्देश्य अधिक-से-अधिक उपभोग है और इसी को वे सुख समझने का प्रमाद कर रहे हैं। 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा विधवा-समस्या को

१. मुक्ति का रहस्य—'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?—ल० ना० मिश्र—पृ० १५

समस्या भी मानना नहीं चाहती और न यह चाहती है कि विधवाओं के उद्धार के लिए आन्दोलन चलाया जाय। इस प्रकार इस युग की इस बड़ी समस्या का समाधान न कर सकने के कारण मिश्र जी उसे जैसे छज्जे से उठा कर नीव में ढँक देते हैं। 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा ने कहा कि है कि संसार की समस्याएँ, जिनके लिए आजकल इतना शोर मचा हुआ है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं....वे पैदा हुई हैं —बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।[1] लेकिन मिश्र जी का समाधान जिज्ञासा का अन्त नहीं करता और न ऐसा हो पाता है, जिसको सम्बल-रूप में जीवन की समस्याओं से जूझते समय ग्रहण किया जा सके। मिश्र जी के नाटकों में समस्या के समाधान के रूप में हमें समझौता ही मिलता है। तत्वदर्शी कलाकर परिस्थितियों के सामने घुटने टेक कर विवशता का समझौता नहीं किया करता। वह एक बड़ी विलक्षणता है कि मिश्र जी के समस्या-मूलक नाटकों की समस्याएँ तो यथार्थ-जीवन से ग्रहण की जाती हैं किन्तु उनका समाधान ऐसा यथार्थ नहीं हो पाता कि उसे बुद्धि मान ले और निरुत्तर हो जाय। मिश्र जी के समाधान के संकेत पर आपत्ति करते हुए श्री राम गोपाल सिंह चौहान ने कुछ ग़लत नहीं कहा कि मिश्र जी के प्रायः सभी समस्यामूलक नाटकों में ऐसा विवशता-जनित समझौता मिलता है, जिस पर बुद्धिवाद की चाशनी चढ़ा कर मधुर बनाने का प्रयास किया गया है।[2] लगता है कि मिश्र जी परिस्थिति के आगे विवश हो जाते हैं, उनका बुद्धिवाद प्रश्न का कोई सही उत्तर खोज नहीं पाता और इसी भावस्थिति में वे परिस्थितियों के साथ समझौता कर लेते हैं। 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा ने सुझाया तो अवश्य है कि आज की समस्याएँ बुद्धि से उत्पन्न होती हैं और उनका समाधान भी बुद्धि ही दे सकती है लेकिन पाठक-प्रेक्षक की कठिनाई है कि उसकी बुद्धि में मिश्र जी का बुद्धिवाद अँट नहीं पाता।

'सिन्दूर की होली' की चन्द्रकला मनोजशंकर की नहीं बन पाई—यह तो समझ में आ जाता है; लेकिन जिस भावुकता के वेग में वह रजनीकान्त की विधवा हो जाती है, उसे बुद्धि का व्यायाम करके भी नहीं समझा जा सकता। हैरानी तो तब और बढ़ जाती है, जब याद आता है कि मिश्र जी भावुकता के विरोधी हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया, उससे निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्या पर मिश्र जी की पकड़ गजब की होती है लेकिन उनकी विचारधारा ऐसी सुस्थिर नहीं हो पायी है कि उनके दिये हुए समाधान से समस्या का सचमुच समाधान हो जाय।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने समस्या-नाटक की एक शर्त यह स्थिर की है कि उसमें किसी एक ही समस्या को ले कर नाटककार सोचता—विचारता रहता है।[3]

---

१. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ५०

२. समालोचक—यथार्थवाद विशेषांक (आधुनिक हिन्दी नाटक और यथार्थवाद—ले० श्री रामगोपाल सिंह चौहान)—पृ० १५१

३. आधुनिक साहित्य—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—पृ० २५०

मिश्र जी के समस्या नाटकों में एक मूल समस्या की प्रस्तुति तो होती ही है, उसके साथ ही अवान्तर समस्याएँ भी उभरती हैं। डॉ० नगेन्द्र ने उनकी इस योजना पर आपत्ति करते हुए कहा है कि 'रेशम के धागे में ये मोटे-मोटे खद्दर के धागे गुँथ कर प्रभाव-ऐक्य में व्याघात उत्पन्न करते हैं।'[1] इस आक्षेप के उत्तर में हम यह निवेदन करना चाहते हैं कि भारतेन्दु-युग से ही हिन्दी के नाटकों में अनन्या-अन्नुति का यही ढंग प्रचलित रहा और मिश्र जी ने इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया। ऊपर यह निवेदन किया जा चुका है कि मिश्र जी ने पश्चिमी समस्या-नाटकों की परम्परा से प्रेरणा भर ली है, उनका पूरा-का-पूरा अनुकरण नहीं किया। सारांशत: मिश्र जी के नाटक यह बताते हैं कि हिन्दी के समस्या नाटकों को अपनी भी कहीं कोई निजता है, वे पश्चिम की हूबहू नकल नहीं हैं।

●

---

१. आधुनिक नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ५८

सेठ गोविन्द दास

हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास में सेठ गोविन्द दास का महत्व इसलिए सुस्थिर रहेगा कि उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में नाटकों की रचना की है और उनके द्वारा भाँति-भाँति के प्रयोग किये हैं। नाटकों के प्रति सेठ जी का छुटपन से ही विशेष अनुराग रहा है और इस तथ्य को उन्होंने अपने 'तीन नाटक' के 'प्राक्कथन' में (जो आगे चल कर 'नाट्य कला मीमांसा' के नाम से एक स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित भी हुआ है) स्वीकार किया है।[1] सेठ जी ने जिस परिवार में जन्म धारण किया, वह वैष्णव तो था ही, साम्प्रदायिक मान्यता की दृष्टि से वल्लभमतानुयायी भी था। इस कारण सेठ जी को अपनी बाल्यावस्था में ही ब्रज की रासलीला से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। 'आत्म निरीक्षण' की आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि जिस दिन उनको रास के देखने का अवसर मिलता, उनकी नींद भाग जाती और तल्लीन हो कर वे सारी रात रास देखने में मग्न रहते।[2]

बचपन के इस अनुराग ने सेठ जी को बड़ा होने पर देश-विदेश के नाटकों का गम्भीर और व्यापक अध्ययन करने की प्रेरणा दी। इस विषय में 'तीन नाटक' के 'प्राक्कथन' के निम्नलिखित शब्दों को प्रमाण-रूप उपस्थित किया जा सकता है—"इस अनुराग के कारण मुझे पहले हिन्दी और हिन्दी के द्वारा बंगला, फिर अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी के द्वारा अन्य देशों के नाटक तथा नाटक-साहित्य पर अनेक ग्रन्थ पढ़ने एवं हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला और अंग्रेज़ी नाटक देखने का अवसर पड़ता रहा है।"[3] इस अध्ययन ने सेठ जी को यह अवश्य ही बता दिया होगा कि देश-विदेश के नाटक-साहित्य के मुकाबले हमारे हिन्दी नाटकों की क्या स्थिति है।

---

१. तीन नाटक—प्राक्कथन—सेठ गोविन्द दास—पृ० १

२. आत्म निरीक्षण ,, —पृ० २

३. तीन नाटक—प्राक्कथन—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन के क्रम में सेठ जी को अनेक बार लम्बी अवधि के लिए जेल-यात्रा करनी पड़ी। जेल के इस एकान्तवास ने सेठ जी को अध्ययन-मनन के लिए पर्याप्त सुविधा दी। उन्होंने 'तीन नाटक' के 'प्राक्कथन' में ही यह भी बताया है कि जेल के भारी वक्त को काटने के लिए बिना संकल्प या निश्चय के, उन्होंने नाटकों की रचना आरम्भ की।[1] इतिहास बताता है कि सेठ जी के अधिकांश नाटक उनके जेल में रहते समय ही लिखे गये हैं।

सेठ जी के नाटकों के विशाल भांडार तथा उनके उपर्युक्त कथन के प्रमाण पर हम यह सहज ही कह सकते हैं कि उनके नाटक न तो किसी प्रचलित परम्परा के प्रति द्रोह करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं और न किसी नवीन परम्परा के प्रवर्तन की स्पृहा से, बल्कि वे उनके अध्ययन के ही परिणाम हैं। सेठ जी ने नये ढंग के समस्या-नाटकों को रचना तो की है लेकिन उन्होंने मौलिक होने का दावा नहीं किया। वे खुले शब्दों में बार-बार यह घोषित कर चुके हैं कि टेकनोक के क्षेत्र में वे इब्सन के अनुयायी हैं।[2]

कलाकार के निर्माण में उसके परिवेश का महत्वपूर्ण योग हुआ करता है। कलाकार इसी से लोक-मानस की आरसी भी कहलाता है। सेठ जी के नाटकों में भी हमें परिचित यथार्थ के दर्शन होते हैं और ऐसा लगता है कि हमारे स्वातंत्र्य-आन्दोलन का सारा इतिहास जैसे उनमे सुरक्षित है।

इतिहास की गवाही है कि सेठ जी का जन्म उद्योगपतियों के जिस परिवार में हुआ, उसकी सहानुभूति राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के क्रम में चलाये जाने वाले स्वदेशी आन्दोलन के प्रति हो गयी थी। देश के उद्योगपतियों ने अब तक यह अनुभव कर लिया था कि अंग्रेज़ों के व्यावसायिक स्वार्थ के कारण देशी उद्योग-धन्धों का विकास सहज नहीं है। इस स्वदेशी आन्दोलन में उनको अपने लिए प्रबल अनुकूलता दीखी। हमारे यह सब कहने का उद्देश्य यही बताना है कि सेठ जी का जन्म एक ऐसे सम्पन्न परिवार में हुआ, जिसमें स्वदेशी आन्दोलन की धूम मची हुई थी और सेठ जी को वह स्वदेशी-संस्कार रिक्थ के रूप मे प्राप्त था।

भारतीय वेदान्त दर्शन के अध्ययन ने सेठ जी के मानस को एक बड़ी उच्च भूमिका प्रदान की। उन्हें लगा कि 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' का अमर सन्देश मनुष्य जाति की चरम उपलब्धि है।[3] वेदान्त-दर्शन ने सेठ जी को समस्त सृष्टि प्रसार के साथ एकता का अनुभव करने का अवसर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि व्यक्ति को अपने और अपने छोटे-से परिवार के लिए ही जीना नहीं चाहिए, समस्त सृष्टि के लिए जीना चाहिए। गाँधी जी का सेठ जी के जीवनेतिहास में यही महत्व है कि उन्होंने सेठ जी के इस संस्कार को उकसा दिया और उनको अपनी समृद्धि के प्रति विद्रोह करके, दरिद्र-

---

१. तीन नाटक—प्राक्कथन—सेठ गोविन्द दास—पृ० २
२. ग़रीबी या अमीरी—निवेदन—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ५
३. तीन नाटक—प्राक्कथन—सेठ गोविन्ददास—पृ० ८

नारायण का पक्षधर बना दिया।

सेठ जी के नाटकों में उनका यह व्यक्तित्व तो सर्व त्यागी है और सब के प्रति प्रेम की विह्वलता का अनुभव करता है, सर्वत्र मुखर है। सेठ जी ने अत्यन्त निष्ठा के साथ गाँधी-दर्शन को अपने जीवन-आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एवं अर्वाचीन नाट्य-शैलियों के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त सेठ जी ने अपने व्यवहार के लिए जो थोड़े से नियम स्थिर किये हैं और जिनका उल्लेख उन्होंने अपने 'तीन नाटक' के 'प्राक्कथन' में किया है—उन्हें देखने से विदित होता है कि सेठ जी नाटक में सबसे पहले विचार (आइडिया) की अपेक्षा समझते हैं। 'विचार' से उनका मन्तव्य जीवन की किसी 'समस्या' से है। इसी 'विचार' का विकास करने के लिए 'संघर्ष' (कॉनफ़्लिक्ट) की उन्हें आवश्यकता होती है और फिर संघर्ष की सम्बद्धता और मनोरंजकता के लिए कथा चाहिए। सेठ जी मानते हैं कि जिस नाटक में जितना महान विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी सुगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितना स्वाभाविक कथोपकथन होगा, वह उतना ही उत्तम और सफल होगा।[1]

इस विवरण से नाटक के विषय में सेठ जी की धारणा का पता चलता है। हमें उनके नाटकों की परख करते समय उनकी इस कसौटी को सामने रखना चाहिए। एक बात और है। सेठ जी कहते हैं कि 'ललित कला की नींव आदर्शवाद ही रहेगा, परन्तु आदर्शवाद की नींव पर स्थित रहते हुए भी कला का बाह्य-स्वरूप यथार्थवादी होना आवश्यक है।'[2] यही कारण है कि सेठ जी के नाटकों में हमें परिचित यथार्थ तो मिलता ही है, समस्या के समाधान के रूप में उनमें आदर्श की प्रतिष्ठा भी होती है। कहना नहीं होगा कि सेठ जी के नाटकों में आने वाला आदर्श यही है, जिसे उन्होंने अपने जीवन के लिए स्थिर कर रखा है। इस भूमिका के साथ हम सेठ जी के उन नाटकों का विचार प्रारम्भ करते हैं, जिनमें समस्याओं की प्रस्तुति हुई है।

प्रकाश : 'प्रकाश' नाटक की रचना सेठ जी ने २५ जून सन् १९३० को दमोह जेल में आरम्भ की और कुल दस दिनों में इसे पूरा कर लिया।[3] सन् १९३४ में उन्होंने इसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन किया और अन्तिम रूप दिया।

इस नाटक में उन्होंने सामाजिक जीवन के विविध प्रश्नों के साथ ही कतिपय राजनैतिक और साम्प्रदायिक प्रश्नों को भी उठाया है। इस तरह नाटक में समस्याओं का मेला जैसा लग जाता है। भाँति-भाँति की समस्याओं के उठाये जाने के कारण इसे ऐकान्तिक रूप से सामाजिक नाटक नहीं कहा जा सकेगा। 'प्रकाश' जिस कोटि की रचना है, उसे अंग्रेज़ी में 'सोशियोपोलिटिकल ड्रामा' कहा गया है।

इस नाटक की मुख्य कथा के अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण सेठ जी को उसके आधार पर बहुत सारी समस्याओं के उठाने का अवसर नहीं मिल सकता था। इससे

---

१. २. ३. तीन नाटक—सेठ गोविन्ददास—पृ० १६-१७, ९, ('प्रकाश' का निवेदन)

उन्होंने एक ओर तो नाटकीय कथानक को फैला दिया है और दूसरी ओर ऐसे पात्रों की सृष्टि की है, जो मुख्य कथा की दृष्टि से अनिवार्य नहीं हैं।

'प्रकाश' का मुख्य कथानक राजा अजय सिंह और प्रकाश से (जो उनकी परित्यक्ता पहली पत्नी इन्दु का पुत्र है) सम्बद्ध है। राजा अजय सिंह देश के उस वर्ग का प्रतिनिधि है, जो ज़मींदार कहलाता है और अपनी वंश-प्रतिष्ठा की आन-बान निबाहने में बर्बाद होता चला जा रहा है। उसने अपने यहाँ एक दावत का आयोजन कर रखा है, जिसमें लोक-जीवन के भिन्न-भिन्न स्तरों के लोगों को निमंत्रित किया गया है। प्रान्त के गवर्नर भी उसमें आये हुए हैं। इस दावत की एक बड़ी विशेषता यह है कि मेहमानों के लिए उनके स्तरों के योग्य अलग-अलग प्रबन्ध किया गया है। इस प्रकार इस दावत में पूरा भेद-भाव बरता गया है, जिससे मेहमानों को अपनी-अपनी सीमाएँ स्पष्ट दीख जाती हैं। अभी हाल ही में देहात से शहर आने वाला प्रकाशचन्द्र भी अपने मित्र कन्हैयालाल पत्रकार के साथ इस दावत में उपस्थित है। वह अमीरों के यहाँ बरते जाने वाले भेद-भाव से परिचित नहीं है। प्रीति और भेद की इस एकत्र असंगत स्थिति को वह समझ नहीं पाता और उसको अपमानजनक समझ कर आपत्ति करता है। उसके प्रस्ताव पर दावत में सम्मिलित होने वाले साधारण तबके के लोग दावत से उठ कर चल देते हैं।[१] यह अप्रिय घटना प्रान्त के गवर्नर की उपस्थिति में ही घटती है। इससे राजा अजय सिंह के साथियों को बड़ा दुःख और रंज होता है। किन्तु, न जाने क्यों दावत में इस प्रकार गड़बड़ी मचाने वाले प्रकाश के प्रति राजा अजय सिंह को तनिक भी क्रोध नहीं होता। उलटे वह स्वीकार करता है—'उसके इतने अनर्थ करने पर भी ज्यों-ज्यों मैं उसकी ओर देखता था, मेरा हृदय प्रेम से उसकी ओर खिंचता सा जान पड़ता था।'[२] प्रकाश को आज एक सर्वथा नवीन अनुभव प्राप्त हुआ है। उसने राजा साहब की दावत में जिस समाज को देखा है, उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करने के लिए उसके हृदय में बलवती प्रेरणा जगती है। उसने शहर के लोगों का अध्ययन करके यह देखा कि मूक जनता के नाम पर स्वार्थी-समाज अपना मतलब साधता है। उसे मालूम होता है कि जनता के कल्याण के नाम पर दामोदर दास गुप्त और धनपाल जैसे स्वार्थियों ने नहर की कोई योजना बना रखी है और उसे निकट भविष्य में वे कार्यान्वित भी करने जा रहे हैं। प्रकाश निश्चय करता है कि वह सत्य-समाज का संगठन कर स्वार्थ के ऐसे हथकंडों का विरोध करेगा। नगर में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन होता है। उसमें प्रकाश स्वार्थियों का भंडा फोड़ना चाहता है। लेकिन सभापति-पद पर बैठा उसका पत्रकार मित्र कन्हैयालाल ही उसे बोलने की इजाज़त नहीं देता। इस पर जनता सभापति का विरोध करती है और उसे आसन से उतार हटाती है और प्रकाश को अपना मन्तव्य प्रकट करने का अवसर देती है। प्रकाश अपने भाषण में बताता है कि वह यह देख कर हैरान है कि समाज में ऐसा कोई नहीं है, जिसके मुख-

१. २. तीन नाटक (प्रकाश)—सेठ गोविन्ददास—पृ० ३४०, ३४५

मंडल पर उसे सुख-सन्तोष की आभा उद्दीप्त दीखती हो। वह इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि आज के समाज में गरीब तो दुखी है हो, धनी भी सुखी नहीं है। धनियों में कुछ के मुख पर उसने सुख के बदले षड्यन्त्र देखा है और कुछ के मुख पर आतुरता। प्रकाश चाहता है कि एक ऐसा समाज खड़ा हो, जिसमें ग़रीबी और अमीरी का भेद-भाव न हो। यदि यह सम्भव न हो तो इतना तो ज़रूर हो कि ग़रीब और अमीर के बीच आज जैसा तो अन्तर कदापि न रहे। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसा कुछ ज़रूर करना चाहिए, जिससे सम्पत्ति का अधिक-से-अधिक न्यायपूर्ण विभाजन सम्भव हो सके।

नगर में नहर-योजना पर विचार करने के लिए फिर एक सार्वजनिक सभा होती है। प्रकाश और उसके साथी भी उस सभा में उपस्थित हैं। वे अपना मन्तव्य जनता के सामने प्रस्तुत करना चाहते हैं। किन्तु उनको इस बार भी निहित-स्वार्थ-वर्ग बोलने नहीं देता। उलटे उन पर आक्रमण होता है। प्रकाश के विरोध से चिढ़ कर दामोदर दास गुप्त राजा अजय सिंह पर दबाव डाल प्रकाश के विरुद्ध मुकदमा चलवाता है। किन्तु, अभियोग के प्रमाणित न होने के कारण प्रकाश की कोई हानि नही होती। अब दामोदर दास गुप्त दूसरे मुकदमे की तैयारी करता है। इस बार प्रकाश पर इलज़ाम लगाया जाता है कि उसने राजा साहब की ज़मींदारी में बलवा करवाया है। प्रकाश को पुलिस गिरफ़्तार कर लेती है। अब उसकी माँ तारा राजा साहब के समक्ष उपस्थित होती है और बताती है कि वह उनकी इन्दु है और प्रकाश उनका ही पुत्र है। राजा साहब अपने बेटे को पुलिस के चंगुल से बचाने के लिए उद्यत तो होते हैं लेकिन उनको यह मालूम होता है कि अब प्रकाश को पुलिस के चंगुल से बचाया नहीं जा सकता और वे मूर्छित हो जाते है।

'प्रकाश' नाटक की यही मुख्य कथा है। स्पष्ट है, इसके प्रमाण पर इतना ही भर कहा जा सकता है कि प्रकाश समाज में प्रचलित भेद-भाव का विरोधी है और वह उसे मिटा कर, एक ऐसे नये समाज का गठन करना चाहता है, जिसमें अपेक्षाकृत अधिक न्याय हो, सम्पत्ति का अधिक न्यायपूर्ण बँटवारा हो। प्रकाश गाँधीवादी होने से सत्य का आग्रही है और दुनिया की कोई शक्ति उसको सत्य कहने से नहीं रोक सकती। उसके मानस मे समाज के नव-निर्माण की जो कल्पना है, उस पर भी गाँधी जी का ही प्रभाव हैं। यह इस बात से प्रमाणित है कि वह सम्पत्ति के सम-विभाजन नहीं, अधिक से अधिक न्यायपूर्ण विभाजन के हित आग्रही है।

नाटक की यह सीधी-सी कथा उन अनेक समस्याओं की प्रस्तुति के लिए गुंजा-यश नहीं बना पाती जो नाटककार के विचार-केन्द्र में जम कर बैठ गयी हैं और अपना समाधान खोजती हैं। यही कारण है कि उन्होंने कुछ ऐसे पात्रों और घटनाओं की योजना की है, जो मुख्य कथानक की दृष्टि से अनिवार्य नहीं हैं।

राजा अजय सिंह के परिवार के वृत्त से बाहर आ कर जिन पात्रों की योजना

की गयी है, उनमें मुख्य हैं—दामोदर दास गुप्त, रुक्मिणी, नेस्टफ़ील्ड, थेरिना, पं० विश्वनाथ और मौलाना शहीदुल्ला। अब हम इन पात्रों को ध्यान में रख कर देखेंगे कि सेठ जी ने इनके द्वारा किन प्रश्नों को उठाया है।

दामोदर दास गुप्त उस भगवानदास का पुत्र है, जिसके पैसों की इज़्ज़त करते हुए अंग्रेज़ सरकार ने उसे 'सर' बनाया है। दामोदर अभी हाल में अपनी पत्नी रुक्मिणी के साथ विलायत घूम कर वापस आया है। विलायती हवा ने उसे साहब और रुक्मिणी को तितली बना दिया है। दामोदर दास को यह देख कर बड़ा कष्ट होता है कि उसके माँ बाप आज भी पुरातन संस्कारों से चिपके हुए हैं। उसे अपनी बहन मनोरमा से भी शिकायत है कि वह नयी पीढ़ी की हो कर भी आधुनिक सभ्यता से घृणा करती है।

'प्रकाश' नाटक मे राजा अजय सिंह की अवतारणा मुमूर्षु सामन्तशाही के अवशेष के रूप में की गयी है और उसके मुकाबले दामोदर दास गुप्त के रूप में नवोदित पूँजीशाही को खड़ा किया गया है। नाटककार ने बताया है कि राजा अजय सिंह जैसे ज़मींदारों में लाख बुराइयाँ रही हों इतना तो मानना हो होगा कि उस वर्ग के लोगों को कुलीनता और सहिष्णुता के बड़े उन्नत संस्कार प्राप्त थे। पूँजीपतियों का नवोदित वर्ग उन ज़मींदारों के मुकाबले कहीं अधिक स्वार्थी है और उसके ऊपर असहिष्णु भी है। इस प्रकार यह नवोदित वर्ग पुराने सामन्तों से कहीं अधिक दुर्दान्त और भयंकर सिद्ध होता है। राजा अजय सिंह जैसे लोगों का अपराध यही है कि वे अपनी आमदनी की सीमा के भीतर रह लेने के अभ्यासी नहीं हैं। इससे उनको कर्ज़ पर कर्ज़ चाहिए। यही विवशता उनको दामोदरदास गुप्त जैसे पूँजीपतियों के ताव में रहने के लिए बाध्य करती है। सेठ जी ने पूंजीपतियों के इस वर्ग के उदय को देश के लिए एक बड़ा खतरा समझा है। इस असहिष्णु वर्ग की अकुलीनता और भोंडेपन को ही दिखाने के लिए नाटक में दामोदर दास गुप्त की मेम साहबा रुक्मिणी के उस क्रोध का उल्लेख होता है, जिसके शमन के लिए राजा साहब को लिख कर माफ़ी माँगनी पड़ती है। इस प्रकार जिस स्वाभिमान और वंश-प्रतिष्ठा की आन-बान की रक्षा में राजा अजय सिंह मिटता चला जा रहा है, उसी को रुक्मिणी सरे आम नीलाम ख़रीद लेने का ताव रखती है और अवसर मिलने पर थोड़ा भी हिचकती नहीं है। जमींदार अजयसिंह की इससे अधिक दयनीयता भला और क्या हो सकती है।

नाटक में कन्हैयालाल के रूप में एक पत्रकार की योजना भी ख़ूब सोच-समझ कर ही की गयी है। पत्रकार होने के नाते उसे होना चाहिए था—स्वतंत्र-चेता। लेकिन उसका ऐसा पतन हो गया है कि वह भी पूँजी का गुलाम हो गया है। इस तरह जिस व्यक्ति से बहुत कुछ उम्मीद की जा सकती थी वह अपने ऊँचे आदर्शों से गिर कर निर्वीर्य्य हो गया है। सेठ जी इशारा करते हैं कि पूँजीवाद इसलिए भी दूषित है कि वह किसी को ईमानदार रहने नहीं देगा।

धन की स्पृहा ही पढ़े-लिखे बैरिस्टर नेस्टफ़ील्ड को इतना गिरा देती है कि वह अपनी वकालत चलाने के लिए अपनी भतीजी को अपने शरीर का सौदा करने के लिए प्रेरित करता है। वकालत के पेशे में ऐसी गिरावट आ गयी है कि बड़ी मुश्किल से मुकदमे हाथ लगते हैं। मुवक्किलों पर धाक जमाने के लिए जज की दोस्ती चाहिए और उस दोस्ती के लिए चाहिए पैसे। पैसों से लिए नेस्टफ़ील्ड को भी दामोदर दास गुप्त का ही मुँह जोहना होगा। यह इसलिए कि पैसे उसी से मिल सकते हैं और फिर राजा साहब के मुकदमे भी तो उसी के चलाये हैं, उसी के रुपयों से चलते हैं। इसी से वह अपनी भतीजी को कहता है कि वह दामोदर दास को फाँसे। अपनी भतीजी को समझाते हुए उसने कहा है कि इस ज़माने में नैतिकता के प्रश्न को ताक पर रख देना चाहिए।[१] सेठ जी इस चरित्र के माध्यम से यह बताते हैं कि धन के लोभ ने आज सदाचार की भी नींव हिला दी है।

इस नाटक में पं० विश्वनाथ और मौलाना शहीदबख्श क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रतीक बन कर उपस्थित हुए हैं। सेठ जी ने बताया है कि ये साम्प्रदायिक नेता हिन्दू और मुस्लिम जनता की सहज धर्मभावना को उत्तेजित कर अपने स्वार्थ-साधन के लिए साम्प्रदायिक बलवे कराते हैं। सेठ जी ने एक विचित्रता यह देखी है कि बलवा करने वाले इन मज़हबी नेताओं के बीच आपसी मिली-भगत भी होती है। ये दूसरे का सिर तो फोड़ते हैं लेकिन कभी ऐसा नहीं हुआ कि इन्होंने आपस में सिर-फुड़ौवल की हो।

'प्रकाश' के नारी 'पात्रों में रानी कल्याणी, लक्ष्मी और मनोरमा की भारतीय आदर्शों के प्रति गहरी निष्ठा है। उनके प्रतिकूल है रुक्मिणी, जिसे भारतीय महिलाओं की तरह आसन पर बैठना पसन्द नहीं आता। उसे बैठने के लिए कुर्सी अवश्य चाहिए। पश्चिमी समाज की वह प्रशंसा करते कभी अघाती नहीं। वह बताती है कि पश्चिम का आदर्श उसे इसलिए भाता है कि धर्म के झूठे ढकोसले वहाँ नहीं हैं। वहाँ स्त्रियों पर पुरुषों का अत्याचार नहीं होता है।[२] रानी कल्याणी, जिसे पश्चिमी सभ्यता की नकल पसंद नहीं है, उसका विरोध करती हुई कहती है—'मनमानी वेशभूषा किये, हर प्रकार स्वतंत्रता लिये स्त्रियों का पुरुष-समाज में फुदकते फिरना, जूते उतारने में संकोच करना, जमीन पर बैठने से घृणा करना, इन सब बातों से ही क्या इस देश का स्त्री-समाज उन्नत हो जायगा ?'[३] मनोरमा रुक्मिणी को समझाती है कि प्रत्येक देश के सामने उसकी प्राकृतिक और व्यावहारिक परिस्थिति के अनुसार उसके निज की कुछ

१. तीन नाटक (प्रकाश)—सेठ गोविन्ददास—पृष्ठ ३८० : मुरैलिटी वगैरह को ताक में रखना इस जमाने की सच्ची जरूरत है। मामूली प्रॉस्टीट्यूशन में औरत कुछ देर को अपना जिस्म आदमी के हाथ बेचती है, और शादी में हमेशा के लिए। सवाल यही फ़ाइनेन्शल है।

२. ३. तीन नाटक—(प्रकाश)—सेठ गोविन्ददास—पृष्ठ ३७३, ३७४,

समस्याएँ रहती हैं। अपनी प्राचीन संस्कृति को मिटा कर बदले में पश्चिमी संस्कृति को ग्रहण करना अपने पैर काट कर दूसरे के पैरों चलने के प्रयास जैसा है। मनोरमा की शिकायत है कि पश्चिम की नारी ने स्वतंत्र हो कर सच्चे गार्हस्थ्य-सुख का नाम-निशान मिटा दिया है।[1] यह ठीक है कि अपने देश में पुरुष नारी पर अत्याचार करता है, पर्दे में रख कर उसे सड़ाता है, यहाँ की बाल-विधवाएँ ज़िन्दगी भर रोती हैं; लेकिन इन बातों के प्रतिकार के लिए पश्चिम का अन्धानुकरण करना भी उचित नहीं होगा। यह इसलिए कि किसी रोग की औषधि उससे भी भयंकर दूसरे रोग का निमंत्रण हो सकती है।[2] मनोरमा खुल कर कहती है कि जैसी स्वतंत्रता आजकल पश्चिमी ढंग से पढ़ी-लिखी कुछ भारतीय रमणियाँ ले रही है वैसी स्वतंत्रता को वह भारतीय स्त्री-समाज के लिए हितकर नही समझती।[3] थेरिज़ा को इस नाटक में पश्चिमी नारी का मूर्त्त प्रतीक बना कर नाटककार ने इसलिए ही उपस्थित किया है कि उसके प्रमाण पर सुझाया जा सके कि पश्चिमी आदर्श हमारे आदर्श कदापि नही हो सकते। नाटक की कथा से यह भी विदित होता है कि दामोदर दास गुप्त और थेरिज़ा का सम्बन्ध जब समस्या बन कर रुक्मिणी के गले पड़ता है तब वह भी पश्चिमी सभ्यता का समर्थन करना छोड़ कर घोषित करती है कि इस देश के समाज का कल्याण पश्चिमी सिद्धान्तों से नहीं हो सकता।[4]

मनोरमा की अवतारणा करके नाटककार ने एक अन्य उद्देश्य की भी पूर्त्ति की है। प्रकाश के प्रति उसके हृदय में प्रबल आकर्षण है। किन्तु, जाति-भेद और आर्थिक स्थिति की असमानता के कारण दोनों का विवाह सम्भव नहीं है। सेठ जी की मनोरमा इन बाधाओं से जूझने के लिए खड़ी नही होती बल्कि उसे अनिवार्य समझ कर स्वीकार करती है। इससे स्पष्ट है कि सेठ जी इस विषय में जो स्थिति है, उसका विरोध करना नही चाहते। सेठ जी को यूरोप के मुक्त-प्रेम का आदर्श स्वीकार नहीं है। वे गार्हस्थ्य सुख को सर्वोपरि समझते हैं और यह भी जानते हैं कि इस विषय में पश्चिम से किसी प्रकार की प्रेरणा नहीं मिल सकती। वे सामाजिक विकृतियों का समर्थन नहीं करते। लेकिन वे यह भी नहीं चाहते कि अपनी विकृतियों के परिहार के लिए हम दूसरों से प्रेरणा लें। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक देश की अपनी निजी समस्याएँ होती है, जिनका समाधान अपने ही ढंग से उसे करना होता है।

इस नाटक में चलते-फिरते ढंग से सेठ जी ने ज्योतिषियों का भी मखौल उड़ाया है और बताया है कि उनके वचन को प्रमाण मानना भूल है। अजय सिंह को ज्योतिषियों ने यह कह रखा था कि उनकी पत्नी इन्दु को संतान नहीं होगी। लेकिन ज्योतिषियों की बात झूठी सिद्ध होती है और उसे पुत्र की प्राप्ति होती है। ज्योतिषी की बात को प्रामाणिक समझ अजय सिंह इन्दु को दुराचारिणी मान कर घर से निकाल

१. २. ३. ४. तीन नाटक (प्रकाश)—सेठ गोविन्ददास—पृष्ठ ४२६, ४३२, ४३२, ४७८,

देता है और पीछे अपने इस कुकृत्य पर पछताता है।

'प्रकाश' में समस्याओं की प्रस्तुति के लिए लेखक ने एक और भी ढंग अपनाया है। राजा अजय सिंह के यहाँ दावत में सम्मिलित होने के लिए जो लोग आये हैं, वे समसामयिक राजनीति के विषय में चर्चा करते हैं और इस क्रम में सामयिक जीवन के कई प्रश्न खड़े होते हैं। धनपाल सम्वैधानिक कार्यक्रम में विश्वास रखता है और सोचता है कि नरम-दलीय-सुधार-प्रयत्नों से ही देश का कल्याण होगा। उसके विपरीत दामोदर दास गुप्त का मत है कि जैसे नरम दलीय प्रयत्न व्यर्थ हुए, वैसे ही गाँधी जी का असहयोग-आन्दोलन भी बेतुका सिद्ध हुआ और देश का वास्तविक कल्याण पूँजी के विकास से होगा तथा भारतीय उद्योगपति ही देश के उद्धारक सिद्ध होंगे न कि काँग्रेस वाले। उसका कहना है कि प्रकृति की सर्वोत्तम उत्पत्ति है मनुष्य और मनुष्यों में सर्वोत्तम हैं—धनवान मनुष्य। अधिकांश मनुष्य थोड़े मनुष्यो के उपयोग के लिए बने है और इस प्रकार थोड़े मनुष्यों के सुख के लिए अधिक का दुखी रहना प्रकृति का स्वाभाविक नियम है।[1] दामोदर दास गुप्त को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि भारत आज़ाद हो कर भी कभी समाजवादी व्यवस्था को कबूल नहीं कर सकेगा।[2] इस विश्वास का आधार यह है कि अपना यह देश प्रवृत्ति, धर्म, संस्कृति—सभी दृष्टियों से साम्यवाद के विरुद्ध है। दामोदर दास गुप्त तो कहता है कि साम्यवाद का सिद्धान्त ही ग़लत है। उसके कथनानुसार लेनिन द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से हट कर स्टालिन के राष्ट्र-भावना में सिमटने और फिर यूरोप में मुसोलिनी और हिटलर के फ़ासिस्टवाद के जन्म से, साम्यवाद की असफलता प्रत्यक्ष होती है। कहना नहीं होगा कि स्वयं सेठ जी साम्यवाद के बहुत प्रशंसक नहीं रहे हैं। वे गाँधीवादी हैं, इससे वे सर्वोदय में तो विश्वास रखते हैं, किन्तु, पश्चिमी साम्यवाद को अपने देश की समस्याओं का समाधान नहीं मान पाते।

इस नाटक के प्रमुख पात्रों को देखने से यह विदित होता है कि देश का कोई भी वर्ग सुखी नहीं है। नाटककार ने इसके कारण का अनुसन्धान करके यह बताया है कि सच्चा सुख जीवन की जिस स्वाभाविकता में है, उसे ग्रहण करने के लिए न तो अजय सिंह तैयार है और न रुक्मिणी, न दामोदर दास गुप्त और न कन्हैयालाल। अन्ध-कूप में पड़े हुए इन पात्रों को प्रकाश देने के निमित्त प्रकाशचन्द्र के चरित्र की उन्होंने अवतारणा की है। लेकिन स्वार्थ में जकड़े हुए ये लोग उस आलोक को ग्रहण ही नहीं कर पाते।

नाटककार ने प्रस्ताव किया है कि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए उनके विरुद्ध जनमत तैयार करना उचित होगा। कानून बना कर सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने का प्रयास सदा बेकार जाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस नाटक में किसी एक निश्चित

---

१. २. तीन नाटक (प्रकाश)—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ३५४, ४५५।

समस्या की प्रस्तुति नहीं होती, जैसी कि होनी चाहिए थी। प्रत्युत् यहाँ तो जैसे प्रश्नों की भीड़ लगी हुई है। नाटककार ने इतना बड़ा फलक ले लिया है कि किसी निश्चित बिन्दु पर उसकी निगाहें गड़ी नहीं रह पातीं। इन प्रश्नों में किसी को भी ले कर समस्या-नाटक की रचना की जा सकती थी। किन्तु नाटककार ने वैसा कुछ किया नहीं। इन नाटक में सेठ जी अपने भिन्न-भिन्न विवादों को उपस्थित कर देने के आग्रही ही अधिक हैं, समस्या की प्रस्तुति के प्रति सतर्क कम। देश की भिन्न-भिन्न समस्याओं को उन्होंने अत्यन्त बारीकी के साथ पहचाना तो है किन्तु उन प्रश्नों को संघर्ष-स्थिति में वे नहीं ले जाते। परिणाम यह होता है कि समाधान विषयक संकेत भी कथा के संघर्ष के बीच से नहीं निकलता। वह ऊपर से थोपा हुआ जैसा लगता है और इसीलिए ऐसा नहीं होता कि बुद्धि उसे अनिवार्य मान कर ग्रहण कर ले।

सिद्धान्त-स्वातंत्र्य : 'सिद्धान्त स्वातंत्र्य' शीर्षक नाटक की रचना सेठ गोविन्द दास ने अपनी तीसरी जेल-यात्रा के समय, नागपुर जेल में सम्पन्न की। पुस्तकाकार-प्रकाशन के पूर्व 'हंस' के दो अंकों में यह नाटक छपा। तत्कालीन विदेशी शासन ने इस नाटक के प्रकाशन को इतना आपत्तिजनक समझा कि उसने 'हंस' से दंडस्वरूप ज़मानत तलब की।

सेठ जी ने इस छोटे नाटक में यह बताया है कि गाँधी जी के आन्दोलन की लहर ऊँची दीवारों को लाँघ कर राजाओं और सेठों के घर में भी अठखेलियां करने लगी थी। इस नाटक में लाला चतुर्भुज दास नामक एक धनाढ्य व्यक्ति आता है, जिसने अपने शरीर पर बड़ा कष्ट झेल कर अतुल सम्पत्ति खड़ी की है। उसका पुत्र त्रिभुवन बी० ए० तक पढ़ा हुआ है और नयी रोशनी से प्रभावित है। अंग-भंग से उसको बड़ा दुःख हुआ था। अरविन्द के सम्पर्क में आ कर वह आतंकवाद का समर्थक हो गया है और अंग्रेज़ों से बहुत घृणा करता है। उनकी तिजारत को चौपट करने के लिए त्रिभुवन विदेशी वस्त्र के बहिष्कार का आन्दोलन भी चलाता है। लेकिन समय बीतने पर त्रिभुवन की जवानी के इस जोश का अन्त हो गया और अब वह पूरा-का-पूरा अंग्रेज़-परस्त हो गया है। आज वह 'सर' की उपाधि भी पा गया है और युक्त-प्रान्त के गृहमंत्री के पद को सुशोभित कर रहा है। निकट भविष्य में वह किसी प्रान्त का गवर्नर भी होने ही वाला है। सर त्रिभुवन का इकलौता बेटा मनोहर घर से बाग़ी बन कर निकला हुआ है। मनोहर की माँग है कि उसके दादा और पिता अंग्रेज़ सरकार से प्राप्त उपाधियाँ लौटा दें, ज़मींदारी का हक़ छोड़ दें, ज़मीन उन किसानों को दे दें, जो उसकी सेवा कर फसल उगाते हैं। मनोहर गाँधी जी के राष्ट्रीय-आन्दोलन से प्रभावित है और अपने सारे परिवार को गाँधी जी के रास्ते पर ले जाना चाहता है। त्रिभुवन अपने व्यक्तिगत अनुभव से जानता है कि मनोहर की ये सारी बातें जवानी की बहक हैं और जैसे संसार का अनुभव होने पर उसका अपना जोश ठंडा पड़ गया था, वैसे ही मनोहर भी एक-न-एक दिन ऊँच-नीच समझ जायगा। लेकिन त्रिभुवन का ऐसा सोचना ग़लत सिद्ध

होता है। मनोहर पुलिस को गोली का शिकार हो जाता है और लाला जी उसकी मृत्यु से ऐसे द्रवित होते हैं कि वे निश्चय करते हैं कि वे अब वैसा ही करेंगे, जैसा करने के लिए मनोहर आग्रह करता था। पोते ने उसे पहली बार यह बता दिया है कि देश-प्रेम क्या होता है। मनोहर की मृत्यु से जिलाधीश विश्वेश्वरदयाल की भी आँखें खुल जाती हैं और वह अनुभव करता है कि 'अपने देशवासियों, न्याय-परायण देश-वासियों और फिर मनुष्यता की दृष्टि से निःशस्त्र मनुष्यों, स्त्रियों और बच्चों को जेलों में ठूँस कर, लाठियाँ मार कर और गोली का निशाना बना कर पन्द्रह सौ रुपया माहवार पाने की अपेक्षा पन्द्रह रुपये महीने पर गुज़र कर लेना कहीं अच्छा है।'[1] यह भारतीय सरकारी अधिकारी इस घटना से इतना मर्माहत होता है कि सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे देता है। लेकिन वहीं सर त्रिभुवन है, जो अपने पिता और इस जिलाधीश की तरह भावुकता के वशीभूत हो, कुछ करना ग़लत समझता है। अपने इकलौते बेटे की मौत का भी असर उसके हृदय पर नही पड़ता। वह बड़े भोंडे ढंग से कहता है कि सारे विषय पर सिद्धान्त-स्वातंत्र्य की दृष्टि से विचार करना होगा।

सेठ जी ने त्रिभुवन के आचरण की इस असंगति और अस्वाभाविकता के कारण का अनुसन्धान किया है और बताया है कि जिसके हृदय में घृणा और हिंसा होती है, वह पहले तो दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखता है और फिर बाद में अपनों की हिंसा कर वर्बाद होता है। त्रिभुवन, अंग्रेज़-द्रोही से ऐसा प्रतिक्रियावादी इसलिए हुआ कि उसे अंग्रेज़ों से घृणा थी। अंग्रेज़ों का गाँधी जी ने भी विरोध किया था। लेकिन वे अंग्रेज़ों से घृणा नहीं करते थे। उन्होंने केवल अंग्रेज़ों के अनाचार, अत्याचार का विरोध करने के उद्देश्य से उनके भ्रष्ट शासन के साथ सहयोग करने से इन्कार किया था। गाँधी जी ने बहिष्कार के बदले असहयोग का नारा दे कर सारे गुप्त संगठनों को ध्वस्त कर दिया। इस नाटक में सेठ जी ने त्रिभुवन और मनोहर के माध्यम से राष्ट्रीय आन्दोलन के दो अध्यायों का इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। त्रिभुवन अपनी जवानी के दिनों में आतंकवाद का समर्थक था। इस आतंकवाद ने त्रिभुवन को घृणा का ही पाठ पढ़ाया। उसके प्रतिकूल मनोहर अहिंसाव्रती है। वह घृणा नही जानता। इससे, जहाँ त्रिभुवन लाला चतुर्भुज दास को देश-प्रेम का पाठ पढ़ाने में अक्षम सिद्ध हुआ, वही मनोहर सक्षम।

इस नाटक में सेठ जी ने हिंसा, अहिंसा, आतंकवाद और सविनय अवज्ञा के द्वन्द्व को प्रस्तुत करके निष्कर्ष रूप यह बताया है कि जहाँ हिंसा पराजित होती है, वहीं अहिंसा विजयिनी, जहाँ आतंकवाद असफल होता है, वहाँ गाँधीवाद सफल। सेठ जी मानते हैं कि आतंकवादी आन्दोलन से राष्ट्र को स्वतंत्रता की लड़ाई मे सफलता नहीं पायी जा सकती। सफलता मिलेगी अहिंसामूलक असहयोग आन्दोलन से ही।

सेठ जी ने इस नाटक में एक और छोटी-सी समस्या की प्रस्तुति की है। उन्होंने देखा है कि अंग्रेजी शिक्षा, कॉलेज में पढ़ने वाले युवकों के मन में घृणा का संस्कार

१. सिद्धान्त-स्वातंत्र्य : सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ७७

उत्पन्न करती है। होस्टल में रहने वाले विद्यार्थी जब अपने घर वापस लौटते हैं तब घृणा का यह संस्कार उनको प्रेरित करता है कि वे अपने घर से और उसकी हर चीज़ से नफ़रत करें। सेठ जी ने ऐसे ही एक व्यक्ति से कहलाया है—'इतना गंदा मकान और सामान है जिसका ठिकाना नहीं। फिर सामान है ही कहाँ ! न कुर्सियाँ हैं न टेबलें, न शीशे हैं न लैम्प, न टब न कमोड।...जब बोर्डिंग हाउस में थे तभी अच्छा लगता था। यहाँ तो बीमार पड़ जाऊँगा। भूल हुई, नहीं तो दो-चार वर्ष जान-बूझ कर फ़ेल होता तो बोर्डिंग में रहने को और मिलता।'[1] पढ़े-लिखे लोगों के मन में इस तरह का मनोभाव परिताप का विषय तो है ही, एक समस्या भी है।

श्री रामचरण महेन्द्र जैसे आलोचकों ने 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' को सेठ जी का सामाजिक नाटक कहा है[2] किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह सेठ जी के 'प्रकाश' की ही कोटि का एक सामाजिक-राजनैतिक-समस्या-नाटक है।

सेवा-पथ : त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन के बाद सेठ गोविन्द दास ने सक्रिय राजनीति से कुछ दिनों के लिए अवकाश ग्रहण कर लिया था। अवकाश के इस समय को उन्होंने साहित्य-सेवा में लगाया और उन्हीं दिनों इस 'सेवा-पथ' शीर्षक नाटक की रचना हुई। 'माधुरी' में सन् १९३९ के दिसम्बर और सन् १९४० के जनवरी-फ़रवरी के तीन अंकों में इस नाटक का धारावाहिक रूप में प्रकाशन भी हुआ।

प्रान्तीय क्षेत्र में शासन के सन् १९३५ के नये सम्विधान के लागू होने के बाद कांग्रेस के आगे पद-ग्रहण का प्रश्न खड़ा हुआ था। सेठ गोविन्ददास पद-ग्रहण के पक्ष में नहीं थे। किन्तु, काँग्रेस के नेताओं ने पद-ग्रहण स्वीकार किया और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी शासन का समारम्भ हुआ। सेठ जी के मन में कांग्रेस के पद-ग्रहण विषयक निर्णय का औचित्य स्पष्ट नहीं हुआ। 'सेवा-पथ' नामक नाटक की रचना करते समय उनके सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि 'सेवा का कौन सा पथ प्रशस्त है ?'

'सेवा-पथ' नाटक में कॉलेज-जीवन के साथी और परस्पर-मित्र श्रीनिवास, शक्तिपाल और दीनानाथ, तीनों ही राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं। श्रीनिवास सम्पन्न परिवार का है पर उसे पढ़ लिख कर गुज़ारे के लिए कोई नौकरी नहीं करनी है। बी० ए० की परीक्षा तृतीय श्रेणी में पास करने के बाद वह अपना रोज़गार सँभाल रहा है। शक्तिपाल एल० एल० बी० की परीक्षा में सर्वप्रथम आया है। फिर विलायत जा कर अब वह बैरिस्टर हो कर लौटा है। तीसरा मित्र दीनानाथ एक ग़रीब आदमी है। वह ट्यूशन करके अपनी पढ़ाई का खर्च निकालता रहा है। आर्थिक दृष्टि से विपन्न होने पर भी उसका आत्म-गौरव उसे किसी श्रीमान् के आगे झुकने नहीं देता, उसको कृपाजीवी बनने नहीं देता। वह विपत्तियों से संघर्ष करने का आदी हो गया है।

---

१. सिद्धान्त-स्वातंत्र्य—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १३

२. सेठ गोविन्द दास—नाट्यकला तथा कृतियाँ—डॉ० रामचरण महेन्द्र : अनुक्रमणिका—पृष्ठ-ख।

राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो कर वह जेल की सज़ा भी काट आया है और तारीफ़ यह है कि इस पर भी एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान भी उसने प्राप्त किया है।

ये तीनों ही मित्र राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं। श्रीनिवास पूंजीपति है और इससे उद्योग-धन्धों का विकास करके वह देश को सम्पन्न बनाना चाहता है। शक्तिपाल यूरोप के नये वाद—मार्क्सवाद के झोंके में पड़ कर समाजवादी हो गया है और अपने देश में भी वह समाजवाद की स्थापना करना चाहता है। लेकिन अपने देश की परिस्थितियाँ समाजवाद की स्थापना के अनुकूल नहीं हैं। देश के कन्धे पर साम्राज्यवादी जुआ पड़ा हुआ है। लेकिन शक्तिपाल का विश्वास है कि निकट भविष्य में ही संसार का एक बहुत बड़ा भाग समाजवादी व्यवस्था को स्वीकार कर लेगा और तब भारत में भी समाजवाद की स्थापना हो कर रहेगी। प्रश्न है कि जब तक यह हो नहीं जाता तब तक क्या किया जाय। शक्तिपाल तात्कालिक समाधान के रूप में नये सम्विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय क्षेत्र में जो स्वशासन का यत्किंचित अधिकार प्राप्त हुआ है, उसके सहारे देश-सेवा करेगा। एक मानी में समाजवादी शक्तिपाल और पूँजीवादी श्रीनिवास में कोई विशेष अन्तर नहीं है। शक्तिपाल श्रीनिवास की तरह स्वार्थ-त्याग करने के लिए तैयार नहीं है। वह संसार में सबकी आय को समान बनाना तो चाहता है लेकिन अपनी आय को घटाना नहीं चाहता। सिद्ध है कि स्वार्थ उसे इस तरह भ्रष्ट किये हुए है कि वह समाजवादी आदर्श के अनुरूप जीवन-यापन करने से कतराता है। कौंसिल-प्रवेश तथा मंत्री-पद के द्वारा देश की सेवा करने का उसका निश्चय एक तरह से समाजवाद की संस्थापना के उद्देश्य के लिए बाधक ही है। किन्तु, शक्तिपाल को या तो इस तथ्य का ज्ञान नहीं है अथवा वह समाजवाद की स्थापना के प्रति पूर्ण निष्ठावान नहीं है। दीनानाथ का पक्ष है कि जब मनुष्य में स्वार्थ नहीं रहेगा तभी वह यह दावा कर सकेगा कि विधाता की सृष्टि में वही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। स्वार्थ यदि ज़िन्दा रहने भर के लिए हो तो उसे उदारतापूर्वक क्षम्य भी माना जा सकता है। लेकिन उसके आगे तो किसी तरह नहीं। दीनानाथ के अनुसार स्वार्थ की अपूर्ति अहंकार को जन्म देती है और यही अहंकार अत्याचार का कारण बनता है। हज़ारों-हज़ार को निर्धन बना कर एक धनवान बनना सर्वथा अनुचित है। दीनानाथ जानता है कि देश की सच्ची सेवा न तो श्रीनिवास जैसे पूँजीवादियों से सम्भव है और न वह शक्तिपाल जैसे समाजवादियों के वश का रोग है। शक्तिपाल बड़ी ऊँची-ऊँची बातें कहता है। वह ग़रीबी को मिटाने, राष्ट्रीय आय का समविभाजन करने और राष्ट्रीय सम्पत्ति का समाजीकरण करने का वादा करता है। पर्चे छपवा कर समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करता है और इस प्रकार जनता की भावना को अपने अनुकूल बना कर कौंसिल का चुनाव जीतता है। लेकिन सचाई यह है कि उसकी यह विजय उसके सिद्धान्तों की विजय नहीं है। वह तो श्रीनिवास के पैसों का खेल है। प्रश्न है, श्रीनिवास यह

खेल किसलिए खेलता है। उत्तर स्पष्ट है—पूँजीवादी श्रीनिवास को, जनता को बरगलाने के लिए, शक्तिपाल के नारों की अपेक्षा है। कौंसिलों में पूँजीवाद की जड़ जो लोग मज़बूत बना कर रख सकते हैं, उनकी सहायता में पूँजीपतियों का लगना सर्वथा स्वाभाविक है। शक्तिपाल व्यक्तिगत रूप से सचमुच ईमानदार आदमी है। उसमें सेवा की सच्ची निष्ठा भी है। लेकिन सेवा का सच्चा पथ उसे मालूम नहीं। दीनानाथ उसकी ईमानदारी का प्रशंसक है और मानता है कि सेवा-कार्य के लिए उसमें क्षमता भी है। लेकिन वह यह भी जानता कि शक्तिपाल के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का विकास कौंसिल और मंत्रीपरिषद् की बँधी-बँधाई सीमा में सम्भव नहीं है। अगले चुनाव में शक्तिपाल की हार होती है और स्पष्ट होता है कि गत चुनाव में उसकी विजय का निमित्त श्रीनिवास था, न की उसकी समाजवाद के प्रति निष्ठा और जनता का समाजवाद के प्रति झुकाव। दूसरे चुनाव में शक्तिपाल की हार से एक दूसरी बात भी प्रकट होती है। वह यह कि शक्तिपाल जैसे ईमानदार व्यक्ति दलगत राजनीति में सफल नहीं हो सकते। ऊँचे आदर्शों के नारे अथवा विशुद्ध सेवा का आदर्श दलगत राजनीति में सदा सहायक सिद्ध नहीं होते। नाटककार के सामने आने वाले ज़माने का जो अंदाज़ उभर कर आता है वह उत्साह नहीं बढ़ा पाता।

सेवा के सच्चे और वास्तविक पथ का पता इन तीनों मित्रों में केवल दीनानाथ को है, जिसने गाँधी जी के रचनात्मक कार्य-क्रम को निष्ठापूर्वक स्वीकार कर रखा है। दीनानाथ का विश्वास है कि यदि देश-सेवक स्वार्थी नहीं है तो वह बिना शासनाधिकार के ही सच्ची सेवा कर सकता है। शक्तिपाल कौंसिल में जा कर मंत्री-पद पर प्रतिष्ठित हुआ। फिर भी उससे देश की सच्ची सेवा नहीं बन पड़ी। इधर फटेहाल दीनानाथ अपनी निःस्वार्थ सेवा-वृत्ति के सहारे, प्रगति-पथ पर अबाध गति से बढ़ता चला जा रहा है। सेठ गोविन्ददास ने दीनानाथ के प्रमाण पर यह बताया है कि देश-सेवा के लिए मुहूर्त खोजने की जरूरत नहीं है और न सुविधाओं की अनुकूलता ही अनिवार्य है। मुख्य बात यह है कि सेवक अपने आदर्श के प्रति कितना निष्ठावान है और कितनी दूर तक वह अहिंसा-व्रती है।

इस नाटक में सेठ जी ने अवान्तर समस्या के रूप में विवाह-समस्या को भी उठाया है। शक्तिपाल देश के उन नवयुवकों में है, जिन्हें हिन्दू विवाह-संस्था के प्रति गहरी शिकायत है। शक्तिपाल को उसके पिता ने समझाया कि अपने देश में साढ़े सोलह सौ करोड़ औरतें हैं, जिनमें से किसी एक का भी चुनाव वह विवाह करने के लिए कर सकता है। लेकिन शक्तिपाल को यह खूब अच्छी तरह मालूम है कि यदि वह अपने पिता की मर्ज़ी पर चले तो उसे कुल दो में से एक का चुनाव करना होगा। और फिर उसके ही शब्दों में, 'हिन्दुस्तानी औरतों में वह 'ब्यूटी,' वह 'इन्टलेक्ट,' वह 'एजुकेशन,' वह 'एटीकेट' और वह 'रिफ़ाइनमेन्ट' कहाँ है, जो यूरोप की गौरांगिनी में सहज ही प्राप्त है?' इसी से, वह विवाह करता है विलायती मार्गरेट के साथ। लेकिन

यह मार्गरेट कुछ दिनों के बाद ही शक्तिपाल के प्रति विश्वासघात करके श्रीनिवास के साथ गुलछर्रे उड़ाने चल देती है। उसके पीछे जब श्रीनिवास की भी सम्पत्ति नष्ट हो जाती है तब वह उसे भी छोड़ कर भाग खड़ी होती है। सेठ जी ने मार्गरेट के प्रमाण पर यह बताया है कि हिन्दुस्तानी पुरुष की विलायती बीवी अनर्थ का ही कारण बनती है।

'सेवा-पथ' की रचना के समय तक देश में मज़दूर आन्दोलन खडा हो गया था। मज़दूर सभाओं का नेतृत्व जिन लोगों के हाथ में पड़ गया था, उनके विषय में सेठ जी आस्थावान नहीं थे। वे जानते थे कि मज़दूर नेता भी स्वार्थरत हैं और वे भी सौदेबाज़ी करने में किसी से कम कुशल नहीं हैं। इस नाटक में कथा आयी है कि जब समाजवादी शक्तिपाल ट्रेड यूनियन के मंत्री को चुनाव में सहायता करने के लिए कहता है तो वह उससे कोई मोटी रकम वसूल करने के लिए घात लगाता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि सेठ जी ने अपने इस नाटक में गाँधी जी द्वारा निर्धारित रचनात्मक कार्यक्रम को सेवा के प्रशस्त पथ के रूप में स्वीकार किया है। वे ऐसा मानते थे कि सन् १९३५ के [illegible] नियम के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकार बना कर देश की सच्ची सेवा नहीं की जा सकती थी। कांग्रेस ने उन दिनों देश की आज़ादी के लिए दो मोर्चे खड़े किये थे। कुछ लोग कौंसिल में जा कर मोर्चा सॅभाले हुए थे और दूसरे लोग संस्था की शक्ति के विस्तार के लिए रचनात्मक कार्यों में लगे हुए थे। सेठ गोविन्ददास दूसरे वर्ग में थे। उनका दीनानाथ इस नाटक में उनका ही प्रतीक बन कर उनके ही सेवा दर्शों का मूर्त्त रूप प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है, कि नाटककार ने समस्या का एक समाधान भी प्रस्तुत कर दिया है, जो स्वयं उनके अपने आदर्श के अनुरूप है। इस प्रकार उनकी समस्या तो यथार्थ ठहरती है किन्तु उसका समाधान आदर्शवादी ढंग का हो जाता है। समस्या-नाटक के लिए यह वांछनीय समझा जाता है कि उसमें समस्या का जो समाधान प्रस्तुत हो, वह ऊपर से थोपा हुआ न दीखे। इस दृष्टि से विचारने पर सेठ जी द्वारा प्रस्तुत समाधान के विषय में आपत्ति की जा सकती है।

बड़ा पापी कौन ? : सेठ गोविन्ददास ने अपने 'बड़ा पापी कौन ?' शीर्षक नाटक में त्रिलोकीनाथ और रमाकान्त नामक दो व्यक्तियों को प्रस्तुत कर इस बात का विचार किया है कि इन दोनों पापियों में किसका पलड़ा भारी पड़ता है। त्रिलोकीनाथ एक पुराने प्रतिष्ठित ज़मींदार कुल में उत्पन्न हुआ है। इन दिनों उसकी आर्थिक दशा गिरान पर है। अभी हाल में उसे अपनी एक मिल और ज़मींदारी के एक गाँव को बेचना पड़ा है। त्रिलोकीनाथ खुले तौर पर शराब पीता है और 'मलका' नामक एक वेश्या को अपने घर में रखे हुए है।

उसी नगर में यह रमाकान्त भी रहता है, जिसका घराना कोई प्रसिद्ध घराना नहीं है। पुराने प्रतिष्ठित रईसों में उसकी गिनती नहीं होती। लेकिन इन दिनों उसकी तूती बोलती है। त्रिलोकीनाथ की मिल और ज़मींदारी के उसके गाँव का खरीददार यह

रमाकान्त ही है।

एसेम्बली का चुनाव नज़दीक आ जाता है। रमाकान्त धारा-सभा का सदस्य बनने के लिए उत्सुक है। लेकिन उसे यह मालूम है कि त्रिलोकीनाथ के उम्मीदवार होने पर उसका जीतना असम्भव होगा। इसलिए वह अपने आदमियों से त्रिलोकीनाथ को कहलाता है कि अपने स्वास्थ्य की स्थिति को देखते हुए उसे चुनाव के दंगल में पड़ना नहीं चाहिए। त्रिलोकीनाथ में हज़ार ऐब हो सकते हैं लेकिन एक बड़ी बात यह है कि वह फ़रेब नहीं जानता, फ़रेब नहीं कर सकता। इसलिए वह यह न समझ सका कि रमाकान्त ने अपने स्वार्थ के लिए उसके स्वास्थ्य का बहाना बनाया है। वह चुनाव से विरत हो जाता है। फिर तो रमाकान्त की गोटी ही लाल हो जाती है। रमाकान्त जिस नवोदित पूँजीपति वर्ग का है, उसकी एक बड़ी दुर्विशेषता, उसकी असहिष्णुता है। धारा-सभा का चुनाव जीत कर भी रमाकान्त सन्तुष्ट नहीं होता। अब उसकी नज़र 'चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स' के उस सभापति पद की ओर है, जिस पर वर्षों से त्रिलोकीनाथ प्रतिष्ठित है। रमाकान्त बनवारी लाल की सहायता से त्रिलोकीनाथ को इस चुनाव से भी विरत करने के लिए वैसा ही जाल खड़ा करता है, जैसा उसने एसेम्बली चुनाव के समय किया था। लेकिन काठ की हाँड़ी बार-बार चूल्हे पर नहीं चढ़ती। रमाकान्त अकुलीन और असहिष्णु तो है ही, आवारा और आचरणहीन भी है। विजया जैसी न जाने कितनी औरतों को वह अब तक धोखा दे चुका है। एसेम्बली में मज़दूरों की दुर्दशा पर गर्मागर्म भाषण करता है और अपनी मिल के मज़दूरों के साथ अमानुषिक व्यवहार भी करता है। एक ओर किसानों के बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल खोलने की उदारता दिखाता है और दूसरी ओर उन्हीं बच्चों के पिताओं का, बेदर्दी के साथ शोषण करता है। इस प्रकार रमाकान्त का दोहरा व्यक्तित्व है, उसकी कथनी और करनी में कहीं सामंजस्य नहीं है।

त्रिलोकीनाथ के साथ उसका ईर्ष्या-भाव, त्रिलोकीनाथ की मृत्यु के बाद भी बना रहता है। सारे शहर में त्रिलोकीनाथ के मरने का शोक मनाया जाता है। लेकिन रमाकान्त रंगलाल जैसे अपने मित्रों के साथ बैठा हुआ यही सोचता है कि त्रिलोकीनाथ जैसे मदपायी, वेश्यागामी और दुराचारी के निधन पर इतना शोक करने की आखिर ज़रूरत ही क्या है?

इस नाटक के विषय में सम्मति देते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है— 'हम इस झगड़े में न पड़ेंगे कि (दोनों में) कौन बड़ा पापी है। पूँजीपतियों का जो अन्तरंग चित्र सेठ साहब ने इस नाटक में पेश किया है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। दोनों रईसों पर अधिक घृणा ही उत्पन्न होती है।'[1] हमें भय है कि श्री गुप्त ने इस नाटक की सम्वेदना को समझने में थोड़ी जल्दबाज़ी कर दी है। सेठ जी के लिए भी इस बात का निर्धारण करना कि व्यक्ति रूप में रमाकांत और त्रिलोकीनाथ में कौन

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ —डॉ० नगेन्द्र—पृ० १८४

अधिक पापी है बहुत महत्वपूर्ण बात नहीं है। इन दोनों पात्रों के माध्यम से नाटककार ने कुलीनता और अकुलीनता के द्वन्द्व को उपस्थित किया है। त्रिलोकीनाथ शराब पीता है, वेश्या को घर में बैठा कर रखता है लेकिन किसी के साथ फ़रेब नहीं करता। उसका जो कुछ है, बिल्कुल खुला हुआ है। जो 'मलका' औरों की नजर में वेश्या है, वह उसकी प्रणयिनी है—ऐसी निष्ठापूर्ण प्रेमिका कि त्रिलोकीनाथ की दैन्यावस्था में भी उससे सटी रहती है, कांचिनी की भाँति दरिद्र प्रेमी को छोड़ कर भागती नहीं। उसके विपरीत है 'रमाकान्त,' जिसका बाह्य तो बड़ा स्वच्छ और पवित्र दीखता है लेकिन सच्ची बात यह है कि वह नितान्त नारकीय जीव है। सेठ जी त्रिलोकीनाथ जैसे बिगड़े दिल रईसों के पक्षधर नहीं हैं। लेकिन वे पुराने जमींदारों की कुलीनता के बड़े प्रशंसक हैं। इन कुलीन जमींदारों के चिता-भस्म पर पूँजीपतियों का वंश-वृक्ष खड़ा हो रहा है। यह नवोदित वर्ग सेठ जी की दृष्टि में बड़ा असहिष्णु है। पूँजीपतियों का यह अकुलीन असहिष्णु वर्ग सम्पत्ति-संचय के बाद शक्ति-संचय भी करेगा और एक के बाद दूसरा अनर्थ करता जायेगा। सेठ जी इसी ख़तरे की ओर हमारा ध्यान खींच कर ले जाते हैं। श्री मन्मथनाथ गुप्त की तरह हम रमाकान्त और त्रिलोकीनाथ दोनों के प्रति समान रूप से घृणा नहीं कर पाते। यह इसलिए कि त्रिलोकीनाथ सब कुछ के बाद उदार था और उसके व्यक्तित्व के निजी और सार्वजनिक, दो अलग-अलग हिस्से नहीं थे। सेठ जी ने गाँधीवाद का जो संस्कार पाया था, उसके कारण रमाकान्त के दोहरे व्यक्तित्व का समर्थन वे नहीं कर सकते थे। इस प्रकार सेठ जी ने इस नाटक में भी पूँजीपतियों के बढ़ते हुए प्रभाव के ख़तरे की ओर इशारा किया है। इस नाटक की समस्या नाटकीय कथानक के भीतर से उभर कर खड़ी नहीं हो पाती। हम तो यही समझते हैं कि नाटककार के मन में जो एक हल्का-सा विचार आया, उसकी उन्होंने इस नाटक में प्रस्तुति कर दी। किसी विचार को समस्या रूप में उपस्थित करने के लिए जिस संघर्ष की अपेक्षा होती है, वह इस नाटक में आ नहीं पाया और इसी से इस नाटक को समस्या-नाटक की गरिमा प्राप्त नहीं हो पाती।

हिंसा या अहिंसा : सेठ गोविन्द दास के 'हिंसा या अहिंसा' शीर्षक नाटक का केन्द्र है—माधव मिल। इस मिल की स्थापना माधव दास ने प्यार-मुहब्बत के बल पर की थी और जब तक माधव दास मिल का कारबार देखता रहा, मिल में प्रेम का साम्राज्य बना रहा; कभी कोई दंगा-फ़साद न हुआ। लेकिन, अब वह बूढ़ा हो गया है और मिल की देख-भाल उसके इकलौते बेटे दुर्गादास के हाथ में है। यह दुर्गादास है तो माधवदास की पहली पत्नी की सन्तान लेकिन वह ढला है अपनी विमाता सौदामिनी के ढाँचे में। सौदामिनी ग़रीब घर से माधवदास के महल में आयी है। उसके पास कुलीनता का संस्कार नहीं है।

माधवदास सदा यह अनुभव करता रहा है कि मिल के निर्माण में यदि उसकी पूँजी का जोर लगा हुआ है तो मिल के मजदूरों की मेहनत का भी उसमें अंश है।

इसलिए, वह यह स्वीकार करता है कि पूंजी और श्रम के बीच मुनाफ़े का उचित अनुपात में विभाजन होना ही चाहिए। माधव दास को मालूम है कि 'बाँट-बाँट कर ही खाया जा सकता है ; किसी भूखे को सामने भूखा बिठा कर खुद पेट नहीं भरा जा सकता।'[1] उसे यह भी मालूम है कि 'एक ही रोज़गार का रुपया जब किसी एक फ़िरके के पास बहुत ज़्यादा और दूसरे के पास कम आने लगता है तब उपद्रव हुए बिना रह ही नहीं सकता।'[2] लेकिन, बूढ़े माधवदास की सौदामिनी और दुर्गादास के आगे कुछ चलती नहीं। दुर्गादास मजदूरों को घृणित जन्तु, धूलिकण समझता है, उनसे घृणा करता है। मज़दूर-संगठन के प्रति उसकी प्रतिक्रिया बड़ी तीखी है और अपनी विवशता में ही वह अपनी मिल में मज़दूरों को मज़दूर-सभा संगठित करने देता है। मज़दूर नेता हेमराज और त्रिलोचन पाल जब उसके सामने मज़दूरों के स्वत्व की माँग उपस्थित करते हैं तब वह बौखला उठता है। दुर्गादास की विमाता सौदामिनी की एक बहन है—अलकनन्दा। सौदामिनी उसका विवाह दुर्गादास से करना चाहती है। दुर्गादास को भी अलकनन्दा पसन्द है। अलकनन्दा की मजदूरों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है और मज़दूर भी उसकी इज़्ज़त करते हैं। अलकनन्दा मिल मालिक और मिल मज़दूर के इस झगड़े में मध्यस्थ बन कर आसन्न उपद्रव को टालना चाहती है। मजदूर उसे पंच मान लेते हैं। अलकनन्दा ने यह सोचा था कि दुर्गादास तो उसे पंच मान ही लेगा। सवाल केवल मज़दूरों का है। लेकिन दुर्गादास को यह भ्रम हो जाता है कि मजदूरों के नेता त्रिलोचन पाल और अलकनन्दा के बीच प्रेम-सम्बन्ध है। वह इस प्रतिक्रिया के कारण समझौते से मुकर जाता है। अलकनन्दा ने मज़दूरों को यह वचन दिया था कि यदि दुर्गादास उसे पंच नहीं मानेगा तो वह मज़दूरों की बस्ती में उनके साथ रहने चली आयेगी। दुर्गादास के मुकर जाने के बाद अलकनन्दा को अब अपना वचन पूरा करना होगा। मज़दूरों का प्रतिनिधि त्रिलोचन पाल मालिक का अन्तिम उत्तर सुनने के लिए उसके घर पहुँचता है, जहाँ अलकनन्दा भी उपस्थित है। अलकनन्दा और त्रिलोचन पाल को इस तरह एक जगह देख कर दुर्गादास आपे से बाहर हो जाता है। वह यह गवारा नहीं कर पाता कि त्रिलोचन उसकी मिल और उसकी प्रेयसी दोनों ही को उससे छीन ले। बस, वह त्रिलोचन को गोली मार देता है और अपनी ही बन्दूक की गोली खा कर ख़ुद भी मर जाता है। माधवदास भी पुत्र-शोक में मर जाता है। बच जाती है अलकनन्दा, जिसकी जाँघ पर दुर्गादास और त्रिलोचन की लाशें पड़ी हुई है। उधर सौदामिनी हतप्रभ हो, पागलों-सी इधर-उधर देखती-फिरती है।

इस प्रकार इस नाटक मे सेठ जी ने मिल मालिक और मजदूरों के संघर्ष की समस्या की प्रस्तुति की है। देश मे उद्योग-धन्धों के विकास के साथ मजदूर-सभाओं का भी ज़ोर बड़ा है। पूंजीपतियों और मज़दूरो के स्वार्थ परस्पर टकराने लगे हैं। नाटककार के सामने प्रश्न है कि पूंजी और श्रम के इस संघर्ष को कैसे रोका जाय,

---

१. २. हिंसा या अहिंसा—सेठ गोविन्द दास—पृ० २३

कैसे टाला जाय ? मार्क्स ने बताया है कि भिन्न स्वार्थों के बीच संघर्ष का होना अनिवार्य ही नहीं, स्वाभाविक भी है। सेठ जी मानते हैं कि मजदूरों और मिल मालिकों के संघर्ष का अन्तिम परिणाम होता है—विध्वंस। दुर्गादास हिंसा पर उतारू हो कर अपना सर्वनाश कर लेता है और जैसा कि नाटक के उपसंहार में बताया गया है, मिल भी टूट जाती है। इससे स्पष्ट है कि मजदूरों और मालिकों के संघर्ष की समस्या का समाधान हिंसा में नहीं हो सकता। मिल मालिक और मज़दूरों के संघर्ष का अनिवार्य परिणाम हिंसा और विध्वंस ही है—यह भी सेठ जी नहीं मानते। उन्होंने संकेत किया है कि यदि मज़दूरों और मालिकों के सम्बन्ध का मूलाधार प्रेम हो, अहिंसा हो तो संघर्ष के लिए गुंजायश ही न रहे। इस माधवदास की मिल का इतिहास ही उनके इस आशावाद को बल देता है। जब तक मिल का संरक्षक माधवदास रहा, इस मिल में कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ। यह इसलिए कि उसने सदा यह याद रखा कि मिल के बनाने में मजदूरों की मेहनत का भी उतना ही महत्व है, जितना स्वयं उसकी पूँजी का। इसलिए मुनाफ़े का कोई निश्चित भाग मजदूरों को भी मिलना ही चाहिए। उसकी इस न्याय-वृत्ति के कारण उसकी मिल में कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ। स्पष्ट है कि सेठ जी मिल के मुनाफ़े को मालिक और मज़दूरों के बीच बाँटने के आग्रही हैं। सेठ जी सुझाते हैं कि जब मालिक मज़दूरों के साथ मुनाफ़े की रकम बाँटने लगेगा तब दोनों के बीच संघर्ष के लिए गुंजायश ही नहीं रह जायगी। कहना नहीं होगा समस्या का यह समाधान गाँधीवादी आदर्शों के अनुरूप है।

ग़रीबी या अमीरी अथवा श्रम या उत्तराधिकार : सन् १९३७ में सेठ गोविन्द दास ने प्रवासी भारतीयों की दशा अपनी आँखों से देखने के उद्देश्य से अफ्रीका महादेश की यात्रा की और अत्यन्त दुख के साथ यह अनुभव किया कि गोरों के हाथों भारतीय मज़दूरों का अमानुषिक शोषण इसलिए सम्भव हो सका है कि गोरों ने भारतीयों के बीच ही धन-लोलुप लोगों का एक ऐसा निहित-स्वार्थ-दल खड़ा कर लिया है, जो उनके शोषण-यंत्र का अत्यन्त कारगर पुर्ज़ा हो गया है। सेठ जी के भावुक मन में यह प्रश्न खड़ा हुआ कि कोई भी हृदयवान आदमी कैसे इस धन को ग्रहण कर पाता है, जिस पर उसके अपने ही भाइयों के ख़ून का धब्बा पड़ा हुआ हो। स्वदेश लौटते समय जहाज़ पर ही उन्होंने इस नाटक का प्रारूप तैयार कर लिया। [illegible] रचना तब पूरी हुई जब सन् १९४० के व्यक्तिगत-सत्याग्रह के ज़माने में वे जबलपुर जेल पहुँचे। जेल के अधीक्षक मेजर एलेन ने सेठ जी का ध्यान लिओनॉर्ड मैरिक लिखित 'हाउस ऑफ लिंच' नामक एक पुस्तक की ओर आकृष्ट किया। इस नाटक के ऊपर उस पुस्तक का भ पर्याप्त प्रभाव है—ऐसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।

दक्षिण अफ्रीका के प्राकृतिक परिवेश में कृषि-कर्म के सहायक बैल-घोड़े जैसे पशु बहुत दिन जीवित नहीं रह पाते। इस नाटक में जिस समय की कथा कही गयी है

उस समय तक अफ्रीका में कृषि के औज़ारों और मशीनों का प्रयोग प्रचलित नहीं हुआ था। इससे जो काम पशुओं के किये होता है, उसको भारतीय मज़दूर ही पूरा किया करते थे।[१] नेटाल के किसी अंग्रेज़ के फ़ार्म पर [illegible] के लिए भारत से मज़दूरों का एक दल आया है। लक्ष्मीदास उन मज़दूरों का ठीकेदार है। यह लक्ष्मीदास बड़ी सख़्ती के साथ मज़दूरों से काम कराता है। उसके मेट मज़दूरों को दम मारने की फ़ुर्सत नहीं देते। मज़दूरिन माता को अपने नन्हें भूखे बच्चे को दूध पिलाने तक की छुट्टी नहीं मिलती।[२] इस सबके पुरस्कार-स्वरूप लक्ष्मीदास अंग्रेज़ों का कृपा-पात्र है और थोड़े ही दिनों में अपने देश-भाइयों का ख़ून पी कर वह लक्ष्मीपात्र भी हो गया है। करोड़ों की हैसियत बना कर वह नेटाल में बड़ी शान-शौकत से अपनी इकलौती और नाज़ों में पली बेटी अचला के संग रहता है। विद्याभूषण नामक एक सुशिक्षित युवक के साथ, जो लक्ष्मीदास जैसे ही किसी धनपति की छात्रवृत्ति के पैसों से साहित्य की उच्चतम शिक्षा-प्राप्त है, अचला का प्रेम हो जाता है। विद्याभूषण अचला को प्रेम करके भी यह याद रखता है कि वह निर्धन है और उसके जैसे निर्धन व्यक्ति का किसी करोड़पति की बेटी के साथ विवाह होना सम्भव नहीं है।[३] इसीलिए वह यथा-शक्ति अचला से कटा-कटा रहता है और अब अचला के मार्ग से हट जाने के उद्देश्य से स्वदेश लौटना चाहता है। अचला को स्वभावत: विद्याभूषण की दरिद्रता अपने मार्ग की बहुत बड़ी बाधा नहीं दीखती। वह उसके प्रेम में ऐसा खो जाती है कि उसको प्राप्त करने के लिए वह कुछ भी कर सकती है। लक्ष्मीदास की बड़ी लालसा है कि उसकी बेटी का विवाह किसी राजा-महाराजा अथवा किसी करोड़पति श्रीमान् के घर हो। लेकिन उसे यह मालूम है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो भिखारी बन कर आता है, वह सर्वस्व का अधिकारी हो जाता है। अपनी प्यारी बेटी की सन्तुष्टि के लिए वह निर्धन विद्याभूषण को ही अपना जामाता बनाने के लिए तैयार हो जाता है।[४] लेकिन विद्याभूषण दरिद्र होने पर भी पाप की कमाई का उत्तराधिकार स्वीकार करना अनुचित समझता है। वह अचला से कहता है—जो सम्पति तुम्हारी जीविका, तुम्हारे सुखों का कारण है और जिसका उत्तराधिकार तुम्हे मिलने वाला है, उस सम्पत्ति का उपार्जन किस तरह हुआ है, यह मैं जानता हूँ। उसे जानते हुए उस सम्पत्ति से जीविका चलाने वाली, उससे सुख भोगने वाली, उसका उत्तराधिकार पाने वाली तुमको अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय होने पर भी मैं पत्नी नहीं बना सकता।[५] रूस में 'निहलिस्ट आन्दोलन' नामक एक आन्दोलन खड़ा हुआ था। उसके सदस्यों ने अनुचित उपायों से उपार्जित सम्पत्ति को ग्रहण करने से इन्कार किया था। ऐसा मालूम होता है कि सेठ जी के मानस पर उस आन्दोलन की छाया थी और वही छाया विद्याभूषण के उस कथन का प्रेरक है।

अचला विद्याभूषण की भावना को समझती है लेकिन वह उसके प्रेम में पागल

---

१. २. ३. ४. ५. **ग़रीबी या अमीरी—(उपक्रम)—सेठ गोविन्द दास—**

भी है। इससे वह बीच का एक रास्ता निकालती है और विद्याभूषण को वचन देती है कि पिता की मृत्यु के बाद उनकी सारी सम्पत्ति को वह (विद्याभूषण) जिस कार्य के लिए कहेगा, उसके लिए उत्सर्ग कर देगी।[1] लेकिन विद्याभूषण इस समझौते को भी स्वीकार नहीं कर पाता। अचला की कठिनाई है कि वह अपने उस पिता से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर पाती, जिसका अचला के सिवा कोई नहीं है और जिसने अचला को कभी माँ के अभाव का अनुभव नहीं होने दिया। विद्याभूषण की ज़िद देख कर लक्ष्मीदास निराश हो जाता है। उसकी निराशा का कारण उसके ही शब्दों में यह है कि विद्याभूषण निर्धन होने के साथ ही निर्बुद्धि भी है। लेकिन अंत में समझौते की एक राह निकल आती है। विद्याभूषण निश्चय करता है कि वह अपने श्वसुर के धन को हाथ नहीं लगायेगा। श्रम करके अपने गुज़ारे का बन्दोबस्त कर लेगा। अचला भी उसके साथ पूरा सहयोग करेगी। विद्याभूषण लिख कर कमायेगा और अचला चर्खा कात कर। और सचमुच धनकुबेर लक्ष्मीदास की बेटी भारत पहुँच कर बम्बई के ताजमहल होटल में टिकने नहीं जाती, एक साधारण से फ़्लैट में विद्याभूषण की गृहस्थी बसाती है। विपन्नता और जीवन की कठोर वास्तविकता से अचला का मन कभी-कभी टूटता है। लगता है विद्याभूषण के व्यर्थ के सिद्धान्तों ने उसकी लुटिया ही डुबा दी। लेकिन फिर भी वह पति के प्यार के बल पर सब कुछ झेल लेती है। विद्याभूषण को भी अचला के त्याग से बड़ी प्रेरणा मिलती है। उसके लेखों में गज़ब का दम रहता है। इस बीच लक्ष्मीदास आ कर बेटी और दामाद को अपने प्रौढ़ अनुभव के बल पर समझा जाता है कि जवानी के इस जोश के समाप्त हो जाने पर उन्हें मालूम होगा कि उन्होंने कितनी बड़ी भूल की।

अचला को इस बीच एक पुत्र उत्पन्न होता है, जो जन्मजात रोगी है। उसकी दवा-दारू के लिए माँ-बाप के पास पैसे नहीं हैं। इसलिए उसे ख़ैराती अस्पताल में भर्ती कराना पड़ता है। इस ख़ैराती अस्पताल में भी करोड़पति लक्ष्मीदास के नाती की ख़ैर नहीं। उसकी निर्धन माँ अस्पताल के कार्यकर्त्ताओं को कहाँ से ला कर इनाम दे? और जब इनाम नहीं मिलता तब बीमार की ख़बर कौन ले? बेटे की तकलीफ़ को देख कर अचला का मातृत्व हाहाकार कर उठता है। अब तक उसने अपने शरीर पर इतना झेला और कभी किसी के आगे कोई शिकायत नहीं की। लेकिन पुत्र का कष्ट वह सह नहीं पाती। अब जा कर उसे अपनी गृहस्थी का यह स्वर्ग कोटि नरक सम दीखता है। विद्याभूषण एक बड़े मानसिक तनाव की स्थिति में पड़ जाता है। वह पिता के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में असमर्थ है और फिर यह शक्ति भी उसमें नहीं है कि वह अपने बेटे को अभावों के बीच दम तोड़ते देखे। जीवन की इस कठोर वास्तविकता के आगे उसका दम्भ उसे लक्ष्मीदास के आगे घुटने टेकने भी तो नहीं देता। इससे वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में पड़ जाता है। वह पैसा उपार्जित करने के

१. ग़रीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ २९

लिए लेख लिखने बैठता है किन्तु लिख नहीं पाता। अचला की कटूक्तियों ने उसकी शान्ति की दुनिया में ही आग लगा दी है। वह देख रहा कि औरत की ज़बान खुल कर कैसे तलवार बन जाती है। अंत में वह चालबाज़ी पर उतर आता है। पत्नी को वह इजाज़त दे देता है कि बच्चे की बीमारी की खबर भेज कर अपने बाप के यहाँ से रुपये मँगा ले।[1] इधर अपने दम्भ को वह यह कह कर फुसलाता है कि वह लक्ष्मीदास से ये रुपये कर्ज़ के तौर पर ले रहा है। लक्ष्मीदास के रुपयों ने अचला के जीवन-क्रम को ही बदल दिया। अब वह भुवनेश्वर में एक बँगला ले कर बेटे की दवा कराती है। पिता से जितना माँगती है, उसका चौगुना मिलता है। कभी-कभी वह अपने पति और पिता में तुलना भी करती है और उसे स्वीकार करना पड़ता है कि एक ओर उसके पिता हैं, जिनको देने में ही सुख का अनुभव होता है और दूसरी ओर उसका पति है, जिससे उसने जब कभी कुछ माँगा तो यही लगा कि जैसे उससे उसका कलेजा काट कर वह माँग रही हो। इसी भाव-स्थिति में वह कह जाती है—'पिता जी इतने सुख, इतने उत्साह से इसलिए दे सकते हैं कि उन्होंने लिया है! लेने और देने की क्रूरता शायद भूषण के देने की नीचता से कहीं अच्छी है।'[2] ऐसी परिस्थिति में पति-पत्नी का एक साथ रहना असम्भव हो जाता है और अचला अपने बेटे को ले कर अपने पिता के पास अफ़्रीका चली जाती है। वह निश्चय करती है कि अपने बेटे का लालन-पालन वह अपने ही आदर्शों के अनुसार करेगी न कि विद्याभूषण के। तीन साल तक पति से विमुक्त हो कर वह रह तो लेती है लेकिन सदा यही अनुभव करती है कि पति के बिना सुख की कौन कहे एक क्षण का विश्राम पाना भी उसके लिए असम्भव है।[3] पहले उसने सोचा था कि विद्याभूषण उससे विमुक्त हो कर रह न सकेगा और अफ़्रीका पहुँच जायगा। लेकिन अपने पति को पहचानने में उससे बड़ी भूल हो गयी। अस्तु, वह अमीरी का परित्याग करके ग़रीबी को एक बार फिर से गले लगाने का निश्चय करती है। अब वह तप करके विद्याभूषण के योग्य बनना चाहती है। अब वह यह भी सोचती है कि उसके बेटे का पालन-पोषण उसके पिता की राह पर होना चाहिए अन्यथा बड़ा हो कर वह अपनी माँ को क्षमा न कर सकेगा।

अचला भारत वापस आ कर मध्य प्रान्त के एक देहात में रहने लगती है और कुल अठारह महीने कुशल गृहिणी की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लोकप्रिय बन जाती है। अब उसी अचला के घर, जिसकी अँगुलियाँ रसोई बनाने में कभी झुलस गयी थीं, पास-पड़ोस से लोग आ कर दामाद को खिलाने के लिए पापड़ माँग कर ले जाते हैं। अब वह गर्व के साथ अनुभव करती है कि अपने हाथ की थोड़ी-सी कमाई पर निर्वाह करने में एक विरल आनन्द है। अपनी अमीरी की याद कर उसके साथ अपने वर्तमान की तुलना करती हुई वह कहती है—'कहाँ वह अमीरी....अस्वाभाविकता से भरी हुई, क्रूरता से पूर्ण, दूसरों पर अवलम्बित और कहाँ....कहाँ यह ग़रीबी, स्वाभाविक, दयामय और

---

१. २. ३. **ग़रीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ८४, ८७, ९७**

स्वावलम्बी, कहाँ....कहाँ वह उत्तराधिकार का आलसी....थोथा निर्वाह, और कहाँ.... कहाँ यह श्रममय, कर्मण्य....अर्थ से भरी हुई जीविका....।"[1]

इधर विद्याभूषण अचला से सर्वथा अलग हो कर रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि अचला स्वदेश लौट आयी है। वह लिखने के काम में लगा हुआ तो है लेकिन उसके लेखों में वह पुराना जोश नहीं आ पाता। जो कुछ वह लिख पाता है, उसे प्रकाशक बजाय छापने के, वापस भेज देता है। विद्याभूषण को अनुभव होता है कि चूंकि उसके पास उसकी प्रेरणा नहीं है, उसके लेखों में शक्ति नहीं आ पाती। अब वह प्रेरणा के लिए कर्ज़ ले-ले कर शराब पीता है। लेकिन बात कुछ बनती नहीं।

लक्ष्मीदास की अफ्रीका में मृत्यु हो जाती है और अचला को अपने पिता के भारत-स्थित कार्यालय से इसकी सूचना मिलती है कि पिता ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति उसके नाम वसीयत कर दी है। अचला अपना कर्त्तव्य याद कर उस सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्सर्ग उन हुतात्माओं के कुटुम्बियों के हित कर देती है, जिन्होंने अफ्रीका जा कर वहाँ की जमीन को अपने खून से सींच कर सरसब्ज़ बनाया है। वह विद्याभूषण को उस ट्रस्ट का संरक्षक नियुक्त करती है। उसके इस दुर्लभ त्याग का वृत्तान्त देश के समाचार-पत्रों में मोटे-मोटे अक्षरों में छपता है। विद्याभूषण यह सब देख हतप्रभ हो जाता है,[2] खीझता है कि अचला ने यह सर्वस्व-विसर्जन क्यों किया। समाचार-पत्रों से अचला का पता प्राप्त कर वह उसके पास पहुँचता है और उससे कहता है कि उसने सर्वस्व दान कर बहुत बड़ी भूल की है। इतने दिनों कष्ट भोग कर विद्याभूषण ने अब यह अनुभव कर लिया कि उसके सिद्धान्तों का आदर्श सर्वथा भ्रामक था। विद्याभूषण अचला से कहता है कि वह उस ट्रस्ट डीड को किसी तरह ग़ैर कानूनी घोषित करा ले।[3] निरन्तर शराब पीने और अभावों में रहने के कारण विद्याभूषण की काया जर्जर हो गयी है। इससे वह अचला के सामने ही गिर कर मर जाता है।

अचला जहाँ अपने प्रेमी के प्यार के लिए अमारत पर खुशी-खुशी लात मारती है, अपने शरीर के ऊपर नाना प्रकार के कष्ट झेलती है, पति से विलग रह कर भी अपने बेटे के व्यक्तित्व का निर्माण अपने पति के ही आदर्शों के अनुरूप करती है और अंत में अपने पति के आदर्शों की ही प्रेरणा से अपने सर्वस्व का त्याग कर देती है, वही दूसरी ओर विद्याभूषण है, जो चालबाज़ी पर उतरता है, कठोर वास्तविकता के साथ होने वाले संघर्ष की तीव्र स्थिति में शराब पी कर जीवन की कटुता को भुलाने की विफल चेष्टा करता है और अन्त में अपने ही जीवनादर्श का तिरस्कार भी करता है। इस प्रकार विद्याभूषण जहाँ हारता है, वहीं अचला जीत जाती है। व्यक्ति रूप में विद्याभूषण भले ही मर जाता है किन्तु अचला के आदर्श के रूप में वह फिर भी जीवित रहता है। अचला भोग के क्रोड़ में ही भोग की व्यर्थता का अनुभव करती है। विद्याभूषण सारी ज़िन्दगी अभाव की स्थिति में रहने से असन्तुष्ट का असन्तुष्ट ही रह पाता है।

---

१. २. ३. ग़रीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १२१, १२६, १३०

इससे वह आयी हुई लक्ष्मी का तिरस्कार करने से कतराता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सेठ जी ने ग़रीबी और अमीरी अथवा श्रम और उत्तराधिकार के प्रश्न को ले कर इस नाटक की समस्या का आल-जाल खड़ा किया है और अन्त में यह निर्धारित किया है कि श्रम से उपार्जित सम्पत्ति से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। श्रम का यह मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण है। सेठ जी ने अपने अनुभव से भी यह जाना है कि ज़िन्दगी में ऐसे हज़ार अवसर आते हैं, जब आदमी के पैर डगमगा उठते हैं। लेकिन उसे हिम्मत के साथ आगे बढ़ना ही चाहिए। उत्तराधिकार से जिस सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, उससे मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का सच्चा मार्ग कभी प्रशस्त नहीं हो सकता।

नाटक की कथा बताती है कि विद्याभूषण का बेटा सरस्वती चन्द्र बड़ा बन कर कुशल चित्रकार तथा साहित्यकार बना और उसने अपने पिता की अधूरी नाट्य-कृति को पूरा किया। कथा के अंत में यह सब बता कर नाटककार ने यह आस्था फिर से जगायी है कि इस संसार में साहित्यकार की जीविका ले कर जिया जा सकता है। उन्होंने विद्याभूषण के बेटे को साहित्यकार के रूप में प्रस्तुत न किया होता तो यह सिद्ध होता कि इस देश में विद्याभूषण जैसे किसी साहित्यकार का, अपने आदर्शों पर कायम रह कर ज़िन्दा रहना सम्भव नहीं है।

इस नाटक में मुख्य समस्या के साथ ही कतिपय अन्य समस्याओं को भी उठाया गया है। विद्याभूषण प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार है। उसने टेकनिक की दृष्टि से बर्नार्ड शॉ, चेखव और मैतरलिंक जैसे विश्व-विख्यात प्रतिभाशाली नाटककारों की समकक्षता प्राप्त की है। लेकिन हमारा यह देश उसकी प्रतिभा का सम्मान नहीं कर पाया। उसके लिखे नाटकों की पांडुलिपियाँ नाटक-कम्पनी के मालिकों के यहाँ से वापस आयीं। उन्होने कहा कि अपने देश में विद्याभूषण के नाटक मंच पर उतारे नहीं जा सकते। यह इसलिए कि दर्शक पूरे पाँच घंटों का तमाशा देखना चाहता है, उसे बदलती हुई सीनरी चाहिए और नये-नये भड़कीले पहनावे चाहिएँ। विद्याभूषण के नाटकों के गीत बड़े गम्भीर होते हैं। उनके पात्रों में कोई बुरी औरत नहीं मिलती और हँसाने वाला कोई विदूषक भी नहीं होता।[1] इस विवरण को प्रस्तुत कर नाटककार हमारी दर्शक-मण्डली की रुचि के भोंडेपन की ओर संकेत करता है और यह भी बता जाता है कि दर्शकों की इस रुचि-भ्रष्टता को देखते हुए, गम्भीर और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत नाटकों की रचना कितना कठिन व्यापार है।

खैराती अस्पतालों में भी ग़रीब की खैर नहीं है, यह बता कर सेठ जी ने देश की स्वास्थ्य-संस्थाओं के व्यवस्थापकों की भ्रष्टता को उभार कर रख दिया है। एक चतुर कलाकार की तरह वे इस समस्या को उठा कर हमें सोचने के लिए भरपूर प्रेरित कर जाते हैं।

---

१. ग़रीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १०६

'ग़रीबी या अमीरी' की मुख्य समस्या का जो समाधान नाटककार ने प्रस्तुत किया है, वह उनके अन्य नाटकों की तरह गाँधीवादी आदर्शों से अनुप्राणित है। महात्मा जी ने गाँव की ओर लौट चलने का आवाहन किया था। सेठ जी ने शायद इसी वजह से अचला को अफ्रीका से पुत्र-सहित वापस आ कर मध्य प्रान्त के एक देहात में ले जा कर पहुँचाया है। शहर में रह कर विद्याभूषण अकेली जान के लिए, इतना पढ़-लिख कर भी गुज़ारे का प्रबन्ध नहीं कर पाया। दिन-रात अभाव में पड़ा रहा। उसके विपरीत अचला देहात में रह कर आप भी जीती है और अपने बेटे का भरण-पोषण भी मज़े से कर लेती है। गाँधी जी इस बात के आग्रही थे कि हमें शारीरिक-श्रम से कतराना नहीं चाहिए। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी मेहनत के बल पर करनी चाहिए। अचला श्रम करती है और सुख-सन्तोष के साथ जीती है।

विद्याभूषण और अचला की इस कहानी से यह भी व्यंजित होता है कि हमारे देश में शरीर से श्रम करने वालों को भूखों मरना नहीं पड़ेगा। श्रम के संस्कार का धनी, अचला का बेटा सरस्वती चन्द्र साहित्यकार हो कर विद्याभूषण की तरह अभावों से टूट कर भूखों मर जायगा—ऐसा नहीं होगा। गाँधी जी यह चाहते थे कि बुद्धिजीवी भी शारीरिक-श्रम करें। लगता है, सेठ जी ने गाँधी जी के इस उपदेश को ध्यान में रख कर ही सरस्वती चन्द्र का चरित्र गढ़ा है।

सन्तोष कहाँ : सेठ गोविन्द दास के 'सन्तोष कहाँ ?' शीर्षक नाटक की रचना सन् १६४६ में सम्पन्न हुई। इस नाटक मे मनसाराम नामक एक ऐसे व्यक्ति की कथा कही गयी है, जो सन्तोष की खोज में यहाँ से वहाँ भटक रहा है। बचपन से ही उसे पुस्तकों के पढ़ने का व्यसन है। विद्यार्थी जीवन में परीक्षा की पाठ्य-पुस्तकों से अधिक ध्यान बाहरी किताबों में लगाने के कारण[1] वह अपनी प्रतिभा के अनुरूप परीक्षा-फल की प्राप्ति नहीं कर पाता। एम० ए० की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर, जब उसे जीविका-अर्जन के लिए कठिनाई का सामना करना पड़ा तब उसने एक स्कूल में मास्टरी कर ली। मनसाराम के प्रति उसकी पत्नी रमा की विरल निष्ठा है। उसके बच्चे मनोहर को पीने के लिए दूध नहीं मिलता लेकिन इस पर भी रमा को न कोई खीझ है और न शिकायत।

मनसाराम का नीतिव्रत नामक एक सहपाठी मित्र है, जो मनसाराम से कम प्रतिभाशाली तो था लेकिन आज वह कालेज का प्राध्यापक है। नीतिव्रत समय-समय पर मनसाराम की आर्थिक सहायता करता रहता है। और उसे समझाता है कि पहले वह अकेला था फिर दो हुआ। अब तो उसके एक बच्चा भी है और वह भी अबोध।[2] मनसाराम भी समझ जाता है कि नीतिव्रत का कहना बिल्कुल ठीक है। उसका बच्चा मित्रों के लाये हुए दूध के डिब्बों पर पले और वह घर में निठल्ला बैठा हुआ पुस्तकें पढ़ता रहे यह स्वयं उसके पौरुष के प्रति निर्मम व्यंग्य है।[3] यह सोच कर मनसाराम

१. २. ३. सन्तोष कहाँ—सेठ गोविन्द दास—पृष्ट ५, ६, १०,

पुस्तकों को उठा कर फेंक देता है और उसके जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ होता है।

नाटक के दूसरे अंक में मनसाराम एक धनाढ्य व्यक्ति हो जाता है। न जाने कहाँ से उसके घर रुपये बरसने लगते हैं। सच ही लक्ष्मी उसके घर छप्पर फाड़ कर आ रही है। मनसाराम दोनों हाथ लुटाता भी है और इससे सभी दिशाओं में उसकी धूम मच जाती है। सरकार से उसे 'सर' की उपाधि भी मिलती है।[१] मनसाराम को धन की इस दुनिया में भी सन्तोष नहीं मिलता।[२] इससे वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान कर देता है और कांग्रेस का सेवक बन जाता है।[३] मनसाराम अब आश्रम में रहता है लेकिन यह देख कर हैरान होता है कि आश्रम में ऐसे लोग ही अधिक रहते हैं, जिनको आश्रम-जीवन की पवित्रता तथा आध्यात्मिकता के प्रति कोई निष्ठा नहीं है।[४] रमा अपने पति की इच्छा को परमात्मा की इच्छा समझ कर सदा उसके पीछे-पीछे चलती रही है। कभी उसे असन्तोष भी नहीं हुआ। लेकिन, अब वह भी असन्तुष्ट होती है और मनसाराम से आ कर कहती है कि बेटा आश्रम में सच्ची शिक्षा का लाभ नहीं उठा पा रहा है। बेटे के विषय में वह किसी प्रकार का खतरा मोल लेना नहीं चाहती।[५] वह उसे ले कर मायके चली जाती है ताकि उसको उचित शिक्षा प्राप्त हो सके। मनसाराम भी आश्रम जीवन के खोखलेपन को पहचान गया है और जिस सन्तोष की खोज में वह इस आश्रम में आया था, लगता है, वह आज भी उससे उतना ही दूर है।

इससे आगे बढ़ कर मनसाराम धारा-सभा की सदस्यता के लिए चुनाव लड़ता है और बाद में अपने प्रान्त की कांग्रेसी सरकार का मिनिस्टर भी हो जाता है। मंत्री-पद पर प्रतिष्ठित रहते समय उसे जीवन के कुछ तीखे अनुभव प्राप्त होते हैं। कांग्रेस ने सन् १९३५ के शासन-सुधार कानून के चालू होने पर धारा-सभाओं के चुनाव-युद्ध में भाग लिया था। कांग्रेस जानती थी कि देश की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की दृष्टि से उक्त शासन-सुधार में कोई आकर्षक तत्व नहीं था। फिर भी कांग्रेस ने उसमें भाग लिया। यह इसलिए कि वह उस सुधार-नियम के खोखलेपन को दुनिया के आगे प्रत्यक्ष करना चाहती थी। अल्पकालीन ज़िच के बाद कांग्रेस ने उन प्रान्तों में सरकार भी बनायी, जिनकी धारा-सभाओं में उसे अजेय बहुमत प्राप्त हुआ था।

मानसराम मिनिस्टर बन कर यह अनुभव करता है कि कांग्रेस के पद-ग्रहण-सम्बन्धी प्रस्ताव ने उसके जैसे लोगों को विडम्बना की एक विचित्र स्थिति में डाल दिया है। कांग्रेस ने धारा-सभाओं में जिस सुधार-नियम को तोड़ने के उद्देश्य से प्रवेश किया था, उसी का अंग बन कर, वह उसको चलाने के लिए विवश हो गयी थी। कांग्रेस जिस राम-राज्य की स्थापना के लिए प्रतिश्रुत थी, उसकी स्थापना अब भी दूर का सपना ही

---

१. २. ३. ४. ५. सन्तोष कहाँ—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १९, २९, ३६ ४५, ५३

रही ।[1] इतना ही हुआ कि शासन के जिन पदों पर अंग्रेज़ों के पिट्ठू ज़मीदार और मुनाफ़ाखोर पूँजीपति बैठते, उन पर देश के तपे-तपाये नेता प्रतिष्ठित हुए । जनता चाहती थी कि मंत्री सुराज्य विषयक गाँधी जी के सपने को साकार करें और इधर मिनिस्टरों की अपनी सीमाएँ थीं । कराची कांग्रेस अधिवेशन ने चुनाव का जो घोषणा-पत्र तैयार किया था, उसे पूरा करने का उत्साह भी शासन के पदों पर बैठने वालों के हृदय से धीरे-धीरे जाता रहा । जनता के कल्याण के लिए जिन क्रान्तिकारी योजनाओं की परिकल्पना की गयी थी, उनको कार्यान्वित करने का कोई उत्साह कांग्रेसियों में शासक बनने के बाद नहीं रह गया । प्रजा के कल्याण के लिए कुछ करने के लिए यदि आगे बढ़ते तो धन के साधन की अपेक्षा होती थी और फलस्वरूप नये कर लगाने की विवशता आ जाती । नेताओं को लोकप्रिय भी बने ही रहना था । इसलिए नये कर लगाते समय वे हिचकते थे । शासन के बड़े-बड़े खर्चों को घटाने की हिम्मत भी उनमें नहीं थी ।[2] ऐसी स्थिति में सुधार का रथ आगे बढ़ता तो कैसे ? मंत्रियों के कांग्रेसी साथियों को अपनी-अपनी पड़ी हुई थी । छुटभैये बहती गंगा में हाथ धो लेने के लिए उतारू हो कर बैठे थे । कोई अपने यहाँ के ज़िला बोर्ड का अध्यक्ष होना चाहता था तो कोई नगरपालिका के अध्यक्ष-पद की ओर सतृष्ण दृष्टि से देख रहा था । विधायकों में जो वकील थे, वे सरकारी वकील बनने के लिए पैंतरेबाज़ी कर रहे थे ।[3] नेतृत्व का अधिकार बनाये रखने के लिए, अपनी कुर्सी को अपने कब्ज़े में रखने के लिए बड़े-बड़े नेताओं तक को दलबन्दी के पंक में फँसना पड़ता था । जो दलबन्दी नहीं कर सकता, साथियों को दे-ले कर कब्ज़े में नहीं रख सकता, उसे अपमानित हो कर अपने पद से हटना पड़ता ।

कांग्रेस में ही समाजवादी वामपंथी थे, जो अपनी ही सरकार से बाग़ी बन कर किसानों और मज़दूरों के बीच आन्दोलन चला रहे थे । वे एक तरह से निःसंकोच भाव से कानून की अवज्ञा करते थे ।[4] मंत्रियों की मुसीबत यह थी कि यदि कानून को अपनी राह चलने दिया जाय तो अपने साथी ही भड़क उठें । राष्ट्रीय चेतना फैलाने वाले पत्रकार ऐसे स्वार्थ-संकुल हो गये थे कि थोड़ी-सी स्वार्थ-हानि से ही अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठते थे । वे बौखला कर सरकार के विरुद्ध अपने पत्र द्वारा उत्तेजना फैलाने लगते थे ।[5] मिनिस्टर की लाचारी यह थी कि वह बेचारा हो गया था, अपना मुँह भी नहीं खोल सकता था । मनसाराम की पत्नी यह देख कर खीझती है कि उसके यहाँ बिनबुलाये मेहमानों की भीड़ जमा रहती है । वह कहती है—'इन बेबुलाये मेहमानों के मारे नाकों दम हो गयी । पच्चीस-पचास लड़कियाँ होतीं और बुरे-से-बुरे दामाद मिलते तो भी शायद इतनी आफ़त न होती । इन एम० एल० ए० दामादों के मारे....।'[6]

---

१. २. ३. ४. ५. ६. सन्तोष कहाँ—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ५९, ६६, ६४, ६८, ६६, ७२

कांग्रेस के शासन की असफलता का एक कारण यह भी था कि असहयोग आन्दोलन के ज़माने से कांग्रेस यह समझ बैठी थी कि सरकारी नौकरों का भरोसा नहीं किया जा सकता। सच पूछिए तो कांग्रेस की लड़ाई ब्रिटिश नौकरशाही से ही अधिक थी। मंत्री अपने इस चिरपोषित संस्कार के कारण सरकारी नौकरों का विश्वास न कर सके। उधर सरकारी नौकर यही जानते थे कि कांग्रेसी मंत्री ईमानदारी के साथ शासन चलाने के उद्देश्य से मंत्री नहीं बने हैं, वे तो उस शासन-तंत्र ही को छिन्न-भिन्न करने का इरादा ले कर आये हैं। सन्देह और अविश्वास के इस वातावरण में सरकारी नौकरों की सेवा-सहायता का लाभ कांग्रेसी मिनिस्टर न उठा सके और सरकारी नौकरों ने असहयोगियों के साथ सहयोग करने की कोई विशेष आवश्यकता भी न समझी।

संक्षेप में, नाटककार के शब्दों में ही, सब मिला कर षड्यंत्र के बीज बो-बो कर शापों की फसल कट रही थी, दलबन्दी की पूँजी लग-लग कर अधःपतन का मुनाफ़ा हो रहा था।[1] मनसाराम कुल दो वर्षों में इस ज़िन्दगी से भी ऊब गया। काजल की उस कोठरी में जा कर दाग से बचे रहना उसके जैसे सर्वत्यागी के लिए सम्भव हो सकता है —यह मानने के लिए कोई तैयार नहीं था। इसी से मनसाराम के बेटे को सुना-सुना कर उसके साथी कहते कि मनसाराम ने ठीकेदारों से लाखों रुपये कमाये हैं।

मनसाराम अपने मंत्री-पद का त्याग करके अब शुद्ध किसान बन जाता है। खेतों से अनाज, सब्ज़ी और फल उगाता है। लड़कों के बोर्डिंग, अनाथालय और अस्पताल चलाता है। रमा की देख-रेख में कुटीर उद्योग—जैसे कपड़े, कागज़ आदि के उत्पादन का काम भी होने लगता है। मनसाराम को अब जा कर अपेक्षित शान्ति मिलती है और वह अपनी नाट्यकृति को भी पूरा कर पाता है। उसका बेटा मनोहर बी० ए० की परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है। लेकिन अब वह एम० ए० की पढ़ाई में नहीं लगेगा। यह इसलिए कि रमा ने सच्चरित्रता और सेवा का अपने घर में ही जो वायुमंडल तैयार कर रखा है, वह मनोहर के लिए विश्वविद्यालय के वातावरण से कहीं अधिक प्रेरणाप्रद है।[2] मनसाराम अपने मित्र नीतिव्रत के पूछने पर अब यह स्वीकार करता है कि उसे इस किसान-जीवन से सन्तोष मिल गया—ऐसा तो वह अभी नहीं कह सकता लेकिन बार-बार जैसा असन्तोष उभरता था, वैसा अनुभव इन दिनों उसे नहीं हुआ करता।[3]

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने इस नाटक की आलोचना करते हुए लिखा है कि इस नाटक से कुछ इस किस्म की प्रतिध्वनि निकलती है कि साधारण गृहस्थ ही, यदि उसमें अच्छे विचार और सेवा-भाव हैं, तो सबसे अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकता है।[4]

नाटककार इस प्रकार बताते है कि मनसाराम के असन्तोष की समस्या का समाधान महात्मा गाँधी द्वारा निर्दिष्ट रचनात्मक कार्य-क्रम में लग जाने पर हो जाता

१. २. ३. सन्तोष कहाँ—सेठ गोविन्द दास—पृ० ७०, ८५, ८५
४. सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन ग्रन्थ—सं० डॉ० नगेन्द्र—पृ० १७८

है। कहना नहीं होगा कि सेठ जी को गाँधी जी के रचनात्मक कार्य-क्रम के प्रति गहरी निष्ठा रही है। इसी से उन्होंने आज के असन्तुष्ट जीवन की सारी समस्याओं के समाधान के रूप में गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम को प्रतिष्ठित किया है।

इस नाटक में सेठ जी ने आश्रम-जीवन के असत्य का पर्दाफ़ाश कर एक बड़े साहस का काम किया है। गाँधी जी ने आश्रम जीवन की जैसी कल्पना की थी, उसे हृदयंगम किये बिना, आश्रमों में रहने वाले, पाखंड का ही पोषण कर सकते थे। यहाँ ध्यान देने की बात यह भी है कि आश्रमों में जो राष्ट्रीय शिक्षा प्रचलित थी, उसके प्रति रमा और मनसाराम को गहरा असन्तोष हुआ। रमा ने अपने बेटे को विश्वविद्यालय में भेज कर पश्चिमी पद्धति की शिक्षा दिलायी। तो, क्या हम यह समझें कि सेठ जी का अपना आग्रह भी इस पश्चिमी शिक्षा के प्रति है? नहीं, ऐसा नहीं है। वे इस नाटक में उस बात पर ही ज़ोर देते है कि राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति में हो ऐसा संशोधन कर लिया जाय कि वह सही मानी में प्रेरक बन सके। रमा जब वैसा प्रेरक वायुमंडल बना लेती है तब उसके बेटे को विश्वविद्यालय जाने की ज़रूरत ही नहीं रह जाती। सेठ जी का आशय सम्भवतः यह है कि हमारे देश में शिक्षा को ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जो शिक्षितों को बेकार न बनाये, उन्हें समाज पर बोझ न बनाये।

सेठ जी ने कांग्रेसी मिनिस्टरों को जिन समस्याओं का उल्लेख किया है, उनका उन्होंने कोई समाधान उपस्थित नही किया। सेठ जी द्वारा निर्दिष्ट ये समस्याएँ आज के भारत की प्रमुखतम समस्याएं हैं। इस नाटक के मनसाराम ने यह आशा प्रकट की थी कि भविष्य में स्थिति बदलेगी और जन-तान्त्रिक शासन-पद्धति को स्वीकार करने के बाद हमारा लोक जीवन भी इतना कुछ उन्नत हो जायेगा कि हीन स्वार्थों को बढ़ावा देने वाली शक्तियों का अन्त हो जायेगा। सौभाग्य से सेठ जी हमारे बीच आज भी विद्यमान हैं। पता नहीं, उनका यह आशावाद आज उन्हें क्या सोचने के लिए कहता है!

सुख किसमें ? : सेठ गोविन्ददास ने अपने 'सुख किसमें ?' शीर्षक नाटक में इस पर विचार किया है कि जीवन का सुख ग्रहण में है या अर्पण में, लेने में है या देने में। इस नाटक का नायक 'सृष्टिनाथ' प्रकृति की सारी विभूतियों पर, सृष्टि की सारी सम्पन्नता पर, एकाधिकार करके सुख भोगना चाहता है। उसने विज्ञान का विकास करके अपने सुख के अनेक साधन सँजोये हैं। लेकिन वह यह देख कर हैरान होता है कि उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उल्टा प्रभाव होने लगा है और उसकी सृष्टि में अप्रत्याशित रूप से प्रलय के अंकुर उग आये हैं। देखते-ही-देखते उसकी सृष्टि ध्वस्त भी होने लगी है। उसके किसानों ने उसके विरुद्ध बलवा कर दिया है, मज़दूरों ने हड़ताल कर दी है और सबसे विचित्र बात तो यह हुई कि वाणिज्य-विषयक उसका अन्दाज़, जो उसके विज्ञान द्वारा पूर्ण समर्थित है, ग़लत सिद्ध हो गया है। इस वर्ष खेतों में रूई कम बोई गयी थी, मौसमी हाल भी फ़सल के लिए नुकसानदेह ही था—

गरज़ यह कि सारी स्थितियाँ ऐसी थीं कि बाजार में रूई के भाव का बढ़ना लाज़िमी था।[1] लेकिन न जाने कहाँ से अमेरिका के प्रेसिडेन्ट ने ऐसा भाषण कर दिया कि भारत सरकार की व्यावसायिक नीति ही बदल गयी और रूई के बाज़ार में ऐसा भूचाल आया कि 'सृष्टिनाथ' का दीवाला पिट गया![2] इस असफलता से खिन्न हो कर सृष्टिनाथ आत्मघात करना चाहता है। गंगातट पर आ कर वह परमेश्वर से अंतिम प्रार्थना करता है कि उसके अगले जन्म में उसे कभी असफलता भोगनी न पड़े।[3] नेपथ्य में कोई गीत गाता है और उस गीत की प्रेरणा से सृष्टिनाथ आत्मघात करने से रुक जाता है। अब वह वैराग्य-वैभव के साथ उसके ऋषिकेश स्थित आश्रम में पहुँचता है। एक साल वहाँ रहने के बाद भी उसे कुछ हाथ नहीं लगता। अस्तु, वह फिर आत्मघात करने के लिए गंगातट पहुँचा! इस बार 'प्रेमपूर्णा' नामक नारी उसका रास्ता रोक लेती है और उसे अपने साथ ले आती है प्रेमपूर्णा और सृष्टिनाथ में प्रकृति और आकांक्षा की दृष्टि से बड़ा अन्तर है। प्रेमपूर्णा प्रकृति की ही तरह सरल, भोली और निष्कलुष है। वह समस्त सृष्टि के साथ अपने को एकरूप मानती है। उससे भिन्न सृष्टिनाथ है, जो वासना के अतल-तल में डूबा हुआ है, सुख के एकाधिकार के लिए पागल बना हुआ है और वह प्रेमपूर्णा के प्रेम के उपयोग का एकान्त अधिकार चाहता है। इससे प्रेमपूर्णा के शुभ्र, प्रशान्त प्रेम-लोक में उसे सन्तोष नही होता है और वह फिर मरने के लिए भाग खड़ा होता है। अब उसे मायासिद्ध नामक योगी से भेंट होती है, जिसका शिष्य बन कर वह योग का अभ्यास करता है। छः वर्षों की कठोर योग-साधना के बाद भी उसका इन्द्रिय-निग्रह नहीं हो पाता। वह देखता है कि वह आज भी खाली-खाली ही है। इससे, वह निराश हो कर अन्तिम बार प्राण-विसर्जन का दृढ़ निश्चय करके गंगा-तट आता है। वह कहता है कि उसने वैराग्य का वैभव देख लिया, प्रेमपूर्णा का प्रेम देख लिया और माया की सिद्धि भी देख ली। अतः उसे मृत्यु में ही सुख मिलेगा।[4] लेकिन इस बार भी वह मर न सका। सृष्टिनाथ और प्रेमपूर्णा की सन्तान 'मोहनमाला' ने अब की बार उसे गंगा में डूबने से रोक लिया। अब वह 'मोहनमाला' के वात्सल्य में इस प्रकार लीन हो जाता है और इस तरह खो जाता है कि उसे मरने की भी याद नहीं रहती। सृष्टिनाथ को साफ़-साफ़ दीख जाता है कि मोहनमाला के वात्सल्य में ही जीवन का वह सच्चा सुख है, जिसके सन्धान में वह आज तक भटकता रहा है। पहले वह सब कुछ अपने लिए करता था—'वह चाहता था कि सब कुछ उसके लिए हो, अब वह सब कुछ मोहनमाला के लिए करता है और चाहता है कि सब कुछ उसके लिए ही हो।'[5]

इस प्रकार सेठ जी ने इस नाटक के द्वारा यह स्थिर किया है कि सच्चा सुख ग्रहण में न हो कर समर्पण में है। पुरुष के पौरुष की अहमन्यता 'जिओ और जीने दो' के उच्च आदर्श के ग्रहण करने में सदा बाधक रहती है। आदमी प्रकृति की विभूतियो पर एकाधिकार करना चाहता है, पंचमूल मे एक तत्व बन कर रमण करना चाहता है

१. २. ३. ४. ५. सुख किसमें—सेठ गोविन्द दास—पृ० १३, १४, २५, ७६, ८७

और अपनी इसी वासना के कारण वह दुःख भोगता है। संन्यास और योग-साधना व्यक्ति के स्वार्थ को, उसकी वासना को सीमाबद्ध नहीं कर पाते। सचाई यह है कि यह शक्ति भी नहीं है कि वे मनुष्य की उद्दाम आकांक्षाओं को सदा-सर्वदा के लिए संयम की दीवारों से घेर कर रखे रहें। फल होता है कि मनुष्य का यह भागने वाला मन अवसर पाते ही निकल भागता है। प्रवृत्ति का मार्ग इस भूखे मनुष्य की भूख को और भी तेज़ कर देता है। प्रेमपूर्णा सृष्टिनाथ की हो भी जाती है फिर भी सृष्टिनाथ को इस बात की शिकायत रहती है कि प्रेमपूर्णा एकमात्र उसी की नहीं है। जीवन का सच्चा सुख प्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्तुलन में है और उसके लिए वात्सल्य सबसे अच्छा अवसर प्रस्तुत करता है। मोहनमाला के वात्सल्य में सृष्टिनाथ की प्रवृत्ति और निवृत्ति का मणिकांचन-योग होता है और इस योग में ही उसे सुख का रहस्य निहित दीखता है।

कहना नहीं होगा कि सेठ जी के इस नाटक की समस्या दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक समस्या है। उसके समाधान के लिए सेठ जी ने अपनी वैष्णवता को सम्बल बनाया है। वैष्णव दर्शन आशावाद का दर्शन है और गाँधीवाद भी आशावादी दर्शन ही है। इन दोनों के प्रभाव ने सेठ जी के जिस मानस को तैयार किया है, वह जीवन का तिरस्कार कर, मृत्यु का अंगीकार नहीं कर सकता। सृष्टिनाथ को इसलिए मरने की जरूरत नहीं है, उसे जीना है और जीने का सुख भोगना है।

महत्व किसे ? : सेठ गोविन्ददास के 'महत्व किसे ?' शीर्षक नाटक में कर्मचन्द नामक एक ऐसे धनी-मानी कांग्रेस-कार्यकर्त्ता की कहानी कही गयी है, जिसकी, कांग्रेस की नीति और उसके कार्य-क्रम के प्रति ऐसी गहरी निष्ठा है कि वह विदेशी माल के बहिष्कार के ज़माने में अपने घर की दीवालों में लगी हुई विलायती ईंटों को चुन-चुन कर निकलवा देता है और उनका स्पर्श भी पाप समझता है। यह कहे जाने पर कि वह उन ईंटों को बेच कर पैसे निकाल ले, वह आपत्ति करते हुए कहता है—'आप कैसी बातें करते हैं ? जिस चीज़ को छूना भी मैं पाप समझता हूँ, उसे बेच कर उसका रुपया मैं ख़ुद खाऊँगा और दूसरे को उसे काम में लाने के लिए दूँगा ? यह हो ही कैसे सकता है ?'[1] कर्मचन्द कांग्रेस के सिद्धान्त के अनुसार सरकारी अदालत का भी बहिष्कार करता है। उसके आसामी लगान अदा नहीं करते। लेकिन लगान की अदायगी के लिए वह अदालत की सहायता नहीं लेता। उसका कहना है कि कर्ज़दारों के यहाँ उसके रुपये भले ही पच जायँ, वह अदालत की शरण नहीं लेगा। कर्मचन्द की पत्नी सत्यभामा, उसकी भावुकता और अव्यावहारिकता को देख कर डरती है कि यह निष्कपट और उदार प्रकृति व्यक्ति दुनिया के संघर्ष में टूट जायेगा। उससे अनुचित लाभ उठाने वालों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही है। इससे यह खतरा है कि घर की तिजोरी एक दिन ख़ाली पड़ जायेगी और फिर उसके बाद कौन किसे पूछता है ? इसलिए वह घर की सम्पत्ति को इस तरह दोनों हाथों उलीचने

१. महत्व किसे ?—सेठ गोविन्द दास—पृ० ७

के पक्ष में नहीं है। लेकिन कर्मचन्द को वह अपनी राह नहीं ला पाती।

कर्मचन्द के इर्द-गिर्द चक्कर काटने वालों में मुख्य हैं—सृष्टिनाथ, देशव्रत और लक्ष्मीपति। सृष्टिनाथ पत्रकार है, देशव्रत कांग्रेस-कार्यकर्त्ता है और लक्ष्मीपति एक ऐसा पूँजीपति महाजन है, जो कांग्रेसी होने का दावा करता है! ये तीनो ही मित्र कर्मचन्द के सम्मान में एक दावत देना चाहते हैं और उसके महान त्याग के लिए उसका अभिनन्दन करना चाहते हैं। कर्मचन्द ऐसा ईमानदार सेवक है कि यश की स्पृहा तक उसे नहीं है। इसलिए वह यह कह कर दावत के आयोजन में भाग लेने से इनकार कर देता है कि जब देश में ९९ प्रतिशत लोगों को भोजन का कष्ट है, वह देश-सेवा का व्रती हो कर कैसे शान से दावत उड़ाये। लेकिन जब वह यह अनुभव करता है कि उसके इस इन्कार से उसके मित्रों को भारी दुःख हुआ तब वह उनका मन रखने के लिए कमान रख देता है। कर्मचन्द ऐसा अहिंसक है कि वह किसी का दिल दुखाना नहीं चाहता। उसका विश्वास है कि गाँधी जी दुनिया का नक्शा बदल कर रहेंगे और आने वाली दुनिया में आलीशान महल, षट्रस व्यंजन और बेशकीमती पोशाकें, जेवर-जवाहर घृणा के विषय होंगे, उनसे किसी की प्रतिष्ठा नहीं होगी। उस दुनिया में दरिद्र नारायण ही पूज्य और महिमा-मंडित होंगे, टूटे झोपड़ों और खुरदरी खादी की ही इज़्ज़त रहेगी। इस प्रकार कर्म चन्द और सत्यभामा दो दुनिया के जीव हो जाते हैं। प्रश्न है, आज महत्व किसे मिलना चाहिए—सम्पन्नता को अथवा विपन्नता को। इसी प्रश्न पर विचार करते हुए इस नाटक की सृष्टि हो जाती है।

इस बीच कांग्रेस ने धारा-सभाओं में प्रवेश करने का निश्चय किया। स्वयं कर्मचन्द को उस संसदीय कार्यक्रम में विश्वास नहीं है। वह मानता रहा है कि कांग्रेस की असली शक्ति कष्ट-सहन, बलिदान और त्याग में है। इन विशिष्टताओं के कारण ही वह जनता का विश्वास-भाजन भी है। कांग्रेस ने पद-ग्रहण का निश्चय करके कर्मचन्द जैसे कार्यकर्त्ताओं को एक विचित्र स्थिति में डाल दिया है। लेकिन कर्मचन्द कांग्रेस के अनुशासन में है। इसलिए स्वयं संसदीय-कार्यक्रम का विरोधी हो कर भी वह कांग्रेस के निर्णय को सिर माथे लेता है। कांग्रेस के कौंसिल-चुनाव के दंगल में उतरने पर प्रान्त के कांग्रेसी उम्मीदवारों की सतृष्ण दृष्टि कर्मचन्द के घर की तिजोरी की ओर जाती है। कर्मचन्द भी अपने साथियों की सहायता करना अपना धर्म समझ कर मुक्त हस्त हो कर खर्च करता है और सचमुच उसकी तिजोरी एक दिन खाली हो जाती है। चुनाव में जीतने के लिए और रुपये चाहिएँ। कर्मचन्द लक्ष्मीपति से कर्ज़ ले कर, वह भी बड़ी कड़ी शर्त पर, चुनाव का खर्च जुटाता है।

थोड़े दिनों के बाद कर्मचन्द कांग्रेस आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ़्तार कर लिया जाता है और उसको जेल की सज़ा होती है। उसके स्वार्थी साथियों ने जब यह देख लिया कि कर्मचन्द की वैभव-सम्पन्नता शेष हो गयी तो उनको कर्मचन्द के आगे-पीछे मँडराने की ज़रूरत नहीं रह गयी। अब वे कर्मचन्द को लोगों की नज़र में गिराने

के लिए यह प्रवाद फैलाते हैं कि कर्मचन्द कांग्रेस फ़ंड का रुपया खा गया है और महाजनों के डर के मारे जेल भाग गया है। कांग्रेसी होने का दावा करने वाला लक्ष्मीपति सारे नाते-रिश्ते भूल कर कर्मचन्द पर कर्ज़ का मुकदमा ठोंक देता है। जेल की सज़ा काट कर कर्मचन्द जैसे ही घर लौटता है, लक्ष्मीपति वारंट ले कर उसके सामने खड़ा हो जाता है। कर्मचन्द यदि कर्ज़ की रकम पाट नहीं देता तो उसे फिर जेल जाना पड़ेगा। सत्यभामा अपने गहनों को बेच कर लक्ष्मीपति के कर्ज़ की रकम पाट देती है और इस आसन्न विपत्ति तथा अप्रतिष्ठा को टालती है। सत्यभामा आशा करती है कि यह सब देख कर कर्मचन्द की आँखें अब खुलेंगी और वह उसकी सुनेगा। लेकिन कर्मचन्द को फिर भी किसी से कोई शिकायत नहीं है। उसे अपने मित्रों पर क्रोध नहीं होता, उन पर दया आती है।

सत्यभामा घर का सारा कारबार अपने हाथ में लेती है। सट्टा बाज़ार से लाखों कमाती है और निश्चय करती है कि वह लक्ष्मीपति, सृष्टिनाथ और देशव्रत जैसे रँगे सियारों से बदला लेगी। उसको अपना अरमान पूरा करने का अवसर भी तुरत ही मिल जाता है। अब फिर चुनाव का समय आया है। सत्यभामा अपने पैसों के ज़ोर से कांग्रेस संसदीय दल की नकेल हाथों में कर लेती है और कर्मचन्द को प्रान्तीय मन्त्री-मन्डल का प्रधान बनाने का सारा प्रबन्ध कर लेती है। कर्मचन्द के सारे-के-सारे विरोधी अब सत्यभामा के चरणों में प्रणत हैं और उसकी अँगुली पर नाच रहे हैं। लेकिन उसकी समस्या तो स्वयं कर्मचन्द है, जो रचनात्मक कार्यक्रम को छोड़ कर चुनाव-दंगल में फँसना ही नहीं चाहता।

कर्मचन्द स्वीकार करता है कि कांग्रेस में कुछ नाजायज़ लोग घुस आये हैं। लेकिन हंसो के बीच के कौओं को पहचान लेने में भला कितना समय लग सकता है? वह यह भी मानता है कि सत्यभामा के रुपयों में बड़ा ज़ोर है लेकिन वही सर्वोपरि है—यह वह नहीं मान पाता।

इस नाटक में इस प्रकार सेठ जी ने देश की राजनीति के पृष्ठाधार पर समस्या यह उठायी है कि धन की सामर्थ्य कितनी है। सत्यभामा के वैभव-ऐश्वर्य के आगे सृष्टिनाथ और देशव्रत जैसे कांग्रेसी प्रणत तो होते हैं लेकिन वहीं कर्मचन्द भी है, जो धन को धूल से अधिक नहीं मानता। उसे अपने स्थान से ज़रा-सा भी डिगा सकने में, न तो लक्ष्मीपति का छल समर्थ होता है और न सत्यभामा की शक्ति-सम्पन्नता ही उस अंगद के पैर को थोड़ा भी डिगा पाती है। कहना नहीं होगा कि सेठ जी के इस नाटक में समस्या खूब उभर कर आ नहीं पायी। इस नाटक के बहाने उन्होंने अपने विश्वास की ही विजय दिखायी। यह सही है कि नाटक में कर्मचन्द का अपने मुकाबले में खड़े लक्ष्मीपति, सृष्टिनाथ और देशव्रत जैसे कांग्रेसियों के साथ संघर्ष प्रस्तुत हुआ है। किन्तु, स्वार्थ के इन पुतलों में उस दम-खम का सर्वथा अभाव है, जिसके सहारे वे कर्मचन्द जैसे सच्चे देश-व्रती से जूझते। पत्रकार सृष्टिनाथ कर्मचन्द को थोड़ी देर

के लिए लोकापवाद फैला कर ज़लील कर सकता है, धारा-सभा का सदस्य बन कर देश-व्रत किसी को सिंहासन पर बैठा सकता है और फिर उसे उतार भी सकता है; लक्ष्मीपति जैसा रँगा स्यार स्वार्थी पूंजीपति शेर की खाल ओढ़ कर संस्था के ऊपर अधिकार भी कर सकता है। किन्तु ये लोग, अकेले की कौन कहे मिल कर भी, उस कर्मचन्द का कुछ भी बिगाड़ नहीं पायेंगे, जिसको मिनिस्टरी की ऊँची कुर्सी पर बैठने की स्पृहा नहीं है। शुद्धाचरण और त्याग का सम्बल ले कर चलने वाले किसी कर्मचन्द को स्पर्श करने की शक्ति भी स्वार्थ के उन क्षुद्र पुतलों में नही हो सकती। अस्तु, इस नाटक में जो संघर्ष उपस्थित किया गया है, उसमें जान ही नहीं आ पाती और इसी से संघर्ष का रूप बहुत कुछ श्लथ है। कर्मचन्द के त्याग और शुद्धाचरण का पलड़ा इतना भारी है कि उसके विरोधी उसके सामने निरे नादान ही ठहरते हैं। इसीलिए तो कर्मचन्द उनके प्रपंच, षड्यन्त्र और प्रतिरोध की सर्वथा उपेक्षा करता है उन पर क्रोध भी नहीं करता, उन्हें दया का पात्र समझता है।

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने कर्मचन्द पर आक्षेप करते हुए कहा है कि 'यदि उसे सत्यभामा जैसी स्त्री न मिली होती तो वह पहले दीवानो जेल मे जाता और फिर पंक से उबर पाता, इसमें बहुत सन्देह है।'[1] इस आक्षेप को हम ठीक भी मान लें तो भी यह कहाँ स्थिर हो पाता है कि कर्मचन्द ने धन की सत्ता को सर्वोपरि मान लिया? यह ठीक है कि कर्ज़ की रकम के पाटने की अक्षमता की स्थिति में कानून उसे जेल भेज देता। लेकिन सत्य का सूर्य कितने दिन बादलों में छिपा रहता? आज नहीं तो कल यह बात खुलती ही कि लक्ष्मीपति के कर्ज़ की रकम उसने दूसरों की सहायता के लिए ली थी, अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए नहीं। उसके त्याग और कष्ट-सहन का यह सत्य जिस दिन भासमान होता, उस दिन उसका जेल जाना भी स्पृहणीय बन जाता। भारत की जनता का संस्कार जैसा है, उसे देखते हुए हमें एक क्षण के लिए भी इस विषय में शंका नहीं होती कि अन्तिम विजय लक्ष्मीपति की नहीं कर्मचन्द की ही होती।

नाटक में समस्या की प्रस्तुति चाहे लचर ढंग से ही हुई हो, समस्या का समाधान भी चाहे कितना ही ऊपर से थोपा हुआ लगे, फिर भी इस नाटक का अपना एक महत्व है। यह हमे बहुत कुछ सोचने का अवसर देता है। अब हम उन प्रेरणाओं का उल्लेख करें।

सेठ जी के इस नाटक में कांग्रेसी-विधायकों का जो रूप आया है, वह हमें सुझा जाता है कि विधायकों के समाज के चारित्रिक और नैतिक स्तर का भरोसा नहीं किया जा सकता। बात यह है कि चुनाव लड़ने के लिए काफ़ी पैसे चाहिएँ और पैसा कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के पास है नहीं। इससे वे धनी-मानी पूंजीशाहो के इशारे पर नाचने के लिए विवश हैं। सेठ जी ने अपने इस नाटक में जिस प्रश्न की ओर हल्का-सा

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ—सं० डॉ० नगेन्द्र—पृ० १८३

संकेत किया है, वह आगे बढ़ कर आज के हमारे राष्ट्रीय जीवन का एक विकट प्रश्न हो गया है। अपने देश में तीन-तीन बार चुनाव का मेला लग चुका और आज चौथी बार उस मेले के बीच हम खड़े हैं। इन चुनावों का इतिहास यह स्पष्ट कर चुका है कि चुनाव जीतने के लिए पैसों की कितनी जरूरत होती है। जैसे-जैसे हमारा राष्ट्रीय चरित्र गिरता जा रहा है, हमारे नैतिक आदर्श शिथिल पड़ते जा रहे हैं, वैसे-ही-वैसे चुनाव का खर्च भी बढ़ता जा रहा है। यह ठीक है कि चुनाव-आयोग से चुनाव पर होने वाले खर्च की अन्तिम सीमा बाँध दी है। लेकिन देश में कोई भी ऐसा है, जो ईमानदारी के साथ यह दावा कर सके कि उसने चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित राशि से अधिक खर्च न करके भी चुनाव जीत लिया है ? स्पष्ट है, चुनाव-आयोग का एतद्विषयक सीमा-निर्धारण, धोखे की टट्टी से अधिक नहीं है। स्थिति यह है कि पुराने कांग्रेस कार्यकर्त्ता के पास चुनाव लड़ने की आर्थिक क्षमता नहीं है। उन बेचारों का जीवन त्याग का जीवन रहा है, ग्रहण का नहीं। इससे, चुनाव लड़ने वह आता है, जो या तो स्वयं सम्पन्न है अथवा किसी सम्पन्न पूँजीपति के इशारे पर नाच सकता है, उसका खरीदा हुआ गुलाम है। प्रश्न है, ऐसे लोग कांग्रेस की समाजवादी नीति का कितने पल तक समर्थन कर सकते हैं ? भारत की दरिद्र जनता का हित-साधन करने में ये लोग कैसे समर्थ सिद्ध हो सकते हैं ? खतरा यह भी है कि कांग्रेस इन विधायकों के प्रभाव में आ कर अपने क्रान्ति-बल से विच्छिन्न हो, दक्षिण-पंथी बन जायेगी। सत्यभामा ने जिस तरह कांग्रेस ससदीय दल की नकेल अपने धन को प्रभुता के बल पर पकड़ ली है, वैसे ही कोई दूसरा थैलीशाह भी कर सकता है। यदि यह हुआ तो निश्चय ही कांग्रेस मर जायेगी। सेठ जी ने समस्या के इस पहलू की ओर इशारा करके सचमुच एक बड़ा काम किया है। सेठ जी विकल्प प्रस्तुत करते हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर बल देते हैं, सेवा की महिमा जगाते हैं और आशा करते हैं कि देश में सेवा तथा सेवकों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। फिर चुनाव भी इतना व्यय-साध्य नहीं रह जायेगा कि वह आज की तरह साधारण हैसियत के सेवकों के वश के बाहर की बात रहे।

इन नाटकों के अतिरिक्त सेठ जी के 'दुःख क्यों ?' 'प्रेम या पाप' और 'त्याग या ग्रहण' शीर्षक अन्य तीन नाटकों को भी श्री रामचरण महेन्द्र ने समस्या-नाटक की की संज्ञा दी है।[1] यद्यपि हमें इन नाटकों को समस्या-नाटक मानने में कठिनाई होती है, तथापि उनका विवेचन नीचे प्रस्तुत है।

दुख क्यों ? : सेठ जी ने सन् १६२१ में 'ईर्ष्या' नाम से जो नाटक लिखा था, उसी का अन्तिम रूप 'दुःख क्यों ?' हुआ। इस नाटक में सेठ जी ने यह दिखाया है कि आदमी 'ईर्ष्या' के वशीभूत हो कर अपनी सारी आदमीयत तो खो ही देता है और अन्त में अपनी ही हानि भी कराता है। 'दुःख क्यों ?' का यशपाल

---

१. सेठ गोविन्ददास : नाट्यकला तथा कृतियाँ—श्री रामचरण महेंद्र—पृ० 'ख' (अनुक्रमणिका)

ईर्ष्यान्ध हो कर अपने उपकारक ब्रह्मदत्त के (जिसकी सहायता से पढ़-लिख कर वह वकील बन सका है) पराभव का कारण बनता है। ईर्ष्या उसे पतन के इस गर्त्त में गिराती है कि असहयोगी होने पर भी वह एक क्रान्तिकारी को पुलिस के चंगुल में फँसाता है और अपने मंत्रद्रष्टा गरीब दास को झूठे इलज़ाम पर जेल की सज़ा दिलाता है। उसकी सती-साध्वी पत्नी सुखदा उसे समझाती है कि आदमी को सच्चा सुख मिलता है अन्तःकरण की निष्कलषता और चरित्र की शुद्धता से, न कि ईर्ष्या से। किन्तु उसके सारे उपदेश व्यर्थ जाते हैं। सुखदा जब पति की चरित्रहीनता को और सह नहीं पाती तब उसका भंडाफोड़ करती है और यशपाल की सुख-शान्ति नष्ट हो जाती है।

सेठ जी ने इस नाटक में ईर्ष्या की बुराइयों का अच्छा दिग्दर्शन तो कराया है किन्तु समस्या की प्रस्तुति वह नहीं कर पाये।

प्रेम या पाप : 'प्रेम या पाप' शीर्षक नाटक में सेठ जी ने वासना की आँधी में इतस्ततः डोलने वाली कीर्त्ति की कथा कही है। कीर्त्ति शेयर बाज़ार के धनकुबेर लक्ष्मीनिवास की पत्नी है। पति को, कारबार के फैले होने के कारण, इतनी फ़ुर्सत नहीं है कि वह पत्नी की कोमल भावनाओं को सहलाये और इधर पत्नी का रूप-गर्व यह चाहता है कि उसके सामने ऐसा कोई हो, जो उसके रूप की प्रशंसा में महाकाव्य रच दे। अपनी इस वासना की उत्तेजना से प्रेरित हो कर वह एक के बाद दूसरे पुरुष के चंगुल में फँसती है और दुनिया की ठोकरें खाती है। सेठ जी के इस नाटक में समस्या की प्रस्तुति के लिए अवसर तो था किन्तु उन्होंने उस अवसर का कोई विशेष लाभ नहीं उठाया।

त्याग या ग्रहण : 'त्याग या ग्रहण' शीर्षक नाटक में सेठ जी ने गाँधीवाद को त्याग और समाजवाद को ग्रहण का दर्शन मान कर उनके बीच संघर्ष कराया है। इस नाटक का धर्मध्वज गाँधीवादी है और नीतिराज समाजवादी। कांग्रेस के इतिहास में एक ऐसा युग आया था, जब उसके सदस्य दक्षिण और वाम के दो वर्गों में बँटे थे। जब कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्द्धन, डॉ० राम मनोहर लोहिया, सज्जाद ज़हीर तथा अशोक मेहता आदि नेताओं ने की तब ऐसा लगा कि पश्चिमी समाजवाद कांग्रेस के मंच पर एक जीवन्त शक्ति के रूप में खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है। गाँधी जी के सिद्धान्तों को निष्ठापूर्वक स्वीकार करने वाले सेठ गोविन्द दास जैसे नेताओं को अब इस बात की आवश्यकता दीखी कि वे मार्क्सवाद से प्रभावित पश्चिमी समाजवाद के मुकाबले गाँधी-दर्शन की श्रेष्ठता, उच्चता का उद्‌घोष करें। 'त्याग या ग्रहण' इसी प्रेरणा का परिणाम है।

सेठ जी ने गाँधीवादी धर्मध्वज और समाजवादी नीतिराज के बीच विमला की अवतारणा करके गाँधीवादी और समाजवादी मान्यताओं के संघर्ष को गति देनी चाही

है। विमला पहले धर्मध्वज के प्रति आकृष्ट हुई। फिर उसका असन्तोष उसे धर्मध्वज से हटा कर नीतिराज की ओर खींच लाया। विमला मुक्त प्रेम का समर्थन करती है और विवाह को बन्धन समझती है। नीतिराज के विचार भी विमला जैसे ही हैं। इससे वे दोनों मित्रों की स्थिति में साथ रहने लगते हैं। साथ रहते-रहते उनमें प्रेम हो जाता है और विमला गर्भवती हो जाती है। समाज में विमला तथा नीतिराज के सम्बन्ध को ले कर तरह-तरह की बातें कही जाने लगती हैं। नीतिराज आलोचना से भय खा कर विमला के आगे विवाह का प्रस्ताव ले कर खड़ा होता है। विमला देखती है कि नीतिराज में अपने विश्वासों की भूमि पर खड़ा रह सकने की सामर्थ्य नहीं है। इधर विमला अपने सिद्धान्तो को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। इससे दोनों में संघर्ष होता है, जिसके फलस्वरूप दोनों के आपसी सम्बन्ध में दरारें पड़ जाती है। नीतिराज से विवाह करके आजीवन उसकी दासी बनने के लिए विमला तैयार नहीं है। इससे सम्बन्ध-विच्छेद कर वह धर्मध्वज के पास लौट आती है। यह धर्मध्वज उसके लिए अनेकानेक कठिनाइयाँ झेलता है। विमला नीतिराज की भक्षण-लीला के मुकाबले धर्मध्वज की रक्षण-महिमा को देख कर समझ जाती है कि मनुष्यता का आधार त्याग है, ग्रहण नहीं। इस अनुभव के बाद विमला अपने को धर्मध्वज के आगे अर्पित कर देती है।

विमला की इस कथा से विदित होता है कि सेठ जी मुक्त प्रेम के विरोधी हैं। वे चाहते हैं कि प्रेम-व्यापार निर्बन्ध न हो कर विवाह-बंधन से मर्यादित हो। हम यह भी कह सकते हैं कि सेठ जी का नीतिराज से विरोध इसलिए भी है कि उसकी कथनी और करनी में एकता नहीं है, उसमें अपने विश्वास पर अडिग खड़े रहने की पात्रता नहीं है।

लेकिन प्रश्न तो यही है कि नीतिराज को हम समाजवादी ही क्योंकर मानें? प्राचीन परम्पराओं और मर्यादाओं की भोंडे ढंग से अवहेलना करने से ही समाजवाद की शर्त पूरी नहीं हो जाती। हमें तो ऐसा लगता है कि नाटककार ने समाजवाद के मुकाबले गाँधीवाद की उच्चता के प्रतिपादन के लिए कोई भी विश्वास्य तर्क उपस्थित नहीं किया। ग्रहण के मुकाबले त्याग की महिमा दिखाने के अपने उद्देश्य में भी वे सफल नहीं हो सके हैं। यह इसलिए कि त्यागी धर्मध्वज भी तो अंत में विमला को ग्रहण ही करता है।

सेठ गोविन्द दास ने अपने समस्या-नाटकों तथा सामाजिक नाटकों में समस्याएँ उपस्थित तो की ही हैं, उनके कुछ इतर प्रकार के नाटकों में भी समस्या का रूप खड़ा होता है। उनके वैसे नाटकों का भी उल्लेख कर लेना उचित होगा।

'कुलीनता' शीर्षक उनका एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसके कथानक का आधार ले कर बम्बई की 'आदर्श फ़िल्म कम्पनी' ने 'धुँआधार' नाम से एक फ़िल्म बनायी थी। इस नाटक के कथानक का सम्बन्ध त्रिपुरी राज्य के इतिहास के उस अध्याय से है, जिससे विदित है कि राजा विजय सिंह देव के जामाता, गोंड यदुराय ने त्रिपुरी के राज्यसिंहासन

पर अधिष्ठित हो कर 'राजगोंड' अर्थात् राजपूत-गोंड राजवंश के शासन की नींव डाली थी ।

इस नाटक में नाटककार ने स्थापित किया है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म होना चाहिए, न कि जन्म । यदुराम जन्म से गोंड है और उसकी गोंड जाति को क्षत्रिय शूद्र समझते आये हैं । लेकिन उसने अपने क्षात्र-बल के प्रदर्शन से सभी को विस्मित कर दिया है । वह राज्य का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर, सर्वश्रेष्ठ असिधारी, सर्वश्रेष्ठ शन्यधारी और सर्वश्रेष्ठ छुरिका-युद्धवीर घोषित होता है । राज्य की प्रथा के अनुसार उसे राजकीय सम्मान मिलना चाहिए था । लेकिन बदले में उसे मिलता है—देश-निकाला दंड । यह इसलिए कि युद्ध, क्षत्रियों का धर्म है—शूद्रों का नहीं । गोंड जाति शूद्र है—उसका धर्म है इतर तीनों वर्णों की सेवा करना । यदि गोंड क्षत्रियों के युद्ध-धर्म को ग्रहण करते हैं तो यह अधर्म होता है ![1] वर्ण को जन्माश्रित मानने का परिणाम यह होता है कि गोंडों में चाहे कितने ही उच्च-गुण क्यों न हों, वे राज्य के किसी उत्तरदायी पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते । उन्हें अपने राज्य की रक्षा करने तक का अधिकार नहीं होता । यदुराय को यह अनर्थ सह्य नहीं है । यह अपनी व्यथा प्रकट करते हुए कहता है—'गोंड कुल में जन्म लेना ही हमारा दोष है ।....जो दैवाधीन है, केवल संयोग की बात....पुरुषार्थ का प्रश्न ही नहीं ।'[2] यदुराज पुरुषार्थ का प्रदर्शन कर सकता है; लेकिन जन्म की बात तो उसके हाथ में है नहीं । यहाँ वह सर्वथा निरुपाय है । अपने पुरुषार्थ के बल पर ही वह त्रिपुरी राज्य का अधिपति होता है और क्षत्रियों के वंशाभिमान के दम्भ को धूलि-धूसरित करता है । इस प्रकार इस नाटक में यदुराय के क्षत्रियत्व का प्रश्न ठीक इसी प्रकार उठाया गया गया है, जिस प्रकार 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटक में प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के क्षत्रियत्व का प्रश्न खड़ा किया है । जैसे वहाँ 'चाणक्य' है, वैसे ही यहाँ 'सुरभि पाठक' है । इस नाटक का चंडपीड़ 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटक के प्रर्वतक का प्रतिरूप है । समस्या यह है कि जन्म को प्रधानता मिलनी चाहिए या गुण कर्म को ।

अपने ऐतिहासिक नाटक 'हर्ष' में भी सेठ गोविन्द दास ने समस्याएँ उठायी हैं ।

वर्द्धन-वंश-गौरव सम्राट हर्षवर्द्धन के इतिहास की पृष्ठभूमि में निर्मित होने वाले इस कथानक में हर्ष को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसकी विशेषता है आधिभौतिक विलास की लालसा के प्रति निवृत्ति और परोपकार के प्रति आसक्ति । वह राज्य को प्रजा की धरोहर मानता है और अपने को उस धरोहर का संरक्षक मात्र । राजधर्म के उसके इस नवीन आदर्श की चरम अभिव्यक्ति तो प्रजातंत्र व्यवस्था में ही सम्भव है किन्तु उसके लिए उस समय अनुकूल अवसर नहीं था । इससे वह राजपद की कल्पना तो करता है लेकिन उसको संरक्षक की मर्यादा की सीमा से बाँधता भी

१. २. कुलीनता—सेठ गोविन्द दास—पृ० २२, ५०

है। इस नाटक में राष्ट्र की एकता के प्रश्न को भी उठाया गया है। 'राज्यश्री' और 'हर्ष' चाहते हैं कि सारे संसार में एक धर्म, एक भाषा और एक ही सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति युद्ध द्वारा बल प्रयोग से हो, यह भी वे नहीं चाहते। नाटककार ने 'हर्ष' के मित्र, चीनी-पर्यटक 'यानचाँग' से कहलाया है—'युद्ध करके बल-पूर्वक भिन्न-भिन्न राज्यों को एक साम्राज्य के अन्तर्गत लाने से एक राष्ट्र का निर्माण ही असम्भव है। वे राज्य सदा यह सोचा करते हैं कि बल-पूर्वक हम एक साम्राज्य के अन्तर्गत रखे गये हैं। बार-बार वे विद्रोह करते हैं और अवसर पाते ही स्वतंत्र हो जाते हैं।'[1]

युद्ध से सदा युद्ध की ही उत्पत्ति होती है। इससे युद्ध की कल्पना ही व्यर्थ है। सेठ जी ने युद्ध के रोकने का एक अच्छा-सा रास्ता इस नाटक में प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि राजकोष में जब अतुल सम्पत्ति संचित हो जाती है तब युद्ध की प्रवृत्ति को अनजाने ही बढ़ावा मिलता है। इससे उनका हर्ष चौथे वर्ष के उपरान्त सर्वस्व-दान करके राजकोष को रिक्त कर देता है।

सेठ जी ने इस प्रकार एक ऐसी व्यवस्था की है जिसके कारण राजा, न तो विलास-रत हो सकता है न युद्ध-प्रयासी ही।

प्रश्न है, क्या संसार में बिना युद्ध के ऐसी व्यवस्था लायी जा सकती है, जिसके परिणाम-स्वरूप संसार में एक शासन हो और एक ही धर्म हो। इस प्रश्न पर पूरी गम्भीरता के साथ विचार करने के बाद सेठ जी ने यानचांग से कहलाया है—'यह चाहे न हो, परन्तु उस सहिष्णुता की स्थापना अवश्य हो सकती है, जिसमें एक धर्म, एक भाषा, और एक प्रकार के सामाजिक संगठन वाले दूसरे धर्म, दूसरी भाषा तथा दूसरे प्रकार के सामाजिक संगठन वालों को अपना शत्रु न समझ कर मित्र समझें, एक दूसरे का रक्तपात करने के इच्छुक न रह कर एक दूसरे को सहायता पहुँचायें और इस कार्य में सब अपना-अपना स्वार्थ मानें।'[2]

सेठ जी ने इस तरह पंचशील और सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को युद्ध-शमन का मार्ग बताया है। हमें स्मरण करना चाहिए कि सेठ जी ने कितने दिन पहले ही स्वतंत्र भारत की पर-राष्ट्र नीति का निर्धारण कर दिया था।

'राज्यश्री' को इस नाटक में एक विधवा नारी के रूप में उपस्थित किया गया है। हमारा पंडित समाज कहता है कि विधवा होने के कारण वह राज्य-सिंहासन पर अधिष्ठित नहीं हो सकती। यह इसलिए कि विधवा को मांगलिक कार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। सेठ जी ने इस नाटक द्वारा विधवा की सामाजिक प्रतिष्ठा को समस्या पर विचार किया है। हर्षवर्द्धन कहता है—'यह विधवा के प्रति घोर अन्याय है। जो विधवा समाज में ब्रह्मचर्य और सेवा का अद्भुत आदर्श उपस्थित करने के लिए समस्त लौकिक सुखों को तिलांजलि दे कर आजन्म तपस्या करती है, उसे मंगल-

---

१. २. तीन नाटक (हर्ष)—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ३०१, ३०३

कार्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं ! सच तो यह है कि प्रत्येक मंगल-कार्य का आरम्भ ही आर्यों को उस तपस्विनी के हाथों कराना चाहिए ।'[1]

हर्ष जानता है कि ऐसा कह कर वह रूढ़ि-विरोध कर रहा है । लेकिन उसका विश्वास है कि 'जो परिपाटी तर्क के सम्मुख नही ठहर सकती, उसका कोई मूल्य नही है ।'[2]

सेठ गोविन्द दास के समस्या-प्रधान एकांकी नाटक

सेठ जी के इन अनेकांकी नाटको में समस्याओं के जो रूप मिलते हैं, उनका दिग्दर्शन कराने के बाद अब हम उनके उन एकाकी नाटकों का विचार प्रारम्भ करते है, जिनमें उन्होने समस्यायें उठायी है । उनके ऐसे नाटकों मे निम्नलिखित नाटक विशेष रूप से ध्यान खीचते है :

'स्पर्द्धा,' 'मानव-मन,' 'मैत्री,' 'धोखेबाज़,' 'अधिकार लिप्सा,' 'ईद और होली,' 'वह मरा क्यों ?' और 'कगाल नही' ।

नीचे इन उपर्युक्त एकांकी नाटको की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है ।

स्पर्द्धा : 'स्पर्द्धा' एकाकी के कथानक का सम्बन्ध यूनियन क्लब नामक ऐसी संस्था के दो सदस्यों—त्रिवेणी शंकर और मिस कृष्णा कुमारी—से है, जिसका उद्देश्य है पुरुषों और महिलाओं को एक जगह ला कर सच्चे सामाजिक जीवन का निर्माण करना । क्लब के ये दोनों ही सदस्य एक ही चुनाव-क्षेत्र से कौंसिल की सदस्यता के लिए उम्मीदवार हैं ।

त्रिवेणी शंकर पर आक्षेप करते हुए एक गुमनाम पर्चा छपा है । लोगों का अनुमान है कि वह मिस कृष्णा कुमारी की ओर से छपा है और उसका उद्देश्य त्रिवेणी शंकर को समाज की दृष्टि में नीचे गिराना है । इस पर्चे का प्रतिवाद मिस कृष्णा कुमारी की ओर से नहीं किया जाता । अब ठीक उसी ढंग का दूसरा पर्चा मिस कृष्णा कुमारी के विरुद्ध छपता है । लोग अनुमान लगाते हैं कि यह पर्चा त्रिवेणी शंकर की ओर से निकाला गया है । इस दूसरे पर्चे के छपने से क्लब के सदस्यों के बीच उत्तेजना है । क्लब का एक सदस्य अग्निहोत्री कहता है—'इस देश में महिलाओं ने पर्दा छोड़ जहाँ किसी प्रकार के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया कि उनके चरित्र पर ही आक्षेप होने लगते हैं । उनका किसी से बात करना, किसी के घर जाना ही उनके चरित्र को दूषित मान लेने के लिए यथेष्ट समझ लिया जाता है ।'[3] अग्निहोत्री यह जानता है कि त्रिवेणी शंकर के विरुद्ध जो पर्चा छपा था, वह उस पर्चे से, जो मिस कृष्णा कुमारी के विरुद्ध छपा है, किसी मानी में कम गन्दा और आपत्तिजनक नहीं है । लेकिन वह उसकी बहुत चिन्ता नहीं करता । यह इसलिए कि 'मि० शर्मा पुरुष हैं और मिस कृष्णा

१, २, तीन नाटक (हर्ष) सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ २३२, २३२ ।
३. स्पर्द्धा—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ५

कुमारी महिला।'[1] ये पर्चे क्लब में विचार के अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय हो रहे हैं। विजया क्लब की बैठक में त्रिवेणी शंकर के विरुद्ध अविश्वास का एक प्रस्ताव रखती है, जिसमें कहा जाता है कि त्रिवेणी शंकर के दल की ओर से कृष्णा कुमारी के ऊपर किये गये आक्षेप मिथ्या, निन्दनीय और महा घृणित है और इसलिए क्लब त्रिवेणी शंकर के प्रति अविश्वास प्रकट करता है और जनता से मिस कृष्णा कुमारी को ही कौंसिल के लिए वोट देने की अपील करता है। प्रस्ताव के समर्थकों का कहना है कि क्लब की एक महिला पदाधिकारिणी के चरित्र पर क्लब के मंत्री द्वारा कीचड़ उछाला जाना नितान्त अनुचित है। मि० वर्मा के समान कुछ सदस्य इस विषय मे भिन्न मत रखते हैं। इनका कहना है—इस प्रकार के पर्चे यथार्थ मे हमको अच्छे मालूम होते है, इन अपवादों से हमारे हृदय को आनन्द प्राप्त होता है।....लोगों की ज़ुबान को आप बन्द नहीं कर सकते, लोग खाते घर का हैं और बात परायी करते हैं।....अपवाद मनुष्य का सबसे अधिक प्रिय विषय है। हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य अपवाद करता है, सुनता है, नमक-मिर्च लगा कर उसे बढ़ाता है और उससे आनन्द पाता है।[2] मनुष्य का यह सहज स्वभाव है। इसलिए आक्षेप होंगे ही। उन पर ध्यान देना ही व्यर्थ है। त्रिवेणी शंकर क्लब के सामने अपनी सफ़ाई पेश करते हुए कहता है कि मिस कृष्णा कुमारी के विरुद्ध छपे हुए पर्चे से उसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में सम्बन्ध नहीं है। उसने उक्त पर्चे का खंडन सिर्फ इसलिए नहीं किया कि पहले उसके विरुद्ध जो पर्चा छपा था, उसका प्रतिवाद मिस कृष्णा कुमारी ने नहीं किया था। त्रिवेणीशंकर इससे आगे बढ़ कर एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर क्लब के अपने साथियों का ध्यान आकृष्ट करता है। वह कहता है कि अग्निहोत्री जैसे लोगों का यह कहना कि मिस कृष्णा कुमारी के विरुद्ध जो कुछ हुआ है, वह अत्यन्त अनुदार कृत्य है—हमें अवसर देता है कि हम प्रश्न की गहराई में जायें। त्रिवेणीशंकर एक सीधा सवाल खड़ा करता है कि क्या हर परिस्थिति में महिलाओं की रक्षा का भार पुरुषों के कन्धों पर होना ही चाहिए? निसर्ग ने पुरुषों और महिलाओं के अलग-अलग क्षेत्र बनाये थे। आज महिलाओं ने उस क्षेत्र में प्रवेश किया है, जो क्षेत्र पुरुषों का है। ऐसी परिस्थिति में जिस प्रकार का जीवन-संघर्ष पुरुष और पुरुष के बीच होता है, पुरुष और नारी के बीच इसी प्रकार के संघर्ष का होना स्वाभाविक है। त्रिवेणी शंकर आगे कहता है कि क्या महिलाएँ यह आशा करती है कि वे पुरुषों को कुश्ती के लिए ललकारेंगी और इतने पर भी पुरुष या तो उनसे कुश्ती लड़ेंगे ही नहीं या परित्राण-शूरता के नाम पर चुपचाप उनके धक्का देते ही चित हो जायँगे ?'[3]

नाटककार कहना चाहते हैं कि चुनाव के समय व्यक्तिगत स्तर पर उतर आना, अपवाद के पर्चों का छपाना बहुत ही गर्हित प्रसंग हैं, सार्वजनिक जीवन का यह बड़ा काला पहलू है, किन्तु किया क्या जाय? लगता है, संघर्ष का यह अनिवार्य परिणाम

१. २. ३. स्पर्द्धा—सेठ गोविन्द दास—पृ० ७, १४-१५, ३७

है। इस प्रकार के संघर्ष में महिलाओं का खिंच आना ही दुःखद है। यह इसलिए कि महिलाओं के इस क्षेत्र में आ जाने से हमारे घरों में जो थोड़ा-बहुत सुख रह गया है, वह भी न रह जायगा। सेठ जी अत्यन्त कष्ट के साथ अनुभव करते हैं कि कदाचित् मनुष्य-समाज के भाग्य में अभी और दुःख ही बदा है।

मिस कृष्णा कुमारी त्रिवेणी शंकर से सहमत तो नहीं है। लेकिन इतनी बात वह भी स्वीकार करती है कि यदि महिलाएँ समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से स्पर्द्धा करना चाहती हैं तो उन्हें पुरुषों से परित्राण-शूरता के नाम पर किसी बात की आशा न रखनी चाहिए।[1] अस्तु, वह विजया से अनुरोध करती है कि वह अपना प्रस्ताव वापस ले ले।

इस प्रकार सेठ जी ने अपने इस एकांकी नाटक में यह बताया कि यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है कि नारी अपने प्रकृत-क्षेत्र से हट कर सभ्यता, सुरुचि और आधुनिकता के नाम पर उस क्षेत्र में प्रवेश करती है, जो उसका क्षेत्र नहीं है और उससे भी दुःखद यह है कि वह इस प्रमाद को प्रमाद मानना भी नहीं चाहती। लेकिन जब नारी, पुरुष के क्षेत्र में प्रविष्ट हो कर पुरुष-वर्ग के साथ संघर्ष-रत होती है तब परित्राण-शूरता के नाम पर पुरुष-वर्ग से नारी सुविधाओं की माँग नहीं कर सकती। इस नाटक में सेठ जी एक ओर क्लबीय जीवन की विडंबना की प्रस्तुति करते हैं और दूसरी ओर यह बताते हैं कि आधुनिक नारी हमारे घरों की सुख-शान्ति नष्ट करके ही मानेगी।

मानव-मन : 'मानव-मन' शीर्षक एकांकी नाटक 'सप्त-रश्मि' संग्रह में संकलित है। इसमें मानव-मन की सहज स्वाभाविक' वृत्ति का उद्घाटन किया गया है। कृष्ण वल्लभ नामक एक व्यापारी है, जिसके मित्र बृजमोहन को क्षय-रोग हो जाता है। कृष्ण वल्लभ उसकी तीमारदारी के लिए जाता है। लेकिन वह यह देख कर दंग रह जाता है कि उसके बीमार मित्र की पत्नी भारती को पफ़-पाउडर, क्लब, पार्टियों आदि से ही फ़ुर्सत नहीं है। एक दफ़ा बृजमोहन की तबीयत के विषय में पूछ कर वह अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर लेती है और बृजमोहन को सँभालते हैं डाक्टर।

कृष्ण वल्लभ की पत्नी पद्मा को भी भारती का यह व्यवहार नितान्त अनुचित और अमानुषिक दीखता है। वह यह मानती है कि बीमार पति की सेवा में दो वर्ष नहीं अगर सारा जीवन ही बीत जाय तो स्त्री को रो-धो कर नहीं, शान्ति से उसे बिता देना चाहिए।[2]

भारती ने अपनी सफ़ाई में बताया है कि सहने की एक सीमा होती है। अपने सारे सुखों की तिलांजलि दे कर कोई स्त्री अगर अपने को अपने पति में इस प्रकार विलीन कर सके, कोई प्रेमी यदि अपने निजत्व को अपने प्रेमी में इस प्रकार समर्पण में दे सके तो वह मानवी नहीं देवी है, वह मनुष्य नहीं देवता है, लेकिन यह मानव मन.... मानव मन....![3]

---

१. स्पर्द्धा—सेठ गोविन्द दास—पृ० ४१
२. ३. सप्त रश्मि—(मानव-मन)—सेठ गोविन्द दास—पृ० १६२, १६४

पद्मा इस तरह की सफ़ाई से सन्तुष्ट होने वाली नहीं। दैव संयोग से पद्मा पर भी वैसी ही विपत्ति आ टूटती है। उसका पति कृष्ण वल्लभ भी बीमार पड़ता है और उसे क्षय-रोग हो जाता है। पद्मा आत्म-सुधि खो कर उसकी सेवा करती है। कृष्ण वल्लभ एक दिन आग्रह करके पद्मा को श्रीनाथ द्वारा के छप्पन-भोग के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए भेज देता है। यह सत्य है कि पद्मा अपनी इच्छा से उस उत्सव में सम्मिलित नहीं होती है, पति द्वारा प्रेरित हो कर ही जाती है पर उत्सव में जाना उसे अच्छा लगता है। यह वही पद्मा है, जा बीमार पति की सेवा में सारी जिन्दगी बिता देने का आदर्श निभाना पत्नी का कर्त्तव्य समझती है।

पद्मा के उक्त उत्सव में सम्मिलित होने से यह सिद्ध होता है कि बीमार के साथ बिना किसी बीमारो के बहुत दिन तक बीमार से भी बदतर हालत में दूसरा कोई भी नहीं रह सकता। मृत के साथ जीवित अपने को मृत नहीं समझ सकता। आदर्श की बात दूसरी है। मानव-मन आखिर मानव-मन है।

इस एकांकी के द्वारा नाटककार ने यही दिखाया है कि भावना और आदर्श की अपनी जगह होती है लेकिन जोवन की वास्तविकता का भी अपना कोई महत्व होता है और उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। भारती चाहती तो अपने पति के आग्रह को टाल सकती था। पर वह ऐसा नहीं कर पातो। प्रश्न उठता है कि क्या भारती को भी पार्टियों में जाना वैसे हो अच्छा न लगता होगा जैसे पद्मा को मन्दिर मे जाना अच्छा लगता है? यदि ऐसा है तो फिर भारती के व्यवहार की शिकायत क्या हो सकता है?

मानव-मन की इस दुर्बलता का अनुभव करके भी सेठ जी भारती और पद्मा को एक ही धरातल पर रखना नही चाहते। पद्मा और भारती के संस्कारो में बड़ा अन्तर है। भारतो उन आधुनिकाओं का प्रतिरूप है, जा अपने बीमार पति को डाक्टर और नर्स के भरोसे छोड़ सकतो हैं। पफ़-पाउडर, पार्टियों में अपना सारा समय गुजार सकती हैं। इधर पद्मा है, जो आत्म-सुधि खो कर पति की तीमारदारी करती है। भारती तो पति की तबीयत का हाल एक बार पूछ कर उसके प्रति बेफ़िक्र हो सकती है लेकिन पद्मा को वैसा व्यावहारिक हृदय नहीं मिला है।

नाटककार पद्मा के उत्सव मे जाने की बात को सह पाते हैं। लेकिन वे भारती के व्यवहार की कठोरता, सेवा-परायणता के गुण के अभाव का समर्थन नहीं कर पाते।

प्रश्न यह नहीं है कि बीमार के साथ भारती पद्मा की तरह बीमार क्यो नहीं होती, बल्कि यह है कि भारती अपने पति की बीमारी के प्रति इस प्रकार निरपेक्ष हो कर गृह-धर्म के प्रति नारी के उत्तरदायित्व का कौन-सा आदर्श उपस्थित कर रही है।

मैत्री : 'मैत्री' शीर्षक एकांकी में निर्मल चन्द्र और विनय मोहन नामक उन दो व्यक्तियों की कथा आती है, जो परस्पर मित्र हैं और अपनी मैत्री पर उन्हें गर्व है। दोनों साथ-साथ पढ़े हैं। दोनों साथ रहते और साथ ही काम करते हैं। उनकी

जैसी मैत्री, न कभी देखी गयी और न सुनी गयी।

दोनों को मैत्री की अग्नि-परीक्षा का एक अवसर आता है। कांग्रेस दल ने स्थानीय नगरपालिका में बहुमत प्राप्त किया है और अब उसे उसके अध्यक्ष का चुनाव करना है। दल इस बात का निर्णय नहीं कर पाता कि वह विनय मोहन और निर्मल चन्द्र में से किसे दल का नेता तथा नगरपालिका का अध्यक्ष बनावे। इससे वह उस बात का निर्णय उन दोनों मित्रों पर ही छोड़ देता है। आज पहली बार दोनों गाढ़े मित्रों का स्वार्थ परस्पर टकराता है और दोनो के बीच बात बढ़ जाती है, अप्रिय प्रसंग का अवसर तक आ जाता है।

निर्मल चन्द्र विनय मोहन से कहता है कि उससे बोर्ड की चेयरमैनी एक दिन भी नहीं चलेगी क्योंकि उसमें बहुत सारे दोष हैं विनयमोहन भी उसी लहजे में निर्मलचन्द्र को कहता है कि उसके दोषों की तो गिनती ही नहीं है। उससे चेयरमैनी तो एक क्षण को भी नहीं चलेगी। स्थिति यह है कि बोर्ड की चेयरमैनी का प्रश्न इन परम मित्रों के स्नेह-सम्बन्ध को इस प्रकार नष्ट कर देता है।

लेकिन ग़नीमत यह है कि ये दोनों ही मित्र पीछे चल कर यह अनुभव कर लेते हैं कि जो पद उन्हें लोलुपता के नजदीक ले जा सकता है, जो एक-दूसरे से स्पर्द्धा और स्पर्द्धा ही नहीं ईर्ष्या का उत्पत्ति कर सकता है, जो एक-दूसरे के सामने झूठ बुलवा सकता है, एक-दूसरे के लिए अपशब्द बुलवा सकता है, उस पद को उन्हें मंजूर ही नहीं करना चाहिए।[1]

सेठ जी ने पद-ग्रहण की समस्या को अपने कई नाटकों में उपस्थित किया है। इस एकांकी में वे उसकी बुराइयों को ओर संकेत करते है। सेठ जी ने अत्यन्त दुःख के साथ देखा कि पद-ग्रहण के प्रश्न ने त्यागियों की संस्था कांग्रेस को भी कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। कांग्रेस-संस्था के सदस्यों के बीच घुस आगे स्वार्थ-भाव और संघर्ष के परिणाम की कल्पना करके ही सेठ जी व्याकुल हो जाते हैं। समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि जिस चेयरमैनी का परिणाम निर्मलचन्द्र और विनय मोहन जैसे मित्रों की मैत्री के अन्त में हो, उस चेयरमैनी को ले कर होगा क्या? उसे तो दूर से ही नमस्कार कर देना चाहिए।

धोखेबाज़ : 'धोखेबाज़' शीर्षक एकांकी नाटक के नायक दानमल को देश-सेवा और ग़रीबों की सेवा के लिए धन की आवश्यकता होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय दूसरे लोगों को बहती गंगा में हाथ धोते देख कर वह भी चाहता है कि उनकी ही तरह प्रचुर सम्पत्ति अर्जित कर ले। उसने देखा है कि दुनिया में धन कमाने की इच्छा रखने वालों की तीन कोटियाँ हैं। कुछ हैं, जो वैयक्तिक सुख-भोग के लिए धन चाहते हैं; कुछ दूसरे हैं, जो नामवरी के लिए धन कमाते हैं और फिर वे लोग हैं, जो दूसरों की सेवा के लिए धन-सम्पत्ति का अर्जन करते हैं। दानमल ऐसा निकृष्ट नहीं होना

१. सप्त रश्मि—(मैत्री)—सेठ गोविन्द दास—पृ० २०५

चाहता कि अपने सुख-भोग के लिए सम्पत्ति अर्जित करे। उसे यश की स्पृहा भी नहीं है। वह तो धन कमा कर देश की सेवा, आपस वालों की सहायता और ग़रीबों की भलाई करना चाहता है।[1]

पलक मारते रुपये कमाने का एक ही ज़रिया है—सट्टा बाज़ार का व्यापार। उसे सट्टा बाज़ार में प्रवेश करते समय पहले एक हिचक होती है। वह सोचता है कि सट्टे का यह बाज़ार तो असल में जुआ है; व्यापार नहीं। फिर अपने मन में उठे विवेक के इस तर्क को वह यह कह कर टाल जाता है कि आज जिन धनियों के चरण-चुम्बन के लिए बड़े-बड़े धर्माचार्य, समाज-नेता और देश-सेवक उतावले रहते हैं, वे भी तो प्रथम महायुद्ध के समय सट्टा बाज़ार में जुआ खेल कर ही दानवीर की संज्ञा प्राप्त कर सके हैं। इसी से वह धन कमाने की नीयत से सट्टा बाज़ार पहुँचता है और कुल दो महीनों में ही इतना उपार्जित कर लेता है कि उसे यह समझ में नहीं आता कि वह रुपयों को कहाँ ले जाये।

दानमल दोनों हाथ धन उलीचता है। सार्वजनिक संस्थाओं को वह इतना दे देता है, जितने की उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। लखमीदास और कमला चरण जैसे अपने सहपाठियों के लिए भी वह पक्का बन्दोबस्त कर रहा है। इस प्रकार सचमुच उसने सिद्ध कर दिया है कि लुटाने के लिए ही यह धन कमा रहा है।

फाटके का रोजगार बड़ा विचित्र होता है। उसमें पल मे उदय और पल में प्रलय हुआ करता है। यह इसलिए कि यह बाज़ार मनोविज्ञान का बाज़ार है। सरकार द्वारा 'वार-बैग' की आपूर्त्ति की तिथि के कुल तीन महीने बढ़ा देने भर से हैसियन के बाज़ार में भूकम्प आ जाता है और उसके परिणाम-स्वरूप दानमल का दीवाला हो जाता है। नीलरतन, कैलाशचन्द्र और मुमताजुद्दीन जैसे उसके पावनेदार, उसके मुनीम रूपचन्द से मिल कर उसे कचहरी घसीट ले जाते हैं और उस पर दफ़ा चार सौ बीस का मुकदमा ठोंकते हैं। कचहरी में न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित हो कर दानमल अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहता है—मुझे ऐसी सख्त ...ऐसी सख्त सजा दीजिए कि चाहे सारा समाज, धर्माचार्य, समाज-सेवक और दरिद्र नारायण के झूठे, पर लक्ष्मी नारायण के सच्चे पूजक ये राजनैतिक नेता रुपये का पूजन करें, श्रीमानों का चरण-चुम्बन करें, पर मेरे मन में, मेरे छोटे-से हृदय में इसकी प्राप्ति की अभिलाषा का अवशेष भी न रहे।[2]

दानमल जैसे परोपकारी लोक-सेवक का ऐसा दुखद अन्त कि वह धन और प्रतिष्ठा के साथ ही जान से भी हाथ धो बैठे, सचमुच परिताप का विषय है। प्रश्न है, समाज से उसे प्रतिदान में यह पराजय क्यों मिली ? उसने वही तो किया है, जो दूसरे करते हैं और प्रतिष्ठा पाते हैं। उनके साथ दानमल का यदि कोई अन्तर हो सकता है तो यही कि जहाँ वे सफल जुआरी हैं, वहाँ दानमल का दुर्भाग्य उसे असफल जुआरी

१. २. सप्त रश्मि—(धोखेबाज़)—सेठ गोविन्द दास—पृ० ४२, ६६

सिद्ध करता है। तो क्या सफलता-असफलता के प्रमाण पर अपराध का निर्णय होना चाहिए ?

नहीं, सेठ जी की बुद्धि में दानमल की दुर्दशा का कारण यह नहीं है कि उसको सट्टा बाज़ार का अनुभव कच्चा था अथवा रूपचन्द जैसे काइयाँ मुनीम ने उसको धोखा दिया। वे इन बातों से बहुत ऊपर उठ कर हमारे सामने दो सवाल खड़े करते हैं। उनकी नज़र में दानमल का अपराध यह है कि उसने ऊँचे उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त हीन साधन का प्रयोग किया। सेठ जी कहना चाहते हैं कि सफलता के लिए लक्ष्य-साध्य को महान और पवित्र होना ही चाहिए, साधन को भी वैसा ही उच्च और पवित्र होना चाहिए। सट्टा बाजार के दूसरे सेठों के विषय में नाटककार को सम्प्रति कुछ नहीं कहना है। यह इसलिए कि वे धन या तो वैयक्तिक सुख-भोग के लिए कमाते हैं अथवा नामवरी हासिल करने के लिए। वे देश-सेवा अथवा परोपकार के लिए धन नहीं कमाते। उनका भी अंजाम अन्त में क्या होगा, इस विषय में कुछ स्पष्ट रूप में न कह कर भी वे सुझा ही जाते हैं कि जब परोपकारी दानमल की यह दुर्गति हुई तो दूसरे लोग, जिनका साधन तो गर्हित है ही साध्य भी अपवित्र है, सट्टा बाज़ार की अस्थिरता के परिणाम से बचेंगे कैसे ? लेकिन जैसा कि हमने पहले बताया, सम्प्रति सेठ जी के सामने यह प्रश्न नहीं था।

सेठ जी ने जिस दूसरे प्रश्न को उठाया है, वह है कि क्या हमें सार्वजनिक कार्यों के लिए सट्टा बाज़ार के इन जुआरी धन-कुबेरों से आर्थिक सहायता ग्रहण करते समय यह नहीं सोचना चाहिए कि उनके पैसे अपवित्र हैं और अपवित्र पैसों के साधन के पवित्र उद्देश्यों की सिद्धि अनुचित होगी ?

अधिकार लिप्सा : तीन दृश्यों में विभाजित होने वाली, 'अधिकार-लिप्सा' की कथा राजा अयोध्या सिंह नामक एक जमींदार की अधिकार-लिप्सा का विवरण प्रस्तुत करती है। राजा अयोध्या सिंह की अवस्था बहुत अधिक हो गयी है। उसका पुत्र कुमार काशी सिंह उसे सांसारिक चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त करने के उद्देश्य से राज-काज का सारा भार अपने ऊपर ले लेता है। लेकिन राजा अयोध्या सिंह है, जो न अपने को बूढ़ा मान कर वाणप्रस्थ अवस्था में जाना चाहता है और न किसी के शासन में रहना चाहता है। अधिकार की यह लिप्सा उसे प्रेरित करती है कि वह बीमार होने का बहाना करे और अपने बेटे काशी सिंह पर अपनी बीमारी की चिन्ता का दुर्वह भार लादे रखे ताकि वह अधिकार-सुख का भोग न कर पावे। उसे इस बात का सन्तोष नहीं है कि काशी सिंह उसे चिन्तामुक्त कर रहा है, आराम दे रहा है। उसे लगता है कि उसके अधिकार छिन गये हैं और इस स्थिति को वह किसी तरह भी सह नहीं पाता।

बीमार अयोध्या सिंह का पचासों तरह का इलाज चलता है और परिणाम-स्वरूप जो राजा अयोध्या सिंह कल तक पूर्ण स्वस्थ था, इलाज के कारण जान गँवा

डालता है ।

इस नाटक के द्वारा मानव-हृदय की एक दुर्बलता की ओर संकेत किया गया है । अधिकार भोगने के बाद त्याग की बात मन में कभी आ नहीं पाती । आदमी यही नहीं सोच पाता कि उसे संसार को सांसारिकता के ऊपर कभी उठना चाहिए और इस बात से आनन्द मनाना चाहिए कि बाल-बच्चे परिवार की गाड़ी को खीच कर ले चलने में समर्थ हो गये । हमारे पूर्वजों ने यह व्यवस्था की थी कि आदमी को एक निश्चित आयु तक ही संसार-भार ग्रहण किये रहना चाहिए । उसके बाद उसे संन्यस्त हो कर वाणप्रस्थ-आश्रम की ओर बढ़ जाना चाहिए । अधिकार के विसर्जन में भी उतना ही सुख निहित है, जितना अधिकार-ग्रहण में । लेकिन राजा अयोध्या सिंह हुकूमत करते-करते उसका आदी हो गया है और वह संन्यास नहीं ले सकता । अधिकार की लिप्सा के कारण ही अपने बेटे से भी उसे ईर्ष्या होती है और इस ईर्ष्या की ज्वाला में ही वह जल मरता है । सेठ जी ने इस नाटक द्वारा एक बड़े पते की बात कह दी है । उनके संकेत को यदि ग्रहण कर लिया जाय तो सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष मे वहुत कुछ कमी हो जाय । लेकिन राजा अयोध्या सिंह अकेला ही तो नहीं है ।

ईद और होली : सेठ जी ने अपने एकांकी नाटक 'ईद और होली' मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर विचार किया है । साम्प्रदायिक विद्वेष की आग जब भड़कती है तो अपने पड़ोसी भी दुश्मन हो जाते है । रतना का पुत्र राम और खुदाबख्श की बेटी हमीदा छोटी उम्र के बच्चे है । वे राम और रहीम को नहीं जानते, हिन्दू और मुसलमान क्या होते हैं, यह नही समझते । उनकी दृष्टि में ईद की सेवई और होली की मिठाई में कोई अन्तर नहीं है । वे साथ रहते हैं, खेलते हैं और खाते हैं । कभी यह नहीं समझते कि उनकी जाति अलग-अलग है, उनके धर्म पृथक् हैं, आचार-विचार भिन्न-भिन्न हैं और इसीलिए वे जुदा-जुदा हैं ।

लेकिन राम की माँ रतना को हमीदा से शिकायत है कि वह म्लेच्छ ब्राह्मण के बेटे को अपना जूठा खिला कर जाति-भ्रष्ट करती है । खुदाबख्श को भी रतना से यह शिकायत है कि वह उसकी बेटी को आये दिन म्लेच्छ कहती है और उसका अपमान करती है । इस प्रकार बच्चों में जो संघर्ष नहीं है, वह उनके बड़े-बूढ़ों में बना हुआ है ।

एक बार साम्प्रदायिक विद्वेष की आग भड़कती है और रतना का सारा घर-बार लील जाती है । यह कुत्सित काम करने वाला भी कोई दूसरा नहीं है रतना का पड़ोसी खुदाबख्श ही है । साम्प्रदायिकता की उत्तेजना के वश में हो कर खुदाबख्श रतना के जिस घर को तेल छिड़क कर जला रहा है, उस घर को छत पर उसकी बेटी हमीदा, राम के साथ दीन-दुनिया से बेपरवाह हो कर खेल रही है । जैसे ही खुदाबख्श को यह मालूम होता है, वह उद्विग्न हो जाता है । बच्चे विद्वेष की आग बुझाते हैं और खुदाबख्श और रतना पड़ोसी के नाते से आगे बढ़ कर भाई-बहन हो जाते हैं, न

काफ़िर रहते हैं न म्लेच्छ।

इस प्रकार सेठ जी ने इस नाटक में साम्प्रदायिक विद्वेष की समस्या को उपस्थित कर, उसका समाधान प्रस्तुत किया है। वे कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष के लिए सच पूछिये तो कोई कारण नहीं है। पूजा-त्योहार, उत्सव आनन्द के विषय हैं। ईद की सेवई यदि मुसलमानों के लिए रुचिकर है तो वह हिन्दुओं को भी क म रुचिकर नही हो सकती। होली की मिठाई, मिठाई ही है और उसका स्वाद भी दोनों के लिए एक ही है। फिर ईद और होली के नाम पर लड़ने का प्रयोजन क्या हो सकता है? द्वेष के माया-जाल मे सरल प्रकृति बच्चे नही फंसते। फंसते हैं वे, जो बच्चे नही रह जाते अर्थात् जो अपनी सरलता, स्वाभाविकता को खो चुके होते हैं। धार्मिक उत्तेजना आदमी को पागल बना देती है। रतना के जलने से इस्लाम का झंडा कहाँ बुलन्द होता है? कोई खुदाबख्श अपने पागलपन में ही ऐसा नारकीय कृत्य कर सकता है। ऐसे पागल लोगो के सामने सेठ जी बच्चों की निरीह स्वाभाविकता और उनके भोलेपन को रख कर उन्हे पागलपन से ऊपर उठने को प्रेरणा देते हैं।

वह मरा क्यों? : छोटे-छोटे ५ दृश्यों में विभाजित एकाकी नाटक 'वह मरा क्यों?' सेठ जी का एक हास्य-प्रधान एकांकी नाटक है। इस नाटक़ में गोरे अधिकारियों द्वारा एक गोरे सिपाही की मृत्यु के कारण की छानबीन का पुरलुत्फ़ ढंग से वर्णन किया गया है। अधिकारियो का अनुमान है कि कैन्टोनमेन्ट के बाहर के बाज़ार में कुछ खाने-पीने से उसकी मृत्यु हुई है। इसके अधिकारी सब्ज़ी-मंडी आते हैं और कुम्हड़ा बेचने वाले व्यक्ति को पकड़ते हैं। गोरे अधिकारी कुम्हड़े को कच्चा कछुआ समझते है और सोचते हैं कि उसी को खाने से वह सिपाही मरा। फिर मिठाई की दूकान पर जाते हैं, पिस्ते की बर्फ़ी को सड़ी हुई मिठाई समझ बैठते है और अनुमान भिड़ाते हैं कि हो-न-हो ऐसी हो किसी मिठाई के खाने के कारण गोरे की मृत्यु हुई है। अधिकारी फिर सिनेमा हाउस मे आते है और समझते है कि वहाँ की गन्दगी के कारण गोरे की मृत्यु हुई।

इस एकांकी नाटक में सेठ जी ने यह दिखाया है कि अंग्रेज़ों के शासन-काल में एक गोरे की जान की क्या कीमत होती थी। मरने वाला वह गोरा चूकि शासकों को जाति का है, इससे यह तो स्थिर करना ही होगा कि उसकी मौत के लिए ज़िम्मेवार कौन है। वह शासित जाति का कीड़ा मकोड़ा तो है नहीं कि उसके मरने का कोई अर्थ न हो। अंग्रेज अधिकारी इतने दिन शासन करने बाद भी इस देश से अपरिचित ही रहे—यही दिखाने के लिए सेठ जी गोरे कर्नल को कुम्हड़े और पिस्ते की दुकान तक ले जाते हैं। वे कहना चाहते हैं कि जिस देश के शासक और शासितों के बीच इतनी दूरी हो, उसमें शासन के प्रति अपनापन और प्रेम का भाव उत्पन्न हो ही नहीं सकता।

उस गोरे की मृत्यु के वास्तविक कारण का निर्देश करते हुए कथा में कहा गया है कि उसकी लिखी ऐसी कोई चिट्ठी मिलती है, जिससे पता चलता है कि वह अपनी

ही मेम-साहब की एक खास बीमारी के संसर्ग के कारण मरा, किसी दूसरे कारण से नहीं। इस चिट्ठी का उल्लेख करके सेठ जी ने अंग्रेज़ों के प्रति एक गहरी और मीठी चुटकी ली है। सेठ जी के ऐसे नाटक यह सिद्ध करते हैं कि वे फूहड़ प्रकृति के नहीं हैं किन्तु अंग्रेज़ों के सांस्कृतिक उच्चता विषयक दावे के खोखलेपन को सिद्ध करने के लिए ही वे इस तरह मज़ाक पर उतर आते हैं।

इस एकांकी के विधान की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कौतूहल की स्थिति को अन्त तक बनाये रखा गया है और उस गोरे की मृत्यु का रहस्य-भेद सचमुच एक अजब ढंग से होता है।

कंगाल नहीं : 'कंगाल नहीं' केवल एक दृश्य का अत्यन्त छोटा-सा नाटक है, जिसका कथानक सत्य घटना पर आधारित है। सेठ गोविन्द दास को इस कथा का पता राय बहादुर हीरालाल से चला। इस नाटक में एक ऐसे राज-परिवार की कथा कही गयी है, जिसके पूर्वजों ने किसी ज़माने में देश का इतिहास गढ़ा था। लेकिन आज इस राज-परिवार के सात प्राणियों को सरकारी पेन्शन की कुल १२०) रुपये वार्षिक की राशि पर गुजारा करना पड़ता है।

इलाके में अकाल पड़ा है और सरकार ने अकाल-ग्रस्त लोगों के लिए शरीर-श्रम करके जीविका अर्जन करने का प्रबन्ध किया है। इस राज-घराने के सदस्य भी वंशाभिमान त्याग कर शरीर-श्रम करके अपनी आमदनी को थोड़ा-सा बढ़ा लेना चाहते हैं। वे इसी से काम के लिए प्रार्थी हो कर उपस्थित होते हैं। पर भाग्य साथ नहीं देता। अधिकारी कहते हैं कि सरकार ने उनके लिए काम खोला है, जो कंगाल हैं। राजघराने के लोग कंगाल नहीं माने जा सकते और इसलिए कंगालों को दी जाने वाली सुविधा का लाभ उनको उठाने नहीं दिया जा सकता।

सेठ जी ने इस बात पर परिताप प्रकट किया है कि हमारा देश अपने इतिहास के गढ़ने वाले लोगों को ऐसा भूल गया है कि उनके वंशजों को इस तरह दयनीय होना पड़ता है। नाटककार के सामने दूसरा प्रश्न यह है कि कोई वंशभिमान को छोड़ कर साधारणता के धरातल पर खड़ा होना चाहे तो दुनिया उसे इसके लिए सुविधा नहीं देती।

सरकारी योजनाओं को कार्यान्वित करने वाले अधिकारियों के मनोभावों के प्रति भी इस एकांकी में व्यंग्य किया गया है। सेठ जी ने दुःख के साथ यह देखा कि सरकारी अधिकारी सरकारी आज्ञा-पत्र के वर्ण को ही पकड़ पाते हैं, उसके मन्तव्य को नहीं। नीति का निर्धारण करने वाले शासकों और निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने वाले अधिकारियों के बीच की इस दूरी के कारण हम जो थोड़ा बहुत कर सकते थे, उसे भी कर नहीं पाते।

सेठ गोविन्ददास यह मानते हैं कि समस्या नाटककार के सामने सर्वप्रथम कोई विचार आता है। उस विचार के विकास के लिए वह नाटकीय कथा में संघर्ष की

स्थिति बनाता है। विचार, संघर्ष से परिपुष्ट हो कर समस्या का स्वरूप प्राप्त करता है। इस प्रकार नाटक में समस्या की प्रस्तुति की सफलता मुख्यतः संघर्ष की मार्मिकता पर स्थिर होती है। जहाँ पूरे नाटक में उस संघर्ष के कई पहलुओं को दिखाने की अपेक्षा होती हैं, वहाँ एकांकी नाटक में उस संघर्ष के सिर्फ़ एक पहलू को दिखाना ही पर्याप्त होता है।[1]

अब तक हमने जिन एकांकी नाटकों का विचार किया, उनमें संघर्ष मुखर रहा है, किन्तु सेठ जी के कुछ ऐसे एकांकी नाटक भी हैं, जिनमें विचार हैं, उनके विकास के लिए संघर्ष की अवतारणा करने की नाटककार ने चेष्टा भी की है किन्तु, उनमें संघर्ष इतना मार्मिक और मुखर नहीं हो पाया है कि समस्या-नाटक की शर्त्त पूरी हो। उनके ऐसे एकांकी नाटकों में 'फाँसी,' 'सूखे सन्तरे,' 'व्यवहार,' 'आधुनिक यात्रा,' 'उठाओ खाओ खाना अथवा बफ़े-डिनर,' 'महाराज,' 'बूढ़े की जीभ' और 'चौवीस घंटे' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में जो समस्यायें उठाई गयी हैं, वे ऐसी नहीं हैं, जो पाठक-प्रेक्षक के मानस में उथल-पुथल मचा दें और वह सोच-विचार करने लगे।
अब हम इन नाटकों की चर्चा भी कर लेना चाहेंगे।

फाँसी : 'फाँसी' शीर्षक एकांकी नाटक में सेठ जी ने ऐसे तीन व्यक्तियों को प्रस्तुत किया है, जो अपनी प्रिय वस्तु पर एकान्त रूप से अधिकार करने की स्पृहा के कारण बल-प्रयोग करने की नादानी कर जाते हैं। इन तीनों में एक कवि है, जो अपनी प्रेयसी पर एकाधिकार करने के लिए उस पर बलात्कार करता है। वह अपने इस कर्म के औचित्य का प्रतिपादन करते हुए कहता है—'प्रलय के समय समुद्र बल-पूर्वक ही तो पृथ्वी को अपनी लहरों से दबोचता है।'[2] प्रेमिका कवि के बलात्कार के फलस्वरूप मर जाती है और कवि को मृत्युदण्ड मिलता है। दूसरा पात्र एक पूँजीपति है, जिसने अपनी 'मिल' के एक हड़ताली मज़दूर की हत्या की है और दण्ड-स्वरूप उसे भी फाँसी की सज़ा मिलती है। तीसरा व्यक्ति है एक मज़दूर। वह यह मानता है कि पूँजीवाद अनेक लोगों को दुख में डाल कर थोड़े से लोगों के सुख का विधान करता है और इसलिए उसके विरुद्ध खड़ा होना मनुष्य का धर्म है। यही सोच कर वह एक पूँजीपति की हत्या कर देता है और खुशी-खुशी फाँसी पर चढ़ जाने के लिए तैयार बैठा है। पूँजीपति और कवि मरना नहीं चाहते, इनको बचाने के लिए प्रयत्न भी होते हैं। देश के कवि-कलाकारों ने सरकार से आवेदन किया है कि मृत्यु-दण्ड पाये हुए उस उदीयमान कवि की क्षमा-याचना को स्वीकार किया जाय। उधर पूँजीपति अपनी रक्षा के लिए धन का जाल खड़ा करता है किन्तु, कवि और पूँजीपति के सारे प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं और अब इन तीनों की फाँसी की घड़ी आ जाती है। कथा में कहा गया है

१. सप्तरश्मि (प्राक्कथन)—सेठ गोविन्द दास—पृ० १३
२. अष्टदल (फाँसी)—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ७७

कि इस अन्तिम क्षण में कवि शून्य और कातर दृष्टि से सामने की ओर देखने लगता है, पूँजीपति रोता है और उन दोनों को इस स्थिति में देख कर मजदूर कहकहे लगाता है।

प्रश्न है, क्या नाटकीय कथा का यह विकास, 'विचार' को 'संघर्ष' की स्थिति में ले जाता है। नाटककार ने इस एकांकी में असल में कहना यह चाहा है कि आदमी स्वार्थ के अतिवाद की स्थिति में पहुँच कर अकांड-कर्म कर जाता है। कवि अपनी प्रेमिका को एकान्त रूप से अपने में लय करके रखना चाहता है। पूँजीपति प्रकृति की विभूतियों पर स्वार्थ का एकाधिकार चाहता है और मजदूर भी उसी की तरह 'मिल' को श्रमिक के एकाधिकार का विषय बनाना चाहता है। इनमें कोई स्वार्थ को थोड़ा भी छोड़ना नही चाहता। इसी से तीनों ही दण्ड पाते हैं। इन पात्रों में कवि भावुक और अनुभव-हीन तो है ही, शायद अभिमानी भी है। उसे यह व्यामोह है कि उसके जैसे उदीयमान कवि को लोग मरने नहीं देंगे और सरकार पर ज़ोर डालेंगे कि उसे छोड़ दिया जाय। पूँजीपति का विश्वास है कि धन से दुनिया में सब कुछ सम्भव है और फिर वह यह भी सोचता है कि आखिर उसने ऐसा अपराध ही क्या किया है कि उसे मृत्यु-दण्ड मिले। उसने उस मज़दूर की तुच्छ जान ली है, जिसकी कीमत कीड़े-मकोड़े से अधिक नहीं हो सकती। इनके विपरीत श्रमिक की प्रतिहिंसा भावना ही इस रूप में प्रबल है कि उसे फाँसी चढ़ जाने में तनिक भी हिचक नहीं होती। उसे भगवान से यही शिकायत है कि किसी दूसरे पूँजीपति की हत्या करने का पुण्य-लाभ पाने का अवसर वह उसे नही दे रहा है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सेठ जी के सामने एक निश्चित विचार तो है किन्तु उस विचार के विकास के लिए उचित अवसर इस कथानक में आ नहीं पाता। हम तो यह भी कह सकते है कि कथानक का इस रूप में विकास व्यर्थ का विस्तार ही हुआ क्योंकि उससे मुख्य समस्या पर अपेक्षित प्रकाश नहीं पड़ा।

व्यवहार : ऐसे ही एकांकी नाटकों में एक 'व्यवहार' भी है। इस एकांकी नाटक में ज़मीदार-किसान-सम्बन्ध की तिक्तता को अभिव्यक्ति मिली है। रघुराज सिह ऐसा ज़मींदार है, जिसके हृदय में किसानों के प्रति सच्ची सहानुभूति है और उनके साथ वह एकमेव होना चाहता है। उसने गद्दी पर आने के बाद किसानों के सिर पर पड़े हुए सारे कर्ज़ की माफ़ी दे दी है; लगान घटा दिया है और उनसे बिना नज़राना लिये हुए, वह उनके नाम ज़मीन बन्दोबस्त करता है।

उसकी रियासत में चिरकाल से यह नियम रहा है कि राज घराने में जब ब्याह-शादी हो तो प्रमुख असामियों को निमंत्रित किया जाय और इस व्यवहार में असामियों से नज़राना लिया जाय। रघुराज सिंह इस नियम में संशोधन करता है। अपनी बहन के विवाह के अवसर पर वह अपने सभी असामियों को निमंत्रित करता है और ताकीद करता है कि उनसे किसी प्रकार का नज़राना न लिया जाय और उनके

साथ रियासत के सम्मानित मेहमानों जैसा व्यवहार किया जाय।

लेकिन उसकी उदारता की इस नयी परम्परा के प्रति उसके असामियों को विश्वास नहीं होता। किसानों का नेता क्रान्तिचन्द्र, रघुराज का विरोध करते हुए प्रचारित करता है कि भक्ष्य और भक्षक का आपसी व्यवहार भला हो भी क्या सकता है। वह ज़मींदार को साफ़-साफ बता देना चाहता है कि ज़मींदार और किसान के हित परस्पर भिन्न तो हैं ही, विरोधी भी हैं। असामियों को वह यह कह कर अपने पक्ष में कर लेता है कि रघुराज सिंह के पूर्वज तो केवल सम्पन्न किसानों का ऐसे अवसर पर बुलाया करते थे और उनसे व्यवहार की रकम वसूलते थे लेकिन इस रघुराज सिंह ने कई कदम आगे बढ़ कर सभी असामियों को बुलाया है और वह भी कुटुम्ब सहित। इससे अब उसको प्रत्येक घर से ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति से व्यवहार की रकम प्राप्त होगी।

स्पष्ट है कि क्रान्तिचन्द्र की इन बातों में कहीं कोई सचाई नहीं है लेकिन वर्ग-संघर्ष की भावना किसानों के बीच इस प्रकार बद्धमूल हो गयी है कि इस बात पर कोई विश्वास ही नहीं कर सकता कि रघुराज सिंह जैसा कोई व्यक्ति ज़मींदार बना रह कर किसानों का हित-चिन्तन कर सकता है। क्रान्तिचन्द्र ने रघुराज सिंह को सुझा दिया है कि उसके जैसे ज़मींदार के आगे दो ही रास्ते बचते हैं। या तो वह ज़मींदार रह कर अपना, अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर का, अपने छोटे-से कुटुम्ब का हित-साधन करे या ज़मींदारी के तौक को गले से उतार कर, जिन किसानों के हितू होने का वह दावा करता है, बिलकुल उनके बीच आ कर उनके साथ किसान बन जाय।

इस विवरण से यह विदित होता है कि सेठ जी को ज़मींदारों और किसानों के बीच सह-अस्तित्व के लिए कोई आधार नहीं दीखा। सेठ जी ने इस नाटक में ज़मींदार-किसान के संघर्ष को अपने विचार के लिए उठाया तो लेकिन समस्या का समाधान क्या हो, यह उन्हें मालूम नहीं है। ज़मींदार के स्वत्व-विसर्जन से भी समस्या का समाधान नहीं हो पायेगा। हमें यह भी लगता है कि प्रश्न को समस्या के रूप में विकसित होने के लिए जिस संघर्ष की अपेक्षा थी, क्रान्तिचन्द्र की क्रान्ति उसके उपयुक्त नहीं हो सकी। यह इसलिए कि उसका सारा विरोध झूठ पर टिका हुआ था। अस्तु, रघुराज सिंह ही हमारी सहानुभूति का अधिकारी होता है, क्रान्तिचन्द्र नहीं। किसानों के बीच से ही कोई दूसरा निकल कर रघुराज सिंह के व्यवहार की सचाई का प्रकाश करता तो निश्चय ही क्रान्तिचन्द्र की क्रान्ति औंधे मुँह गिर पड़ती।

आधुनिक यात्रा : सेठ जी ने कुछ ऐसे भी एकांकी लिखे हैं, जिनमें शासन की आलोचना हुई है। ऐसे नाटकों में 'आधुनिक यात्रा' भी एक है। द्वितीय महायुद्ध के समय रेलगाड़ी की सवारी करना बड़ा कठिन कार्य हो गया था। लडाई के कारण मुसाफ़िर-गाड़ियों की संख्या में आधे की कटौती कर दी गयी थी ताकि अंग्रेज़ों के युद्ध-प्रयत्नों में कहीं कोई बाधा न हो। फल यह हुआ कि गाड़ी पर

ली है। ऐसे पद्धति के समर्थक यह बताते हैं कि ऐसे भोज की खूबी यह है कि आदमी अपनी मंशा के मुताबिक, जो चीज़ उसे पसंद होती है, वह ले लेता है और कोई चीज फिजूल ज़ाया नही होती।[1] किन्तु, नाटककार ने इस पद्धति को सुकर और कम खर्चीला होने पर भी अनुकरणीय नही माना है। इसी से यह दिखाया है कि एक आदमी उस तरह खाने में अपना प्लेट उलट लेता है, जिसके फलस्वरूप उसका अपना कपड़ा और फ़र्श तो गन्दे होते ही हैं पास के साथी का भी कपड़ा खराब होता है। इससे आगे बढ़ कर उन्होने एक दूसरे पात्र के मुँह से कहलाया है कि छोटी-सी प्लेट में बहुत सारे सामान इस तरह जमा हो गये है कि जैसे चूँ-चूं का मुरब्बा हो गया हो और खाया जाना कठिन हो गया है।[2] पंडित विशुद्धानन्द, जो अपने नाम के प्रतिकूल दकियानूस ब्राह्मण नहीं है, छुआछूत नहीं मानता और मुसलमान बहनों के द्वारा तैयार किया हुआ निरामिष भोजन तथा हरिजन भाइयो के यहाँ निस्संकोच भाव से दाल-भात खा सकता है, खाया भी करता है, इस 'बफ़े डिनर' में पहुँच कर अनुभव करता है कि उसको खाने की तनिक भी रुचि नही हो रही है। वह बड़े स्पष्ट शब्दों में कहता है—'मेरी तो सारी ज्ञानेन्द्रियाँ उठाओ खाओ खाने का यह दृश्य देख कर ऐसी तृप्त हुई है कि कर्मेन्द्रियाँ किसी भी कृति के लिए असमर्थ हो गयी है।'[3] इस विशुद्धानन्द को किसी धार्मिक दृष्टि से नही बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से ही ऐसे भोज में सम्मिलित होना सर्वथा अनुचित दीखता है।[4] नाटककार ने इस एकांकी मे 'बफ़े डिनर' की अनेक त्रुटियों का इस प्रकार उल्लेख करने के बाद भारतीय भोजन-प्रणाली को श्रेष्ठ और उपयोगी बताया है।

इस नाटक में सेठ जी समस्या को थोड़ा भी उभार नही पाते।

महाराज : चूल्हे-चौके से प्रेरणा ले कर सेठ जी ने एक दूसरे एकांकी 'महाराज' की रचना की। यह एकांकी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो भागों में बँटा हुआ है। इन दोनों भागों में हिन्दुओं के रसोई घर के दो परस्पर भिन्न चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। पूर्वार्द्ध मे जो 'महाराज' है, उसका दावा है कि उसका ब्राह्मण-वर्ण स्वयं ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ है और इसलिए आर-ता-और, वह राजा से भी ऊपर महाराज है। यह महाराज शुद्धता-अशुद्धता और स्पर्शास्पर्श का पूरा ध्यान रखता है जिसके कारण वह दासों को भोजन बनाने के चातरे के ऊपर चढ़ने नही देता। उसका विश्वास कहता है कि पय-पान की अवस्था तक भोजन में विशेष विचार की आवश्यकता नही होती। किन्तु, अन्नप्राशन के पश्चात् इस विचार का प्रारम्भ हो जाता है और उपनयन होते ही इस विषय में पूर्ण विवेक अनिवार्य हो जाता है।[5] एकांकी के उत्तरार्द्ध में जिस महाराज को उपस्थित किया गया है, वह जन्म से ब्राह्मण तो ज़रूर है किन्तु पूर्वार्द्ध के

१. . ३. ४. गोविन्द दास ग्रन्थावली (खंड ३) उठाओ खाओ खाना अथवा बफ़े डिनर—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १४४, १४५, १४६, १४८।

१. एकादशी—एकांकी संग्रह (महाराज) : सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १७८-१७९,

ली है। ऐसे पद्धति के समर्थक यह बताते हैं कि ऐसे भोज की खूबी यह है कि आदमी अपनी मंशा के मुताबिक, जो चीज उसे पसंद होती है, वह ले लेता है और कोई चीज़ फिज़ूल जाया नहीं होती।[1] किन्तु, नाटककार ने इस पद्धति को सुकर और कम खर्चीला होने पर भी अनुकरणीय नहीं माना है। इसी से यह दिखाया है कि एक आदमी उस तरह खाने में अपना प्लेट उलट लेता है, जिसके फलस्वरूप उसका अपना कपड़ा और फ़र्श तो गन्दे होते ही हैं पास के साथी का भी कपड़ा खराब होता है। इससे आगे बढ़ कर उन्होंने एक दूसरे पात्र के मुँह से कहलाया है कि छोटी-सी प्लेट में बहुत सारे सामान इस तरह जमा हो गये है कि जैसे चूँ-चूं का मुरब्बा हो गया हो और खाया जाना कठिन हो गया है।[2] पंडित विशुद्धानन्द, जो अपने नाम के प्रतिकूल दकियानूस ब्राह्मण नहीं है, छुआछूत नहीं मानता और मुसलमान बहनों के द्वारा तैयार किया हुआ निरामिष भोजन तथा हरिजन भाइयों के यहाँ निस्संकोच भाव से दाल-भात खा सकता है, खाया भी करता है, इस 'बफ़े डिनर' में पहुँच कर अनुभव करता है कि उसको खाने की तनिक भी रुचि नहीं हो रही है। वह बड़े स्पष्ट शब्दों में कहता है—'मेरी तो सारी ज्ञानेन्द्रियाँ उठाओ खाओ खाने का यह दृश्य देख कर ऐसी तृप्त हुई है कि कर्मेन्द्रियाँ किसी भी कृति के लिए असमर्थ हो गयी है।'[3] इस विशुद्धानन्द को किसी धार्मिक दृष्टि से नहीं बल्कि स्वास्थ्य की दृष्टि से ही ऐसे भोज में सम्मिलित होना सर्वथा अनुचित दीखता है।[4] नाटककार ने इस एकांकी में 'बफ़े डिनर' की अनेक त्रुटियों का इस प्रकार उल्लेख करने के बाद भारतीय भोजन-प्रणाली को श्रेष्ठ और उपयोगी बताया है।

इस नाटक में सेठ जी समस्या को थोड़ा भी उभार नहीं पाते।

महाराज : चूल्हे-चौके से प्रेरणा ले कर सेठ जी ने एक दूसरे एकांकी 'महाराज' की रचना की। यह एकांकी पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के दो भागों में बँटा हुआ है। इन दोनों भागों में हिन्दुओं के रसोई घर के दो परस्पर भिन्न चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। पूर्वार्द्ध में जो 'महाराज' है, उसका दावा है कि उसका ब्राह्मण-वर्ण स्वयं ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ है और इसलिए [illegible], वह राजा से भी ऊपर महाराज है। यह महाराज शुद्धता-अशुद्धता और स्पर्शास्पर्श का पूरा ध्यान रखता है जिसके कारण वह दासों को भोजन बनाने के चौतरे के ऊपर चढ़ने नहीं देता। उसका विश्वास कहता है कि पय-पान की अवस्था तक भोजन में विशेष विचार की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु, अन्नप्राशन के पश्चात् इस विचार का प्रारम्भ हो जाता है और उपनयन होते ही इस विषय में पूर्ण विवेक अनिवार्य हो जाता है।[1] एकांकी के उत्तरार्द्ध में जिस महाराज को उपस्थित किया गया है, वह जन्म से ब्राह्मण तो ज़रूर है किन्तु पूर्वार्द्ध के

---

१. . ३. ४. गोविन्द दास ग्रन्थावली (खंड ३) उठाओ खाओ खाना अथवा बफ़े डिनर—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १४४, १४५, १४६, १४८।

१. एकादशी—एकांकी संग्रह (महाराज) : सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १७८-१७६,

महाराज की तरह वह कर्म से भी ब्राह्मण नहीं है। वह निहायत गंदे ढंग से रहता है, कमर से ले कर नाभि-स्थान तक उसके दाद के चिह्न हैं, हजामत बढ़ी हुई है, बाँयें कंधे पर रहने वाला जनेऊ घिनौने ढंग से मैला हो गया है, कभी वह नाक सुड़कता है तो कभी दाद खुजाता है। सेठ जी सुझाते हैं कि ऐसे गंदे आदमी के हाथ से बने भोजन को ग्रहण करने से, न तो संस्कार उन्नत हो सकता है और न स्वास्थ्य का ही लाभ होगा। ऐसा आदमी 'महाराज' शब्द की गरिमा से उतर कर चौका घर का 'बाबाजी' हो गया है तो यह आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह आज का महाराज अपने भुसुरत्व के संस्कार-बल को पूरा-का-पूरा भूल गया है और अपने ही मुख से इसे स्वीकार करते हुए कहता है—'आज तो बाह्मन जात भाट्याराँ री जात रह गयी छै।'[1]

सच्ची बात तो यह है कि अपने तेजोबल को खो कर वह ऐसा हो गया है कि उसे रसोईदार भी नहीं रखा जा सकता। हिन्दू वर्णाश्रम धर्म के प्रति निष्ठा रखने वाले सेठ जी का, ब्राह्मण जाति के इस अधःपतन पर दुःखी होना स्वाभाविक है। वे सोचते हैं कि जब सर्वश्रेष्ठ वर्ण की यह स्थिति है तो किस बल पर आज हिन्दू-वर्णाश्रम-धर्म का अभिमान किया जा सकता है।

बूढ़े की जीभ : 'बूढ़े की जीभ' शीर्षक एकांकी में भी नाटक की समस्या उभर नहीं पाती। इस नाटक में पैंसठ वर्षो की पक्की उम्र वाले हुकुम चन्द नामक एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया गया है, जिसको जीभ की बीमारी हो गयी है। अर्थात् उसकी पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से नौ इन्द्रियों ने अपना सारा काम बन्द कर दिया है और उनका सारा बल जीभ को प्राप्त हो गया है।[2] उसका वैद्य आ कर उसको समझाता है कि यदि वह स्वस्थ रहना चाहता है तो उसको अविलम्ब अन्न खाना बन्द कर देना होगा। लेकिन, हुकुमचन्द के सामने तो अपने उन पूर्वजों का आदर्श है, जो अस्सी वर्षो की उम्र में सबेरे पूरे डेढ़ सेर दूध और आध सेर पूड़ी का कलेवा करते थे। दोपहर में खिचड़ी के साथ आधा सेर घी खाते थे। बारहों महीने तीसरे पहर डेढ़ पाव बादाम और डेढ़ पाव पिस्ते तलवा कर उसके साथ सेंधा नमक और काली मिर्च भुरका कर खाते थे। शाम को ब्यालू में हमेशा पराँठे खाते थे और वे भी पूरे तीन पाव। इन सब के ऊपर-रात को सोते वक्त अढ़ाई सेर दूध की रबड़ी पीते थे।[3] यों कहिए कि इतना खाने के बाद आखिर आदमी स्वस्थ कैसे रह सकता है तो हुकुमचन्द जवाब देगा कि स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए ही तो उसने वैद्य बहाल कर रखा है।

इस प्रकार इस नाटक में एक पुरलुत्फ़ पात्र के दर्शन तो हमें होते हैं लेकिन किसी समस्या के नहीं।

चौबीस घंटे : इसी तरह 'चौबीस घंटे' शीर्षक एकांकी में भी सेठ जी समस्या को वज़नदार नही बना सके। इस एकांकी में कथा आयी है कि घर के

---

१. एकादशी (महाराज) पृष्ठ १८७

२. ३. एकादशी—एकांकी संग्रह (बूढ़े की जीभ)—सेठ गोविन्द दास— पृष्ठ १६७, १६२।

मालिक वृद्ध पिता को यह सुन कर बड़ी निराशा होती है कि अब ऑल इन्डिया रेडियो चौबीसों घंटे प्रसारण किया करेगा। वह अपने नौकर को आदेश देता है कि जल्दी से उसका सामान बाँध दे ताकि वह घर छोड़ कर चला जाय। प्रश्न है, उसे रेडियो के रात-दिन प्रसारण पर आख़िर आपत्ति क्यों है। ऊपर से देख कर हम यही सोच सकेंगे कि देर तक रेडियो के बजने से उसकी शान्ति भंग होती होगी। लेकिन, इतना ही नहीं है। उसके इस प्रकार भड़क उठने का कारण यह है कि सरकार एक ओर तो सदाचार फैलाने के लिए गन्दी बस्तियों को उठा रही है और दूसरी ओर महफ़िल में गाने वाली उन्हीं अच्छी-बुरी वेश्याओं को रेडियो स्टेशन पर बुला कर महफ़िल सजाती है। यह वृद्ध, सरकारी नीति की खिल्ली उड़ाते हुए कहता है—'यों महफ़िल होना बुरा है, अच्छी-से-अच्छी गाने वाली रंडियों का गाना सुनना पाप, पर रेडियो में गाने वाली अच्छी-बुरी किसी भी कस्बी का गाना सुनना धर्म है।'[1]

इस प्रकार इस नाटक में उस सरकारी नीति की आलोचना की गयी है, जिसके अनुसार एक ओर तो वेश्याओं को समाज के लिए कोढ़ मान कर उनसे अलग रहने का उपदेश दिया जाता है और दूसरी ओर सांस्कृतिक योजनाओं की पूर्ति के लिए उनकी सहायता भी ली जाती है। उस वृद्ध को अपने बेटों से एक शिकायत यह भी है कि वे सरकारी आदेश का उल्लंघन कर बर्लिन और रोम से प्रसारित होने वाले कार्य-क्रम को चुपके-चुपके सुना करते हैं। वृद्ध कहता है कि यदि सरकारी आदेश नहीं मानना है तो चरित्र में इतनी दृढ़ता होनी चाहिए कि कहें कि सरकार के आदेश हम नहीं मानते। ऐसी छोटी-छोटी बातों से भी राष्ट्रीय चरित्र का पता चलता है। सेठ जी गाँधीवादी हैं और इसलिए वे आचरण की शुद्धता पर बल देते हैं। वे नहीं चाहते कि हम कुछ भी लुक-छिप कर किया करें। अपने क्रिया-कलापों के उत्तरदायित्व से भागना कायरता है और सेठ जी जैसा गाँधीवादी किसी प्रकार की कायरता का समर्थन नहीं कर सकता।

सूखे सतरे : 'सूखे संतरे' शीर्षक एकांकी नाटक में सेठ जी ने हरिजनों की नाना-विध समस्याओं को प्रस्तुत किया है। 'विट्ठोवा' नामक महार-वंशोत्पन्न एक दरिद्र शूद्र बालक को विद्याध्ययन करने की अदम्य लालसा है। किन्तु उसके पिता के पास उसे पढ़ा सकने की आर्थिक क्षमता नहीं है। बच्चा महात्मा गाँधी के पास पहुँचता है और उनसे प्रार्थना करता है कि वे किसी ऐसे धनी-मानी व्यक्ति के नाम सिफ़ारिशी पत्र लिख दें, जो उसे पढ़ा-लिखा कर आदमी बना दे। 'बापू' उन दिनों हरिजनों के ही प्रश्न को ले कर अनशन करने वाले थे। उन्होंने 'विट्ठोवा' से अपने अनशन की समाप्ति के उपरान्त फिर मिलने को कहा। बालक 'विट्ठोवा' को 'बापू' के उत्तर से संतोष नहीं होता। 'बापू' भी उसके मन की शंका को ताड़ जाते हैं और उसको आश्वस्त करते हैं कि अनशन से वे मर नहीं जायेंगे और उसे सिफ़ारिशी पत्र अवश्य मिलेगा। 'बापू' ने उसका उत्साह बढ़ाने के लिए यह भी वादा किया कि वे

---

१. गोविन्द दास ग्रन्थावली खंड (३)—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १७३।

उसके लाये हुए सन्तरे के रस से ही अपना अनशन तोड़ेंगे। कई रोज बाद 'विट्ठोवा' ने शहर में सुना कि 'बापू' आज अनशन तोड़ने वाले हैं। शहर के बड़े लोगों में 'बापू' के पास सन्तरा भेजने के लिए होड़ लग जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप सन्तरे का भाव बाज़ार में प्रतिक्षण तेज होता जा रहा है। विट्ठोवा को याद आता है कि 'बापू' ने कहा था कि वे उसके लाये हुए सन्तरे के रस से ही अनशन तोड़ेंगे। इसलिए चाहे जैसे भी हो 'विट्ठोवा' को संतरे ले कर 'बापू' के पास जाना ही होगा। लेकिन सन्तरे का प्रबन्ध कैसे हो ? पास में पैसे तो हैं नहीं। इसलिए बाज़ार में खड़ा हो कर वह सत्य-कथा सुना कर दूकानदारों से दया की भीख माँगता है लेकिन किसी को उसके कहने का विश्वास नहीं होता। अब वह उन बड़े लोगों के पास जाता है, जो नगर की सबसे प्रतिष्ठित 'कॉलोनी' में रहते हैं। इन पढ़े-लिखे प्रतिष्ठित लोगों का हाल देख कर वह और भी निराश हुआ। श्री बी० डी० देसाई नामक बड़े 'एडवोकेट' साहब ने उससे उत्तर में कहा—'कौन 'बापू', कहाँ का 'बापू'। ओ, वो तो इस 'हंगर स्ट्राइक' में मर जायेगा।'[1] एम० बी० बी० एस० डाक्टर, सी० आर० भोपटकर ने कहा—'बापू का उपवास ! कैसा उपवास ? कौन बापू....ओह, हमको पेपर पढ़ने का फुरसत नहीं, हम नहीं जानता किसका उपवास....हमारा पास फिज़ूल वक्त नहीं, यू गेट आउट फ्राम दि कम्पाउन्ड।'[2] प्रोफ़ेसर एन० के० भटनागर ने 'बिट्ठोवा' से कहा—'भला-चंगा हो कर भीख माँगता है ? शर्म है शर्म ! सबेरे-सबेरे भीख ? उफ़ ! फिर उससे भीख जिसको गिनती के टके मिलते है !'[3] 'विट्ठोवा' की मदद अन्त में एक सज्जन मुसलमान दूकानदार करता है और वह थोड़े से सूखे सन्तरे ले कर 'बापू' के पास उपस्थित होता है। अपनी बात के धनी 'बापू' सचमुच उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने उसके सूखे सन्तरों के रस से ही अपना उपवास भी तोड़ा। अब एक के बाद दूसरे धनी-मानी बड़े-बड़े लोग गाँधी जी के आग्रह पर बिट्ठोवा की शिक्षा का उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार होते है लेकिन 'बिट्ठोवा' उन लोगों को निराश करते हुए कहता है कि अब उसने पढ़ने का अपना विचार ही बदल दिया है। आज जिन पढ़े-लिखे बड़े लोगों से उसकी भेंट हुई है, उनको देखने के बाद आगे पढ़ने की उसकी सारी साध ख़त्म हो गयी है।

इस एकांकी में सेठ जी ने यदि एक ओर हरिजनों की विपन्नता का चित्र प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर आज के शिक्षित समुदाय की हृदयहीनता का भी। नाटककार के इस विचार में तो सचाई धरी रखी है कि अपनी परिस्थिति को वे बदल भी नहीं सकते। बिट्ठोवा जैसा कोई हरिजन बालक शिक्षोपार्जन करना चाहे भी तो उसको तदर्थ सुविधा नही मिल पाती। यह प्रश्न इतना स्पष्ट है कि इसकी प्रस्तुति के लिए किसी भूमिका की अपेक्षा नहीं है। शिक्षितों की मनोवृत्ति ऐसी ज़रूर है कि वे समाज के दूसरे लोगों से अपने को विशिष्ट और दूसरो को हीन तथा तुच्छ समझें।

१. २. ३. गोविन्द दास ग्रन्थावली खंड-१०—सेठ गोविन्द दास—पृ० ११० १११, ११२।

मालिक वृद्ध पिता को यह सुन कर बड़ी निराशा होती है कि अब ऑल इन्डिया रेडियो चौबीसों घंटे प्रसारण किया करेगा। वह अपने नौकर को आदेश देता है कि जल्दी से उसका सामान बाँध दे ताकि वह घर छोड़ कर चला जाय। प्रश्न है, उसे रेडियो के रात-दिन प्रसारण पर आखिर आपत्ति क्यों है। ऊपर से देख कर हम यही सोच सकेंगे कि देर तक रेडियो के बजने से उसकी शान्ति भंग होती होगी। लेकिन, इतना ही नहीं है। उसके इस प्रकार भड़क उठने का कारण यह है कि सरकार एक ओर तो सदाचार फैलाने के लिए गन्दी बस्तियों को उठा रही है और दूसरी ओर महफ़िल में गाने वाली उन्हीं अच्छी-बुरी वेश्याओं को रेडियो स्टेशन पर बुला कर महफ़िल सजाती है। यह वृद्ध, सरकारी नीति की खिल्ली उड़ाते हुए कहता है—'यों महफ़िल होना बुरा है, अच्छी-से-अच्छी गाने वाली रंडियों का गाना सुनना पाप, पर रेडियो में गाने वाली अच्छी-बुरी किसी भी कस्बी का गाना सुनना धर्म है।'[1]

इस प्रकार इस नाटक में उस सरकारी नीति की आलोचना की गयी है, जिसके अनुसार एक ओर तो वेश्याओं को समाज के लिए कोढ़ मान कर उनसे अलग रहने का उपदेश दिया जाता है और दूसरी ओर सांस्कृतिक योजनाओं की पूर्ति के लिए उनकी सहायता भी ली जाती है। उस वृद्ध को अपने बेटों से एक शिकायत यह भी है कि वे सरकारी आदेश का उल्लंघन कर बर्लिन और रोम से प्रसारित होने वाले कार्य-क्रम को चुपके-चुपके सुना करते हैं। वृद्ध कहता है कि यदि सरकारी आदेश नहीं मानना है तो चरित्र में इतनी दृढ़ता होनी चाहिए कि कहें कि सरकार के आदेश हम नहीं मानते। ऐसी छोटी-छोटी बातों से भी राष्ट्रीय चरित्र का पता चलता है। सेठ जी गाँधीवादी हैं और इसलिए वे आचरण की शुद्धता पर बल देते हैं। वे नहीं चाहते कि हम कुछ भी लुक-छिप कर किया करें। अपने क्रिया-कलापों के उत्तरदायित्व से भागना कायरता है और सेठ जी जैसा गाँधीवादी किसी प्रकार की कायरता का समर्थन नहीं कर सकता।

सूखे सतरे : 'सूखे संतरे' शीर्षक एकांकी नाटक में सेठ जी ने हरिजनों की नाना-विध समस्याओं को प्रस्तुत किया है। 'विट्ठोवा' नामक महार-वंशोत्पन्न एक दरिद्र शूद्र बालक को विद्याध्ययन करने की अदम्य लालसा है। किन्तु उसके पिता के पास उसे पढ़ा सकने की आर्थिक क्षमता नहीं है। बच्चा महात्मा गाँधी के पास पहुँचता है और उनसे प्रार्थना करना है कि वे किसी ऐसे धनी-मानी व्यक्ति के नाम सिफ़ारिशी पत्र लिख दें, जो उसे पढ़ा-लिखा कर आदमी बना दे। 'बापू' उन दिनों हरिजनों के ही प्रश्न को ले कर अनशन करने वाले थे। उन्होंने 'विट्ठोवा' से अपने अनशन की समाप्ति के उपरान्त फिर मिलने को कहा। बालक 'विट्ठोवा' को 'बापू' के उत्तर से संतोष नहीं होता। 'बापू' भी उसके मन की शंका को ताड़ जाते हैं और उसको आश्वस्त करते हैं कि अनशन से वे मर नहीं जायेंगे और उसे सिफ़ारिशी पत्र अवश्य मिलेगा। 'बापू' ने उसका उत्साह बढ़ाने के लिए यह भी वादा किया कि वे

१. गोविन्द दास ग्रन्थावली खंड (३)—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ १७३।

उसके लाये हुए सन्तरे के रस से ही अपना अनशन तोड़ेंगे। कई रोज बाद 'विट्ठोवा' ने शहर में सुना कि 'बापू' आज अनशन तोड़ने वाले हैं। शहर के बड़े लोगों में 'बापू' के पास सन्तरा भेजने के लिए होड़ लग जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप सन्तरे का भाव बाज़ार में प्रतिक्षण तेज़ होता जा रहा है। विट्ठोवा को याद आता है कि 'बापू' ने कहा था कि वे उसके लाये हुए सन्तरे के रस से ही अनशन तोड़ेंगे। इसलिए चाहे जैसे भी हो 'विट्ठोवा' को संतरे ले कर 'बापू' के पास जाना ही होगा। लेकिन सन्तरे का प्रबन्ध कैसे हो? पास में पैसे तो हैं नहीं। इसलिए बाज़ार में खड़ा हो कर वह सत्य-कथा सुना कर दूकानदारों से दया की भीख माँगता है लेकिन किसी को उसके कहने का विश्वास नहीं होता। अब वह उन बड़े लोगों के पास जाता है, जो नगर की सबसे प्रतिष्ठित 'कॉलोनी' में रहते हैं। इन पढ़े-लिखे प्रतिष्ठित लोगों का हाल देख कर वह और भी निराश हुआ। श्री बी० डी० देसाई नामक बड़े 'एडवोकेट' साहब ने उससे उत्तर में कहा—'कौन 'बापू', कहाँ का 'बापू'। ओ, वो तो इस 'हंगर स्ट्राइक' में मर जायेगा।'[1] एम० बी० बी० एस० डाक्टर, सी० आर० भोपटकर ने कहा—'बापू का उपवास! कैसा उपवास? कौन बापू....ओह, हमको पेपर पढ़ने का फ़ुरसत नहीं, हम नहीं जानता किसका उपवास....हमारा पास फिज़ूल वक्त नहीं, यू गेट आउट फ्राम दि कम्पाउन्ड।'[2] प्रोफ़ेसर एन० के० भटनागर ने 'बिट्ठोवा' से कहा—'भला-चंगा हो कर भीख माँगता है? शर्म है शर्म! सबेरे-सबेरे भीख? उफ़! फिर उससे भीख जिसको गिनती के टके मिलते हैं!'[3] 'विट्ठोवा' की मदद अन्त में एक सज्जन मुसलमान दूकानदार करता है और वह थोड़े से सूखे सन्तरे ले कर 'बापू' के पास उपस्थित होता है। अपनी बात के धनी 'बापू' सचमुच उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने उसके सूखे सन्तरों के रस से ही अपना उपवास भी तोड़ा। अब एक के बाद दूसरे धनी-मानी बड़े-बड़े लोग गाँधी जी के आग्रह पर बिट्ठोवा की शिक्षा का उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार होते हैं लेकिन 'बिट्ठोवा' उन लोगों को निराश करते हुए कहता है कि अब उसने पढ़ने का अपना विचार ही बदल दिया है। आज जिन पढ़े-लिखे बड़े लोगों से उसकी भेंट हुई है, उनको देखने के बाद आगे पढ़ने की उसकी सारी साध ख़त्म हो गयी है।

इस एकांकी में सेठ जी ने यदि एक ओर हरिजनों की विपन्नता का चित्र प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर आज के शिक्षित समुदाय की हृदयहीनता का भी। नाटककार के इस विचार में तो सचाई धरी रखी है कि अपनी परिस्थिति को वे बदल भी नहीं सकते। बिट्ठोवा जैसा कोई हरिजन बालक शिक्षोपार्जन करना चाहे भी तो उसको तदर्थ सुविधा नहीं मिल पाती। यह प्रश्न इतना स्पष्ट है कि इसकी प्रस्तुति के लिए किसी भूमिका की अपेक्षा नहीं है। शिक्षितों की मनोवृत्ति ऐसी ज़रूर है कि वे समाज के दूसरे लोगों से अपने को विशिष्ट और दूसरों को हीन तथा तुच्छ समझें।

---

१. २. ३. **गोविन्द दास ग्रन्थावली खंड-१०—सेठ गोविन्द दास—पृ० ११०, १११, ११२।**

लेकिन हम यह नही कह पाते कि समाज में जो भेद-भाव विद्यमान है, उसके लिए शिक्षा ही उत्तरदायी है। आदमी की दुनिया को परचे-परचे में बाँटने वाली सबसे बड़ी शक्ति तो है धन-सम्पन्नता—जिसका शिक्षा के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नही है। यदि होता तो इस नाटक के प्रोफ़ेसर भटनागर को यह कहने की जरूरत नहीं रहती कि उसको हर महीने गिनती के टके ही मिलते हैं। वह ऐसा धनी नहीं है कि किसी को भीख दे सके।

इस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि इस नाटक में समस्या मुखर नहीं हो पायी है। एकांकी की इस मुख्य समस्या से कही अधिक प्रभविष्णु है बहुसंतान की समस्या। 'बिट्ठोवा' की माँ देखती है कि घर में कमाने वाला एक है और परिवार इतना बड़ा है। वह अपने बारे में कितना सही कहती है—'मैं तो इन बच्चों के मारे बे-काम-सी हूँ। ठीक ही तो है, जो स्त्री हर दूसरे वर्ष माता बनने के लिए विवश हो, वह किस काम के लायक रह ही जाती है। हरिजनों की विपन्नता के अनेक कारणों में एक बड़ा कारण यह भी है, यह तो मानना ही होगा। किन्तु नाटककार ने इस समस्या को, जो हमारी सम्वेदना को सबसे अधिक खींच पाने में समर्थ है, एकांकी की मुख्य समस्या के रूप में नही स्वीकार किया। इस समस्या की ओर उन्होंने चलते-फिरते ढंग से ही इशारा किया।

सेठ गोविन्द दास अपने व्यक्तिगत जीवन में एक सुधारवादी गाँधीवादी राष्ट्र-वादी रहे है। उनके नाटकों मे उनके व्यक्तित्व का यह रूप बहुत स्पष्ट हो कर उपस्थित हुआ है। हमने ऊपर यह बताया है कि सेठ जी ने अपने उत्तराधिकार से विद्रोह किया था और वे गाँधी की आँधी में बह आये थे। डॉ० नगेन्द्र ने बताया है कि प्रत्येक पुत्र अपने पिता के प्रति विद्रोह करता है[1] और अपने लिए किसी नवीन मार्ग का सन्धान करता है। सेठ जी ने अपने रिक्थ के प्रति विद्रोह करके वैभव और विलास में डूबे हुए जीवन के बदले सरल, सीधे-सादे, नैतिक जीवन को तो ग्रहण किया ही, रूढ़ि-बन्धन की दृढ़ जंजीरों को छिन्न-भिन्न करके सुधारक की भूमिका भी निभायी। सेठ जी की आत्म-कथा से विदित है कि वे अपनी जाति-संस्था 'महेश्वरी महासभा' के कभी प्रधान बने थे।[2] हम यह ऊपर बता आये हैं कि वैश्य-समाज में कभी स्वतन्त्रता-युद्ध का जोर बढ़ा था और धनियों का यह वर्ग भी राष्ट्रवादी बना था। धनियों के इस समाज ने सोचा कि भारतीय उद्योग-धन्धों का विकास करके वह सही मानी में देश-सेवा कर सकेगा। सेठ जी ने धनियों के इस विश्वास को झुठलाया और बताया कि सेवा का प्रकृत पथ पूँजी के विकास में हर्गिज़ नहीं है। उनके 'सेवापथ' नाटक का श्रीनिवास वणिकों को यही पुरानी मनोवृत्ति ले कर उपस्थित हुआ है और उसके मुकाबले सेठ जी ने, उसके भ्रम-निवारणार्थ, दीनानाथ को खड़ा किया है। 'सन्तोष कहाँ ?' के मनसा राम का इतिहास हमें बताता है कि धन-सम्पदा, जीवन के सच्चे सुख-सन्तोष की उपलब्धि करा

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ६८
२. आत्म निरीक्षण—(भाग २) सेठ गोविन्द दास—पृ० १५६

पाने में अत्यन्त अक्षम हुआ करती है। मनसा राम ने उद्योग-धन्धों का विकास करके अपार वैभव संचित किया था। यदि धन से सुख मिलता तो उसकी भिन्न प्रतिक्रिया नहीं होती। इस विषय में 'सुख किसमें ?' का सृष्टिनाथ दूसरा प्रमाण है। सेठ जी ने अपने इन नाटकों में बताया है कि यह सोचना ही ग़लत है कि पूँजी के विकास से राष्ट्र का कल्याण सम्भव होगा। इससे आगे बढ़ कर उन्होंने यह भी यहा कि धन हमारी मनुष्यता की सारी सद्वृत्तियों के संस्कार को चौपट किया करता है। धन की स्पृहा मनुष्य को स्वार्थी बनाती है। स्वार्थ से हिंसा को उत्तेजना मिलती है और आदमी स्वार्थ-रत हो कर अकांड कर्म करने लगता है। 'हिंसा या अहिंसा' का दुर्गादास और 'फाँसी,' एकाँकी का पूँजीपति अपने स्वार्थ के कारण ही तो हिंसा करते हैं और अन्त में वे जोवन की बाजी हार जाते हैं। सेठ जी ने पूँजी की बुराइयों को अपने भिन्न-भिन्न नाटकों में प्रस्तुत करके धन-संचय की मनोवृत्ति के विरुद्ध जनमत तैयार करने का प्रयत्न किया है। उनके 'प्रकाश' नाटक में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। सेठ जो धन का विरोध इसलिए करते हैं कि धन से विषय-भोग को प्रेरणा मिलती है और फिर सेवा की वृत्ति बाधित होती है। 'सेवापथ' के दीनानाथ का कहना है कि बिना विषय-भोग के त्याग के, सेवा-पथ पर पैर ही नहीं रखा जा सकता। सेठ जी ने 'ग़रीबी या अमीरी' नामक नाटक में अपने इस विश्वास को दुहराया है। इस नाटक में सेठ जी ने बड़ी निष्ठा के साथ श्रम के महत्व का उद्घोष किया है। शरीर-श्रम से उपर्जित धन को उन्होने उत्तराधिकार से प्राप्त धन से अधिक श्रेष्ठ माना है। 'ग़रीबी या अमीरी' की अचला को इस विषय में उन्होंने प्रमाण बनाया है। सेठ जी ने एक सच्चे गाँधीवादी की भाँति अपने विश्वासों के अनुरूप ज़िन्दगी को जी कर भी दिखाया है। इस प्रकार उनकी कथनी और करनी की एकता सिद्ध हो जाती है।

व्यक्ति अपने विचारों के अनुरूप ही अपने जीवनादर्श को मूर्त्त किया करता है। सेठ जी को, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा, अपना यह जीवनादर्श युग-पुरुष महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों में प्राप्त हुआ।[1] यही कारण है कि उन्होंने समस्याओं के जो समाधान प्रस्तुत किये, उन पर गाँधी-दर्शन के आदर्श का प्रभूत प्रभाव है।

सेठ जी के सेवा-व्रत के आदर्श को 'सेवा-पथ' की सरला और 'दुःख क्यों ?' की सुखदा स्पष्ट करती हैं। उनके प्रमाण पर हम यह कह सकते हैं कि सेठ जी की भावना में मन, वचन ओर कर्म से अपने आपको वश मे रख, दैहिक और मानसिक पवित्रता एवं निष्काम प्रेम सहित दूसरो के उद्धार का प्रयत्न करना ही सच्ची सेवा है। सेठ जी के आदर्श सेवा-व्रती को सारी सृष्टि के साथ अपनी एकता का अनुभव होता है। यही अनुभव विश्वात्मा का दर्शन भी है, जिसके उपरान्त मनुष्य को अकेलेपन का अनुभव ही नहीं होता, वह क्षुद्र स्वार्थो की परिधि में घिर कर रह ही नहीं सकता। सेवा की यह

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ६८

वृत्ति अन्तःकरण को शुद्ध बनाती है, आस्तिकता की भावना को बद्धमूल करती है और सच्चे सुख-सन्तोष की उपलब्धि कराती है। सेठ जी ने बार-बार घोषित किया है कि सच्चा सुख ग्रहण में नहीं, त्याग में, अर्पण में है : लेने में नहीं, देने में है। 'हिंसा या अहिंसा' के माधव दास ने एक बड़े पते की बात यह कही है कि आदमी में जितनी अधिक आदमीयत होगी वह उतना ही अधिक उदार होगा और फिर उतना ही अधिक कामयाब रोज़गारी भी। इसलिए व्यापारी के अपने ही हित में है कि उदार-वृत्ति रखे।

सेठ जी के इस आदर्श में कहीं संघर्ष के लिए अवसर ही नही आ पाता। हमारे युग का एक बड़ा प्रश्न है—वर्ग-संघर्ष। मार्क्सवादी कहते हैं कि भिन्न स्वार्थों के मध्य संघर्ष का होना अनिवार्य है। उनके इस मत को अस्वीकार करते हुए सेठ जी स्थापित करते हैं कि आदमी में यदि आदमीयत हो तो फिर संघर्ष के लिए गुंजायश ही न रह जाय।

सचमुच सेठ जी के सेवा-पथ का आदर्श बड़ा ही उन्नत है। वे कहते हैं कि सच्ची सेवा का प्रयोजन सेवा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। नामवरी के लिए की जाने वाली सेवा को वे सच्ची सेवा नहीं मानते। उनके मत में निःस्वार्थ सेवा-वृत्ति में यश की एषणा के लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता। 'सेवा पथ' के दीना-नाथ ने सेठ जी के इस सेवाव्रत को मूर्त्त किया है। उसने एक बड़ी बात यह कही है कि यश की एषणा भी एक प्रकार का विषय-विकार ही है। यह कीर्त्ति-श्रयण की लालसा के स्वार्थ को विषय-भोग के स्वार्थ से भी बड़ा स्वार्थ मानता है। 'संतोष कहाँ ?' का मनसा राम सभी प्रकार की महत्वाकांक्षाओं से जब ऊपर उठता है, तभी उसे जीवन का यह सन्तोष प्राप्त होता है, जिसके लिए जाने वह कहाँ-कहाँ भटकता रहा।

सेठ जी ने अपने नाटकों के द्वारा यह स्थापित किया है कि आज के जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है कि मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना को उद्बुद्ध किया जाय। अर्थात् अहिंसा और त्यागवृत्ति से ही हमारी आज की नानाविध समस्याओं का हल निकल सकता है, किसी और उपाय से नहीं।

सेठ जी का गाँधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम में इसीलिए तो इतना विश्वास है है कि यह व्यक्ति को उन्नत बनाता है और साथ ही सर्वोदय के लिए वातावरण तैयार करता है। सेठ जी ने संसदीय कार्यक्रम को इसलिए स्वीकार करना नहीं चाहा कि वह त्याग के बदले ग्रहण और भोग की हीन वृत्तियों को पल्लवित करता है। सेठ जी के अनेक नाटकों में इसी से संसदीय कार्यक्रम की आलोचना की गयी है और बताया है कि उसके कारण कांग्रेस कमज़ोर पड़ी।

सेठ जी के नाटकों में उनके अपने व्यक्तिगत जीवन, और विश्वासों की छाया बहुत ही स्पष्ट है। लेकिन यह एक खुली हुई सचाई है कि उनमें जिन समस्याओं की प्रस्तुति हुई है, वे हमें बहुत झकझोर नहीं पातीं। नाटककार के विचार, परम्परा की

रूढ़ियों पर कशाघात भी नहीं करते। एक तरह से सेठ जी ने क्रान्ति को अपने तक आने ही नहीं दिया है। हिन्दी समस्या-नाटककारों की सबसे बड़ी समस्या—नारी-जीवन की समस्या—का सेठ जी ने तनिक स्पर्श भी नहीं किया। 'प्रकाश' में उसकी चर्चा आनुषंगिक रूप में ही होती है और पश्चिम की प्रशंसा करते कभी न थकने वाली रुक्मिणी अन्त में परम्परा का हो पोषण करती है, उससे विद्रोह नही। 'प्रेम या पाप' की 'कीर्त्ति' और 'त्याग या ग्रहण' की 'विमला' की कहानी यही बताती है कि सेठ जी एतद्विषयक पश्चिमी आदर्शों के विरोधी हैं। उनके विचारों को 'प्रकाश' की रानी कल्याणी और मनोरमा ने बहुत ही स्पष्ट रूप से खोल कर रख दिया है। सेठ जी के नाटकों की समस्याएँ हमें इसलिए चौंका नहीं पातीं कि वे जिस संघर्ष से छन कर आती हैं, वही बेजान होता है।

नाटक में जो संघर्ष आता है, उसकी दो कोटियाँ होती हैं—बाह्य और आन्तरिक। सेठ जी के नाटकों में बाह्य-संघर्ष को बहुत अभिव्यक्ति नहीं मिल पायी। जिस युग में वे नाटक रच रहे थे, वह एक बड़े संघर्ष का युग था। लेकिन विदेशी शासन के जुए को उठा कर फेंकने की जो छटपटाहट उस समय देश में थी, उसे सेठ जी के नाटकों में अभिव्यक्ति ही नही मिली। आन्तरिक संघर्ष की स्थिति में पात्र अपनी ही वृत्तियों से लड़ता है। सेठ जी के समस्या-नाटकों में 'ग़रीबी या अमीरी' ही एक ऐसा है, जिसमें किसी तरह का अन्तर्द्वन्द्व हमें मिल जाता है, शेष तो इस विषय में हमें निराश ही करते हैं। सेठ जी के कई एकाकी नाटकों तथा पूरे नाटकों का उल्लेख कर हमने ऊपर यह बताया है कि संघर्ष के बेजान हो जाने से, उनमें आरोपित समस्या भी निखर नहीं पायी है। डॉ० नगेन्द्र ने यह बताया है कि सेठ जी के नाटकों में आन्तरिक संघर्ष की इस दुर्बलता का कारण, उनके अपने जीवन में होने वाले संघर्ष में तीव्रता की कमी है।[1] डॉ० नगेन्द्र ने इससे आगे बढ़ कर स्थापित यह किया है कि सेठ जी के पास सर्जन करने वाली कल्पना-शक्ति कम और विवेचना शक्ति अधिक है। इसी से डॉ० नगेन्द्र के सामने सेठ जी कुशल व्याख्याता के रूप में ही प्रतिष्ठित हो पाये, सफल सृष्टा के रूप में नहीं। हमें तो ऐसा लगता है कि सेठ जी ने अपने मन में उठने वाले सभी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर ही जैसे गाँधी-दर्शन और आचार में पा लिया था और इससे उनके मानस में ऐसा कोई द्वन्द्व ही नही रह गया था, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में हो पाती। समस्या के समाधान के विषय में सेठ जी और पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र में एक बड़ा अन्तर है। पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के सामने समस्याओं के समाधान का कोई रूप स्थिर नहीं होता और इससे उनको समझौते में समाधान-विषयक-संकेत ढूँढ़ना पड़ता है! सेठ गोविन्ददास की स्थिति अपेक्षया अधिक स्पष्ट है। उनके सामने गाँधी-दर्शन के रूप में एक निश्चित आदर्श है, जो उनके सारे प्रश्नों का उत्तर दे दिया करता

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ७१

है। यह दूसरी बात है कि सेठ जी के समाधान भी ऊपर से थोपे हुए, आरोपित-से लगते हैं, वे प्रश्न के भीतर से उठकर नहीं आते।

सेठ जी ने नाटकीय विधान के क्षेत्र में बड़े मौलिक प्रयोग किये हैं और वहीं उनके महत्व का सबसे बड़ा कारण भी है। इस प्रबन्ध में आगे इस सम्बन्ध में यथास्थान विचार किया जायगा।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क

प्रसादोत्तर काल में समस्या-नाटक के रूप में हिन्दी नाटक का, नयी दिशा में जो उत्थान हुआ, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उसके प्रमुख प्रतीक तथा स्तम्भ माने जाते हैं। समस्या-नाटकों की रचना करने के पहले, जिस प्रकार पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र ने डी० एल० राय और प्रसाद की प्रचलित परम्परा में अपने 'अशोक' नाटक की रचना की थी उसी प्रकार अश्क ने भी उसी प्रचलित परम्परा का अनुगमन करते हुए 'जय-पराजय' नामक अपने ऐतिहासिक नाटक का प्रणयन—समस्या-नाटकों की रचना के पूर्व किया। उस पुरानी परिपाटी में, वह उनका प्रथम और अन्तिम नाटक भी हुआ।

अश्क ने बताया है कि रासलीला तथा अव्यावसायिक रंगमंच पर अभिनीत होने वाले 'विल्व मंगल उर्फ़ सूरदास' जैसे नाटकों को देख कर छुटपन में ही उनको नाटक के प्रति आकर्षण हुआ। कालेज में पढ़ते समय यह आकर्षण इतना बढ़ गया कि उन्होंने विल्वमंगल के रामभरोसे का अभिनय भी किया।[1] इसी आकर्षण ने उनको देश-विदेश के नाटकों के अध्ययन की प्रेरणा भी दी और उन्होंने डी० एल० राय, आग़ा हश्र, बेताब, रहमत, इब्सन, मैतरलिंक, स्ट्रिंडबर्ग, चेखव, ओ-नील, शॉ, बैरी, प्रीस्टले, गॉल्सवर्दी आदि नाटककारों की ढेर-सी नाट्य-कृतियों का अध्ययन किया। इस अध्ययन ने उनको नाटककार बनने की प्रेरणा दी—ऐसा वे फिर भी नहीं मानते। उन्होंने इस विषय में कहा है—'मैं इन नाटककारों की महानता का कायल हूँ, किन्तु उनमें से अधिकांश को पढ़ कर आनन्द मुझे चाहे कितना ही क्यों न मिला हो, न जाने स्वयं नाटक लिखने की प्रेरणा नहीं हुई।'[2]

---

१. अश्क एक रंगीन व्यक्तित्व—हल्के गहरे रंग—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' —पृ० २१६

२. नाटककार अश्क—मैं नाटक कैसे लिखता हूँ—उपेन्द्रनाथ अश्क— पृ० ३४७

अश्क ने नाटक लिखने की अपनी प्रेरणा का उल्लेख डॉ० पद्म सिंह शर्मा के समक्ष इस प्रकार किया है कि अपनी प्रथम पत्नी श्रीमती शीला के निधन के बाद जब उन्होंने अपने ही शब्दों में 'होल टाइमर' के रूप में साहित्य-सर्जना का काम हाथ में लिया तब उन्होंने यह अनुभव किया कि सारे दिन कविता-कहानी ही नहीं लिखी जा सकती और जब उनका मन कविता-कहानी लिखने से उचटता तब वे नाटक की रचना करने बैठ जाते। अश्क ने बताया है कि 'अपनी अनुभूतियों और विचारों को वे सदा बाँट लेते हैं—कुछ कहानी में, कुछ नाटक में, कुछ कविता में और कुछ उपन्यास में।'[1] स्पष्ट है कि अश्क के आगे विधा का प्रश्न बहुत महत्व नहीं रखता।

अश्क ने जिस समय नाटक लिखना आरम्भ किया, उस समय तक हिन्दी में पश्चिमी चलन के नये समस्या-नाटकों के रंग-ढंग के नाटकों की रचना का क्रम चल पड़ा था। पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों से इस नयी दिशा की ओर हिन्दी नाटकों के मोड़ की सूचना मिल चुकी थी। दूसरी ओर पढ़े-लिखे लोग अपने अव्याव-सायिक रंगमंच पर खेलने के लिए वैसा नाटक खोजने लगे थे, जो आकार में बड़ा न हो और ऐसा हो, जिसे अपने अल्प साधनों के बल पर वे मंच पर उतार सकें। स्वभावतः लघु नाटकों की इस माँग की ओर भी नाटककारों का ध्यान चला गया था। इस प्रकार श्री जगदीश चन्द्र माथुर के शब्दों में अश्क के सामने एक ओर तो पाश्चात्य समस्या-मूलक [illegible] से किताबी परिचय प्राप्त लेखकों की रचनाएँ थीं और दूसरी ओर अव्यावसायिक रंगमंच के लिए लघु नाटकों के प्रणयन की माँग थी।[2]

अश्क ने इन दोनों से प्रेरणा ग्रहण की और जैसा कि श्री माथुर जी ने कहा 'उन्होंने पाश्चात्य नाट्य-साहित्य के किताबी ज्ञान को निजी अनुभव और पर्यवेक्षण के खरल में कूट-पीस कर सामाजिक दिग्दर्शन का नवीन और तथ्य-परक रसायन तैयार किया।'[3] अश्क ने भी इस तथ्य को अपने निबन्ध 'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ?' में स्वीकार किया है।[4]

अश्क की एक बड़ी विशेषता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा है, अपने निजी अनुभव के बल पर लिखा है। उन्होंने कहा कि वस्तु के लिए उनको भटकना नहीं पड़ता। सामान्य जीवन की चलती-फिरती बातें भी उनके लिए उपयोगी हो जाती हैं।[5] अश्क का इतिहास बताता है कि उनका जीवन-विषयक कटु-मधुर अनुभव बड़ा सच्चा है और उन्होंने जीवन को उसकी विविधता सहित भोगा है। इसलिए उनके नाटकों में

---

१. अश्क एक रंगीन व्यक्तित्व—हल्के गहरे रंग—पद्मसिंह शर्मा कमलेश—पृ० २२०

२. ३. नाटककार अश्क—जगदीशचन्द्र माथुर—पृ० १३, १३

४. नाटककार अश्क—मैं नाटक कैसे लिखता हूँ?—उ० ना० अश्क—पृ० ३४६

५. अश्क एक रंगीन व्यक्तित्व—हल्के गहरे रंग—पद्मसिंह शर्मा—पृ० २२७

जो समस्याएँ उभर कर आती हैं, उनका आधार बड़ा पक्का है। अश्क ने विश्वास दिलाया है कि उन्होंने 'आपबीती' अथवा 'जगबीती' को ही नाटकों का रूप दिया है।[1]

डॉ० नगेन्द्र ने अश्क की आलोचना करते हुए कहा है कि वे सेठ गोविन्ददास की भाँति जीवन के गहन स्तरों में तो प्रवेश नहीं करते किन्तु मध्यवर्ग के शिक्षित नवयुवक समाज के ऊपरी धरातल की समस्याओं की उनकी पकड़ अचूक और उनका अन्वीक्षण पर्याप्त रूप से तीखा है।[2]

अब हम उनके समस्या-नाटकों का विचार करेंगे और देखेंगे कि उनकी भाव-भूमि क्या है और उनमें समस्या के कौन-कौन-से रूप उभरते हैं।

स्वर्ग की झलक

'स्वर्ग की झलक' नामक अपने पहले सामाजिक नाटक की रचना श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने १९३८ में की थी और उसे 'व्यंग्य नाटक' की संज्ञा दी थी।

चार अंकों में विभाजित इस नाटक में विवाह और प्रेम की समस्या के एक रूप का उद्‌घाटन किया गया है। रघु और उसके परिवार के आगे प्रश्न है कि रघु की नयी जीवन संगिनी को कैसा होना चाहिए। बड़े भाई गिरधारी पुरानी दुनिया के आदमी हैं और सोचते हैं कि रिश्ता बराबरी में, जान-पहचान में होना चाहिए। लड़की यदि गृहकार्य में निपुण है, खाना-पकाना अच्छा जानती है, सीना-पिरोना भी जानती है और साधारण शिक्षा-प्राप्त है—जैसे 'भूषण' की परीक्षा पास है—तो बस काफ़ी है। हमारे घरों में विवाह, प्रदर्शन का दूसरा नाम हो जाता है। वर-पक्ष और कन्या-पक्ष दोनों ही अपनी उच्चता और ऐश्वर्य-सम्पन्नता का प्रदर्शन करते हैं और धन नष्ट करते हैं। गिरधारी कहता है कि जानी-पहचानी रिश्तेदारी हो तो धूमधाम ठाट-बाट की ज़रूरत न पड़े। इससे वह रघु की शादी उसकी साली रक्षा से करने के पक्ष में है। उसके सामने एक और बात है। रघु की स्वर्गीया पत्नी विमला एक कन्या छोड़ गयी है। रघु की होने वाली पत्नी पर उस कन्या के लालन-पालन का बोझ पड़ने वाला है। गिरधारी जानते हैं कि विमला की बेटी को प्यार की अपेक्षा है और वे यह भी जानते हैं कि सौत की कन्या को कोई यों ही प्रेम नहीं बाँटा करती। इससे भी वह रक्षा को ही पसन्द करते हैं। रक्षा यदि अपनी स्वर्गीया बहन विमला की बेटी को प्यार नहीं दे सकेगी तो फिर किससे उसकी आशा की जा सकती है।

इधर रघु है, जो पढ़े-लिखे समाज में रहता है। उसके साथियों की पत्नियाँ पढ़ी-लिखी हैं, अपटुडेट हैं, जो अपने-अपने घरों को स्वर्ग बनाये हुए हैं। रघु अब मामूली-सा सम्वाददाता नहीं रह गया है, अब वह सम्पादक हो गया है और वह भी अंग्रेज़ी अख़बार का। आज वह रक्षा जैसी लड़की से विवाह कैसे कर सकता है? रक्षा से

---

१. नाटककार अश्क—पृ० ३५२
२. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ७५

विवाह करने के लिए जब गिरधारी उसे कहता है तो वह उससे सीधा प्रश्न पूछता है—'आप किस तरह मुझे फिर चक्की का पाट गले में बाँधने को कहते हैं।'[1] रघु इस बार बिना सोचे-समझे शादी नहीं करेगा। 'एक बार बिना सोचे-समझे अँधेरी खोह में कूद कर,' वह देख चुका है। आज ज़माना बदल गया है। 'पहले मित्रों में कम पढ़ी-लिखी पत्नी भी अपेक्षाकृत आदर से देखी जाती थी और आज खासी अच्छी पढ़ी-लिखी का भी कोई महत्व नहीं रह गया है।'[2] रघु के कहने का मतलब यह है कि आज विवाह इसलिए नही किया जाता कि पत्नी अच्छा-अच्छा खाना पका कर खिलाये, अच्छा-खासा सीना-पिरोना कर दे। रघु जैसे व्यक्ति को विवाह के उपरान्त 'पत्नी मिलनी चाहिए, न कि रसोइन या दरजिन'। और पत्नी भी कैसी ? वैसी, जैसी मिसेज़ राजेन्द्र हैं, अशोक की सीता हैं, जिनके स्वर्ग के प्रति दूसरे ललचाते हैं।

गिरधारी इन पढ़ी-लिखी लड़कियों से बहुत घबराता है। कालेज-शिक्षा का प्रभाव उन्हें इतना आत्मरत कर देता है कि परिवार में वे खप ही नहीं पातीं और संयुक्त-परिवार की शान्ति एवं एकता को नष्ट करती हैं। गिरधारी जिस संस्कार का है, उसमें 'संयुक्त परिवार' एक बड़ी चीज़ है। वह चाहता है कि बहू जब घर को समझ ले, घर के नेह-नाते में पूरी तरह बँध जाय तो आवश्यकतानुसार ऊँची शिक्षा प्राप्त कर ले। उसकी अपनी ही पत्नी ने शादी-ब्याह ही नहीं, बच्चों की पैदायश के बाद घर पर ही पढ़ कर बी० ए० पास किया है। गिरधारी की पत्नी ऊँची शिक्षा प्राप्त होने पर भी कॉलेज के प्रभाव से मुक्त है। लेकिन रघु को यह स्वीकार नहीं है कि रक्षा से विवाह करने के बाद उसे आगे पढ़ावे। यह इसलिए कि उसके पास 'न अब वह समय है और न वह उत्साह।'[3]

संयोग से रघु को अशोक और राजेन्द्र के स्वर्गोपम संसार की झलक देखने का अवसर एक दिन मिल जाता है। अशोक बड़े अरमान से रघु को अपने यहाँ खाना खाने का न्योता दिये हुए है। लेकिन उसकी पत्नी घर आने वाले मेहमान के प्रति निरपेक्ष है। अशोक की पढ़ी-लिखी अपटुडेट बीबी न चूल्हा झोंकने के लिए पैदा हुई है और न बच्चा पालने के लिए। न वह गृहिणी हो सकती है, न माता। वह अपने पति की आर्थिक स्थिति के विषय में भी बेपरवाह है। तभी तो वह कहती है—'मैंने कितनी बार आपसे नहीं कहा कि एक नौकर उषा के लिए रख दो और रसोइए भी तो दो होने चाहिएँ। एक बीमार ही हो जाता है, चला ही जाता है।'[4] ऐसी पत्नी और चाहे जो कर ले गृहस्थी नहीं चला सकती। परिणाम होता है कि अशोक के घर से मेहमान भूखा लौट जाता है। लेकिन इसके लिए सीता अपने ऊपर जबाबदेही थोड़े ही लेगी। वह खुल कर कहती है—'जैसे मुझसे पूछ कर मेहमान न्योतते हो।' ऐसी पत्नियों के पति को रसोई घर सँभालना तो पड़ता है; उनकी दयनीयता यह भी है कि दूसरों के नज़दीक यह भी कहना पड़ता है कि उनकी पत्नी अस्वस्थता में भी मेज़बानी

---

१. २. ३. ४. **स्वर्ग की झलक**—उ० ना० अश्क—पृ० २३, २६, २८, ३५

करने के लिए बेचैन है। रघु के आने के पहले अशोक ने खीझ कर कहा था—'यदि मुझे मालूम होता, मुझे स्वयं रसोइया भी बनना पड़ेगा तो किसी कम पढ़ी-लिखी से ....।' लेकिन जैसे ही रघु घर में आ जाता है वह बात बदल देता है और प्रभाव यह डालना चाहता है कि अपनी बीमारी में भी सीता रसोई में डटी हुई है। शरीर साथ नहीं दे रहा है और गृह-धर्म के तकाजे को वह निबाहे चली जा रही है। रघु को स्थिति समझाते हुए अशोक कहता है :

'बीस बार कहा कि भाई तुम आराम करो। समय पर एक घड़ी का आराम बाद को एक वर्ष की मुसीबत से बचाता है, पर वह मानती ही नहीं। स्वास्थ्य इनका खराब है, रात में सोई नहीं, पर ज्योंही सुबह मैंने बताया कि तुम्हारा खाना है, तो झट रसोई-घर में जा बैठीं। मैं सब्ज़ी लेने गया था....मेरे आते-आते इन्होंने खीर पका डाली। खीर बनाने में तो सीता जी बस निपुण हैं। मुझे लग गयी देर, वापस आया तो बड़ी मुश्किल से रसोई घर से उठाया कि भाई आराम करो, फिर मुझे ही डॉक्टरों के पीछे मारा-मारा फिरना पड़ेगा।'[1]

'यह सम्वाद केवल श्रीमती अशोक पर ही कठोर व्यंग्य नहीं है, बल्कि सारी परिस्थिति की विद्रूपता पर व्यंग्य करता है।'[2]

रघु की दृष्टि में प्रोफ़ेसर राजेन्द्र भी स्वर्ग का सुख धरती पर ही भोग रहा है। उसकी पत्नी अपटुडेट है, शिक्षिता है, सामाजिक उत्तरदायित्व का अनुभव करने वाली है। रघु जब उस स्वर्ग की झलक लेने जाता है तो देखता है कि पिछले तीन दिनों से दर्शन-शास्त्र का वह प्रोफ़ेसर अपने बीमार बच्चे को कन्धे पर टाँगे हुए है। बच्चे की माँ हिसार के बाढ़-पीड़ितों के प्रति सम्वेदनशील हो कर, उनके सहायतार्थ कन्सर्ट की तैयारी कर रही है। बच्चा बीमार भी इसलिए है कि उसको माँ का दूध पीने का कभी सौभाग्य ही नहीं प्राप्त हुआ। यह माँ, बाहरी प्रदर्शन को बच्चे की जान से अधिक महत्वपूर्ण समझती है।

प्रो० राजेन्द्र, अशोक की तरह वस्तु-स्थिति पर पर्दा डालना नहीं चाहता। वह रघु से कहता है—'ये अभिजात-वर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ। शिक्षा का जो घातक प्रभाव हमारे यहाँ की स्त्रियों पर दिन प्रति दिन पड़ रहा है, यह उन्हें किधर ले जायगा और उनके साथ हम ग़रीबों को भी। चाहिए तो यह कि ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक शिक्षित होता जाय, वह अधिक संस्कृत, अधिक सौम्य, अधिक गम्भीर....।'[3] राजेन्द्र और भी अधिक खुल कर कहता है—'चमकदार मोतियों का उपयोग कितना है, रघु तुम नहीं जानते। तुम इन्हें दूर से ही प्यार की नज़रों से देख सकते हो, चाहो तो इन्हें पास बैठा कर सपनों के संसार बसा सकते हो, इनकी दमक से अपनी आँखें जला सकते

---

१. स्वर्ग की झलक—उ० ना० अश्क—पृ० ३५

२. नाटककार अश्क—सम्पादक—गोपालकृष्ण कौल—पृ० १६६

३. स्वर्ग की झलक—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ५२,

हो , पर जीवन के खरल में पीस, इन्हें किसी काम में ला सकोगे, इसकी आशा नहीं ।'[1]

राजेन्द्र मध्यवित्त परिवार का है । उसकी पत्नी अशोक की सीता की भाँति पति की आर्थिक स्थिति के विषय में सहानुभूति-पूर्ण ढंग से विचार करने की ज़रूरत नहीं समझती। नौकर बच्चे को सँभाले और वह स्वयं रिहर्सल करती फिरे—रहा भोजन का सवाल ! तो उसके लिए तो होटल है ही ! यही गृहिणी की व्यवस्था है। स्पष्ट है, सीता (मिसेज अशोक) और मिसेज़ राजेन्द्र अपने पति को या तो धन्ना सेठ समझती हैं या इस बात की ज़रूरत नहीं समझतीं कि उन्हें पैसों के विषय में कभी सोचना भी चाहिए ।

उमा, प्रो० राजलाल की कन्या, वह पात्र है, जिससे रघु की शादी करना चाहता है। इस उमा के मनोभावों को जानने का अवसर अनायास ही रघु को कन्सर्ट की समाप्ति पर प्राप्त हो जाता है, जब वह मिसेज़ राजेन्द्र से कहती है—'मैंने घर देखे हैं, जो नरक हैं और उन नरकों के संचालक हैं पति महोदय । स्त्रियाँ बेचारी तो उनकी यातनाएँ सहने के लिए हैं।'[2] इसे सुन कर रघु को पता चलता है कि उमा भी अन्य शिक्षिताओं की तरह 'स्वर्ग के सपने' देखने वाली है । यदि रघु उससे विवाह करेगा तो उसे मि० अशोक तथा मि० राजेन्द्र की तरह परिस्थिति की विद्रूपता का शिकार होना पड़ेगा ।

अस्तु, वह निश्चय करता है कि उसे अपनी साली रक्षा से ही विवाह करना चाहिए। रक्षा में हज़ार कमियाँ हो सकती हैं। लेकिन वह रघु की पथ-बाधा नहीं होगी, उसके बोझ को बढ़ा कर उसकी गर्दन नहीं तोड़ देगी, मित्रों के घर आने पर पलक झपकते बीमार नहीं हो जायगी ।

इस प्रकार रघु जब अपने मित्रों के स्वर्ग की दो झलकें देख लेता है तब उसका व्यामोह टूट जाता है और वह आधुनिकाओं को नमस्कार करके उसी रक्षा का वरण करने का निश्चय करता है, जिसे वह पहले अपने योग्य नहीं समझता था ।

अश्क जी ने मिसेज़ अशोक और मिसेज़ राजेन्द्र के रूप में जिन आधुनिकाओं को उपस्थित किया है, उनके स्वर्ग की झलक पा लेने पर यह अवश्य कहा जायगा कि आधुनिकाएँ गृहिणी नहीं बन सकतीं, अपने पति के जीवन-सग्राम में सहायक सहयोगिनी नहीं बन सकतीं । ये आधुनिकाएँ पढ़ी-लिखी हैं, सुसंस्कृत कही जाती हैं और फिर भी उनका दाम्पत्य-जीवन सच्चे अर्थ में स्वर्ग की झलक नहीं दिखा पाता । प्रश्न है—ऐसा क्यों है ? क्या उनकी विफलता का उत्तरदायित्व उनकी शिक्षा के ऊपर है ? यदि ये आधुनिकाएँ शिक्षिता नहीं होतीं तो क्या उनका दाम्पत्य जीवन अधिक सुखी होता ? ये कुछ प्रश्न हैं, जो इस नाटक के पाठक-दर्शक के सामने उठते हैं ।

अश्क जी नारी-शिक्षा के विरोधी नहीं हैं। शिक्षा का प्रभाव यदि दूषित ही

---

१. २ स्वर्ग की झलक—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ५५, ९०

होता तो रघु की बी० ए० पास भाभी मिसेज़ अशोक और मिसेज़ राजेन्द्र की लीक पर होती और गिरधारी लाल की गृहस्थी भी चौपट हो गयी होती। पर ऐसा नहीं है। रघु को अपनी भाभी से कोई शिकायत नहीं है। तो फिर दोष किसका है ?

अश्क जी ने इस नाटक में शिक्षा का विरोध नहीं किया है, उनका विरोध शिक्षिताओं की उस मनोवृत्ति से है, जिसके कारण वे सब-की-सब उदार विचारों के शिक्षित, धनी और सहिष्णु पति चाहती हैं और अपना बाहर सँवारने के जोश में घर बिगाड़ती जाती हैं। अश्क जी का उस आधुनिका से विरोध है, जिसे पति की गृहस्थी की फ़िक्र नहीं है। जिसमें अपने पति के किसी मित्र को अपने हाथ से दो रोटी निकाल कर खिला देने का उत्साह नहीं है। अश्क जी का विरोध उस माँ से है, जो अपने बच्चे को अपना दूध न पिला कर बीमार कर दे और बीमार बच्चे की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो कर कन्सर्ट की तैयारी करती फिरे। ऐसी आधुनिकाओं को ऐसा पति चाहिए, जिसकी तिजोरी भरी हो और ऐसी सामर्थ्य हो कि एक रसोइए की जगह दो रख सके ताकि कदाचित् एक बीमार हो, या चला जाय तो दूसरा रसोईघर सँभाल ले। यदि ऐसा नहीं है, पति मध्यवित्त वर्ग का है तो ज़रूरत होने पर यह रसोइया भी हो जाय, बच्चे को रात में सँभाले ताकि पत्नी सुख की नींद सो सके और जो बच्चा बीमार हो तो राजेन्द्र की तरह उसे कंधे पर डाले, तीन-तीन दिन बिता दे और पत्नी को इस बात की सुविधा दे कि वह कन्सर्ट की तैयारी करती रहे। इतना ही नहीं है। आधुनिका यह भी उम्मीद करती है कि उसका पति चूल्हे से लग कर स्वयं जो खीर बना कर लाये, उसको पत्नी की बनायी हुई बताये और इस बात का ढिंढोरा भी पीटे कि उसकी श्रीमती बहुत सुस्वादु और लज़ीज़ खीर बनाती है। यदि पति चाहता है कि पत्नी से उसकी निभती रहे तो उसे यह सब कहना ही होगा, अपनी पत्नी का सेवक बनना ही होगा। वह यदि ऐसा नहीं कर सके तो घर को नरक बनाने का दोष उस पर आयेगा ही। उमा ने ऐसे ही पति को ध्यान में रख कर कहा है—'ऐसे भी घर हैं, जो नरक हैं और उन नरकों के संचालक हैं पति महोदय, स्त्रियाँ बेचारी तो उनकी यातनाएं सहने के लिए हैं।' अस्तु स्पष्ट है कि लेखक को आधुनिका से इस बात की शिकायत नहीं है कि वह उच्च शिक्षा-प्राप्त है। उसकी शिकायत है कि वह पारिवारिक उत्तरदायित्व के प्रति निरपेक्ष है।

प्रश्न है कि यदि ये आधुनिकाएं गृहिणी नहीं हो सकती तो फिर इनकी ओर आज का शिक्षित युवक समाज क्यों टूट पड़ता है ? डॉ० श्रीपति शर्मा ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया है कि—'आज के शिक्षित नवयुवक आजकल की शिक्षित नवयुवतियों की टीम-टाम, चमक-दमक और क्रीम-पाउडर से सुसज्जित चेहरा देख कर अपना सर्वस्व खो बैठते हैं। वे सोचते हैं कि उनके साहचर्य मे जीवन स्वर्ग हो जायगा। परन्तु जब वे उस स्वर्ग के निकट आते हैं तो उन्हें विदित होता है कि वह एक मृग-मरीचिका तथा उनके मस्तिष्क की महज़ रंगीनी थी।'[१]

---

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—डॉ० श्रीपति शर्मा—पृ० २२८

ऐसी पत्नियों के सेवक-पतियों के कृत्रिम जीवन को देख कर, उनके प्रति दया और क्षोभ दोनों ही पैदा होते हैं। अश्क को अशोक और राजेन्द्र जैसे पत्नी के सेवक-पतियों से यह शिकायत है कि वे हीन-भावना के ऐसे शिकार होते हैं कि विरोध नहीं कर सकते, आपत्ति नही कर सकते। ऐसे पति, पत्नी के पीछे मित्र को बताते हैं कि इन आधुनिक पत्नियों को चमकदार मोती कहना चाहिए, जिसका जीवन में बहुत उपयोग नही होता। इन्हें दूर से ही प्यार की नज़र से देखा जा सकता है, उसके आगे बढ़िए तो पास बैठ कर सपनों का संसार बसा सकते हैं, उसकी चमक से आँखें जला सकते हैं किन्तु जीवन के खरल में पीस कर उनसे कोई काम नहीं ले सकते। मुसीबत यह है कि ऐसे पति साहस करके पत्नी से यह नहीं कह सकते कि वह कन्सर्ट का ख़याल छोड़ कर बीमार बच्चे को सँभाले, उसकी चिन्ता करे।

'ऐसे पति एक 'टाइप' होते हैं, जो सामान्य (नार्मल) नहीं होते और जिनकी हीन-भावना उन्हें अपनी ग़लतफ़हमियों से ऊपर नहीं उठने देती।'[1] अश्क की बुद्धि में मिसेज़ अशोक और मिसेज़ राजेन्द्र जैसी पत्नियाँ और उन दोनों के पति, दाम्पत्य-जीवन में जिस सन्तुलन की अपेक्षा होती है, जिस सामंजस्य की आवश्यकता होती है, उसे प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। गृहस्थी की गाड़ी इनके खींचे न खिंची जायगी। इसी का परिणाम है, इनके दाम्पत्य-जीवन का असन्तोष और कुंठा।

अशोक और राजेन्द्र के 'स्वर्ग' की झलक पा कर और उसके उपरान्त उमा के मनोभावों को पहचान कर रघु को यह विदित हो जाता है कि यदि वह जीवन संगिनी चाहता है तो उसे समझ लेना होगा कि मिसेज़ अशोक तथा मिसेज़ राजेन्द्र जैसी आधुनिक तितलियों से उसे निराशा ही हाथ लगेगी।

रघु के रक्षा से विवाह करने के निश्चय को आत्म-विरोधी निर्णय[2] जैसा कि श्री कौल ने कहा, नही कहा जा सकता। उसके आगे एक रास्ता यह है कि वह अशोक और राजेन्द्र की पंक्ति में खड़ा हो जाय और उमा से मिल कर उसी तरह का 'स्वर्ग' खड़ा करे, जैसा स्वर्ग अशोक अथवा राजेन्द्र का है लेकिन ऐसे स्वर्ग में उसका गुज़ारा नहीं। दूसरा रास्ता यह है कि वह रक्षा से शादी कर ले और न हो तो उसे घर पर ही रख कर अपनी भाभी की तरह आगे पढ़ा ले। वह दूसरे विकल्प को स्वीकार करता है और उसके लिए पर्याप्त कारण हैं।

रघु जिस मध्यवित्त परिवार का है उसके कुछ आदर्श हैं, उसका कुछ संस्कार है, जिनकी परम्परा गिरधारी लाल ढो रहा है। उसकी सबसे बड़ी चिन्ता है कि कॉलेज की पढ़ी-लिखी लड़की संयुक्त परिवार की एकता को नष्ट कर देती है। रघु ऐसे तो कहने को अपनी भाभी का देवर है पर भाभी ने उसे बेटे की तरह पाला-पोसा है। भाई साहब और भाभी के स्नेह-सम्बन्ध के सूत्र को तोड़ना उसके लिए सहज नहीं होगा। मि० अशोक तन्दूर की रोटी इतमीनान से खा लेते हैं, राजेन्द्र का काम भी होटल के

---

१. २. नाटककार अश्क—गो० कृ० कौल—पृ० १९७, १२८

खाने से चल जाता होगा, लेकिन रघु के गले से नीचे तन्दूर की रोटी नहीं उतरती है, घर का खाना ही उसे चाहिए। यह उसकी लाचारी है। रघु ने आधुनिकाओं की बुराई नहीं की है, उसे वैसा करने का अधिकार भी किसने दिया है ? पर वह अपनी विवशता, अक्षमता का अनुभव तो कर ही सकता है। अशोक और राजेन्द्र की-सी साहसहीनता भी उसमें आज नहीं है। लेकिन क्या पता उमा से विवाह करने के बाद उसे भी उनको ही तरह भीरु बनना पड़े।

अश्क ने इस समस्या के आर्थिक पहलू की ओर भी इशारा किया है। आज यदि किसी शिक्षित लड़की को शिक्षित लड़का पति रूप में प्राप्त हो भी जाता है तो यह आवश्यक कहाँ है कि वह इतना धनी-मानी भी होगा, जो अपनी सेवा के लिए दर्जनों नौकर-रसोईदार रख सके, उसकी फ़ैशन-परस्ती का बोझ ढो सके। आज के नवयुवकों का जीवन-संघर्ष इतना भीषण होता जा रहा है कि इज़्ज़त आबरू से गुज़ारा कर लेना भी कठिन हो रहा है। अश्क आधुनिका को जैसे कहना चाहते हैं कि यदि उसे विवाह कर, सीधा-सादा जीवन बिताना पड़ता है तो उसे अपने इस सीधे-सादे जीवन पर नाक भी न चढ़ानी चाहिए।

रघु समझ गया है कि न तो मिसेज़ अशोक या मिसेज़ राजेन्द्र और न उमा उस के योग्य हैं। मिसेज़ अशोक और मिसेज़ राजेन्द्र तितलियाँ हैं, वे संगिनी नहीं हो सकती। कॉलेज के जिस वातावरण में उनका निर्माण हुआ है वह, स्वास्थ्यकर नहीं है। मुसीबत यह भी तो है कि उनका संस्कार बदला नहीं जा सकता। इधर रक्षा वह स्लेट है, जिस पर चाहे जो रेखा खींच दीजिए। रघु इसी से उसके प्रति आशावान है।

अश्क की दृष्टि में दाम्पत्य-जीवन में सन्तुलन का होना सबसे बड़ी अनिवार्यता है। इस नाटक की रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा भी है—'चाहिए यह कि जहाँ शिक्षा पा कर नारी स्वाभिमान, आत्म-विश्वास, व्यापक ज्ञान तथा समाज-सेवा की भावनाएँ पाये, वहीं अपना सन्तुलन भी न खोये। तभी समाज में व्यवस्था कायम रहेगी।'[1]

प्रस्तुत नाटक से ध्वनित होता है कि न तो केवल फ़ैशन-परस्ती आधुनिकता का नाम है और न अशिक्षा का नाम पुरातनता है। दोनों के समन्वय से ही नारी का स्वस्थ विकास सम्भव है। रघु की भाभी के चरित्र में इस नूतन-पुरातन के समन्वय की कुछ झलक है।'[2]

लेखक आधुनिकाओं से कहते हैं कि उन्हें अपने पति की जीवन-संगिनी बनना चाहिए, जीवन के कठिन संघर्ष के लिए अपने आपको तैयार करना चाहिए। भारत जैसे देश के मध्यवर्ग का जीवन-संघर्ष सचमुच भयंकर है; अपने पति के इस जीवन-संघर्ष

---

१. स्वर्ग की झलक—भूमिका—उ० ना० अश्क

२. नाटककार अश्क—गो० कृ० कौल—पृ० १९८।

के प्रति कोई समझदार पत्नी उदासीन रह भी कैसे सकती है? अस्तु, इन आधुनिकाओं को परिस्थिति के साथ समझौता करना ही होगा, कम-से-कम उस समय तक, जब तक कि देश सुसम्पन्न नहीं हो जाता और औसत दर्जे के मध्यवर्गीय परिवार के रहन-सहन का स्तर पर्याप्त ऊपर नहीं उठ जाता अथवा समाज की ऐसी व्यवस्था नहीं हो जाती, जिसमें आर्थिक दृष्टि से नारी पुरुष पर निर्भर न रहे ।

मध्य-वर्ग के जीवन-संघर्ष की कठिनाइयों के प्रति बेपरवाह इन आधुनिकाओं की आँखों में अँगुली डाल कर अश्क कहना चाहते हैं—'ऊपर से सुदृढ़ और भव्य प्रासाद बनाने वाली ठहर और देख कि तेरे प्रासाद की नींव नीचे से खिसकी जा रही है ।'

विवाह की समस्या के इस रूप का उद्घाटन करने के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटी-छोटी समस्याएँ भी इस नाटक में उभरती हैं । आगे हम वैसी कुछ समस्याओं का दिग्दर्शन करेंगे ।

गिरधारी और रघु की भेंट रविवार को ही हो पाती है । दोनों अपने-अपने धन्धे में लगे हुए हैं; जीवन-संघर्ष इतना तीव्र है कि रघु को रात में घर रहने की सुविधा नहीं और गिरधारी को दिन में दुकान के छोड़ने की स्वतन्त्रता नहीं । जीवन-संघर्ष की ऐसी दशा में परिवार के नेह-नाते जाने कितने दिन टिके रहेंगे !

गिरधारी कॉलेज के वातावरण में पलने वाली आधुनिकाओं से इसलिए डरता है कि वे संयुक्त परिवार की एकता नष्ट कर देती हैं । हमारे घरों की संयुक्त-परिवार-व्यवस्था टूट रही है । समस्या यह है कि शिक्षिता नारी संयुक्त परिवार के लिए सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है । शिक्षा से तो उदारता का जन्म होना चाहिए था, लेकिन हो क्या रहा है ? तो क्या यह सोचा नहीं जाना चाहिए कि हमारी शिक्षा में ही कहीं कोई दोष है । राजेन्द्र ने भी रघु से आधुनिकाओं की चर्चा करते हुए कहा है कि नारियों पर शिक्षा का घातक प्रभाव पड़ रहा है ।

पाश्चात्य शिक्षा का एक बड़ा दोष यह है कि वह हमें मानसिक ग़ुलामी की दशा में ले जाती है । अशोक ने एक पुस्तक लिखी है । वह जानता है कि ज़माना प्रचार का है । इसलिए वह चाहता है कि अख़बार में, और वह भी अंग्रेज़ी अख़बार में ही—उसकी पुस्तक की आलोचना हो । इसी लिए तो वह अंग्रेज़ी अख़बार के सम्पादक रघु की ख़ुशामद में उसकी दावत करता है । आज का हमारा समाज कितना हिसाबी हो गया है कि ज़रूरत के मौके पर मित्र की भी दावत करानी होती है । सुहृदों के बीच हार्दिकता, रोटी ही लाती है—यह भीषण बात है ।

छठा बेटा

'छठा बेटा' अश्क जी का दूसरा सामाजिक-समस्या-नाटक है, जिसकी रचना १९४० में उन्होंने की थी । इस नाटक की रचना की मूल-भूत प्रेरणा नाटककार को जीवन की एक साधारण घटना से प्राप्त हुई थी । वे एक बार प्रीतनगर से अटारी तक की यात्रा

कर रहे थे। इक्के पर इनके साथ ही एक मुसलमान बूढ़ी महिला और उसकी खालाज़ाद (मौसेरी) बहन भी यात्रा कर रही थी। उन दोनों की बातचीत से ही इस नाटक के कथानक का ढाँचा तैयार हुआ। बुढ़िया को शिकायत थी कि उसके बड़े बेटे ने अपनी कमीनी बहू के घर में आते ही माँ से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। फिर उसके मँझले बेटे ने भी बड़े भाई का रास्ता लिया। किसी उत्सव के अवसर पर बुढ़िया अपने बड़े बेटे के यहाँ अभी गयी थी और बीच ही में लड़-लड़ा कर वह भाग आयी है। अपने दो बेटों के हाथों इस तरह उपेक्षिता होने पर भी वह आशा नहीं छोड़ती और खुदा से मनाती है कि उसके तीसरे बेटे का घर आबाद हो जाय और उसके मन को सुख-शान्ति मिले। बूढ़ी का यह अरमान कभी पूरा भी हो सकेगा—इसकी कोई उम्मीद नहीं है। लेकिन वह बूढ़ी है, जो अरमान पाले जा रही है। बूढ़ी की यह कभी पूरी न होने वाली आकांक्षा नाटककार के मस्तिष्क में चक्कर काटती रही। इसी मूल-भूत विचार के साथ इस नाटक के पात्र बैठा दिये गये और 'छठा बेटा' तैयार हो गया।

पं० बसन्त लाल रेलवे का अवकाश-प्राप्त पदाधिकारी है। उसके छः बेटों में हंसराज डॉक्टर है; हरिनाथ या हरेन्द्र कवि है; देव नारायण डाक घर में मुंशी है; कैलाशपति टिकट कलेक्टर है तथा गुरुनारायण पढ़ रहा है और अभी से इंडियन सिविल सर्विस में स्थान पाने का सपना देखा करता है। छठा बेटा दयालचन्द है, जो घर से भागा हुआ है। बसन्त लाल शराबखोर है; इतना पीता है कि होश-हवास खो बैठता है; नाली में पड़ा रहता है। वह अपने जीवन की सारी कमाई, शराब की भेंट कर चुका है। अब समस्या यह है कि अपनी ज़िन्दगी के बचे हुए दिन वह कहाँ बितावे। बसन्त लाल का नाते का एक भाई है—चानन राम। उसका विचार है कि बसन्त लाल को अपने बड़े बेटे डॉक्टर हंसराज के परिवार में रहना चाहिए। हंसराज अपने पिता के प्रति अपने उत्तदायित्व से भागता नहीं है। लेकिन वह यह नहीं चाहता कि बसन्त लाल उसके साथ रहे। पिता की गन्दी आदतों से उसे घृणा है। हंसराज के यहाँ बड़े-बड़े लोग आते-जाते हैं। इधर उसका पिता है, जो कीचड़ भरे जूते लिये, उसके मरीज़ों के लिए बने वेटिंग रूम में आ धँसता है। कभी टखनों तक ऊँची धोती—वह भी आधी मैली-सी, खुले गले की कमीज़ पहने नंगे सिर ड्रॉइंग रूम में भी चला आता है और नंगे पाँव कौच पर बैठ जाता है। वह अपने पुराने संस्कारों को छोड़ कर सभ्य समाज के शिष्टाचार भी सीखना नहीं चाहता। यदि बसन्त लाल हंसराज के घर रहेगा तो हंसराज की प्रैक्टिस चौपट हो जायगी।

दूसरे बेटे गुरुनारायण को इस बात की शिकायत है कि बसन्त लाल बड़ी-बड़ी मूँछें रखता है, ऐसी, जिन पर नींबू टिक सके। वह सिर घुटा कर रखता है—चटियल मैदान की भाँति। घर और बाहर का भेद भी उसे ज्ञात नहीं है। कमीज़ और तहमत पहने बाज़ार घूम आता है।

देव नारायण की शिकायत है कि उसका पिता उसके लम्बे-लम्बे प्यारे बालों

को देख कर जलता है और उसे गीत गाने के लिए नाहक परीशान करता है। इधर हरिनारायण ठहरा सात्विक विचारों वाला, निरामिष भोजी और पिता है, जो रोज़ मुर्गा भूनता है। कैलाशपति की कठिनाई है कि वह अपने पिता के साथ एक दिन को कौन कहे, एक पल भी नहीं रह सकता।

अपने पिता के प्रति बेटों की यह जो अनुदार असहिष्णुता है, उसके लिए बेटे ही ज़िम्मेवार हों—ऐसी बात भी नहीं है। बसन्त लाल का भी दोष कम नहीं है। बेटे आख़िर करें तो क्या? एक दिन की बात है; गुरु नारायण को जल्दी खाना खा कर विश्वविद्यालय जाना है और घर में आटा नहीं है। ज़िद करके १० रुपये ले कर बसन्त लाल स्वयं आटा लाने बाज़ार चला जाता है। लौटता है तो शराब के नशे में पाँव लड़खड़ा रहे हैं, पाँव का जूता ग़ायब है, कमीज़ के बटन खुले पड़े हैं और हाथ में आटे के बदले तीन लाख रुपयों का डरबी का टिकट है।

अपनी मूँछों पर ताव देते हुए बसन्तलाल अपनी पत्नी से कहता है—हंस की माँ, माँग लो आज मुझसे जो कुछ माँगना चाहती हो, मैं तुम्हारी प्रत्येक इच्छा आज पूरी कर दूँगा।[1] बसन्तलाल को जब अपने बेटों ने घर में टिकने नहीं दिया था तब चाननराम ने उसे अपने यहाँ रखा था। उचित तो यह है बसन्तलाल अपने बेटों को धन देने के बजाय चाननराम को धन देने का विचार करता। लेकिन बसन्तलाल सोचता है—पुत्र कुपुत्र होते हैं, पर पिता कुपिता नहीं होते। इससे वह इन कम्बख़्तों के नाम एक लाख लगा देगा।[2] पत्नी जब बसन्तलाल को अपने बिछुड़े हुए बेटे दयालचन्द का स्मरण कराती है तो बसन्तलाल निश्चय करता है कि दयाल को ढूँढ़ लाने के लिए वह दस हज़ार रुपये खर्च करेगा। बसन्तलाल के बेटों की सभा में यह तय होता है कि बूढ़े से रुपया निकाल लिया जाय, नहीं तो बूढ़ा पैसों को बरबाद कर देगा। पैसे कैसे बरबाद होंगे, यह उन्होंने अभी-अभी देखा है। बसन्तलाल का इन्टरव्यू लेने के लिए एक सम्वाददाता आता है। बसन्त लाल उसे एक तमाचा मारता है और १००) बदले में दे देता है।

अब बसन्तलाल के बेटे उसकी सेवा में पहुँचते हैं। वह हंसराज भी उपस्थित है, जो अपने पिता को अपने घर टिकने देना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझता। आज उसकी दशा उस कुत्ते की-सी हो रही है, जो मालिक को खाना खाते देख कर उसके सामने दुम हिलाता, विनम्र, लालसा-भरी दृष्टि से ताकता, घुटने टेक कर बैठ जाता है कि तनिक मालिक का ध्यान हो तो फिर दुम हिला दे। बेटे बाप की गालियाँ सुनते हैं फिर भी चिरौरी किये जा रहे हैं, टाँगे दबाते हैं, अपने हाथ से ढाल कर शराब पिलाते हैं। देवनारायण अपना सिर घुटा कर ख़ुशामद में खड़ा है। कैलाशपति चुटिया की उपयोगिता पर व्याख्यान दे रहा है। पिता एक के बाद दूसरे को रुपये देने की घोषणा करता जाता है।

---

१. २. छठा बेटा—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ५०, ५२

थोड़ी ही देर में बसन्तलाल एक बार फिर वास्तविकता की कठोर भूमि पर उतर आता है। उसके बेटों के व्यवहार में फिर परिवर्तन हो जाता है। गुरु नारायण सोचता है कि वह तो आई० सी० एस० होने वाला है। यदि किसी को यह पता चल जायगा कि उसका पिता शराब पी कर नालियों में औंधे मुँह पड़ा रहता है तो उसका सारा भविष्य नष्ट हो जायगा। देवनारायण अपनी माँ से खुल कर कहता है—'नही माँ, उन्हें रखना मेरे बस का रोग नहीं है। मैं डरता हूँ। अपने यहाँ रखना तो दूर रहा, मैं उनके पास तक नहीं जा सकता।'[1] हरि नारायण माँ से कहता है—'तुझे नही मालूम, मेरी ख्याति पंख लगा कर उड़ चली है। जब लोगों को पता चलेगा, मैने किन परिस्थितियों में परवरिश पायी है, मेरा पिता कितना क्रूर तथा निर्दयी है तो वे मेरी प्रतिभा पर आश्चर्यान्वित रह जायेंगे।'[2] हंसराज कहता है—'मैं किसी का पुत्र नहीं। मेरा कोई पिता नहीं। क्या तुम चाहती हो, मै फिर नीचे-का-नीचे जा रहूँ। मुझे नित नयी पार्टियाँ, नित नये डिनर देने होते हैं। कहाँ ला कर रखूँ मैं उन्हे अपने यहाँ।'[3] कैलाश और भी खुल कर कहता है—'मैं पुलिस इन्सपेक्टर हूँ। घसियारा नहीं। कोई दूसरा होता तो अब तक कब का पकड़ कर जेल में ठूँस देता। शराब पी कर वे इतना अँधेर मचाते हैं कि मेरी सब-की-सब व्यवस्था भंग हो जाती है। मुझे विवश हो कर उन्हें सीखचों के अन्दर करना पड़ेगा।'[4]

इस प्रकार बसन्त लाल अपने पाँच पुत्रों से निराश होता है। इन पुत्रों की माँ की कल्पना में छठे बेटे दयालचन्द की छाया-मूर्त्ति उभड़ती है और वह उससे कहती है—'देख, तेरे भाइयों ने हमें किस तरह दुत्कार दिया है। तेरे पिता दो दिन से सब्ज़ी मंडी में औंधे मुँह बेहोश पड़े हैं।'[5] दयालचन्द माँ से वादा करता है, 'मैं उन्हें वहाँ जा कर उठाऊँगा, उनकी हर सेवा करूँगा।'[6]

इस नाटक में बसन्त लाल के रूप में एक ऐसे ग़ैर-ज़िम्मेवार पिता को उपस्थित किया गया है, जो अपनी कमाई शराब की भेंट करता रहा है और पीता भी इतना बेहिसाब है कि नालियों में औंधे मुँह पड़ा रहता है। लेकिन इसी में उसने अपने पाँच बेटों को इस लायक बना दिया है कि समाज मे उनके लिए जगह हो। आज जब बसन्तलाल अवकाश-प्राप्त हो चुका है और उसके चार बेटे अपनी-अपनी गृहस्थी बसाने की स्थिति में हैं, प्रश्न है कि वह किस बेटे के घर रहे। बेटे स्वार्थ में ऐसे लिप्त है कि अपने पिता को अपने घर के छप्पर तले रखना नहीं चाहते। बसन्तलाल अभी कुछ दिन तो अपने एक नातेदार चाननराम के साथ रहा है। लेकिन चाननराम बूढ़े बसन्त लाल की आदत के सुधारने में समर्थ नहीं है और वह चाहता है कि बसन्त लाल अपने ज्येष्ठ पुत्र हंसराज के साथ रहे, जहाँ उस पर नियन्त्रण रखा जा सके।

हंसराज अपने पिता की आदतों से परिचित है। इधर अब वह बड़ा आदमी

---

१. २. ३. ४. ५. ६. छठा बेटा—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ११०, ११०, ११२, ११३, ११५, ११५

हो गया है। वह नहीं चाहता कि अपने पिता को अपने साथ रख कर वह अपमानित हो। पिता के गुज़ारे की जवाबदेही वह ले सकता है, लेकिन वह उसे साथ नहीं रख सकता। दूसरे बेटे भी ऐसा ही सोचते-समझते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि बेटे अपने स्वार्थ के कारण पिता को अपने पास रखना नहीं चाहते और इस निस्सहायता की स्थिति में बेटों की माँ को अपने छठे बेटे की याद आती है और वह अरमान सँजोती है कि कभी वह आ कर अपने पिता का सहारा बन जायेगा।

हमारा आज का पारिवारिक जीवन स्वार्थ के किस दल दल में पड़ा हुआ है—यह उस समय स्पष्ट होता है जब बसन्त लाल लाटरी का टिकट हाथ में लिये रुपये बाँटने की घोषणा करता हुआ घर पहुँचता है। बेटों को ऐसा अनुमान होता है कि बूढ़े को लाटरी से तीन लाख रुपये मिल गये हैं और बस उनका पितृ-प्रेम उमड़ पड़ता है। तरह-तरह से पिता की वे सेवा करते हैं और उसको खुश रखने की अनथक चेष्टा करते है। गालियाँ सुनते जा रहे हैं और खुशामद किये जा रहे हैं। आज किसी को इस बात पर भी आपत्ति नहीं कि आटे के पैसों को बसन्त लाल ने लाटरी का टिकट खरीद कर और शराब पी कर बरबाद किया है। बल्कि हंसराज की बहू तो उन्हीं दस रुपयों के हक पर लाटरी की सारी रकम के ऊपर अपना ही अधिकार समझती है। नाटककार हमारे पारिवारिक जीवन की इस स्थिति का चित्रण कर कहना चाहते हैं कि हम अपनी दुनिया को संकुचित करके आज उस जगह पहुँच गये हैं जहाँ जगत के सारे नाते-रिश्ते पैसों पर टिके हुए हैं। पिता से पुत्र तभी प्रेम कर सकते हैं, जब उससे उन्हें पैसे मिलने की आशा हो। मध्य-वर्ग की इस पारिवारिक समस्या को इस नाटक में उपस्थित करके वे हमें एक बार झकझोर देते हैं।

क़ैद

'क़ैद' शीर्षक अपने नाटक में अश्क ने मध्यवर्गीय समाज के कुरूप शिकंजों में जकड़ी हुई, सब तरह से विवश, निरुपाय और पराजिता नारी 'अपराजिता' की कथा के सहारे विवाह और प्रेम की समस्या का विचार किया है।

इस नाटक की अप्पी अथवा अपराजिता एक ऐसी नारी है, जो विवाह के पहले उन्मुक्त हवा-सी उड़ा करती थी, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती थी और उसके गालों के गुलाब हर घड़ी खिले रहते थे।[1] अप्पी का, अपनी मौसी के देवर दिलीप से प्रेम था। अप्पी की माँ ने दिलीप के साथ उसका विवाह भी कराना चाहा। लेकिन अप्पी के मौसा जी इस प्रस्ताव को सुनते ही आग बबूला हो गये। वे अप्पी को प्यार करते थे और इसलिए यह स्वीकार न कर सके कि उस बेचारी को दिलीप जैसे एक ऐसे निखट्टू के खूँटे से बाँध दिया जाय, जो चार पैसे कमा कर नहीं ला सकता।[2]

अप्पी की बहन दिप्पो प्राणनाथ की पत्नी है। उसकी मृत्यु के बाद प्राणनाथ

१. २. क़ैद—उ० ना० अश्क—पृ० ४०, ४६

की गृहस्थी सँभालने के लिए अपराजिता प्राणनाथ की दूसरी पत्नी के रूप में उसके घर चली आती है। इस तरह वह अपनी आत्मा की मंज़िल और अपने सपनों के देवता दिलीप से सदा के लिए दूर हो जाती है और उस सामाजिक व्यवस्था के आगे घुटने टेक देती है, जिसमें आर्थिक कारणों से पुरुष की अधिकार-भावना के आगे नारी को पराजित होना पड़ता है। प्राणनाथ के साथ अखनूर में पिछले आठ वर्ष से, पारिवारिक बन्धनों और सामाजिक रूढ़ियों में आबद्ध अप्पी, चट्टानों पर सिर पटकती हुई, पछाड़ें खाती हुई चनाब की जलधारा की तरह टूट-टूट कर बिखर रही है। पेट-दर्द, कमर-दर्द, सिर-दर्द, कोई-न-कोई दर्द उसे लगा ही रहता है। उसके रोग का कोई उपचार भी प्राणनाथ के पास नहीं है।[1] प्रसन्नता का कोई चिह्न अब अप्पी के मुख पर दिखायी नहीं देता। घर में बच्चे हैं दीशी और निम्मो। लेकिन अप्पी ऐसी स्नेहशून्य हो गयी है कि वह रह-रह कर बकती रहती है—'अरे कोई है, इन कम्बख़्तों को निकाले मेरे कमरे से बाहर! पल भर का चैन हराम हो गया इन दुष्टों के मारे। ईश्वर ऐसी संतान शत्रु को भी न दे।'[2] अप्पी को ऐसा अनुभव होता है जैसे वह एक लम्बी यात्रा तय करके आयी है और थक गयी है। उसने कभी एक फ़िल्म देखी—'किंग-कौंग'। उस फ़िल्म को वह भूल नहीं पाती। उसमेंकिंग-कौंग गुरिला एक सुन्दर लड़की को उठा कर ले गया था। अप्पी की छत पर भी एक वैसा ही दिलेर किंग-कौंग ऐसा बन्दर उतरता है जो कभी चादर उठा कर ले जाता है तो कभी मिठाई का दोना। अप्पी को लगता है कि उसकेअपने जीवन में भी तो वही घटित हुआ है। एक दिलेर किंग कौंग सबके सामने उसे अपने घर उठा लाया है। किंग-कौंग फ़िल्म की उस सुन्दर युवती को तो बन्दर ने छोड़ भी दिया था लेकिन अप्पी तो आज भी क़ैद है। न टूटने वाली बेड़ियाँ उसके पाँवों में बँधती चली गयी हैं।[3]

इधर प्राणनाथ अप्पी को साथ लिये अगर कभी अखनूर की प्रकृति के अछूते सौन्दर्य के दर्शन के लिए जाता भी तो उसे यही अनुभव होता कि उस सौन्दर्य का दर्शन करने वाला वह अकेला है। अप्पी तो न जाने कहाँ खोयी होती, गुमसुम-सी बैठी रहती और न जाने अतीत का कौन-सा स्वप्न देखती रहती।[4]

प्राणनाथ अप्पी को हृदय से चाहता है। उसके लिए सचमुच वह दिन बड़ी ख़ुशी का होता, जब वह अप्पी को स्वस्थ देखता।[5] अप्पी की हालत देख कर वह दुःखी भी होता है। पिछले आठ वर्षों से वह सोचता चला आया है कि यदि दिप्पो की मृत्यु के बाद वह दिल्ली न गया होता तो अप्पी की हँसी-ख़ुशी का सोता यों न सूख जाता।[6] पर अपराध तो उससे हो ही गया है और इसका बोध भी उसे पूर्ण रूप से है। अप्पी से विवाह करके उसे भी सुख नहीं है। उसका जीवन चनाब की भाँति अपना यौवन खो चुका है।[7] और इस प्रकार अप्पी और प्राणनाथ दोनों ही दुखी हैं।

फिर एक दिन कुछ चन्द घंटों के लिए अप्पी के घर दिलीप पहुँचता है और

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. क़ैद—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ३९, ३८, ६४,

अप्पी का रंग चमक उठता है। उसकी देह पर रहने वाला सदा का पीलापन क्षण भर में ही गायब हो जाता है।[1] अप्पी की दुनिया ही बदल जाती है। घर के कबाड़ख़ाने की सफ़ाई होती है, बच्चों को साफ़-सुथरा किया जाता है, गुलदस्ते सजाये जाते हैं, वर्षों के बाद अप्पा रसोईघर में जाती है, प्रकृति का सौन्दर्य अप्पी को भी आकृष्ट करता है। गीतों के बोल उसके मुँह से जैसे फूटने ही वाले हैं।[2]

लेकिन दिलीप के साथियों के हाथों अप्पी का यह सुख छीन लिया जाता है और सामाजिक शिकंजों में बँधी हुई अप्पी सिर पटकती रह जाती है। 'क़ैद' में पड़ी हुई अप्पी अपनी किस्मत पर रोने के अतिरिक्त कर भी क्या सकती है।

अश्क ने इस नाटक में अप्पी के रूप में उस नारी को प्रस्तुत किया है, जिसके साथ विवाह की संस्था ने क्रूर व्यंग्य किया है। मध्यवर्गीय शिक्षिता नारी अपने सपनों का संसार बसाती है और दिलीप को अपने हृदय के आसन पर बिठाती है। अप्पी और दिलीप दोनों मिल कर यह प्रण करते हैं कि वे एक स्वर्ग बसायेंगे। लेकिन उस सपने को साकार बनाना मध्यवर्गीय हिन्दू नारी के हाथ में है कहाँ? अप्पी इसी विवशता को व्यक्त करती हुई कहती है—'हम ग़रीबों का क्या है, माता-पिता ने जहाँ बैठा दिया, जा बैठीं।'[3] तो क्या अप्पी के माता-पिता उसके प्रति क्रूर थे? नहीं, यह बात भी नही है। उसकी मौसी उसकी भावना को समझ कर दिलीप से उसके विवाह का प्रस्ताव भी करती है। अप्पी के मौसा जी भी अप्पी को ख़ूब प्यार करते हैं, उसका भला चाहते है और इसीलिए वे नहीं चाहते कि उनके निखट्टू भाई के साथ अप्पी का विवाह हो और उसकी ज़िन्दगी बरबाद हो जाय। तो सिद्ध है, दिलीप से अप्पी के विवाह-सम्बन्ध के स्थिर न होने का कारण है 'अर्थ'। अप्पी को जिन्दगी के साथ समझौता करना पड़ता है, यह उसकी विवशता है। सचाई उसके मुँह पर अनायास चली आती है और वह कह जाती है—'किंग कौंग से कब का समझौता कर लिया है।'[4] यह नहीं कि अप्पी को अपने से, अपनी परिस्थिति से विद्रोह नहीं होता। जब वह घंटों बन्दरों को स्वतन्त्रता से कूदते-फाँदते, कुदकड़े मारते, कलाबाजियाँ लगाते, पेड़ों की शाखाओं से लटकते-झूलते देखती है तो अपनी क़ैद की अनुभूति और तज्जन्य विकलता उसकी नस-नस में जग उठती है। कभी ऐसा लगता है कि जैसे शरीर की समस्त शिराओं में कुछ सुलगने-सा लगा है।[5] लेकिन अप्पी सामाजिक नियमों के बन्धन में कस कर बँधी है। इसी से दूसरे ही क्षण उसे ऐसा भी लगता है कि उसके शरीर की प्रत्येक स्पन्दित शिरा मानो बुझी हुई भीगी लकड़ी की भाँति निर्जीव हो गयी है।[6] अप्पी की जो स्थिति है, उसमें मनुष्य, या तो दार्शनिक बन सकता है अथवा पत्थर। और फिर पत्थर और दार्शनिक में बहुत अन्तर भी कहाँ है? अप्पी कहती है—'पत्थर कदाचित सबसे बड़ा दार्शनिक है।'[7] अप्पी को यह मालूम है कि उसके जीवन का

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. क़ैद—उ० ना० अश्क—पृ० ६६-६७, ८२, ६६,

अन्धकार—उसको, उसकी इच्छाओं-अभिलाषाओं, आकांक्षाओं, स्वप्नों, स्मृतियों—सबको निगल जायगा और वह उस शव की भाँति पड़ी रह जायेगी जिसका सारा रक्त किसी तृप्त न होने वाली जोंक ने चूस लिया है।[1] अप्पी जैसी नारी उस अन्धकार की भी आदी हो जाती है; ज़िन्दगी को अपनी राह चलते रहने की इजाज़त उसे देनी पड़ती है। इस अन्धकार के बीच अप्पी को अकेले रहना होगा । वाणी सच कहती है कि यदि दिलीप अप्पी के यहाँ रहेगा तो अप्पी के घर के शान्त वातावरण में भी ओले गिरने लगेंगे।[2] वाणी शायद ठीक ही कहती है कि उन सब बातों के बाद, दिलीप को अखनूर न आना चाहिए था।[3]

अप्पी अपने जीवन के साथ समझौता करने की चेष्टा तो अवश्य करती है, लेकिन क्या वह सफल भी हो सकी है ? प्राणनाथ को पति मान कर वह उसकी पत्नी तो हो जाती है पर क्या वह उसकी जीवन-संगिनी भी हो पाती है ? सच्चे मन से उसे प्यार भी कर पाती है ? उससे जब दिलीप ने पूछा है—'अप्पी तुम प्रसन्न नहीं हो'[4] तो उसने उत्तर मे छूटते ही कहा—'मैं सन्तुष्ट हूँ।'[5] स्पष्ट है, अप्पी कहना चाहती है कि वह जीवन को सह रही है, जैसी भी है, ठीक है। हाँ, ठीक इतने ही भर के लिए है कि अप्पी इस क़ैद से छूट नहीं सकती। दिलीप उसकी दुखती हुई रग पर हाथ रख कर जब कहता है—'तुम सन्तुष्ट भी नहीं हो' तो वह उत्तर नही दे पाती, दार्शनिक की तरह कहती है—'संसार में कौन प्रसन्न है, कौन सन्तुष्ट है....।'[6] और दिलीप यह सब पूछता ही क्यों है ? वह खुद अपने से उत्तर क्यो नहीं पूछता ? अप्पी ने उलट कर वही सवाल दिलीप के सामने रख दिया—'तुम प्रसन्न हो' ?[7] वह कहना चाहती है, 'यदि तुम प्रसन्न नहीं हो, तो मुझसे क्यों पूछते हो मैं प्रसन्न हूँ या नही।' इस घुटन में रहने वाली अप्पी अपने पति की प्रिया नहीं हो पाती। अपने जीवन की विफलता से उत्पन्न उसकी सारी खीझ बरस पड़ती है, उन मासूम बच्चों पर, जिनको अप्पी का प्यार मिलना ही चाहिए था। नाटककार ने बड़ी कुशलता से बताया है कि ऐसी अप्पी बच्चों को प्यार नहीं दे सकती। दिलीप के क्षणिक संयोग से यदि घर कबाड़खाने से बदल कर सही मानी में घर हो जाता है तो दूसरी ओर बच्चों को भी माँ का प्यार मिलता है। जो अप्पी बच्चों को दिलीप के आने के पहले 'कमबख्त' कहा करती थी—वही अब उन्हें 'राजा बेटा' कहती है, बड़े प्यार से निम्मो को चूमती है और कहती है—'बड़ी अच्छी है मेरी मुन्नी बेटी।'[8]

इस प्रकार अश्क यह संकेत कर जाते हैं कि यदि अप्पी का जीवन सन्तुलित होता, दाम्पत्य-जीवन सुखी होता तो उसके बच्चे भी स्नेह-वंचित नहीं होते।

अप्पी जिस कुंठा को ले कर जी रही है, उसमें पड़ी हुई नारी, परिवार के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में विवाह की चरितार्थता क्या

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. क़ैद—उ० ना० अश्क—पृष्ठ९१, ९६, ९७, ७९, ४९-५०

है ? अश्क ने इसी प्रश्न की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इस नाटक की रचना की है। यह बात ध्यान देने की है कि उन्होंने 'क़ैद' में समस्या का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया।

उड़ान

अश्क ने 'शिकारी' शीर्षक से एक सात अंकों का नाटक उर्दू में लिखा था। ऑल इन्डिया रेडियो के नाटक-विभाग के तत्कालीन प्रभावी अधिकारी श्री अन्सार नासिरी को 'शिकारी' खूब पसन्द आया। लेकिन उसके अन्त के विषय में उनकी सम्मति थी कि 'शिकारी' शंकर के हाथों उसके मित्र रमेश की हत्या से भावुकता को ठेस लगती है। अश्क ने श्री अन्सार नासिरी के सुझाव पर नाटक में आवश्यक परिवर्तन कर लिया। इस परिवर्तित रूप में नाटक का अन्त उस परिस्थिति में होता है, जब शंकर रमेश को मदन और माया को नीचे तलहटी तक छोड़ आने के लिए कहता है और स्वयं भग्न-हृदय वापस हो जाता है।

उर्दू के इस नाटक को हिन्दी में 'उड़ान' का रूप देते समय अश्क ने शिकारी के कथानक के क्रम में आने वाले सभी पात्रों को तो ग्रहण कर लिया लेकिन उड़ान में आ कर यह कथा शंकर की न हो कर माया की हो गयी।

'उड़ान' के पात्र सामान्य जीवन के बीच से नहीं लिये गये हैं। शंकर, रमेश और मदन—डॉ० धर्मवीर भारती के शब्दों में, 'पुरुष की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं।'[१] शंकर उस पौरुष का प्रतीक है, जो पुरुष की अधिकार-भावना को जगाता है। वह जन्म से ही शिकारी है। शिकार की धुन उसकी नसों में उगलती हुई आग बन कर रहती है और वह यही चाहता है कि किसी भूली-भटकी हिरनी को अपनी बाहों में भर ले।[२] शंकर नक्षत्र का बली है। उसके नौकर लछमन ने कहा ही है—'जिन जंगलों में ढूँढ़े से कभी हिरन नहीं मिलता, वहाँ हर बरस उनके हाथ से एक-न-एक शिकार हो जाता है'।[३] भोली-भाली हिरनी जैसे शंकर की बाहों में आने के लिए, उसका शिकार हो जाने के लिए अनायास उसकी ओर चली आती है।[४] इस बार की शिकार-यात्रा में जंगल की एक हिरनी तो उसे मिलती ही है, एक दूसरी भी जंगलों में भटकती हुई 'माया' के रूप में उसके कैम्प की ओर खिंच आती है। शंकर इस हिरनी को जब पहली शाम चट्टान पर लेटी हुई देखता है तो उसके मन में होता है कि उसे गोद में भर कर कैम्प तक ले आये। इस भाव के आवेश में आ कर जब उसने उसे अपनी गोद में लेना चाहा तो माया सचमुच हिरनी की ही भाँति तड़प उठी थी।[५] शंकर शिकारी है और शिकारी किसी चिड़िया को निशाना बनाते समय कभी नहीं सोचता कि वह प्रसन्न है या उदास, वह उसकी भावनाओं की चिन्ता नहीं करता।[६]

१. क़ैद और उड़ान की व्याख्या—पृ० २५
२. क़ैद और उड़ान—उ० ना० अश्क—पृ० ११७
३. ४. ५. ६. क़ैद और उड़ान—उ० ना० अश्क—पृ० १०८, ११४, १२०, ११३,

नाटक का दूसरा पुरुष-पात्र है रमेश, जो अपने शिकारी मित्र के साथ जंगल तक पहुँच गया है। रमेश की प्रकृति एक भावुक कवि की है। जहाँ शंकर प्रकृति की निखरी हुई सुन्दरता को भूल कर शिकार के पीछे पागल हो उठता है, वहाँ रमेश प्रकृति के मादक मोहक सौन्दर्य से अनुभूत हो कर शिकार को ही भूल जाता है। यही कारण है कि रमेश की गोली अपने पीछे मात्र धुंआ छोड़ जाती है और शंकर की गोली एक आहत पक्षी।[१]

माया को देख कर रमेश के मन को ऐसा लगता है कि किसी पेड़ की घनी छाया में चाँदनी सहसा चमक उठी हो। जब वह माया से उसकी कहानी सुन कर यह जानता है कि रंगून से तीन सौ मील की कष्टप्रद लम्बी यात्रा और वह भी बिना खाये-पिये पैदल तय कर के चली आ रही है तो वह विस्मय-विमुग्ध हो जाता है।[२] उसे समझ ही नहीं पड़ता कि जो माया इतना कोमल है, वह कैसे यह मुसीबत झेल सकी। माया उसे आकृष्ट भी करती है। जब वह सहारा लेने के लिए रमेश के कंधे पर हाथ रखती है तब उसे लगता है जैसे बेले की कलियों की कोई माला उसके गले में आ पड़ी हो।[३] शंकर कहता है—रमेश माया से प्रेम करने लगा है। रमेश को इस पर आपत्ति है। उसका कहना है कि वह माया से प्रेम नहीं करता, माया प्रेम करने की चीज़ नहीं पूजा की चीज़ है।[४] माया को देख कर रमेश का जी चाहता है कि वह उस पर प्यारी-प्यारी कविताएँ लिखे, किसी सुन्दर मूर्त्ति की तरह उसे अपने मन के सिंहासन पर बिठा कर उसका पुजारी हो जाय।

नाटक का तीसरा पुरुष-पात्र मदन, रंगून से भाग कर स्वदेश के लिए चल पड़ने वालों की टोली का एक निखट्टू सदस्य है। शरीर से हृष्ट-पुष्ट, फुर्ती में बिजली जैसा और सबके ऊपर दिलेर होने से वह टोली का बड़ा ही समर्थ सहायक सिद्ध हो सकता था। पर यह अजीब बात थी कि किसी की सहायता करने के बदले, वह उसके स्नेह का अनुचित लाभ उठाता और अपने इस कृत्य पर पछताने के बदले वह प्रसन्न होता था।[५] माया ने उसे एक रोज़ डाँटा और आश्चर्य की बात हुई कि मदन अपनी धृष्टता के लिए शर्मिन्दा भी हुआ। उस दिन के बाद उसकी ज़िन्दगी ही बदल गयी। यदि वह नहीं होता तो सारा काफ़िला मृत्यु की एक घाटी में समाप्त हो जाता। काफ़िले को तो उसने बचा लिया, लेकिन स्वयं एक रोगी को साथ ले कर आते समय नाहूँग नदी की ख़ूनी लहरों में बह गया था। इस घटना के बाद से ही माया इस प्रकार भटक रही है। लेकिन एक ऐसा भी दिन आता है, जब मदन माया को खोजता-ढूँढ़ता शंकर के कैम्प के निकट आ धमकता है और देखता है कि रमेश के हाथों में माया का हाथ है। मदन देखता है, माया प्रसन्न है, सुखी है, स्वस्थ है। वह सोचता है कि माया आज जब रमेश के साथ सुखी है तो वह उसे अपने साथ ले जा कर दुखी क्यों करे? इसी कारण

---

१. २. ३. ४. ५. क़ैद और उड़ान—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १११, १२०, १२१, १२१, १४२।

वह माया के जीवन से निकल भागने का निश्चय कर लेता है। माया उसके सन्देह को दूर करने का प्रयास करती है। उसे बताती है कि शिकारी शंकर की अशिष्टता से बचने के लिए वह रमेश का आश्रय लेती रही है। सच यह कि वह दोनों से डरती है। एक आकाश में बसता है, दूसरा उस गहरे अँधियारे गड्ढे से भी अधिक तमपूर्ण संसार का वासी है। गहरे खड्डों और ऊँचे शिखरों से वह ऊब गयी है। यह धरती चाहती है—समतल और सुखद।[1]

लेकिन मदन को इस पर विश्वास नहीं होता। माया मदन की ईर्ष्या और स्वार्थपरता को देख कर दुखी होती है। आज उसे ऐसा अनुभव होता है कि मृत्यु की घाटी से पार होते समय मदन की स्वार्थपरता का उदारता और बुराई का भलाई में विपर्यय भी उसके स्वार्थ का ही दूसरा रूप था।[2] सच्ची बात यह है कि मदन माया को अपनी अनुगता दासी बनाना चाहता है और माया को इस पर आपत्ति है।

शंकर से माया को शिकायत है कि वह पुरुष हो कर, शक्तिशाली हो कर एक थकी, बीमार, विवश स्त्री की विवशता का अनुचित लाभ उठाना चाहता है। उसे बचा कर, उस पर एहसान करके, बदले में उसे अपनी वासना का शिकार बनाना चाहता है और इसलिए वह कायर है, बर्बर है।[3] रमेश से उसकी शिकायत है कि वह उसे देवी बनाना चाहता है। ये तीनों पुरुष-पात्र नारी की असली कीमत नहीं जानते। इसलिए कि उनमें से एक नारी को दासी समझता है, दूसरा देवी और तीसरा खिलौना। उनमें किसी को संगिनी की आवश्यकता नही।[4] इधर माया है, जो न दासी होगी, न देवी, न खिलौना, बल्कि संगिनी होगी।

इस प्रकार माया के प्रतीक द्वारा नाटककार ने प्रश्न खड़ा किया है कि नारी को श्रद्धा या पूजा का पात्र समझा जाय, वासना-तृप्ति का साधन समझा जाय अथवा उसे पुरुष की सम्पत्ति समझें। माया इस समस्या का समाधान भी कर देती है कि नारी इन तीनों में से एक भी नही है—वह तो पुरुष की संगिनी है, सच्ची साथिन है।

'क़ैद' में जो नारी पराजित थी, अश्क के 'उड़ान' में वह बन्धन-मुक्त है, स्वतंत्र है; नारी-जीवन की एक बड़ी समस्या का इस प्रकार अश्क ने अच्छा-सा हल ढूँढ़ निकाला है। समय करवटें ले चुका है। अस्तु, आज नारी पुरुष के आश्रय की आशा बाँधे, दासी की भाँति खड़ी नहीं रह सकती।[5] वह जीवन के बीहड़ रास्ते में उसकी हिम्मत बढ़ाने वाली संगिनी बनने का हौसला रखती है।

'क़ैद' और 'उड़ान' इसी अर्थ में एक दूसरे के पूरक हैं। डॉ० धर्मवीर भारती ने ठीक ही कहा है—'क़ैद' और 'उड़ान' दोनों मिल कर गत्यात्मक स्थिति का सर्जन करते हैं, समस्या को प्रतिबिम्बित करते हुए भी उसे निश्चित लक्ष्य और एक समाधान की ओर प्रेरित करते हैं, जैसे किसी व्यक्ति का बाँया और फिर दाँया, दोनों चरण क्रम से उठ कर उसके व्यक्तित्व को एक गति दे दें, उसे एक कदम आगे बढ़ा दें।[6]

१. २. ३. ४. ५. ६. क़ैद और उड़ान—पृष्ठ १५०, १५२, १५४, १५८, १५६, १५६, २०

अलग-अलग रास्ते

'अलग-अलग रास्ते' में अश्क ने रानी और राज नामक दो बहनों के असफल दाम्पत्य-जीवन के प्रमाण पर हिन्दू-समाज की विवाह-संस्था की त्रुटियों को प्रकाशित किया है। पूरन ने लेखक के मन की बात इन शब्दों में रख दी है—'ब्याह तो आज-कल अँधेरे में तीर मारने के बराबर है, निशाने पर लग गया तो ठीक; नहीं तो हाथ से निकला तीर वापस नहीं आता।'[1]

ताराचन्द ने अपनी बड़ी बेटी रानी का विवाह-सम्बन्ध पं० कुंजबिहारी के बेटे त्रिलोक के साथ स्थिर किया। सम्बन्ध स्थिर करते समय उसने त्रिलोक को नहीं देखा, यह नहीं सोचा कि उसकी बेटी के योग्य वर वह है या नहीं, दोनों के मिज़ाज मिलते हैं या नहीं, दोनों सुखी जीवन व्यतीत करने की स्थिति में होंगे कि नहीं। देखा तो बस इतना ही कि वर का घर सुखी है, इज्ज़तदार है, पिता रायबहादुर हैं, बड़ा परिवार है। ताराचन्द ने यह नहीं देखा कि इस इज्ज़तदार घर में उसकी बेटी की इज्ज़त होगी या नहीं। यह नहीं देखा कि उस भरे-पूरे संयुक्त परिवार में उसकी बेटी निभ सकेगी या नहीं। शहर मे रायबहादुर कुंजबिहारी की कई कोठियाँ हैं, यह तो ताराचन्द ने सुन रखा था, लेकिन उसने यह जानने की चेष्टा नहीं की कि इन कोठियों में से कितनी गिरवी पड़ी हुई हैं। विवाह हो जाने के बाद उसे मालूम होता है कि रायबहादुर की आर्थिक दशा गिरान पर है, उनकी कोठियाँ गिरवी पड़ी हुई हैं। उनके घर में आदमी तो बहुत हैं, पर वह असल में भेड़ियों की माँद है। तीर के हाथ से निकल जाने पर ताराचन्द परिताप करते हुए कहता है—'मुझे तो पता ही नहीं चला, नहीं तो मैं कभी रानी का विवाह वहाँ नहीं करता।'[2] हमारे समाज में नाता जोड़ने वाले दो पक्ष—वर और कन्या पक्ष—दिल खोल कर परस्पर नहीं मिलते। विवाह के समय दोनों ही पक्ष अपनी वास्तविकता छिपा कर रखते हैं और झूठे प्रदर्शन के द्वारा सत्य पर पर्दा डालते हैं। पं० कुंजबिहारी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, वह कर्ज़ में डूबा हुआ है। लेकिन तिलक-दहेज़ की बात के उठाये जाने पर वह झूठी शान में कहता है कि उसे दहेज़ की कोई चिन्ता नहीं, भगवान का दिया उसके पास बहुत है। त्रिलोक भी कहता है कि उसे पैसे नहीं चाहिएँ, ऐसी पत्नी चाहिए, जिसे देख कर, शाम को जब वह कचहरी से लौटे, उसे अनुभव हो कि वह घर पर आ गया है। उसे ऐसी पत्नी नहीं चाहिए, जो घर को ही कचहरी बनाये रखे। लेकिन रानी जब ससुराल पहुँचती है और त्रिलोक तथा उसके परिवार वाले देखते हैं कि वह बहुत-सा दहेज़ ले कर नहीं आयी है तो झूठ के इस घने मेघ-मंडल को चीर कर सत्य का सूर्य दमक उठता है। रायबहादुर और उनके भरे-पूरे परिवार के सदस्य रानी को ताने-पर-ताने देते हैं, उसे कंजूस बाप की बेटी कहते हैं और तरह-तरह से अपमानित करते हैं। वही त्रिलोक, जिसे धन की कोई स्पृहा नहीं

---

१. २. अलग-अलग रास्ते—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १५, ६५

थी, रानी का अपमान इसलिए करता है कि त्रिलोक को मकान और मोटर, ससुर की ओर से नहीं मिले। कन्या-पक्ष ने शायद अपना बड़प्पन और अपनी ऐश्वर्य-शीलता का रोब जमाने के लिए यह फैला रखा था कि विवाह के बाद त्रिलोक को एक मकान और मोटर मिलने वाली है। इस वादे के पीछे ज़रा भी सचाई नहीं थी, कहिए वर-पक्ष को ठगना था। इस तरह यदि वर-पक्ष अपनी आर्थिक दशा के गिरान पर होने की बात को छिपाता है तो कन्या-पक्ष भी प्रलोभन का चाल खड़ा करता है, वर-पक्ष को फँसा कर बेवकूफ़ बनाने की पूरी चेष्टा करता है। ऐसी स्थिति में यदि रानी और त्रिलोक का दाम्पत्य-जीवन विफल हो जाता है तो उसका उत्तरदायित्व झूठ के इस मनोविज्ञान पर है, जिसके कारण नाता जोड़ने वाले दो पक्ष मुक्त-भाव से आपस में मिलते नहीं, और अँधेरे में तीर चलाते हैं।

पहली बेटी के मामले में धोखा खा जाने के कारण अपनी दूसरी बेटी राजो का विवाह-सम्बन्ध स्थिर करते समय ताराचन्द ने वर को देखने की ज़रूरत समझी। दूसरी बार उसने रायबहादुर कुंजबिहारी जैसे किसी 'इज़्ज़तदार' के यहाँ सम्बन्ध करना नहीं चाहा। उसने उस मदन को पसन्द किया, जो एक ग़रीब पिता का पुत्र है। इस बार उसने सचमुच वर के उज्ज्वल भविष्य और उसके पिता के शील-स्वभाव को ही देखा, उनकी आर्थिक-सम्पन्नता को नहीं। मदन पढ़ने-लिखने में बहुत अच्छा रहा है और अब तो वह कॉलेज में प्रोफ़ेसर भी हो गया है। ताराचन्द के लिए इतना काफ़ी है। वह तो मुग्ध है मदन के पिता पं० उदयशंकर के शील-स्वभाव पर, जिसके विषय में अपना सन्तोष व्यक्त करते हुए वह कहता है—'मैं लड़के के पिता से मिला हूँ, बड़े सज्जन हैं, अहंकार तो उनमें नाम को भी नहीं। भेंट हुई तो कहने लगे—'मैं तो आपको पा कर धन्य हो जाऊँगा।'[1] ताराचन्द को पं० उदयशंकर की इस बात ने इतना मोह लिया कि उसने त्रिलोक के हाथों धोखा खाने के बाद भी मदन की परख नहीं की। लेकिन इसका कारण है कि रायबहादुर कुंजबिहारी के इज़्ज़तदार घर में उसका जितना ही अपमान हुआ है, उतना ही सम्मान इस पं० उदय शंकर के घर में होने की सम्भावना है। लेकिन आगे चल कर सिद्ध यही हुआ कि इस बार भी उसने अँधेरे में ही तीर चलाया।

ताराचन्द प्रोफ़ेसर मदन के विवाह-सम्बन्धी मनोभाव को जानने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। उसको सुझाया जाता है कि उदयशंकर की इच्छा का जानना ही काफ़ी नहीं हो सकता। लड़के की इच्छा भी जाननी चाहिए, यह मालूम करना चाहिए कि क्या वह भी ताराचन्द की लड़की को पा कर उतना ही धन्य होगा, जितना उसका पिता उदयशंकर, ताराचन्द जैसा समधी पा कर होगा। लेकिन ताराचन्द ने तो अडिग विश्वास पाल रखा है कि 'मदन गाय है गाय'[2] और फिर उसके बाद करना क्या है? ताराचन्द को यह भी खबर दी जाती है कि मदन अपनी जाति से बाहर की किसी लड़की से विवाह करना चाहता है, लेकिन ताराचन्द इस खबर को

१. २. अलग-अलग रास्ते—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ६६, १००

सुनना भी नहीं चाहता। वह कहता है—'पं० उदयशंकर का लड़का अपनी जाति के बाहर कभी विवाह नहीं कर सकता।'[1]

हिन्दू समाज इस बात की आवश्यकता नहीं समझता कि जिस लड़की की सारी ज़िन्दगी का सौदा किया जा रहा है, उसकी भी राय मालूम की जाय। हमारे समाज में नारी की स्थिति उस निरीह गाय की-सी है, जिसे, उससे पूछे बिना, उसकी इच्छा जाने बिना, कसाई के हाथ में सौंप दिया जाता है। वह कसाई उसे एक झटके में मार दे या तिल-तिल कर उसकी हत्या करे, भूखा मारे या चारे के भरे थान पर बाँध दे।[2] इसी से ताराचन्द अपनी बेटियों की विवाह के विषय में राय नहीं लेता।

प्रोफेसर मदन अपनी पूर्व-प्रणयिनी सुदर्शना से विवाह करना चाहता था। सुदर्शना उसकी जाति की नही है। इससे पुराने संस्कार वाला पं० उदयशंकर इस बात की स्वीकृति नहीं देता कि उसका बेटा अपनी जाति के बाहर की किसी लड़की से ब्याह करे। मदन के आगे दो रास्ते हैं; या तो वह पिता की भावना का तिरस्कार करे, समाज की अवहेलना करे और सुदर्शना से ब्याह करे अथवा पिता के आज्ञाकारी पुत्र के रूप में राजो से विवाह करे। अपनी साहसहीनता के कारण मदन को सचमुच 'गाय' ही बनना पड़ा और उसकी शादी राजो के साथ हो गयी। विवाह के बाद वह अनुभव करता है कि उससे भूल-पर-भूल होती गयी है। राजो के आगे वह स्पष्टतः स्वीकार करता है—'मैं कायर हूँ, कायर! माता-पिता के भय से मैंने अपना और तुम्हारा जीवन नष्ट किया।'[3] यह बात नही है कि मदन ने यह सब प्रमाद में, अनजान में किया। वह जानता था कि राजो से ब्याह करना उसके लिए आत्म-हत्या करने जैसा है। फिर प्रश्न है कि उसने हिम्मत करके आपत्ति क्यों नहीं की? मदन का उत्तर है कि उसने यह ठीक से अनुभव कर लिया था कि वह साहसहीन है, कायर है। इससे उसने निश्चय किया था कि वह अपने भावों का गला घोंट देगा, सुदर्शना के प्रेम की स्मृति में मर जायगा। लेकिन वह अपने अतीत के लिए मर न सका। राजो से वह कहता है कि वह उसकी कल्पना उस मनुष्य के रूप में करे, जो आत्म-हत्या करने के प्रयास में पंगु हो गया है।[4] मदन हमारे समाज के उन नवयुवकों का प्रतीक है, जो उससे विवाह नही कर पाता, जिससे वह प्रेम करता है और उसको उसके साथ विवाह करना पड़ता है, जिसे वह प्रेम नहीं करता। मदन जैसा पढ़ा-लिखा युवक ऐसा साहसहीन हो कि वह अपना जीवन नष्ट करने के साथ-साथ दो अन्य व्यक्तियों का भी जीवन बर्बाद करे—एक उस सुदर्शना का, जिससे उसने प्रेम किया है और दूसरी ओर राजो का, जिसे वह ब्याह लाया है—यह सचमुच परिताप की बात है। श्री गोपालकृष्ण कौल और श्री दुष्यन्त कुमार के शब्दों में यह उसकी सामाजिक दायित्व-हीनता का परिचायक है।[5]

---

१. २. ३. ४. अलग-अलग रास्ते—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १००, १०१, ८४, ८८

१. नाटककार अश्क—गो० कृ० कौल—पृ० २६०

मदन मध्य-वर्ग के उस युवक का प्रतीक है, जो साहसपूर्वक विद्रोह नहीं कर सकता। वह अपनी कुंठा की आग में जलता रहेगा। आप भी बरबाद होगा साथ-साथ औरों को भी बरबाद करेगा।

दोनों ही बहनों—रानी और राज में—बड़ा ही स्पष्ट चरित्रिक भेद है। रानी पति के घर जब अपने पिता की निन्दा सुनती है, अपना अपमान होते देखती है तब वहाँ से चल खड़ी होती है। लेकिन वहीं यह राज है, जो जानती है कि उसका पति उसे प्यार नहीं करता, बल्कि अपनी पूर्व प्रणयिनी सुदर्शना को प्यार करता है तब भी वह पति के चरणों में ही पड़ी रहने की निष्ठा निभाना चाहती है। पति की उपेक्षा और प्रेमशून्यता की उसे परवाह नहीं है। उसकी पति-भक्ति के आदर्श को देख कर स्वयं मदन आश्चर्यचकित है। यह अपना आश्चर्य प्रकट करते हुए कहता ही है—'तुम जाने किस मिट्टी की बनी हुई हो। तुम्हें स्वाभिमान छू भी नही गया ? मैं तुम से इतनी घृणा करता हूँ और तुम मेरे पाँव दबाना चाहती हो ?'[1] राज भी नहीं जानती कि ऐसा क्यों है। वह कहती है—'न जाने क्यों, उनकी घृणा पर मुझे कभी क्रोध नहीं आया। जब-जब उन्होंने मुझसे घृणा का व्यवहार किया, मेरे मन मे सदा दया उपजी। सदा जी हुआ, उनके पास जाऊँ, अपने प्यार से उनके घावों को भर दूँ।'[2] मदन को भी ऐसी ही दया राज के प्रति होती है। राज के इस समर्पण को, इस निष्ठा को देख कर मदन को अपने प्रति भी असन्तोष होता है। जब कभी राज रोने लगती है तब वह उसे सान्त्वना देते हुए बड़े प्यार से कहता है—'तुम अभागी हो राज मैं भी अभागा हूँ और दर्शनो भी।'[3] मदन जीवन के साथ समझौता नही कर पाता है। दर्शनो को वह भूल नहीं पाता, राज को वह ग्रहण नहीं कर पाता। लेकिन वह भी राज का साथ निभाने का प्रयत्न करना चाहता है। राज के आगे वह प्रस्ताव करता है—'क्यों न हम अभी कुछ देर दो मित्रों की तरह रहें। धीरे-धीरे हम एक दूसरे को समझ जायेंगे। एक-दूसरे के गुण-दोषों को पहचान लेंगे। फिर हम पति-पत्नी की [illegible]—[illegible] की तरह ऐसा जीवन जियेंगे, जिसका हर नया दिन थकान और उकताहट लाने के वदले स्नेह और उल्लास लायेगा।[4]' लेकिन परिस्थितियों के साथ मदन का समझौता नहीं हो सका। पढ़ा-लिखा मदन सुदर्शना के प्रति अन्याय नहीं कर पाया और उसने उसके साथ विवाह कर लिया। राज इस आघात को सह नही पाती और बेहोश हो जाती है। प्रश्न है, मदन का, राज से विवाह करने के पश्चात्, सुदर्शना के साथ विवाह करना कितना उचित है। मदन ने साहसहीनता की दशा में, कायरतावश राज से विवाह किया था। यदि राज के साथ अन्याय हुआ तो उसके लिए मदन की कायरता, साहसहीनता सामाजिक दायित्व-हीनता उत्तरदायी तो है ही, लेकिन मदन के साथ ही पं० ताराचन्द और पं० उदयशंकर को मालूम था कि मदन सुदर्शना से प्रेम करता है फिर भी अपने पुराने संस्कारों के कारण वह मदन को सुदर्शना से विवाह करने की आज्ञा नहीं देता।

१. २. ३. ४. अलग-अलग रास्ते—उ० ना० अश्क—पृ० ८६, ८६ ८४, ८५

पं० ताराचन्द को भी उड़ती ख़बर मिली थी कि पं० उदयशंकर का पुत्र मदन अपनी जाति से बाहर जा कर विवाह कर रहा है। लेकिन उसने भी इस ख़बर पर ध्यान नहीं दिया।

दूसरी ओर सुदर्शना के साथ जो अन्याय हुआ है, उसके लिए मदन अकेले ज़िम्मेवार है। मदन उसके साथ विवाह करके इस अन्याय का प्रतिकार करना चाहता है। भोली-भाली राज के साथ मदन का जो समझौता नहीं हो सका, उसका कारण यह है कि राज अनुगता, अर्पिता पत्नी हो सकती है, जीवन संगिनी नहो और मदन को दासी नही चाहिए, संगिनी चाहिए। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि शिक्षित युवक शिक्षिता पत्नी की माँग करे। कहा जा सकता है कि विवाह की संस्था ने राज को मदन की पत्नी बना कर उसके कुछ अधिकार सुरक्षित कर दिये थे और मदन को उसके उन अधिकारों की स्मरण रखना चाहिए था। सुदर्शना से विवाह करके उसने राज के उन अधिकारों की अवहेलना की है और फलतः अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का विस्मरण किया है। मदन का उत्तर होगा — 'राज के अधिकार की नीव एक सामाजिक प्रथा पर टिकी है। हृदय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सुदर्शना का अधिकार मेरे हृदय में सम्बन्ध रखता है। बारातियों, पंडितों, पुरोहितों ने, हमारे माता-पिता ने यज्ञ की अग्नि ने हमें एक दूसरे के शरीर सौप दिये हैं, हृदय तो नहीं सौंपे।'[1] स्पष्ट है कि मदन विवाह से मतलब हृदय के सम्बन्ध का लेता है और इस प्रकार आज का वह नव-शिक्षित युवक हिन्दू विवाह-संस्था के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाता है।

ताराचन्द की बड़ी भूल यह है कि उसने अपनी लड़की को शिक्षिता नहीं बनाया। यदि राज सुदर्शना के ही समान मदन की जीवन-संगिनी होने की स्थिति में होती तो शायद मदन का उसके साथ समझौता हो गया होता। समय सब कुछ भुला देता है और शायद काल-प्रवाह में सुदर्शना का ध्यान भी मदन के ध्यान से हट गया होता। ताराचन्द ने दूसरी भूल यह की है कि उसने मदन जैसे शिक्षित व्यक्ति को अपनी शिक्षिता अथवा अल्प-शिक्षिता कन्या के पति के रूप में स्वीकार किया है। ताराचन्द तीसरी बार तब भूल करता है जब सुदर्शना के साथ मदन के विवाह के समय ताराचन्द लाठी के बल पर राज के अधिकार की रक्षा करने जाता है। वह यह नहीं जानता कि 'हृदय के मामले में ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं चलती, न ही पैसे का लोभ-लालच वहाँ ठहरता है।'[2] लेकिन मुसीबत यह है कि ताराचन्द, जैसा कि राज ने कहा, इन दोनों के अतिरिक्त किसी तीसरी बात में विश्वास ही नहीं रखता।[3]

त्रिलोक के घर से जब रानी भाग कर पिता के घर चली आती है तब ताराचन्द उस झूठ और फ़रेब को समझ जाता है, जिसके कारण उसकी बेटी की यह दुर्गति हुई है। ताराचन्द मध्यस्थ लोगों से यह कहला कर कि त्रिलोक को वह मकान और मोटर देगा, मुकर जाता है। तद्विषयक आश्वासन का किंचित् उत्तरदायित्व यह अपने ऊपर नहीं

१. २. ३. अलग अलग रास्ते—पृष्ठ ८९, १०३, १०३

लेता। पीछे वह उन्हीं मध्यस्थों को दुबारा इस्तेमाल करता है। त्रिलोक इस प्रलोभन में आ भी जाता है और वह रानी के पास अपराधी की मुद्रा में उपस्थित होता है, उसे घर लौट चलने को कहता है। लेकिन रानी यह बड़ी आसानी से समझ लेती है कि त्रिलोक के पत्थर से मोम होने का रहस्य मकान और मोटर के लिए उसका लोभ है, वह त्रिलोक से दो-टूक सवाल करती है—'क्या मैं इतनी भोली हूँ....कि समझ लूँ, कि आप एकदम पत्थर से मोम हो गये, कि आपको उस रानी में, जिसे आपने घर से निकाल दिया था, इतने गुण नजर आने लगे है कि आप उसे लेने दौड़े आये हैं, कि आपको अचानक उससे इतना मोह हो गया है कि आप अपने माँ-बाप, भाई-बहनों को नाराज करके उसे ले कर अलग होने को तैयार हैं ?'[१] रानी यह जानती है कि मृग-मरीचिका से किसी की प्यास नही बुझती। रानी का निश्चय है कि जिस व्यक्ति के समीप चन्द हज़ार के एक मकान का मूल्य उसके मान से कही अधिक है, जो उसे नही, मकान को चाहता है, उस लोलुप की शक्ल तक वह देखना नहीं चाहती।[२] रानी का पिता, या अधिक सत्य तो यह कहना होगा कि किसी भी बेटी का बाप त्रिलोक जैसे दामाद की लोलुतता का पेट नही भर सकता और कोई स्वाभिमानिनी स्त्री भला कव तक ऐसे लालची के साथ रह सकती है। रानी ने त्रिलोक के आगे एक बड़ा ही सटीक प्रश्न खड़ा किया है—'इस खरीदे हुए पति को मैं पसन्द कर सकूँगी ? उसे पति-परमेश्वर समझ सकूंगी ?'[३]

रानी और राज के दाम्पत्य जीवन की विफलता हमें झकझोर जाती है और हमें प्रश्न की गहराई में जाना ही पड़ता है। अश्क जी ने इस समस्या को बड़े ही सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है और पुरानी मान्यताओं को एक ज़बरदस्त ठोकर भी दी है। साथ ही उन्होने इस समस्या का समाधान भी सुझाया है। 'अलग अलग रास्ते' का पूरन जैसे समस्या का ही समाधान प्रस्तुत करते हुए कहता है—'दूसरे देशों में स्त्रियो ने भगवान के हाथ से अपना भाग्य छीन लिया है। उन्होंने अपने 'अहं' को, अपने 'स्व' को इतना ऊँचा कर लिया है कि उनके भाग्य को बनाने के पहले भगवान को उनसे पूछना पड़ता है। तुम लोग भी यदि अपने भाग्य को स्वयं अपने हाथों में नहीं लोगी तो जीवन भर तिल-तिल कर जलती रहोगी।'[४]

पूरन को सन्तोष है कि भारत का नारी-समाज बदल रहा है, उसके सपने बदल रहे हैं।[५] अब पिताओं और पतियों का अनाचार बहुत दिन नहीं चलने वाला है। वह अपनी बहनों को प्रेरित करता है कि वे भी आगे बढ़ें और भगवान के हाथ से अपना भाग्य छीन लें।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि रानी और राज परस्पर भिन्न-प्रकृति हैं। रानी से पिता कहता है—'तू नहीं जानती, अपने पति के विरुद्ध सपने में भी बुरी बात सोचना कितना बड़ा पाप है। तू नहीं जानती, तूने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया

---

१. २. ३. ४. ५. अलग अलग रास्ते—पृष्ठ १४४, १४४, १४५, १०८, १११

है, तू किसी चांडाल के घर उत्पन्न नहीं हुई ।'[१] संक्षेप में, ताराचन्द चाहता है कि रानी त्रिलोक के घर वापस जाये । लेकिन रानी नव-जागरित नारी समाज की विद्रोह-वाणी है, जो पिता को उसी लहजे में यह उत्तर दे कर कि, 'आपके धर्म की बातें मैंने बहुत सुन लीं पिताजी, आपका धर्म भी पुरुषों का धर्म है !'[२] चुप कर देती है । रानी पूरन के साथ वहाँ चली जाती है, जहाँ उसके सींग समायेंगे । पूरन ने अनुभव कर लिया है कि जब तक उसकी बहनें अपने पैरों पर खड़े हो सकने की स्थिति में नहीं आतीं, उन पर पिता और पति का अत्याचार होता रहेगा । इससे वह रानी को शिक्षिता बनाने के लिए घर छोड़ कर चल देता है । घर छोड़ते समय रानी एक वाक्य कहती है—'स्वभिमानियों के लिए आदि-काल से यह मार्ग खुला है, राज ।'[३] इस एक वाक्य से उसके चरित्र का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है ।

लेकिन वहीं राजो है, जो प्राचीन भारतीय नारी-समाज के आदर्शों से चिपकी हुई है । वह टूट जायेगी पर तनेगी नहीं । पति ने घर में एक दूसरी को बिठा लिया है । तो भी वह अपने ससुर के वात्सल्य के भरोसे जीवन की नाव को खींचे लिये जाने में लगी हुई है । वह रानी की तरह विद्रोह नहीं कर सकती । रानी यदि स्वाभिमानियों के आदि-मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रस्तुत है तो राज का मार्ग भी उसकी भावना में 'सनातन' है ।[४] पूरन के क्रान्ति के आवाहन का कुछ भी असर उस पर नहीं पड़ सकता ।

इस तरह ये दोनों बहनें समान परिस्थितियों में पड़ती तो हैं लेकिन इनकी प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं । रानी यदि सतेज और सप्राण है तो राज शान्त और निस्पन्द; रानी सक्रिय है और राज निष्क्रिय ।

विवाह की इस बड़ी समस्या के साथ ही अश्क ने कतिपय अन्य समस्याओं को भी इस नाटक में प्रस्तुत किया है । रायबहादुर कुंजबिहारी का बड़ा-सा परिवार है । रानी को इस परिवार में आ कर इसमें मिल-खप जाना है । आज के इस युग में संयुक्त परिवार की संस्था टूट रही है । व्यक्तिवाद के उदय के साथ संयुक्त परिवार की कड़ियाँ टूटने लगी हैं । नव-विवाहित दम्पति के आगे आज यह पहला प्रश्न होता है कि किस तरह संयुक्त परिवार की मर्यादा निभाएँ । त्रिलोक ने कहा ही है कि आज का कौन युवक नहीं चाहता कि अपनी पत्नी को साथ ले कर स्वतंत्रता से रहे; जब चाहे उठे, सैर को जाय, ताश खेले या सिनेमा देखे, किन्तु गर्दन तक दलदल में धँसे आदमी को बाहर निकलने के लिए उतना ज़ोर नहीं लगाना पड़ता, जितना सम्मिलित परिवार के कीचड़ में टखनों तक धँसे आदमी को ।[५] संयुक्त परिवार में निभने के लिए सचमुच बड़ा 'सबर और सन्तोष चाहिए ।'[६]

बात यह है कि जिन घरों में माँ-बाप, भाई-भाई, देवरानियाँ-जेठानियाँ और

---

१. २. ३. ४. ५. ६. अलग-अलग रास्ते—पृ० १४५, १४६, १४८, १४८, १०८, १०६-१०७,

ननद-भौजाइयाँ इकट्ठी रहती हैं, एक-न-एक झगड़ा-टंटा वहाँ लगा ही रहता है।[1] रानी को ऐसे संयुक्त परिवार में रहने की आदत नहीं है। दूसरी ओर वह बड़ी भाव-प्रवण है, ज़रा-सी बात उसे लग जाती है।[2] प्रश्न है, त्रिलोक और रानी संयुक्त परिवार में आखिर रहें ही क्यों ? नाटककार ने इसी 'क्यों' का उत्तर दिलाया है त्रिलोक से, जो कहता है कि जहाँ पेड़ (संयुक्त परिवार का) हरा-भरा और छायादार है, वहाँ कई बेकार युवक, छोटे-मोटे क्लर्क और महत्वाकांक्षी नये वकील इसकी छाया का आनन्द लेते हैं।[3] संयुक्त परिवार की सचमुच यह बड़ी शक्ति है कि उसमें कम आमदनी वालों और यहाँ तक कि निठल्ले लोगों की भी गुज़र चल जाती है। रानी त्रिलोक के संयुक्त परिवार में निभ नहीं सकती और उसे ले कर अलग दुनिया बसाना भी त्रिलोक के लिए आसान काम नहीं है। संयुक्त परिवार का दुर्ग बड़ा दुर्गम है। माता-पिता के उपकार, भाई-बहनों का प्यार, कुल की लाज, पुरखों का नाम, गत की महत्ता और आगत की सम्मलित शक्ति के सपने न जाने कितनी दीवारें सम्मिलित परिवार की चहार-दीवारी को छोड़ भागने वाले के रास्ते में आ खड़ी होती हैं।[4] सिद्ध यह है कि संयुक्त परिवार तभी निभ सकता है, जब घर की बहुएँ समझदार हों और बात का बतंगड़ न बनायें, चुपचाप अपने काम में लगी रहें। यह सब्र, यह सहिष्णुता यदि हो तो संयुक्त परिवार चले। अन्यथा पागल हो जाने का कितना खतरा है।

पूरन की भी एक अपनी समस्या है, जिसकी ओर अश्क ने इशारा किया है। शिक्षित पूरन को अपनी प्रतिभा और योग्यता के अनुरूप नौकरी नहीं मिलती। यों वह रेडियो का प्रोग्राम एक्जेक्यूटिव, फिर लाला गुलज़ारी लाल फ़र्म का चीफ़ एजेन्ट और सर सीताराम की मिल का मैनेजर होता है। पर इन धन्धों में उसकी वृत्ति रमती नहीं है और उसे नौकरी छोड़ देनी पड़ती है। इधर पिता है, जो समझता है कि पूरन निकम्मा है, निठल्ला, आवारा। पूरन की सूझ-बूझ को देखते हुए यह मज़े में कहा जा सकता है कि यदि समाज ने उपयुक्त स्थान पर रह कर सेवा करने का अवसर पूरन को दिया होता तो वह समाज का एक कीमती सदस्य सिद्ध होता।

अंजो दीदी

'अंजो दीदी' नाटक में जिस अंजो दीदी अथवा अंजली की दो पीढ़ियों का वर्णन किया गया है, उसने अपने नाना से केवल उनकी विशाल काठी का (जिसे उन्होंने किसी अंग्रेज़ इन्जीनियर से खरीदा था) उत्तराधिकार ही प्राप्त नहीं किया वरन् उनका अहम् भी विरासत में पाया है। अंजो के नाना जी के जीवन विषयक निश्चित आदर्श थे, निश्चित मान्यताएँ थीं। वे अपने घर के 'किंग कैन्यूट' थे। अंजली को अपने उस नाना जी से विरासत में जो स्वभाव मिला है, उसका स्वाभाविक गुण है—दूसरों पर छा जाना। अंजो अपने सारे घर को अपनी मर्ज़ी के अनुसार चलाया करती है। उसका रोब कुछ ऐसा

१. २. ३. ४. अलग-अलग रास्ते—पृ० १०६-१०७ १०६-१०७, १०७, १०८

है कि उसके घर में हवा भी सहमी-सहमी-सी हो जाती है। उसके पति इन्द्रनारायण अंजली से विवाह के पहले बड़े हँसमुख व्यक्ति समझे जाते थे, अपनी मर्ज़ी चलते थे, जो जी चाहे खाते थे, जो जी चाहे करते थे, जहाँ जी चाहे जाते थे।[1] लेकिन वे ही विवाह के बाद आज बिल्कुल बदल गये हैं। वे पहले नहा कर बाल बनाते थे तो कंघी कहीं रख देते थे, शीशा कहीं और तौलिया कहीं। कचहरी से आ कर कपड़े बदलते तो कोट कहीं फेंक देते, पतलून कहीं।[2] लेकिन आज अंजो के रोब में आ कर वे दिन में तीन बार नहाते, चार-चार बार हाथ पाँव धोते हैं, कम-से-कम चार बार खाते हैं और पाँच बार कपड़े बदलते हैं।[3] जो ज़ोर-ज़ोर से लगातार ठहाके लगाते थे, वे आज जब हँसते हैं तो पता चल जाता है कि वास्तव में सूट ने उन्हें कैसा जकड़ रखा है। संक्षेप में, वे हो गये हैं रेलगाड़ी का डिब्बा, जिसे अंजो इंजिन बनी हुई खींचे लिये जा रही है।

अंजो के नाना जी कहा करते थे—वक्त की पाबन्दी सभ्यता की पहली निशानी है। इससे अंजो ने नियम बना लिया है कि ठीक आठ बजे सारे परिवार को नाश्ता कर लेना है। इसलिए नाश्ते की मेज़ पर स्नानादि से निवृत्त हो चला आना है। अंजो का बेटा है नीरू। उसे सिखाया गया है कि उसे समय पर पढ़ना है, समय पर आराम करना है और समय पर खेलना है।[4] इस तरह अंजो ने अपने घर को घड़ी जैसा बना रखा है, सब मानों घड़ी के पुर्ज़े हैं। अंजो के नानाजी कहा करते थे—सुघड़ापा स्त्री का गहना है[5] और अंजो को सन्तोष है कि अपने घर को वह घड़ी की तरह चला रही है। इस घर के कण-कण को उसने सलीका, वक्त की पाबन्दी और सभ्य लोगों के तौर-तरीके सिखाये हैं। इसके लिए उसे कितनी जान खपानी पड़ी है—वही जानती है।

उसके नाना जी कहते थे—नौकरों को सदा साफ़-सुथरा रखना चाहिए। जैसे घर के भाग्य का पता देहरी से चलता है, वैसे ही मालिकों के स्तर का पता नौकरों के पहनावे से लगता है।[6] अंजो के नौकर-चाकर आज ऐसे रहते हैं कि अनिमा मुन्नी को देख कर यही समझ बैठी कि वह अंजो की ननद होगी[7] और राधू उसके घर का कोई ऐसा बुज़ुर्ग होगा, जिसको सामने देख अनिमा को कुर्सी छोड़ कर खड़ा हो जाना चाहिए।[8]

अंजो के नानाजी कहा करते थे कि बच्चों को शुरू से ही अच्छी आदतें डालनी चाहिए। इसी से अंजो ने अपने बेटे को ऐसी आदत डाल दी है कि वह अपने ही कमरे में सोता है, अपनी ही कंघी से बाल बनाता है, अपनी ही मेज़ पर नाश्ता करता है, अपनी आलमारी में कपड़े रखता है। यानी अपने सब काम आप करता है। अंजो के नाना जी कहा करते थे कि बच्चों को अपनी मदद आप करने की आदत डालनी चाहिए।[9]

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. **अंजो दीदी—पृ० ४८, ३७, ३८, ३५, ३६, ३४, ३३, ३५, ३६**

अंजो का एक भाई है श्रीपत—बिलकुल सैलानी आदमी, बोहीमियन टाइप। अंजो के घर उसके आने की खबर है। लेकिन अंजो जानती है कि श्रीपत अपने कार्य-क्रम का पाबन्द नहीं है। इससे वह भला क्या आयेगा। पिछले छः वर्षों में उसने जाने कितने खत लिखे, पर कभी आया नहीं।[1] लेकिन नहीं, इस बार श्रीपत सचमुच आ जाता है। आते ही वह अपने जीजा जी इन्द्रनारायण से आलिंगन-बद्ध होता है। अंजो बिगड़ती है—'क्या कर रहे हो श्रीपत? धूल और पसीने से तुम्हारे कपड़े ग़च हो रहे हैं और तुम लिपटे जा रहे हो इनसे, चलो, नहाओ, कपड़े बदलो'।[2] श्रीपत अंजो की व्यवस्था को देख कर विद्रोह कर उठता है। उसे लगता है, उसकी बहन ने सारे घर को जड़-यान्त्रिक बना दिया है। अंजो श्रीपत की आदतों पर खीझ रही है। इस बात पर खीझ रही है कि श्रीपत को 'टेबल मैनर्स' का ज्ञान नहीं। वह इतना गँवार है कि खाने की मेज पर बैठ कर पसीना सुखाता है, अंजो के सामने ही कुर्ता उतार कर बैठा हुआ है, इस तरह नंगे बदन रहते और वह भी एक औरत के सामने उसे शर्म भी नहीं आती[3] इधर श्रीपत देखता है कि उसके जीजा हाईकोर्ट के जज दिखायी पड़ रहे हैं, हालाँकि वे अभी एडवोकेट भी नहीं हुए। श्रीपत जानता है कि वकील जवानी का प्रतीक होता है और जज बुढ़ापे का।[4] सचमुच शादी ने इन्द्रनारायण को बुड्ढा बना दिया। कानून-कायदे के विषय में अपनी बहन की सतर्कता देख कर वह व्यंग्य करते हुए कहता है, 'दीदी, तुम तो व्यर्थ में गृहस्थी की चक्की से अपना माथा फोड़ रही हो। तुम्हें तो सेना में कैप्टन या छोटी-मोटो लेफ़्टिनेन्ट हो जाना चाहिए।' श्रीपत अपने जीजा जी की दशा देख कर समझ गया है कि आचार-व्यवहार के सभी कानून-कायदे शादी-शुदा लोगों के अधेड़ दिमागों की उपज हैं। इसीलिए तो वह ब्याह की कल्पना का ही आनन्द लेता है, उसके बन्धन में नहीं फँसता।[5]

श्रीपत ने देखा कि अंजो की सनक ने इन्द्रनारायण का जीवन-रस तो सोख लिया है, अपने बेटे नीरू को भी अपनी सनक का शिकार वह बना रही है।

नीरज खुद क्रिकेट का कप्तान बनना चाहता है। लेकिन उसकी ममी उसे डिप्टी कमिश्नर बनाने पर तुली है। श्रीपत देख रहा है कि बेचारे छोटे-से बच्चे पर पढ़ाई के बोझ का पहाड़ टूट पड़ा है। वह इस स्थिति से विद्रोह करता है; नीरज को उकसाता है कि वह अपनी ही आकांक्षा की पूर्ति के लिए तत्पर हो। वह दो घंटे पढ़े और छः घंटे खेले।[6] नीरज की ममी ने उसे सिखाया है कि बड़ों से बात करते समय आदर का सम्बोधन करना चाहिए। इसलिए वह हर बात में 'मामा जी मामा जी' कहता है। श्रीपत आपत्ति करते हुए उसे समझाता है कि यदि ऐसे ही वह आदर-सूचक 'जी' कहता रहा तो फिर वह डिप्टी कमिश्नर नहीं हो सकेगा; सरकार उसे पटवारी बना देगी।[7] अंजो को यह सह्य नहीं है कि उसके बेटे का डिब्बा उसके इंजिन से न जुड़ कर श्रीपत से

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. अंजो दीदी—पृ० ४१, ४२, ४४-४५, ४८, ५०, ५५, ५४

जा लगे। इससे वह नाराज़ हो कर कहती है—'श्रीपत ! तुम चाहते हो कि मेरा बेटा भी तुम्हारी तरह आवारा हो जाय।'[1]

श्रीपत अंजो के बेटे को आवारा बनाने नहीं आया है। अपनी बहन के घर पर आ कर कायदे-कानून की पाबन्दी की जो कठिन शर्त वह देखता है, उससे उसे लगता है कि इस घर के प्राणी अपनी ज़िन्दगी नहीं जीते। उनकी ज़िन्दगी पर अंजो के रूप में नाना जी की परम्परा हावी है। वह इस परम्परा का विरोध कर रहा है, ताकि इस घर के प्राणी खुली हवा में साँस ले सकें। वह जानता है कि खाने की मेज़ पर खाना ही खाया जाता है और शयन-कक्ष में बिस्तर पर सोया जाता है लेकिन इस विषय में 'फ़ंड' की क्या ज़रूरत ! आज उसका दिल चाहता है तो वह खाने की मेज़ पर ही सो भी लेगा। अंजली इस पर चिढ़ती है तो चिढ़े। इसमें ऐसा क्या है कि इतनी चिन्ता की जाय। अंजो चाहती है कि श्रीपत नहा-धो कर ही चाय पिये। लेकिन श्रीपत नहाने और चाय पीने में ऐसा कुछ कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं देखता। श्रीपत की आदत है कि या तो नहाता ही नहीं और नहाता है तो महीनों की कसर एक ही दिन में निकाल लेता है।[2] अंजो ने अपने घर के लिए नियम बना रखा है कि खाना खाने के बाद लोग थोड़ी देर आराम करें। श्रीपत इस आपत्ति करते हुए कहता है—'अरे दीदी, कभी समय नियत करके भी आराम किया जा सकता है ? आराम किया जाता है जब आराम को जी चाहे।'[3]

परिवार के व्यक्तियों पर अंजो का दबदबा है। वह सबको अपनी लीक पर लिये जा रही है। जो उसके नानाजी कहते-सुनते थे, वही अंजो का आदर्श है। लेकिन यदि एक क्षण को भी अंजो के बन्धन से घर का कोई छूट पाता है तो वह अंजो के विपरीत आचरण करता है। उसके पति हैं, जो अंजो के दबदबे से एक पल को मुक्त हुए हैं तो सहज-भाव से श्रीपत की रूमानी ज़िन्दगी के रस की ओर मुड़ पड़ते हैं। श्रीपत ने उन्हें बताया कि वह चला तो था सेकेन्ड क्लास के डिब्बे में, मगर उसका मन नहीं लगा और फिर थर्ड क्लास के किसी डिब्बे में उसने एक लड़की देखी, जिसका रंग कुन्दन की तरह दमकता हुआ था उसके यौवन का उभार....बस कहिए पूर पर आयी हुई नदी का ज्वार ! और श्रीपत आ गया थर्ड के ही उस डिब्बे में और सारी रात जगा-जगा आया है। वकील साहब इस प्रसंग में इतना रस लेते हैं कि अंजली को कहना पड़ता है—'मैं पूछती हूँ, आप श्रीपत की गन्दी बातें ही सुनते रहेंगे या आराम भी करेंगे।'[4] अब इस पर इन्द्रनारायण घबड़ा जाते हैं। लेकिन फिर जब दूसरे क्षण यह अवसर निकाल पाते हैं तो श्रीपत से पूछते हैं—'लेकिन भई, उस लड़की का क्या हुआ।'[5] ऐसा ही एक दूसरा अवसर आता है जब 'दिलकुशा' का प्रोग्राम ठहरता है।

अंजो के नानाजी कहा करते थे कि चाट, पानी के बताशे, मूँगी के लड्डू, और बर्फ़ की कुल्फ़ी जैसी चीज़ें चटोर लोगों के खाने के लिए हैं। अंजो के नानाजी को

---

१. २. ३. ४. ५. अंजो दीदी—पृ० ५६, ४७, ६४-६५, ६४, ६६,

इन्द्रनारायण दुआ देते हैं कि अंजो के द्वारा इस चटोरपन से उन्हें बचा लिया है।[1] भगवान साक्षी है कि पिछले छ: वर्षों से इन्द्रनारायण ने चाट को कभी मुँह भी लगाया हो। ऐसा नहीं है कि वे चाट खाना नहीं चाहते। लेकिन पत्नी का रोब बाधक जो है। इसी से तो अनिमा व्यंग्य कर जाती है—वकील साहब ने तो इधर 'केवल दोने देखे हैं'।[2] लेकिन श्रीपत है, जो शाम की चाय के समय सारे घर को चाट, पानी के बताशे आदि खिलाने पर तुला है। उसके आग्रह में इतना बल है कि वकील साहब को आज केवल दोने देखने की ज़रूरत नहीं। इस पर अंजली चिढ़ जाती है। अपने नानाजी के प्रमाण पर वह कहती है—'दुनिया में तीन तरह के आदमी होते है। एक वे जो आप भी चलते हैं और दूसरों को भी चलाते हैं—इंजन की तरह। दूसरे वे, जो आप नहीं चलते, पर चलाओ तो चले जाते हैं—गाड़ी के डिब्बों की तरह। और तीसरे वे, जो न आप चलते हैं, न दूसरों को चलते देते हैं—ब्रेक की तरह। नानाजी कहा करते थे—श्रीपत ब्रेक है, ब्रेक।'[3]

और सचमुच श्रीपत ब्रेक ही है। उसके आने का परिणाम है कि अंजो के घर की वह घड़ी चलना बन्द कर देती है, जिसकी टिक्-टिक् पर घर के सदस्य चला करते हैं। दस बरस से बाक़ायदा इस घड़ी में अंजो चाबी देती रही है। आज वह भी इस पाबन्दी को बरत नहीं पायी। सचमुच श्रीपत ब्रेक है, ब्रेक। लेकिन अंजो के घर में ब्रेक का क्या काम? उसका घर इसी घड़ी की तरह टिक्-टिक् करता चलेगा। कोई चीज इस नियम को तोड़ नहीं सकेगी।[4]

अंजो की घड़ी टिक्-टिक् चलेगी और उसके घर का जीवन उस घड़ी से अनुशासित होगा; लेकिन उसका परिणाम कितना भयंकर हो सकता है, इसे सिर्फ श्रीपत ही समझता है। अंजो के परिवार में इन्द्रनारायण, मुन्नी, राधू, नीरज आदि सभी अंजो के ज़ुल्म के नीचे गर्दन किये हुए हैं, कहीं कोई विरोध नहीं, कही कोई विद्रोह नही। इन लोगों की ज़िन्दगी घड़ी हो जायगी। जो कभी अंजो चाभी देना भूल जाय तो इनकी ज़िन्दगी की टिक्-टिक् ही बन्द हो जाय।

श्रीपत विद्रोही है। जैसे ही वह देखता है कि उसकी बहन ने अपने अनुशासन की कुरूप छाया सारे घर पर डाल रखी है, उसे विद्रोह करने की स्वाभाविक प्रेरणा मिलती है। इन्द्र नारायण को वह सुझा देता है कि अंजो से शादी करके तो वह बुड्ढा हो गया। लेकिन इन्द्रनारायण तो आप चलने वाले ठहरे नहीं। वे तो गाड़ी का डिब्बा हैं। यह डिब्बा अंजो की इंजन से छिटक कर श्रीपत की इंजिन से जा लगता है और 'दिलकुशा' तक पहुँच जाता है। इस मुकाम पर पहुँचने के बाद से इन्द्रनारायण अपनी ज़िन्दगी जीने के प्रयासी हो जाते हैं लेकिन बेचारे 'डिब्बा' ही तो हैं। इससे रोज़ कचहरी में चोरी-चोरी शराब पीते हैं और घर में इस बात की ख़ुशी मनाते हैं कि अंजो को उनसे कोई शिकायत नहीं।

---

१. २. ३. ४. अंजो दीदी—पृ० ४०, ४१, ७६, ८१

विद्रोही श्रीपत, नीरज के बाल-हृदय में भी अपनी ममी की तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह का बीज वपन कर रह जाता है। इसी का परिणाम होता है कि वह आगे चल कर अपने मामा को अपना आदर्श बनाता है। वह बड़ा हो कर यह समझता है कि अंजो ही स्वयं ब्रेक थी। जब तक ज़िन्दा रही इस घर की ज़िन्दगी पर ब्रेक लगाये रही, उसे स्वतन्त्रता से बढ़ने-फलने-फूलने नहीं दिया—और मर गयी तो ब्रेक लगाती गयी।[1] नीरज की शिकायत है—'हम सब वही जीवन जी रहे है, जो ममी चाहती थीं कि हम जियें या ममी के नानाजी चाहते थे कि दुनिया जिये।'[2]

अंजो आप तो मर जाती है। लेकिन अपनी बहू के रूप में अपना प्रतिरूप छोड़ जाती है। ओमी भी अंजो के आदर्श का पालन अपना पवित्र दायित्व समझती है। यदि ठीक आठ बजे उठ कर मेज़ पर वह नाश्ता नहीं लगवा पाती तो उसे लगता उससे कोई भारी अपराध हो गया है। उस दिन वह उस पुजारी-सी सहमी-सहमी रहती है, जिसका बँधे हुए समय पर मन्दिर में पूजा करने का ज़िम्मा है और उसमें उससे चूक हो गयी है।[3] जैसे अंजो नीरज को अपनी इंजिन से बाँधे ले जाना चाहती थी, वैसे ही ओमी भी नीलू को अपनी मर्ज़ी पर ले जाना चाहती है।

बीस वर्षों के बाद श्रीपत घूमता-फिरता फिर पहुँच जाता है। उसे लगता है कि उसकी अंजो दीदी इस घर में अपना प्रतिनिधि छोड़ गयी है।[4] नीरज से वह कहता है—'तुम ठीक कहते थे नीरज, अपनी बीवी को तुम्हें सेना में भरती करा देना चाहिए।'[5] ऐसा ही तो वह अंजो के विषय में कहता रहा है। श्रीपत बताता है कि चाय पीने के पहले न नहाने की आदत को उसने इसलिए छोड़ दिया है कि 'किसी बात को सनक की हद तक ले जाने का वह कायल नहीं है।'[6] ओमी को कायदे-कानून के प्रति अंजो से भी अधिक सतर्क देख कर वह कहता है—'मैंने ग़लत कहा, तुम अंजो दीदी से एक कदम आगे हो।'[7] ओमी को किसी बड़े सरकारी अस्पताल में मैट्रन नहीं चीफ़ मैट्रन होना चाहिए। ओमी को अंजो की परम्परा में देख कर श्रीपत को बरबस खाने की मेज़ पर सो जाने की लाचारी हो जाती है। वह कहता है—'कसम ले लो, जो इन बीस वर्षों में कभी मेज़ पर सोया हूँ....लेकिन यहाँ आ कर मालूम हुआ कि अंजो दीदी अपना प्रतिनिधि छोड़ गयी है, जो कुछ बातों में अंजो के भी कान काटती है तब न जाने क्या हुआ कि फिर वैसे-का-वैसा हो गया।'[8]

श्रीपत ने अपनी इस दूसरी यात्रा में अंजो के तिलिस्म को भी दूर कर दिया। वह अनिमा से जान कर इन्द्रनारायण को बताता है कि उसका यह सोचना ग़लत है कि अंजो दौरा पड़ने से मरी, सच तो यह है कि उसने ज़हर खा लिया था। ज़हर उसने क्यों खाया—इसका रहस्योद्घाटन करते हुए श्रीपत कहता है—

'अंजो सख्त मॉबिड और ज़ालिम थी, क्योंकि उसके नाना मॉर्बिड और ज़ालिम

---

१. २. ३ ४. ५. ६. ७. ८. अंजो दीदी—पृष्ठ १०२-१०३, १०३, ८७, १०५, १०५, १०६, १०६-११० १२८

थे, वह इस घर को घड़ी की तरह चलाना चाहती थी, पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है और इन्सान मशीन नहीं। जब इन्सान मशीन बन जायगा तो वह दिन दुनिया के लिए सबसे बड़े खतरे का दिन होगा। इन्सान का मशीन बनना सनक का ही दूसरा रूप है, अंजो यदि इसे समझती तो जोजा जी को चोरी से शराब पीने और अंजो को मरने की ज़रूरत न पड़ती। लेकिन अंजो ने जब देखा कि वह ज़िन्दगी में अपनी सनक पूरी नहीं कर सकती तो उसने ज़हर खा लिया और जिस काम में वह ज़िन्दगी में सफल न हुई थी, उसमें मर कर हो गयी।'[1]

श्रीपत अंजो की सनक, उसके ज़ुल्म, उसके तिलिस्म को तोड़ेगा, ताकि इस घर में रहने वाले लोग अपनी-अपनी ज़िन्दगी जियें, नीरज चाहे तो सिटी मैजिस्ट्रेट होता हुआ भी क्रिकेट खेले या फिर अपना पद छोड़ कर क्रिकेट खेले ; नीलम आई० ए० एस० या क्रिकेट का कप्तान बने या न बने, कवि ज़रूर बने और उसके जीजा जी चाहें तो एकाध पैग पियें और एकाध शाम स्टैन्डर्ड या गेलार्ड में गुजारें।[2] श्रीपत अपने उद्योग में सफल हुआ। इस बात का प्रमाण यही है कि इन्द्रनारायण अंजो के चित्र के सामने खड़ा हो कर अंजो से शिकायत करते हुए कहता है—

'ज़रा-सी ग़लती पर अपनी सनक में तुमने मेरे पाँच बरस रेगिस्तान बना डाले अंजो, मैं तुम्हें क्या कहूँ। इस कमरे पर बरसों से तुम्हारा जादू....है, लेकिन श्रीपत ठीक कहता है यह जादू टूटना चाहिए, इस घर को उस घड़ी की तरह नहीं इन्सानों की तरह जीना चाहिए।'[3] वह स्वयं शराब पी कर अंजो की आत्मा को कष्ट पहुँचाना नहीं चाहता लेकिन श्रीपत नीरज और उसके और उसके मित्र को वह हुक्म देता है—'तुम पियो, मौज करो, इस कमरे का जादू तोड़ो। हँसो, शोर मचाओ, जियो।'[4]

अश्क के 'अंजो दीदी' नाटक की समस्या का केन्द्र है अभिजात्य वर्ग का एक परिवार। इस परिवार के सदस्यों को अंजो अपनी ज़िन्दगी जीने नहीं दे रही है। वह घर के सभी व्यक्तियों पर अपने संस्कार, जिसकी विरासत उसने श्रीपत के शब्दों में अपने मॉर्बिड और ज़ुल्मी नाना से पायी थी, लादे जा रही है। लेकिन वह यह नहीं जानती कि व्यक्ति अपने संस्कार के ही अनुरूप बनता है। माता या पिता अथवा वैसा ही कोई चाहे तो जोर-ज़ुल्म करके अंजो की तरह घरेलू ज़िन्दगी के तारों को तान दे सकता है। पर उसे यह भी जान लेना चाहिए कि तार को किसी खास सीमा तक ही ताना जा सकता है। अंजो ने इसे न समझ कर इस तार को बहुत ही तान दिया था। श्रीपत यह जानता है कि व्यक्ति के विकास के लिए यह ज़रूरी है कि आदमी को अपने ढंग से जीवन निबाहने की सहूलियत हो। इस नाटक में दो आदर्श परस्पर टकराते हैं। एक है श्रीपत के नाना जी का, जिसकी विरासत अंजो को मिलती है और फिर ओमी उस परम्परा को प्राप्त करती है। यह आदर्श व्यक्ति को मशीन का पुर्ज़ा बना देता

---

१. २. ३. ४. अंजो दीदी—पृष्ठ १३६ १४०, १४०, १४१

है। दूसरा आदर्श है 'श्रीपत का, जिसके अन्तर्गत सब को अपनी ज़िन्दगी जीने का अधिकार है। अंजो ने खलील जिब्रान के उस कथन का ध्यान न रखा, जिसमें उसने कहा है कि अपने बच्चों को सब कुछ दो, अपने विचार न दो। इसी से वह अपने बेटे नीरज को क्रिकेट का कप्तान नहीं बनने देती, छः घंटे पढ़ने और केवल दो घंटे खेलने के लिए विवश करती है। पर बड़ा हो कर उसी का बेटा नीरज कहता है कि उसकी माँ स्वयं ब्रेक थी—ब्रेक। नीरज सिटी मैजिस्ट्रेट तो खैर हो जाता है लेकिन अंजो कृतकार्य कहाँ होती है ? नीरज कहता ही है—'मैं तो बना ही था क्रिकेट का कप्तान होने के लिए....पर ममी पड़ी थीं मुझे आई० सी० एस० बनाने के लिए।....नतीजा तुम्हारे सामने है। न क्रिकेट का कप्तान बने, न आई० सी० एस०।'[1] नीरज जानता है कि उसकी पत्नी ओमी यदि नीलम पर उसी तरह छायी रही जैसे अंजो उस पर छायी हुई थी तो 'वह किसी प्रान्त या केन्द्र की सरकार के बड़े दफ़्तर में फ़ाइलों के साथ माथा फोड़ेगा।'[2] अंजो के कठोर अनुशासन में रह कर भी यदि नीरज अपनी ही ओमी के शब्दों में 'लोफ़र' हो सकता है तो क्या आश्वासन है कि ओमी के नियन्त्रण में रहने वाला नीलम भी अपने दादा-दादी पर न जा कर पिता और उसके मामा श्रीपत पर जाये ? और जैसे बहुत ऐंठने से अंजो की घड़ी ने चलने से इन्कार कर दिया था, वैसा ही कुछ ओमी के साथ नहीं होगा ?

अश्क ने इस नाटक में समस्या को केवल उघाड़ कर रख ही नहीं दिया है, वरन् उन्होंने उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। श्रीपत की अवतारणा जहाँ समस्या के उद्घाटन के लिए है, वहीं समाधान की प्रस्तुति के लिए भी है। अंजो के परिवार में दो पीढ़ियों से बच्चों पर अपने विचार लादने का अन्याय उनकी माँ द्वारा होता रहा है और श्रीपत जानता है कि यह बात एकदम ग़लत है। इससे वह प्रथम अंक में जैसे नीरज के बाल-हृदय में अपनी ममी अंजो के प्रति विद्रोह जगाता है, वैसे ही दूसरे अंक में नीलू को अपनी माँ ओमी के प्रभाव से हट कर अपनी मनमानन्द ज़िन्दगी जीने के लिए उकसाता है।

अश्क एक जागरूक कलाकार हैं। नाटक की मुख्य समस्या से भिन्न एक अवान्तर समस्या को भी उन्होंने नीरज और नज़ीर के माध्यम से दूसरे अंक में उपस्थित किया है। देश में कांग्रेस दल के सत्तारूढ़ होने के बाद सरकारी अधिकारियों के आगे शासन-विषयक एक समस्या खड़ी हो गयी है। कांग्रेस दल के बड़े-छोटे सदस्य अधिकारियों के काम में दखल देने लगे हैं। सरकारी अधिकारी उनके विषय में क्या सोचते हैं यह नीरज के इस कथन से विदित हो जाता है—उन गाँधी-टोपियों का खयाल करें, जिन्हें पहनने वाले यह सोचते हैं कि उन्हें देखते ही टी० आर० ओ० तो दूर कलेक्टर तक को अदब से खड़े हो जाना चाहिए।[3] नीरज उन्हें 'खुदाई फौजदार'[4] कहता है। नज़ीर भी अपना ऐसा ही अनुभव सुनाते हुए किसी मिनिस्टर के भतीजे के

१. २. ३. ४. अंजो दीदी—पृष्ठ—९९-१००, १०२, ९५, ९५

साले के साले या बहनोई की नियुक्ति के विषय में चर्चा करता है।[1] इन कांग्रेसी मिनिस्टरों के विषय में नीरज का कहना है—जिनको पहले कोई साठ रुपये में भी न पूछता था, जिन वकीलों की चार रुपये रोज़ की प्रैक्टिस न थी, वे आजकल मिनिस्टर बने हुए हैं।[2]

और ठीक यही स्थिति उच्च-पदस्थ सरकारी अधिकारियों की भी तो है। जब भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, इस देश में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित आई० सी० एस० अंग्रेज़ अधिकारी और उनकी कोटि के अन्य अधिकारी भारत छोड़ कर चले गये। परिणाम यह हुआ कि उनकी ऊँची कुर्सियों पर भारतीय अधिकारी प्रतिष्ठित हुए। जिन लोगों ने प्रोन्नति का सपना भी नहीं देखा था, वे बड़ी आसानी से प्रोन्नत हुए। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए नीरज कहता है—फिर मेरे जैसा नायब तहसीलदार अगर कलेक्टर हो जाय तो कौन-सी बड़ी बात है।[3]

आज की अमलदारी में प्रोन्नति किस तरह के आदमी की होती है, इसका पता उस शरणार्थी अधिकारी के वृत्तान्त से चल जाता है, जिसके विषय में शरणार्थी कैम्प की एक लड़की को शिकायत थी कि उस अफ़सर ने उसे अपने घर इन्टरव्यू के लिए बुलाया और उसे चूमने की कोशिश की।[4]

अश्क कहना चाहते है कि शासन के ऊँचे पदों पर बैठे हुए लोग अपनी योग्यता के बल पर ऊँचे नहीं चढ़े हैं। यह तो कहिए कि राष्ट्र के जीवन में एक ऐसा समय आया था, जिसके प्रवाह में किसी को मंत्री-पद मिला और किसी को ऊँची अफ़सरी मिली। उन्हें अपने शील और आचरण से अपने को उन पदों के योग्य प्रमाणित करना चाहिए। अश्क को दुख है कि सचाई की यह बात उनके ध्यान से हटती जा रही है। भगवान ही जाने इसका परिणाम किन समस्याओं को जन्म देगा।

अश्क के समस्या-मूलक एकांकी नाटक

अश्क ने अपने एकांकी नाटकों में भी जीवन और जगत की अनेक समस्याएँ उठायी हैं। 'देवताओं की छाया में' नामक एकांकी नाटक-संग्रह में उनके सात एकांकी नाटक संकलित किये गये हैं। इन नाटकों की रचना अश्क ने १९३७-३८ ई० में की थी। अपने व्यक्तिगत जीवन में अश्क उन दिनों कठिन संघर्ष कर रहे थे और देश में कई नयी स्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं।

उन्हीं दिनों राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने संघर्ष का मोर्चा बदल दिया था। १९३५ में भारत की शासन-व्यवस्था में सुधार करने के हेतु एक कानून पास हुआ था, जिसे भारत शासन नियम १९३५ कहते हैं। देश की राजनैतिक आकांक्षा की पूर्ति कराने में अंग्रेज़ों का यह सुधार-नियम सर्वथा अक्षम था और इसी से कांग्रेस उसे नष्ट-भ्रष्ट करना चाहती थी। इस नये सम्विधान की व्यर्थता सिद्ध करने के उद्देश्य से कांग्रेस ने

१. २. ३. ४. **अंजो दीदी—पृष्ठ ९६, १००, १००, १२९-३०**

चुनाव संघर्ष किया और अनेक प्रान्तों में धारा-सभाओं में उसे अजेय बहुमत प्राप्त हुआ। शासन-सुधार-नियम के खोखलेपन को उघाड़ कर रख देने के उद्देश्य से कांग्रेस ने प्रान्तों में सरकार बनायी। अब समाज में एक नया वर्ग एम० एल० ए० तथा मिनिस्टरों का खड़ा हुआ और इस वर्ग के जन्म के साथ ही जीवन की कतिपय नयी समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं। १९३४ में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन प्रेमचंद जी की अध्यक्षता में हुआ। इस आयोजन के पीछे जागरण की जो नयी चेतना थी, वह भी अश्क के एकांकी नाटकों की रचना का पृष्ठाधार बनी।

देवताओं की छाया में : यह कहा गया है कि भारतवर्ष गाँवों में बसता है और इसी से भारत के आत्मलीन किसान, कवियों के लिए सदा से आकर्षण के विषय रहे हैं। लेकिन अब यह अनुभव किया गया कि नगरों का आकर्षण क्रमशः बढ़ रहा है और देहात शहर की ओर बढ़ा चला आ रहा है। इससे शहर की आबादी नित्य बढ़ रही है और इसके फलस्वरूप नगर की सबसे बड़ी समस्या हो गयी है—इस बढ़ती हुई आबादी के आवास को। अब शहर को देहात की ओर फैलने की विवशता हो जाती है। इसी परिप्रेक्ष्य में नगर के पास अवस्थित काकू नामक गाँव अब 'देवनगर' बन रहा है। एक व्यावसायिक कम्पनी काकू नामक गाँव की ज़मीन खरीद-खरीद कर भवन निर्माण-कार्य कर रही है।

अश्क यह जानते हैं कि निर्माण-कार्य व्यावसायिक बुद्धि से नहीं किया जा सकता। व्यावसायिक कम्पनियाँ अपने हीन स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पातीं और इससे नव-निर्माण का कार्य करने में वे अक्षम सिद्ध होती हैं। ऐसे देवनगर का निर्माण-कार्य करने वाली व्यावसायिक कम्पनी ने उच्चादर्शों की दुहाई दी है और कहा है कि वह देवनगर में ऐसे समाज की नींव दे रही है, जो सही मानों में क्षुद्रताओं से ऊपर नितान्त शुभ्र ज्योतित मानव-समाज होगा। लेकिन अश्क को यह विदित है कि हाथी के दिखाने और खाने के दाँत अलग-अलग होते हैं। अश्क को यह भी मालूम है कि देवनगर में जो मकान बनाये जा रहे हैं, वे बनने के पहले ही मरम्मत तलब करते हैं। रोज़ छतें टूट-टूट कर गिर रही हैं और उनके नीचे रहीम और सादिक जैसे मज़दूर दब कर मर रहे हैं। कहने को तो यह कहा जा रहा है कि कम्पनी 'काकू' के ग़रीब मज़दूरों को रोज़ी-रोटी दे रही है लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि छः आना रोज़ की मज़दूरी थमा कर उनका भीषण शोषण किया जा रहा है। स्थिति की दयनीयता की पराकाष्ठा वहाँ होती है, जब दम तोड़ते हुए मज़दूर को जिलाने के लिए सारे गाँव में दो बूँद दूध नहीं मिल पाता।

अश्क ने यह भी देखा है कि 'देवनगर' की कुरूप छाया देहात के भोले सहज स्वस्थ जीवन को विद्रूप कर रही है। इसी कुरूपता को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नाटक में सादिक को उपस्थित किया गया है। यह युवक आठवीं जमात तक पढ़ा हुआ है और परिणाम स्वरूप अपने को शिक्षित समझता है। सादिक शरीर-श्रम करना अपनी

मानहानि समझता है। पूर्वजों से प्राप्त भू-सम्पत्ति को नष्ट कर, वह दुकानदार बनता है और इस दुकानदारी की असफलता से भी सबक नहीं सीखता। अन्त में वह देवनगर की व्यावसायिक कम्पनी का मज़दूर हो कर जान गँवा डालता है। इस तरह वह किसान से दूकानदार और फिर मज़दूर हो कर पूँजीवाद की भट्टी में पड़ता है और राख हो जाता है। उसे शहर की हवा ऐसी लगी थी कि वह अपनी बीवी को देहात की अन्य स्त्रियों की तरह पर्दा करने नहीं देता, उसके लिए सुगन्धित तेल और साबुन खरीदता है।

इस तरह इस एकांकी के द्वारा नाटककार ने पूँजीवाद के प्रति अपना गहरा रोष प्रकट किया है और बताया है कि यदि यही क्रम चलता रहा तो भारत के किसान-किसान न रह कर मजदूर हो जायेंगे और हमारा आर्थिक-सामाजिक ढाँचा ही बदल जायगा। नाटककार की बुद्धि में यह परिवर्तन शुभ नहीं होगा।

अधिकार का रक्षक : 'अधिकार का रक्षक' शीर्षक एकांकी नाटक का मुख्य पात्र एक मि० सेठ है, जो किसी दैनिक पत्र का स्वत्वाधिकारी है और प्रान्तीय धारा-सभा के चुनाव में उम्मीदवार है। मि० सेठ का दावा है कि उसने अपना समस्त जीवन पीड़ितों, पददलितों और गिरे हुए लोगों को ऊपर उठाने में लगा दिया है। वह उनके अधिकार का रक्षक है और इसलिए चुनाव के लिए पहला अधिकारी है।

किन्तु, सत्य यह है कि उसकी 'कथनी' और 'करनी' में संगति का सर्वथ अभाव है। वोट प्राप्त करने के लिए वह जो कुछ कहता है, दावा करता है, उसके विरुद्ध अपने निजी जीवन में बरतता है।

अश्क ने मि० सेठ के जीवन के कुछ ऐसे क्षण बटोरे है जब यह स्पष्ट हो जाता है कि वह दोहरे व्यक्तित्व का व्यक्ति है। थोड़े वैसे नमूने देखिए :

(क) मि० सेठ ने सार्वजनिक सभा में भाषण किया है कि उसे यह देख कर बड़ा ही कष्ट होता है कि हमारे बच्चों को उचित शिक्षा नहीं मिलती। उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा की पद्धति नितान्त ऊल-जलूल, पुरानी और दकियानूसी है। बच्चों के स्वास्थ्य पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है और अनुचित दबाव में रख कर उन्हें डरपोक और भीरु बनाया जाता है।[१] ऐसी ऊँची बातें करने वाले मि० सेठ की व्यावहारिक स्थिति यह है कि जब उसका अपना बच्चा उसके पास आता है तब वह उसे झिड़कते हुए कहता है—'ठहर-ठहर कमबख्त। चल, निकल यहाँ से सूअर, कमबख्त !'[२]

मि० सेठ की पत्नी का परिताप देखिए—'ये बाप नहीं, दुश्मन के बच्चों से प्रेम करेंगे, उनके सिर पर हाथ फेरेंगे, उनके

१. २. देवताओं की छाया में—उपेन्द्रनाथ अश्क—पृष्ठ ९२, ९३

स्वास्थ्य के लिए बिल पास करायेंगे, उनकी उन्नति के भाषण झाड़ते फिरेंगे और अपने बच्चों के लिए भूल कर भी प्यार का एक शब्द ज़बान पर नहीं लायेंगे।'[1]

मि० सेठ का दावा है कि सारे प्रान्त में वही एक व्यक्ति है, जिसने उस अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन किया है, जो घरों और स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों पर किया जाता है। वही वह व्यक्ति है, जिसने पाठशालाओं में शारीरिक दंड को तत्काल बन्द कर देने पर ज़ोर दिया है। लेकिन अपने ही बच्चों के साथ जो व्यवहार वह करता है, उससे उसके दावे का खोखलापन स्पष्ट होता है।

(ख) मि० सेठ को इस बात की बड़ी तकलीफ़ है कि भोले-भाले निरीह नौकरों के साथ उनके मालिक बड़ी क्रूरता का व्यवहार करते हैं, उन पर ज़ुल्म ढाते हैं। मालिकों के अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करने के लिए मि० सेठ ने नौकरों का यूनियन स्थापित कर रखा है। लेकिन वही मि० सेठ अपने नौकर रामलखन को सूअर, हरामख़ोर, पाजी कह कर गालियाँ देता है। उसके घर की सफ़ाई करने वाली जमादारिन को पिछले दो महीनों से वेतन नहीं मिला है और यह इसलिए कि मि० सेठ को रुपये निकाल कर देने की छुट्टी नहीं है। उसका रसोईदार है—भगवती, जिसे पूरा वेतन कभी एक बार नहीं मिला और इधर पिछले तीन महीनों से उसे वेतन की कोई रकम नही मिली। जब भगवती वेतन की माँग करता है तो मि० सेठ आग-बबूला हो जाता है, गालियाँ देता है और कहता है— 'जा कर अदालत में मामला चला दे। चोरी के अपराध में छः महीने के लिए जेल न भिजवा दूँ तो नाम नहीं।'[2]

(ग) मि० सेठ अपने को मज़दूरों के अधिकार का रक्षक बताता है। उसे यह देख कर बड़ा कष्ट होता है कि पूँजीपति मजदूरों को पशु समझते हैं, उनसे १३-१३ घंटे रोज की ड्यूटी लेते हैं और कई-कई महीने तक उनको वेतन भी नहीं देते। मि० सेठ सप्ताह में ५२ घंटे से अधिक की ड्यूटी लेने का विरोधी है।

इधर उसके अपने ही पत्र का सम्पादक है, जिससे रोज़ाना १३ घंटे की ड्यूटी ली जाती है, काम करते-करते उसकी आँखें खराब हो गयी हैं। वह मि० सेठ से प्रार्थना करता है कि उसे एक सहायक प्राप्त हो। लेकिन सेठ उसे डपटते हुए कहता है कि अख़बार लाभ पर नहीं चल रहा है, इससे कोई नया आदमी नहीं रखा जा सकता है। अधिक-से-अधिक यही सम्भव है कि सम्पादक के वेतन में पाँच रुपये प्रति माह की वृद्धि कर

१. २. देवताओं की छाया में—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १०५, ९६

दी जाय। यदि सम्पादक को यह मंजूर न हो तो वह काम छोड़ सकता है। एक नहीं दस मिल जायेंगे।

(घ) मि० सेठ छात्रों के अधिकार का रक्षक है। मगर प्रिंसिपल उसके अपने आदमी हैं, इससे छात्रों की मदद का आश्वासन दे कर भी वह मदद नहीं करता।

(ङ) इसी तरह अपनी पत्नी को गाली देने वाला सेठ सरला देवी को आश्वस्त करता है कि महिलाओं के अधिकार का उससे अधिक सक्षम रक्षक वर्तमान उम्मीदवारों में कहीं नजर नहीं आ सकता।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि मि० सेठ, न तो पददलितों, पीड़ितों, हरिजनों और बच्चों का हितैषी है, न मज़दूरों अथवा स्त्रियों के अधिकार का रक्षक। वह केवल अपने स्वार्थ का सजग प्रहरी है।

इस एकांकी के विषय में अपना मत देते हुए श्री शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है—'इस नाटक में अश्क ने अधिकार-प्राप्त वर्ग के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन दुरंगी नैतिकता का अत्यन्त सजीव और यथार्थ चित्रण किया है। दलितों और शोषितों के प्रति सत्ताधारी वर्ग की मौखिक सहानुभूति और ऊँचे आदर्शों के मन्त्रोच्चार का खोखलापन नाटक के वास्तविक दीन-दुखिया पात्रों के प्रति उनके आचरण-व्यवहार से मूर्त्तित हो जाता है।'[1]

श्री चौहान जी ने ऐसा कह कर इस एकांकी की रचना के उद्देश्य पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला है। मतदाता, सेठ जैसे लोगों के हाथों छला जाता है। वह सेठ जैसे व्यक्तियों के अन्तर में प्रवेश करने की स्थिति में नही है। इससे यही सहज है कि उसे अपने अधिकारों का रक्षक समझे और सत्ता के सिंहासन पर उसे अधिष्ठित करके धोखा खाये। प्रश्न है, क्या सेठ और उसकी बिरादरी के लोग सचमुच जनतंत्र की रक्षा कर सकेंगे? नाटककार ने इस एकांकी के व्याज से इसी समस्या की ओर इशारा किया है और मतदाता को सोचने-विचारने की प्रेरणा दी है।

विवाह के दिन : 'विवाह के दिन' शीर्षक एकांकी नाटक में अश्क ने विवाह संस्था की त्रुटियों की ओर संकेत किया है और तत्सम्बन्धी समस्याओं को उभारा है। परसराम नामक एक सुशिक्षित कलाकार का विवाह-सम्बन्ध उसके बड़े-बूढ़े उसकी पसन्द का खयाल किये बिना स्थिर करते हैं। परसराम की माँ यह जान कर सन्तुष्ट हो जाती है कि लड़की भोली-भाली सीधी-सादी है, खाना पकाना जानती है, सीना-पिरोना जानती है, मुहल्ले की लड़कियाँ उसके हाथ के किरोशिये का काम देख कर प्रशंसा करते नहीं थकतीं। और फिर इसके आगे चाहिए भी क्या? परसराम की माँ यह नहीं जानती कि पत्नी का काम केवल सीना-पिरोना, और रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह काम करना नहीं है। उसके लिए पति की संगिनी होना आवश्यक है।

---

१. देवताओं की छाया में—(व्याख्या भाग)—शिवदान सिंह चौहान

परसराम का निर्वाह ऐसी फूहड़, अशिक्षित, कुरूप लड़की के साथ कैसे हो सकता है? परसराम के पिता सुन्दरता के वैसे कायल नहीं हैं। उनका अपना दाम्पत्य-जीवन इस विषय में प्रमाण है। वह कहते हैं—बात कहने की नहीं, किन्तु 'परसराम की माँ कितनी सुन्दर है, तो क्या हमारा जीवन सुख से नहीं बीता?'[१] सामने ही लीला है, जो सुन्दर है, पर क्या निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसका दाम्पत्य जीवन सफल है? सच बात तो यह है कि आन्तरिक सुन्दरता होनी चाहिए, बाह्य सौन्दर्य हुआ तो क्या? और फिर परसराम का विवाह हो जाता है और वह यह मान कर पागल जैसा हो जाता है कि उसकी पत्नी भद्दी है।

परसराम का पागलपन उतारने के लिए बहू को उसके निकट लाया जाता है और लीला अपने भाई परसराम से कहती है—'यह देखो, तुम्हारी बहू, यह असुन्दर नहीं, कुरूप नहीं; यह शिक्षित है, गा सकती है। तुम्हें भ्रम हो गया है, तुमने शायद महरी की लड़की को देख लिया है।'[२] और सचमुच परसराम का पागलपन उतर जाता है।

अश्क ने प्रश्न खड़ा किया है कि परसराम के इस भ्रम के लिए कौन उत्तरदायी है? उत्तर सीधा है—समाज—जो विवाह के समय भी बहू को गुड़ियों की तरह सात पर्दे में रखता है, विवाह करने वालों को एक दूसरे को ज़रा-सा भी जानने-समझने का मौका नहीं देता। लेकिन अश्क को इतना ही भर कहना नहीं है। वे पूछते हैं कि क्या परसराम को अपनी बहू के बाह्य सौन्दर्य और उसकी शिक्षा-दीक्षा को जान कर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए था? अश्क यह मानते हैं कि बड़े-बूढ़ों के चुनाव में ग़लती के लिए सम्भावना है इसलिए कि वे अँधेरे में तीर चलाते हैं। लेकिन परसराम भी तो वैसे ही अँधेरे में तीर चला रहा है। अपनी बहू के बाह्य शारीरिक सौन्दर्य और उसकी शिक्षा से सन्तुष्ट होने वाले परसराम के पास इस बात का कौन-सा आश्वासन है कि उसका दाम्पत्य जीवन सफल होगा ही? नाटककार प्रश्न के इस पहलू को खड़ा करके प्रेरणा देते हैं कि हमारा समाज समस्या को उसकी सम्पूर्णता में ले और उचित समाधान प्रस्तुत करे।

पहेली : 'पहेली' शीर्षक एकांकी-नाटक के मुख्य पात्र चेतन को 'क्रौस वर्ड पज़ल' का शौक है और यह शौक इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उसने न जाने कितना समय और कितना पैसा इस धन्धे में नष्ट किया है। पुरस्कार के रूप में उसे अब तक एक कानी कौड़ी भी नहीं मिली लेकिन उसकी पत्नी का सौभाग्य-चिह्न गोखरू तक इसकी भेंट हो चुका है।

आज भी अपने मित्र आनन्द के साथ वह यही पहेली बूझ रहा है कि 'कार' और 'कैट' में कौन-सा शब्द उपयुक्त होगा। चेतन की माँ खीझती हुई कहती है—'बेटा, लाटरी क्या, सट्टा क्या, यह क्या, सब जुआ है और जुए में कौन जीता है और

---

१. २. देवताओं की छाया में—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १२०, १२६

जो जीता है, वही तो हारा है। अन्त कभी किसी का अच्छा न हुआ। इस तरह पाया हुआ कभी किसी के पास नहीं रहा है।'[१] उसके सामने अपने पड़ोसी का उदाहरण है, जिसका सट्टे में मकान तक गिरवी पड़ गया लेकिन कभी एक पैसा उसे न मिला। वह जब मरा तो कफ़न के लिए मुहल्लेवालों ने चन्दा इकट्ठा किया। माँ नहीं चाहती कि चेतन इस व्यर्थ के धन्धे में समय और पैसे नष्ट करे।

इस धन्धे की विचित्रता की ओर संकेत करते हुए आनन्द कहता है कि इनाम का रुपया तो गधों को ही मिलता है! मुहल्ले में एक इन्सपेक्टर साहब हैं, जिन्हें लाटरी से रुपये मिले हैं और वे अब एक नयी बीवी लाने की बात [illegible] सोच रहे हैं।[२]

किन्तु चेतन पर इन बातों का कोई प्रभाव नही पड़ता। लाटरी के इस भूत ने उसे नास्तिक और अधार्मिक भी बना दिया है। आज वह अनुभव करता है कि उसने जितना समय पूजा-पाठ करने में लगाया है, उतना यदि पहेली हल करने मे लगाया होता तो पहला इनाम मार चुका होता और विलायत की सैर की व्यवस्था भी अलग से हो गयी होती।

चेतन को दफ़्तर जाना है, लेकिन वह तो सब कुछ भूल कर पहेली के पीछे दीवाना हो रहा है। उसकी पत्नी लाजो जब उसे दफ़्तर जाने की याद कराने आती है तो वह उससे भी यही सवाल खड़ा करता है—कैट होगा कि कार। लाजो अनजाने ही एक पते की बात कह जाती है। वह यह कि पड़ोसियों में सबके कार नहीं होती जब कि बिल्ली घर-घर होती है। बस, चेतन को पहेली का हल मिल गया और वह इस खुशी में लाजो को आलिंगनबद्ध कर लेता है और कहता है कि उसे इनाम मिल जाय तो वह लाजो के आगे गहनों के ढेर लगा दे और कपड़ों का अम्बार! इस झाँकी का अन्त होता है लाजो के इस कथन से—'अच्छा जाओ, आ गया पच्चीस हज़ार। अब चल कर नहाओ, खाओ, दफ़्तर की तैयारी करो और माँ को इधर पाठ करने दो।'[३]

'पहेली' अथवा 'झाँकी' शीर्षक एकांकी हमारे मध्यवित्त वर्ग की मनोवृत्ति का अच्छा निर्देशक है। चेतन जिस मध्य वर्ग का है, उसका दुर्भाग्य है कि वह विपन्न होने पर भी [illegible] जाता है और कुछ ऐसी विवशता है कि उसे भी अपने को सम्पन्न समझना पड़ता है। अपनी स्थिति के सुधारने में यह वर्ग नितान्त अक्षम है, उसे जकड़ कर उसकी सीमाएँ खड़ी हैं और वह उस बन्धन से मुक्त हो सकने की शक्ति नहीं रखता। लेकिन उसके मन में सम्पन्न बनने की दुर्निवार, अदम्य आकांक्षा है। इसके परिणाम स्वरूप यह वर्ग कल्पना-विहारी हो गया है, सम्पन्नता के दिवा-स्वप्न देखता है। रूक्ष वास्तविकता के क्षेत्र में सर्वथा निरुपाय होकर यह वर्ग अकर्मण्य भी हो गया है।

इसी के कारण चेतन पहेली की अकर्मण्यता में ही अपनी सम्पन्नता का दिवा-

---

१. २. ३. देवताओं की छाया में—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १३४, १३६, १३८

स्वप्न देखता है। अपनी पत्नी के सुहाग-चिह्न तक की भेंट चढ़ा देने वाला यह चेतन उसके आगे गहने और कपड़ों का अम्बार लगा देने की मोहक कल्पना में उत्साह-विह्वल होता है।

इस वर्ग की समस्या है कि वह अपनी अक्षमता का अनुभव और वास्तविकता का अंगीकार नही कर सकता और जब घर में जीवन-निर्वाह के साधना का हल ढूँढ़ता है। चेतन सुशिक्षित है और इससे उसे होना चाहिए था बुद्धिवादी। लेकिन वह क्षण भर के दिवास्वप्न के बहाव में भाग्यवादी हो जाता है। माँ उसे समझाती है कि लाटरी भी जुआ ही है और जुए में कोई जीतता नहीं, तथापि चेतन अपनी ही राह चला जा रहा है।

आपस का समझौता : 'आपस का समझौता' में डॉक्टरों की बेकारी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। डॉ० वर्मा नामक एक दन्त चिकित्सक अनारकली में दूकान लगा कर बैठा है। लेकिन उसकी प्रैक्टिस चलती नही है। दूसरा डॉक्टर है—नेत्रविशेषज्ञ डॉ० कपूर। उसकी प्रैक्टिस भी चलती नही है, यद्यपि उसने यह प्रचारित अवश्य करा रखा है कि वह खूब कमाता है। एक तीसरा है ब्रजलाल, जो पैथोलोजिस्ट है। ये तीनों ही विशेषज्ञ अपने-अपने भाग्य को रोते हैं। अन्त में ये तीनों ही जिन्दा रहने के लिए आपस में एक समझौता करते हैं, परस्पर सहयोग से जिन्दा रहने का उपाय ढूंढ़ते हैं। ले कन एक दूसरे से सहयोग के लिए भी तो रोगी चाहिएँ और रोगी उनके पास हैं नही। उससे ये अपने-अपने रिश्तेदारों का ही इस्तेमाल करते हैं। डॉ० वर्मा डॉ० कपूर के यहाँ अपनी साख बनाये रखने के लिए अपने साले प्रतुल को मरीज़ बना कर भेजता है। डॉ० कपूर प्रतुल की आँख में एक तेज़ दवा यह कहते हुए डाल देता है कि उसे 'ज़ीरो ऑफ थैलमिया' नामक नेत्र रोग है। इस दवा का उद्देश्य है प्रतुल की अच्छी खासी आँख में बीमारी पैदा करके चश्मा देना। डॉ० वर्मा भी इस स्थिति का अनुभव कर जवाब देने के लिए तैयार हो जाता है। अभी जो रोगी डॉ० कपूर का भेजा हुआ उसके पास इलाज के लिए आया है, उसके विषय में यह निश्चय करता है कि वह उसके सारे दाँत उखाड़ फेंकेगा, उसके मसूड़ों में नासूर कर देगा।

इस एकांकी मे कुछ समस्याएँ उठायी गयी हैं। एक तो यह कि हमारा शिक्षित समाज इतना स्वार्थान्ध हो गया है कि जो शरीर की रक्षा के लिए बने है, वे शरीर को नष्ट करते हैं। डॉ० कपूर को प्रतुल की आँख फोड़ते एक क्षण के लिए भी झिझक नहीं होती, वैसे ही डॉ० कपूर के भेजे हुए रोगी का, जो निश्चय ही उसका अपना ही रिश्तेदार होगा, अनिष्ट करते हुए डॉ० वर्मा को भी संकोच नहीं होगा।

देश में प्रचलित कानून की विचित्रता की ओर भी इस एकांकी में इशारा किया गया है। हमारा कानून भी खूब है। प्रतुल की आँख फोड़ने वाले डॉ० कपूर के लिए उसके विधान में कोई दंड नहीं है। इन सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि हमारे देश में

विशेषज्ञों को भी रोटी का कष्ट पड़ा हुआ है।

'देवताओं की छाया में' शीर्षक-संग्रह में संकलित 'जोंक' तथा 'लक्ष्मी का स्वागत' शीर्षक एकांकी नाटकों का इस प्रबन्ध में विचार नहीं किया जा रहा है। जोंक में समस्या का कोई रूप उभर कर आ नहीं पाता। 'लक्ष्मी का स्वागत' दहेज़ प्रथा की बुराई की ओर इंगित करता है। दहेज-समस्या एक ऐसी घिसी-पिटी समस्या है कि अश्क ने उसे समस्यारूप प्रस्तुत करने का कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया। अस्तु, यह एकांकी दहेज़ प्रथा की बुराई की ओर संकेत करके ही मानो विराम ले लेता है, प्रेक्षक-पाठक के मस्तिष्क को मथित चालित नहीं करता।

'अश्क' के एकांकी नाटकों का दूसरा संग्रह है—'चरवाहे,' जिसमें संगृहीत सात नाटकों में एक 'खिड़की' को छोड़ कर शेष में ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं, जो पाठक-प्रेक्षक को झकझोर देते हैं। अब हम इन नाटकों का परिचय प्रस्तुत करेंगे :

चरवाहे : 'चरवाहे' शीर्षक एकांकी में रत्नी नाम की एक ग्राम-बाला के अपने प्रेमी गोविन्द के साथ भाग निकलने की कथा कही गयी है। रत्नी के इस व्यवहार से समाजद्रोह होता है। ज़ाहिर है कि कोई भी ऐसा आदमी, जो सामाजिक बन्धनों को शिथिल करके अराजकता फैलाना नहीं चाहता है रत्नी के इस समाज-विरोधी आचरण का समर्थन नहीं कर सकता। अश्क भी वैसा करना नहीं चाहते। लेकिन वे समस्या-नाटककार हैं और समस्या-नाटककार का कर्त्तव्य होता है प्रश्न के उस रूप का दर्शन कराना, जो सामान्यतः हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। इसी से अश्क ने, यह मानते हुए भी कि रत्नी ने जो किया, निहायत बुरा किया, उसे वैसा करना नहीं चाहिए था, समस्या के दूसरे पहलू की ओर भी इशारा किया है।

रत्नी एक ऐसी भाग्यहीन लड़की है, जो छुटपन में ही माँ की ममता से वंचित हो जाती है। पिता ने जैसे उस पर ही मुसीबतों का पहाड़ ढाने के लिए पुनर्विवाह किया। यह तो कहिए कि उसके मामा धनीराम के हृदय में ममता उमड़ी कि वह उसे अपने घर ले आया। लेकिन नारी-स्वभाव से अनभिज्ञ धनीराम से एक बड़ी भूल हो गयी। उसने रत्नी को अपने घर लाते समय यह नहीं सोचा कि इस परायी लड़की का स्वागत उसकी पत्नी कर सकेगी या नहीं। विमाता की निर्दयता से बचाने के लिए जिस रत्नी को वह अपने घर ले आया है, उसके प्रति स्वयं उसकी पत्नी भी तो कटु व्यवहार कर सकती है।

रत्नी को अपने मामा का प्रचुर प्यार तो मिला लेकिन मामी ने उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया जैसा कदाचित् उसकी विमाता उसके प्रति करती। प्यार और सहानुभूति की भूखी रत्नी मामी के अनाचार के विरुद्ध विद्रोह करके गोविन्द के साथ भाग खड़ी होती है, जिससे उसे प्रचुर प्यार मिला है और जिसके पौरुष के विश्वास-तरु के नीचे वह सुखद छाया पा सकती है। अश्क प्रश्न उठाते हैं कि रत्नी के जीवन की इस पृष्ठभूमि को देखते हुए, उसकी वेधक परिस्थितियों को जानते हुए—क्या उसे

पापिनी कहेंगे ही ? यदि वह पापिनी है तो फिर उसका पिता क्या , जिसने पुन-र्विवाह करके उसे सर्वथा अनाथ बनाया है ? उसकी मामी क्या है, जिसने परायी लड़की को सदा परायी लड़की ही समझा है, कभी उसे अपनी बनाने की कोई कोशिश नहीं की ?

चमत्कार : 'चमत्कार' शीर्षक एकांकी में अश्क के सामने एक प्रश्न है—ये चमत्कार, जो जनता ने अपने धार्मिक महापुरुषों के प्रति स्थिर कर रखे हैं, वास्तव में जनता के ही विश्वास के फल तो नहीं हैं ? इसी प्रश्न पर सोचते-विचारते प्रस्तुत एकांकी का रूपाकार खड़ा हो गया है।

इस एकांकी में एक मौलाना साहब सड़क पर खड़े हो कर सारे बाज़ार को चुनौती दे रहे हैं—ईसाई कहते हैं यीसू मसीह ने कहा—उठ. और कुमारी उठ बैठी। यदि ऐसा है तो मौलाना के टिन में एक मरी हुई मछली है, पादरी यीसू मसीह को पुकारे और वे मछली को ज़िन्दा करें। पादरी अपने कमरे की खिड़की से यह सब देख रहा है और वह बेचारा खिड़की बन्द कर लेता है। भीड़ में से घंटी बजाता हुआ एक आदमी निकल कर तपाक से कहता है कि वह मछली को ज़िन्दा कर सकता है। शर्त इतनी ही है कि लोग उस पर भरोसा रखें, उसका विश्वास करें। इसके बाद वह एक लम्बा-सा भाषण देता है और चरमस्थिति तब आती है, जब वह अपने बक्से से निकाल कर मर्दानगी की दवा उस भीड़ में बेच जाता है। वह मछली जिलाने के पहले उन मृतप्राय इन्सानों को ज़िन्दा करना चाहता है, जो चलते-फिरते मुर्दे हैं, अपने जीवन के अमूल्य सार को अपने हाथों, बचपन या जवानी में गँवा देते हैं और चलते-फिरते मुर्दे नज़र आते हैं। उसकी गढ़वाली गोली का २१ दिन तक प्रातःसन्ध्या सेवन से करने से शरीर में रक्त नदी की तरह प्रवाहित होने लगेगा। जब वह घंटी वाला अपनी गढ़वाली गोलियाँ बेच कर चलने लगता है तो भीड़ में से एक सिख कहता है—"लेकिन भाई, वह मछली।"[१] घंटी वाला उसे सटीक उत्तर देते हुए कहता है—गढ़वाली गोलियाँ पत्थरों तक में जान पैदा कर सकती हैं, फिर मछली क्या चीज़ है ? लेकिन मेहरबान ! मछली दूध के साथ गोलियाँ नहीं निगल सकतीं। मियाँ जी चलिए, इसे हमारे औषधालय में ले चलिए, वहाँ हम नदी का स्वच्छ जल मँगायेंगे और यदि परमात्मा ने चाहा तो इसे अवश्यमेव जीवन प्रदान करेंगे।'[२] और मियाँ जी क्रीतदास की तरह घंटी वाले के पीछे-पीछे चल पड़ते हैं।

इस कथा स्पष्ट है कि विश्वास उत्पन्न करने की आवश्यकता है, चमत्कार क्या आज नहीं हो सकते ?

नाटककार ने अनुभव किया है कि साधारण लोगों में, चाहे वे हिन्दू हों, मुसलमान हों, ईसाई या सिख हों, धर्म के सम्बन्ध में जो भी दिलचस्पी होती है, वह सतही होती है। धर्म के गहन विषयों में जन-साधारण को रुचि नहीं होती। ऐसे लोग

---

१. २. चरवाहे—उ० ना० अश्क—पृ०१२५, १२५

चमत्कार की चकाचौंध में तुरत आ जाते हैं और किसी बात के प्रति तुरत आस्थावान् हो उठते हैं।

सभी सम्प्रदायों में प्रवर्त्तकों, नेताओं, धर्म-गुरुओं, महान पुरुषों के विषय में यह प्रचलित हैं कि उनमें अलौकिक शक्तियाँ थीं और वे चमत्कार कर सकते थे। उन कथाओं के सत्यासत्य का विचार नहीं किया जाता और उन्हें सत्य मान लिया जाता है।

यह घंटी वाला मछली को खाक जिन्दा करेगा, लेकिन उसके उत्तर से सरदार जी सचमुच सन्तुष्ट हो जाते हैं। मियाँ जी भी प्रयोग और परीक्षण के लिए उसके साथ चल पड़ते हैं। लेकिन सवाल यह भी है कि क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मियाँ जी और घंटी वाले की मिली भगत हो ?

नाटककार इसी प्रमाण पर प्रश्न खड़ा करता है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि धर्म-नेताओं के विषय में प्रचलित चमत्कार-चर्चाएँ भी वैसी ही खोखली है, जैसा खोखला घंटी वाले का यह दावा है कि वह मियाँ जी की मछली को ज़िन्दा कर सकता है ?

'चरवाहे' शीर्षक संग्रह में 'चुम्बक,' 'चिलमन' और 'मैमूना' ऐसे तीन एकांकी नाटक संकलित हुए हैं, जिनकी समस्या सेक्स (यौन) की है।

चुम्बक : 'चुम्बक' में गौतम नामक एक ऐसे कवि को प्रस्तुत किया गया है, जो एक साथ दो युवतियों को अपने से उलझाये हुए है। उन दोनों में पहली है—अवकाश-प्राप्त सेशन जज की कन्या गोपा, जो विज्ञान की छात्रा है और कवि गौतम के आकर्षण की डोरी से बँधी हुई इस घोर देहात में आयी है और दूसरी है साहित्यिक अभिरुचि वाली सरिता। सरिता का गौतम के साथ परिचय तब हुआ था, जब उसने अपनी पहली कविता को गौतम के पास संशोधनार्थ भेजा था। गौतम के साथ उसका परिचय पत्राचार के माध्यम से है। आमने-सामने होने पर शायद वे एक दूसरे को पहचान भी न सकें। सरिता का भावुक मन गौतम की ओर चुम्बक के आकर्षण की भाँति तब खिंच आया, जब अपने एक पत्र में कवि ने उसे लिखा—'बस जीवन का चक्कर चल रहा है। घूमे जा रहा है। मेरी बेकली या उदासी के लिए वह रुकेगा नहीं। लेकिन सरिता! यह अजीब बात है कि मैं कभी-कभी उसे एकदम निश्चल पाता हूँ, ठीक उसी प्रकार जैसे यह विशाल धरती घूम रही है और हमें पता भी नहीं चलता है। फिर कभी-कभी लगता है, जैसे जीवन एक अथाह सागर है—ठहरा और रुका हुआ—और मेरी विवश घड़ियाँ असहाय इसमें हाथ-पैर मार रही हैं।'[1] सरिता इस पत्र को पढ़, कवि के अकेलेपन के दुःख को बाँटने के लिए मिन्टगुमरी से चल पड़ती है। रास्ते में वह यात्रा की क्लान्ति मिटाने के लिए गोपा के उस बँगले पर टिक जाती है, जहाँ गोपा से मिलने के लिए इस आँधी-पानी के थपेड़े सहता हुआ कवि गौतम चला आया है। गोपा को सरिता के विषय में जान कर यह लगता है कि गौतम कवि तो है ही, शिकारी भी है। गौतम सरिता के विषय में सफ़ाई देता हुआ कहता है 'अरे वह

१. चरवाहे—उ० ना० अश्क—पृ० ६८

तो एक पागल रूमानी लड़की है, सपनों की दुनिया में बसने वाली—और मैंने उसके रोमांस को तोड़ना उचित नहीं समझा।'[1] सरिता गौतम को जानती-समझती नहीं। इससे वह यह नहीं सोच पायेगी कि शिकारी गौतम के हाथ उसकी क्या दुर्गति हो सकती है। लेकिन गोपा अब जान गयी है कि काव्य-संसार का दुःखी, उदास, व्यथित-हृदय कवि गौतम यथार्थ जगत का वैसा हँसमुख शिकारी है, जिसे अपने शिकार को फँसाने में रस मिलता है और जो अपने शिकार का तड़फड़ाना देख कर ज़रा भी नहीं पसीजता। चुम्बक का जादू सरिता के लिए बना रह जाता है। लेकिन गोपा के लिए तो वह टूट गया है। गोपा की इस ट्रैजेडी से इसका भी आभास मिल ही जाता है कि आज नहीं तो कल उस रूमानी लड़की सरिता का स्वप्न-महल भी धराशायी होगा। जो गौतम गोपा के प्रति विश्वासघात कर सकता है, उसे सरिता से छल करते कितनी देर लगेगी।

अश्क को गौतम से शिकायत है कि वह कवि हो कर भी ऐसा छिछोरा है। कोमल-प्राण भावुक युवतियों का जीवन नष्ट करता है और स्वयं अपनी भी ट्रैजेडी रचता है।

चिलमन : 'चिलमन' शीर्षक एकांकी नाटक का नायक हरि भी एक भावुक कवि है और वह भी एक साथ दो स्त्रियों से खेल रहा है। एक उसकी पत्नी किरण है और दूसरी है शशि। किरण पिछले चार साल से बिस्तर पर पड़ी हुई है। उसकी रीढ़ की हड्डी में नासूर हो गया है। घर वाले रोगिणी से सर्वथा निराश हो चुके हैं। लेकिन हरि है, जो सारा-का-सारा दिन उसके सिरहाने परेशान-सा बैठा रहता है। किरण प्रति क्षण कंकाल होती जा रही है और हरि इन्जेक्शन दे-दे कर, प्लास्टर चढ़ा-चढ़ा कर उसे स्वस्थ करने की कोशिश करता जाता है। शशि का हरि के प्रति आकर्षण है। हरि के परिवार वाले भी चाहते हैं कि उसका सम्बन्ध हरि से प्रगाढ़ हो जाये। शशि हरि से मिलने आयी है। लेकिन हरि किरण को छोड़ कर एक पल के लिए भी शशि के पास नहीं आता। हरि का एक मित्र मनोहर हरि के व्यवहार से हैरान है। मनोहर को ऐसा लगता है कि किरण की पीड़ा से हरि अपनी कविताओं के लिए प्रेरणा हासिल करता है। उसका यह रसपान विचित्र है। मनोहर की हैरानी की दूसरी वजह यह है कि हरि, न तो शशि को अपनाता है और न छोड़ता है।

यह सत्य है कि मनोहर भी शशि से प्रेम करता है और फलतः वह ईर्ष्या-भाव से पागल हुआ जा रहा है। लेकिन यह भी उतना ही ठीक है कि उसने सत्य के एक सूक्ष्म धागे को पकड़ लिया है। उसका कहना है कि हरि अपनी रुग्णा पत्नी की बीमारी से सिर्फ़ इसलिए खेल रहा है कि उससे उसे कविता की प्रेरणा मिलती है और यह शशि को उसके और भी निकट ला देगी। हरि के चेतन अथवा अवचेतन में ही यदि सचमुच वही भाव बैठा हो, जिसकी ओर मनोहर ने इशारा किया है तो निश्चय ही हरि

---

१. चरवाहे—उ० ना० अश्क—पृ० ८१

एक जघन्य अपराध कर रहा है।

हरि का कोई आकर्षण शशि के प्रति है या नहीं, इस प्रश्न पर तो दो मत हो भी सकते हैं। परन्तु यह तो सिद्ध ही है कि शशि का हरि के प्रति आकर्षण है! किरण अपनी अवचेतन-स्थिति में अनुभव करती है कि शशि चिलमन बन कर उसका प्रकाश ले रही है, वह उसकी रोशनी ले लेने के लिए गहरा नीला टाट रँग रही है[1] और भावना के इस बोझ को उसका कंकाल-प्राय शरीर सह नहीं पाता और वह मर जाती है। उसके मरणोपरान्त हरि को अपने पर पछतावा होता है और वैसी ही स्थिति में वह निश्चय करता है कि उसे शशि के चिलमन की जरूरत नहीं, शशि उसकी दुनिया में अब कभी नहीं आ सकती।

हरि से हमें शिकायत हो सकती है कि वह किरण को यदि इतना ही चाहता था तो आखिर शशि को उलझाये वह क्यों रहा? किरण के जीवन-काल में शशि के प्रति उसका आकर्षण और किरण के मरणोपरान्त उसका शशि के प्रति वह विकर्षण उसकी अस्थिर चंचल वृत्ति का परिचायक है। प्रेमी हृदय को इतना दोलायमान नहीं होना चाहिए, ऐसा सहसा-प्रवर्त्ती नहीं होना चाहिए। और फिर हरि तो कवि है। उसके व्यवहार में तो थोड़ा वैशिष्ट्य होना ही चाहिए। नाटककार को खेद है, कवि हरि अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग नहीं रह सका।

मैमूना : 'मैमूना' शीर्षक एकांकी में आमना नामक एक स्त्री है, जिसे साजिद की सम्पत्ति और अरशद के सौन्दर्य से प्रेम है। सम्पति और सौन्दर्य के इस संघर्ष में विजय होती है सम्पत्ति की और आमना साजिद की बेगम होती है। साजिद को वह प्यार नहीं कर पाती बल्कि उससे पूरी घृणा करती है। साजिद के साथ रहते उसे एक बेटी पैदा होती है, जिसका नाम है—मैमूना। इस बेटी से भी वह नफ़रत करती है। कुछ दिनों के बाद साजिद की मृत्यु हो जाती है और आमना अरशद से विवाह कर लेती है। अब वह साजिद की सम्पत्ति और अरशद के सौन्दर्य दोनों की स्वामिनी है। अब आमना का परिचय होता है माजिद नामक तीसरे व्यक्ति से, जो अपनी तनख़्वाह की आधी रकम अपनी आमना भाभी के तोहफ़ों की भेंट करता है। अरशद के साथ रहते आमना को एक पुत्र उत्पन्न होता है—फ़रीद। मियाँ अरशद यह देख रहे हैं कि आमना ने अपनी हस्ती अलग बना ली है। धन-दौलत के बनावटी और बेजान अदब-आदाब की लहरों पर तैरने वाली हस्ती—आमना, ग़रीब, बेपरवाह और आज़ाद अरशद को सोसायटी के अदब-कानून सिखा कर पालतू कुत्ते की तरह लिये फिरना चाहती है। लेकिन अरशद इतना समझदार है कि वह यह जान ले कि आमना की निगाहों में अब उसकी इज़्ज़त पालतू कुत्ते की भी नहीं है।

इन नाटक की आमना एक ऐसी स्त्री है, जो सदा दोहरा जीवन व्यतीत करती रही। साजिद से ब्याह करके भी वह भावना रूप में अरशद की रही और जैसा कि

---

१. चरवाहे—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १०४

कौशल्या अश्क समझती हैं—मैमूना अरशद की ही बेटी है, जो आमना के गर्भ से तब पैदा हुई जब आमना साजिद की पत्नी थी। वैसे ही अरशद से ब्याह करके वह माजिद की प्रेमिका बनी रही और हो-न-हो फरीद माजिद से ही पैदा हुआ हो। इस तरह आमना अपने पति नामधारी व्यक्ति को सदा धोखा देती रही, उससे विश्वास-घात करती रही। आमना अपने यौन-सम्बन्ध के क्रम में असंयमित है, अस्थिर है। नित्य नये पुरुष की चाह, इस नारी पात्र को कुत्सित बनाती है और यही चाह उसके नैतिक पतन का कारण भी बनती है। उद्दाम यौन-भावना उसे भटकाती रही है और सदा भटकाती रहेगी। साजिद से अरशद और फिर माजिद जैसे उसके जीवन में आते गये वैसे ही दूसरे भी आते रहेंगे। सब पूछिए तो उद्दाम सेक्स की अतृप्त वांछा ने आमना को नारी भी रहने नहीं दिया है। भला जो स्त्री अपने ही पेट की कोमल बच्ची के प्रति घृणा-भाव रख सकती है, उस पर तरह-तरह से अत्याचार कर सकती है, वह नारी रह कहाँ पाती है।

सूखी डाली : 'सूखी डाली' अश्क का एक ऐसा नाटक है, जिसमें संयुक्त परिवार की समस्या को विचार का विषय बनाया गया है। ग्रैजुएट बेला, जो कभी रिश्तेदारों के बीच नहीं रही, दादा मूलराज के छोटे पोते नायब तहसीलदार परेश की बहू हो कर उस परिवार में रहने आयी है, जिसे एक इकाई बनाये, उस पर पूर्ण रूप से अपना प्रभुत्व जमाये दादा मूलराज उस महान वट की भाँति अटल हैं, जिसकी लम्बी-लम्बी डालियाँ अगणित घोंसलों को अपने पत्तों में छिपाये वर्षों से तूफानों और आँधियों का सामना किये जा रही हैं। छोटी पतोहू बेला के आने से कुटुम्ब के इस तालाब में इस प्रकार लहरें-सी उठने लगी हैं—जैसे स्थिर पानी में बड़ी सी ईंट गिरने से पैदा होती हैं। बेला ग्रैजुएट है और इससे गृहस्थी का मतलब सीमित परिवार समझती है, न कि सारा कुनबा। इधर दादा मूलराज के घर में सारा कुनबा एक विशाल वट-वृक्ष की विभिन्न डालियों के जैसा रहता है। बेला के स्वातन्त्र्य-भाव को उसके व्यक्तिवाद को इस परिवार में अपने लिए अवकाश नहीं दीखता। फिर सब से छोटी होने के कारण जब सभी उसे आदेश देते हैं तब उसका अहम्-भाव और भी कुंठित होता है। वह परेश से मिल कर अपनी गृहस्थी अलग करवाने का निश्चय करती है। लेकिन दादा जी के जीते जी यह तो होने से रहा। मूलराज का मँझला बेटा कर्मचन्द आ कर अपने पिता को बता जाता है कि छोटी बहू में दर्प की मात्रा ज़रूरत से कुछ ज़्यादा है। वह अपने मायके के घराने को इस घराने से बड़ा समझती है और इसे घृणा की दृष्टि से देखती है। कर्मचन्द को समझाते हुए दादा कहते हैं—'घृणा को घृणा से नहीं मिटाया जा सकता। बहू तभी पृथक् होना चाहेगी, जब उसे घृणा के बदले घृणा दी जायगी। लेकिन यदि उसे घृणा के बदले स्नेह मिले तो उसकी समस्त घृणा धुँधली पड़ कर लुप्त हो जायगी।'[1] परेश आ कर दादा से कहता है कि बेला का इस घर में मन नहीं लगता। दादा का बड़ा सीधा उत्तर है—'इतनी जल्दी उसका मन कैसे लग सकता है? मन लगता नहीं,

१. चरवाहे—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १५८-१५९

लगाया जाता है। वह बड़े घर से आयी है। नाते रिश्तेदारों में कभी रही नहीं। इस भीड़-भाड़ से वह घबराती होगी। इतने कोलाहल से वह ऊब जाती होगी। हम सब मिल कर इस घर में उसका मन लगायेंगे।'[1] अप ने सारे परिवार को दादा इकट्ठा कर कहते हैं—'छोटी वहू का मन यहाँ नहीं लगता। दोष उसका नहीं, दोष हमारा है। यहाँ उसका व्यक्तित्व दब कर रह गया है। बड़ा वास्तव में कोई उम्र से या दर्जे से नहीं होता। बड़ा तो बुद्धि से होता है, योग्यता से होता है। छोटी वहू उम्र में न सही, अक्ल में हम सब से निश्चय ही बड़ी है। हमें चाहिए कि उसकी बुद्धि से, उसकी योग्यता से लाभ उठायें। सब उसका कहना मानें, उससे परामर्श लें। यदि मैंने सुन लिया—किसी ने छोटी बहू का निरादर किया है, उसकी हँसी उड़ायी है, उसका समय नष्ट किया है तो इस घर से मेरा नाता सदा के लिए टूट जायगा।'[2] दादा मूलराज परिवार के सदस्यों में मँझली बहू और इन्दु को विशेष रूप से सतर्क रहने को कहते हैं। बेला परिवार की बदली हुई हालत पर हैरान है। कैसे हैं ये लोग, जो पल में तोला पल में माशा हो जाते हैं। वह ऊब कर परेश से कहती है—'मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं परायों में आ गयी हूँ। कोई मुझे नहीं समझता, किसी को मैं नहीं समझती। सब मुझसे ऐसा डरती हैं, जैसे मुर्गी के बच्चे बाज़ से। कोई मुझे काम को हाथ लगाने नहीं देता सब मेरा इस प्रकार आदर करती है मानो मैं ही सबसे बड़ी हूँ।'[3] अब परेश के हैरान होने की बारी है। वह बेला से कहता है—'तुम्हें शिकायत थी तुम सब का काम करती हो, अब सब तुम्हारा काम करते हैं। आदर, सत्कार, आराम—न जाने तुम और क्या चाहती हो।'[4]

लेकिन बेला यह आदर, सत्कार, सम्मान नहीं चाहती। वह चाहती है सब के साथ मिल कर काम करना। लेकिन दादा जी ने उसे काम करने की सुविधा नहीं दी है। वह दादा जी से ही शिकायत करती हुई कहती है—'दादा जी, आप पेड़ से किसी डाली का टूट कर अलग होना पसन्द नहीं करते पर क्या आप यह चाहेंगे कि पेड़ से लगी-लगी वह डाली सूख कर मुर्झा जाय ?'[5]

अश्क ने अनुभव कर लिया है कि अंग्रेज़ी शिक्षा के पाठ से भारत में व्यक्तिवाद बड़े ज़ोरों में खड़ा हो गया है। आज के नये ज़माने में परिवार की परिभाषा ही बदल गयी है और जिसे हम पहले परिवार कहते थे और और अब संयुक्त परिवार के नाम से जानते हैं, उसका बन्धन क्षण-क्षण टूट रहा है। दादा मूलराज जैसे पुरानी पीढ़ी के लोग भी जानते हैं कि संयुक्त परिवार की यह संस्था टूटने ही वाली है। लेकिन उनकी लालसा है कि उनकी अपनी ज़िन्दगी तक यह किसी तरह निभ जाय।

संयुक्त परिवार को चलाने के लिए कितनी सहिष्णुता, कितनी उदारता और दूसरों के मनोभावों को समझने की कितनी शक्ति और कितने [illegible] [illegible] की

---

१. २. ३. ४. ५. चरवाहे—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १६०-१६१, १६४-१६५, १७५-१७६, १७६, १७६

अपेक्षा होती है, इसका ज्ञान दादा मूलराज के चरित्र से प्राप्त हो सकता है। कहना नहीं होगा दादा मूलराज कितनी बड़ी जवाबदेही उठाये हुए है।

इस एकांकी की बेला, जिसके इर्द-गिर्द सारी कथा चक्कर काटती है ताड़ना, उपेक्षा, असहयोग के बीच घुटती है और फिर जब उसे आदर-मान मिलता है तब भी कुंठित होती है। वह उपेक्षा पा कर तो असन्तुष्ट थी ही, आदर और मान पा कर भी उतनी ही कुंठित है। यह विचित्र स्थिति है। उसके माध्यम से नाटककार ने उस खाई की ओर इशारा किया है, जो आज की शिक्षिता तथा अशिक्षिता अथवा अल्पशिक्षिता नारियों के बीच पड़ी हुई है। बेला का यह नया परिवार उस स्तर का नहीं है, जिसके परिवेश में वह पली है। वह देखती है, घर में नौकर तो है लेकिन वे फूहड़ है। इनसे काम लेने के बजाय अपना काम स्वयं करना उसे अधिक पसन्द है। घर में जो फ़र्नीचर हैं, वे बड़े बेडौल हैं, उनका इस्तेमाल करने से तो कहीं अच्छा है कि उनके बिना काम चला लिया जाय। परिवार के दूसरे सदस्य उसकी नवीनता की आलोचना करते हैं और बेला को ससुराल की पुराचीनता से शिकायत है। बस यही संघर्ष का कारण है। दादा जी समझ जाते हैं कि नयी रोशनी वाली बेला का मन इस घर में क्यों नहीं लगता। वे रास्ता निकालते हैं। समस्या का हल ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं। अब बेला को पूरा आदर-सत्कार मिलता है। लेकिन बेला फिर भी सन्तुष्ट नहीं है। असल में वह आदर-सत्कार की भूखी नहीं है, प्यार की भूखी है, जिसके न मिलने से वह अनुभव करती है कि वह मुर्झा कर सूख जायगी।

पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ

अश्क के 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' शीर्षक एकांकी संग्रह में उनके सात प्रहसनों का संग्रह किया गया है। इन प्रहसनों का सार वाक्य है :

> ग़म के लिए पड़ी है अभी एक उम्र अश्क
> लेकिन ये चन्द लम्हे तो आ हँस कर गुज़ार लें।

संग्रह में जो एकांकी संग्रहीत हुए हैं, वे हैं : पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ, कइसा साब कइसी आया, बतसिया, सयाना मालिक, तौलिये, कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन और मस्केबाज़ों का स्वर्ग।

इन नाटकों में समस्या की दृष्टि से सयाना मालिक, तौलिये, कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन और मस्केबाज़ों का स्वर्ग ऐसे हैं, जिनका विवेचन-विश्लेषण किया जाना चाहिए।

सयाना मालिक : समस्या-नाटकों की एक बड़ी विलक्षणता यह है कि रचना के महान होने के लिए विषय की गहनीयता कोई आवश्यक शर्त्त नहीं होती। साधारण-सी, जीवनगत स्थितियों और समस्याओं को ले कर भी उत्कृष्ट रचना सम्भव है और अश्क का 'सयाना मालिक' इस बात का प्रमाण है।

इस छोटे-से प्रहसन की मुख्य समस्या है—नौकर की समस्या। जैसे-जैसे देश में उद्योग-धन्धों का विकास हो रहा है, वैसे ही परिवार में काम करने वाले नौकरों का मिलना कठिन-से-कठिनतर होता जा रहा है। एक तो नौकर मिलते नहीं, जो मिलते हैं, वे टिकते नहीं और सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि उनमें ईमानदारी रह नहीं गयी है। पुराने संस्कार में पले लोग हैं, जो बिना नौकर के रह नहीं सकते।

मिस्टर गुप्ता के एक पड़ोसी हैं मिस्टर लीकू, जिनकी धर्मपत्नी को काम करने की आदत नहीं है, बस तिनका तोड़ना पहाड़ ढाने के बराबर है। मिसेज़ लीकू सदा नौकरों में रही हैं और आज उनके घर में नौकर नहीं है। कोई आता है भी तो दो-तीन दिनों से अधिक नहीं टिकता। पिछले कई दिनों से उनके घर नौकर नहीं है। जूठे बर्तन सारे-के-सारे रसोई घर में पड़े हैं। मिसेज़ लीकू की आत्मा बर्तन मलने की कल्पना-मात्र से कूच कर जाती है। इससे घर में जितने बर्तन थे, निकलते गये और जूठे होते गये। संयोग से एक नौकर मिला है, उसे घर पर छोड़ मिसेज़ लीकू सिनेमा चली गयी हैं। नौकर नया है, इसका ख़याल कर इतना सयानापन जरूर किया है कि कमरों को बन्द कर दिया है। लेकिन किचेन खुला रह गया और उसमें सारे-के-सारे बर्तन थे। सिनेमा से लौटने पर पता लगता है कि नौकर सारे बर्तन ले कर चम्पत हो गया है। लीकू घबड़ा कर गुप्ता के यहाँ टेलीफ़ोन करने आते हैं। गुप्ता जैसे पड़ोसी और साथी इस चोरी पर सहानुभूति प्रकट करने के बदले, उनकी अनुभवहीनता का मज़ाक उड़ाते हैं। गुप्ता बताता है कि नौकर रखने वाले को सयाना होना चाहिए, नौकर को बहाल करते समय उसका नाम पता पूछ लेना चाहिए और जाँच कर लेनी चाहिए कि वह जो पता बता रहा है, वह गलत नहीं है; उसे पूरा वेतन नहीं देना चाहिए, महीने या आधे महीने का वेतन अपने हाथ में रखना चाहिए, दूसरे के नौकरों की बहुत संगति नहीं करने देनी चाहिए और छुट्टी भी बहुत कम देनी चाहिए। गुप्ता ने अपने व्यवहार के लिए इन्ही उपर्युक्त सूत्रों पर एक संहिता तैयार कर ली है और उसका दावा है कि वह सयाना मालिक है, ऐसा सयाना कि वह नौकर लेता तो है एम्प्लायमेन्ट एक्सचेंज के ज़रिये लेकिन उस पर चौकसी का खुफ़िया विभाग वाला काम स्वयं करता है। इससे उसे नौकर के हाथ धोखा खाने का ख़तरा नहीं है। लेकिन उसका यह दावा भ्रामक सिद्ध होता है। गुप्ता ने अपने नौकर हीरा को बर्फ़ लाने के लिए भेजा था। बहुत देर हो गयी उसे भेजे, पर वह लौटा नहीं। बाद में पता चलता है कि वह श्रीमती गुप्ता के ४०००) के गहने ले कर चम्पत हो गया है। सयाने मालिक का सयानापन इस तरह व्यर्थ सिद्ध होता है। यह ठीक है गुप्ता ने अपने नौकर हीरा का पिछले महीने का वेतन रोक रखा है। लेकिन ४०००) के गहने ले कर चम्पत होने वाले हीरा को एक महीने के वेतन की क्या चिन्ता हो सकती है? कहिए एम्प्लायमेन्ट एक्सचेंज के माध्यम से नौकर बहाल करना चाहिए तो यह भी व्यर्थ है। क्योंकि गुप्ता के यहाँ हीरा इम्पलायमेंट एक्सचेंज के ही माध्यम से आया था और ऊपर से उसके

विषय में खुफ़िया पुलिस का काम गुप्ता ने स्वयं किया था।

आज के नौकरों में ईमानदारी नहीं रह गई है और इस कारण उनसे प्रतिक्षण खतरा बना हुआ है। मुसीबत का अन्त यहीं नही है। जो चोरी होने पर पुलिस के के पास सहायता की उम्मीद ले कर जाइए तो वहाँ छूटते ही प्रश्न किया जाता है—'रखते समय, पुलिस की राय ले ली थी ?' ऐसे अवसर पर पुलिस नौकर के मालिक के साथ कैसा व्यवहार करती है, उसे मुखर बनाने के लिए नाटककार ने जस्टिस महेश सिंह का वृत्तान्त उपस्थित किया है। कहा गया है कि हाइकोर्ट का यह जज नौकर के भाग जाने पर एक बार थाने पहुँचा। वहाँ अपना परिचय दिये बिना जब उसने सनहा दर्ज कराना चाहा और थानेदार को खोजा तो थाने के सिपाही ने जवाब दिया—'जो कहना है, मुझसे कह, थानेदार से क्या सगाई करनी है ?' सिपाही बिना पूजा ग्रहण किये सनहा दर्ज करने तक के लिये तैयार नहीं था। थानेदार के आने पर जब चोरी की बात उससे कही गयी तो उसने गंदा-सा मज़ाक करते हुए कहा—'जा कर बीवी से पूछ। हम क्या कर सकते हैं ? जिससे आशनाई होगी उसी को उठा दिया होगा सब कुछ।'[1] यह तो ग़नीमत हुई कि जज साहब ने टेलीफ़ोन करके पुलिस कप्तान को बुला लिया और उसने सिपाही और थानेदार की वर्दी उतार ली। महेश सिंह हाईकोर्ट के जज थे। इससे पुलिस कप्तान दौड़ा चला आया। लेकिन साधारण नागरिकों को यह सुविधा कहाँ प्राप्त है। अस्तु, स्पष्ट है कि नौकर के मामले में पुलिस की सहायता से न्याय प्राप्त करना प्राय: असम्भव है।

आज हम जिस समाज में रहते हैं, उसमें अपनापन नहीं रह गया है। लीकू के घर चोरी हुई है और गुप्ता के घर बैठी उसकी मित्र-मण्डली लीकू का मजाक उड़ाती है, उसे सहायता नहीं देती। स्थिति ऐसी विषम हो गयी है कि पड़ोसी के नौकर को हेल-मेल बढ़ाने दीजिए तो परिणाम भुगत लीजिए।

इस प्रकार इस एकांकी में हमारे सामने रोज़ मर्रे के जीवन के तीन समस्याएँ उभर कर आती हैं :

(१) नौकर की समस्या

(२) पड़ोसियों की प्रीतिशून्यता की समस्या और

(३) पुलिस की बेपरवाही की समस्या।

इन सबसे दु:खद बात तो यह है कि हमारा मध्य-वर्ग आज के ज़माने में भी शरीर-श्रम के लिए तैयार नहीं है। यह वर्ग जब तक आत्म-निर्भर नहीं होगा, जब तक इसे नौकर की आवश्यकता बनी रहेगी तब तक यह ऐसे ही बेवकूफ़ बनता रहेगा और न्याय की पुकार करते-करते मर जायगा। मिसेज़ लीकू ने परिस्थितियों के साथ समझौता करना और सतर्क हो कर रहना सीख लिया होता तो स्थिति दूसरी होती। लेकिन जैसे मिसेज़ लीकू, वैसे ही गुप्ता ऐसे लोग हैं, जो सर्वनाश सह लेंगे लेकिन नौकर

---

१. पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ—उ० ना० अश्क—पृ० १३७

के बिना नहीं रहेंगे। अपनी पुरानी आदतें नहीं बदलेंगे।

तौलिये : 'अंजो दीदी' शीर्षक नाटक की अंजो के ही समान तौलिये की नायिका मधु भी 'मार्बिड' किस्म की औरत है। स्वच्छता और सफ़ाई विषयक उसकी सनक इस सीमा तक पहुँच गयी है कि उसने अपने घर के हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग तौलिया निकाल रखा है। बात यहीं खत्म नही होती। उसने अलग-अलग काम के लिए अलग-अलग तौलिया रखा है। इस तरह उसने अपने घर को पूरा तौलिया-खाना बना रखा है। मधु का पति बसन्त, 'अंजो दीदी' के श्रीपत जैसा है और वह अपनी पत्नी की इस सनक का प्रतिवाद करता रहता है। उसका कहना है कि स्वच्छता बुरी बात नहीं है और न सुरुचि ही बुरी चीज़ है। लेकिन मधु ने तो हर चीज को सनक की सीमा तक पहुँचा दिया है। इस सनक ने मधु को घृणा और केवल घृणा का पाठ पढ़ाया है। मधु अपनी ऐसी आलोचना से व्यथित हो कर कहीं चली जाने का निश्चय करती है। लेकिन इस बीच बसन्त को ही कार्यालय के काम से बाहर जाना पड़ता है और वह जिस दिन लौटने को कह गया था, लौट नही पाता। इधर मधु समझती है कि उसका पति उसकी सनक से ऊब कर घर छोड़ कर चला गया है। अस्तु, वह अपनी सनक को ही त्यागने का उपक्रम कर रही है। अब वह सोने वाले कमरे में ही खाना खाती है और पलँग पर ही औरों के संग चाय भी पीती है। लौट कर बसन्त जब देखता है कि मधु की आदतें बदली हुई हैं तब उसे बड़ा ही आह्लाद होता है। लेकिन पुराने संस्कार क्या इतनी शीघ्रता से जाते हैं? छूटते ही मधु बसन्त से कहती है—'आप सूखे और भीगें तौलिये में भी तमीज़ नहीं कर सकते?'[1]

इसी प्रकार की सनक को पराकाष्ठा पर ले जा कर अश्क ने अंजो दीदी का चरित्र-निर्माण किया था। यद्यपि तौलिये की समस्या अंजो दीदी की समस्या के आगे बढ़ नही पायी है तथापि तौलिये की एक विशेषता है। तौलिये में बताया गया है कि मधु की यह सनक उसे दूसरों से घृणा करना सिखाती है। अवश्य ही यह एक भयंकर बात है। इसलिए कि घृणा से प्रेम उत्पन्न नही होता—घृणा ही पैदा होती है और मनुष्य के समाज में घृणा का बढ़ना, फैलना कभी शुभ नहीं माना जायगा। आदमी की ज़िन्दगी घृणा पर स्थित नहीं रह सकती। इसलिए मधु के घर को घर बन कर रहना होगा, तौलिया-खाना नहीं।

कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन : 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' शीर्षक एकांकी संग्रह में 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्घाटन' और 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' नामक दो ऐसे एकांकी हैं, जिनमें सांस्कृतिक प्रश्न उठाये गये हैं।

हमारे देश में इधर कुछ वर्षों से उद्घाटन की चाल चल पड़ी है और इस कार्य के लिए या तो ऊँची थैली वालों की खोज की जाती है अथवा ऊँची कुर्सी वालों की।

---

१. पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १७४

उत्सव के आयोजक इसका विचार भी नहीं करते कि जिस व्यक्ति का उद्घाटन करने के लिए आवाहन किया जा रहा है, वह उस दायित्व का निर्वाह कर भी सकता है या नहीं।

प्रस्तुत एकांकी में कथा आती है कि एक छोटे-से कस्बे के उत्साही युवकों ने क्रिकेट का एक क्लब खोला है। उसे चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता है और इसलिए किसी धनी-मानी, व्यक्ति की तलाश करनी ही होगी। उसी कस्बे में एक लक्ष्मीपात्र रहता है—भानामल, जिसने वहीं एक डेयरी फ़ार्म खोल रखा है। यह भानामल ऐसे है तो बड़ा स्वार्थी पर नाम का भी भूखा है। क्लब के अधिकारी पैसों के भूखे हैं ही। बस भानामल के साथ उनका सम्बन्ध जुट जाता है। क्रिकेट क्लब के उद्घाटन का उत्सव होता है और भानामल उद्घाटन-भाषण करता है।

अपने भाषण-क्रम में वह अपने डेयरी फ़ार्म का इतिहास बताता है, साधिकार कहता है कि बिना स्वस्थ शरीर के कोई भी खेल नहीं खेला जा सकता और शरीर स्वस्थ होता है शुद्ध दूध-घी से, जो लाला भानामल के डेयरी में मिलता है।

इस प्रकार इस एकांकी में नाटककार ने उद्घाटन की औपचारिकता पर व्यंग्य किया है और बताया है कि उद्घाटन कराने का आयोजन केवल लोभ के कारण होता हैं। यदि कस्बे के क्रिकेट क्लब के सदस्यों को पैसों की आवश्यकता नहीं होती तो शायद क्लब का उद्घाटन और वह भी भानामल के हाथों कभी न कराया जाता। उद्घाटन करने वाले का व्याख्यान कितना निरर्थक हुआ करता है यह बताने के लिए लेखक ने भानामल के व्याख्यान का कुछ अंश नाटक में प्रस्तुत किया है।

हमारी सार्वजनिक संस्थाओं की दशा देख कर नाटककार खिन्न है और एक मानी में उनसे निराश भी है।

मस्केबाजों का स्वर्ग : हमारे आज के जीवन में सिनेमा का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। सिनेमा को जनरुचि को प्रभावित करने की बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त है। किसी भी देश में सिनेमा केवल मनोरंजन का साधन नहीं बना रह सकता। देश के सांस्कृतिक विकास में उसे महत्वपूर्ण ढंग से भागीदार होना पड़ता है। हमारे देश में वर्तमान शती ने सिनेमा उद्योग खूब विकसित हुआ और संसार के बहुत-से देशों से इस उद्योग के क्षेत्र में हम बहुत आगे हैं। लेकिन अश्क को इस उद्योग की स्थिति से बड़ी निराशा है। उनका ऐसा अनुभव है कि सिनेमा समाज के लिए वरदान सिद्ध होने के बदले अभिशाप सिद्ध हो रहा है। उसने कई ऐसी समस्याएँ खड़ी की हैं, जो हमारे राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन के आगे गहरे प्रश्न-चिह्न बन रही हैं।

इस विषय को ले कर अश्क ने एक एकांकी नाटक लिखा है—'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' जो 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' शीर्षक संग्रह में संकलित है। एक दूसरा है 'पक्का गाना,' जिसको उसी नाम के संग्रह ग्रन्थ में संकलित किया गया है।

'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' शीर्षक नाटक में फ़िल्म संसार का बड़ा ही यथार्थ चित्र

प्रस्तुत किया गया है। सिनेमा जगत की समस्या है बेरोज़गारी, भाग-दौड़ और मस्केबाज़ी। अश्क ने इन समस्याओं को अपने इस एकांकी में उघाड़ कर रख दिया है।

सिनेमा का एक ऐसा संसार है, जिसमें योग्यता की कोई पूछ नहीं होती है। प्रतिभावान कलाकार टापता रह जाता है और नाम कमा लेता है 'मस्केबाज़'। इस उद्योग में सफल होने का गुर अश्क ने इन शब्दों में बताया है :—साला जिसका सेठ कम्पनी ख़रीदे और जो साला कान्ट्रैक्ट दिला दे, उस पर सारे का सारा पालसन का डिब्बा ले कर पिल पड़े।[1] इसी मस्केबाज़ी से सिनेमा में बढ़ा जाता है। बिना तिकड़म भिड़ाये कोई सिनेमा-कलाकार नहीं हो सकता। इसी से प्रस्तुत एकांकी का देसाई पाँचू दा से कहता है—'पाँचू दा, कुछ बम्बे टाकीज में हमारा भी तिकड़म भिड़ा दो।'[2]

जैसा कि पहले कहा गया इस उद्योग में योग्य होने से कुछ होता-जाता नहो। 'पितलकर' कहता है, 'तुम अच्छा गीत लिखेंगा, हम अच्छा धुन बनायेंगा और बॉस ले आयेगा कोई अपने बानू के साले का साला और सब बंटाधार हो जायगा।'[3] यही स्थिति प्रतिभावान सफल डिज़ायन बनाने वाले की है, जिसको दुनिया जान भी नही पाती। यह इसलिए कि उसकी चीज़ ख़रीद ली जाती है और फिर वह किसी तिकड़मे का नाम उजागर करती है।

सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि सिनेमा में प्रतिक्षण कला और संस्कृति कं हत्या होती है। एक गीतकार है परवाना, जो शायद सिनेमा क्षेत्र में थोड़ा प्रसिद्ध हं गया है। उसने एक गीत की कड़ी दी है—'ईचक मोचक आँखें तेरी, आँख मटकते तारे ओ ईचक मीचक।' यह गीत ख़ूब चला भी है। पूछिये ईचक मीचक क्या है उत्तर मिलेगा—'पहले बॉयी आँख मारो और कहो ईचक, फिर दाँयीं आँख मारो औ कहो मीचक। कुक्की का डान्स हो और यह गाना! अगर हॉल में लोग आँखें मारते हुए गाने और ताली न बजाने लगें तो परवाना नाम नहीं।'[4]

स्पष्ट है, ऐसे गीत जनता की रुचि को कितना भ्रष्ट करते हैं। सिनेमा में जं नृत्य चलता है, वह निहायत घटिया किस्म का होता है और घोर असांस्कृतिक भी।

यदि कोई कलाकार फ़िल्मों में सुरुचि लाने का उद्योग करे तो वह कहीं क नहीं रहता। इस एकांकी में ऐसा भी एक हल्का संकेत है। कपूर सेन नामक ए सम्वाद लेखक है, जो सिनेमा में प्रयुक्त होने वाली भाषा का थोड़ा संस्कार करना चाहत है। लेकिन उसे किन शब्दों में याद किया जाता है यह देखिए—'यह कपूरसेन मह सभाई है। वह उर्दू का साला नाम फ़िल्म से मिटा देना चाहता है।'[5]

सिनेमा उद्योग के इस घोर पतन का कारण नाटककार की समझ में उसक निजी उद्योग होता है। पैसों का रोज़गार करने वाले, कला और संस्कृति का उन्नय नहीं कर सकते—यह सीधी-सी बात है। इस उद्योग का सांस्कृतिक स्तर तभी उन्न

१. २. ३. ४. ५. पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ—उ० ना० अश्क—पृष्ठ २०१ २०२, २०५, १६६, १६

होगा जब इसका स्वामित्व व्यक्ति को न मिल कर, समाज को मिलेगा। पूँजी लगाने वाला व्यक्ति नहीं होगा—देश की जनता होगी। तभी लेखक जो चाहेगा, दे पायेगा। आज तो उसे फ़र्मायश पूरी करनी पड़ती है और यह फ़र्मायिश भी होती है लक्ष्मी पुत्रों की, जिनका कला, साहित्य, संस्कृति और शायद देश से भी कोई नाता नहीं है।

पक्का गाना : 'पक्का गाना' एकांकी में इसी विषय को आगे बढ़ाया गया है और बताया गया है कि आज कला-संस्कृति, साहित्य, भाषा, संगीत अथवा स्वयं जीवन के उच्चादर्शों के प्रति सचमुच बड़ी निर्ममता बरती जा रही है। इस अनाचार के दो रंगस्थल हैं—एक है सिनेमा की रंगीन दुनिया और दूसरा है रेडियो।

अश्क ने इन दोनों केन्द्रों में रह कर जीवन के कटु अनुभव प्राप्त किये हैं। उन्होंने देखा है कि सफल कलाकार के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह गीतों में शब्दों का समझ-बूझ कर प्रयोग करे। नये गीतों की कुछ बानगी लीजिए : 'विरह अगन में आप जरत हूँ पी बिन करूँ कलोल।' इस गीत में 'आप' भर्ती का शब्द है, यह तो खैर ज़ाहिर ही है। मार्के का शब्द तो है 'कलोल', जिसका बिना सोचे-समझे प्रयोग किया गया है—विरह अगन में जल कर कलोल क्या किया जा सकता है? लेकिन यह कौन सोचे?

दूसरा उदाहरण है—'धीर धरो मन मानो सजनी, काहे व्याकुल निस दिन रजनी।' इसमें निस के बाद रजनी का प्रयाग फ़ालतू है लेकिन गीतकार क्या करे? उसे तो सजनी को गीत मे लाना ही होगा और जब सजनी है तो रजनी अनिवार्य है। ऐसे गीतों के लिखने वालों को गीतकार कहेंगे या घसियारा?

प्रश्न है गीतों में 'सजनी' लाते ही क्यों हैं? इसलिए कि डायरेक्टर को जनता की सस्ती भावुकता को जगाना है। कवि गीत में रखता है 'आली' तो डायरेक्टर कहता है—'हम सजनी माँगता है, इस जागा 'सजनी' होना चाहिए।'[1] फ़िल्मों में सजनी और 'साजन' ये दो ऐसे शब्द हैं, जिनके विषय में डायरेक्टर किसी की नहीं सुनेगा। जिस सहगान में 'साजन' और 'सजनी' हों उसका निर्देशन डायरेक्टर स्वयं करेगा, इसके लिए वह योग्य-से-योग्य संगीत निर्देशक या गीतकार पर भी निर्भर नहीं रह सकता। डायरेक्टर को अपनी फ़िल्म को 'बॉक्स आफ़िस हिट' बनाना है। इससे वह ऐसे गीतों को स्वयं 'ट्यून' करता है। गायक का निर्देशन करते हुए डायरेक्टर कहता है—'साजन को अप माँगता है, सजनी डाऊन होना चाहिए'[2] अर्थात् 'साजन' कहते समय स्वर को उठना और 'सजनी' कहते समय उसे गिरना चाहिए।

फ़िल्मों में जो गीत चलते हैं, उनका विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण देखिए—प्रसंग यह है कि एक मजदूर स्त्री को किसी पूँजीपति के शोषण की शिकायत करनी है और उसके मुँह में गीतकार ने यह बोल दिया है :

---

१. २. पक्का गाना—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १६५, १६६

'हाय यह मेरी जवानी आज थकन से चूर
लूट लिया, हाय लूट लिया ज़ालिम लूट लिया रे
तुमने मुझको बहाने से, जी के जलाने से, तेरे बहकावे से
बाज़ आयी।'

कहना नहीं होगा कि प्रसंग के प्रकरण में यह गीत कितना बेहूदा है।

गीतों का कोई मतलब भी होना चाहिए—इसकी परवाह भी सिनेमा में कहाँ की जाती है? ट्यून पर गीत यदि फ़िट बैठ जाय तो और कुछ देखने की जरूरत नहीं रह जाती—ऐसा सामान्य विश्वास फ़िल्म जगत में चलता आया है। तभी तो:

'ब्रज की गलियाँ
सुन्दर कलियाँ
करें रंगरलियाँ
राधे।
भौंरा सा रस लेते
मुरारी, मुरारी बिहारी गिरवरधारी—जैसे गीत चलाये जाते हैं। गीतों का सुनने वाला भी पंक्तियों को गहराई में नहीं जाता—वह केवल गला देखता है। गले का यह रोग साहित्य के क्षेत्र में भी बढ़ कर आ गया है। स्वर वाला निम्न-कोटि का कवि भी लोकप्रिय हो जाता है। यदि हास्य-रस का कवि हो तब तो सारी महफ़िल उसी की रहती है भले ही वह भोंदू कवि हास्य के विषय में बिल्कुल कोरा ही क्यों न हो।

हमारे लोक समाज को अभिरुचि को सिनेमा ने ऐसा गिरा दिया है कि थोड़े ढंग से गाने वाली कोई चमेली बाई आ जाय तो हुजूम उमड़ पड़े लेकिन कोई हातिम अली पक्का गाना गाये तो सुनने वाला एक न मिले।

नाटककार जानता है कि स्थिति को बदलने के लिए स्तुत्य प्रयास किया जा रहा है। लेकिन उसको आश्वासन नहीं है कि स्थिति बदलेगी। साहित्य में प्रगतिशीलता की चर्चा होने लगी है। लेकिन उससे भी अश्क को कोई विशेष आशा नहीं है। यह इसलिए कि प्रगतिशील कवियों की निगाहें भी पुरानी ही हैं। इतना ही परिवर्तन हो पाया है कि कविता में जहाँ पहले शाहज़ादी आती थी, वहाँ कुंजड़िन आने लगी है।

नाटकों की रचना की स्थिति यह है कि वे रचित होते हैं पत्नी के आगे ऐक्टिंग के साथ पढ़ने के लिए अथवा उससे हट कर अख़बारों में छपाने के लिए, खेलने के लिए तो कभी नहीं। रेडियो से प्रगतिशील नाटक के नाम पर जो नये नाटक प्रसारित होते हैं, उनके विषय में अश्क की शिकायत है कि 'उनमें ग़रीबी को बुरा कहा जाता है, ग़रीबी से जंग करके उसकी हस्ती मिटाने की बात कही जाती है पर प्रभाव उतना भी नहीं पड़ता, जितना उन पहले के नाटकों का, जिनमें ग़रीबी को बुरा न बताते हैं बल्कि

उसे ऊँचा दर्जा देते हैं।'[1]

अपने इस एकाकी नाटक के द्वारा अश्क ने सिनेमा और रेडियो द्वारा जो संस्कृति और साहित्य का अनिष्ट हो रहा है उसकी ओर विज्ञजनों का ध्यान आकृष्ट कराया है। यदि देश का अभ्युत्थान इष्ट है तो साहित्य-कला-संस्कृति-विषयक इन समस्याओं पर गम्भीरता के साथ विचार करना ही होगा। नाटककार का उद्देश्य एतद्विषयक प्रेरणा जगाना है।

अश्क के 'तूफान के पहले' शीर्षक एकाकी संग्रह में—तूफ़ान के पहले, बहनें, पापी, वेश्या, नया पुराना और कामदा—ऐसे नाटक है, जिनमें समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। अब हम उन नाटकों का क्रमशः विचार प्रस्तुत करते है।

तूफ़ान के पहले : सन् १९४७ के अगस्त महीने में अंग्रेजों ने भारत छोड़ने का निश्चय किया और भारत छोड़ने से पहले उन्होंने इस देश को दो टुकड़ों में बाँट कर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बनाया। भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग के 'दो राष्ट्रों के सिद्धान्त'[४] को स्वीकार नहीं करती थी और उसने अपना असाम्प्रदायिक रूप सदा अक्षुण्ण रखा। पाकिस्तान मुस्लिम लीग के घृणा-प्रचार का परिणाम था और इसलिए पाकिस्तान में साम्प्रदायिक बलवों के लिए उत्तेजना भी दी गयी। विभाजन का सबसे बड़ा अभिशाप जो हमें मिला, वह था साम्प्रदायिक विद्वेष, घृणा और उसके परिणाम-स्वरूप दंगा। पश्चिम पंजाब और पूर्व बंगाल से लाखों की संख्या में अल्पगत वर्ग के लोग विस्थापित हो कर भारत में शरणार्थी हुए। इनके साथ पाकिस्तान मे जो कुछ हुआ था, उसके कारण भारत में भी घोर प्रतिक्रिया हुई और साम्प्रदायिक बलवों की आग सारे देश में भड़क उठी।

अश्क के 'तूफ़ान के पहले' शीर्षक एकांकी की रचना इसी पृष्ठभूमि के साथ हुई है। इस नाटक मे घीसू नामक एक ऐसे हिन्दू का उपस्थित किया गया है, जिसका पालन-पोषण न्याज़ मियाँ नामक उस व्यक्ति ने किया है, जो एक ऐसे दरगाह का सेवक है, जहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी वर्गों के लोग दुआ माँगने के लिए समान रूप से खड़े होते है। उस कलन्दर फ़कीर ने न्याज़ में मानवता की भावना भरी थी, जिसके कारण उसने एक ग़ैर-मुसलमान बच्चे घीसू को पाल-पोस कर बड़ा किया। घीसू दर्ज़ी का काम करता है और झगड़े-लड़ाई से एकदम तटस्थ हो कर मेहनत मजदूरी करके गुज़र-बसर करता है। अपने आचार-व्यवहार से वह किसी को कष्ट नहीं होने देना चाहता। आज़ादी का झंडा वह अपने घर पर इसलिए नही फहराता कि उससे मुसलमानों के हृदय में प्रतिक्रिया होती और वे काले झंडे फहराने लगते। उसी के मुहल्ले में कुछ भैये रहते हैं, जिनको कहीं से खबर मिली है कि उनके कुछ आदमी मुसलमानों के हाथों मारे गये हैं और वे उनकी हत्या का बदला लेना चाहते हैं। न्याज़ मियाँ का बेटा है हयातू, जो काले झंडे फहराता चलता है। वह कहीं से एक छुरा खरीद

१. पक्का गाना—उ० ना० अश्क—पृष्ठ १८०

कर ले आया है और इन कारणों से असहिष्णु भैयों की नज़र पर चढ़ गया है। भैये न्याज़ मियाँ के घर पर हमला करते हैं और हयातू का वध करते हैं। वे अब न्याज मियाँ की ओर बढ़ते हैं लेकिन घीसू न्याज़ मियाँ की रक्षा के लिए चला आता है। वह असहिष्णु हिन्दू साम्प्रदायिकता की आग मे क्षार हो जाता है लेकिन प्राण रहते न्याज़ मियाँ का वध नहीं होने देता। घीसू इस प्रकार साम्प्रदायिकता की प्रज्वलित अग्नि में अपना होम कर गणेश शंकर विद्यार्थी का आदर्श मूर्त करता है। मरते समय वह अपनी पत्नी को हिदायत दे जाता है कि उसकी आत्मा के सन्तोष के लिए वह न्याज़ मियाँ की बच्ची बख्शू की रक्षा अपने बच्चों की तरह करे।

घीसू के महान बलिदान और न्याज़ की अमानुषिक हत्या के बाद भैयों को खबर मिलती है कि जिनकी हत्या के बदले में उन्होंने अभी हत्याएँ की हैं, वे सब-के-सब जीवित हैं। अब भैये एक प्रकार के सकते में आ जाते हैं। उनकी अन्तरात्मा ने उनको क्या कहा होगा—यह केवल समझने की बात है। भैयों का नेता गिरधारी अपने मन को यह कह कर झूठा सन्तोष देता है कि 'जो हुआ अच्छा हुआ, मदनपुरे में न सही भिंडी-बाज़ार और रहमान गली में बीसियों भैये कत्ल हुए।'[1]

नाटककार ने इस कथानक के बहाने बताया है कि साम्प्रदायिक दंगों में जो लोग पागलपन दिखाया करते हैं, उनको धूर्त, स्वार्थी नेता उत्तेजना की स्थिति में ले आते हैं और उनसे भयानक कृत्य करा लेते हैं। साधारण लोगो का यही दोष है कि आवेश के क्षण में उनका विवेक कुण्ठित हो जाता है, वे घीसू की तरह यह अनुभव नहीं कर पाते कि जो हो रहा है, बुरा है और उसे कभी नहीं होना चाहिए। नाटककार प्रेरित करता है कि जो लोग विवेकवान हैं, उनका दायित्व है कि वे सोचें कि इन दंगों को कैसे रोका जा सकता है। वह घीसू के बलिदान का हवाला दे कर यह सुझाता है कि यदि हमें देश-हित का ध्यान रख घृणा-भाव को दूर करना है, साम्प्रदायिक दंगों का नाम-निशान मिटाना है तो कुछ लोगों को घीसू बन जाना होगा। वह यह भी मानता है कि यह रोग इतना भयंकर है कि एकाध के किये कुछ होने वाला नहीं है। देश को एक बड़ी क्रान्ति करनी होगी। हमें एक तूफ़ान की अनिवार्य अपेक्षा है, जिसमें ये सब दादे, ये गुण्डे, ये धर्म और जात-पाँत के दर्प, ये ग़रीबों का लोहू चूसने वाले पूँजीपति, ये भोले-भाले लोगों को लड़वा कर अपना उल्लू सीधा करने वाले नेता—सब मिट जायेंगे—एक नयी दुनिया बसेगी, जिसमें ग़रीबों का, मज़दूरों का राज होगा, जहाँ हिन्दू मुसलमान न होंगे, काले गोरे न होंगे, सब इन्सान होंगे—भाई-भाई होंगे।'[2] घीसू का यह सपना जिस दिन पूरा हो जाय, उस दिन हमारे सामने सचमुच नयी दुनिया होगी। घीसू को इस सपने के पूरा होने का निश्चित विश्वास है। उसका यह विश्वास कोरी कल्पना नहीं है, हवामहल नहीं है। जब तक हमारे देश में न्याज़ जैसे व्यक्ति रहेंगे, जो विधर्मी बच्चे को अनाथ न होने देंगे और जब तक घीसू के जैसे सत्य

---

१. २. तूफ़ान के पहले—उ० ना०•अश्क—पृष्ठ ३८, ५०

कर ले आया है और इन कारणों से असहिष्णु भैयों की नज़र पर चढ़ गया है। भैये न्याज़ मियाँ के घर पर हमला करते हैं और हयातू का वध करते हैं। वे अब न्याज मियाँ की ओर बढ़ते हैं लेकिन घीसू न्याज़ मियाँ की रक्षा के लिए चला आता है। वह असहिष्णु हिन्दू साम्प्रदायिकता की आग में क्षार हो जाता है लेकिन प्राण रहते न्याज़ मियाँ का वध नहीं होने देता। घीसू इस प्रकार साम्प्रदायिकता की प्रज्वलित अग्नि में अपना होम कर गणेश शंकर विद्यार्थी का आदर्श मूर्त करता है। मरते समय वह अपनी पत्नी को हिदायत दे जाता है कि उसकी आत्मा के सन्तोष के लिए वह न्याज़ मियाँ की बच्ची बख्शू की रक्षा अपने बच्चों की तरह करे।

घीसू के महान बलिदान और न्याज़ की अमानुषिक हत्या के बाद भैयों को खबर मिलती है कि जिनकी हत्या के बदले मे उन्होंने अभी हत्याएँ की हैं, वे सब-के-सब जीवित हैं। अब भैये एक प्रकार के सकते में आ जाते हैं। उनकी अन्तरात्मा ने उनको क्या कहा होगा—यह केवल समझने की बात है। भैयों का नेता गिरधारी अपने मन को यह कह कर झूठा सन्तोष देता है कि 'जो हुआ अच्छा हुआ, मदनपुरे में न सही भिंडी-बाज़ार और रहमान गली में बीसियों भैये कत्ल हुए।'[1]

नाटककार ने इस कथानक के बहाने बताया है कि साम्प्रदायिक दंगों में जो लोग पागलपन दिखाया करते हैं, उनको धूर्त, स्वार्थी नेता उत्तेजना की स्थिति में ले आते हैं और उनसे भयानक कृत्य करा लेते हैं। साधारण लोगों का यही दोष है कि आवेश के क्षण में उनका विवेक कुण्ठित हो जाता है, वे घीसू की तरह यह अनुभव नहीं कर पाते कि जो हो रहा है, बुरा है और उसे कभी नहीं होना चाहिए। नाटककार प्रेरित करता है कि जो लोग विवेकवान हैं, उनका दायित्व है कि वे सोचें कि इन दंगों को कैसे रोका जा सकता है। वह घीसू के बलिदान का हवाला दे कर यह सुझाता है कि यदि हमें देश-हित का ध्यान रख घृणा-भाव को दूर करना है, साम्प्रदायिक दंगों का नाम-निशान मिटाना है तो कुछ लोगों को घीसू बन जाना होगा। वह यह भी मानता है कि यह रोग इतना भयंकर है कि एकाध के किये कुछ होने वाला नहीं है। देश को एक बड़ी क्रान्ति करनी होगी। हमें एक तूफ़ान की अनिवार्य अपेक्षा है, जिसमें ये सब दादे, ये गुण्डे, ये धर्म और जात-पाँत के दर्प, ये ग़रीबों का लोहू चूसने वाले पूँजीपति, ये भोले-भाले लोगों को लड़वा कर अपना उल्लू सीधा करने वाले नेता—सब मिट जायेंगे—एक नयी दुनिया बसेगी, जिसमें ग़रीबों का, मज़दूरों का राज होगा, जहाँ हिन्दू मुसलमान न होंगे, काले गोरे न होंगे, सब इन्सान होंगे—भाई-भाई होंगे।'[2] घीसू का यह सपना जिस दिन पूरा हो जाय, उस दिन हमारे सामने सचमुच नयी दुनिया होगी। घीसू को इस सपने के पूरा होने का निश्चित विश्वास है। उसका यह विश्वास कोरी कल्पना नहीं है, हवामहल नहीं है। जब तक हमारे देश में न्याज़ जैसे व्यक्ति रहेंगे, जो विधर्मी बच्चे को अनाथ न होने देंगे और जब तक घीसू के जैसे सत्य

१. २. तूफ़ान के पहले—उ० ना०.अश्क—पृष्ठ ३८, ५०

के आग्रही बलिदानी हमारे बीच विद्यमान हैं तब तक हमें निराश होने की जरूरत नहीं। भविष्य के प्रति हम निश्चय ही आस्थावान रहें। क्षमा की यह तमिस्रा शेष होने वाली ही है और तब प्रकाश का पुंज हमारे सामने दमक कर उपस्थित होगा ही।

बहनें : 'बहनें' शीर्षक एकांकी में आज की पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से प्रभावित आधुनिकाओं के प्रेम और विवाह की समस्या को उपस्थित किया गया है। हमारे देश का सुखी समाज यह देख कर हैरान है कि हमारा नारी समाज कहाँ जा रहा है। प्रस्तुत एकांकी नाटक में रमा, निशा, कान्ति और सुहास नामक चार आधुनिकाओं के माध्यम से एकांकी की मुख्य समस्या को मुखर बनाया गया है। इन चारों में कान्ति और सुहास विवाहिता है और रमा और निशा, जो आपस में बहनें है, अविवाहिता हैं। ये चारों राजधानी दिल्ली में रहती हैं। रमा और निशा के विषय में इतने अपवाद दिल्ली में फैले हुए हैं कि लाख चाहने पर भी उन्हें ऐसा कोई योग्य मन-पसन्द पुरुष नही मिलता, जो उनसे विवाह करने के लिए तैयार हो। इस अपकीर्त्ति के कारण रमा निशा को साथ ले कर दिल्ली से इलाहाबाद आती है और अंग्रेजी की आध्यापिका बन जाती है। रमा और निशा ने समझ लिया कि बिना दिल्ली से हटे उनका विवाह नही हो सकता और विवाह उनको अवश्य करना है।

सुहास और कान्ति का वैवाहिक जीवन सर्वथा असफल है। सुहास का विवाह एक ऐसे घर में हुआ है, जहाँ नये विचारों की रोशनी पहुँच नहीं पायी है। उस घर में दादी जी का शासन चलता है—माँ जी का भी नहीं। इधर सुहास ठहरी आधुनिका। अतः वह यह अनुभव करती है कि वह उन आधुनिकाओं की परम्परा में है, जिनकी किस्मत सुहागरात को ही फूट जाती है। सुहास का परिवार अपने पुराचीन संस्कारों को छोड़ नहीं सकता और सुहास के भी वश में यह नही है कि वह पुराचीनता को अंगीकार कर ले। परिणाम यह है कि वह परिवार में उस धन-सम्पत्ति की तरह व्यर्थ हो जाती है, जिसे बैंक की तिजोरी में रख दिया गया हो।

इधर कान्ति है, जिसका विवाह सलूजा साहब से हुआ है, जिसे न तो टेनिस से प्रति कोई अभिरुचि है और न कलब से कोई नाता। लेकिन कान्ति है, जिसे घुट्टी में टेनिस और क्लब का शौक मिला है। उस शौक को छोड़ना उसके वश में नहीं है।

ये आधुनिकाएँ अपने वैवाहिक जीवन के असफल होने से बहुत दुखी या चिन्तित भी नहीं हैं। यह इसलिए कि विवाह संस्था की पवित्रता, धार्मिकता और उच्चता के प्रति इनकी कोई अभिरुचि नहीं है। इनको विवाह की अपेक्षा सिर्फ़ इसलिए है कि समाज के कोप से विवाह की बेड़ी इनको बचाती है। विवाह इनके लिए ढाल है और उसके आगे इनको उस संस्था अथवा पति कहे जाने वाले व्यक्ति से कोई दिलचस्पी नहीं है। इनका जीवन सर्वथा उन्मुक्त है। और-तो-और अपने पति के बन्धन में भी ये नहीं हैं। कहना नहीं होगा कि ऐसी आधुनिकाएँ भारतीय समाज के लिए स्वयं एक

बड़ी जटिल समस्या हो रही हैं।

रमा और निशा की दिल्ली में जब खूब अपकीर्ति हुई तब उन्हें भी अपने लिए कोई ढाल पसन्द कर लेने की जरूरत दीखी। ऐसे कहने को रमा कह जाती है कि वह मुक्त जीवन से ऊब उठी है। उसकी शिकायत है कि उसने आज तक जिन पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखा है, वे उसके लिए खिलौने भर थे। व्यक्तित्वहीन इन खिलौनों से खेलते-खेलते वह ऊब उठी है। और अब चाहती है कि वह स्वयं खिलौना बन जाय। कोई उसे खेलाये, घुमाये, इधर-से-उधर पलट दे, घुमा दे, फिरा दे।

ऐसे यह सब जान कर लगता है कि रमा और निशा अपने स्वच्छन्द, मुक्त, बन्धन-हीन जीवन से सचमुच ऊब उठी हैं और नारी जीवन की सहायता को ग्रहण करना चाहती हैं। चूँकि दिल्ली मे पति प्राप्त करना उनके लिए सम्भव नहीं होता इसलिए वे इलाहाबाद चली आयी है, जहाँ उनकी अपकीर्त्ति-कथा फैली हुई नहीं है।

लेकिन सचाई यह है कि जैसे सुहास और कान्ति विवाह के रूप में एक ढाल खोजती रही हैं, वैसे ही रमा और निशा भी। दोनों बहनों को हरीश और शशिधर यह ढाल बनने के लिए मिल भी जाते है। हरीश की योग्यता और गुण का हवाला रमा के शब्दों में सुनिये—'हरीश धारा-प्रवाह अंग्रेज़ी बोलता है, प्रथम श्रेणी मे एम० ए० पास है, उसका रूप-रंग भी अंग्रेजों जैसा ही है और सबसे बड़ी बात यह है कि वह पति की अपेक्षा पत्नी के अधिकारों पर अधिक ज़ोर देता है। उसका विचार है कि ब्याह के बाद पत्नी को अपनी सत्ता अक्षुण्ण रखनी चाहिए। हरीश विश्वास करता है कि स्त्री और पुरुष सागर की दो लहरों के समान है—चाहे वे साथ-साथ मिल कर चलें और चाहे विलग हो कर अपनी धुन में बहे जायँ।[1]

आधुनिका रमा को इसके आगे चाहिए भी क्या? उसे पढ़ा-लिखा, सुन्दर अंग्रेज़ों जैसा पति मिल जाता है और पति भी ऐसा, जिसे पत्नी की गति-विधि पर किसी प्रकार का अंकुश रखने की जरूरत नही। वह एक क्षण के लिए अपने मंगेतर के विषय में यह शंका भी नही कर पाती कि अपनी पत्नी को इतनी आज़ादी देने वाला, उसके अधिकार का ऐसा सबल प्रहरी सचमुच उतना ही ईमानदार है, जितना होने का दावा वह रमा के आगे करता है। यदि वह सचमुच वैसा है तो देवदुर्लभ है, यदि नहीं तो शायद वह खेलने के लिए एक सुन्दर खिलौना चाहता है और खिलौना आखिर खिलौना ही है।

निशा को भी इलाहाबाद में अपनी पसन्द का एक व्यक्ति मिल जाता है—शशिधर जिसकी विशेषता है कि वह बेपरवाह है, उन बच्चों की तरह है, जो दिन भर पढ़, खेल, थक कर साँझ पड़े घर आते हैं तो बिना खाये-पिये सो जाते है, और माँ को उन्हें जगा-जगा कर खिलाना पड़ता है।[2] आधुनिका निशा को ऐसा ही पति चाहिए, जो अपनी पत्नी की गति-विधि से सर्वथा बेपरवाह हो और वैसा नासमझ भी हो।

स्पष्ट है, रमा और निशा अपनी जीवन-तरी के खेने वाले समर्थ नाविक-जीवन-

---

१. २. पक्का गाना—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ५३, ५६

साथी की खोज नहीं कर रही हैं। उनको भी यही ढाल चाहिए, जो कान्ति को प्राप्त है। अपनी गृहस्थी के विषय में इनकी जो कल्पना है, वह भी हमें यही समझने का अवसर देती है। इनका सपना है कि गृहस्थी ऐसी होनी चाहिए, जिसमें न अनबन हो, न गुस्सा हो, न झिड़की हो और न गाली हो।[1] यदि ये अधिक खुल पायें तो कहे उनके जीवन-क्रम में पति दखल न दे, बस मैंटलपीस की शोभा बढ़ाये।[2] ऐसी स्थिति में इन दोनों बहनों का अपनी सहेलियों से अन्तर क्या है ? और यदि अन्तर नहीं है तो इनका दाम्पत्य-जीवन सुखद क्योंकर होगा, जबकि इनकी सहेलियों का जीवन दाम्पत्य-जीवन की जानी-मानी कसौटी पर सफल नहीं है। कह सकते हैं इन चारों की इस विषय में एक-सी स्थिति नहीं है। कान्ति और सुहास को अपने दाम्पत्य-जीवन की सफलता-विफलता की परवाह ही नहीं है, जबकि रमा और निशा यह सुन कर कि रति और रजनी के हाथों वे जीवन की यह बाज़ी हार जाती हैं, मर्माहित होती हैं। यह ठीक है कि कान्ति और सुहास से इस अर्थ में रमा और निशा थोड़ी भिन्न पड़ती हैं। लेकिन जरा यह सोचिए कि इनकी निराशा काहे के लिए है ? इसलिए कि इनको प्रेमी हरीश और शशिधर नहीं मिले ? नहीं, सिर्फ़ इसलिए कि इनको वह ढाल नहीं मिल पायी, जिसे पाने के लिए ये दिल्ली से इलाहाबाद आयी थीं। रमा और निशा के साथ सम्बन्ध बढ़ाने वाले और उनकी छोटी बहनों के साथ कार्निवल में चक्कर काटने वाले हरीश और शशिधर क्या रति और रजनी को ही सच्चे जीवन-साथी के रूप में प्राप्त होंगे—यह भी एक प्रश्न है। हमें तो यही दीखता है कि रति और रजनी, कान्ति और सुहास की संख्या ही बढ़ावेंगी और उन आधुनिकाओं का जीवन भी वैसे ही व्यर्थ जायेगा।

नाटककार इस प्रकार आज के शिक्षित नारी समाज में जो मुक्त जीवन की लालसा बढ़ रही है, उसके अनौचित्य और हानिकर प्रभाव की व्यंजना छोड़ जाते हैं। हमारे समाज को यदि टूटना नहीं है, तो इस प्रश्न पर विचार करना है और साहस-पूर्वक कदम बढ़ाना है।

पापी : 'बहनें' शीर्षक एकांकी में आधुनिक नारी की मुक्त-भोग की जिस उद्दाम वासना का चित्र प्रस्तुत किया गया है, 'पापी' में उसके अपर पार्श्व को उपस्थित किया गया है।

शान्तिलाल की पत्नी छाया, यक्ष्मा से पीड़ित हो कर खाट से लगी है। शान्तिलाल यह जानता है कि 'छाया' शान्तिलाल की माँ के निर्मम दुर्व्यवहार का शिकार है। इसलिए 'छाया' की तीमारदारी के लिए माँ का भरोसा नहीं किया जा सकता। अस्तु, वह छाया की छोटी बहन रेखा को छाया की सेवा-सुश्रूषा के लिए अपने घर बुला लाता है।

धीरे-धीरे शान्तिलाल और रेखा निकट होते जाते हैं और छाया प्रतिक्षण अनुभव करने लगती है कि रेखा उसके सोने के संसार में आग लगाने वाली है। जिस

१.२. पक्का गाना—उ० ना० अश्क—पृष्ठ ६५, ६५-६६

दिन वह अपनी बहन की बेहयाई को अपनी आँखों देख लेती है, वह अचेत हो जाती है। यद्यपि वह यह जानती है कि वह कुछ ही दिनों की मेहमान है, तथापि अपने सुहाग में अपनी ही आँखों आग लगते वह कैसे देखे ? शान्ति लाल उसे अचेत देख कर माँ पर उबल पड़ता है और कहता है कि उसके ही दुर्व्यवहार और निर्दय आचरण ने छाया को इस दशा तक पहुँचा दिया है। माँ प्रत्युत्तर में सच्ची बात कह देती है कि छाया की इस दशा के लिए स्वयं शान्तिलाल ज़िम्मेवार है। यह इसलिए की उसने उसकी ज़िन्दगी में ही उस पर सौत को ला कर रख दिया है।

अब रेखा को अपनी बहन के प्रति अपने आचरण पर परिताप होता है। उसकी आत्मा कहती है कि उसे अपने पर नियंत्रण रखना होगा, अपनी प्यासी आँखों की तृष्णा को दबा देना होगा और उसे इस घर से दूर हो जाना होगा। शान्तिलाल उसकी चिरौरी करता हुआ करता है कि रेखा के बिना वह जीवित नहीं रह सकेगा। लेकिन रेखा का सुषुप्त विवेक अब तक जग चुका है और उसे यह दीख जाता है कि जो शान्ति लाल एक प्रेयसी के कंकाल पर बैठ कर, दूसरी से प्रेम कर सकता है—उसका रेखा के चले जाने से कुछ न बिगड़ेगा। वह पुरुष है और पत्थर-हृदय पुरुष का कोई भरोसा नहीं। रेखा को शान्तिलाल के घर से जाना ही पड़ेगा ताकि शान्तिलाल अपना कर्त्तव्य समझ सके। रेखा जानती है, उसके लिए कितना कठिन होगा, लेकिन उसे जाना ज़रूर है। इधर छाया अपनी उसी ममतामयी सास की गोद में, जिसके दुर्व्यवहार को उसके रोग का कारण कहा गया है, अपनी आखिरी साँसें ले रही है। रेखा के प्रति उसकी वासना का भंडा फूटने और रेखा के विवेक के जगने के बाद शान्तिलाल को यह हिम्मत नही होती कि वह घर में टिका रहे। अपने जीवन के इस अन्तिम क्षण में भी छाया की आकांक्षा यही है कि वह जन्म-जन्मान्तर में शान्तिलाल की ही बनी रहे। शान्तिलाल ने उसकी बड़ी सेवा की है और छाया की भावना कहती है कि उसका प्रतिदान इस जीवन में तो नहीं ही दे सकी है, अगले सात जन्म में भी न दे सकेगी। अपने अन्तिम क्षण में शान्तिलाल को अपने पास न देख कर वहाँ माँ से कहती है—'वे आयें तो उनके चरणों की धूल मेरे माथे पर लना देगा।'[1] छाया वह हिन्दू नारी है, जिसके लिए पति परमेश्वर होता है। छाया की मृत्यु के उपरान्त जब शान्तिलाल घर वापस आता है तब उसकी क्षुद्रता पहाड़ बन कर उसके सिर पर पड़ जाती है। वह अनुभव करता है कि छाया देवी थी और रेखा भी देवी है; पापी वह स्वयं है, जिसने इन दोनों देवियों के प्रति अक्षम्य अपराध किया है।[2]

शान्तिलाल पापी है—इसमें सन्देह कहाँ है ? एक ओर वह अपनी सती साध्वी पत्नी के साथ विश्वासघात करता है और यह विश्वासघात भी उस समय करता है, जब छाया को प्यार की बहुत ज़रूरत थी। दूसरी ओर वह रेखा को खिलौना बना कर खेलता है, उसके सहज भोलेपन का अनुचित लाभ उठाता है। शान्तिलाल के प्रेम में

१. २. तूफ़ान के पहले (पापी)—उ० ना० अश्क—पृ० ८३, ८४

वासना की जो विकृति है, वह रेखा के प्यार में तो है नहीं । उसका प्रेम तो सहज-सात्विक है । इसलिए शान्तिलाल के लिए यह आसान होगा कि जैसे वह छाया के बिना रह सकता है, वैसे ही रेखा के बिना भी रह ले । लेकिन रेखा के लिए प्रेम की निराशा को सह लेना आसान नहीं होगा ।

भारतीय घरों में बहुधा सास और पुतोहू के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण नहीं देखे जाते । छाया और उसकी सास का सम्बन्ध भी अच्छा नहीं था । शान्तिलाल समझता ही है कि इसी कटुता ने, सास के निर्दय व्यवहार ने छाया का जीवन-रस सोख लिया है । बड़ा अच्छा हो यदि हमारे समाज से सास-पतोहू के सम्बन्ध की यह कटुता मिट जाय । लेकिन अश्क इस कटुता को बहुत महत्वपूर्ण विषय नहीं मानते । वे जानते हैं कि सम्बन्ध की यह कटुता सतही है । ऐसे भी क्षण आते हैं, जब कटुता स्नेह में बदल जाती है । इस एकांकी की छाया को अपने जीवन के अन्तिम क्षण में सास की ममतामयी गोद ही सहारे के लिए मिलती है ।

छाया को जितनी शिकायत अपनी सास से हो सकती थी उससे कहीं अधिक अपने पति के विश्वासघात से हुई होगी । हिन्दू नारी तो धरती माता होती है; सब सहने के लिए वह बनी ही है । शान्तिलाल के प्यार और विश्वास के भरोसे छाया सास का अनाचार आख़िर आज तक सहती ही आयी थी । लेकिन वह अपने पति का विश्वासघात नहीं सह सकी और टूट गयी । सास के निरन्तर दुर्व्यवहार ने उसे क्षीण ज़रूर बनाया लेकिन वह टूटी न थी । पति की एक अवहेलना उसकी जीवन-कथा का ही अन्त कर देती है । हिन्दू नारी पति के जिस विश्वास के सहारे ज़िन्दा रहती है, उसके नष्ट होते ही फिर उसके लिए जीवित रहने का आधार ही कहाँ रहता है ?

अश्क ने इस प्रकार शान्तिलाल को छाया और रेखा दोनों की ट्रैजेडी के लिए उत्तरदायी ठहराया है और सुझाया है कि पुरुषको विवेकहीन नहीं होना चाहिए । उसे अपने यौन-सम्बन्ध के विषय में सतर्क संयम बरतना चाहिए अन्यथा वह आप डूबेगा और दूसरों को भी डुबोयेगा ।

वेश्या : 'वेश्या' शीर्षक एकांकी में उद्दाम वासना की अभुक्ता-वस्था में नारी की प्रतिहिंसा का चित्र उपस्थित किया गया है । जवाहर नामक एक वेश्या है, जिसकी मोती नामक एक बेटी है । जवाहर अपने घर आने वाले निरंजन नामक एक व्यक्ति को बेहद चाहती है । लेकिन वह हो जाता है मोती का प्रणयी और इस प्रकार जवाहर का अरमान पूरा नहीं हो पाता । अब जवाहर निरंजन से इसका बदला लेना चाहती है और मोती को आदेश देती है कि वह अपने प्रेम के मूल्य-स्वरूप निरंजन से उसकी सारी सम्पत्ति का अधिकार माँग ले । मोती समझ जाती है उसकी माँ निरंजन को राह का भिखारी बनाना चाहती है । लेकिन विवशता में वह माँ का कहा पूरा करती है और निरंजन भी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति मोती के नाम लिख देता है । जवाहर को बस इसी बात की तो प्रतीक्षा थी । वह विजय-दर्प में सजी-सँवरी निरंजन के आने की

प्रतीक्षा कर रही है। इधर मोती है, जो बिलकुल सादी साड़ी पहने निरंजन की गरीबी की साथिन बनने के लिए उत्सुक बैठी है। निरंजन से जब उसने माँ के कहने पर उसकी सम्पत्ति की माँग की थी तब उसने मोती से कहा था—'मुझे हँसी आती है, तुम बिल्कुल ऐसी बातें करती हो, जैसी दूसरी वेश्याएँ। तुम प्रेम को रुपये से तौलती हो ?'[1] उस समय तो मोती उससे यह न कह सकी थी कि रुपये उसे नहीं, उसकी माँ को चाहिएँ लेकिन आज वह निरंजन की ग़रीबी का साथ दे कर यह दिखा देगी कि दूसरी वेश्याओं जैसी नहीं है। उसका प्रेम सच्चा है और सम्पन्नता अथवा विपन्नता के बैरोमीटर पर वह घटने-बढ़ने वाला नहीं है।

जवाहर यह बाज़ी भी हार जाती है। सच तो यह है कि जवाहर भी निरंजन के धन की भूखी नहीं है। उसने अपनी आन्तरिक पीड़ा का मोती से उल्लेख करते हुए कहा है—'मोती मै दौलत नहीं चाहती थी, मैं भी मुहब्बत चाहती थी, लेकिन मुहब्बत अब मेरे भाग्य में कहाँ है ?'[2] जवाहर जानती है कि उसकी अवहेलना क्यों की जाती है। अपने इसी परिताप को वह यह कह कर व्यक्त करती भी है—'मुरझाये फूल को अब कौन गले लगायेगा।'[3] अब उस विगत यौवना के प्रति किसका आकर्षण हो सकता है ? जवाहर समझ जाती है कि यही सीमा उसकी विफलता का कारण है।

इस प्रकार इस नाटक में जवाहर को एक ऐसी उद्दाम वासना-ग्रस्त नारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो अपनी वासना की अपूर्ति के अनुभव के बाद आहत सिंहनी-सी चिंघाड़ उठती है।

कहा जा सकता है कि माँ और बेटी का एक ही व्यक्ति से प्रेम करना सर्वथा अनुचित होने के साथ ही अव्यावहारिक है। माँ-बेटी का नाता वेश्या-धर्म से भी ऊपर होता है और इसका स्मरण रखना चाहिए था। यह आक्षेप बहुत दूर तक ठीक है। अश्क शायद यह कहना चाहते हैं कि उद्दीप्त वासना की स्थिति में इन्सानियत की तमाम कीलें उखड़ जाती हैं और आदमी यह सोच-विचार करने की स्थिति में ही नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है।

अश्क मोती के उज्ज्वल चरित्र की अवतारणा करके हमें यह सोचने को प्रेरित करते हैं कि सारी वेश्याएँ कांचिनी नहीं होतीं—उनमें कोई प्रणयिनी भी हो सकती है।

समस्या-नाटकों में जहाँ जीवनगत समस्याओं की अवतारणा होती है, वहीं परम्परागत विचारों पर चोट भी की जाती है और किसी प्रश्न पर नये ढंग से सोचने के लिये प्रेरणा भी दी जाती है। अश्क ने प्रस्तुत एकांकी में यही किया है।

कामदा : 'कामदा' शीर्षक एकांकी की समस्या भी आधुनिका के विवाह की समस्या ही है। एक बड़े सम्पन्न दीवान साहब की पुत्री कामदा का विवाह होने वाला है। पिता ने एक पढ़े-लिखे, योग्य, सच्चरित्र युवक मुकुन्दबिहारी लाल को कामदा के लिए पसन्द किया है। लेकिन कामदा को यह सम्बन्ध स्वीकार नहीं है। यह इसलिए

---

१. २. ३. **पक्का गाना**—उ० ना० अश्क पृ० १२२, १३०, १३०

कि वह धन-ऐश्वर्य के बीच पली है और मुकुन्द किसी कॉलेज में डेढ़-दो सौ की नौकरी करने वाला ग़रीब प्राध्यापक है। कामदा की शिकायत है कि इन दिनों तो डेढ़ सौ में एक साड़ी भी नहीं आती। मुकुन्द की छोटी-सी नगण्य वेतन-राशि तो कामदा की कुल दो दावतों में ही पिट जायगी। फिर आगे क्या होगा ? दीवान साहब उसे समझाते हैं—'सुघड़ गृहिणी हो तो धन का अभाव नहीं खटकता और वैवाहिक सुख केवल धन-दौलत पर अवलम्बित नहीं है।'[1] लेकिन आधुनिका कामदा का विश्वास है कि किसी सीमित आय वाले व्यक्ति से विवाह करके वह कभी सुखी नहीं हो सकेगी।

कामदा ने विवाह के लिए कान्त नामक व्यक्ति को पसन्द किया है, जो हँसमुख है, सभ्य और संस्कृत भी है और सबके ऊपर धनी है। हैदराबाद में उसके कई मकान है, बड़ी जमींदारी है और वंश-प्रतिष्ठा है। देश-विदेश घूमे हुए है और इसलिए नये ज़माने को जानता भी है।

कामदा और कान्त अपने दाम्पत्य-जीवन का आरम्भ करने के पहले एक दूसरे से परिचित तो होते ही हैं, अपने मित्रों और पूर्व प्रेम-सम्बन्धों के विषय में भी एक दूसरे को अनजान रखना नहीं चाहते। इससे कामदा मुकुन्द के विषय मे कान्त को बता देती है। कान्त भी कामदा के प्रति विश्वासघात नहीं करना चाहता और उसको खुल कर बता देता है कि अपने योरोप-प्रवास के काल में वह वहाँ के जीवन के उद्दाम सागर मे पड़ा था। इतना स्खलन उसके चरित्र में ज़रूर है। लेकिन विवाह के दिन आज जब कान्त और कामदा एक नये जीवन का समारम्भ करने वाले हैं, कान्त चाहता है कि अतीत के पट को वे दोनों ही सदा के लिए बन्द कर दें और भविष्य के अनूठे संसार में प्रवेश करें। विवाह के कुछ समय पहले एक स्त्री उपस्थित होती है, जिससे कान्त के जीवन चरित्र का वह पट उघड़ता है, जिसे बन्द करने का निश्चय उसने अभी कुछ क्षण पहले किया है। वह स्त्री आ कर बताती है कि वह कान्त की तीसरी पत्नी है। अब कामदा को विदित होता है कि बाहरी चाकचिक्य और मुलम्मे को सत्य मान कर वह कितनी बड़ी भूल करने जा रही थी।

प्रस्तुत एकांकी में अश्क यह कहना चाहते है कि आज हम मुलम्मे की दुनिया में रहते हैं। युग का यही धर्म हो गया है कि आदमी अपनी असलियत को छिपाये। कान्त एक भ्रष्ट-चरित्र व्यक्ति है। उसके नाम पर उसकी तीन-तीन पत्नियाँ रो रही है। लेकिन यही व्यक्ति अपने अगल-बगल मुलम्मे का वातावरण सिरज कर कामदा की अनुभवहीन आँखों में सभ्य और सुसंस्कृत बना हुआ है। उसकी बातें इतनी प्रभावशाली होती हैं कि यही स्वाभाविक है कि आदमी उसकी ओर खिंच जाय। उसके मुलम्मे में इतना ज़ोर है कि कामदा जैसी अनुभवहीन नारी का उसके छलावे मे पड़ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। नारी प्रकृति से सरल होती है और कान्त जैसा चालबाज उसे किसी क्षण भी छल सकता है। अश्क को कामदा की अनुभवहीनता के प्रति सहानुभूति हो

१. पक्का गाना (कामदा) उ० ना० अश्क—पृष्ठ १३७

सकती है लेकिन कान्त की मुलम्मेबाज़ी को वे सह नहीं सकते ।

इस नाटक में एक प्रश्न यह भी उठाया गया है कि धन-सम्पन्नता और दाम्पत्य सुख के बीच कोई कार्य-कारण सम्बन्ध है या नहीं । दीवान साहब यह समझते है कि यदि गृहिणी सुघड़ हो तो दाम्पत्य जीवन में धन का अभाव नहीं खटकता । अश्क उनसे भी आगे जा कर कहना चाहते हैं कि धन-सम्पन्नता और दाम्पत्य-सुख में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है । यदि हम यह मान भी लें, यद्यपि मानना सहज नहीं होता, कि कान्त सम्पन्न ज़मींदार है, दक्षिण भारत में उसकी कई कोठियाँ हैं तो भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि क्या कान्त की धन-सम्पन्नता, कामदा को दाम्पत्य-सुख दे पाती ? मूल प्रश्न है कि धन-सम्पन्नता और सच्चरित्रता दोनों में से किसे दाम्पत्य-जीवन को अधिक सुखी बनाने की क्षमता प्राप्त है ? उत्तर स्पष्ट है । अश्क को इसके आगे इस व्यवस्था से शिकायत है, जिसके कारण सच्चरित्र मुकुन्द विपन्न है, और कामदा जैसी किसी आधुनिका पत्नी का खर्च नहीं चला सकता । अश्क को उन आधुनिकाओं से भी शिकायत है, जो मध्यम वर्ग की सीमाओं का स्मरण नहीं रखतीं और उत्तरदायित्वहीनता का प्रत्यक्ष प्रमाण हो जाती हैं । यदि उनका दाम्पत्य-जीवन सुखद नही हो पाता तो उसके लिए वे कम कसूरवार नहीं हैं ।

यदि कामदा आय की सीमा में रहने वाली सुघड़ गृहिणी होना चाहती तो मुकुन्द उसका दाम्पत्य-जीवन धन्य कर देता । पर हमारी आधुनिकाएँ यही तो नहीं चाहती और यही उनके जीवन की समस्या है ।

अश्क के उपरि-विवेचित नाटकों से प्रकट है कि उन्होंने अपने नाटकों के रूप में शिक्षित मध्यवर्गीय लोक-समाज की विविध उलझनों का अलबम तैयार किया है । उन्होंने अपने अनुभवों के बल पर यह माना है कि ऊपर से केसर-कुंकुम-चर्चित दीखने वाला हमारा यह मध्यम-वर्ग भीतर से नितान्त जर्जर और खोखला है । नाटककार अश्क ने इस मुमूर्षु वर्ग के पाखण्ड, आडम्बर और झूठ को उघाड़ कर हमें सुझा दिया है कि हमारे घरों में घुन लग गया है और हमारा समाज सन्निपात की स्थिति में पड़ा हुआ है । यदि हमने समय रहते अपने मुलम्मे को उतार नहीं फेंका तो भगवान ही जाने हमारा क्या होगा ।

अश्क ने अपने समस्या-नाटकों का कथानक परिवार और समाज के क्षेत्र से ग्रहण किया है । उनमें जो समस्याएँ आयी हैं, वे तद्नुरूप पारिवारिक और सामाजिक हैं । हमें यह स्मरण रखना होगा कि अश्क के नाटकों की समस्याएँ भारत के समग्र लोक-समाज की समस्याएँ नही हैं । वे एक ऐसे वर्ग की समस्याएँ हैं, जिसकी संख्या देश की जनसंख्या की विशालता के मुकाबले अत्यन्त क्षुद्र है । संख्या की दृष्टि से अति क्षुद्र हो कर भी यह वर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह इसलिए कि यह वर्ग सबसे अधिक भावुक और सम्वेदनशील है ।

अश्क के नाटकीय पात्र उस मध्यवर्ग से आते है, जो अपनी इज़्ज़त बनाये रखने में ही बेइज़्ज़त हो रहा है, जो मुसीबत की सबसे अधिक मार तो सहता है लेकिन उसकी पहली चिन्ता यही होती है कि लोग उसे उस रूप में न जानें, जैसा वह है। इस वर्ग की व्यथा का अश्क ने अत्यन्त निकट से अनुभव किया है। इसीलिए उनकी दृष्टि कहीं धुँधली नही पड़ती, उनकी पकड़ बड़ी अचूक होती है। 'अलग-अलग रास्ते' की राजो और रानो अथवा 'क़ैद' की अप्पी समग्र भारतीय नारी-वर्ग का प्रतिबिम्ब भले ही न हो, नारियों के उस वर्ग का सच्चा प्रतिरूप अवश्य है, जिसे 'आधुनिका' कहा जाता है। ये नारियाँ 'आधुनिका' इसलिए कहलाती है कि ये शिक्षिता हैं और पश्चिमी संस्कारों से पूर्णतः प्रभावित हैं।

अश्क को नारी हृदय की मौन व्यथा का प्रवर्त्ता कहा गया है। नारी की पीडा का बखान करने वाले साधारणतः नारी की दुर्दशा, हताशा और अधोगति के लिए पुरुष समाज को ज़िम्मेवार ठहराया करते है और नारी-अधिकार के वे वकील बन जाते हैं। अश्क की विशेषता है कि नारी-समस्या को उठा कर, वे हमारे सामने सत्य के उस रूप को प्रत्यक्ष करते हैं, जिसे हमने देखा ही नही है। अश्क ने जिस प्रश्न को उठाया है, उसके पर और अपर दोनों ही पक्षों के समर्थन में ऐसे अकाट्य तर्क दिये हैं कि हमें यह मानना ही पड़ता है कि नाटककार ने अपनी निर्लिप्त तटस्थता को कहीं बाधित होने नहीं दिया।

'स्वर्ग की झलक' की उमा के मुँह से अश्क ने पति की तानाशाही के विरुद्ध नारेबाज़ी कराते हुए यदि यह कहलाया है कि घर को नरक बनाने की सारी जवाबदेही पति पर है तो उन्होंने उसी नाटक के राजेन्द्र के मुख से आधुनिका की निन्दा में यह भी कहलाया है कि उसे प्यार की नज़र से देखा जा सकता है, पास बैठा कर सपनों का संसार बसाया जा सकता है, लेकिन जीवन के खरल में उसे पीस कर किसी काम में लाया नहीं जा सकता। दूसरे समस्या-नाटककारों से अश्क इस अर्थ में बड़े भिन्न पड़ते हैं। उनकी जैसी अनासक्ति अन्यत्र आसानी से नहीं मिलती।

नारी की समस्याओं में सबसे अधिक बेधक है दाम्पत्य-जीवन की विफलता की समस्या। अश्क ने भी इस समस्या को उठाया है। लेकिन उनकी भाव-भूमि सर्वथा निराली है। वे प्रश्न के उस पहलू की ओर खींच कर हमें ले जाते हैं, जिसे देख हमें लगता है कि बस यही तो बात है और इसी से अनजान रह कर तो हम दुःख भोगते हैं। अश्क ने सुझाया कि आज यह सम्भव नही रह गया है कि प्रत्येक पढ़ी-लिखी लड़की को विवाह के लिए ऐसा वर मिल जाय, जो पढ़ा-लिखा, सुसंस्कृत तो हो ही, लक्ष्मी का लाड़ला धनकुबेर भी हो। ऐसी स्थिति में शिक्षिता को परिस्थितियों के साथ समझौता करना ही होगा। और यदि यह समझौता हो जाय तो फिर दाम्पत्य-जीवन के प्रति असन्तोष न हो और न विफलता के वृश्चिक-दंशन का अनुभव ही। परिस्थितियों के साथ जो समझौता अश्क चाहते हैं वह हमारे घरों में विद्यमान शाप की छाया को

सकती है लेकिन कान्त की मुलम्मेबाज़ी को वे सह नहीं सकते ।

इस नाटक में एक प्रश्न यह भी उठाया गया है कि धन-सम्पन्नता और दाम्पत्य सुख के बीच कोई कार्य-कारण सम्बन्ध है या नहीं । दीवान साहब यह समझते हैं कि यदि गृहिणी सुघड़ हो तो दाम्पत्य जीवन में धन का अभाव नहीं खटकता । अश्क उनसे भी आगे जा कर कहना चाहते हैं कि धन-सम्पन्नता और दाम्पत्य-सुख में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है । यदि हम यह मान भी लें, यद्यपि मानना सहज नहीं होता, कि कान्त सम्पन्न ज़मींदार है, दक्षिण भारत में उसकी कई कोठियाँ हैं तो भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि क्या कान्त की धन-सम्पन्नता, कामदा को दाम्पत्य-सुख दे पाती ? मूल प्रश्न है कि धन-सम्पन्नता और सच्चरित्रता दोनों में से किसे दाम्पत्य-जीवन को अधिक सुखी बनाने की क्षमता प्राप्त है ? उत्तर स्पष्ट है । अश्क को इसके आगे इस व्यवस्था से शिकायत है, जिसके कारण सच्चरित्र मुकुन्द विपन्न है, और कामदा जैसी किसी आधुनिका पत्नी का खर्च नहीं चला सकता । अश्क को उन आधुनिकाओं से भी शिकायत है, जो मध्यम वर्ग की सीमाओं का स्मरण नहीं रखतीं और उत्तरदायित्वहीनता का प्रत्यक्ष प्रमाण हो जाती हैं । यदि उनका दाम्पत्य-जीवन सुखद नहीं हो पाता तो उसके लिए वे कम कसूरवार नहीं हैं ।

यदि कामदा आय की सीमा में रहने वाली सुघड़ गृहिणी होना चाहती तो मुकुन्द उसका दाम्पत्य-जीवन धन्य कर देता । पर हमारी आधुनिकाएँ यही तो नहीं चाहतीं और यही उनके जीवन की समस्या है ।

अश्क के उपरि-विवेचित नाटकों से प्रकट है कि उन्होंने अपने नाटकों के रूप में शिक्षित मध्यवर्गीय लोक-समाज की विविध उलझनों का अलबम तैयार किया है । उन्होंने अपने अनुभवों के बल पर यह माना है कि ऊपर से केसर-कुंकुम-चर्चित दीखने वाला हमारा यह मध्यम-वर्ग भीतर से नितान्त जर्जर और खोखला है । नाटककार अश्क ने इस मुमूर्ष वर्ग के पाखण्ड, आडम्बर और झूठ को उघाड़ कर हमें सुझा दिया है कि हमारे घरों में घुन लग गया है और हमारा समाज सन्निपात की स्थिति में पड़ा हुआ है । यदि हमने समय रहते अपने मुलम्मे को उतार नहीं फेंका तो भगवान ही जाने हमारा क्या होगा ।

अश्क ने अपने समस्या-नाटकों का कथानक परिवार और समाज के क्षेत्र से ग्रहण किया है । उनमें जो समस्याएँ आयी हैं, वे तदनुरूप पारिवारिक और सामाजिक हैं । हमें यह स्मरण रखना होगा कि अश्क के नाटकों की समस्याएँ भारत के समग्र लोक-समाज की समस्याएँ नहीं हैं । वे एक ऐसे वर्ग की समस्याएँ हैं, जिसकी संख्या देश की जनसंख्या की विशालता के मुकाबले अत्यन्त क्षुद्र है । संख्या की दृष्टि से अति क्षुद्र हो कर भी यह वर्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह इसलिए कि यह वर्ग सबसे अधिक भावुक और सम्वेदनशील है ।

अश्क के नाटकीय पात्र उस मध्यवर्ग से आते हैं, जो अपनी इज़्ज़त बनाये रखने में ही बेइज़्ज़त हो रहा है, जो मुसीबत की सबसे अधिक मार तो सहता है लेकिन उसकी पहली चिन्ता यही होती है कि लोग उसे उस रूप में न जानें, जैसा वह है। इस वर्ग की व्यथा का अश्क ने अत्यन्त निकट से अनुभव किया है। इसीलिए उनकी दृष्टि कहीं धुँधली नहीं पड़ती, उनकी पकड़ बड़ी अचूक होती है। 'अलग-अलग रास्ते' की राजो और रानो अथवा 'क़ैद' की अप्पी समग्र भारतीय नारी-वर्ग का प्रतिबिम्ब भले ही न हो, नारियों के उस वर्ग का सच्चा प्रतिरूप अवश्य है, जिसे 'आधुनिका' कहा जाता है। ये नारियाँ 'आधुनिका' इसलिए कहलाती हैं कि ये शिक्षिता है और पश्चिमी संस्कारों से पूर्णतः प्रभावित हैं।

अश्क को नारी हृदय की मौन व्यथा का प्रवर्त्ता कहा गया है। नारी की पीड़ा का बखान करने वाले साधारणतः नारी की दुर्दशा, हताशा और अधोगति के लिए पुरुष समाज को ज़िम्मेवार ठहराया करते हैं और नारी-अधिकार के वे वकील बन जाते हैं। अश्क की विशेषता है कि नारी-समस्या को उठा कर, वे हमारे सामने सत्य के उस रूप को प्रत्यक्ष करते हैं, जिसे हमने देखा ही नहीं है। अश्क ने जिस प्रश्न को उठाया है, उसके पर और अपर दोनों ही पक्षों के समर्थन मे ऐसे अकाट्य तर्क दिये है कि हमे यह मानना ही पड़ता है कि नाटककार ने अपनी निर्लिप्त तटस्थता को कही बाधित होने नहीं दिया।

'स्वर्ग की झलक' की उमा के मुँह से अश्क ने पति की तानाशाही के विरुद्ध नारेबाज़ी कराते हुए यदि यह कहलाया है कि घर को नरक बनाने की सारी जवाबदेही पति पर है तो उन्होंने उसी नाटक के राजेन्द्र के मुख से आधुनिका की निन्दा में यह भी कहलाया है कि उसे प्यार की नज़र से देखा जा सकता है, पास बैठा कर सपनों का संसार बसाया जा सकता है, लेकिन जीवन के खरल में उसे पीस कर किसी काम में लाया नहीं जा सकता। दूसरे समस्या-नाटककारो से अश्क इस अर्थ में बड़े भिन्न पड़ते हैं। उनकी जैसी अनासक्ति अन्यत्र आसानी से नही मिलती।

नारी की समस्याओं में सबसे अधिक बेधक है दाम्पत्य-जीवन की विफलता की समस्या। अश्क ने भी इस समस्या को उठाया है। लेकिन उनकी भाव-भूमि सर्वथा निराली है। वे प्रश्न के उस पहलू की ओर खींच कर हमें ले जाते हैं, जिसे देख हमें लगता है कि बस यही तो बात है और इसी से अनजान रह कर तो हम दु:ख भोगते हैं। अश्क ने सुझाया कि आज यह सम्भव नही रह गया है कि प्रत्येक पढ़ी-लिखी लड़की को विवाह के लिए ऐसा वर मिल जाय, जो पढ़ा-लिखा, सुसंस्कृत तो हो ही, लक्ष्मी का लाड़ला धनकुबेर भी हो। ऐसी स्थिति में शिक्षिता को परिस्थितियों के साथ समझौता करना ही होगा। और यदि यह समझौता हो जाय तो फिर दाम्पत्य-जीवन के प्रति असन्तोष न हो और न विफलता के वृश्चिक-दंशन का अनुभव ही। परिस्थितियों के साथ जो समझौता अश्क चाहते हैं वह हमारे घरों में विद्यमान शाप की छाया को

बहुत दूर तक हटा पायेगा—इसमें सन्देह नहीं है।

अश्क को ऐसा लगता है कि पश्चिमी शिक्षा का कोई वास्तविक लाभ नारी-समाज को प्राप्त नहीं हो सका। अश्क सोचते हैं कि शिक्षा को तो चाहिए था मानस को उन्नत करना, आत्म-विश्वास बढ़ाना और सेवा-संस्कार की सद्वृत्ति को जगाना। लेकिन शिक्षा ने नारी को स्वार्थिनी और आत्मरत बना दिया है। स्पष्ट है, नारी ने पश्चिमी शिक्षा से कुछ पाया नहीं। वह फ़ैशन-परस्ती को [illegible] और भारतीयता के प्रति निष्ठा को अशिक्षा का संस्कार समझती है। अश्क को श्रीमती राजेन्द्र और श्रीमती अशोक जैसी आधुनिकाओं से शिकायत यह है कि वे मस्जिद में चिराग़ जलाने तो चली है; लेकिन कभी यह नहीं देख पाती कि उनके अपने घर में भयंकर अँधेरा है। सुदृढ़ और भव्य प्रासाद तो वे खड़ी करने चली हैं, लेकिन यह नही देख रही हैं कि उनके प्रासाद की नींव से कितनी ईंटें खिसक चुकी हैं।

अश्क यह नही गवारा कर पाते कि हमारी गृहदेवियाँ घर के प्रति अपने प्रकृत उत्तरदायित्व की अवहेलना करें। पश्चिमी शिक्षा के संस्कार के परिणाम-स्वरूप सदियों से चली आने वाली हमारी संयुक्त परिवार-व्यवस्था विघटित होने लगी है और अश्क को यह देख हैरानी होती है। आज के शिक्षित लोग ऐसा समझने लगे हैं कि गर्दन तक दलदल में फसे हुए व्यक्ति को बाहर निकलने के लिए उतना ज़ोर नही लगाना पड़ता, जितना सम्मिलित परिवार के कीचड़ में टखनों तक धँसे हुए आदमी को। 'अलग-अलग रास्ते' की रानी और 'सूखी डाली' की छोटी बहू यह नही जानतीं कि संयुक्त परिवार में निभने के लिए कितनी सहिष्णुता और धीरता की अपेक्षा होती है। 'सूखी डाली' का दादा मूलराज उनके सामने सचमुच एक विचित्र विलक्षण व्यक्ति ही सिद्ध हो सकता है—ऐसा जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकतीं। अवश्य ही अश्क ने दादा मूलराज की अवतारणा इनकी शिक्षा के लिए की है।

अश्क की शिकायत है कि पुरुष अपनी अहमन्यता और स्वार्थपरता के कारण नारी को समझ ही नहीं पाता। 'उड़ान' की माया अश्क के विचार को ही दुहराती हुई कहती है—'तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुममें से किसी को आवश्यकता नहीं।'[1]

कथावस्तु के चयन के विषय में अश्क को दूसरे समस्या-नाटककारों से स्पष्ट भिन्नता है। वे कथानक से अधिक नाटकीयता का ध्यान रखते हैं। कथा की माँसलता का तनिक भी आग्रह उनको नहीं है। बात यह है कि उनके आगे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है—समस्या की प्रस्तुति का और समस्या को वे परिस्थिति की योजना, सांकेतिकता और चरित्र के निदर्शन के द्वारा उभारा करते हैं। स्वभावतः कथा की अपेक्षा उनको एक निश्चित सीमा तक ही हो सकती है। इस विषय में स्ट्रिंडबर्ग शायद उनके आदर्श रहे हैं। नाटक के कथानक के अशरीरीपन के जिस आदर्श को अश्क ने

१. उड़ान—उपेन्द्रनाथ अश्क—पृ० १५८

ग्रहण किया, उसकी आलोचना करते हुए श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने आपत्ति की है कि 'कहानी से पल्ला छुड़ा कर भागना दर्शक को ऐसे जंजाल में फाँसने के तुल्य है, जो उसे नाटक से विरक्त कर सकता है।'[1] सच पूछिये तो समस्या की प्रस्तुति की दृष्टि से एकांकी ही बड़े नाटकों की अपेक्षा अधिक अनुकूल पड़ता है। कथा का अशरीरीपन एकांकी का दोष नहीं होता, प्रत्युत् उसका गुण ही होता है। लेकिन बड़े नाटकों में परिस्थितियों की योजना, सांकेतिकता और चरित्र के प्रदर्शन से गति की प्रतीति कराने का अश्क का विधान एक प्रकार का व्याघात ही उत्पन्न कर सकता है, नाटकीय कला में निखार नहीं ला सकता। कथा के प्रति समस्या-नाटककार भी निरपेक्ष नहीं रह सकता—यह तो अश्क को भी मानना ही चाहिए।

हमें तो ऐसा भी लगता है कि अश्क की प्रतिभा खुलती है—उनके एकांकी नाटकों में ही; बड़े नाटक तो वे यों ही लिख गये हैं। 'अंजो दीदी' नाटक में इस विषय में एक बड़ा ही अच्छा प्रमाण है। अश्क ने पहले उसे एक एकांकी के रूप में रचा था; फिर बाद में अंजो की दूसरी पीढ़ी का वृत्तान्त उपस्थित कर उन्होंने उसे पूरा नाटक बनाया। समस्या और सम्वेदना की दृष्टि से यह फैलाव कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। नाटककार का कथ्य एकांकी में ही व्यक्त हो जाता है।

हिन्दी के समस्या-नाटकों में मुख्यतया उदर और यौन समस्याओं का विचार किया गया है। अश्क ने बताया है कि उदर और यौन की भूख से भी बड़ी भूख होती है अहं की भूख और इस भूख के वशीभूत हो कर आदमी ऐसे-ऐसे कृत्य कर जाता है, जैसे वह पेट और यौन-बुभुक्षा की दशा में भी नहीं कर पाता। अश्क ने इस भूख के दिलचस्प कारनामों को देखा है और उनसे उन्हें अपने नाटकों की रचना के लिए प्रेरणा तथा सामग्री मिली है।[2] अश्क के नाटकीय पात्रों की यह अहम्-बुभुक्षा बहुत स्पष्ट है और उसे सहज ही पहचाना जा सकता है।

अश्क ने अपनी ज़िन्दगी में बहुत ही अधिक भोगा है। यह स्वाभाविक है कि अश्क का पाठक उनसे यह आशा करे कि वे उसे ऐसे नाटक दें, जिसमें ज़िन्दगी की मार की कथा हो। अश्क के विशाल नाट्य-साहित्य में 'देवताओं की छाया में' और 'तूफ़ान के पहले'—ये ही दो नाटक हैं, जिनमें शोषित जीवन की कथा आयी है। तो क्या अश्क ने अपने पाठकों-प्रेक्षकों से अपनी मर्म कथा को छिपाया है? नहीं। बात यह है कि जीवन में जो उन्होंने भोगा है, उसकी पीड़ा किसी पात्र-विशेष में न सिमट कर, कहीं विशेष स्थान पर केन्द्रित न हो कर उनकी पात्र-कल्पना की जड़ में ही बीज-रूप जा पहुँची है जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनके नाटकीय पात्रों के विशाल समूह में उनकी यह पीड़ा फैल गयी है।

अश्क ने सामयिक-यथार्थ की विकृतियों की कटु आलोचना की है और बुराइयों

---

१. नाटककार अश्क—जगदीशचन्द्र माथुर—पृ० १८
२. नटरंग : वर्ष-१ : अंक-४—नाटककार अश्क से कुछ प्रश्न—पृ० ३८

को बदलने की प्रेरणा भी जगायी है। लेकिन वह कहीं उपदेशक बन कर नहीं आते। अश्क की विशेषताएँ हैं—उनके मनोविज्ञानिक चित्रण तथा उनकी सांकेतिकता, जिसका हिन्दी नाटकों में समारम्भ करने का श्रेय भी उनको ही है[1] और फिर उनके नाटकों में मिलने वाले पैने व्यंग्य। हमारे समस्या-नाटककारों में एक अश्क ही ऐसे हैं, जिनके व्यंग्य पर हम नाज़ कर सकते हैं। इस मानी में उनका स्थान बहुत ऊपर हो जाता है। अश्क को सामयिक-यथार्थ की बुराई करते समय उपदेशक इसलिए भी नहीं बनना पड़ता कि वे परिस्थिति-विश्लेषण के द्वारा समस्या का निरूपण करते हैं। समस्या-निरूपण के लिए अपेक्षित परिस्थिति की संयोजना के लिए उनको बहुत श्रम भी नही करना पड़ता। यह इसलिए कि उनका अपना जीवन ही ऐसा है, जिसके आवरण को ज़रा-सा हटा देने से ही वह परिस्थिति सामने आ जाती है, जिसकी समस्या की प्रस्तुति के निमित्त अपेक्षा है। माथुर जी ने ठीक ही कहा है कि 'अश्क को मध्यवर्ग की आर्थिक और मनोविज्ञानिक परिस्थितियों के विश्लेषण में लम्बे भाषणों का सहारा नही लेना पड़ता, वे परिस्थिति-विशेष के ऊपर से पर्दा उतार कर रख देते हैं।'[2]

इसी प्रकार अश्क ने शिल्प के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग करके हिन्दी नाटकों को एक निश्चित गरिमा दी है। शिल्प-विचार के क्रम में यथावसर हम उनके इस महत्व का आकलन करेंगे।

---

१. हिन्दी एकांकी : उद्‌भव और विकास—डॉ० रामचरण महेन्द्र—पृ० १६६

२. नाटककार अश्क—पृ० १५

डॉ० राम कुमार वर्मा

हिन्दी में पाश्चात्य शैली पर अभिनयोपयोगी एकांकी लिखने की परम्परा का श्रीगणेश सुविख्यात विद्वान, यशस्वी प्राध्यापक तथा भावुक कवि डॉ० राम कुमार वर्मा के एकांकी, 'बादल का मृत्यु' से हुआ। उनके एकांकी नाटकों में हिन्दी एकांकी को एक निश्चित दिशा मिल गयी। एकांकी नाटक की भावना डॉक्टर वर्मा के सामने ऐसी है, जैसे एक तितली फूल पर बैठ कर उड़ जाय।[1] उनके अनुसार एकांकीकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह जीवन की रेखाओं में रंग भर कर घटना या पात्रों के माध्यम से एक विशिष्ट सम्वेदना पर अँगुली धर दे।[2] वे नाटककार को जीवन का अभिन्न सखा मानते हैं—अर्थात् नाटककार से यह अपेक्षा करते हैं कि प्रेम और घृणा में हृदय के स्पन्दन की गति से उसके कान परिचित हैं। वह स्वयं जीवन की बहुत-सी 'धूसर भुजंग सी' पगडंडियों पर चल चुका है और उसे शायद ठोकरें भी लगी हैं।[3] वर्मा जी से पूछिये —नाटककार की बँधी मुट्ठी में क्या होता है तो वे उत्तर दे देंगे—'दो आँसू, एक हँसी, आधा चुम्बन।'[4] इस प्रकार नाटककार का कर्त्तव्य है—जीवन का अध्ययन करना। डॉक्टर वर्मा ने देखा है कि आज हमारे जीवन की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से होती है। प्रथम—हमारी संस्कृति की व्याख्या, द्वितीय—इतिहास और राष्ट्रीयता के प्रति आस्था और तृतीय—जीवन 'की दैनिक समस्याओं का हल।'[5] 'ऋतुराज' के इस प्रमाण पर डॉ० वर्मा के एकांकी नाटकों के रचना-विषय का भली-भाँति स्पष्टीकरण हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने डॉ० वर्मा के नाटकों के 'मूल प्रश्न' का निर्धारण करते हुए 'आधुनिक हिन्दी नाटक' शीर्षक अपनी पुस्तक में लिखा है—'रामकुमार के नाटकों का आधार प्राय: सामाजिक रोमांस है। उनके मूल प्रश्न भद्र परिवार के उच्च-शिक्षित व्यक्तियों के रंगीन

१. रेशमी टाई—मेरा अनुभव—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृ० १७
२. ऋतुराज—(परिचय) — —पृ० १३
३. ४. रेशमी टाई—(मेरा अनुभव) — —पृ० ५
५. ऋतुराज—(परिचय) — —पृ० १७

जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें एक हलका-सा रूप मोह और तज्जन्य प्रेम का गुलाबी रंग है।....आधुनिक भद्र-जीवन का प्रेम, ईर्ष्या, सन्देह, असन्तोष और दम्भ, जिसमें शिक्षा ने पालिश कर दी है, इन नाटकों में किसी-न-किसी रूप में मिलता है।'[१] आज के मध्यवर्गीय जीवन में जो अनेक समस्याएँ एक ही स्थान पर गिरे हुए पतंग के डोरे की भाँति उलझी हुई हैं, अपने नाटकों में डॉ० रामकुमार वर्मा उन्हें गहरी दृष्टि से देख कर सतर्क अँगुलियों से सुलझाने की कला में पूर्ण सफल सिद्ध हुए हैं। उनके नाटक हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं कि एकांकी सत्य के तार पर अँगुली की वह हल्की-सी चोट है, जिससे जीवन का संगीत गूँजता है और तार की पतली रेखा से निकल कर समस्त दिशाओं को मुखरित कर देता है।'[२]

अपने एकांकियों की रचना के समय उनके आगे एक-न-एक प्रश्न होता है, जो बेलस्स महाजन की तरह समाधान खोजता रहता है। 'रेशमी टाई' के 'मेरा अनुभव' में उन्होंने वैसे कुछ प्रश्नों को इस प्रकार सूचीबद्ध किया है :

(क) प्रेमी जब व्यंग्य करने लगता है, तब उसके प्रेम का आधार किस चीज़ पर रहता है ?

(ख) अविवाहिता की पवित्र स्वतंत्रता उसके लिए कलंक है, विवाहिता की अपवित्र स्वतंत्रता गौरव है।

(ग) इसे कैसे पहचानेंगे कि किस स्त्री की लज्जा में शोभा है और किसकी लज्जा में आडम्बर ?

(घ) गृह के उत्तरदायित्व की भावना शिक्षित स्त्रियों में अधिक होती है या अशिक्षित स्त्रियों में ?

(ङ) अपनी स्त्री की अपेक्षा अन्य स्त्री की भंगिमा में क्या आकर्षण है ?

(च) कॉलेज का एक रसिक युवक जिस लड़की से प्रेम करना चाहता है, क्या उससे शादी करने के लिए भी तैयार होगा ?

(छ) एक दार्शनिक अच्छा पति क्यों नहीं हो सकता ?

(च) लगान का प्रबन्ध करने में किसान अपनी पत्नी को पत्नी क्यों नहीं रहने देता ?

(झ) प्रेम में निराश होने पर कब प्रेमी आत्म-हत्या करता है और कब चरित्र-हीन होने लगता है ?

(ञ) क्या ईश्वर से प्रेम करने के पूर्व स्त्री से प्रेम करना आवश्यक है ?

(ट) विपत्ति किस व्यक्ति को उठाती है और किस व्यक्ति को गिराती है ?[३]

ऊपर की यह सूची समग्रता की दृष्टि से नहीं संकेत की दृष्टि से ध्यातव्य है।

---

१. आधुनिक नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० १३३

२. ऋतुराज—(परिचय)—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृ० १३

३. रेशमी टाई (मेरा अनुभव)—डॉ० रा० कु० वर्मा—पृ० ६

कहने का मन्तव्य यही है कि डॉ० वर्मा नाटककार के रूप में परियों के देश की कल्पनाओं के धनी नहीं हैं बल्कि यथार्थ जीवन की समस्याओं के चतुर चितेरे हैं और उनका समाधान प्रस्तुत करने वाले एक अनुभव-धनी बुजुर्ग ! अब हम उनके कतिपय प्रसिद्ध एकांकी नाटकों के प्रमाण पर यह देखेंगे कि उन्होंने समस्या को किस रूप में ग्रहण किया है और उसका क्या समाधान सुझाया है।

एक तोले अफ़ीम की कीमत : 'रेशमी टाई' शीर्षक एकांकी नाटक संग्रह में ही 'एक तोले अफ़ीम की कीमत' शीर्षक एक एकांकी नाटक आया है, जिसमें डॉ० वर्मा ने विवाह की समस्या के एक पहलू को उपस्थित किया है। इस एकांकी नाटक में मुरारी मोहन नामक नये विचारों में पूर्ण रीति से रँगे हुए एक ग्रैजुएट की अवतारणा होती है। उसका पिता लाला सीता राम अपने ग्रैजुएट बेटे की भावना का ख़याल नहीं करता। वह सोचना भी नहीं चाहता कि उसके बेटे के पास भी दिल जैसी कोई चीज़ है, जिसमें हसरतें हो सकती हैं।[1] वह तो जैसे मुरारी के विवाह का 'रोज़गार'[2] करने पर तुला हुआ है। इधर मुरारी है, जो पिता की सन्तुष्टि के लिए अपने 'कल्चर' को 'किल' नहीं कर सकता।[3] वह सोचता है—marriage is an event in life।[4] वह जान दे देगा लेकिन किसी फूहड़, गँवार देहातिन से विवाह नहीं करेगा। अफ़ीम के व्यापारी अपने पिता की अनुपस्थिति का लाभ उठा कर यह मुरारी आत्मघात करना चाहता है।

इधर ठीक ऐसी ही समस्या आ खड़ी हुई है विश्वमोहिनी के जीवन में। कॉलेज के द्वितीय वर्ष में पढ़ने वाली इस लड़की की शादी होनी है। वरपक्ष तिलक-दहेज़ के रूप में ६०००) रुपयों की माँग करता है। इस रकम के चुकाने में निश्चय ही विश्वमोहिनी के पिता को अपनी सारी सम्पत्ति बेचनी पड़ेगी। कन्या यह नहीं गवारा कर पाती कि उसके विवाह के कारण उसका पिता भिखारी हो जाय। अस्तु, वह भगवान की शरण में जा कर पिता को उबारना चाहती है और आशा करती है कि उसके बलिदान से शायद हिन्दू समाज की आँखें खुलें।[5] हिन्दुओं को अपनी विवाह-संस्था में अपेक्षित सुधार करने की जो प्रेरणा मिले तो विश्वमोहिनी का यह बलिदान भी सार्थक हो जाय।

इस प्रकार एक एकांकी में मुरारी की समस्या वह है कि वह शिक्षित है, पाश्चात्य शिक्षा के संस्कारों से पूर्णतः प्रभावित है और अपने विवाह के विषय में अन्तिम निर्णय आप लेने का अधिकार चाहता है और उसका पिता उस ज़माने का है जब शादी की बात घर के हाथ में रहा करती थी और जब उसने कह दिया सब ठीक है तो बेटे ने भी सिर हिला दिया।[6] इससे आगे बढ़ने पर दहेज़ की समस्या आती है। मुरारी का पिता अपने बेटे के विवाह का रोज़गार करना चाहता है। मुरारी का पिता इस मानी में अकेला थोड़े ही है ? रामधन ने कहा ही है कि बड़े लोगों की शादी तो

---

१. २. ३. ४. ५. ६. **रेशमी टाई—एक तोले अफ़ीम की कीमत—पृ० १५५, १५४, १५५, १५५, १६०, १५४**

रोज़गार है ही ।[1] इसी रोज़गार का शिकार है—विश्वमोहिनी, जो इतिहास-प्रसिद्ध स्नेहलता की परम्परा में अपना बलिदान करने के लिए विवश है ।

समस्या के इस रूप को प्रस्तुत करने के बाद डॉ० वर्मा ने उसका समाधान भी ढूँढ़ लिया है । समान परिस्थिति में पड़े हुए मुरारी और विश्वमोहिनी को वे एक कर देते हैं । लेकिन फिर भी वह उन्हें समाज-द्रोही नहीं बनाते । मुरारी विश्वमोहिनी से कहता है—'Have patience, good girl सब मामला सुलझ जायेगा ।'[2] मामले को सुलझाने की उसकी युक्ति है कि—विश्वमोहिनी अपने पिता से मुरारी के पिता को कहला दे कि मुरारी बिना दहेज़ के विवाह करेगा ।[3] और यदि इस संकेत से भी काम नहीं चला तो मुरारी निश्चय ही आत्मघात करेगा । स्पष्ट है, मुरारी अपने पिता से द्रोह करके विश्वमोहिनी से विवाह करना नहीं चाहता बल्कि उसके आशीर्वाद के साथ ही वह उसके साथ जीवन में प्रविष्ट होना चाहता है ।

एक तोले अफ़ीम की कीमत की समस्या आज अपना सारा महत्व खो चुकी है । आज हमारी समास्याएँ बहुत कुछ दूसरे ढंग की हो गयी हैं । नयी समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में यह समस्या भी नहीं दीखती ।

अठ्ठारह जुलाई की शाम : 'अट्ठारह जुलाई की शाम' शीर्षक एकांकी में एक ऐसे दम्पति के वैवाहिक जीवन की तिक्तता को प्रस्तुत किया गया है, जो आर्थिक अभाव की चक्की में पिस रहे हैं । उषा के पिता ने प्रमोद के शिक्षा-संस्कार, शील और उसकी शानदार एम० ए० की डिग्री को देख कर उषा से उसका विवाह कराया । प्रमोद के छात्र-जीवन की उपलब्धियों और उसके चरित्र से वह इतना प्रभावित था कि उसने यह विचार ही नहीं किया कि अमारत में पली उसकी बेटी के नाज़ उठाने के लिए प्रमोद के पास आर्थिक क्षमता भी है या नहीं । उसे क्या मालूम था कि ये पोस्ट-ग्रैजुएट महाशय डिप्टी कलेक्टर न हो कर चालीस रुपये पाने वाले सम्वाददाता होंगे ।[4] इधर उषा है, जो वैभव की गोद में पली है । विश्वविद्यालय में पढ़ते समय वह अपने ऊपर सैकड़ों रुपये प्रतिमाह खर्च करती थी । पचास रुपये प्रतिमाह तो वह पिता से सिर्फ़ जेब-खर्च के लिए पाती थी । चालीस रुपये प्रतिमाह उसका बैरा पाता था । उसे तरह-तरह के 'ब्रूच, जम्पर, इयरिंग' चाहिएँ ।[5] वह नहीं जानती कि खर्च के किस मद को वह घटा दे, उठा दे कि अपने पति की चालीस रुपयों की मासिक आमदनी में उसका गुज़ारा हो जाय । उसकी कठिनाई सचमुच वास्तविक है । वह कहती ही है—'फ़ासफ़रीन न पिऊँ तो सर में दर्द हो जाता है । फ़ोनटोना के बिना कमज़ोरी मालूम होती है । यार्डले मुख पर न लगाऊँ तो मालूम हो जैसे बरसों से बीमार हूँ ।'[6] अपने पति से वह पूछती है—'कहिए तो

---

१. रेशमी टाई—एक तोले अफ़ीम की कीमत —पृ० १५४

२. ३. ४. ५. ६. रेशमी टाई—डॉ० रा० कु० वर्मा —पृ० १६३, १६३, ११८, ११८, ११९.

सिरोलिन रोश ही खाना बन्द कर दूँ पर उस बिना कफ़ से सफ़र करती हूँ। या फिर फ़ासवर्ड भेजना बन्द कर दूँ ?'[१] प्रमोद ने अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने की अनथक चेष्टा की। अच्छी नौकरी के लिए वह जाने कहाँ-कहाँ चक्कर काटता चला। उसने सब कुछ किया—एक आत्महत्या नहीं की।[२] जो छोटी-सी नौकरी मिल गयी है, उसे ही कलेजे से चिपकाये वह ज़िन्दगी का बोझ ढो रहा है। वह जानता है कि उसके घर उषा को बड़ा कष्ट है लेकिन वह करे भी तो क्या ? स्पष्ट है, आर्थिक विपन्नता ने प्रमोद और उषा के जीवन-रस पर ब्लाटिंग पेपर का एक बड़ा-सा टुकड़ा रख दिया है। विश्वविद्यालय की शानदार डिग्री ले कर भी यदि वह इस तरह मारा-मारा फिर रहा है तो इसमें उसका क्या दोष ? दोष तो हमारी व्यवस्था का है।

उषा का एक सहपाठी है अशोक, जो धनवान तो है ही अब मुंसिफ़ हो कर हाकिम भी बन गया है। उषा का उसके प्रति एक प्रकार का आकर्षण रहा है। दोनों का विवाह इसलिए नहीं हो पाया कि कुंडली नहीं मिली।[३] यह अशोक उषा के घर आ कर मसूरी की रंगीन जिन्दगी के सपने बिखेरता है और उषा भी जीवन की मधुयामिनी बनाने के लिए उसके साथ मसूरी जाना स्वीकार कर लेती है। अपने भोले-भाले पति की विश्वास-प्रवणता का लाभ उठा कर वह बड़ी आसानी से माँ की बीमारी का बहाना करके हमदर्द 'भाई'[४] अशोक के साथ घर से बाहर निकल जा सकती है और प्रमोद की ग़रीबी से बच कर अपनी भोग-लालसा की तृप्ति का एक अवसर बना सकती है। लेकिन नाटककार को ज्ञात है कि यदि उषा मसूरी की मधुयामिनी के रंगीन आकर्षण-जाल में फँस कर, घर की देहरी लाँघ कर चल पड़ती है तो उसका जीवन नष्ट हो जायगा। अशोक की आँखों में नाटककार पिशाच को नाचते हुए देख रहा है[५] और वह यह भी जानता है कि वह उषा को उसी तरह बर्बाद कर देगा जिस तरह उसने सत्यभामा जैसी अपनी प्रेमिकाओं की ज़िन्दगी को मसल कर नष्ट कर दिया है।[६] आदर्श के प्रति नाटककार की निष्ठा के ही कारण एकांकी में राजेश्वरी देवी के चरित्र की अवतारणा होती है, जो उषा को पंक में फँसने से बचाती है, पति की महत्ता के प्रति उसके हृदय में नवीन आस्था पैदा करती है और यह सोचने की प्रेरणा देती है कि 'धन और रुतबे से आदमी बड़ा नहीं होता, आदमी बड़ा होता है अपने हृदय की उदारता से, विशालता से'।[७] इस प्रकार डॉ० वर्मा ने राजेश्वरी के माध्यम से असन्तुलित दाम्पत्य-जीवन से असन्तुष्ट उषा को अपने पति प्रमोद की महनीयता का अनुभव करा कर समस्या का आदर्शवादी हल ढूँढ़ निकाला है। यदि डॉ० वर्मा पश्चिम के कलाकारों की परम्परा में होते तो उन्होंने उषा को विद्रोहिणी बना दिया होता और उसे एक समस्या से हटा कर अनेक समस्याओं के भँवर-जाल में फेंक दिया होता। यदि ऐसा नहीं करते तो ये उसे सारी ज़िन्दगी एक अजीब-सी कुंठा भोगने के लिए घर

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. रेशमी टाई—डॉ० राम कुमार वर्मा—पृ० ११६, ११८, १२५, १२०, १३२, १३७, १२६

में ही छोड़ देते। लेकिन डॉ० वर्मा का आदर्शवाद उन्हें इस प्रकार ग़ैर-ज़िम्मेवार नहीं होने देगा।

वर्मा जी को मालूम है कि उषा जैसी आधुनिकाओं की ज़िन्दगी की गाड़ी चल नहीं पा रही है। लेकिन इस विषय में जो सचाई है, उसकी उपेक्षा भी तो नही की जा सकती। जीवन-संघर्ष आज इतना कठिन हो गया है और परिस्थितियाँ इस कदर बदल गयी है कि आज हर पढ़ी-लिखी लड़की को ऐसा वर मिले, जो शिक्षित होने के साथ ही लक्ष्मी-पात्र भी हो, यह सम्भव नही रह गया है। ऐसी दशा में ज़िन्दगी के साथ समझौता करना ही होगा। नाटककार ने राजेश्वरी देवी की अवतारणा करके समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है।

ऐसा नहीं है कि डॉ० वर्मा पुरातनता के संस्कार को दाँत से पकड़े रहना चाहते हैं और नवीनता के आग्रह के विरोधी हैं। डॉ० वर्मा को भी विवाह की कुंडली की शर्तें व्यर्थ दीखती है। वे जानते हैं कि इस व्यर्थ की बात के कारण कितने लोगों की जिन्दगी खराब हो रही है। विवाह का भाग्याधीन होना भी उनको जँचता नहीं है। भाग्य की ज़ंजीर, जो पुरुष और नारी को दो पेड़ों की तरह सदा-सर्वदा के लिए उलझा देती है, उसे भी वर्मा जी बहुत पसन्द नहीं करते[१] और वे चाहते हैं कि विवाह का सम्बन्ध ख़ूब सोच-विचार कर स्थिर होना चाहिए। उषा के पिता से उनकी शिकायत है कि उसने उषा के होने वाले पति के व्यक्तिगत गुणों को, उसकी ऊँची डिग्री को देखा, उसकी प्रतिभा देखी लेकिन उसकी श्री-सम्पन्नता के भी विषय में भी वैसा ही आश्वासन नहीं पा लिया। ऐसी स्थिति में यदि उषा को प्रमोद के घर कष्ट होता है तो उसकी जबाबदेही से वह बच नहीं सकता। लेकिन डॉ० वर्मा के सामने यथार्थता का दूसरा पहलू भी तो है, जो उनको बाध्य करता है कि वे इस बात का अनुभव करायें कि आज का प्रत्येक पति सरस्वती का लाड़ला होने से ही लक्ष्मीपात्र भी नहीं हो जाता। आज के जीवन के इस सत्य की उपेक्षा यथार्थ की अवहेलना ही तो होगी। वे दिन गुज़र गये, जब अंग्रेज़ी-शिक्षा-प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति ऊँची सरकारी कुर्सी पर बड़ी आसानी से बैठ जाता था। प्रमोद के पिता की सारी कमाई को दो तीन अक्षर—एम० ए० या एम० एस० सी० पी गये[२] और इन अक्षरों से सम्पत्ति के बन्द दरवाज़े की कुंजी प्रमोद के हाथ नहीं आयी। शिक्षित समाज में आज बेकारी की जो भयंकर समस्या है, उसका विस्मरण डॉ० वर्मा जैसा समाज सम्पृक्त कलाकार कैसे करे ?

तो, प्रश्न है कि क्या उषा और प्रमोद का दाम्पत्य-जीवन नष्ट ही हो जाय ? डॉ० वर्मा इस विषय में ख़ूब सोच-विचार कर यह निश्चय करते हैं कि नहीं, उसे नष्ट होने से तो बचाना ही होगा। क्योंकि उसके नष्ट होने से किसी का लाभ नहीं होता। कॉलेज का यह रसिक युवक अशोक उषा से प्रेम कर लेगा, मसूरी की रंगीन ज़िन्दगी के रस-प्रवाह में सम्भव है उसे थोड़े समय के लिए भरपूर डुबा भी दे

१. २. रेशमी टाई—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृ० ११६, ११७

लेकिन वह उससे शादी तो न करेगा। फिर उषा का क्या होगा ? प्रमोद और उषा की समस्या आर्थिक विषमता और बेकारी की स्थिति का परिणाम है। जब तक हम अपने आर्थिक ढाँचे को अधिक-से-अधिक न्यायपूर्ण नहीं बना पाते, पति-पत्नी के जीवन में कबाब में हड्डी की तरह तनाव की स्थिति बनी रहेगी—यह सहज सिद्ध है। डॉ० वर्मा का सुझाव है कि जब तक हम अपने आर्थिक ढाँचे को बदल नहीं पाते तब तक दम्पत्ति को किसी-न-किसी प्रकार का समझौता करना ही होगा। उनका यही आदर्शवाद उषा के जीवन में उदित हो कर उसकी आँख खोल देता है। अब जब उसका नशा उतर गया है, उसे अपनी अत्यन्त साधारण-सी साड़ी भी बड़ी अच्छी लगने लगी है।[1]

डॉ वर्मा ने प्रस्तुत नाटक में मुख्य समस्या को प्रस्तुत करते समय हमारे शिक्षित समाज के जीवन के पाखंड (हिपोक्रेसी) को भी एक नजर देख लिया है। प्रमोद को सूचना मिली है कि विहटा में भयंकर ट्रेन-दुर्घटना हो गयी है और वह उस समाचार को प्रेषित करने में दत्तचित्त हो गया है। इधर उषा की प्रतिक्रिया होती है—'डैम इट आल।'[2] लेकिन दूसरे ही क्षण वही उषा उसी प्रसंग की चर्चा अशोक से सुन कर उसकी हाँ-में-हाँ मिलाती हुई कहती है—'मैंने जब यह न्यूज सुनी तभी फ़ेन्ट हुई जा रही थी। अभी पाँच मिनट पहले मैं इसी दुर्घटना पर आँसू बहा रही थी।'[3] उषा इस प्रकार उस वर्ग के लोगों में जा पहुँचती है, जो डॉ वर्मा के शब्दों में, कभी तो मैन्चेस्टर का सिल्क पहनते हैं और कभी प्रोसेशन में जा कर महात्मा गाँधी की जय बोलते हैं।'[4]

रूप की बीमारी : 'रूप की बीमारी' वर्मा जी का एक ऐसा एकांकी नाटक है, जिसमें शिक्षित युवकों के विवाह की समस्या और उसके समाधान के विषय में उन्होंने जम कर विचार किया है। सेठ सोमेश्वर का इकलौता बेटा रूप एम० ए० में पढ़ रहा है। उसका मत है कि इस बदलते हुए ज़माने में शादी से अच्छे सिटीज़न पैदा न होंगे, प्रेम से अच्छे सिटीज़न पैदा होंगे।'[5] इसलिए वह शादी करना ज़रूरी नहीं समझता। ऐसे उसे समाज की परवाह नहीं है। लेकिन उसकी मुसीबत यह है कि यदि वह शादी न करे तो उसके बूढ़े पिता को, जिसने उसको पिता के प्रेम के साथ ही माँ की ममता भी दी है और जिसने अपनी सारी उम्मीदें उसी पर टिका रखी है, बड़ा सदमा पहुँचेगा। और फिर वह रहता है हिन्दुस्तान में, रूस में नहीं।[6] इसलिए भी शादी की रस्म तो होनी ही है।[7] अस्तु, रूप को विवाह न करने के अपने निश्चय को बदलना ही होगा। रूप जानता है कि वर और कन्या को बिना आपस में एक-दूसरे को समझे, शादी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि तब वह शादी दिल की शादी नहीं होगी, दुनिया को दिखलाने की शादी होगी।[8]

इस रूप को रूप की बीमारी हो गयी है।[9] पिछले साल म्यूज़िक कान्फ्रेंस में

---

१. २. ३. ४. रेशमी टाई—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ १४२, ११६, १२२, १३६

५. ६. ७. रूप की बीमारी—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ ६८, ६८, ६७।

८. ६. रूप की बीमारी—डॉ० रा० कु० वर्मा—पृष्ठ ६८, ६७।

संगीत के लिए प्रथम पुरस्कार लेने वाली कुसुम के प्रति उसका प्रबल आकर्षण हुआ है और वह चाहता है कि कुसुम उसके निकट सम्पर्क में आये और धीरे-धीरे उसे अच्छी तरह समझ जाय। रूप उसे अच्छी तरह समझ गया है। अगर वह भी उसे पहचान ले तो रूप धन्य हो जाय।[१] रूप से बस इसी कुसुम को अपने निकट सम्पर्क में लाने के उद्देश्य से बीमारी का स्वाँग किया है।

इस प्रकार इस नाटक के द्वारा नाटककार ने यह बताया है कि उचित यही है कि अपनी जीवन-संगिनी के चुनने का अधिकार वर को दिया जाय। साथ ही कन्या को भी यह अवसर ज़रूर मिलना चाहिए कि वह वर को भी जान-समझ ले। वर्मा जी इस बात के लिए भी आग्रही हैं कि वर-कन्या को अभिभावक का आशीर्वाद प्राप्त हो और प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम-सम्बन्ध विवाह की संस्था से नियंत्रित हो।

पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति से प्रभाव के कारण युवकों के मन में स्वयं विवाह-संस्था की उपयोगिता के विषय में अनास्था का भाव आ गया है। डॉ० वर्मा इसे शुभ नहीं मानते। वे प्रेम और विवाह के बीच समझौता चाहते हैं। आज के युवा समाज के आगे विवाह के प्रश्न को ले कर जो समस्याएँ खड़ी हैं, डॉ० वर्मा उनका समाधान इस समझौते में ही देखते हैं। वे युवा-समाज की भावनाओं, आकांक्षाओं, के प्रति पूर्ण सम्वेदना रखते हैं। लेकिन वे मुक्त भोग को समाज और देश के लिए हानिकर मानते हैं। भारतवर्ष की अपनी एक निश्चित सांस्कृतिक परम्परा है। उससे विच्छिन्न हो कर हम सुखी नहीं होंगे—ऐसा वे मानते हैं। इसलिए विवाह-संस्था में चाहे जो भी सुधार किया जाय, उसे वे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेंगे लेकिन स्वयं विवाह की संस्था को अनुपयोगी कहना गवारा नहीं कर सकेंगे।

वर्मा जी के सामने प्रेम का भारतीय आदर्श है, जो मानता है कि वह प्रेम, जिसमें प्रेमी-प्रेमिका संसार से निरपेक्ष हो कर आत्मरत हो जाते हैं प्रेम नहीं, वासना है, स्वार्थ है। उसके प्रतिकूल जो प्रेम सारे संसार को केन्द्रस्थल में रख कर शनैः शनैः आगे की ओर बढ़ता है, उसका अनिष्ट न तो कोई मनुष्य कर सकता है, न उसके लिए किसी दुर्वासा का शाप होता है और न देवताओं का कोप। वह प्रेम, जिसमें प्रेम और कर्त्तव्य के बीच सामंजस्य हो, वास्तविक प्रेम है। यह इसलिए कि यह सामंजस्य ही सौन्दर्य एवं मंगल को अभिन्न बना कर आनन्दमय सम्पूर्णता प्रदान करता है। पतिव्रता की मुखच्छवि में परिणीता की जो गौरवकान्ति अंकित रहती है, वह नियत आचरित कल्याण कर्म का स्थिर सौन्दर्य होती है। भारत के आदर्शवाद ने परिणीता की यह जो कल्याण रूप में कल्पना कर रखी है, उसे भुलाना डॉ० वर्मा जैसे आदर्शधनी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। इसी से उनकी भावना में पश्चिम की विलासिनी नहीं आ पाती। और यही कारण है कि वे वर-वधू के लिए अभिभावक के आशीर्वाद की शर्त्त रखना चाहते हैं।

इस एकांकी नाटक में वर्मा जी ने डॉक्टरों और उनकी 'एलोपैथी सायन्स' की एक बड़ी त्रुटि की ओर भी संकेत किया है। वे ऐसा मानते हैं कि आजकल के नवीन विज्ञान के धनी ये डॉक्टर, अँधेरे में तीर चलाते हैं। रूप की बीमारी का निदान करते समय सचमुच डॉ० दासगुप्त और डॉ० कपूर अँधेरे में तीर ही तो चला रहे हैं।[1] रूप का पिता खीझ में ही सही बड़े पते की बात कह गया है कि ये डॉक्टर नहीं हैं, बीमारी के वकील हैं। रुपये खा कर बीमार को भी खा डालने का हुनर सीखे हुए हैं, बस रोज़गारी हैं।[2] फिर एक प्रश्न यह भी तो है कि हिन्दुस्तानी जिस्म में अंग्रेज़ी दवा कितना फ़ायदा कर भी सकती है ? लेकिन किया भी क्या जाय ? विकल्प भी क्या है ? हमारा पुराना आयुर्वेद नष्ट-सा हो गया है। सेठ सोमेश्वर ने सच ही हमारे आपके मुँह की बात छीन कर कहा है—'अगर वैद्य बेवकूफ़ न होते तो इन डॉक्टरों का मुँह भी न देखता। मुँह देख कर सौ बार नहाता।'[3] समस्या-नाटककार को अपने सामने से बहुत-सी शिकायतें रहती हैं। इससे मुख्य समस्या के अतिरिक्त अन्य प्रश्नों की ओर भी उसकी नजर जा ही पड़ती है।

रजनी की रात : डॉ० वर्मा का 'रजनी की रात' शीर्षक एकांकी नाटक, समस्या की प्रस्तुति की दृष्टि से एक विशिष्ट रचना है। इस नाटक में इस बात का विचार किया गया है कि व्यक्ति के लिए समाज की अपेक्षा है या नहीं। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के वेगवान प्रभाव ने हमारे सामने जो समस्याएँ उठायी हैं, उनमें एक समस्या यह भी है। 'चारुमित्रा' शीर्षक एकांकी संग्रह में संकलित इस नाटक में नाटककार इसी प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर विचार करता है।

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त विदुषी रजनी का मत है कि हमारा समाज बहुत गिरा हुआ है,[4] दुनिया बहुत धोखेबाज़ है, उसमें सिर्फ स्वार्थ है।[5] वह यह भी मानती है कि परिवार में डूबा हुआ आदमी कुछ कर नहीं सकता,[6] उसकी ज़िन्दगी में कोई नयापन नहीं आ सकता।[7] इससे वह ममता और मोह के बन्धनों से मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा अपने मन में पालती है, समाज से दूर रहना चाहती है[8] और अपनी राह अपने ही भरोसे बनाना चाहती है। रजनी की ऐसी प्रतिक्रिया का कारण है वर्त्तमान समाज में नारी की अधोगति की शर्मनाक स्थिति। वह देखती है कि समाज में सबसे पहले पिता लड़की को कमज़ोर बनाता है। वह समझ लेता है कि लड़की का विवाह करना है। इसी से वह उसे पढ़ाता-लिखाता है और उम्मीद बाँधता है कि उसकी कन्या का विवाह अच्छी जगह हो जायेगा।[9] लेकिन इस विवाह का ही उद्देश्य क्या है ? फल क्या है ? यही न कि विवाह के बाद लड़की अपने पति के घरवालों की

---

१. २. ३. रूप की बीमारी—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृ० ८३-८६, ७२, ७६

४. ५. ६ ७. ८. ९. चारुमित्रा—रजनी की रात—डॉ० रा० कु० वर्मा—पृष्ठ ११४, १०२ १०५, १०४, ११४, १०६, ।

गुलाम हो जाय, उन्हें खाना पका कर खिलाये और खुद गाली खाये ।[1] कन्या के पिता के विराट से आयोजन का अंतिम परिणाम आखिर यही होता है न ? इसी से रजनी चाहती है कि ऐसी बातें सोच निकाले कि मनुष्य ज़िन्दगी में कभी गुलाम न हो, किसी का गुलाम न हो ?[2] वह कहती है—'मैं परिवार और समाज नहीं चाहती ! मैं मनुष्य के लिए पूरी स्वतंत्रता चाहती हूँ । बन्धन मनुष्य का कलंक है ।[3]

रजनी की सखी कनक का भाई आनन्द भी परम्परा की रूढ़ियों का विरोधी है । क्योंकि उसने अनुभव किया है कि पुरानी परम्पराओं के सामने मनुष्य की सच्ची भावनाएँ उभरती ही नहीं हैं ।[4] आनन्द समाज की सत्ता का कायल है । वह जानता है कि मनुष्य समाज का एक प्राणी है, उसे समाज मे रहना ही होगा । यह इसलिए कि वह राबिंसन क्रूसो बन कर बहुत दिनों तक रह नही सकता ।[5] लेकिन रजनी का पक्ष है कि समाज तो ऐसी निर्जीव संस्था जैसा है, जो गिर कर उठना नही जानती । ऐसी लाश के ढोने की ज़रूरत ही क्या है ? वह पूछती है कि मनुष्य का विवेक अब तक के सोचे हुए रास्ते को बदल क्यों नहीं देता ? वह समाज की चिन्ता ही क्यों करता है ? वह आनन्द से पूछती है—हवा का भी कोई समाज है ? सूरज की किरणें भी किसी बन्धन में हैं ? आग भी रस्सी से कसी हुई है ?[6] आनन्द देख रहा है कि रजनी समाज की दशा को बहुत अच्छी तरह पहचानती है । इससे यह आशा उससे की जा सकती है कि वह आगे बढ़ेगी और समाज को ऊपर उठायेगी । लेकिन रजनी तो व्यक्तिवाद के प्रभाव में आ कर समाज की स्थिति की ही अवज्ञा करना चाहती है । यह आनन्द को रुचिकर नहीं दीखता । वह अनुभव करता है कि रजनी चाहे जो करे लेकिन समाज को न छोड़े ।[7] रजनी का कहना है कि मनुष्य की स्वतंत्रता के कामी समाज की कल्पना करके उस स्वतंत्रता को ही बाधित कर लेते हैं । क्योंकि समाज स्वयं एक बंधन है । रजनी मनुष्य के हृदय को सुख-दुःख से ऊँचा रखना चाहती है । वह मनुष्य की कल्पना उस दृढ़ और अटल चट्टान के रूप में करती है, जो धारा में लहर की तरह न बह कर धारा के आगे प्रतिरोध खड़ा करने में समर्थ हो ।[8]

आनन्द उसे समझाता है कि विज्ञान की इस उन्नति के जमाने में जब संसार का एक भाग दूसरे भाग से बिजली के हल्के करेन्ट से भी जुड़ गया है इस बढ़ते हुए परिवार से भाग कर निकला नही जा सकता ।[9] समाज को साथ ले कर चलना होगा । वह मानता है कि इस समाज से दमखम वाले व्यक्ति को लड़ जाने का अधिकार है और उसे लड़ना चाहिए भी । उससे लड़ कर नया सामाजिक संगठन बनाना भी चाहिए । लेकिन समाज से मुँह मोड़ कर भागना, एकान्त में चले जाना, विद्रोही आत्मा की हार है ।[10] इसे एक तरह का पलायन ही कहा जायेगा । आनन्द जानता है कि

---

१. २. ३. ४. ५. ६ ७. ८. ९. १०. चारुमित्रा—रजनी की रात—
डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ १०६, १०६, १०६, १११, ११५, ११४, ११४-११५, ११७, ११५, ११५

समाज सदा सही रास्ते पर चलता है—ऐसा नहीं है। वह ग़लत कदम भी उठाता है। समाज फिर भी शक्तिशाली है। यदि उसे छोड़ कर बैठ जाइए तो वह अपने शरीर से आपको नाखून की तरह काट कर फेंक देगा। इससे समाज की कोई हानि भी नहीं होती और आप उस कटे हुए नाखून की तरह व्यर्थ हो जाइयेगा, कहीं के न रहियेगा।[1] आनन्द को विदित है कि यह कहने से भी काम नहीं चलता कि मैं समाज की चिन्ता नहीं करता। आपके चिन्ता न करने से समाज चुप थोड़े ही बैठा रहता है? जो आदमी समाज को तमाचा मार सकता है, समाज उसके सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगता है। आनन्द समाज को एक बिगड़ैल जानवर समझता है। उस जानवर को पुचकार कर यदि वह अपने वश में कर सका तो ठीक। नहीं तो वह उसे ऐसी गोली मार देगा कि वह तकलीफ़ से कराहने लगे। जो इस समाज से दूर भागे तो उसे वह डरा हुआ मान कर लपक कर पीछा करे और बुरी तरह काट खाये।

आनन्द भी चाहता है कि मनुष्य स्वतन्त्र हो, लेकिन यदि वह अपने सिद्धान्तों का पक्का हो तो उसे चाहिए कि वह समाज को तोड़-फोड़ कर फिर से बनाये, नये सिद्धान्त रचे, नये विचार रचे! अपने समाज का वह प्रजापति हो जाय।[2] इस प्रकार सिद्ध यह होता है कि रजनी और आनन्द दोनों ही समान रूप से अनुभव करते हैं कि हमारा समाज रोग-जर्जर हो गया है, निकम्मा हो गया है। लेकिन दोनों के विचार में अन्तर यह है कि रजनी इस समाज से हट कर पलायन करना चाहती है, व्यक्ति को इच्छया मुक्त विकास की स्वतन्त्रता देना चाहती है और आनन्द मानता है कि 'समाज की समस्याएँ समाज में रह कर ही हल की जा सकती हैं, समाज से बाहर जा कर नहीं।'[3] वह कहता है—'संसार के इतिहास को देखिए, जिन-जिन विचारकों ने सत्य खोज कर निकाले हैं, उन्होंने समाज में आ कर उनका प्रचार किया है। गौतम बुद्ध, ईसा को देखिए, वे एकान्त-सेवी हो कर नही रहे।'[4]

रजनी ने जहाँ अपना शिविर खड़ा कर रखा है, वह स्थान जनशून्य है। उस रात वहाँ एक ऐसी घटना घटती है, जो समाज की अपेक्षा सिद्ध करती है। शशि नाम की एक लड़की को कुछ गुन्डे उठा कर ले जाते है। आज रजनी भी अकेली है, उसके पिता वापस लौट गये हैं। रजनी शशि के अपहरण से विक्षुब्ध होती है। लेकिन वह विवश है। इतना ही कह पाती है—'स्त्री अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती।'[5] उधर आनन्द है, जो समाज-धर्म के नाते गुन्डो को भगा कर शशि की रक्षा कर लेता है। शशि के अपहरण की घटना के प्रति रजनी की प्रतिक्रिया—निष्क्रियता की प्रतिक्रिया है और उससे भिन्न आनन्द की प्रतिक्रिया, सक्रियता की। आनन्द के मत में व्यक्ति को समाज की ज़रूरत है। यही समाज-धर्म आनन्द को सुझाता है कि प्रत्येक युवक का कर्त्तव्य है कि वह विपत्ति में पड़े हुए लोगों की रक्षा करे, मुसीबत में फँसे हुए लोगों को सहारा

१. २. ३. ४. ५. चारुमित्रा—रजनी की रात—डॉ० राम कुमार वर्मा —पृष्ठ ११५, ११७-११८, ११६, ११८, १२८

दे, संक्षेप में, ज़िन्दगी से लड़े और इस तरह समाज को ऊपर उठाये।[1] यहीं इसकी ज़रूरत भी दीखती है कि रजनी अपने एकान्तवास से बाहर आ कर समाज में प्रवेश करे और स्त्रियों का एक ऐसा समाज खड़ा करे, जिसे डाकू, शक्ति-भैरवी-दुर्गा समझें। यदि यह हो पाया तो फिर डाकुओं की हिम्मत ही नहीं होगी कि वे शशि जैसी किसी लड़की को उठा ले जाने का जोखिम उठावें।

ऐक्ट्रेस : डॉ० रामकुमार वर्मा का विचार है कि पश्चिम की सभ्यता भारत के संस्कार और प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उस सभ्यता से हमारे शरीर को चाहे जो सुख मिल जाय आत्मा को आह्लाद नहीं मिल सकता। इधर हमारे देश में पश्चिमी रहन-सहन के धूम-धड़ाके मचें। डॉक्टर वर्मा ने अपने 'ऐक्ट्रेस' शीर्षक नाटक में इसी प्रश्न पर विचार किया है। 'नयी रोशनी' हमें कहाँ ले जाती है, इसका बड़ा ही मुखर चित्र 'ऐक्ट्रेस' में उभरता है। 'चारुमित्र' का सम्पादक अनंगकुमार अपनी परिणीता पत्नी प्रभातकुमारी का इसलिए परित्याग करता है कि वह पुरानी दुनिया की है, पुराने संस्कारों का बोझ ढोती है, नयी रोशनी से भागती है, अपने पति के मित्रों के सामने बिना पर्दे के नहीं आती और उनके साथ चुहल नहीं करती। यह परित्यक्ता प्रभातकुमारी 'प्रभा' नाम धारण कर फ़िल्म जगत की तारिका बन जाती है। लेकिन इस पंकिल प्रदेश में भी वह अपनी पवित्रता को फिसलने नहीं देती। अपने साथ नायक रूप में काम करने वाले पात्रों को वह प्रेममय वाक्य सुनाती तो है, लेकिन सचाई यही है कि उसके वे वाक्य काग़ज़ के फूल की तरह होते हैं। वह अपने फ़िल्मी प्रेमियों को दूर से ही प्रेम करने देती है। आलिंगन और चुम्बन उसके अभिनय के क्षेत्र के बाहर हैं। उसके इन प्रेमियों के फ़िल्मी नाम भी उसके पति अनंग कुमार के ही पर्यायवाची होते हैं ताकि प्रभा उनके साथ प्रेमाभिनय के क्षण में भी भाव-रूप में अनंग कुमार की ही अर्पिता रहे।[2]

अनंग कुमार ने जिस प्रभात को अपने घर से इस बात पर निकाल दिया था कि वह खन्ना जैसे दुर्वृत्त, शराबी और आचरणहीन व्यक्ति के साथ चुहल नहीं करती, वही आज प्रभा बन कर हज़ार-हज़ार उठी हुई मतवाली नज़रों के आगे रूप की मदिरा छलकाती है। अन्त में अनंग और उसकी दूसरी पत्नी कमल, प्रभा का भेद जान लेते हैं। यद्यपि कमल के मन में प्रभात के प्रति किसी प्रकार का सपत्नी-भाव उदित नहीं हुआ है तथापि आत्मघात करके अपनी जीवन-लीला समाप्त करती है। यह इसलिए कि उसके इस बलिदान से अनंग कुमारों की आँखें खुलें और वे समझें कि यह बात शुभ नहीं होगी कि हमारी गृहदेवियाँ पश्चिमी रंग में रँग जायँ।

परीक्षा : डॉ० वर्मा के 'परीक्षा' शीर्षक एकांकी नाटक में मुख्य कथावस्तु को गति देने के लिए प्रो० केदार तथा उसकी पत्नी रत्ना आते हैं। इनकी अवतारणा

---

१. चारुमित्रा—रजनी की रात—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ १३५
२. पृथ्वीराज की आँखें—ऐक्ट्रेस—राम कुमार वर्मा—पृष्ठ १६

का लाभ डॉक्टर वर्मा ने समाज की कतिपय त्रुटियों के प्रकाश के लिए भी उठाया है। प्रोफ़ेसर केदारनाथ की उमर पचास वर्ष की हो गयी है। अपनी छात्रा रत्ना के साथ, जिसकी उम्र करीब बीस वर्ष की है, उसका परिचय बढ़ता है और दोनों का विवाह होता है। प्रश्न है, युवती ग्रैजुएट रत्ना ने पचास वर्ष की इस पक्की उम्र वाले प्रोफ़ेसर की पत्नी बनना क्यों कर चाहा। आखिर लड़की के भी अपने सुहाने सपने होते हैं। वह भी चाहती है कि उसका पति सुन्दर हो, युवा हो। इस एकांकी के डॉ० रुद्र ने कहा ही है—लड़की सफ़ेद बालों के बजाय काले बाल ही पसन्द करती है।[1] पचास वर्ष के इस विगत-यौवन केदार की पत्नी हो कर रत्ना खुश कहाँ है ? केदार की ही गवाही है कि प्रोफ़ेसर उदयनारायण के यहाँ जन्मोत्सव से लौटने के बाद कुछ दिनों तक बराबर रत्ना कहती रही कि उसे कुछ अच्छा नहीं लगता।[2] स्पष्ट है कि उसका मातृत्व तड़प रहा है और केदार के पास उसकी इस अतृप्ति को दूर करने की शक्ति-सक्षमता नहीं है। तो फिर रत्ना ने अपना यह सर्वनाश क्यों कराया ? उत्तर है—वह ग्रैजुएट आधुनिका है, जिसकी सबसे बड़ी माँग है—स्वतन्त्रता—आर्थिक स्वतन्त्रता। ऐसी नारी के आगे पति की कल्पना एक ऐसे साथी की है, जो 'काम्पिटीशन' में बैठे, आई० सी० एस० में आये। यह सब इसलिए कि उसके घर चार नौकर हों और चढ़ने को मोटर हो ?[3] ऐश्वर्य की यही आकांक्षा आधुनिक नारी को रत्ना की स्थिति में ला देती है। डॉ० वर्मा यहाँ दो प्रश्न खड़े करते हैं। एक तो यह कि क्या पक्की उम्र के केदार जैसे व्यक्ति को रत्ना जैसी युवती से विवाह करना चाहिए और दूसरा यह कि आधुनिका को क्या नौकर-चाकर, बँगले-मोटर की भौतिकता के लोभ में अपने जीवन को उसी तरह तल्ख कर लेना चाहिए, जिस तरह रत्ना ने किया ?

वासवदत्ता : 'पांचजन्य' में संकलित 'वासवदत्ता' 'शीर्षक एकांकी में डॉ० वर्मा के आगे प्रश्न है कि कुशल प्रेमी की परिभाषा क्या है और मनुष्य के शरीरावयव से सौन्दर्य का मोल क्या है। इस नाटक की वासवदत्ता एक ऐसी जनपद कल्याणी है, जो अपने अतीन्द्रिय सौन्दर्य एवं अपनी कला-निपुणता के बल पर संसार-विजयनी बन चुकी है। उसके निक्षेप पर सामन्त कुमार थेई-थेई कर थिरका करते हैं। एक उपगुप्त है, जिस पर वासवदत्ता के मादक सौन्दर्य का प्रभाव स्वल्प भी नहीं पड़ता। यह इसलिए कि वह शरीर-सौन्दर्य की व्यर्थता को समझता है और जानता है कि शरीर पर पड़ने वाली किरणों की कान्ति के धूमिल पड़ते ही शरीर पर श्याम रेखाएँ उभड़ उठती हैं और तब अनुभव होता है कि कान्ति दरअसल शरीर में नहीं है, कान्ति है अवस्था में और अवस्था परिवर्त्तनशील है। ऐसी स्थिति में शरीर का महत्व कुछ भी नहीं है।[4] अस्तु, वासवदत्ता की जो सबसे बड़ी पूँजी है, उसका ही कोई अर्थ नहीं है।

---

१ २. ३. रेशमी टाई—परीक्षा—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ ३९,४१, ३९
४. पांचजन्य—वासवदत्ता—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ ६०

नर्त्तकी वासवदत्ता ने पहली बार नारी होने के भाव का अनुभव इसी उप
को देख कर किया और वह अपने तरल सतीत्व को ले कर उसके चरण धोने के
उपगुप्त के पास उमड़ कर आयी। किन्तु उपगुप्त के हाथों उसके यौवन और सौ
की अवहेलना हुई, अपमान हुआ। अपमान की तितिक्षा के क्षण में वासवदत्ता ने
निश्चय किया कि वह उपगुप्त की सम्पूर्ण पुरुष जाति से पूरा बदला लेगी, उसे अ
चरणों के नीचे पीस कर रख देगी। उसने निश्चय किया कि वह अपनी नारी
समाधि पर विश्वविजयिनी नर्तकी बन कर नृत्य करेगी।[1]

तीस वर्षों के बाद एक दिन ऐसा भी आया कि वासवदत्ता रूप के बाज़ार
लुट गयी, उसके शरीर की वह कान्ति, जो उसके प्रेमियों, उपासकों के तन और
की आँखों के आगे चकाचौंध पैदा किया करती थी, नष्ट हो गयी! सोने की तरह दमक
हुआ वासवदत्ता का शरीर जली हुई लकड़ी की उपमा को प्राप्त हुआ। उसके प्रेमि
ने ही उसे उठा कर नगर के प्राचीर के बाहर ला कर डाल दिया ताकि उसका
किसी दूसरे को न लगे।

ऐसे ही समय उपगुप्त अपना वचन पूरा करने वासवदत्ता की जीवित लाश
आगे आ खड़ा होता है। उसने कभी उसे वचन दिया था, 'जिस दिन समय आयेगा
स्वयं तुम्हारे समीप आ जाऊँगा।'[2]

इस प्रकार इस एकांकी के माध्यम से नाटककार ने सुझाया है कि श
नाशवान है। उसका बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। कुशल और सच्चे प्रेमी
विषय में तदनुसार नाटककार की भावना है कि उसे शरीर से दूर रह कर हृदय
समीप होना है। जो प्रेमी सौन्दर्य के बाह्य रूप पर न्योछावर है, वह प्रेमी नहीं है, प्र
तो वह, है जो भावना में बसता हो, हृदय के पास हो।

बादल की मृत्यु : डॉ० वर्मा ने संसार की इसी अनित्यता के दर्शन की प्रस्तु
अपने 'बादल की मृत्यु' शीर्षक एकांकी में भी की है, जिसे ड
रामचरण महेन्द्र ने मैतरलिंक की रूपक-पद्धति पर रचित भावात्मक नाटक कहा
और जिसे हिन्दी के क्षेत्र में उन्होंने नया प्रयोग कहा है।[3]

'बादल की मृत्यु' का बादल सन्ध्या से प्रार्थना करता है कि वह आकाश
किसी कोने में विद्यमान रहे। लेकिन सन्ध्या जानती है कि संसार का यह रंगमंच कि
एक पात्र के बहुत देर ठहरने के लिए नहीं बना है। एक क्षण में सौन्दर्य की हिल
और दूसरे क्षण में उसका विनाश—यही संसार का स्वरूप है। सन्ध्या के लिए निय
ने जो समय नियत कर दिया था, वह अब शेष हो गया है। इससे उसे रात्रि के लि
मंच खाली करना ही होगा। यही पट-परिवर्त्तन संसार का जीवन-क्रम है। इसे स्वीक
करना ही होता है।

---

१. २. पांचजन्य—वासवदत्ता—राम कुमार वर्मा—पृष्ठ ६३-६४, ७२
३. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—डॉ० रामचरण महेन्द्र—पृ० १

संसार की इस अनित्यता को प्रकट करके डॉ० वर्मा जैसे कहना चाहते हैं कि मनुष्य व्यर्थ ही इतनी भाग-दौड़ करता है। उसके जीवन का इतना ही तो विधान है कि वह संसार के रंगमंच पर अपनी भूमिका अदा कर चल दे। अपने इस छोटे-से एकांकी में वर्मा जी ने इस प्रकार एक महान सत्य को व्यंजित कर जीवन के लिए जो सन्देश दिया है, वह भी अपने में महान है।

राज्य श्री : डॉ० राम कुमार वर्मा जीवन को एक यज्ञ मानते है। इस जीवन यज्ञ की व्याख्या उन्होंने अपने 'पांचजन्य' शीर्षक एकांकी संग्रह में संकलित 'राज्यश्री' एकांकी में प्रस्तुत की है। वहाँ उन्होंने बताया है कि पुनीत रह कर अपना कर्त्तव्य करते जाना ही जीवन यज्ञ है।[1] वे तो यहाँ तक कह जाते है कि राज्यश्री जैसी विधवा को अपने पति के देहावसान के बाद सती होने की कोई ज़रूरत नहीं है। यह इसलिए कि पति-स्मृति पति-प्रेम से अधिक पवित्र है। पति का विरह पति के मिलन से अधिक शक्तिशाली है।[2] इस प्रकार वर्मा जी विधवा के लिए एक नया आदर्श स्थिर करते हैं।

ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया : डॉ० वर्मा मनुष्य जीवन के आदर्श का निर्धारण करते हुए कहते हैं कि जीवन की सफलता इस बात में है कि व्यक्ति समस्त संघर्षों में अपनी विशेषता अक्षुण्ण रखे और जीवन के अन्त में अपना पवित्र सत्य निर्विकार रूप मे मृत्युदेव को अर्पित कर दे।[3] अपने इस आदर्श को उन्होंने सन्त कबीर व्यक्तित्व में मूर्त्त देखा और उस महामहिम को विषय बना कर अपने इस आदर्श को 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया' शीर्षक एकांकी में अनुस्थूत किया। कहना नहीं होगा कि इस नाटक में वर्मा जी ने जीवन के उद्देश्य के मसले पर विचार किया है और उसका समाधान ढूँढ़ा है।

डॉ० वर्मा का चिन्तक और दार्शनिक रूप उनके अन्य कई एकांकी नाटकों में भी प्रकट हुआ है। अब हम वैसे कुछ नाटकों की चर्चा करेंगे और बतायेंगे कि उनकी रचना के पीछे कौन सी समस्याएँ प्रेरणा-रूप रही हैं।

कादम्ब या विष : डॉ० वर्मा का एक एकांकी है 'कादम्ब या विष,' जिसे बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इस नाटक में डॉक्टर साहब ने कुमारगुप्त और अनन्त देवी के प्रमाण पर यह दिखाया है कि जब स्त्री का आत्म-समर्पण पुरुष के मनोविज्ञान का अंग बनता है तो जीवन मृत्यु के सामने घुटने टेक देता है। सौन्दर्य और विलास के आवरण में पोषित होने वाली अनन्त देवी की महत्वाकांक्षा ने कुमारगुप्त के लिए कादम्ब की मादकता को विष की मूर्छा बना दिया। इसलिए नाटककार की सलाह है कि पुरुष स्वामी बन कर सौन्दर्य की सराहना तो करे लेकिन सेवक बन कर आत्म-समर्पण न करे।[4]

---

१ २. पांचजन्य—राज्यश्री—डा० राम कुमार वर्मा—पृष्ठ १०४, १०३
३. ऋतुराज—ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया—पृष्ठ १०७ (संकेत)
४. ऋतुराज—कादम्ब या विष—रामकुमार वर्मा—पृ० ३ (संकेत)

स्वर्ण श्री : नारी के विषय में वर्मा जी की जो महती भावनाएँ हैं, उनकी अभिव्यक्ति हुई है—उनके 'स्वर्ण श्री' ऐतिहासिक एकांकी में। कथा है कि इन्द्राणी के अपमान ने 'नहुष' के वैभव का अग्नि-संस्कार किया। ऐसी ही एक कथा को 'स्वर्णश्री' में प्रस्तुत करके डॉ० वर्मा ने सुझाया है कि पवित्र नारी का अपमान संसार में क्रान्ति का अग्रदूत होता है और उसका सन्तोष ही स्वर्णश्री का प्रतीक भी।[1] इस ऐतिहासिक नाटक में उन्होंने प्रजा के प्रति राजा के दायित्व-धर्म का भी निर्धारण किया है और बताया है कि प्रजा असन्तोष राजनीति का अभिशाप है राजा को समझना चाहिए कि उसकी स्थिति प्रजा के प्रथम सेवक की है। जो व्यक्ति प्रजा के पैर बन कर नहीं चलता, सत्ता के मद में अन्धा हो जाता है, उसके लिए सिंहासन काँटा बन जाता है। शासक जब पद के मद में बावला हो कर प्रजा के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं करता तब वह सहज ही मृत्यु-पथ का पथिक भी बन जाता है।[2] कहना नहीं होगा कि इस नाटक के द्वारा नाटककार ने प्रजा के सार्वभौम अधिकार का उद्घोष किया है। इस नाटक का नागदत्त बड़े सीधे शब्दों में कहता है—'राज्य-धर्म की उचित आलोचना का अधिकार प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को है। यदि राज्य-धर्म की उचित आलोचना न हो तो वह व्यवस्थित नहीं हो सकता।'[3] स्पष्ट है कि डॉ० वर्मा ने इतिहास के व्यतीत में जा कर वर्त्तमान की एक बड़ी समस्या का समाधान ढूँढ़ा है। जिस वृहद्रथ ने प्रजा की रक्षा नहीं की, धारिणी जैसी नारियों का अपहरण होने दिया, सैनिकों को वेतन नहीं दिया, निरपराधियों को दंडित किया, अपने विलास की छाया में प्रजा को भाँति-भाँति से कष्ट पहुँचाया और दुष्ट तथा विलासी विदेशी तेलिपस के पैशाचिक मनोरंजन के लिए एक निरीह और निरपराध लांछिता नारी को नृत्य करने के लिए मजबूर किया—उसे सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं हो सकता। उसकी दिशा दक्षिण की, यमराज की दिशा ही हो सकती है।[4]

राजरानी सीता : नारी के विषय में डॉ० वर्मा की जो महती कल्पना है, उसका आधार है—उनकी राजरानी सीता, जिनमें शक्ति का वह विशाल, विराट पुंज है, जो प्रबल प्रतापी रावण को भी दो टूक कह दे कि अन्यायी भी कहीं शक्तिशाली हो सकता है, पापी भी कहीं भक्त हो सकता है, कायर भी कहीं शूरवीर हो सकता है? जिसने अपनी सारी लज्जा खो दी है वह अपने सम्मान की बात किस मुख से कह सकता है?[5]

'पांचजन्य' शीर्षक एकांकी संग्रह में वर्मा जी के भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर आधारित पाँच नाटकों को संकलित किया गया है। इन नाटकों के विषय में वर्मा जी ने 'कुछ शब्द' में लिखा है—'जीवन की समस्या और चरित्रों का मनोविज्ञान

---

१. २. ३. ४. ऋतुराज—स्वर्ण श्री—रा० कु० वर्मा (संकेत)—पृष्ठ ४३, ४३, ४८, ७४, ७३

५. रम्यरास—राजरानी सीता—रा० कु० वर्मा—संकेत पृ० ३१

दो किनारे हैं, जिनमें हो कर मेरे नाटकों की कथावस्तु प्रवाहित हुई है।''[१]

उदयन : 'पाँचजन्य' के उदयन शीर्षक एकांकी में कौशाम्बी के इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट उदयन की कथा आती है। उदयन को तथागत के धर्म से असन्तोष है। वह यह देख कर खीझता है कि जिस सिद्धार्थ को क्षत्रिय होने के नाते कर्मयोग में अनुरक्त होना चाहिए था, वे निर्वाण में अनुरक्त हो रहे हैं और शान्ति तथा अहिंसा का प्रचार कर रहे हैं। उदयन का खयाल है कि जिस क्षत्रिय ने अपनी क्षत्राणी और [illegible] को भिक्षु बना लिया है, वह अन्य राजवंशों में भी इसी विनाश का बीज बो रहा है।[२] इसलिए वह बोधिसत्व को अपने बाण का लक्ष्य बनायेगा ताकि अगले जन्म में उस बाण के प्रभाव के कारण बोधिसत्व का क्षत्रियत्व जाग उठे।[३] उदयन के तथागत-विरोध का एक वैयक्तिक कारण भी है। इस कारण का संकेत मिलता है उसके निम्नलिखित कथन से—'जिस सामवती को मैं प्राणों की भाँति प्रिय समझता हूँ, वही सामवती तथागत को प्राणों से अधिक मानती है। ऐसे तथागत को आज मैं बाण का लक्ष्य बनाऊँगा। बाण तो तथागत के हृदय में लगेगा किन्तु पीड़ा सामवती को होगी। वह पीड़ा मैं सहन करूँगा।'[४] और सचमुच वह तथागत पर लक्ष्यबेधी बाण चला देता है। लेकिन तथागत का बाल भी बाँका नहीं होता। तथागत उदयन के पास समुपस्थित हो कर धर्मोपदेश करते हैं और उसे सुझाते हैं कि शरीर के पाशविक बल से, एकनिष्ठ हुए मन की शक्ति अधिक है।[५] इस प्रकार इस नाटक के द्वारा नाटककार ने मनुष्य-समाज में देह-शक्ति के वर्द्धन के लिए जो आपाधापी मची हुई है, उसकी व्यर्थता सिद्ध की है। भौतिक बल के विकास से संसार के लिए जो खतरा आज उत्पन्न हो गया है, वर्मा जी ने उसे दूर करने के लिए आत्मिक शान्ति, मनोबल के विकास पर बल दिया है।

चम्पक : डॉ० वर्मा को अपने समाज के ढाँचे से असन्तोष है। उनके इस असन्तोष-भाव को देश के आर्थिक ढाँचे के असन्तुलन से और भी बल मिलता है। 'चम्पक' शीर्षक अपने एकांकी में उन्होंने बताया है कि उस समाज की व्यवस्था की बलिहारी है, जिसमें रोटी के एक टुकड़े के लिए मनुष्य की कुत्ते से ईर्ष्या-स्पर्द्धा हो। किशोर नामक एक भावुक कवि की नज़र जाड़े की एक रात में टहलते समय एक ऐसे कुत्ते पर चली जाती है, जो ठंड से ठिठुर रहा है। किशोर को लगा कि वह बड़ी कातर दृष्टि से उसकी ओर देख रहा हो—जैसे मुसीबत में पड़ कर उसको सहायता के लिए पुकार रहा हो। किशोर उस कुत्ते को घर ले आता है, उसकी देखभाल करता है और कुत्ता मोटा-ताजा हो जाता है। किशोर ने उसका नाम दे रखा है चम्पक। चम्पक कवि के स्नेह और समय पर ऐसा हावी हो जाता है कि कवि को ममता के सारे बन्धन काट कर उसे अपने यहाँ से दूर कर देना पड़ता है। लेकिन किशोर की बहन है, जो चम्पक के बिना रह ही नहीं सकती। अपनी बहन के सन्तोष और सुख के लिए किशोर

---

१. पांचजन्य—कुछ शब्द—रा० कु० वर्मा—

२. ३. ४. ५. पांचजन्य—उदयन—रा० कु० वर्मा—पृष्ठ २१, २२, २३, ३५—२३

कुत्ते की खोज में निकलता है। इस बार उसे एक बूढ़ा लँगड़ा भिखारी मिल जाता है, जो उसे बताता है कि उसने चम्पक को मार डाला है। यह इसलिए कि वह मुहल्ले में उसका हक मार रहा था। किशोर को चम्पक की मृत्यु का दुःख होता है। लेकिन उससे भी बड़ी बात तो यह उसे दीख जाती है कि हमने यह कैसी अर्थ-व्यवस्था कायम कर रखी, है जिसमें आदमी कुत्ते से ईर्ष्या रखने के लिए विवश हो। प्रश्न का यही पहलू उठ कर किशोर को प्रेरित करता है कि वह उस बूढ़े भिखारी को अपने घर ले आये और उसे हिफ़ाज़त के साथ रखे।

रेशमी टाई : समस्या-नाटककार की नज़र बड़ी पैनी होती है। वह छोटी-सी-छोटी बात में भी किसी सत्य के दर्शन कर लेता है। डॉ० वर्मा का 'रेशमी टाई' शीर्षक एकांकी इस बात का प्रमाण है। 'रेशमी टाई' के नायक नवीनचन्द्र की अच्छी-खासी आमदनी है। जीवन-यापन विषयक कोई कठिनाई या संघर्ष उसे नहीं है। लेकिन छुटपन के उसे एक बुरी लत लग गयी है। वह बुरी लत यह है कि वह मौका पा कर दूसरे की चीज झटक लेता है। पढ़ते समय किताबों के खरीदने में वह हाथ की सफ़ाई दिखलाया करता था। आज बड़ा हो कर, पैसे कमा कर भी वह वैसा ही कमाल किया करता है। कल ही वह मदन खन्ना के यहाँ टाई पसन्द करने गया था। दूकान पर उसने दो टाइयाँ पसन्द की लेकिन ली एक ही। विक्रेता ने प्रमादवश दोनों ही टाइयों को बंडल में बाँध दिया और दाम एक का ही लिया। अपने हाथ की सफ़ाई नवीनचन्द्र ने दूसरी बार सुधा के गट्ठर से खादी का एक थान निकाल कर, दिखायी और इससे आगे बढ़ कर अपनी पत्नी लीला की अँगूठी झटक ली।

लीला उसकी इस बुरी लत पर खीझती है। उसकी प्रतिक्रिया होती है कि नवीनचन्द्र को मदन खन्ना की दूकान पर जा कर एक टाई वापस कर देनी चाहिए। सुधा के थान को तो उसने दाम चुका कर खरीद ही लिया है। अपने स्वभाव के इस दुर्गुण के लिए शर्मिन्दा होने के बजाय नवीनचन्द्र अपने कुकृत्य का समर्थन यह कह कर करता है कि पूँजीपति एक के चार वसूल कर, जो अपराध करते हैं, उसकी सजा तो उन्हें मिलनी ही चाहिए। नवीनचन्द्र उन्हें अपने आचरण से वही सजा देता है। अपने पक्ष को प्रमाण-परिपुष्ट बनाने के लिए वह मार्क्स का हवाला देता है और कहता है कि दुनिया को बदलना होगा। लीला उससे आग्रह करती है कि वह समाजवाद का नाम न ले। अपने दुर्गुणों को छिपाने के लिए मार्क्स का नाम न बेचे। नहीं तो देश रसातल में चला जायगा। लीला के समझाने का असर नवीनचन्द्र पर पड़ जाता है और वह स्वीकार करता है कि 'सोशलिज़्म के विचार रखते हुए भी एक आदमी सचाई के साथ रह सकता है। वह लोगों के साथ ठीक बर्ताव रख सकता है। धनवानों से लड़ सकता है लेकिन सचाई के साथ, प्रेम के साथ। वह बुकसेलर की किताबें नहीं उड़ा सकता और न ही खद्दर का थान....।'[1] अब वह इसी दम मदन खन्ना के यहाँ टाई वापस भेजेगा।

१. रेशमी टाई—रा० कु० वर्मा—पृ० १८८

इस एकांकी में इस प्रकार मनुष्य की एक कमजोरी का चित्र खींचा गया और बताया गया कि छुटपन की पड़ी हुई आदत, बड़े होने पर भी नहीं जाती। मनुष्य के स्वभाव की यह विलक्षण विवशता है। लेकिन प्रश्न तो तब खड़ा होता है, जब वह अपने स्वभाव, अपनी लत की दुर्गुणता को दूर करने का प्रयास न करके अपना सारा ज्ञान-विज्ञान बुराई के समर्थन और उसके औचित्य के प्रतिपादन में खर्च कर देता है। बुराई से उतनी हानि नहीं होती, जितनी बुराई के समर्थन की अनथक चेष्टा से।

उत्सर्ग : डॉ० वर्मा ने 'उत्सर्ग' शीर्षक अपने एकांकी में यह दिखाया है कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पुण्य का पुण्य से संघर्ष हो जाय। 'उत्सर्ग' का डॉ० शेखर एक ऐसा महान वैज्ञानिक है, जो मृत्यु के रहस्य को हासिल करने के लिए अनथक प्रयत्न, प्रयोग कर रहा है। वह मनुष्य के सूक्ष्म शरीर को उसके स्थूल शरीर से पृथक् करने की चेष्टा कर रहा है। इस प्रयोग के सिद्ध होने के बाद स्थिति यह होगी कि जैसे रेडियो के संगीत की लहर लन्दन से चल कर मसूरी पहुँचती है, वैसे ही मनुष्य एक लहर बन कर क्षण भर मे लन्दन पहुँच जा सकेगा। आज का विज्ञान केवल पदार्थ (मैटर) की खोज करता है, वह आत्मा (स्पिरिट) की खोज करेगा। उसने ऐसा यंत्र तैयार कर लिया है, जिसके सहारे वह मृतात्माओं को अपने पास बुलाता है, उन्हें मनुष्य का भौतिक शरीर देता है और उनसे बातें करता है।

इस डॉ० शेखर को छाया नामक एक महिला से प्रेम था। लेकिन दोनों का विवाह न हो सका। विवाह के न होने का कारण यह है कि शेखर को अपने एक बड़े प्यारे मित्र की विधवा पत्नी और उसका प्राणमणि बेटी मंजुला के संरक्षण का कर्त्तव्य-भार ग्रहण करना पड़ा। उसने सोचा कि छाया से विवाह करने के बाद वह अपना यह कर्त्तव्य निष्ठापूर्वक पूरा नही कर सकेगा। उसने यह भी उम्मीद की थी कि उसके इस उत्सर्ग का कोई मोल छाया के हृदय मे होगा और वह शेखर के सेवाव्रत का अनुमोदन करेगी; आजन्म अविवाहित शेखर के प्रति उसके हृदय में करुणा की सम्वेदना होगी। लेकिन ऐसा होता नहीं है। छाया शेखर को अपने अन्तःकरण से प्यार करके भी अन्ततः नारी है; वह नारी, जो प्रेम करते समय समुद्र से भी अधिक गहरी और प्रेम में निराश होने पर आग की लपट से भी अधिक भयंकर होती है। छाया प्रतिहिंसा की आग की लाल लपट में पड़ कर निश्चय करती है कि वह शेखर के मित्र की बेटी मंजुला से, जो आज डॉ० शेखर की बेटी कहलाती है, बदला लेगी और उसके जीवन की अवधि भी स्थिर कर देती है। डॉ० शेखर छाया के प्रेत से मंजुला के प्राणों की भीख माँगता है और छाया की सन्तुष्टि के लिए अपना वह यंत्र, जिसके सहारे वह प्रेतात्मा को अपने पास बुलाता था, तोड़ कर फेंक देता है। छाया का कहना है कि मृत्यु के रहस्य को कोई नहीं जान सकता। यह इसलिए कि वह मनुष्य के जानने के लिए है ही नहीं। ईश्वर ने मृत्यु को जीवन के बाद इसीलिए तो बनाया है कि संसार का जीवन रहे। इसलिए डॉ० शेखर को आत्माओं के संसार में तूफ़ान उठाने नहीं दिया

जा सकता।

इस प्रकार अपने स्वर्गीय मित्र के प्रति अपने कर्त्तव्य की जिस चेतना के कारण डॉ० शेखर ने अपनी छाया को खो दिया, उसी के आग्रह के कारण उसने अपनी महान वैज्ञानिक उपलब्धि का भी उत्सर्ग कर दिया।

स्पष्ट है, इस नाटक में कर्त्तव्य और प्रेम के संघर्ष की समस्या की प्रस्तुति हुई है। कर्त्तव्य और प्रेम दोनों ही सात्विक हैं, पुण्य हैं, और फिर भी उनके बीच संघर्ष है। दूसरी ओर नारी हृदय की एक सरल स्वाभाविक वृत्ति की ओर भी इस नाटक के द्वारा संकेत किया गया है। छाया की ईर्ष्या के प्रति हमें चाहे जितनी भी खीझ हो, उसकी स्वाभाविकता तो नकद है। हमारे आज के युग में मनुष्य जाति अपनी सीमाओं को पार करके प्रकृति पर विजय पाने के लिए जो हाथ पाँव मार रही है, उसके विषय मे भी लेखक अपना विचार इस नाटक के द्वारा प्रस्तुत करता है। मनुष्य ने इतना ज्ञान-विज्ञान हासिल कर आखिर किया क्या है ? उसने अपनी शान्ति खो दी है, अपने संसार में तूफ़ान उठा रखा है, सर्वत्र ही संघर्ष है। यही मनुष्य अपनी सीमा को लाँघ कर चला है मृत्यु के पर्दे को फाड़ कर उस पार की दुनिया में तूफ़ान उठाने। वह देख रहा है कि उसके विज्ञान ने दिक् और काल पर विजय पायी है। आज मनुष्य अनन्त समय को खंडश: विभक्त कर सकता है। तो फिर उससे आगे बढ़ कर वह अनन्त समय मे लहर की तरह अबाध क्यों नहीं बहे ? लेकिन इसमें तो बाधा है शरीर की स्थूल भौतिकता। अस्तु, वह इस भौतिकता की स्थूलता के पार जायेगा और आत्माओं के साथ एक रूप हो जायेगा। छाया शेखर को यह सब नहीं करने देगी। यह इसलिए कि वह नहीं चाहती कि मृत्यु-लोक से जीवन की परम्परा टूट जाये और धरती का कोई बेटा देवताओं की दुनिया में आग लगा दे, उसकी शान्ति नष्ट कर दे और स्वर्ग को भी उतना ही कलुषपूर्ण बना दे, जितना स्वयं उसकी धरती है। डॉ० वर्मा कहते हैं कि मनुष्य अपनी सीमाओं में ही रहे तो अच्छा हो।

●

भुवनेश्वर प्रसाद

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भुवनेश्वर का परिचय देते हुए कहा है—'साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रायः ऐसा हुआ है कि कभी एक बहुत बड़ी प्रतिभा एक तीव्र गति से आयी है और फिर सहसा लुप्त हो गयी है। उसकी अनिवार्यता सबने अनुभव की, किन्तु उसको स्वीकार करने में प्रायः सबने आनाकानी की है। भुवनेश्वर भी ऐसी ही प्रतिभाओं में से थे।'[1] भुवनेश्वर के मित्र और रामा कैफ़े जैसे छोटे-छोटे 'प्रालितेरियत' किस्म के होटलों में उनके साथ चाय पीने, राजनैतिक और साहित्यिक चर्चा करने वाले साथी रसूल अहमद 'अबोध' ने बताया है कि आयु की जिस मंज़िल पर भुवनेश्वर को साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, उससे उनका अहं अदम्य बन गया था। इस अदम्य अहं की स्वाभाविक माँग स्वच्छन्द तथा विद्रोही जीवन था।[2] इसी स्वच्छन्द जीवन को अंगीकार करने का परिणाम हुआ कि वे, न तो लेखन-कार्य में ही नियमित रह कर साहित्य के भंडार को अपनी कृतियों से भर सके और न उन्हें सामान्य रूप से भौतिक सुख-शान्ति ही प्राप्त हो सकी। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने यह बताया है कि जाड़े के दिनों में एक फटा चेस्टर और बरसात में बरसाती, सालों से न नहाने के कारण काला मटमैला जिस्म धारण करने वाली इस हस्ती को कुछ लोगों ने चोर कहा, कुछ ने पागल, कुछ ने जीनियस तो किसी ने भिखारी।[3]

भुवनेश्वर अपने युग से बेहद आगे थे और उनको अपनी पीढ़ी से भयंकर रूप से घृणा थी—विरोध था। अपने 'ऊसर' शीर्षक एकांकी नाटक के एक पात्र गृहस्वामी

---

१ क ख ग (६) भुवनेश्वर : एक परिचय—अक्तूबर १९६४—पृ० ४१—लक्ष्मीकान्त वर्मा

२. माध्यम—भुवनेश्वर प्रसाद—कुछ स्मृतियाँ—वर्ष २ : अंक १० फ़रवरी १९६६—पृ० १२

३. क ख ग (६) भुवनेश्वर : एक परिचय—अक्तूबर १९६४—पृ० ४१—लक्ष्मीकान्त वर्मा

मि० सिबेल के द्वारा उन्होंने अपना यह विद्रोही-विरोध प्रकट करते हुए कहा है—मैं कहता हूँ कि आने वाली जेनरेशन चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की, हमसे अच्छी होगी।[1]

भुवनेश्वर के विद्रोही विचार उनके 'कारवाँ' शीर्षक एकांकी-संग्रह के 'प्रवेश' और 'उपसंहार' में संगृहीत हैं। नीचे हम उनमें से कुछ का उल्लेख करते हैं :

(१) विचार-स्वातन्त्र्य के अर्थ हैं विचारों का अभाव जो वर्तमान युग में कोई ट्रैजेडी नहीं है।

(२) हमारा आधुनिक युग एक पागल वृद्धा के समान है। उसे बकने दो और यदि तुम सतर्क नहीं हो तो बर्तन, कुर्सियाँ और टेबल भी तोड़ने दो।

(३) कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर अश्लील हो जाती है। कला में अश्लीलता का अर्थ है नग्न पवित्रता।

(४) हिन्दू-विवाह वेश्यागमन का पतित रूप है।

(५) सुन्दर वेश्या समाज के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितना एक चतुर डॉक्टर।

(६) यदि वह एक बार किसी पुरुष को प्रेम करे तो पतित स्त्री से अच्छी कोई स्त्री नही है।[2]

अपने युग के भाव-बोध के प्रति इस प्रकार विद्रोह करने वाले भुवनेश्वर खंडित हो कर यदि पराजित हो गये, अपनी पहचान बताए बिना ही खो गये तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

भुवनेश्वर जैसा विद्रोही कलाकर किसी बँधी-बँधाई लीक पर नहीं चला करता। नाटककार के विषय में उनकी कल्पना यह है कि नाटककार का पूर्ण विकास तो तब होता है, जब वह स्वयं अपने असत्य पर विश्वास करने लगता है।[3] वे यह मानते थे कि 'आत्म-ज्ञान' मानव-जीवन की सबसे बड़ी समस्या है और यह तभी सम्भव है, जब वह संसार से ऊपर उठ जाय। क्योंकि मानव-जीवन के चारों ओर सभी वस्तुएँ एक समस्या है और सीमाएँ।[4] भुवनेश्वर को अपनी पीढ़ी से इसलिए शिकायत है कि इस पीढ़ी का आदमी अपनी बुद्धि-स्थूलता से वस्तुओं का वास्तविक रूप छिपाये रहता है। यही इस पीढ़ी की सबसे बड़ी समस्या है।[5] हिन्दी के वे नाटककार, जो अपने को समस्या-नाटककारों की कोटि में गिनाना चाहते हैं, समस्या के इस प्रकृत-रूप को समझ ही नहीं पाते हैं और भुवनेश्वर के शब्दों में उनका केवल एक सहज आदर्श है—वह यह कि उनके नाटक के कथोपकथन में कहीं 'समस्या' शब्द आ जाय।[6]

---

१. युग छाया—एकांकी संग्रह—सं० शिवदान सिंह चौहान—पृ० १४१

२. 'प्रवेश' और 'उपसंहार'—कारवाँ संग्रह—भुवनेश्वर—पृ०. १-६ तथा १०७-११५

३. ४. ५. ६. 'प्रवेश'—कारवाँ संग्रह—भुवनेश्वर—पृ० २, १, २, ४

भुवनेश्वर की सतर्क दृष्टि जिन समस्याओं की ओर उठी थी, वे लक्ष्मीकान्त वर्मा के मतानुसार हमारे आज के युग की हैं। वर्मा जी ने लिखा—'भुवनेश्वर छायावाद युग में जन्म लेने के बावजूद भी हमारे युग का व्यक्ति था। उसने १९६४ की समस्या को १९३६ में हल करने का प्रयास किया था। जो समस्या १९३६ ई० में भुवनेश्वर ने अकेले झेली थी, वह समस्या आज हम सबकी है।'[1] अब हम भुवनेश्वर के ही प्रमाण पर देखें कि वे समस्याएँ क्या थीं ?

'कारवाँ' के 'प्रवेश' में भुवनेश्वर ने अपने युग की समस्याओं का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है: 'आधुनिक हिन्दू-जीवन में ट्रैजेडी केवल तीन बातों तक सीमित है—वैधव्य, प्रेम, जिसका अन्त विवाह नहीं होता और पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के संसर्ग में किसी पात्र में एक मुखर 'बौड़मपन' का प्रवेश।'[2] हिन्दी के समस्या-नाटककारों के सामने समस्या के ये ही तीन रूप थे और इनको ही वे उस पीढ़ी के जीवन की व्यर्थता, अकृतकार्यता का कारण मानते थे। लेकिन भुवनेश्वर की दृष्टि इसके बहुत आगे थी। वे अपनी समस्या के आयाम की एक क्षीण झलक दिखाते हुए एक हल्का संकेत अपने इन शब्दों में दे जाते हैं : 'कूड़े गाड़ी से कुचल कर एक छछून्दर का मर जाना दुःखान्त घटना है, पर ट्रैजेडी नहीं।'[3] भुवनेश्वर की इस पंक्ति में ग़जब की व्यंजना है। वे कहना चाहते हैं कि उनके आगे जो ज़माना है, वह नितान्त सड़ा-गला है, कहिए एक कूड़ागाड़ी है और उस ज़माने में जीने वाले लोग है छछून्दर, दुर्घन्तियुक्त। युग की कूड़ेगाड़ी के नीचे छछून्दर रूपी व्यक्ति का दब कर मर जाना दुःखद घटनामात्र है, 'ट्रेजेडी'—जीवन की विफलता नहीं है। भुवनेश्वर 'ट्रेजेडी' का अर्थ 'मृत्यु' नहीं लगाते। वे 'ट्रेजेडी' का एक ही सीधा और सरल अर्थ जानते हैं—'किन्हीं विशेष पात्रों की किसी विशेष अभिव्यक्ति में अन्तिम घटना।'[4] भुवनेश्वर यथार्थ के यथार्थ पर सशक्त अँगुली धरने वाले कलाकार हैं। वे जानते हैं कि जनता यथार्थवाद से चिढ़ती नहीं है—भय खाती है। उसके सामने खड़ा होने पर आदमी को वैसी ही अनुभूति होती हैं, जैसी एक बन्दर को दर्पण में अपना मुख देख कर होती है।[5] भुवनेश्वर को इस कारण यथार्थ पर आदर्श का मुलम्मा या बेठन चढ़ाने की जरूरत नहीं दीखती। इस विषय में डॉ० रामकुमार वर्मा जैसे यथार्थवादी नाटककारों से भुवनेश्वर का जो अन्तर है, उसका प्रकाश डॉ० कामेश्वर शर्मा ने बड़े अच्छे ढंग से इस प्रकार किया है :

'रामकुमार जिस कोढ़ को दिखला कर तत्क्षण ढाँप देते हैं, भुवनेश्वर उस पर अँगुली रख चोथते हैं, नाखून गड़ा-गड़ा कर उसकी भीषणता की थाह लगाते हैं।'[6] भुवनेश्वर इस प्रकार अपने नाटकों में यथार्थ के ठोस धरातल पर अनावृत मानव की

---

१ क ख ग (६) अक्टूबर १९६४—ल० का० वर्मा—पृ० ४२

२. ३. ४. ५. 'प्रवेश'—कारवाँ संग्रह। भुवनेश्वर—पृ० ४, ५, ५, ५

३. यवनिका—एकांकी संग्रह—एकांकी परिदर्शन—डॉ० कामेश्वर शर्मा—पृ० १०

अनुभूतियों की पर्त-पर-पर्त्त खोलते जाने वाले विरल प्रतिभा-कलाकार हैं।

भुवनेश्वर को यह विदित है कि 'उदर' और 'स्त्री'—रोटी और सेक्स ये ही दो कारण हैं, जिनकी सीमाओं में पड़ कर एक हिन्दू अपने आपको परमात्मा नहीं मान पाता।[1] अस्तु, यह स्वाभाविक ही है कि उनके नाटकों में इन दो समस्याओं की प्रस्तुति हो। अब हम उनके कुछ नाटकों से परिचय-सम्बन्ध स्थिर करें और देखें कि भुवनेश्वर ने इन समस्याओं के किन रूपों को परखा है।

भुवनेश्वर ने, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बहुत अधिक नहीं लिखा। सन् १९३३ से ले कर १९५० की अपनी रचना अवधि में वे सब मिला कर दो दर्जन एकांकी भी न लिख पाये। 'आदमखोर' नाम से जो एक पूरा नाटक उन्होंने लिखना शुरू किया था, उसकी भी केवल एक ही किश्त 'रूपाभ' में प्रकाशित हो पायी। उनके इस सीमित साहित्य-भंडार से थोड़े-से ऐसे नाटको का हम विवेचनार्थ चयन कर रहे हैं, जिनमें उस युग के द्वन्द्वों तथा विरोधों की झाँकी मिलती है जिसे भुवनेश्वर जी रहे थे, दूसरे शब्दों में उस युग की समस्याओं की झलक मिलती है। एसे नाटको में भुवनेश्वर की प्रथम कृति 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना'—जो दिसम्बर १९३३ ई० मे 'हंस' में प्रकाशित हुई, विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना : भुवनेश्वर ने 'कारवाँ' के 'प्रवेश' में लिखा है—'प्राय: समस्त नाटककार, जो पेटीकोट की शरण लेते हैं, दो पुरुषों को एक स्त्री के लिए आमने-सामने खड़ा कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है। केवल बुलडाग कुत्ते के मुख से हड्डी निकाल कर अलग फेंक दी है।'[2] 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' शीर्षक एकांकी इस कथन का प्रमाण है। इस नाटक में मि० अमरनाथ पुरी और मनोज ऐसे दो पुरुष-पात्र हैं, जो श्यामा अर्थात् मिसेज़ पुरी के लिए आमने-सामने खड़े हो कर संघर्ष कर रहे है। श्यामा आज मि० पुरी से विवाह करके उसकी धर्मपत्नी तो हो गयी है लेकिन वह यह मानती है कि विवाह और प्रेम भिन्न-भिन्न चीज़ें है। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध भी हो यह तो और भी आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि विवाह के कारण समाज के सम्मुख वह मि० पुरी को प्यार करने के लिए उत्तरदायिनी है। लेकिन विवाह करके उसने अपने को उसके हाथों ऐसा बेच तो नहीं दिया है कि उसके साथ प्रेम करे ही।[3] प्रेम उसे चाहिए भी जरूर। लेकिन विवाह से ही प्रेम भी हो जाय यह कहाँ है ? श्यामा एक ऐसी ही आधुनिका है, 'जिसके लिए प्रेम का अर्थ है कि कोई उसे प्यार करे।'[4] उसका सम्बन्ध मनोज नामक एक ऐसे व्यक्ति के साथ भी है, जो बालकों की तरह एक क्षण में प्रफुल्लित और दूसरे क्षण में शोकान्वित हो सकता है। मि० पुरी के शब्दों में वह तो अर्द्ध बालिका है, जो हर समय अपने पुरुष होने के लिए क्षमा-याचना करता है,

---

१. २. ३. प्रवेश—कारवाँ संग्रह—भुवनेश्वर पृ० ३, ५, ७

४. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ १११

एक रुपहली रात्रि के स्वप्न की भाँति है, जो जीवन और प्रेम को बहुत ही थोड़ा जानता है।[1] यह मनोज श्यामा के लिए मि० पुरी के घर आया है। मिसेज़ पुरी को ऐसा दीखता है कि उसका पति मनोज के प्रति ईर्ष्यालु है। उसके इस आक्षेप को मि० पुरी स्वीकार नहीं करता। वह बताता है कि मनोज से ईर्ष्या करने के लिए उसके पास कोई वजह नहीं है। वह इसलिए कि उसे अपनी पत्नी और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है।[2] श्यामा को इस बात पर आश्चर्य है कि पुरी उससे प्रेम करने का दावा भी करता है और मनोज के प्रति वह ईर्ष्यालु भी नहीं है। वह अपनी दुर्बलता को जानती है और अनुभव करती है कि वह मनोज के प्रति निरपेक्ष नहीं रह सकती, उससे निःसंग नहीं हो सकती। यह इसलिए कि मनोज को प्रेम करना किसी भी स्त्री के लिए इतना सरल और नैसर्गिक है, जैसे वसन्त का आगमन या प्रातः समीर में कलिका का खिलना। वह हैरान है कि यह मि० पुरी कैसा पुरुष है, जिसके हृदय की भावनाएँ और वासनाएँ शरीर से विलग है।[3] तो, क्या सत्य यह है कि पुरी को उसकी पवित्रता पर विश्वास नहीं है, अपनी महत्ता पर गर्व है, विवाह के अधिकार का भरोसा है, जिसके बल पर वह इस प्रकार निश्चिन्त है?[4] भुवनेश्वर की यह नारी बेहिचक अपने पति के आगे अपने प्रणयी के प्रेम को स्वीकार कर सकती है और उसे एक झटका दे सकती है। यह भी इसलिए कि भुवनेश्वर की कल्पना में जो 'नारी' बैठी हुई है, उसकी स्थिति यह है कि 'वह उन पुरुषों के साथ फ़्लर्ट करती है, जो उसके विवाह नहीं करते और उस पुरुष के साथ विवाह करती है, जो उसके साथ फ़्लर्ट नहीं करता।'[5] यह नहीं है कि मि० पुरी अपनी पत्नी को प्यार नहीं करता। अपनी सफ़ाई में वह कहता ही है कि केवल इतना ही है कि उसके पास शब्द नहीं हैं, वह अपना प्रेम शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। श्यामा से जब वह यह कहता है कि उसका जीवन उसके हाथ में है और वह अपनी आत्मा से उसे चाहता है तो श्यामा इतना ही समझ पाती है कि यह सब बकवास है, कोरी भावुकता है।[6] स्पष्ट है, पुरी को अपनी पत्नी से जो भी प्यार हो, उसकी पत्नी को उसके प्रति ज़रा-सा भी आकर्षण नहीं है।

इधर सचाई यह है कि मि० पुरी मनोज से सचमुच ईर्ष्या करता है लेकिन वह अपनी पत्नी और मनोज की 'रानी' के आगे ईर्ष्या के इस सत्य का प्रकाश करने मे असमर्थ है।

लेकिन 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' का कथानक सहसा एक नाटकीय मोड़ लेता है और मनोज पुरी के सामने आ कर कहता है—'मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ।'[7] अवश्य ही पुरी इस झटके के लिए तैयार नहीं है। पहले तो वह यह कह कर टालना चाहता है—'ठीक है, उसको सभी प्रेम करते हैं, वह ऐसी सुन्दरी है,

---

१. २. ३. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ ५, ७, ६।

४. कारवाँ—प्रवेश—भुवनेश्वर—पृ० ७

५. ६. ७. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ११३, ७, १०

अनुभूतियों की पर्त-पर-पर्त खोलते जाने वाले विरल प्रतिभा-कलाकार हैं।

भुवनेश्वर को यह विदित है कि 'उदर' और 'स्त्री'—रोटी और सेक्स ये ही दो कारण हैं, जिनकी सीमाओं में पड़ कर एक हिन्दू अपने आपको परमात्मा नहीं मान पाता।[1] अस्तु, यह स्वाभाविक ही है कि उनके नाटकों में इन दो समस्याओं की प्रस्तुति हो। अब हम उनके कुछ नाटकों से परिचय-सम्बन्ध स्थिर करें और देखें कि भुवनेश्वर ने इन समस्याओं के किन रूपों को परखा है।

भुवनेश्वर ने, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बहुत अधिक नहीं लिखा। सन् १९३३ से ले कर १९५० की अपनी रचना अवधि में वे सब मिला कर दो दर्जन एकांकी भी न लिख पाये। 'आदमखोर' नाम से जो एक पूरा नाटक उन्होंने लिखना शुरू किया था, उसकी भी केवल एक ही किश्त 'रूपाभ' में प्रकाशित हो पायी। उनके इस सीमित साहित्य-भंडार से थोड़े-से ऐसे नाटकों का हम विवेचनार्थ चयन कर रहे हैं, जिनमें उस युग के द्वन्द्वों तथा विरोधों की झाँकी मिलती है जिसे भुवनेश्वर जी रहे थे, दूसरे शब्दों में उस युग की समस्याओं की झलक मिलती है। एसे नाटको में भुवनेश्वर की प्रथम कृति 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना'—जो दिसम्बर १९३३ ई० मे 'हंस' में प्रकाशित हुई, विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना :

भुवनेश्वर ने 'कारवाँ' के 'प्रवेश' में लिखा है—'प्राय: समस्त नाटककार, जो पेटीकोट की शरण लेते हैं, दो पुरुषों को एक स्त्री के लिए आमने-सामने खड़ा कर संघर्ष उत्पन्न करते हैं। मैंने भी यही किया है। केवल बुलडाग कुत्ते के मुख से हड्डी निकाल कर अलग फेंक दी है।'[2] 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' शीर्षक एकाकी इस कथन का प्रमाण है। इस नाटक में मि० अमरनाथ पुरी और मनोज ऐसे दो पुरुष-पात्र हैं, जो श्यामा अर्थात् मिसेज़ पुरी के लिए आमने-सामने खड़े हो कर संघर्ष कर रहे है। श्यामा आज मि० पुरी से विवाह करके उसकी धर्मपत्नी तो हो गयी है लेकिन वह यह मानती है कि विवाह और प्रेम भिन्न-भिन्न चीज़ें है। इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध भी हो यह तो और भी आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि विवाह के कारण समाज के सम्मुख वह मि० पुरी को प्यार करने के लिए उत्तरदायिनी है। लेकिन विवाह करके उसने अपने को उसके हाथों ऐसा बेच तो नहीं दिया है कि उसके साथ प्रेम करे ही।[3] प्रेम उसे चाहिए भी ज़रूर। लेकिन विवाह से ही प्रेम भी हो जाय यह कहाँ है? श्यामा एक ऐसी ही आधुनिका है, 'जिसके लिए प्रेम का अर्थ है कि कोई उसे प्यार करे।'[4] उसका सम्बन्ध मनोज नामक एक ऐसे व्यक्ति के साथ भी है, जो बालकों की तरह एक क्षण में प्रफुल्लित और दूसरे क्षण में शोकान्वित हो सकता है। मि० पुरी के शब्दों में वह तो अर्द्ध बालिका है, जो हर समय अपने पुरुष होने के लिए क्षमा-याचना करता है,

---

१. २. ३. प्रवेश—कारवाँ संग्रह—भुवनेश्वर पृ० ३, ५, ७
४. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ १११

एक रुपहली रात्रि के स्वप्न की भाँति है, जो जीवन और प्रेम को बहुत ही थोड़ा जानता है।[1] यह मनोज श्यामा के लिए मि० पुरी के घर आया है। मिसेज़ पुरी को ऐसा दीखता है कि उसका पति मनोज के प्रति ईर्ष्यालु है। उसके इस आक्षेप को मि० पुरी स्वीकार नहीं करता। वह बताता है कि मनोज से ईर्ष्या करने के लिए उसके पास कोई वजह नहीं है। वह इसलिए कि उसे अपनी पत्नी और उसकी पवित्रता पर पूर्ण विश्वास है।[2] श्यामा को इस बात पर आश्चर्य है कि पुरी उससे प्रेम करने का दावा भी करता है और मनोज के प्रति वह ईर्ष्यालु भी नहीं है। वह अपनी दुर्बलता को जानती है और अनुभव करती है कि वह मनोज के प्रति निरपेक्ष नहीं रह सकती, उससे निःसंग नहीं हो सकती। यह इसलिए कि मनोज को प्रेम करना किसी भी स्त्री के लिए इतना सरल और नैसर्गिक है, जैसे वसन्त का आगमन या प्रातः समीर में कलिका का खिलना। वह हैरान है कि यह मि० पुरी कैसा पुरुष है, जिसके हृदय की भावनाएँ और वासनाएँ शरीर से विलग हैं।[3] तो, क्या सत्य यह है कि पुरी को उसकी पवित्रता पर विश्वास नहीं है, अपनी महत्ता पर गर्व है, विवाह के अधिकार का भरोसा है, जिसके बल पर वह इस प्रकार निश्चिन्त है ?[4] भुवनेश्वर की यह नारी बेहिचक अपने पति के आगे अपने प्रणयी के प्रेम को स्वीकार कर सकती है और उसे एक झटका दे सकती है। यह भी इसलिए कि भुवनेश्वर की कल्पना में जो 'नारी' बैठी हुई है, उसकी स्थिति यह है कि 'वह उन पुरुषों के साथ फ़्लर्ट करती है, जो उसके विवाह नहीं करते और उस पुरुष के साथ विवाह करती है, जो उसके साथ फ़्लर्ट नहीं करता।'[5] यह नहीं है कि मि० पुरी अपनी पत्नी को प्यार नहीं करता। अपनी सफ़ाई में वह कहता ही है कि केवल इतना ही है कि उसके पास शब्द नहीं हैं, वह अपना प्रेम शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। श्यामा से जब वह यह कहता है कि उसका जीवन उसके हाथ में है और वह अपनी आत्मा से उसे चाहता है तो श्यामा इतना ही समझ पाती है कि यह सब बकवास है, कोरी भावुकता है।[6] स्पष्ट है, पुरी को अपनी पत्नी से जो भी प्यार हो, उसकी पत्नी को उसके प्रति जरा-सा भी आकर्षण नहीं है।

इधर सचाई यह है कि मि० पुरी मनोज से सचमुच ईर्ष्या करता है लेकिन वह अपनी पत्नी और मनोज की 'रानी' के आगे ईर्ष्या के इस सत्य का प्रकाश करने में असमर्थ है।

लेकिन 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' का कथानक सहसा एक नाटकीय मोड़ लेता है और मनोज पुरी के सामने आ कर कहता है—'मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ।'[7] अवश्य ही पुरी इस झटके के लिए तैयार नहीं है। पहले तो वह यह कह कर टालना चाहता है—'ठीक है, उसको सभी प्रेम करते है, वह ऐसी सुन्दरी है,

---

१. २. ३. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ ५, ७, ६।

४. कारवाँ—प्रवेश—भुवनेश्वर—पृ० ७

५. ६. ७. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ११३, ७, १०

उसकी आत्मा ऐसी अपूर्व है, वह ऐसी सुन्दरी है, ठीक है।'[१] यह 'ठीक है' व्यंजित कर जाता है कि मनोज ने जो कुछ कहा है, उसके अनौचित्य को समझते हुए भी पुरी बात बढ़ाना नहीं चाहता और मनोज पर प्रभाव डालना चाहता है कि वह मर्यादा की सीमा से बाहर आने का प्रमाद न करे। लेकिन मनोज तो सब सोच-विचार कर ही उसको यह सब कह रहा है। अस्तु, वह और भी स्पष्ट हो कर कहता है कि 'मैं आपके अन्तस्तल में प्रविष्ट हो कर आपसे कहना चाहता हूँ कि 'श्यामा' आपकी नहीं है, वह मेरी है।'[२] यह ठीक है कि विवाह की विधि ने 'श्यामा' को 'मिसेज़ पुरी' बनाया है लेकिन यह विधि ही तो स्वयं लौह-विधि है, जिसका कोई अर्थ नहीं है। मनोज पुरी से सीधे पूछता है—'तुमने उसे पाने के लिए क्या त्याग किये है, तुम्हारा उस पर क्या स्वत्व है?'[३] पुरी से श्यामा की एक भावना भी नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में श्यामा पुरी के लिए शारीरिक वासना-तृप्ति के साधन से अधिक हो भी क्या सकती है? इससे पुरी का श्यामा के प्रति जो प्यार है, वह केवल प्यार की विडम्बना है, जिसके घटाटोप में पुरी श्यामा को एक निर्जीव लता के समान अपने अंग से लपेटे रहना चाहता है।[४] घटना का यह मोड़ पुरी को उत्तेजित कर देता है और इस रूप में आवेश-विह्वल कर देता है कि वह उसे मारने दौड़ता है।[५] मनोज उसकी शिकायत श्यामा से करने को जब उद्यत होता है तब पुरी घबड़ा जाता है और उससे चिरौरी के स्वर में अनुनय करता हुआ कहता है—'क्या तुम उसकी सहानुभूति भी मुझसे छीनना चाहते हो? क्या तुम चाहते हो कि वह मुझे एक पतित ईर्ष्यालु मनुष्य समझे? मै तुमसे विनय करता हूँ, इससे कोई लाभ नही है, मनोज।'[६]

स्पष्ट है, पुरी यह समझ रहा है कि श्यामा उसकी नहीं है, मनोज की है। लेकिन वह यह नही चाहता कि श्यामा जाने कि मनोज के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की ईर्ष्या भी है। यह भी इसलिए कि वह श्यामा को खो कर भी उसकी सहानुभूति खोना नही चाहता। श्यामा की निगाह मे वह जो नीचे गिरना नही चाहता, सच पूछिये तो यही उसका सबसे बड़ा अभिशाप है। पुरी उससे अपना यथार्थ-स्वरूप छिपाता है। इससे स्वयं श्यामा उससे घृणा करती है और चूंकि वह उससे घृणा करती इससे वह उसकी कभी हो भी नही सकती।[७] स्थिति की यह विषमता, दयनीयता मनोज के आगे स्पष्ट है। लेकिन पुरी करे भी तो क्या? वह जानता है कि विवाह के संसार में पुरुष यदि कुछ झपट कर छीन ले तो वह उसे बहुत दिनों तक अपने पास रख नहीं सकता।[८] इससे वह 'आह।'[९] कह कर चुप्पी लगा जाता है।

पुरी की ईर्ष्या के वास्तविक रूप को देखने वाला मनोज भले ही उसके प्रति

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ १०, ११, ११, १२, १२, १३-१४, १४

८. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ ११४,

९. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ १४।

सहानुभूति रख ले, श्यामा तो यही सोच कर उससे घृणा करती रहेगी कि जो पुरुष प्रेम के अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे पुरुष से अपनी ही प्रेमिका के प्रति प्यार पर ईर्ष्यालु हो कर आपत्ति नहीं करता, वह प्यार क्या खाक करेगा।

मिसेज पुरी के इस घृणा-भाव का एक दूसरा मनो-वैज्ञानिक कारण भी है। इस कारण को मनोवैज्ञानिकों ने पीड़ातोप (sadism) कहा है। इसी के कारण श्यामा मनोज के प्रति अर्पिता हो कर यह चाहती है कि उसका पति नामधारी पुरुष ईर्ष्या की बडवाग्नि में दहकता रहे और वह उसे उस स्थिति में देख कर एकान्त सुख का अनुभव करे।[1]

इस प्रकार इस नाटक से यह विदित होता है कि नाटककार के सामने एक ऐसे पुरुष की समस्या है, जिसकी स्वधर्म भार्या उससे प्रेम नहीं करती, अपने दूसरे प्रेमी से प्रेम करती है और इस सत्य को वह छिपा कर एक गोपन रहस्य के रूप में रखना भी नहीं चाहती। उसकी यह पत्नी किसी दूर तक 'पत्नीत्व' का धर्म निबाहना भी जानती है। लेकिन उसके इस धर्म की माँग की पूर्त्ति हो जाती है—अपने पति को जाड़े से बचाने के लिए ओवरकोट पहना कर।[2] इसी धर्म के आग्रह से वह पति के पास आ कर और तनिक चिन्तित हो कर फिर से कहती है—'तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है ? देखती हूँ तुम्हें अपनी तनिक भी चिन्ता नहीं है।'[3] और फिर, यह देख कर कि पुरी चिन्ताग्रस्त है, शून्य भाव से कहीं दूसरी ओर देख रहा है उसके पास क्षण भर के लिए बैठ जाती है, उसकी उदासी दूर करने के लिए बातें करती है।[4] वह यह नहीं जानती कि अपने पति नामधारी पुरी के लिए इसके आगे वह कर भी क्या सकती है। समस्या बस इतनी-सी ही तो नही है। समस्या यह भी तो है कि पुरुष-पति अपने से हारा हुआ है। समाज का ढाँचा बदल रहा है, पुराने मूल्य खंडित हो रहे हैं और पुरातनता की संरक्षा के लिए कुछ किया भी नहीं जा सकता।

प्रतिभा का विवाह : 'प्रतिभा का विवाह' शीर्षक एकांकी में भुवनेश्वर ने विवाह के प्रश्न को उठाया है। आनन्द मोहन नामक एक व्यक्ति अपने मित्र मि० वर्मा तथा अपनी मातृहीना पुत्री प्रतिभा के साथ पहाड़ पर स्वास्थ्य-लाभ के लिए आया है। मि० वर्मा के साथ आनन्द की मैत्री तीस वर्ष पुरानी है। स्पष्ट है, वह ढलती उम्र का है। एक दिन 'पथरचटी' की यात्रा से लौट कर आने पर वर्मा आनन्द से कहता है कि वह प्रतिभा से विवाह करना चाहता है।[5] उसके इस बेतुके-से प्रस्ताव को सुन कर आनन्द भौंचक-सा रह जाता है। वह वर्मा से प्रस्ताव करता है कि वह प्रतिभा को अपनी बेटी समझ कर प्यार करे। भला उसके साथ प्रतिभा का विवाह क्यों कर हो सकता है ? इसी बीच

---

१. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ १०७

५. २. ३. ४. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ४, १५, १५, ६४,

मिसेज़ जोशी नाम की एक महिला वहाँ पहुँचती है। इस महिला के साथ आनन्द की निकटता रही है और दोनों के बीच ऐसा कुछ सम्बन्ध आज बीस वर्ष के ऊपर से है जिसे आनन्द की पुत्री प्रतिभा न ही जाने तो अच्छा।[१] मिसेज़ जोशी ने वर्मा का प्रतिभा से विवाह के विषय में प्रस्ताव सुन लिया है। वह वर्मा को याद दिलाती है कि विवाह विषयक ऐसा ही प्रस्ताव कभी उसने उसके आगे भी रखा था।[२] तो क्या यह ऐसा छिछोरा है कि जिस स्त्री को देखता है, उसके आगे विवाह का प्रस्ताव रख देता है ? वय का भी विचार नहीं करता ? ऐसे देखने पर तो मन की यही प्रतिक्रिया होती है। लेकिन सत्य यह है कि वर्मा में छिछोरापन है नहीं। उसने बताया है कि मिसेज़ जोशी के सामने उसने विवाह का प्रस्ताव तब रखा था, जब उसका पति ज्योतिवल्लभ जोशी बुरी तरह बीमार था और उस समय उसे मिसेज़ जोशी के प्यार की जरूरत नहीं थी, जरूरत थी एक चतुर और तत्पर नर्स की। इधर मिसेज़ जोशी को शायद द्रव्याभाव था और वह अपने पति के स्वस्थ होने की आशा खो चुकी थी। भावी वैधव्य की आशंका और भय से वह विचलित हो रही थी। वर्मा को उसकी हालत देख कर लगा था कि उसका नारी रूप विलीन होता जा रहा था, उसका व्यक्तित्व और अस्तित्व ही मिटने जा रहा था। अस्तु, मिसेज़ जोशी को उसने सम्पूर्ण बनाने के लिए उसके आगे विवाह का प्रस्ताव रखा था।[३] बात यह है कि वर्मा एक धनी-मानी व्यक्ति है और उसको अपने धन की अपने लिए बहुत आवश्यकता नहीं है। मिसेज़ जोशी विधवा हो कर न जाने समाज में कहाँ-कहाँ ठोकर खाती, भटकती फिरती और जिन्दगी की मार सहती। मि० वर्मा से पुनर्विवाह करके वह इन आसन्न विपत्तियों से बच सकती थी।

आज प्रतिभा से विवाह का प्रस्ताव भी वह कुछ सोच-विचार कर ही कर रहा है। वह जानता है कि एक आधुनिका को क्या आशा-आकांक्षा हो सकती है। उसे अच्छी तरह ज्ञात है कि प्रतिभा एक माता या गृहिणी हो कर सन्तुष्ट नहीं हो सकती।[४] वर्मा ने मिसेज़ जोशी से कहा ही है, 'मातृत्व एक पेशा है और आप या प्रतिभा की-सी स्त्री के लिए एक निकृष्ट पेशा है। मैं नहीं चाहता कि प्रतिभा जीवन को समझने के लिए अपना शरीर और यौवन बेचे। मैं नहीं चाहता कि वह अपनी जीविका कमाने के लिए एक माता बने !'[५] वर्मा को अपने विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं है ! वह जानता है कि उसमें ऐसा कुछ नहीं है, जिसके कारण प्रतिभा को माता बनने का खतरा हो। वह तो बस चन्द दिनों का मेहमान है। उसके जीवन-दीप के बुझने के बाद उसकी ज़मीन-जायदाद, सब कुछ पर प्रतिभा का अधिकार होगा और वह एक प्रतिष्ठित धनी विधवा की स्थिति में समाज में मज़े से रह सकेगी।[६] कहना नहीं होगा, इस धन की उसे कितनी आवश्यकता है। इधर प्रतिभा का प्रेम महेन्द्र नामक एक

---

१. २. ३. ४. ५. ६. **कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ६३, ६६, ६७, ६७, ६८, ६७,**

नवयुवक से है, जो उससे विवाह करना चाहता है और प्रतिभा अब तक 'हाँ' कहने से कतराती रही है। प्रतिभा विवाह और प्रेम में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं देखती। वह खुल कर स्वीकार करती है कि महेन्द्र से वह प्रेम करती है। लेकिन अपने इस प्रेमी के साथ वह विवाह करना नहीं चाहती। यह इसलिए कि उसको इस बात की आशंका है कि उन दोनों के बीच जो सरस कुतूहल-स्थिति है, जो कल्पना है, वह विवाह के एक ही दो वर्ष बाद उड़ जायेगी और महेन्द्र तनिक-तनिक-सी बात पर उससे खीझेगा। फिर दोनों एक दूसरे को उसके निकृष्ट से निकृष्ट अवसर पर देखेंगे, एक दूसरे के प्रति न्याय नहीं कर सकेंगे और इस तरह उनका जीवन दूभर हो जायगा।[१]

भुवनेश्वर जानते हैं कि दम्पति के प्रेम का ज्वार थोड़े समय में ही उतार का भाटा भी बनता है और उस समय उन्हें लगता है कि उनका जीवन व्यर्थ हो गया। भुवनेश्वर तो इससे भी आगे बढ़ कर यह सुझाना चाहते है कि विवाह के चन्द वर्षों में ही प्रेम की सारी भावुकता कपूर की भाँति उड़ जाती है और वही बच जाता है, जिसे आधुनिका नफ़रत की नजर से देखती है। 'कारवाँ' के उपसंहार में भुवनेश्वर ने इसी मन्तव्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

स्त्री के प्रेम के चार वर्ष :

(पहला) प्राणाधार।

(दूसरा) प्यारे

(तीसरा) ओह तुम हो ?

(चौथा) ससार का और कोई काम तुम्हें नहीं है ?[२]

स्पष्ट है, भुवनेश्वर की प्रतिभा, महेन्द्र की पत्नी और उसके बच्चों की माँ बनने में अपने जीवन की चरितार्थता नहीं देखती। महेन्द्र भावुक है और प्रतिभा की 'ना' पर बुरा मानता है।[३] प्रतिभा उसे आश्वस्त-सन्तुष्ट करने के लिए अन्त में खुल कर कह ही देती है कि बिना विवाह के भी तो वह महेन्द्र के साथ रह सकती है।[४] रही दोनों के नाते की बात। तो प्रतिभा का समाधान है—'लोलुप शायलाक। तुम मेरे सब कुछ हो—पति के अतिरिक्त, जाओ ब्लैंक चेक देती हूँ।'[५] लेकिन इन सबके होने पर भी वह विवाह तो करेगी मि० वर्मा से ही। हाँ, यह बात दूसरी है कि मि० वर्मा के धन की ज़रूरत भी उसे अपने महेन्द्र के लिए ही है। तभी तो वह महेन्द्र को अपना पोष्यपुत्र अथवा भाई बनाना चाहती है।[६]

नाटक का अन्त उस विलक्षण परिस्थिति में होता है, जब मि० वर्मा महेन्द्र को प्रतिभा की अँगुलियों से खेलता देखता है और प्रतिभा तथा महेन्द्र दोनों ही अकबका जाते हैं। लेकिन वर्मा को इस पर ईर्ष्या नहीं होती है। उलटे वह तो उनकी ओर

---

१. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ७२

२. कारवाँ—उपसंहार—भुवनेश्वर—पृ० १०७

३. ४. ५. ६. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ७२, ७२, ७३, ७२-७३,

वात्सल्य-भाव ही से देखता है ।[1]

इस नाटक की 'प्रतिभा' 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' की श्यामा की ही भाँति विवाह उस व्यक्ति से नहीं करती, जिसके साथ वह फ़्लर्ट करती है । वह विवाह करती है उस वर्मा से, जो उसके पिता की उम्र का है और जिसके साथ वह फ़्लर्ट नहीं कर सकती । दोनों में फिर भी अन्तर है कि श्यामा विवाहिता है और प्रतिभा अविवाहित, जो विवाह करने जा रही है । भुवनेश्वर मानते हैं कि आधुनिक नारी को विवाह की अपेक्षा उसी अर्थ में है, जिस अर्थ में हमको-आपको वृद्धावस्था के लिए बीमे की है । उन्होंने 'कारवाँ' के 'उपसंहार' में लिखा है—'आधुनिक विवाह स्त्री की वृद्धावस्था के लिए, जब उसका पुरुष के लिए कोई अर्थ नहीं रह जाता है, बीमा है, और वह भी निःशुल्क ।'[2] भुवनेश्वर की आधुनिका के हृदय में—चाहे वह आधुनिका मिसेज़ जोशी हो चाहे प्रतिभा—सन्तानोत्पत्ति के लिए आकांक्षा नहीं है बल्कि मातृत्व को वे दुर्वह बोझ ही समझती हैं । मि० वर्मा ने मिसेज़ जोशी से कहा ही है—'क्षमा कीजिएगा, क्या आप समझती हैं कि आपका जीवन इतना ही उपादेय और सार्थक होता यदि आज मेरे मित्र मि० ज्योतिर्बल्लभ जोशी जीवित होते और आप एक दर्जन बच्चों की माता-नानी और दादी होतीं ?'[3] और प्रतिभा के विषय में तो वह पूर्ण आश्वस्त है ही कि वह माता या गृहिणी बन कर कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकती । कारवाँ के उपसंहार में इस विषय में एक चुभता हुआ व्यंग्य भी नाटककार ने इन शब्दों में किया है ।—'धनाढ्य परिवारों की अधिकांश कुमारियाँ विवाह न करें यदि सन्तान-विरोध की कोई घुलने वाली औषधि उन्हें मिल जाय और ह्वाइटवे के यहाँ बच्चे भी बिकते हों ।'[4] स्पष्ट है कि ऐसी आधुनिकाओं के जीवन में विवाह और पति बस ढाल का ही तो काम करते हैं । कभी कहा जाता था कि जोरू उसकी होती है, जिसमें ज़ोर हो । आज बात बदल गयी है । मि० पुरी अथवा मि० वर्मा यदि ढाल बनना चाहें, जिनकी ओट में किसी मनोज अथवा महेन्द्र को खुल कर खेलने की स्वाधीनता हो, तो ठीक । नहीं तो उनका जीवन दूभर हो जाय । मि० पुरी परिस्थितियों के साथ वह समझौता नहीं कर पाया, जो मि० वर्मा कर चुका है । 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' तथा 'प्रतिभा का विवाह' के इन दोनों पात्रों के चारित्रिक अन्तर के मूल में यही बात है ।

इस एकांकी में एक ही जगह कई प्रश्न उठाये गये हैं । भुवनेश्वर का मत था कि एक स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध या तो आर्थिक होता है या कामुक ।[5] आनन्द मोहन और मिसेज़ जोशी का सम्बन्ध कामुकता का है और इससे भिन्न मि० वर्मा प्रतिभा से विवाह करके उसके साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थिर करना चाहता है । भुवनेश्वर ने वैधव्य की समस्या की ओर भी दृष्टिपात किया है । वे देख रहे थे कि उनके युग में वैधव्य की प्राचीन मर्यादा भी खंडित हो चुकी है । उनके सामने विधवा मिसेज़

१. २. ३. ४. कारवाँ—उपसंहार—भुवनेश्वर—पृ० ७३, ११४ ६८, ११२

५. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ६४

जोशी है, जिससे मि० वर्मा को शिकायत है कि उसने स्वस्थ मन से वैधव्य लाभ नहीं किया है।[१] भुवनेश्वर की बुद्धि में विधवा की समस्या नारी की आर्थिक-स्वतन्त्रता के प्रश्न के साथ सम्बद्ध है। भुवनेश्वर सुझाते हैं कि पुनर्विवाह विधवा के लिए सहायक सिद्ध हो सकता है।

भुवनेश्वर के इस एकांकी नाटक का एक विशेष महत्व होना चाहिए। सन् १९३३ मे रचित इस एकांकी नाटक में विवाह और प्रेम की जो समस्या उठायी गयी, वही समस्या पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के परवर्त्ती नाटक 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा की समस्या बनी। मिश्र जी की मनोरमा के मुख मे जैसे भुवनेश्वर की 'प्रतिभा' की वाणी ही पहुँची है कि वह मनोज शंकर से कहती है कि उसे अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लेगी। मिश्र जी ने समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही उनका मौलिक नहीं है, उस पर भुवनेश्वर की छाया है।

रोमांस : रोमांच : 'रोमांस : रोमांच' शीर्षक एकाकी में दाम्पत्य-जीवन की विफलता और तद्जन्य समस्याओ की प्रस्तुति हुई है। मिसेज सिह का प्यार अमरनाथ नामक एक व्यक्ति से था। किन्तु किसी कारणवश उसका विवाह अमरनाथ से न हो कर मि० सिंह से होता है। मिसेज सिंह अपने वैवाहिक जीवन से सन्तुष्ट नही है। एक तो उसकी बेटी चन्दा स्वर्गीय हो गयी[२] है और दूसरे मि० सिह का उसके साथ उस समय से ही एक संघर्ष जैसा चल रहा है, जब मि० सिह ने अपनी पत्नी के नाम अमरनाथ का वह पत्र चुपके से पढ़ लिया, जिसमें उसने लिखा था कि वह उसका 'उद्धार' करना चाहता है।[३] स्पष्ट है, इस नाटक में भी दो पुरुष एक स्त्री के लिए आमने-सामने खड़े हो कर संघर्ष करते है। अमरनाथ मिसेज़ सिंह के घर पहुँचता है। घर में उस समय मि० सिंह नही है। घर लौटने पर वह अमरनाथ को देखते ही जैसे असहिष्णु हो जाता है। अमरनाथ उससे हाथ मिलाने के लिए जब हाथ बढ़ाता है तो वह यह कहते हुए उसे झिड़क देता है—'मुझे हाथ मिलाने की जल्दी नहीं है।'[४] यहो नहो वह उसके प्रति अपना तीव्र आक्रोश प्रकट करते हुए यह भी कहता है—'उस समय मै आपको केवल अपनी पत्नी का प्रेमी या प्रशंसक ही जानता था पर बाद को मुझे मालूम हुआ आप उसका उद्धार भी करना चाहते है।'[५] मि० सिंह अपने इस आचरण से स्वयं सन्तुष्ट नहीं है। अमरनाथ से वह पूछ बैठता है—'मिस्टर अमर नाथ, क्या इसे आप अपनी प्रेयसी के पति की एक भद्दी और जनानी कायरता नहीं समझते हैं?'[६] मि० सिंह यह कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि उसकी पत्नी एक ऐसे पुरुष को उसके जीवन में ले आये, जो न जीवन को समझता है, न स्त्री को। उसे यह और भी असह्य है कि पति-पत्नी के बीच आने वाला व्यक्ति सुधारक के ढीले, भद्दे वस्त्र पहन कर आय, उद्धारक का निर्जीव चेहरा लगा कर आय।[७] मिसेज़

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. **कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ** ६८, ८०, ८०, ७९ ८०, ८१, ८३-८४,

सिंह से उसका जो संघर्ष है, उसे वह परम स्वाभाविक मानता है। उसकी मान्यता है कि दो वर्ष से अधिक पति-पत्नी रहने के पश्चात् यदि स्त्री और पुरुष कभी लड़ते नहीं तो दोनों कायर हैं या दोनों एक दूसरे को धोखा देते हैं।[1]

अमरनाथ की स्थिति यह है कि वह मिसेज़ सिंह को सचमुच प्यार करता है, उसके दुःख से दुःखी होता है। लेकिन वह एक भारतीय है और फिर उस पर हिन्दू है, जिसके कारण सरल-सीधी भाषा में वह राई को राई और पर्वत को पर्वत ही कह सकता है। अपने भारतीय तथा हिन्दू संस्कार की सीमा में आबद्ध अमरनाथ मि० सिंह से अपनी सफ़ाई में कहता है—'मेरा आप लोगों के जीवन में आने का केवल एक मात्र सदुद्देश्य मिसेज सिंह को यथाशक्ति निरापद और सुखी बनाना है।'[2] वह चाहता है कि मि० सिंह के अन्दर पुरुषोचित और मिसेज़ सिंह के अन्दर स्त्रियोचित भावनाओं को जगाये और उनके वैवाहिक जीवन के असन्तुलन को दूर करे।

स्पष्ट है कि इस एकांकी के ये दोनों पात्र पूर्व विवेचित एकांकियों के इस दर्जे के पात्रों से भिन्न पड़ते हैं। पति मि० सिंह एक पुरुष है और एक असुन्दर स्वार्थी पुरुष है।[3] वह जानता है कि विवाहित जीवन में सुख केवल उस अहंकार का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर विजय पाने में होता है।[4] वह स्त्री को पुरुष के लिए एक संकट समझता है और उस संकट से बचने का उसकी बुद्धि में एक ही उपाय है कि उसे गर्भवती बना दिया जाय।[5]

इधर अमरनाथ के चरित्र में वह दर्प नहीं है, जो मनोज में है, जिसके बल पर वह श्यामा के पति मि० पुरी को सीधे सपाट ढंग से कह देता है कि वह उसकी धर्म-पत्नी से प्यार करता है और वह उसकी है। मि० सिंह की उससे शिकायत है कि न उसमें साहस का बल है और न कल्पना। वह सोचता है कि चूँकि अमरनाथ एक युवक है, उसके जीवन में धृष्टता होनी चाहिए।[6] लेकिन वह तो असमय अनुभवी—अर्थात् वैसा वृद्ध, जो आत्म-तुष्टि के लिए पग-पग पर बन्धन बनाया करता है, बन चुका है। वह अपने संस्कारों से हिन्दू है और एक हिन्दू भुवनेश्वर के अनुसार वस्तु को समझने के पहले ही उपयोग में लाने की चाह करने वाला होता है। इस अमरनाथ को 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' के मनोज का शरीर भले ही मिला हो, उसकी आत्मा नहीं मिली, उसका तेज नहीं मिला। यह अमरनाथ अपने संस्कारों से हारा हुआ है। यह ठीक है कि वह मिसेज़ सिंह से उस समय प्रेम करता था, जब वह कुमारिका थी और आज भी उसके दुःख दर्द के प्रति उसके मन में सहानुभूति उत्पन्न होती है। तथापि आज उसके साथ उसका नाता भाई-बहन का-सा ही हो सकता है। यह इसलिए कि आज वह विवाहिता है और विवाह संस्था की मर्यादा के प्रति विद्रोह कर सकने का बल अमरनाथ में नहीं है।

मि० सिंह एक ऐसा पात्र है, जिसका दावा है कि उसके वास्तविक रूप को बहुत

---

१. २. ३. ४. ५. ६. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ८२, ८५, ८३, ८४, ८५, ८२

कम लोगों ने देखा है, समझा है।[१] उसमें इतना साहस है कि वह अमरनाथ को कह सके कि वह मिसेज़ सिंह को अपनी पत्नी के रूप में ले जा सकता है।[२] वह देख रहा है कि उसकी पत्नी उसकी नहीं है और हो भी नहीं सकती। फिर दाम्पत्य-जीवन की यह विडम्बना ही वह क्यों ढोये। इससे वह इसके लिए तैयार हो जाता है कि अपनी पत्नी को मुक्त कर दे। हिन्दू समाज में तब तक तलाक की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। अस्तु, यदि मिसेज़ सिंह राजी हो तो वह अपना धर्म-परिवर्तन कर लेगा। फिर उसके बाद मिसेज़ सिंह और अमरनाथ विवाह कर सकते हैं। किन्तु, अमरनाथ इसके लिए तैयार नहीं है। वह कहता है कि वह तो मिसेज सिंह को अपनी बहन-तुल्य मानता है।[३]

भुवनेश्वर को प्रेमी-प्रेमिका के इस तरह के सम्बन्ध-विपर्यय से क्रोध हो उठता है। 'प्रतिभा का विवाह' शीर्षक एकांकी में इस विषय में अपना मत वे महेन्द्र के मुख से इन शब्दों में व्यक्त करा चुके हैं: 'भाई-बहन का नाता कहने में तो बड़ा सुन्दर लगता है। पर इससे शिथिल नाता कोई संसार में होगा भी नहीं।'[४] मि० सिंह भी इस नाते को भावुकता का भद्दा अस्त्र समझता है और उसमें वह शुद्ध छल देखता है। कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को उसके पति से छीन ले तो वह उस प्रेमी के पुरुषोचित व्यवहार को सह लेगा[५] मगर इस भाई-बहन के नाते को वह लुच्चापन ही समझेगा, प्रेमी की साहसहीनता ही कहेगा।

स्पष्ट है, मि० सिंह बहुत बड़ी क्रान्ति की बात कर रहा है और जनानी भावनाओं के शान्त-सरोवर में दुबक कर रहने वाला अमरनाथ इस क्रान्ति के लिए तैयार नहीं हो सकता।

भुवनेश्वर के इस नाटक में हमें मि० सिंह के रूप में एक ऐसा जीवन्त प्राणी मिलता है, जिसमें यह साहस है कि वह पत्नी को उसके प्रेमी के लिए मुक्त कर दे और प्रेमी के आगे चुनौती रख दे कि यदि वह सचमुच अपनी प्रेमिका से प्यार करता है तो उसे पत्नी-रूप में स्वीकार करे नहीं तो अपना रास्ता नापे। जो पति अपनी पत्नी पर विजय नहीं पा सका, वह सुख क्या पायेगा और जब सुख ही नहीं मिला तो विवाह-सम्बन्ध सारहीन है, व्यर्थ है—उसे किसी भी क्षण तोड़ा जा सकता है। भुवनेश्वर हिन्दू समाज में तलाक की व्यवस्था के पक्षपाती थे। लेकिन जब तक तलाक वैध हो कर प्रचलित नहीं होता तब तक क्या दाम्पत्य-जीवन की व्यर्थता, सारहीनता का बोझ दम्पति को ढोना ही चाहिए?' भुवनेश्वर कहते हैं, एक विकल्प है। 'रोमांस : रोमाच' का मि० सिंह उसी विकल्प को अंगीकार करने के पक्ष में है।

लाटरी : भुवनेश्वर के 'लाटरी' शीर्षक एकांकी की समस्या पति-पत्नी के जीवन में एक तीसरे व्यक्ति के आने से ही खड़ी होती है। माया एक विवाहिता स्त्री है, जिसके दो बच्चे भी हैं। उसका पति किशोर प्रवास में है। विदेश में अपरिचितों के

१. २. ३. ४. ५. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ८३, ८७, ८६, ७३, ८७

बीच वर्षों रंग-बिरंगे स्वप्न देखने के बाद, जब वह 'गर्म और धड़कता हुआ हृदय' ले कर घर लौटता है तो देखता है कि उसकी पत्नी माया प्रद्युम्न नामक किसी दूसरे पुरुष के प्रेम में पागल हो गयी है। पति के प्रत्यागमन के बाद माया को अपनी स्थिति की भयानकता का बोध होता है। उसे लगता है कि पति की अनुपस्थिति में उसके प्रेमी ने उसकी आत्मा में बैठ कर उसकी भावना की हिंसक शेरनी को जगा दिया है। आज वह अपनी दुर्बलता का ढोंग भी नहीं कर सकती। प्रद्युम्न परिस्थितियों का सामना करने में असमर्थ है, उसमें 'श्यामा:एक वैवाहिक विम्डबना' के मनोज की-सी हिम्मत नहीं है। इसलिए वह पलायन करना चाहता है। वह माया से कहता है—'माया, मेरे हृदय में तुम्हारे प्रेम का बल है। संसार का कोई भी कार्य मेरे लिए कठिन नहीं है। मै तुम्हारे स्वप्न ले कर संसार के किसी कोने में चला जाऊँगा।'[१] वह माया से अनुरोध करता है कि वह भी इस सरस लेकिन अप्रिय स्वप्न को भुला दे और अपने पति से समझौता कर ले। लेकिन माया की समस्या यह है कि उसके हृदय की समस्त भावनाएँ उस स्थिति से विद्रोह करती हैं, जिसमें उसे उस पुरुष के गले मे निर्जीव लता के समान लिपट कर रहना है, जिसे वह प्रेम नहीं करती और फिर तुर्रा यह कि उसके लिए बच्चे भी उत्पन्न करने हैं। अपने पति के जीवन में ईर्ष्या की आग उठाना, उसे सालना और फिर स्वयं अपनी छाती में अपने प्रेमी प्रद्युम्न का दाहक प्रेम लिये फिरना —यह सब सचमुच कितना हीन है और कठिन भी ?

इधर किशोर प्रद्युम्न और माया के जीवन से हट जाने के लिए फिर विदेश जाने का निश्चय कर लेता है। उसका विश्वास है कि प्रद्युम्न उसे एक दिन समझेगा और क्षमा कर देगा।

माया जानती है कि समाज जीवन के अन्ध-पथ पर रोक का लाल प्रकाश है, कहिए कबाब की हड्डी है, जो हमारे गले में अड़ कर हमें उन परिस्थितियों में खींच लाती है, जिनसे बाहर होना जीवन को चुनौती देना है। वह यह भी जानती है कि समाज की प्रबल शक्ति के साथ बैर मोल लेना मामूली जीवट का काम नहीं है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे सचमुच महापुरुष हैं।[२] यदि किशोर महापुरुष सिद्ध हो सके तो वह सचमुच उस पर गर्व करे, उसे बधाई दे।[३] लेकिन जब उसे यह स्मरण होता है कि उसने स्वयं कैसा आचरण किया है तो वह तड़प उठती है—'इस मनुष्य को रोको....जो एक निर्लज्ज बेवफ़ा स्त्री के लिए अपना हृदय और घर तोड़ कर जा रहा है।'[४] माया के के सामने एक व्यावहारिक कठिनाई का सवाल भी खड़ा है। उसके और किशोर के बच्चो का क्या होगा ?[५] क्या वे प्रवंचना के क्रूर हास्य और भाग्य का कुटिल परिहास बन कर समाज के बीच रहें ? किशोर का समाधान है—'बच्चों को प्यार से रखना, उनका आर्थिक मूल्य ही समझ कर।'[६] माया परिस्थितियों के जिस वात्याचक्र में फँस गयी है, उससे निकलना सहज नहीं है। वह सोचती है कि प्रद्युम्न अथवा माया

१. २. ३. ४. ५. ६. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ६५, ६६, ६६, ६६, ६६, १०२

—इन दोनों में से किसी एक को मरना ही होगा।[1] दूसरा विकल्प है कि उसके दोनों प्रेमी शक्ति के बल पर इसका निश्चय कर लें कि वह किसकी रहे, अथवा किशोर अपनी पत्नी की हत्या ही कर दे। किशोर जानता है कि ज़माना बहुत आगे बढ़ आया है। माया की हत्या से समस्या का समाधान नहीं हो सकता।[2] रही बात प्रद्युम्न और उसके बीच लाटरी की तो उसके लिए वह तैयार है। वह अच्छा निशानेबाज़ नहीं है और पिस्तौल का पहला फ़ायर भी वह प्रद्युम्न को ही करने देगा। यदि प्रद्युम्न चाहे तो पिस्तौल उठा ले। इस प्रकार वह स्वयं प्राण दे कर माया के पथ से हटने को तैयार है। लेकिन इस लाटरी के लिए प्रद्युम्न ही तैयार नहीं है। उसका इस तरह की खूनी लाटरी में विश्वास नहीं है।[3] वही पति-पत्नी के जीवन से हट जाता है। इस प्रकार माया अपने पति के संसार में वापस आ जाती है। लेकिन क्या वह सचमुच वापस आ सकी है? नहीं, उसका यह कहना है कि वह एक नया संसार बसाने जा रही है। उसका जो अतीत है, उससे सर्वथा भिन्न उसका एक नया जीवन उदित हो रहा है। इस नये जीवन की इमारत प्रद्युम्न के बलिदान की नींव पर खड़ी होगी। आज वह अनुभव कर रही है कि स्त्री का वास्तविक जीवन तभी प्रारम्भ होता है, जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है। वह पुरुष चाहे उसका पति हो या प्रेमी।[4] माया की समस्या को चाहे जो भी समाधान मिल गया हो, किशोर की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। तभी तो नाटक के अन्त में उसे 'कटे वृक्ष के समान एक सोफ़े पर बैठते'[5] दिखाया जाता है।

इस प्रकार इस नाटक में स्त्री-पुरुष के नाते के भिन्न-भिन्न रूपों की प्रस्तुति की गयी है। पति-पत्नी के जीवन में आने वाले प्रेमी की समस्या के साथ ही इस एकांकी में उन बच्चों की समस्या भी उठायी जाती है, जिनकी माँ पति से भिन्न अपने प्रेमी के प्रेम में आ जाती है। भुवनेश्वर ने नाटक के अन्त में प्रद्युम्न को माया और किशोर के जीवन से बाहर ले जा कर एक समाधान, जो बहुत परिचित सा है, दिया है। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि 'एक समस्या को सुलझाना कई समस्याओं का सर्जन करना है।'[6]

शैतान : भुवनेश्वर के इस एकांकी-नाटक का प्रमुख पात्र है राजेन। यह राजेन उस दर्जे का व्यक्ति है, जिसे 'बोहेमियन टाइप' कहा जाता है। सोलह वर्ष की आयु में वह घर से भाग निकला था और जैसा कि राजा हरदेव सिंह ने कहा—दुनिया का कोई ऐब ऐसा नहीं, जो उसमें न हो।[7] अभी वह घर वापस पहुँचा ही है कि उसकी पीठ पर एक नौकर दौड़ा आता है कि उसके मालिक का सोने का गिलौरीदान उसके साथ धोखे से चला आया है। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि वह गिलौरीदान धोखे से राजेन के साथ नहीं चला आया है, बल्कि उसे वह जान-समझ कर ले आया था।

---

१. २. ३. ४. ५. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ६६, १००, १०३, १०३, १०३
६. ७. कारवाँ—प्रवेश—भुवनेश्वर—पृष्ठ ३, ४४

और अब उसे उसका स्वामी चौक की दुकान में ५० रुपया दे कर ही पा सकता है।[1] राजेन का कहना है कि दुनिया में रुपया ही ब्रह्म है, शिव है, विष्णु है, सब कुछ है।[2] उसके जीवन में श्रद्धा का स्थान ही नहीं है, न ही उसकी उसे आवश्यकता दीखती है। यह राजेन भी पहले पुण्य पर विश्वास करता था और इसलिए अपने ही नगर में एक कुत्सित पापी था। लेकिन आज वह 'शैतान' बन कर अनुभव करता है कि वह परमात्मा का भी स्वामी, अपना स्वयं विधायक, स्वयंभू है और इस प्रकार पाप-पुण्य से परे है। वह कहता है कि कभी वह भी पाप को एक वर्जित फल समझता था, हौआ मानता था। लेकिन जब उसने पाप के उस फल को लुक-छिप कर चख लिया तो उसे लगा कि दुनिया कितने धोखे में रहती है। आज राजेन को पाप से घृणा नहीं है, भय भी नहीं है। वह अनुभव करता है कि वह स्वयं सत् चित् और: आनन्द है, विश्व को पूर्ण करने वाली व्यापक आत्मा है और इसी अर्थ में वह पाप भी है।[3]

राजेन के पिता का भांजा हरदेव सिंह राजेन के घर से भागे हुए होने के कारण उसकी स्टेट का स्वामी बना बैठा है। वह हृदय से यही चाहता है कि किसी तरह स्टेट उसके हाथ रह जाय। ऐसे कहने को यह कह देता है कि—'मामा जी ने विल हमारे नाम की थी, पर मुझे तुम्हारा यह कुछ न चाहिए।'[4] यह इसलिए कि उसके आत्मा है और वह धन तथा ऐश्वर्य के लिए उसका हनन नहीं कर सकता और फिर वह तो देश-सेवक है, वलि पन्थी है।[5] लेकिन राजेन को यह अच्छी तरह मालूम है कि जो स्वयं निर्धनता का आलिंगन करता है, उसको धन की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। वह मान प्रतिष्ठा का भूखा होता है और यह मान-प्रतिष्ठा धन का दूसरा नाम ही तो है।[6] इस धन से बड़ी-से-बड़ी राजनैतिक संस्था को खरीदा जा सकता है। अस्तु, हरदेव का यह कहना कि उसे धन नही चाहिए, झूठ है। ऐसे पाखंडी ही नास्तिक हैं, मक्कार हैं। राजेन ने जीवन के जिस सत्य का अनुभव किया है, वह उसे सुझा रहा है कि हरदेव के सम्पत्ति-विसर्जन का उद्देश्य है—राजेन को स्वयं उसकी अपनी ही दृष्टि मे हीन बनाना, उसके जीवन में एक भद्दी भावुकता भर देना और उसके जीवन को ही नष्ट कर देना।[7] राजेन जैसे लोग धन पर मरते नहीं हैं। उसे यह विदित है कि महलों के कनकाभ शिखर कबूतरो के ही घोंसले होते है, पक्षिराज के नहीं। अस्तु, वह अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लेता है।

हरदेव की पत्नी आज राजेन को घृणा करती है यद्यपि उसने ऐसा कुछ नहीं किया, जिससे उसके प्रति उसको घृणा-भाव रखना पड़े। स्पष्ट है, उसकी घृणा के मूल में भी धन की स्पृहा ही है। राजेन उसे सतर्क करते हुए कहता है—'तुम मेरी ओर से उदासीन रह सकती हो, पर मुझे घृणा मत करो। स्त्री की घृणा पुरुष पर बलात्कार

---

१. २. कारवाँ—प्रवेश—भुवनेश्वर—पृ० ४८, ४७।

३. ४. ५. ६. ७. कारवा—भवनेश्वर—पृष्ठ ५०, ५४, ४६, ४६, ५०, ४६,

है।'[1] और सचमुच एकांकी की अगली कथा यह बताती है कि हरदेव सिंह का स्थानापन्न हो कर जब राजेन अज्ञात स्थान में ले जाने के लिए पुलिस के आगे आत्म-समर्पण करता है तब हरदेव की पत्नी का राजेन के प्रति यह घृणा-भाव टिका नहीं रह पाता। भुवनेश्वर का कहना है कि 'स्त्री एक विशेष पुरुष के लिए अपनी सम्मति, अपने प्रति किये गये व्यवहार से ही बनाती है।'[2] उसका अपने पति के आगे तर्क होता है—'वह पुरुष बहुत भद्र है। तुम कहते हो, वह हत्यारा है। उसने मेरी हत्या तो कभी की ही नहीं।'[3] हरदेव की धर्मपत्नी भी हरदेव से कह सकती है—'तुम कहते थे दुनिया का ऐसा कौन-सा ऐब है, जो राजेन मे नहीं है। लेकिन मैंने तो देखा है—वह कितना सुन्दर और होनहार है, कितना महान है।' अनुभव के इसी आवेश में तो वह उसके गले में बाँह डाल कर उसके ओठों को चूम लेती है।[4]

हमारी इस दुनिया में धन की शक्ति ही सर्वोपरि है। उसके ही कारण हमारी आज की पीढ़ी का आदमी अपनी आदमीयत खो कर शैतान हो रहा है। राजा हरदेव सिंह का, राजेन के पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है लेकिन राजेन की अनुपस्थिति का लाभ उठा कर वह स्टेट् का उत्तराधिकारी बन बैठा है। यही नहीं, बल्कि चाहता है कि कोई ऐसी सूरत निकल आये, जिससे वह राजेन को उसके पिता के उत्तराधिकार से वंचित कर दे। इसके लिए वह धर्म की आड़ लेना चाहता है। यदि किसी तरह यह सिद्ध हो पाता कि राजेन ने धर्म-परिवर्तन कर लिया है तो हरदेव का काम चल जाता।[5] ऐसे कहने को तो वह कहता है कि उसे धन-ऐश्वर्य और रियासत नहीं चाहिए। मगर यह सब झूठ है, पाखंड है। राजेन जीवन की खुली राह पर चल कर यह समझ गया है कि धन मानवीयता के विकास में कितना बाधक है। इससे वह स्वयं रियासत के पाप में फँसता नहीं है। भुवनेश्वर की अपनी पीढ़ी से यह शिकायत है कि उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य नहीं है और ऊपर से त्याग और बलिदान का लबादा ओढ़ने वाले लोग धन के प्रसंग में बिल्कुल मक्कार हैं।

भुवनेश्वर को अपनी पीढ़ी से यह भी शिकायत है कि कहने को तो वह ज्ञान-विज्ञान को अर्जित करने के क्षेत्र में आकाश की ऊँचाई छू रही है लेकिन अपने इस बुद्धि-बल का उपयोग वह अपने स्वार्थ की सीमा का विस्तार करने में ही तो कर रही है। इस प्रकार विद्या आज अपाहिजों के हाथ लग गयी है[6] और मनुष्य की दुनिया ज़रा भी आगे नहीं बढ़ पायी है। वह कहता ही है—'मेरे लिए तो दुनिया जैसी दस वर्ष पहले थी, वैसी ही आज भी है।'[7] आज हरदेव सिंह बुद्धि का विभ्राट प्रदर्शन केवल इसी लिए तो कर रहा है कि राजेन की सम्पत्ति के ऊपर वह साँप की तरह कुंडली मार कर बैठा रहे। लेकिन क्या यह ज्ञान-विज्ञान का दुरुपयोग नहीं है? आज मनुष्य में

---

१. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ५५
२. ३. कारवाँ—भुवनेश्वर—उपसंहार—पृष्ठ १०७, १०८
४. ५. ६. ७. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ५८, ४४, ४६, ४६,

केवल बुद्धि रह गयी है, कल्पना का लेश-मात्र भी नहीं। भुवनेश्वर मनुष्य जाति के इस पतन पर हैरान है और एक तमाचा मार कर उसे सुझाना चाहते हैं कि वह कहाँ जा रही है। जो ऐसा न करें तो खतरा यह है कि आदमी, आदमी न रहे, शैतान हो जाय।

भुवनेश्वर नारी को एक अबूझ पहेली मानते हैं, उसे 'रात्रि के समान रहस्यमयी[1] कहते है। हरदेव की पत्नी की (जो राजेन की बुद्धि में उन स्त्रियों में है, जो अच्छी कही जाती है[2]) अवतारणा करके भुवनेश्वर ने इसे प्रमाणित किया है। भुवनेश्वर स्त्री को स्त्री कहना पसंद करते हैं, अच्छी या बुरी विशेषण का प्रयोग वे स्त्री के संदर्भ में करना नही चाहते। 'कारवाँ' के उपसंहार में उन्होने लिखा है—'मैंने अनेकों (?) 'अच्छी' स्त्रियों को बुरी स्त्रियों के साथ समानता का व्यवहार करते देखा है।'[3] नारी-प्रकृति को पहचानने की चेष्टा करने वाले को यह याद रखना होगा कि पुरुष और स्त्री की आत्माएँ भिन्न पदार्थो से निर्मित हैं। इसलिए अच्छाई-बुराई का जो मापदंड पुरुष को जाँचने के लिए हम स्थिर करते हैं, उसके प्रमाण पर नारी को नही परखा जा सकता और यदि परखिए तो निष्कर्ष ग़लत होगा। हरदेव की पत्नी को ही देखिए। पर-पुरुष को अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर चूम लेने वाली इस नारी को 'अच्छी' कहेंगे या 'बुरी' ? यदि 'अच्छी' कहिए तो बुरी स्त्रियों को बुरी होने में क्या टोटा हुआ ? और फिर उसे 'बुरी' कैसे कहिएगा ? इसीलिए भुवनेश्वर ने कहा कि स्त्री एक विशेष पुरुष के लिए अपनी सम्मति अपने प्रति किये गये व्यवहार से ही बनाती है। स्वयं स्त्री के पास पुरुष को परखने के लिए अपना मानदंड है, वह पुरुषों के द्वारा स्थिर मानदंड का उपयोग नहीं करती। इस नाटक से इस प्रकार यह विदित होता है कि भुवनेश्वर हमारे सामने सत्य के उस रूप का दर्शन कराने वाले कलाकार है, जिसकी हमने कल्पना भी नही की थी।

स्ट्राइक : भुवनेश्वर के द्वारा उठायी गयी समस्याओं के विषय में ऊपर यह कहा जा चुका है कि वे अपने युग से बहुत आगे की समस्याएँ थीं। 'स्ट्राइक' शीर्षक उनके एकांकी नाटक से इस विचार को बल मिलता है। इस नाटक में श्रीचन्द नामक एक ऐसे व्यक्ति को प्रस्तुत किया गया है, जो वकालत का पेशा छोड़ कर व्यापार में आया है और आज देखते-ही-देखते एक कम्पनी का सर्वेसर्वा बन बैठा है।[4] मकड़ी की तरह सौ आँखें रखने वाला यह श्रीचन्द व्यापार-जगत के दिग्पाल सरदार साहब, राजा साहब और बाबू साहब कहलाने वाले लोगों की हालत देख कर परम असन्तुष्ट है। उसकी शिकायत है कि ये कम्बख्त जीवन की कला नहीं जानते, ज़रा-सा डिवीडेन्ड

१. २. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ५५, ४७

३. कारवाँ—उपसंहार—भुवनेश्वर—पृ० १०९

४. श्रेष्ठ एकांकी संग्रह—सम्पादक—डॉ हरदेव बाहरी—'स्ट्राइक'—

कम हुआ, इनके हाथ पाँव फूल गये; किसी ने हड़ताल की धमकी दे दी, घबड़ा गये, बौखला गये।[१] ठोकर मजे में झेल लेने वाला पूँजीपतियों का यह वर्ग, बहुमत से घबड़ाता है और यह नहीं जानता कि बहुमत का आज अर्थ ही बदल गया है। श्रीचन्द के अनुसार बहुमत का अर्थ है वह शक्ति, जो दुनिया को हिला दे और यह शक्ति हमेशा एक आदमी—केवल एक आदमी में होती है।[२] श्रीचन्द इसी मानी में बहुमत है। इसी से तो उसने साफ़-साफ़ ऐलान कर दिया है, 'मैं तीन साल तक कोई डिवीडेन्ड नहीं बाँटूँगा, अँगूठा कर लो मेरा।'[३] श्रीचन्द जानता है कि ये तमाम इज़्ज़तदार लोग कपड़े के नीचे मोटे घुड़मुँहें गधे हैं और वह इसलिए इनकी परवाह नहीं करता, इनके तलवे नहीं सहलाता, इनके इर्द-गिर्द चक्कर नहीं काटता। और ये उसके सामने बस मुँह बा कर रह जाते हैं।[४] लेकिन जीवन की कला में इतना सफल यह श्रीचन्द अपने घर में सचमुच बड़ा बेचारा है।

उसकी पहली पत्नी स्वर्गीय हो गयी है। उसके बच्चे निर्मल और मोती बाहर पढ़ते हैं और उसकी दूसरी पत्नी है, जो सुखी, सन्तुष्ट नहीं है। श्रीचन्द शायद उसको समझ भी नहीं पा रहा है। व्यवसाय में तन-मन से लगे हुए इस पुरुष की सुख-विषयक कल्पना भी असामान्य है। हार के गीत गाने वालों, टसुवे बहाने वालों से उसे नफ़रत है।[५] उसके सामने जीवन का स्पष्ट उद्देश्य है। वह चाहता है कि आदमी अपनी बची-खुची शक्ति का प्रयोग करे। सभ्यता तो इसी शक्ति का अधिकाधिक लाभ उठाने की क्षमता देती है और इसके अलावा उसका प्रयोजन भी कुछ नहीं है।[६] रहा सुख का प्रश्न। तो, उसका विश्वास है कि एक दिन वह शीशियों में बन्द हो कर बिका करेगा।[७]

विवाह को वह एक गहरी समस्या मानता है। उसने सुना है, लोग कहते हैं—औरत को समझा नहीं जा सकता। वह कहता है—समझने की ज़रूरत ही क्या है? उसके मत में स्त्री और पुरुष जीवन की मशीन के दो पुर्ज़े हैं। मशीन का एक पुर्ज़ा दूसरे को नापने-जोखने या समझने नहीं जाता[८] वह स्वयं इसी आदर्श के अनुरूप अपने जीवन में व्यवहार करता है। वह अपनी पत्नी की गतिविधि के प्रति निरपेक्ष है। पत्नी भी अपनी ज़िन्दगी जीती है, जैसा चाहे व्यवहार करती है। दोनों ने अपनी-अपनी जगह को समझ लिया है और फिर वहाँ से दोनों में से कोई हटता नहीं। इसी का परिणाम है कि दोनों में बिगाड़ नहीं हुआ।[९] दाम्पत्य-जीवन का यह जो नक्शा श्रीचन्द ने खींच रखा है, क्या वह दाम्यपत्य-जीवन की समस्याओं का समाधान कर पाता है? स्त्री और पुरुष दो अलग-अलग पुर्ज़े हों भी तो उन्हें किसी एक ही मशीन में 'फ़िट' रहना भी तो है। कहीं ऐसा हो कि मशीन का एक पुर्ज़ा बिगड़ ही जाय, तो फिर तो मशीन ही ठप। श्रीचन्द की आज यही तो हालत है। उसकी पत्नी अपनी सहेलियों के साथ लखनऊ गयी है और घर की ताली साथ लिये गयी है। वक्त के

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९. श्रेष्ठ एकांकी-संग्रह—सम्पादक डॉ० हरदेव बाहरी— पृ० १२६, १२५, १२६, १२६, १३०, १२९, १३०, १३७, १३८

पाबन्द श्रीचन्द के अनुसार उसे साढ़े दस बजे उसके साथ खाने की मेज़ पर होना चाहिए था। लेकिन बदले में उसका सन्देश आता है कि वह रात में नहीं आ सकेगी। अब ज़िन्दगी की मशीन का दूसरा पुर्ज़ा क्या करे ? स्पष्ट है, पति-पत्नी के अपनी-अपनी राह चलने से जीवन चलता नही है। भुवनेश्वर ने स्थिति की इस विद्रूपता के प्रति व्यंग्य करते हुए दूसरे पात्र के मुह से कहलाया है—'मेरे होटल में आइये, आपकी फ़ैक्टरी मे तो आज स्ट्राइक हो गयी।'[१]

भुवनेश्वर स्त्री को एक पहेली समझते थे और यह भी जानते थे कि वह उस पुरुष से घृणा करती है, जो उसकी पहेली, प्रकृति को [illegible] का दावा करता है।[२] उनका श्रीचन्द इसीसे इस अबूझ पहेली को समझने की ज़रूरत ही नही समझता। आज की नारी पुरुष की आश्रिता बन कर रहना नही चाहती। इसमे शायद उसका अहं कुंठित होता है। श्रीचन्द अपनी पत्नी को पूर्ण स्वतंत्रता देता है कि वह जैसे चाहे रहे। गृहस्थी का कोई बड़ा या छोटा बोझ श्रीचन्द ने अपनी पत्नी पर नही डाल रखा है। घर मे नौकर नहीं है तो कोई हर्ज नही, बाज़ार से सालन मँगा लेगा और दो रोटियाँ घर पर पक जायेंगी।[३] लेकिन इतने पर भी वह देखता है कि उसकी पत्नी कुछ दिनों से ऐसी-वैसी हो रही है। स्पष्ट है, अपनी ओर से पूरी गुंजायश बरतने पर भी उसका दाम्पत्य-जीवन सुखी नहीं है। भुवनेश्वर इसी समस्या की ओर ध्यान खींचते हैं। व्यंजित यह है कि दाम्पत्य-जीवन की समस्या के समाधान के लिए जो सहिष्णुता का पाठ पुरुषों को पढ़ाया जाता है, वह भुवनेश्वर को कारगर नही दीखता। श्रीचन्द की पहली पत्नी भी उससे ख़ुश नही रहती थी, रोज ही शिकायत करती थी। उसने ज़िन्दगी की मशीन को नया पुर्ज़ा दिया, अपने को भी बहुत कुछ बदल देने का प्रयत्न किया। फिर उसकी फ़ैक्टरी मे स्ट्राइक हो गयी। आज वह अनुभव करता है कि जो पुस्तकें दाम्पत्य-जीवन की सफलता का गुर बताती हैं, वे सारी-की-सारी झूठी हैं, ग़लत हैं।[४] इसी से वह अविवाहित जवान आदमियों के भाग्य से ईर्ष्या करता है। उनको स्वतंत्र, चिन्तामुक्त देख कर ख़ुश होता है।[५]

भुवनेश्वर के एकांकी पाठकों-प्रेक्षकों के दिमाग़ों को अपने क्रान्तिकारी विचारों से झनझना देने में पूर्णतः सफल सिद्ध होते हैं। इस 'स्ट्राइक' शीर्षक एकांकी में भी ऐसा ही एक और सीधा-सा सवाल खड़ा होता है। नयी पीढ़ी के एक युवक ने श्रीचन्द की पिछली पीढ़ी से सीधा पूछा है—'आप मुझे बतलाइए, आप लोगों ने दुनिया को क्या दिया ? आपने अपने नये विचारों से कौन से तीर मारे हैं ?'[६] यदि इस प्रश्न का उत्तर हो—'नये वैज्ञानिक आविष्कार' तो उत्तर झूठा होगा। यह इसलिए कि वैज्ञानिक

---

१. श्रेष्ठ एकांकी संग्रह—सम्पादक डॉ० हरदेव बाहरी—पृ० १३६

२. कारवाँ—उपसंहार—भुवनेवर—पृ० १०६

३. ४. ५. ६. श्रेष्ठ एकांकी—सं० डॉ० हरदेव बाहरी—पृ० १२७-१२८, १३७, १३६, १३६

आविष्कारों की तो एक पूरी स्कीम है, जिसमें पीढ़ियों और समाज का कोई दखल ही नहीं है, वह तो प्रकृति धीरे-धीरे अपने आपको पूरा कर रही है।[१] स्पष्ट है, श्रीचन्द की पीढ़ी वैज्ञानिक प्रगति को अपने गर्व तथा अपनी चरितार्थता का आधार तथा प्रमाण नहीं बना सकती। अवश्य ही यह एक क्रान्तिकारी विचार है, जिसे श्रीचन्द की पीढ़ी शायद सुनना भी गवारा न करे।

एक साम्यहीन साम्यवादी : भुवनेश्वर कहते थे कि 'उदर' और 'स्त्री'—ये दो मजबूरियाँ हैं, जिनकी बदौलत एक हिन्दू अपने को भगवान नहीं मान पाता। पुरुष की इन्हीं दो विवशताओं को ध्यान में रख कर भुवनेश्वर ने अपने 'एक साम्यहीन साम्यवादी' शीर्षक एकांकी के कथानक का निर्माण किया है। कामरेड उमानाथ मिश्र नयी उम्र का है, लेखक के शब्दो में उसकी आयु तीस वर्ष के दाहिनी ओर है।[२] उसके राजनीतिक विचार उग्र हैं। राष्ट्रीय कांग्रेस को वह 'महात्मा गाँधी एंड को० लिमिटेड'[३] मानता है, खद्दर भी नहीं पहनता, दिन रात रिपोर्टो ड्राफ़्टों और अख़बारों में फंसा रहता है। मज़दूरों के बीच रह कर मज़दूर-संगठन का कार्य करता है। उसका नारा है—पूँजीपतियों का नाश हो। दुनिया यह समझ जाय कि एक श्रमजीवी को असली मजूरी उसकी मेहनत का फल है और उस पर किसी तरह का टैक्स, लगान अथवा टिकट उसे देना नहीं है।[४] इस प्रकार उसके राजनैतिक विचार भुवनेश्वर के शब्दो में 'सहिष्णुता के बाँयी ओर है।'[५]

मज़दूरों की हालत सचमुच दयनीय है। महीने की पूरी मजूरी उन्हें मिलती है केवल नौ रुपये और उसमें से भी चार-पाँच तो कट जाते हैं जुर्माने में। जो बचता है, उससे खाने को भी नहीं मिलता। अभाव की ज़िन्दगी झेलते-झेलते आज उनका भी सब्र टूट गया है। वे सोचने लगे हैं—'हमारे भी तो बीबी-बच्चे है, हम भी तो आराम से रहना चाहते हैं, हम भी तो बीमार-उमार पड़ते हैं।'[६] उनके सामने ही बड़े लोग हैं, जो नाच-मुजरे, मेले-तमाशे में हज़ारों रुपये उड़ा देते हैं। पान खा कर दस-दस रुपये थूक डालते हैं,[७] सिगरेट पी कर फूंक देते हैं। घर में किसी बच्चे को मामूली-सी जूड़ी हुई तो घर डॉक्टरों से भर गया। इधर सुन्दर जैसा मज़दूर है, जिसका बच्चा दवा के अभाव में मर गया। इस पर नेता कहते हैं—'हम सब बराबर हैं, भाई-भाई है।' कैसा मज़ाक है ? तभी तो एक बूढ़ा मज़दूर कहता है—'भाई-भाई हैं तो ब्याह दें अपनी बहन—मेरे लड़के के साथ।'[८]

स्पष्ट है, मज़दूर यह स्वीकार नहीं कर पाते कि और-ता-और उनका नेता भी उनका भाई है। भुवनेश्वर देख रहे थे कि मजदूरों के जीवन में अभाव का हाहाकार तो है लेकिन उनका कोई हमदर्द नेता नही। जो नेता हैं, वे उनके वर्ग के नहीं हैं और

---

१. श्रेष्ठ एकांकी—सं० डॉ० हरदेव बाहरी—पृ० १३६

२. ३ ४. ५. ६. ७. ८. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० २७, २८, ३३, २७, २२, २२, २६

मतलबी है। वे नारेबाज़ी कर सकते हैं, उनकी पीड़ा नहीं झेल सकते। नेता कहते हैं—दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ। नेता यही कर सकते हैं और मज़दूर हैं, जो तोते की तरह उसके दिये नारों को रटते हैं। लेकिन इन नारों से क्या होता जाता है? एकता होगी कैसे? देश में ऐसा अभाव है कि जब पुराने मज़दूर हक की माँग करें और पूँजीपतियों से भिड़ें तो दूसरे और भी कम मज़दूरी पर खटने को हुजूम बाँधे खड़े हो जायँ। इस प्रकार मज़दूरों की समस्या, वे विपन्न लोग हैं, जो मृत्यु-दूत की तरह उन्हें अपने स्थान से खिसका देने के लिए खड़े हैं।[1] कहिए—वे मजूरी छोड़ कर देहातों में चले जायँ, धरती की सेवा करके अन्न उगायें और किसान बन कर रहें तो यह भी तो किताबी बात ही रहेगी। गोविन्द का अनुभव है—खेती में क्या धरा है? छाती फाड़ कर धरती से अन्न पैदा करो, पर खाने तक को मिलता नहीं। लगान, नज़राना, मिटौनी और महाजन जोंक बन कर किसानों का खून पी जाते हैं। स्थिति यह होती है कि चार-चार बीघे गेहूँ पैदा करने वाले किसान को अगली फ़सल के लिए बीज तक उधार लेना पड़ता है।[2] तो, सिद्ध है कि समस्या यही नहीं है कि मज़दूरों के प्रति अन्याय होता है और फिर उस समस्या का समाधान मज़दूरों की एकता में है। असली समस्या तो है ग़रीबी और उसका कारण है शोषण। पूँजीपति मज़दूर का शोषण करता है। किसान, ज़मींदार, कारिन्दे और महाजन से लूटा जाता है। यही पेट की मार नये मज़दूरों को पुराने मज़दूरों के मुँह की रोटी छीनने के लिए बाध्य करती है।

उमाकान्त इन्हीं मज़दूरों की ओर से नारे लगाता है। गोविन्द जैसे मज़दूर उसका झंडा उठाये ग्रामोफ़ोन के रेकर्ड की तरह चिल्लाते हैं—दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ। भुवनेश्वर जानते हैं कि उमाकान्त जैसे नेता साम्यहीन हैं, भावुक हैं, कवि हैं, झक्की बातून हैं और अपने शब्दों, नारों पर टिक कर रहने वाले नहीं हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे जीवन की मार सह नहीं सकते। तभी तो मिल-मालिक मि० अग्रवाल उस पर विजय प्राप्त करता है और उसके रुपयों के बल पर आज वह भी बड़ा आदमी हो गया है।

उमाकान्त एक जवान आदमी है और उसमें पुरुष की कमजोरियाँ हैं। सुन्दर नामक मज़दूर की पत्नी पार्वती है, जो नाक-नक्शे वाली है। ऐसी है, जिसे कोई भी पटरानी बनाने को तैयार हो सकता है।[3] उसके ऊपर पार्वती औरत की जात ठहरी, जो या तो मजा उड़ाती है या न उड़ाने के लिए पछताती है।[4] हड़ताल की विफलता सुन्दर को भी तोड़ देती है। ज़िन्दा रहने के लिए उसे उमाकान्त के रुपये चाहिएँ और उमाकान्त को अपनी [illegible] की शान्ति के लिए उसकी पार्वती। यह सीधी-सी बात सुन्दर मज़े में समझ जाता है। प्रश्न है, वह आपत्ति क्यों नहीं करता। डंका बजा कर उमाकान्त के रँगे स्यारपन का एलान क्यों नहीं करता? उसकी विवशता काहे की है? इसी का उत्तर देते हुए सुन्दर ने कहा है—'मैं नहीं चाहता कि तू भी

१. २. ३. ४. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ २४, २४, २०, ३८

पछताये। खाली इसलिए कि तूने मुझसे शादी की है।'[१] वह उस पार्वती का पति है, जिसे वह कभी सुख नहीं पहुँचा पाया। तो फिर वह उसे अपने से बाँध कर क्यों रखे....? उसकी भोगेषणा पर अपने पति के अधिकार का पत्थर क्यों डाले रखे ? और फिर भुवनेश्वर यह भी तो मानते हैं कि स्त्री का वास्तविक जीवन तभी प्रारम्भ होता है, जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है। इसीलिए पार्वती के ज़िन्दा रहने के लिए सुन्दर को मिट जाना ही होगा।

इस प्रकार इस नाटक में मज़दूरों की दुर्दशा, दयनीयता की पृष्ठभूमि में साम्य-हीन साम्यवादी उमाकान्त का पोंगापन उभर कर आता है और सिद्ध करता है कि आदमी चाहे वह साम्यवादी ही क्यों न हो, दूसरों के दर्द पर आँसू बहाने वाला नेता ही क्यों न हो, उदर और यौन के आगे हारा हुआ है।

भुवनेश्वर के सामने मज़दूरों के नारेबाज़ जो नेता थे, उनके प्रति उनको आस्था नहीं हो रही थी। वह देख रहे थे कि यदि अग्रवाल जैसे मिल-मालिक मज़दूरों का आर्थिक शोषण करते हैं तो ये नेता भी तो अवसर पा कर उनकी इज़्ज़त पर डाका डालते हैं। अग्रवाल के शोषण को तो रो-गा कर सुन्दर सह ही लेता था लेकिन उमाकान्त के शोषण ने तो उसकी वह झोंपड़ी ही उजाड़ दी, जिसमें वह पिछले अट्ठाइस वर्षों से रह रहा था। सुन्दर अग्रवाल के शोषण के विरुद्ध नारे ही उठा सकता है, बहुत हुआ तो शहर में जा कर थोड़ा लूट-पाट कर लेगा। लेकिन उमाकान्त के शोषण का विरोध यदि वह कर पाता तो वह उमाकान्त की हत्या करके ही कर सकता।

ऊसर : 'ऊसर' शीर्षक एकांकी नाटक में भुवनेश्वर ने हमारे आज के समाज का चित्र प्रस्तुत किया है। मि० सिवल की अपनी एक गृहस्थी है, पत्नी है, बच्चे हैं। लेकिन अपनी उस गृहस्थी में उनको सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती। सिवल की पत्नी 'स्ट्रेंड हार्ट'[२] से पीड़ित रहती है। थोड़ी-सी मेहनत की, उठ-बैठ की और हफ़्ते भर बिछावन पर पड़ी रही। लेकिन यही महिला बाहर के आदमियों के बीच बिल्कुल दूसरी हो जाती है। हमारा यह समाज भी ख़ूब है, पल मे तोला पल में माशा। दूसरी मुसीबत यह ठहरी कि इस समाज में केवल दिखावा है। घर मे 'फ़िंगर बोल' की बात सुनी नहीं गयी और मिसेज सिवज़ बाहरी लोगों के सामने जैसा कि सिवल ने कहा यह दिखलाती है कि उसके परिवार के लोग हफ़्ते में दस दिन 'फिंगर बोल' बरतते हैं।'[३] अगर किसी ने कुर्सी पर गीला तौलिया टाँग दिया तो हर एक आदमी को वह निशान देखना पड़ेगा—जैसे वह कोई क्यूबिज़्म का डिजाइन हो।[४] मि० सिवल झूठ, प्रदर्शन का यह भोंडा बाज़ार चला नहीं पाता। इसी से तो बाईस

१. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृष्ठ ३८
२. ३. युगछाया—एकांकी संग्रह—सं० शिवदान सिंह चौहान : राजकमल प्रकाशन—'ऊसर' शीर्षक एकांकी—पृष्ठ १३६, १४०
४. युगछाया—एकांकी संग्रह—सं० शिवदान सिंह चौहान—पृष्ठ १४०

वर्ष के अपने विवाहित जीवन में वह कभी सुखी नहीं हो पाया। उसे इस स्थिति से विद्रोह है। उसने ज़िन्दगी को झेल कर उसकी विकृतियों का अनुभव किया है। लेकिन विकृतियों का अनुभव करके भी वह स्थिति को बदल नहीं पाता, बल्कि प्रवाह में अपने को छोड़ देता है। दूसरे वह कर भी क्या सकता है।

वह यह भी देख रहा है, इस समाज का विरोध शुरू हो गया है। आज का हर जवान किताबों के अधकचरे ज्ञान के असर से इस समाज से बग़ावत करता है। सिवल कहता है—'अपने [illegible], के जोश में वे शायद यह समझ बैठे है कि ज़िन्दगी का गहरा-से-गहरा मतलब उनके लिए स्पष्ट हो गया है। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि ज़िन्दगी लटकों-क़ानूनों में बाँधी नहीं जा सकती।[1] सिवल इस बग़ावत की व्यंथता का अनुभव कर रहा है और जानता है कि वह बग़ावत स्वयं प्रकृति के प्रति है और प्रकृति से विरोध करना छत पर से गिरना है।[2]

सिवल के अनुसार हमारी समस्या यही है कि हम रानी विक्टोरिया के ज़माने से बहुत आगे बढ़ आये हैं। हमारी यह भागती हुई सभ्यता हमें उड़ाये-उड़ाये ऊपर, और ऊपर चढ़ाये चली जा रही है, धरती से हमारा सम्बन्ध छूट गया है। लेकिन हम धरती से बच नहीं सकते। धरती की आँत में ही हमें एक दिन हज़म हो जाना है।

नयी जवानी वाले इस पीढ़ी को बदलना चाहते हैं,—नयी पीढ़ी, नयी सभ्यता लाना चाहते हैं। लेकिन सिवल को इस बात का ही विश्वास नहीं है कि पीढ़ी कोई नयी भी होती है। वह कहता है—कोई जेनरेशन आती नहीं। यहीं ज़मीन की आँतें, जब बजाय हज़म करने के, कै कर देती हैं तो कुछ बदला-बदला-सा लगता है।[3] यह बदलना अच्छा ही होता है—ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। लेकिन सिवल को इस अच्छाई से बहुत मतलब नही है। वह अपने वर्तमान से इतना ऊबा हुआ है, थका हुआ है कि कह जाता है कि आने वाला जेनरेशन चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पो की हमसे अच्छी होगी।[4] प्रश्न है, ऐसी निराशा के लिए उसके पास कोई कारण भी है या यों ही वह दिल का बुखार उतार रहा है? सिवल को शिकायत है और वह यह है कि यह सभ्यता ही ऊसर है। इस सभ्यता ने हममें भय का संस्कार पैदा किया है। आज आदमी ही आदमीयत का दुश्मन हो गया है। अपनी ही सृष्टि के विनाश के लिए उसने इतने सारे गोले-बारूद जुटा रखे हैं। आज मनुष्य को मनुष्य से ही खतरा है, भय है। इसी अर्थ में हमारा ज्ञान-विज्ञान ऊसर है। जो दुनिया को बदलने चले हैं, उनकी हालत यह है कि वे घृणा का प्रचार करते हैं। अपने से भिन्न लोगों को 'कुत्ता' समझते हैं और ज़िन्दगी को किताबों से समझना चाहते हैं। पढ़े-लिखे दूसरे नौजवान है, जिनको ब्रिज खेलने, रेकर्ड सुनने, से फ़ुर्सत नही है। ये भी ऊसर ही हैं, समाज को कुछ दे नहीं पाते। आज आदमी की ज़िन्दगी सिमट आयी है सेक्स (यौन) तक।

---

१. २. ३. ४. युग छाया—एकांकी संग्रह—सं० शिवदान सिंह चौहान—पृष्ठ १४०, १४६, १४२, १४१

उसके मानस का पर्दा उठा लीजिए, मिलेगा—'कमरा'[1]—बाथरूम-सेक्स-शाहनजफ़ रोड।" और यह परिणाम है उस मिसेज़ सिवल के मनोवैज्ञानिक परीक्षण का, जिसके विवाहित जीवन के बाईस वर्ष गुजर चुके हैं। मुसीबत यह भी तो है कि आज का आदमी खुलता नहीं। शाहनजफ़ रोड की किसी घटना की स्मृति लिये मिसेज़ सिवल बाईस साल से मि० सिवल की गृहस्वामिनी बनी बैठी हैं—दिल की यह बीमारी लिए हुए। यह भी क्या कम है ?

भुवनेश्वर ने इस प्रकार देखा है कि मिसेज़ सिवल का जीवन भी ऊसर है और वह मि० सिवल के जीवन को भी वैसे ही ऊसर बना रही है। उन्हें आज की इस ज़िन्दगी से इसीलिए विरोध है।

भुवनेश्वर के इन नाटकों के विश्लेषण से यह विदित होता है कि उन्होंने जीवन की नानाविधि समस्याओं की ओर सतर्क दृष्टि-निक्षेप किया है। मानव-मन को गुत्थियों और समस्याओं के आल-जाल में प्रवेश कर उन्होंने सत्य के उस पहलू का उद्घाटन किया, जो अबूझ ही नहीं भरसक अकल्पित भी है। भुवनेश्वर को ऐसा करते समय कितना श्रम करना पड़ा होगा, उसका हम अनुभव कर सकते हैं। यह इसलिए कि मानव-जीवन की एक बड़ी समस्या यही है कि वह अपनी बुद्धिस्थूलता से वस्तुओं का वास्तविक रूप छिपाये रहने का आदी है। भुवनेश्वर को समस्याओं के विषय में प्रेमचन्द जी ने कहा है कि 'उनकी ओर ताकते डर लगता है।'[1] प्रेमचन्द को यह डर इसलिए लगता है कि भुवनेश्वर अपने नाटकों से पाठक तथा प्रेक्षक की बुद्धि पर ऐसी करारी चोट करते हैं कि उनका दिमाग़ झनझना उठता है, ऐसा तीव्र प्रकाश फेंकते हैं कि आँखें चौंधिया जाती हैं और जी चाहता है कि नाटककार का तीव्र प्रतिवाद करें। भुवनेश्वर के पात्रों के मुँह से निकलने वाले सूत्र, जिनमें से कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—हमें सचमुच अकबक कर देते हैं। हम नहीं जानते उन्हें कैसे स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन उनको एक विकृत मस्तिष्क की बहक भी कैसे कह सकते हैं ? भुवनेश्वर यहीं तो समस्या नाटककार ठहरते हैं।

अब हम भुवनेश्वर के नाटकों के कुछ सूत्रों को प्रस्तुत करें :

(१) जो स्वयं निर्धनता का आलिंगन करता है, उसको धन की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह मान-प्रतिष्ठा का भूखा है, जो धन का दूसरा रूप है।

(२) स्त्री की घृणा पुरुष पर बलात्कार है।

(३) एक स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध या तो आर्थिक है या कामुक।

(४) मानव-जीवन की सबसे बड़ी ट्रैजेडी तो यही है कि हमारे हृदय नहीं टूटते।

(५) भाई-बहन का नाता कहने में तो बहुत सुन्दर लगता है पर इससे

---

१. विविध प्रसंग (३)—प्रेमचन्द—पृष्ठ ३७५

शिथिल नाता कोई संसार में होगा भी नहीं ।

(६) दो वर्ष से अधिक पति-पत्नी रहने के पश्चात् यदि स्त्री-पुरुष कभी भी नहीं लड़ते तो दोनों कायर हैं या दोनों एक दूसरे को धोखा देते हैं ।

(७) अनुभव तो मनुष्य-जीवन की हार है, ससार का कोई अप्रिय सत्य जब हमें पूर्णतया परास्त कर देता है तब हम उसे अनुभव कहते हैं ।

(८) हिन्दू-जीवन का यही सार है कि हम वस्तुओं को समझने से पहले ही उनका सदुपयोग करना चाहते हैं । हमारे लिए उन्हें समझना एक अनधिकार चेष्टा, एक ऐयाशी है ।

(९) विवाहित जीवन में सुख केवल उस अहंकार का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर विजय पाने में होता है ।

(१०) मैं स्त्री को पुरुष के लिए एक संकट समझता हूँ और मेरे निकट उस संकट से बचने का केवल एक उपाय है, उसे गर्भवती कर देना....।

(११) एक स्त्री को दूसरे पुरुष से चुराने में एक पुरुषोचित विजय, एक उल्लास है ।

(१२) प्रत्येक मनुष्य समाज से वैमनस्य नहीं कर सकता, इसी तरह प्रत्येक मनुष्य जीवन से आँख नही मिला सकता । जो ऐसा कर सकते हैं, उन्हे हम महापुरुष कहते हैं ।

(१३) स्त्री का वास्तविक जीवन तभी प्रारम्भ होता है, जब एक पुरुष अपने आपको उसके लिए मिटा चुकता है, वह मनुष्य चाहे उसका पति हो या प्रेमी ।

भुवनेश्वर ने अन्य नाटककारों की ही तरह पेटीकोट की शरण ली है और इसे उन्होंने साफ़ शब्दों में स्वीकार किया भी है ।[१] इससे उनके नाटकों की समस्याएँ भी स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्ध के वृत्त पर चक्कर काटती हैं । भुवनेश्वर यह भी जानते हैं कि स्त्री एक अबूझ पहेली है और उस पहेली को यदि समझने की चेष्टा कीजिए तो स्त्री का रोष और उसकी घृणा झेलिए । स्त्री को अच्छी तरह समझने वाला भी, स्त्री के विषय में मुँह खोलना नही चाहता । फिर भी भुवनेश्वर ने 'रात्रि के समान रहस्यमयी' इस नारी को समझने की चेष्टा की है और उनकी कुछ निश्चित धारणाएँ भी हैं ।

नारी के विषय में भुवनेश्वर की धारणाएँ भी कम चौंकाने वाली नहीं हैं । देखिए वे क्या कुछ कहते हैं :

(१) नारी पुरुष से कहीं क्रूर है और इसलिए पुरुष से कहीं अधिक सहनशील होने का दावा कर सकती है ।

(२) स्त्री एक पुरुष के गुणों का आदर कर सकती है । पर वह उसके

---

१. कारवाँ—प्रवेश—भुवनेश्वर प्रसाद—पृष्ठ ५

अवगुणों को ही आत्म-समर्पण करती है ।

(३) जब एक पत्नी की वासना अपने पति के लिए धीमी पड़ जाती है, वह एक वृद्ध और शिथिल बाघिनी के समान हो जाती है ।

(४) स्त्री के ज्ञान-कोष में आमोद-प्रमोद का केवल एक अर्थ है : वह करना, जो उसे नहीं करना चाहिए ।

(५) स्त्री के लिए प्रेम का अर्थ है कि कोई उससे प्रेम करे ।

(६) स्त्री फ़ैशन की ग़ुलाम है । जिस समाज में पति को प्रेम करना फ़ैशन है, वहाँ वह सती भी हो सकती है ।

(७) स्त्री का जीवन ठाट-बाट और आभूषणों में है । यदि उसकी साड़ी आप उतार सकते हैं तो उसके पास और कुछ नहीं है ।

(८) स्त्री की वासना पर विजय पा लेना सुगम है । तुम उसका प्रेम पाने के लिए अपनी जान खपा सकते हो । पर उसके बाद जो कुछ भी तुम स्त्री से पाते हो, उसकी वासना ही है ।

(९) स्त्री अपने हृदय से यह भावना कभी नहीं निकाल सकती कि एक पुरुष को प्रेम कर वह उसे आभारी बना रही है । ट्रैजेडी तो यहीं है ।

(१०) संसार एक रंगभूमि है, जिसमें स्त्री अनेक पार्ट एक साथ खेलती है ।

(११) एक स्त्री से कहो—वह पुरुष, जो नीला सूट पहने जा रहा है, बड़ा रंगीला है, बस, लेडी-किलर ही समझो । वह स्त्री घृणा से अपने अधर काटेगी चाहे उनमें कितना ही सुन्दर लिपस्टिक क्यों न लगा हो । पर उस रात को वह उस नीले सूट वाले पुरुष के अतिरिक्त किसी और पुरुष को अपने ध्यान में न लायेगी ।[1]

भुवनेश्वर के नाटकों में उनकी कल्पनाओं की ऐसी ही नारियों की समस्याएँ उभर कर आयी हैं । ऐसी आधुनिका को विवाह की अपेक्षा गृहिणी अथवा माता बनने के लिए नहीं होती । वह विवाह करने के लिए इसलिए विवश है कि उसके आगे जीविका का प्रश्न है और उसका समाधान उसके पास नहीं है । 'प्रतिभा का विवाह' शीर्षक एकांकी में यही विचार मि० वर्मा प्रस्तुत करते हुए कहता है : 'क्या तुम समझते हो, प्रतिभा एक माता या गृहिणी बनने में सन्तुष्ट रहेगी ? मैं नहीं चाहता कि प्रतिभा जीवन को समझने के लिए अपना शरीर और यौवन बेचे, मैं नहीं चाहता, वह अपनी जीविका कमाने के लिए माता बने ।'[2] 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' की श्यामा तो अपने पति के इस भ्रम को भी दूर कर देना चाहती है कि नारी आश्रिता है और पुरुष के ऊपर रोटी के लिए निर्भर है । वह कहती है—'विवाह करके यदि मैंने जीविका के लिए अपने आपको नहीं बेचा है—यदि इस कठिन सत्य का सामना तुम नहीं करना चाहते तो मुझे प्रेम चाहिए ।'[3] स्पष्ट है, आधुनिकाओं की यह भाव-स्थिति : चिन्ता का

१. २. कारवाँ—उपसंहार—भुवनेश्वर पृष्ठ—१०७-११५, ६७

३. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ७

विषय है। प्रेमचन्द जी को इस पर स्वभावतः आपत्ति होनी चाहिए थी। उन्होंने 'कारवाँ' की आलोचना करने के क्रम में इसी से लिखा :—'यह ग़लत है, कुफ़ है कि स्त्री जीविका के लिए अपने आपको बेचती है।'[1] उनका तर्क है कि इस संसार में अस्सी प्रतिशत लोग तो मज़दूर हैं और उनके स्त्री-पुरुष दोनों ही परिश्रम करते हैं, जीविका का अर्जन करते हैं। अस्तु, विवाह के प्रसंग में जीविका की बात ही नहीं उठती। प्रेमचन्द जी को यह पता है कि जिस समाज में कन्या ही पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त करती है, उसमें भी पुरुष का आदर कम नहीं होता और ऐसे भी तो घर होते हैं, जिनमें मर्द मेहरे होते हैं और स्त्री का ही शासन चलता है। प्रेमचन्द कहना यह चाहते थे कि जीविका के लिए न स्त्री पुरुष पर निर्भर है और न पुरुष स्त्री पर। विवाह जीविका के प्रश्न से अनुशासित नही है।[2] वह तो वफ़ादारी की एक कसम है, जिसे लेकर स्त्री और पुरुष परस्पर 'विश्वास-भाव के साथ एक दूसरे की अधिकार-रक्षा की सजग चेतना मन में जगाये हुए, जीवन को सुखी बनाने के लिए चल पड़ते हैं। जीवनगत सुख के विषय में भी भुवनेश्वर की आधुनिका की भिन्न धारणा है। आज तो सुख की परिभाषा भी बदलने लगी है। आज सुख उस अहंकार का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर विजय पाने में होता है। प्रेमचन्द को सुख की इस नयी परिभाषा पर भी आपत्ति है। वे कहते हैं—'सुख उस विजय का नाम है, जो स्त्री को पुरुष पर या पुरुष को स्त्री पर पाने में होता है—बड़ी सुन्दर सूक्ति हो सकती है, लेकिन निस्सार। उस विजय का नाम सुख नही, बल्कि व्यभिचार है।'[3]

भुवनेश्वर ने देखा है कि आधुनिका विवाह और प्रेम में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही देख पाती। 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' की श्यामा, 'रोमांस : रोमांच' की मिसेज़ सिंह अथवा 'लाटरी' की माया का यही इतिहास है कि वे पत्नी किसी की हैं, प्रेम किसी अन्य से करती हैं और इसमें उन्हें कोई अनौचित्य भी शायद नहीं दीखता। इनके वैवाहिक जीवन में प्रेम नहीं है, यह घोर सत्य है। लेकिन क्या इससे यह सामान्य निष्कर्ष लिया जा सकता है कि प्रेम और विवाह में विपर्यय है? ये नारियाँ प्रेम ढूँढ़ती हैं अपने प्रेमियों के दामन में पतियों से नही। एक शब्द में वे मुक्तभोग करने वाली हैं। तो क्या वैवाहिक जीवन में उनको जो प्यार नहीं मिला वह उन्हें इस मुक्त भोग में मिल जाता है? भुवनेश्वर ने इसी प्रश्न को अपने उपरिकथित नाटकों में उठाया है। प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रेमचन्द कहते हैं—'भोग की इच्छा का नाम प्रेम ग़लत रखा गया है।'[4] अपने नग्न रूप में भोग की यह एषणा प्रजनन की नैसर्गिक कामना है। भुवनेश्वर भी इसीलिए 'रोमांस : रोमांच' के मि० सिंह के मुँह से कहलाते हैं—'मैं स्त्री को पुरुष के लिए एक संकट समझता हूँ और मेरे निकट इस संकट से बचने का केवल

---

१. २. ३. ४. विविध प्रसंग (३)—प्रेमचन्द—पृ० ३७६, ३७६, ३७६, ३७५

एक उपाय है—उसे गर्भवती कर देना....।[1] मुक्त भोग की यह लालसा केवल कुमारिकाओं अथवा उन नारियों के हृदय में ही नहीं होती, जिन्होंने मातृत्व की उपलब्धि अब तक नहीं की है, वरन् 'रोमांस : रोमांच' की मिसेज़ सिंह तथा 'लाटरी' की माया के हृदय में भी होती है, जो बच्चे पैदा कर चुकी हैं। लॉटरी की माया अपने पति (जिसे वह प्यार नहीं करती) के गले में निर्जीव लता के समान पड़ी रह कर उसके लिए बच्चे पैदा करने की अपनी विवशता पर चिढ़ती है और यही कह सकती है कि 'बच्चे, वे न तुम्हारे हैं न मेरे। वे एक प्रवंचना के क्रूर हास्य हैं, जिसके हम दोनों शिकार हुए।' वह भाग्य का एक कुटिल परिहास था।[2] स्पष्ट है, भुवनेश्वर यह संकेत करना चाहते हैं कि समस्या के इस बढ़ाव की ओर से आँख मूंद कर नहीं रहा जा सकता। भुवनेश्वर की ये आधुनिकाएँ विवाह को एक बन्धन समझती हैं, विवाह और भिन्न देशता बना लेती हैं तथा पति से स्वतंत्र अपनी जिन्दगी जीना चाहती हैं। इन्होंने वैवाहिक जीवन को दूभर बना रखा है। ये अपने शौहरों से बगावत किये बैठी हैं, पर-पुरुषों से साँठ-गाँठ करती हैं और खुल्लम-खुल्ला करती हैं और अपने पति के जीवन से खेलती हैं। प्रेमचन्द का कहना है कि वैवाहिक जीवन की यह निस्सारता लेखक ने ऑस्कर वाइल्ड से उधार ली है।[3]

प्रश्न है, वैवाहिक जीवन के इस विकृत रूप को नाटकों में प्रस्तुत करने में भुवनेश्वर का उद्देश्य क्या है? क्या भुवनेश्वर का वर्तमान के प्रति ऐसा ही तीव्र विद्रोह है कि वे हमारे समाज को इस तरह आमूल परिवर्तित कर देना चाहते हैं? हमारे घरों में गृह-लक्ष्मियों की जो भयंकर दुर्दशा है, उसने क्या भुवनेश्वर को इतना अभिभूत किया है कि वे श्यामा, प्रतिभा और माया आदि का आदर्श अपनाने के लिए उन्हें प्रेरित कर रहे हैं? यदि ऐसा है तब हमें प्रेमचन्द के शब्दों में कहना ही होगा कि भुवनेश्वर ने वैवाहिक जीवन का 'सियाह रुख' ही देखा है। लेकिन जीवन में सर्वथा विद्रोह-ही-विद्रोह नहीं है, कविता भी है, भावुकता भी है, आनन्द भी है, त्याग भी है।[4] और तब हमें भुवनेश्वर का तिरस्कार करते हुए कहना चाहिए कि उन्होंने अपनी 'प्रतिभा' को आलस्य, बे-सिर-पैर के सपने देखने, सिगरेट पीने और इश्कबाज़ी में बर्बाद कर दिया।'[5]

लेकिन ऐसा है नहीं। भुवनेश्वर की नारी-सृष्टि, उनका आदर्श नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि भुवनेश्वर के मानस-पटल पर अगले कल का जो चित्र था, वह इतना कलुष-पूर्ण था, इतना सियाह था कि वे विद्रोह किये बिना रह न सके, उसे विद्रूप करके प्रस्तुत किये बिना उनके मन को सन्तोष नहीं हुआ। भुवनेश्वर देख रहे थे कि

१. २. कारवाँ—भुवनेश्वर—पृ० ८५, ६९-६८

३. ४. विविध प्रसंग (३) प्रेमचन्द—पृ० ३७८, ३७८

५. चिट्ठी पत्री (२) पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम अपने पत्र में प्रेमचन्द —पृ० ८६।

पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों से प्रेरित हो कर हमारी नारियाँ जिस पथ पर चल रही हैं, उसकी अन्तिम मंज़िल पर पहुँच करके श्यामा, प्रतिभा, माया अथवा मिसेज़ सिंह ही हो सकेंगी। हम यह नहीं मान पाते कि भुवनेश्वर की ये नारियाँ मन में यह भाव पैदा करती हैं कि समाज ने इनके प्रति सचमुच अन्याय किया है और इनको हमारी सहानुभूति मिलनी ही चाहिए। प्रत्युत, कहना तो यह चाहिए कि भुवनेश्वर की इन नारियों के ही हाथों पुरुषों के प्रति अत्याचार हुआ है। इन्हें, दूसरे को पीड़ित करने में ही एक विशेष आनन्द मिलता है। इससे हमारी न्यायबुद्धि के आगे प्रश्न यही उठता है कि मि० पुरी, सुन्दर, किशोर, अथवा मि० सिंह ने ऐसा क्या अपराध किया है कि उन्हें दण्ड मिले ही। सच्ची बात तो यही है कि ये बिल्कुल बेचारे हैं, स्त्री की बेवफ़ाई के शिकार हैं और घुट-घुट कर मर रहे हैं। इसी से ये सहज ही सहानुभूति पा लेते हैं और इनके प्रति होने वाले अनाचार के विरुद्ध हमारे मन में रोष उत्पन्न होता है। भुवनेश्वर ने भी इन नारियों की सृष्टि प्रेमचन्द की निर्मला और सुमन की परम्परा में खड़ी होने के लिए नहीं की थी, इनकी प्रस्तुति बस समस्या को उभारने के उद्देश्य से हुई है।

हम भुवनेश्वर से यह शिकायत कर सकते हैं कि 'उन्होंने मुट्ठी भर दिल-जले आदमियों की समस्या ली है,'[1] उनकी समस्या सब की समस्या नहीं है। भुवनेश्वर को इस शिकायत के प्रति कोई शिकायत नही हो सकती। सचमुच देश में मुट्ठी भर ही तो ऐसी नारियाँ हैं, जिन पर पाश्चात्य-शिक्षा-संस्कार का प्रभाव पड़ रहा है। लेकिन यह मुट्ठी भर लोग क्या मुट्ठी में ही समा कर सदा-सर्वदा रह जायेंगे? भला जगन्नाथ का रथ भी रुकता है? आज जिनकी संख्या नगण्य है, उनके विचारों, उनकी मनोवृत्ति का विष भी क्या वैसा ही उपेक्षणीय है? नहीं और यही कारण है कि भुवनेश्वर इस विषय में असावधान होने का प्रमाद नहीं कर सकते थे। विचारों के फैलाने के लिए फ़ौज की ज़रूरत नहीं होती और बुराई तो और भी वेग से फैलती है। यही कारण है कि 'प्रतिभा का विवाह' की प्रतिभा को 'भारतीय नाम वाली एक अंग्रेज़ छोकरी'[2] समझ कर वे निश्चिन्त न हो सके और न यही कह सके कि वह 'सम्पूर्णतया काल्पनिक सृष्टि है, जीवन से उसका कोई ताल्लुक नही, अथवा ग़नीमत है कि भारत में अभी 'प्रतिभाओं' का जन्म नहीं हुआ।'[3] ज़माने के बढ़ाव के साथ इतना आगे बढ़ आने वाले हम और आप क्या कह सकेंगे कि भुवनेश्वर की आशंका किसी मानी में ग़लत थी, अकारण अथवा उनकी मानसिक विकृति का निदर्शन थी? सच्ची बात तो यह है कि भुवनेश्वर की सूझ-बूझ की प्रखरता और अगले कल की सही नब्ज़ पकड़ने की उनकी विरल क्षमता पर हम दंग रह जाते हैं।

वर्त्तमान युग में प्रेमचन्द एक ऐसे साहित्यकार हैं, जिनकी रचनाओं में समकालीन जीवन का प्रत्येक स्पन्दन मुखरित हुआ है। उनका साहित्य अपने युग का

१. २. ३. विविध प्रसंग—(३) प्रेमचन्द—पृ० ३७८, ३७७, ३७७

सच्चा प्रतिबिम्ब है। प्रेमचन्द के सामने भी नारी-जीवन की समस्याएँ थीं और उन समस्याओं में विविधता भी थी। उनके सामने 'सुमन,' 'सुमित्रा' और 'गोविन्दी' जैसी नारियाँ थीं, जिनका दाम्पत्य-जीवन विषादपूर्ण था और वे अपने पति के अत्याचार, अनाचार का शिकार थीं। 'सेवासदन' की 'सुमन' को तो परिस्थितियों की मार से रूप के बाज़ार में खड़े हो कर अपने शरीर का सौदा भी करना पड़ा। प्रेमचन्द का आदर्शवाद इन नारियों के विषय में निरपेक्ष नहीं रह पाया और समयुगीन सामाजिक विकृतियों का चित्रण प्रेमचन्द ने बड़े मनोयोग के साथ किया भी। फिर जवाबदेही के साथ इनकी समस्या का समाधान भी उन्होंने प्रस्तुत किया। उनके युग में ही नारी की मनोवृत्ति और भावना पर पश्चिमी आदर्श हावी भी हुए। 'गोदान' की 'मालती' इसका प्रमाण है। रसिकों की टोली में अपनी मधुर मुस्कान बिखेरने और उसका सौदा करने वाली यह 'तितली' प्रेमचन्द के सामने एक समस्या ही बन कर उपस्थित हुई और उन्होंने इस 'तितली' को 'मधुमक्खी' बना कर समस्या का समाधान भी ढूँढ़ लिया। भुवनेश्वर राई-को-राई और पर्वत-को-पर्वत कहने वाले कलाकार थे। आदर्श की डोर पकड़ कर वे 'मालती' और उसकी परम्परा के नारी-समाज के साथ गुंजायश न बरत सके। उनकी पैनी, तीखी नज़र ने देख लिया कि समाज के सिर पर कौन-सा खतरा मँडरा रहा है। 'मालती' से बढ़ कर आया हुआ नारी-समाज भुवनेश्वर की दृष्टि में भारत की सम्पूर्ण गरिमा के आगे प्रश्न-चिह्न बन कर भीमाकार हो उठा। उनको दीखा कि आगे आने वाली नारियों में वफ़ादारी नहीं रह जायेगी। प्रेमचन्द ने बताया था कि उनके ज़ेहन में औरत वफ़ा की तस्वीर है।[1] लेकिन वहीं भुवनेश्वर के आगे जो श्यामा है, वह दो टूक कह देती है कि पति यदि यह सोचता है कि विवाह की मर्यादा नारी को ऐसा बाँध लेती है कि वह वफ़ादार हो ही तो वह खाम-ख़याली की दुनिया में है। प्रेमचन्द ने सोचा था कि स्त्री 'लेवता' नहीं 'देवता' है। लेकिन भुवनेश्वर की कल्पना ने तो दिखाया कि स्त्री अपना यह सारा देवतापन खो चुकी है। वह या तो मज़ा उड़ाती है अथवा न उड़ाने के लिए पछताती है। 'एक साम्यहीन साम्यवादी' की 'पार्वती' इसका प्रमाण है। प्रसाद ने नारी की कल्पना जैसी की थी, उसमें वह दया, ममता और अगाध विश्वास का प्रतिरूप थी, पाप और पुण्य के बीच की सन्धि-रेखा और 'तुमुल कोलाहल कलह में मन की' बात कहने वाली। लेकिन पश्चिमी आदर्शों के चाकचिक्य से जिनकी आँखें चौंधिया गयी हों, वैसी आधुनिकाएँ क्या प्रसाद की इस महती कल्पना के अनुरूप हो पायेंगी ? भुवनेश्वर को इस विषय में सन्देह ही नहीं पूर्ण अनास्था भी थी। वे इस बात को सह नहीं पाते थे कि नारी-जीवन में विवाह की उपयोगिता वृद्धावस्था के गुज़ारे के लिए बीमा हो कर रह जाय। विवाह को बन्धन कहने में भुवनेश्वर को भी आपत्ति नहीं होती। लेकिन भुवनेश्वर उसे 'संयमित व्यभिचार' बनने देना गवारा नहीं करते। भुवनेश्वर का विरोध अपनी पीढ़ी के मि० पुरी, मि० सिंह

---

१. गोदान—प्रेमचन्द—पृ० १९६

किशोर अथवा श्रीचन्द से कम नहीं है। पश्चिमी नयी रोशनी ने इनकी आँखों की भी ज्योति हर ली है। वे अपनी पत्नी के स्वेच्छाचार, उसकी मुक्त भोगेषणा पर आपत्ति नहीं कर पाते बल्कि उसके रास्ते से हट जाने को तैयार रहते हैं। मि० पुरी मनोज से ईर्ष्या करके भी अपनी पत्नी के आगे इस ईर्ष्या को स्वीकार कर हीन होना नहीं चाहता। 'रोमांस : रोमांच' का मि० सिंह अपनी पत्नी की संतुष्टि के लिए उसे उसके प्रेमी अमरनाथ को सौंपने को तैयार है। लॉटरी का 'किशोर' अपनी माया के सुख के लिए धर्म-परिवर्तन तक करने को प्रस्तुत है। स्पष्ट है, आधुनिकाओं के ये पति ऐसी कदर्थित जिन्दगी झेल रहे हैं कि उनका कल्याण इसी में है कि अपने पति के समस्त अधिकारों का विसर्जन कर दें। लॉटरी का 'किशोर' तो तलाक का भी समर्थक हो जाता है। भुवनेश्वर पुरुष की इस दयनीयता से मर्माहत हैं। उनका सारा आक्रोश ले कर 'ऊसर' का मि० सिवल कह पड़ता है कि आगे आने वाली पीढ़ी चाहे बिल्लियों की हो या साँपों की, हमारी पीढ़ी से अच्छी होगी। भुवनेश्वर को नारी-समाज से कोई आशा नहीं रह गयी है और पुरुष-समाज के टुच्चेपन से भी उनका विद्रोह है। इन सारी समस्याओं का उत्तरदायित्व है, हमारी पश्चिम की अन्ध-अनुकरण-वृत्ति के ऊपर। इसी के कारण हम अपनी परम्परा की तमाम अच्छाइयों से हटते जायेंगे और समाज टूट जायगा, घर नरकतुल्य हो जायेंगे, बच्चे भाग्य के कुटिल परिहास का शिकार हो जायेंगे। भुवनेश्वर को इसी स्थिति की कल्पना से विद्रोह हुआ।

यह कहा गया है कि भुवनेश्वर पर इब्सन, शॉ आदि जैसे पश्चिमी बुद्धिवादी नाटककारों का प्रभाव था। भुवनेश्वर ने भी स्वीकार किया है कि लिखने के बाद उन्हें प्रतीत हुआ कि उनके 'शैतान' के एक 'सीन' में शॉ की छाया तनिक मुखर हो गयी है।[1] आगे हम इस विषय पर विचार करेंगे।

---

१. कारवाँ—प्रवेश—भुवनेश्वर—पृ० ६

प्रोफ़ेसर कृपानाथ मिश्र

मणि गोस्वामी

प्रोफ़ेसर कृपानाथ मिश्र ने अपने नाटक 'मणि गोस्वामी' के प्रथम परिचय में उस पृष्ठभूमि का निर्देश किया है, जिसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने नाटक-रचना आरम्भ की। वे लिखते हैं कि हिन्दी के प्रकाशित नाटकों को देख कर उन्हें लगा कि अपने साहित्य-भांडार में अच्छे नाटकों का सर्वथा अभाव है। उन्हें यह देख कर कष्ट हुआ कि नाटक-लेखकों को इतनी भी जानकारी नहीं है कि नाटक की कसौटी कविता, गल्प और उपन्यास की कसौटी से भिन्न होती है। जिन लोगों को, न तो मानव प्रकृति का और न घटना परम्परा का ज्ञान है, वे हिन्दी के खुले मैदान में नाटककार बन गये हैं। मिश्र जी की शिकायत है कि हिन्दी के वयस्क और प्रतिष्ठित लेखकों की कृतियों के देखने से भी यही स्पष्ट होता है कि उन्हें रंगमंच का ज्ञान नहीं है। वे भाषा की परिवर्तन-शीलता या गति को भी नहीं समझते। उनकी कृतियों में उनके अध्ययन अथवा भाषा-धिकार का रोब भले ही व्याप्त हो, उनमें जीवन की वास्तविकता नहीं मिलती; घटनाएँ काल्पनिक होती हैं; पात्र बातें नहीं करते, कहिए चिल्लाते हैं अथवा भद्दे, प्राचीन, चुराये हुए भावों को ले कर कविता करते हैं। इन सबका परिणाम होता है कि वयस्क साहित्यकारों की भी रचनाएँ साहित्यिक प्रलाप ही सिद्ध हो पाती हैं।[1] हिन्दी साहित्य में अच्छे नाटकों के इस अभाव के अनेक कारणों में मिश्र जी ने जनता की भद्दी अभिरुचि और अच्छे समालोचकों की कमी—इन दो को मुख्य कारण ठहराया है।[2] मिश्र जी के अनुसार हिन्दी नाटकों में भद्दी बातों के लिए प्राय: सम्पूर्णत: मारवाड़ी भाई दोषी हैं।[3] उनका कहना है कि 'मारवाड़ियों की तरह धर्म-भीरु, पर अनाध्यात्मिक जाति भारतवर्ष में नहीं है।'[4] इन मारवाड़ियों में परदे की प्रथा का प्रचार अत्यधिक

---

१. २. ३. ४. मणि गोस्वामी—प्रथम परिचय—प्रो० कृपानाथ मिश्र—पृष्ठ ४, १, २, २

है, इनके घर की स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षिता होती हैं। अस्तु, नाटक के रंगमंच पर शिक्षित अथवा अर्ध-शिक्षित नारी-पात्रों को देख कर इनकी दमित आकांक्षाओं को उत्तेजना मिलती है।[1] नाटकीय कथा की परिसमाप्ति के क्षण में पाप पर पुण्य की विजय देख कर मिश्र जी के शब्द में इन्हें 'यत्परोनास्ति सन्तोष' मिलता है।[2] ये पैसे वाले लोग नाटक को तमाशा मानते हैं और चाहते हैं कि नाटक दिखाने वाले कुल दो घण्टे का तमाशा दिखा कर उनके पैसे न ठग लें।[3] अस्तु, नाटक उनकी बुद्धि में वह तमाशा है, जो बँगला यात्रा-नाटक की तरह शाम को शुरू हो कर भोर को समाप्त हो। दर्शकों की कुरुचि का यह हाल है कि वे ऐसे नाटक को नाटक समझते ही नहीं, जिसमें गाना, नाचना, तलवार-बन्दूक के साथ लड़ना न दिखाया जाय।[4] नाटक खेलने वालों की इसी से यह लाचारी हो जाती है कि वे अपने इन दर्शक प्रभुओं के सन्तोष का ध्यान रखें। वे दर्शकों की रुचि का परिष्कार करने में सर्वथा असमर्थ हैं। दर्शकों की रुचि के संस्कार का काम जिस नाटकीय शिक्षा से सम्भव था, उसका व्यापक अभाव था। मिश्र जी चाहते है कि लोगों को इस बात की शिक्षा दी जाय कि अमुक ढंग का मनोरंजन अच्छा होता है और अमुक ढंग का बुरा।[5] लेकिन योग्य समालोचकों की कमी के कारण यह भी नहीं हो पा रहा था। ऐसी ही परिस्थिति में प्रोफ़ेसर कृपानाथ मिश्र ने मार्ग-दर्शन के निमित्त यह 'मणि गोस्वामी' नाटक लिखा। नाटककार को यह मालूम है कि जन-रुचि की भ्रष्टता के ज़माने में उनका लघु-नाटक लिखने का यह प्रयास लोकप्रियता नहीं पा सकेगा, तथापि वे मानते हैं कि उनकी असफलता औरों की सफलता से कम श्रेयस्कर नहीं होगी।

'मणि गोस्वामी' की रचना करके प्रोफ़ेसर कृपानाथ मिश्र ने हिन्दी नाटकों की रचना को एक निश्चित गति देने की चेष्टा की है। वे इस रचना के द्वारा यह दिखाना चाहते हैं कि कला का अर्थ रूप सृष्टि है। रूप का आधार भाव है और भावों का उत्कर्ष संयम में है।[6] अपनी इसी मान्यता के अनुरूप उन्होंने साधारण शब्दों, बोल-चाल की स्वाभाविक भाषा में जीवन की व्यथा को अभिव्यक्ति दी है। वे ऐसा मानते हैं कि जीवन की घटनाओं में जो व्यथा छिपी रहती है, उसको प्रकट करने के लिए शब्दाडम्बर की आवश्यकता नहीं होती।[7] जीवन की जिस व्यथा को मिश्र जी 'मणि गोस्वामी' में प्रकट करना चाहते हैं, उसका आधार, घटना है—जिससे एक सजीव, भावाभिभूत, व्यथित आत्मा का परिचय मिलता है। घटना की योजना से नैतिक शिक्षा भी मिलती है। किन्तु वही मुख्य नहीं है। उसे नाटकीय कथा को भाराक्रान्त बनाने नहीं दिया जा सकता। असल में नाटक में मुख्य है नाटककार की आत्मा का परिचय।[8]

मिश्र जी का आक्षेप है कि हमारे 'प्राचीन नाटककार कुछ पंडित थे, कुछ मिट्ठू, पर थे सभी स्थूल। उनकी रचनाओं में कोई भी दारुण चीख नहीं सुन पड़ती,

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. मणि गोस्वामी—प्रथम परिचय—प्रो० कृपानाथ मिश्र—पृष्ठ ३, २, २, २, ३, ५, ५, ५

व्यथा-अभिभूत चित्त का परिचय नहीं मिलता।'[१] वे समस्या-पूर्ति करने वाले भयभीत श्रमजीवी थे। उन्होंने कला में किसी भी आत्मजनित ब्रह्मांड की सृष्टि नहीं की। उनके हाथ चतुर शिल्पी, पर कुम्हार के हाथ थे, कलाविद् या स्रष्टा या भगवान के हाथ नहीं।'[२] कहने का अभिप्राय कि हिन्दी के प्राचीन नाटक कला की दृष्टि से कोरे हैं, उनमें ऐसा कुछ नहीं है, जिसका अभिमान हम कर सकें। प्रोफ़ेसर कृपानाथ मिश्र का 'मणि गोस्वामी' जिज्ञासा की प्रवृत्ति जगाये, नास्तिकता की वेदी पर कला के जन्म की सूचना बने—यही उनकी साध है। उनको सचमुच बड़ा ही सन्तोष होगा यदि हमारा दर्शक-समाज यह समझ ले कि नाटक तमाशा नहीं है, ज्ञान-वृद्धि या भावोत्कर्ष का उपकरण है। हमारे नाटककारों को भी याद रखना होगा कि नाटक का उद्देश्य केवल भावोद्दीपन ही नहीं, वरन् भावोत्कर्ष भी है। यह उत्कर्ष नैतिकता-निरपेक्ष है। इसकी भित्ति नैतिक, अनैतिक, सांसारिक, पारलौकिक आदि साधारण गुणों पर कायम नहीं। वह कायम है—एक सनातन गुण पर। वह गुण एक व्यथित आत्मा के आत्म-प्रकाश की सफलता है।[३] मिश्र जी ने इस प्रकार अपने इस नाटक के तीनों 'परिचयों' में ऐसे विचार प्रस्तुत किये हैं, जो हमें प्रेमचन्द के शब्दों में 'चौंका'[४] देते हैं। प्रेमचन्द जी ने स्वीकार किया है कि 'मणि गोस्वामी' की इन भूमिकाओं में नवीनता ठसाठस भरी हुई है, उनमें निस्सन्देह साहित्यिक तत्व भरे पड़े हैं, जिन पर मनन करने की जरूरत है।[५] मिश्र जी ने यह दावा कहीं नहीं किया है कि उनका नाटक 'मणि गोस्वामी' एक पूर्णतः सफल रचना है। वे जानते हैं कि सभी नाटककार स्रष्टा नहीं होते और न सब नाटक अमृत के भंडार हैं। इनका बस यही कहना है कि नाटक के विषय में हमारी धारणा बदले और नाटककारों को भी अपने महान दायित्व का अनुभव हो ताकि हमारा नाटक साहित्य भी उन्नत हो सके।

'मणि गोस्वामी' को श्री जगदीश चन्द्र माथुर नये समस्या-नाटकों की रचना के क्रम में प्रथम कृति की संज्ञा देना चाहते हैं। उन्होंने लिखा है—As a result of these circumstances and tendencies, a new kind of play came into vogue about 1930; of these, the salient features were the naturalistic presentation of life, analysis of the individual's inner difficulties lying at the root of social problems and contempt for superficial idealism. Perhaps, the first play of this kind was Kripanath Mishra's Mani-Goswami, published as early as 1929.[६]

---

१. मणि गोस्वामी—द्वितीय परिचय—पृष्ठ १०

२. मणि गोस्वामी—द्वितीय परिचय—प्रो० कृपानाथ मिश्र—पृ० ८

३. — —तृतीय परिचय — —पृ० १६

४. ५. विविध प्रसंग (३)—प्रेमचन्द—पृ० ३४३

६. Indian Drama—(Publications Division)—Hindi Drama and Theatre—Jagdish Chandra Mathur—Page 30

'मणि गोस्वामी' में जिस वृद्ध-विवाह की समस्या को उठाया गया है, वह भारतेन्दु काल से ही नाटककारों का प्रिय विषय रही है। पूर्ववर्ती नाटककारों ने वृद्ध-विवाह की हानियों को जैसे प्रस्तुत किया है, वैसे ही इस नाटक में भी दिखाया गया है कि मणि गोस्वामी की सुखी, सन्तुष्ट गृहस्थी में उसकी वृद्धावस्था की दूसरी भार्या प्रभा आ कर आग लगा देती है और यह सिद्ध कर जाती है कि वृद्ध के लिए तरुण पत्नी सचमुच विष होती है। किन्तु इतने पर भी हम यह नहीं कहना चाहेंगे कि 'मणि गोस्वामी' की कथावस्तु घिसी-पिटी है, उसमें कोई नवीनता नहीं है।

मणि गोस्वामी विधुर है, धनी ज़मींदार है। वह अपने बच्चों के (जो उसके प्राण हैं और उसे प्यार भी करते हैं) प्यार में अपनी पत्नी के वियोग का दुःख भी भुलाये बैठा है। बड़ा बेटा वीरेन पढ़-लिख कर ऊँची सरकारी कुर्सी पर बैठने जा रहा है और उसी के क्रम में प्रशिक्षण के लिए विलायत जा रहा है। छोटे बेटे अनिल की गाँव की पढ़ाई भी ख़त्म हो रही है और उसे अब कलकत्ता जाना होगा। बेटी शामा का विवाह हो चुका है और जल्द ही उसकी गोद भरने वाली है। इन बच्चों के पिता मणि गोस्वामी के सन्तोष का, इससे हम सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

इस सुखी परिवार में आग लगाने के लिए घटक चला आता है और ज़मींदार को सुझाता है कि वीरेन के विलायत और अनिल के कलकत्ता जाने के बाद इतने बड़े और सूने मकान में उसे सर्वथा एकाकी, नौकर-चाकर के भरोसे रहना पड़ेगा। शामा को उसकी ससुराल वाले आख़िर कब तक बाप के घर रहने देंगे और नौकर-चाकर अपने सगे के स्थानापन्न तो हो नहीं सकते।[१] इससे मणि गोस्वामी को चाहिए कि वह दूसरा विवाह कर ले। अभी उसकी उम्र भी तो वैसी नहीं कि वह पुनर्विवाह न कर सके।[२] घटक की ये बातें उसे डरा देती हैं और वह समझ ही नहीं पाता कि अपने बच्चों से वियुक्त हो कर वह कैसे रह सकेगा।[३] घटक धीरे-धीरे उसके मनोविज्ञान पर हावी होता है और उसे पुनर्विवाह के लिए हामी भरनी पड़ती है।

विवाह के बाद उसे लगता है कि वे ही बच्चे, जो उसे इतना प्यार करते थे, अब उससे घृणा करते हैं। जो रैयत उसे देखते ही विनीत भाव से श्रद्धापूर्वक सलाम-पर-सलाम करती थी, वह आज उसकी छाया से डरती है।[४] इधर नयी-नवेली पत्नी है, जो उससे सन्तुष्ट नहीं है। उसको मणि गोस्वामी की उम्र से घृणा है, उसके नकली दाँतों से घृणा है। उसे यदि उसकी किसी चीज़ से प्रेम है तो वह उसका रुपया है[५] अन्त में, जिसे ले कर वह चम्पत हो जाती है।

मणि गोस्वामी का आहत अभिमान चीत्कार कर उठता है और वह कह पड़ता है—'मेरे बच्चो ! मैं राह का भिखारी नहीं बन सकता। मुझे पेड़ के नीचे भूखा और तड़पता हुआ देखने का तुम्हारा अरमान पूरा न होगा।'[६] मणि जिस संस्कार को ले

---

१. २. ३. ४. ५. ६. मणि गोस्वामी—कृपानाथ मिश्र—पृ० ४, ४, ४, २७, २६, २७

कर पैदा हुआ है और वह जिस परिवेश में रहता आया है, उसके अनुरूप ही वह इतना भर सोच पाता है कि उसके बच्चे उसे सम्पत्ति-वंचित करना चाहते हैं। और इसी से वह खानदान वाली बही से अपने बेटों का नाम काट देने का फैसला करता है।[1] जीते जी वह ज़मींदारी की अपनी गद्दी बेटों के लिए नहीं छोड़ सकता।

लेकिन उसे अपने बेटे को समझने में बड़ी भूल हुई है। वीरेन का उससे संघर्ष है—यह एकदम सही है। लेकिन वीरेन के विरोध का कारण दूसरा ही है। वह समाज-सेवी है; उसका विरोध अपने उस समाज से है, जिसने ढलती अवस्था के बूढ़ों को छोटी-छोटी नादान बच्चियों का पति बन कर, उनका सर्वनाश करने का अबाध अधिकार दे रखा है। वीरेन के रूप में नाटककार ने सचमुच एक क्रान्तिकारी व्यक्ति की अवतारणा की है। वीरेन जाति की क्षुद्र सीमा का कायल नहीं है। उसका प्रेम माया से है, जो शूद्र-वंशजा है और नितान्त निर्धन है। ज़मींदार के बेटे की शादी अपनी ही जाति के किसी निर्धन वंश में तो नहीं होती, उस पर माया ठहरी शूद्र! माया का विवाह होता है, एक खूसट वृद्ध से और इस प्रकार उसका सर्वनाश हो जाता है। लेकिन वीरेन के प्रेम में इस पर भी कोई कमी नहीं होती। माया के विवाह का विधान भी उसे अपनी जगह से डिगा नहीं पाता और वह उससे प्रस्ताव करता है कि वह उसके हाथ-में-हाथ दे कर समाज की छाती को चीरते-फाड़ते इस देश से कहीं बाहर निकल चले।[2] स्पष्ट है, वीरेन को न जाति की परवाह है और न विवाह-संस्था की मर्यादा की। लेकिन माया संस्कार के बोझ को उतार नहीं पाती और समाज के अत्याचार की चक्की में पिसती चली जाती है। वीरेन को उसके अन्ध-परम्परा-पालन पर आपत्ति है। लेकिन वह करे तो क्या करे? माया अपने रूढ़ि-संस्कार को छोड़ेगी नहीं और समाज बदलेगा नहीं, उसे लगता है कि हमारा यह सारा देश ही रूढ़ियों का दास है, जिसके कारण इस देश में सुधार होने से रहा।[3] वीरेन के पिता ने बुढ़ापे में विवाह करके वीरेन की व्यथा को और भी बढ़ा दिया है। समाज के प्रति जो उसका द्रोह है, उसे और भी तीव्र कर दिया है। जिस बुराई के विरुद्ध वह लड़ता आया है, वह स्वयं उसके पिता में है। इस प्रकार स्वयं उसके शरीर में एक विलासी-कामुक पिता का अपवित्र खून है।[4] इस बात का अनुभव करके वह बौखला उठता है और चाहता है कि उसके पिता के दूषित अपवित्र खून की परम्परा का अन्त हो। यही सोच कर वह अनिल को मार कर आत्मघात करना चाहता है। अपनी प्राणमणि बहन शामा का गर्भपात भी उसे इसी दृष्टि से ईश्वरीय वरदान दीखता है। अन्यथा शामा के पुत्र के रूप में मणि गोस्वामी का ही अपवित्र रक्त जीवित रहता। स्पष्ट है, वीरेन अपने पिता का विरोध ज़मींदारी की गद्दी पर बैठने के स्वार्थ के कारण नहीं करता। उसके आगे सिद्धान्त का प्रश्न है, जीवन के मूल्य का प्रश्न है। वीरेन सामाजिक विकृतियों के दैत्याकार पर्वत से टकरा कर चूर-चूर हो जाता है। कहना चाहें तो इसे पलायन भी कह सकते हैं।

---

१. २. ३. ४ मणि गोस्वामी—कृपानाथ मिश्र—पृ० ४३, १६, ३३, ३७

लेकिन वीरेन के प्रति यदि थोड़ी-सी सहानुभूति रख कर सोचें तो यही कहेंगे कि वीरेन आत्मघात के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता था ? वीरेन की पराजय उनके आगे चुनौती है, जो समाज का सुधार करना चाहते हैं।

वीरेन जमींदार का बेटा है, ऊँची सरकारी कुर्सी पर प्रतिष्ठित होने वाला है। उसके व्यक्तिगत जीवन में कहीं कोई धन-सम्पत्ति-विषयक अभाव नहीं है। लेकिन उसने ग़रीबी के रौरव नरक को देखा है और अनुभव किया है कि हमारे देश की बहुत सारी समस्याओं के केन्द्र में यह निर्धनता ही है। निर्धनता अभाव को जन्म तो देती ही है, आदमीयत को भी दबोच लेती है। अपने देश में निर्धनता ने जिस नरक की सृष्टि कर रखी है, उसका रूप वीरेन इन शब्दों में प्रत्यक्ष करता है :

'दस रुपये के ख़र्च से एक परिवार के आठ आदमी महीना बिताते थे। घर का मालिक बूढ़ा था। उसके एक आँख न थी। उसका बाँया हाथ लकवे की बीमारी से बेकाम हो चुका था। उसकी उम्र साठ की होगी। शादी तीसरी थी। स्त्री जवान और सुन्दरी। लड़के चार थे—सब पहली स्त्री से। घर में एक कोठरी थी, जिसमें अनाज रहता था। सभी बाहर सोते थे। कोई परदा न था—रात में भी नहीं। छोटे-छोटे बच्चे रात भर जगे ही रहते—तमाशा देखते, कौतुक सुनते। कुत्सित बूढ़ा जवान बेटियों को पास फटकने देता ही नहीं था। वे रात-दिन गोशाला के कीचड़ पर फटे कम्बल के ऊपर सोयी रहतीं। बच्चों के हाथ में रोटी पड़ती ही न थी, जब पड़ती तो एक भूखा कुत्ता छीन ले जाता।'[1]

ऐसे ही कुत्सित वातावरण में वीरेन की माया जैसी स्त्रियों को ज़िन्दगी की लाश ढोनी पड़ती है। यह विवरण इतना व्यंजक है कि किसी विशेष टिप्पणी की अपेक्षा नहीं है। वीरेन ने समाज में जिस कोढ़ को देखा है, उसके दो पहलू हैं। एक ओर निर्धनता है और दूसरी ओर कामुकता। निर्धनता की वेदी पर माया के अरमानों का खून होता है और कामुकता के कारण मणि गोस्वामी का घर बर्बाद होता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मिश्र जी की पैनी आँखों ने यह देख लिया है कि रोटी और सेक्स—ये ही दो समस्याएँ हैं, जो हमारे सामने उभर कर आ रही हैं। इस नाटक में मणि गोस्वामी की द्वितीय भार्या प्रभा की अवतारणा मूल समस्या को बल देने के लिए तो हुई ही है, लेकिन उतना ही नहीं है। प्रभा का जीवन भी तो वैसे ही नष्ट हुआ है, जैसे माया का। नाटक में कहा गया है कि वह मणि गोस्वामी का चिरसंचित माल-असबाब ले कर चम्पत हो जाती है। प्रश्न है, क्या इस प्रकार एक अनिर्दिष्ट मार्ग की ओर बढ़ कर वह अपनी समस्या का समाधान कर लेती है ? यदि नहीं तो क्या उसकी समस्या समाधान की माँग नहीं करती ? मिश्र जी ने उसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। समाधान उनके सामने है भी नहीं। होता तो वीरेन आत्मघात ही क्यों करता ? हमें तो ऐसा लगता है कि मिश्र जी ने प्रभा के माध्यम से एक दूसरे

१. मणि गोस्वामी—कृपानाथ मिश्र—पृ० ३३-३४

तथ्य की व्यंजना की है। हमारे देश में भौतिकवाद का स्थर ऊँचा उठने लगा था। प्रभा के रूप में उन्होंने एक ऐसे पात्र की कल्पना की है, जिसे धन-पिशाच अनिर्दिष्ट मार्ग की ओर भगाये ले चला जा रहा है। प्रभा उस प्रवृत्ति की सूचना है, जिसका नियमन पैसा किया करता है। यह वृत्ति हमें कहाँ ले जा कर पटकेगी—कहा नहीं जा सकता। मिश्र जी ने प्रभा की इस रूप में अवतारणा करके एक बड़े ख़तरे की ओर इशारा किया है।

इस प्रकार इस नाटक में पुरायी बोतल में नयी शराब की कहावत चरितार्थ होती है। अवश्य ही ऐसे नाटकों में उनकी रुचि नहीं हो सकती, जो तमाशा देखना-दिखाना चाहते हैं। किन्तु मिश्र जी ने जिस प्रतिज्ञा के साथ इस लघु नाटक की रचना का बीड़ा उठाया था उसका निर्वाह वे कर सके हैं—इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द जी ने ठीक ही कहा है कि 'नाटक का जो उद्देश्य है, वह भलीभाँति पूरा होता है।'[1]

१. विविध प्रसंग (३)—पृ० ३४४

दुहराने पर विवश हुए हैं।[1] वे लिखते हैं कि 'अब मेरा विश्वास है कि रंगमंच हो या न हो, टॉकी का पारा चाहे जितना चढ़े पर नाटक रहेगा।'[2] लेकिन प्रश्न है कि ऐसे नाटक, जो रंगमंचीय दृष्टि से सफल न हों किस कोटि के नाटक समझे जायेंगे ? द्विवेदी जी ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसे नाटक 'साहित्यिक नाटक' माने जायेंगे और वैसे साहित्यिक नाटकों का एक उज्जवल भविष्य सुनिश्चित है और जो कदाचित् बहुत दूर भी नहीं है।[3]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी ऐसा अनुभव करते हैं कि हिन्दी में नाटकों के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग के लिए अमित सम्भावनाएँ हैं और हिन्दी के वैसे ही नाटकों के लिए भविष्य सुरक्षित रह सकता है, जिनकी रचना रंगमंच की ओर से निरपेक्ष हो कर की गयी हो। ऐसे रंगमंचीय नहीं, 'साहित्यिक नाटकों' के रचयिता का उद्देश्य किसी ऐसी सुन्दर-सी वस्तु का निर्माण होना चाहिए, जो समाज-सापेक्ष हो लेकिन उसमें उपदेशात्मकता ठूँस कर भरी हुई न हो।

द्विवेदी जी की ये मान्यताएँ हमें उत्साहित करती हैं कि हम उन्हें समस्या-नाटककारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित करें। द्विवेदी जी के कुछ नाटकों के प्रमाण पर हम यह देखना चाहेंगे कि उनके नाटकों का कथ्य क्या है और वे किस प्रकार 'सुन्दर-सी वस्तु,' के निर्माण में सफल हुए हैं।

सोहाग बिन्दो : 'सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक' में 'सोहाग बिन्दी' शीर्षक एक नाटक संग्रहीत हुआ है। उसके मुख्य पात्र हैं—बी० एन० डबल्यू० रेलवे के एक छोटे-से स्टेशन के स्टेशन-मास्टर काली बाबू और उनकी युवा पत्नी प्रतिभा। काली बाबू स्टेशन कार्यालय में रात-दिन की ड्यूटी बजाते हैं। काम करते-करते थक जाते हैं तो हुक्का पीते हैं और उससे भी अधिक थक जाते हैं तो अपने दफ़्तर में ही झपकी ले लेते हैं।[4] क्वार्टर में प्रतिभा सर्वथा अकेली पड़ी होती है। काली बाबू को इतनी फ़ुर्सत नहीं कि उस तनहाई में प्रतिभा के पास दो मिनट बैठें। जल्दी-जल्दी डेरे में आते हैं, खाना खाते हैं और भागते हैं।[5]

प्रतिभा के पास मनोरंजन के लिए कोई छोटा-सा साधन भी नहीं है। जहाँ रहती है, वहाँ न आदमी, न आदम-जात। अपने इस एकाकीपन से जब वह ऊब उठती है तो स्टेशन पर आने-जाने वाली गाड़ियों के डिब्बे गिनती है।[6] बनकट महाराज ने उसकी दशा का बड़ा ही हृदयस्पर्शी चित्र इन शब्दों में खींचा है :—'बहू जी उही खिड़की पर बैठ के लैन ओरी देखै लागथै। मोती अस झर-झर आँसू गिरै लाग थैं।

---

१. २. ३. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक (दो शब्द)—ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ ३, ३, ३

४. ५. ६. सोहाग बिन्दी और अन्य नाटक—सोहाग बिन्दी—ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ २, १७ १७

ऐसे महीना पर महीना, साल पर साल कटत चला जावै।'[1] इस छोटे-से स्टेशन पर गाड़ियाँ भी कौन अधिक आती होंगी ? इससे प्रतिभा के मन की बड़ी साध है कि काली बाबू किसी बड़े स्टेशन पर अपनी बदली करा लें। लेकिन बदली क्या इतनी आसान चीज़ है ? अकेलेपन की इस घुटन में प्रतिभा तिल-तिल कर घुट रही है। उसका पति काली बाबू यह सोच कर पूर्ण आश्वस्त और निश्चिन्त है कि उसने उसे कभी कोई तकलीफ़ नहीं दी है, कभी कड़वी बात नहीं कही। पति-पत्नी के जीवन में इससे भी आगे कोई बात होती है, यह उसे नहीं मालूम।

पति की निरपेक्षता, जड़-यान्त्रिक वातावरण की भयंकर उदासी और काट खाने वाली तनहाई के बीच पड़ी हुई प्रतिभा के जीवन में उत्सव का एक दिन तब आया जब काली बाबू का मौसेरा भाई विनोद आ धमका। कॉलेज में पढ़ने वाले विनोद को अपने बीच पा कर प्रतिभा को लगा जैसे उसके घर चाँद उतर आया।[2] वह इतना प्रसन्न हो जाती है कि हँसी उन्मुक्त हो कर उससे आप-से-आप फूटी पड़ती है। दो क्षण में ही उससे उसका इतना घनिष्ट परिचय हो जाता है कि विनोद उसके लिए 'आप' से, 'तुम' हो जाता है। वह उसके लिए दावत करती है, बग़ल से दारोग़ा जी को बुलवाती है, उनके तबले, हारमोनियम और ग्रामोफ़ोन के सहारे उस दिन को जीवनोत्सव बना लेती है। आज न जाने कितने दिन बाद उसने भड़कीला शृंगार किया है। घर में सोहाग बिन्दी की शीशी ख़ाली पड़ी थी। इससे लाल फूलों का रस ले कर ही अपने दिव्य गोरे भाल को और भी दीप्त कर लेती है। अगले दिन जो विनोद जाता है तो फिर प्रतिभा के पास लौटता नहीं। हाँ बीच में कभी उस रास्ते चलते ट्रेन के डिब्बे से उतर कर काली बाबू को सोहाग बिन्दी की एक शीशी प्रतिभा की ख़ातिर दे जाता है और बस।[3] इधर विनोद की प्रतीक्षा में निराश प्रतिभा अपना स्वास्थ्य खो बैठती है और अन्त में जान भी गँवा डालती है। प्रतिभा का दमित यौन-भाव विनोद को अपने पास पा कर पूर्णतः जगता है और फिर निराशा के कारण पहले मानसिक और बाद में शारीरिक रोग में परिणत होता है और इस प्रकार यौन अतृप्ति की दशा में प्रतिभा जीवन की बाज़ी हार जाती है। काली बाबू जब उसकी मृत्यु के बाद उसकी मामी के यहाँ देहात पहुँचते हैं तो उन्हें पता चलता है कि अन्त समय तक प्रतिभा की आँखें खुली ही रहीं।[4] प्रतिभा किस की प्रतीक्षा कर रही थी—इसे जानने की ज़रूरत भी काली बाबू ने नहीं समझी। वह अवश्य ही मन-ही-मन अपने को इस बात के लिए माफ़ नहीं कर पा रहा होगा कि प्रतिभा के अन्तिम क्षण में वह उसके पास न रहा। प्रतिभा का अन्तिम संस्कार करके उसके अस्थि खण्ड के साथ काली बाबू अपने क्वार्टर में वापस आता है और एक दिन प्रतिभा का सन्दूक खोलने पर उसे एक पत्र मिलता

१. २. सोहाग बिन्दी और अन्य नाटक—सोहाग बिन्दी—
ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ १७, १३

३. ४. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ २७, ३६,

है जिसमें लिखा है—'मेरे न जाने कौन विनोद बाबू। तुम आने को कह कर फिर क्यों नहीं आये, मैं हर घड़ी तुम्हारी राह देखा करती हूँ।'[१] इस लिखावट पर सोहाग बिन्दी की शीशी खुल कर खून का धब्बा बना रही है। इस पत्र को पाने के बाद काली बाबू का सन्न रह जाना सर्वथा स्वाभाविक है और अब प्रतिभा का वह अस्थि खण्ड जिसे प्रतिभा का स्मृति-चिह्न मान कर काली बाबू सहेज कर रखे हुए था, बिल्ली के खेलने की वस्तु ही तो हो सकता है।

प्रस्तुत एकांकी में इस प्रकार यौन की समस्या की प्रस्तुति हुई है। पति काली बाबू की निरपेक्षता के कारण पत्नी प्रतिभा का यौन-भाव अतृप्त रहा। काली बाबू के घर में प्रतिभा को उन वस्तुओं का अभाव शायद नहीं था, जिनसे भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है लेकिन उस भरे-पूरे घर में भी प्रतिभा यौन की दृष्टि से भूखी रही। इस भूख ने उसे विनोद की ओर उन्मुख किया। सामाजिक मर्यादाओं के बन्धन के कारण उसका 'न जाने कौन विनोद' भी उसकी इस भूख को न मिटा पाया और इस भूख के कारण ही वह काल-कलवित हुई। ऐसा नहीं है कि विनोद ने उसकी पीड़ा को नहीं समझा। लेकिन वह कर भी क्या सकता था? उसका आ कर प्रतिभा के लिए काली बाबू को 'सोहाग बिन्दी,' की शीशी दे जाना बड़ा ही सांकेतिक है।

वह फिर आयी थी : द्विवेदी जी के 'वह फिर आयी थी' शीर्षक नाटक में भी विफल प्रेम की समस्या की प्रस्तुति हुई है। सिद्धिनाथ नामक एक कवि मनोरमा नामक युवती से प्यार करता है। लेकिन दोनों का विवाह नहीं हो पाता। मनोरमा किसी दूसरे के साथ ब्याही जाती है। उसके विवाह के छः वर्षों के बाद उस दिन, जिस दिन सिद्धिनाथ का साहित्यिकों के बीच सम्मान होने वाला था मनोरमा अपने शरीर के कंकाल की छायामूर्त्ति लिए सिद्धिनाथ के घर चली आती है। वह इतनी क्षीण हो गयी है कि सिद्धिनाथ ने देखा कि उसके कुर्सी पर बैठने से ज़रा-सा भी दबाव नहीं पड़ा।[२] मनोरमा बताती है कि उसने उसके साथ मिलने आने का जो वादा किया था, उसे ही पूरा करने आयी है। वह अपनी पूरी कथा उसे सुना कर जब चलने को उद्यत होती है सिद्धिनाथ उसे अपने आलिंगन में बाँधने के लिए प्रयत्न करता है और औंधे मुँह गिर पड़ता है। स्पष्ट है कि आने वाली छायामूर्त्ति मनोरमा नहीं थी उसके प्रेत की थी। इस प्रकार अति मानवीय पृष्ठ-भूमि में इस विफल प्रेम की कथा की मार्मिक अभिव्यंजना की गयी है और बताया गया है कि अनमेल विवाह जान का गाहक बन सकता है।

परदे का अपर पार्श्व : 'परदे का अपर पार्श्व' भी सेक्स की समस्या को प्रस्तुत करने वाली रचना है। रमेश चन्द्र

---

१. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—ग० प्र० द्विवेदी—पृ० ४३

१. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—एकांकी संग्रह—वह फिर आयी थी—ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ ६१

अपने विद्यार्थी-जीवन में उर्मिला नामक अपनी एक सहपाठिनी से प्रेम करता था। किन्तु उसका विवाह उर्मिला से न हो सका। आज उर्मिला उसी शहर में, जिसमें रमेश ख्यातिलब्ध वकील के रूप में रहता है बाबू भगवानदास की पत्नी हो कर अनमेल विवाह का दण्ड भोग रही है। शादी के बाद भी वह अपने प्रिय रमेश को भुला नहीं पायी। उसे बराबर पत्र लिखती रही। यदा-कदा उससे मिलने की अभिलाषा भी वह रखे रही। लेकिन अपने प्रेम की विफलता से रमेश पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि वह उर्मिला के पत्रों को बिना पढ़े ही जला दिया करता है। वह अपने मित्र रामेश्वर से कहता ही है कि वह अपने शरीर की एक-एक बूंद से उर्मिला से नफ़रत करता है।[1] लेकिन रामेश्वर उसके इस कथन को स्वीकार नहीं करता और कहता है कि—'अगर तुम यह कहना चाहते हो कि तुम उसे भूल गये या अपनेपन से तुमने उसे एकदम अलग कर दिया तो मैं तुमको एक बहुत बड़ा हिपोक्रिट कहूँगा। तुम्हारे प्रत्येक रोम पर अब भी उसका वैसा ही अधिकार है, यद्यपि इस अधिकार की क्रिया अब दूसरे रूप में हो रही है। तुम्हारा एक-एक दिन का प्रत्येक कार्य अब भी उससे प्रभावित है—पहले की अपेक्षा कहीं अधिक वेग से प्रभावित है, सिर्फ़ उसका पहलू बदल गया है।'[2] रामेश्वर का कहना है कि 'यह असम्भव है कि जिसे कभी सचमुच प्यार किया हो, उसके प्रति किसी भी परिस्थिति में एकदम निर्विकार या निर्लिप्त हो जाया जाय।'[3]

रामेश्वर के कथन में जो सत्य है, वह आगे चल कर स्पष्ट होता है। उर्मिला बीमार पड़ती है और बेहोशी में रमेश का नाम पुकार उठती है। जब उससे उसका पति पूछता है कि यह रमेश कौन है और फिर उसका कौन है, जिसे वह याद करती है तो वह जैसे यंत्र-चालित सी उठ कर बैठ जाती है और साफ़-साफ़ बता देती है कि वह उसका 'सब कुछ'[4] है। इस प्रकार उर्मिला अपने जीवन की आखिरी साँस तक रमेश की स्मृति सँजो कर रखती है। उसके प्रति अपना प्रेम अपने पति के आगे स्वीकार करके हठ करती है कि रमेश को बुला भेजा जाय।

अपनी पत्नी की इस अन्तिम इच्छा को पूरा करने के लिए बाबू भगवान दास रमेश के पास अपने गुमाश्ते शिवराम दुबे को भेजता भी है। लेकिन रमेश उसे यह कह कर वापस कर देता है कि 'आप ग़लत जगह आये हैं। खत मेरा नहीं है।'[5] वह इतना कठोर और अनुदार हो जाता है कि कहता है—'अगर उनकी बीवी को कोई विल या दान-पत्र वगैरह बनवाना हो तो वैसा कहिए, मैं चलने को तैयार हूँ। नहीं तो आपको किसी डॉक्टर के यहाँ जाने की सलाह दूँगा।'[6] शिवराम दुबे उसे समझाता ही रह जाता है कि नहीं, इस विषय में कहीं कोई धोखा नहीं है और उसे चलना ही चाहिए। लेकिन रमेश शिवराम दुबे को यह कह कर वापस कर देता है कि—'मेरी मोटर लीजिए और मेहरबानी करके एक बार देख आइए—पूछ आइए कि दर असल

---

१. २. ३. ४. ५. ६. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—परदे का अपर पार्श्व —ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ ७१, ७२, ७३, ८१, ७८, ७९-८०

वकील की ज़रूरत है कि डॉक्टर की।'[1] रमेश को जिस बात का रंज है, वह यह है कि जिस उर्मिला ने इस चरम अवस्था में आ पहुँचने पर एक बार उससे मिलना ज़रूरी समझा और अपने पति द्वारा ही उसे प्रकट रूप में बुलवाया, उसका ज़िक्र तक इस खत में न करना भगवानदास के लिए मुनासिब नहीं है। रमेश उर्मिला को जीवन के अन्तिम क्षण में यह अनुभव करा देना चाहता है कि 'एक पुरुष के सच्चे प्रेम के निरादर की प्रतिक्रिया कितनी भयंकर हो सकती है।'[2] इसी से वह उसके मरने की खबर पा कर ही एक बार उसके यहाँ जायेगा—ऐसा उसका निश्चय है। अन्त में उर्मिला की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है और उसके साथ ही रमेश का धीरज और मान भी शेष हो जाते हैं। वह वज्राहत-सा स्तब्ध हो जाता है और लड़खड़ा कर रामेश्वर के ऊपर गिर पड़ता है। इस प्रकार उर्मिला की मौत रमेश के इस दावे का खंडन करती है कि वह अपने शरीर की एक-एक बूंद से उर्मिला से घृणा करता है और साथ ही एकांकी के सार-वाक्य—'यह असम्भव है कि जिसे सचमुच प्यार किया गया हो, उसके प्रति किसी भी परिस्थिति में एकदम निर्विकार या निर्लिप्त हो जाया जाय' को सत्य सिद्ध करती है।

रमेश के उर्मिला के प्रति व्यवहार में जो तिक्तता है, वह निराशा का ही परिणाम है, उसके भूखे सेक्स की भीषण प्रतिक्रिया है। लेकिन वह सब ऊपरी है। रामेश्वर ने ठीक ही कहा है कि उर्मिला से रमेश आज भी टूट नहीं पाया है, कभी टूट भी नहीं पायेगा। बाबू भगवानदास की स्थिति भी कम मार्मिक नहीं है। वह उर्मिला का पति है लेकिन उर्मिला उससे प्यार नहीं करती। विवाह का विधान भी उर्मिला को अपने 'सब कुछ'—रमेश से भिन्न नहीं कर पाता। मृत्यु के तट पर खड़ी हो कर उर्मिला सचमुच बड़े ही जीवट का काम करती है जब वह अपने पति से आग्रह करती है कि उसके प्रेमी रमेश को वह उसके पास बुला दे। भगवानदास अपनी मरणासन्न पत्नी की इस प्रार्थना को अनसुनी नहीं करता—यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। स्पष्ट है, वह उर्मिला से अपनी ओर से प्रेम करता है भले ही उसे प्रतिदान न मिला हो। रमेश ने उससे शिकायत की है कि उसने अपने पत्र में उर्मिला का नाम छिपा कर नामुनासिब काम किया है। लेकिन भगवानदास आखिर तो मनुष्य है, सामाजिक मर्यादाओं के बन्धन में फँसा हुआ दुर्बल-सा मनुष्य। रमेश ने यदि अपने को उसकी स्थिति में डाल कर सोचा होता तो शायद उसे यह शिकायत नहीं होती। लेकिन आदमी इतना उदार कहाँ होता है ?

शर्मा जी : पंडित गणेश प्रसाद द्विवेदी के 'शर्मा जी' शीर्षक एकांकी नाटक में भी अनमेल विवाह की समस्या की प्रस्तुति हुई है। इस समस्या को प्रस्तुत नाटक में एक ओर श्री राम शर्मा और उमा और दूसरी ओर डॉ० अस्थाना और तारा

---

१. २. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—परदे का अपर पार्श्व—पृष्ठ ८२, ८५।

के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। अध्ययन-काल में शर्मा का सम्पर्क मिस तारा से होता है। किन्तु तारा की शादी हो जाती है—डॉ० अस्थाना से। शर्मा के (जो अब सिवीलियन आफ़िसर हो चुका है) गले मढ़ दी जाती है—देहातिन उमा। इस उमा को और-तो-और ढंग से बोलने का भी शऊर नहीं है। अपनी भोजपुरी मिश्रित खड़ी बोली में जब वह कहती है—'इतने रात को औरत बोलता है, टेसन पर से! कैसी औरत है!'[१] तब शर्मा जी के नेत्र विस्फारित हो उठते हैं और साथ ही क्षण भर के लिए देवी जी के सर्वाङ्ग पर विद्युत वेग से दृष्टिपात कर फिर प्रश्नसूचक दृष्टि से दूसरी ओर देखने लगते हैं।[२]

इधर तारा का दाम्पत्य जीवन है, जिससे न उसे सन्तोष है, न उसके पति नामधारी डॉ० अस्थाना को। डॉक्टर ने स्वीकार किया है—'आज तीन बरस होने को आये, दो लड़के भी हो चुके, मगर मैं जितना ही उसके अन्तस्तल के पास जाने की कोशिश करता हूँ, उतना ही उसे जटिल और दुरूह पाता हूँ।'[३] उधर तारा कहती है—'इस विवाहित जीवन के दो वर्षों में सिर्फ़ तीन बार घर से बाहर निकल सकी हूँ, सो भी खास-खास मौकों पर।'[४] विवाह के विधान ने तारा को अस्थाना की पत्नी और फिर उसके बच्चों की माँ तो बना दिया, लेकिन इस शारीरिकता के ऊपर उसे उठा नहीं सका। परिणाम है—उसके दाम्पत्य जीवन का असन्तुलन।

शर्मा, जो कुछ हुआ है, उसके लिए उत्तरदायी कुछ तो समाज को मानता है और उससे भी अधिक तारा को। उसने सब कुछ देख-सुन कर यही समझा है कि 'उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियाँ प्यार नहीं कर सकतीं और अपढ़ लड़कियाँ प्यार करना जानती नही।'[५] उमा का अपराध यदि कुछ है तो यही कि वह देहातिन है, फूहड़ है और इस कारण अपने सिवीलियन आफ़िसर पति शर्मा के योग्य नहीं है। उधर आधुनिका तारा है, जो दूसरे से प्यार पाना ही अपना हक समझती है लेकिन किसी को प्यार करना नही चाहती।[६] ऐसी लड़कियाँ पुरुष के प्रेम से मुग्ध हो सकती हैं पर उस मुग्धता को उनका प्यार समझना महाभ्रम है। वे अर्घ्य चाहती हैं। इसी अर्थ में वे 'देवियाँ' हैं। अर्घ्य और पूजा के प्रतिफल में पुरुष अधिक-से-अधिक 'प्रसाद' पा सकते हैं, मगर प्यार....![७] शर्मा जी ने ऐसी स्त्रियों का चरित्र-विश्लेषण करते हुए अस्थाना को सुझाया है—'जिसे स्त्री-स्वभाव कहते हैं, उसका उनमें नितान्त अभाव है। स्त्री की स्वार्थ-परायणता, तुच्छ लोलुपता, ईर्ष्या, अलंकार, प्रसाधन आदि का लोभ, तुच्छ छल-कपट, प्रतिहिंसा आदि उनमें नही देखोगे। वे पुरुष हैं। उन्हें स्त्री चाहिए और यदि तुम उनके अनुकूल स्त्री नहीं हो सकते तो....।'[८] स्पष्ट है कि शर्मा आधुनिकाओं को प्रेम करने की दृष्टि से अक्षम समझता है।

तारा का पति इस बात का अनुभव तो करता है कि तारा के अन्तस्तल तक

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—शर्मा जी —पृष्ठ ६४, ६४, १०३, ६७, १०६, १०६, १०६, ११०

वह पहुँच नहीं पाता लेकिन नारी-हृदय की गुत्थियों को समझ सकना भी उसके वश में नहीं है। इसी से जब शर्मा आधुनिका का विश्लेषण उसके समक्ष करने बैठता है तो वह इतना ही समझ पाता है कि शर्मा के भेजे में कहीं कोई खराबी है। वह इसी से तो शर्मा को कहता है—'समथिंग रौंग विथ योर ब्रेन'।[1]

स्पष्ट है, प्रेम के पथ पर डॉ० अस्थाना अनाड़ी है। उसकी पत्नी तारा ऐसी सुन्दर है कि किसी से उसकी तुलना असम्भव उसमें अपढ़ लड़की की-सी सरलता और सुसंस्कृत स्त्री का-सा सौहार्द्र, दोनों हैं। लेकिन वहीं तारा का प्रेम पौधा ऐसा है कि चतुर माली के हाथ पड़ कर वह फूल भी उगा सकता है और अनाड़ी के हाथ पड़ने पर वह नष्ट भी हो सकता है।[2] बेचारा अस्थाना इन बातों को क्या समझे? वह तो पति है, तारा के बच्चों का बाप! इससे ऊपर जब कभी वह कदाचित् उठना भी चाहता है तो पाता है कि उस दुर्गम-दुर्ग तक उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

इस प्रकार देहातिन उमा चतुर माली शर्मा के किसी मर्ज की दवा सिद्ध नहीं होती। उधर तारा का अस्थाना इतना अनाड़ी है कि वह तन-से ऊपर उठ ही नहीं पाता और जो उठना चाहे भी तो तारा क्या उसके साथ सहयोग कर सकेगी? हिन्दू-समाज की विवाह-संस्था कितने सुधार की अपेक्षा रखती है, इसकी ओर इशारा करना नाटककार का उद्देश्य प्रमाणित होता है। दूसरी ओर इस युग की आधुनिकाएँ हैं, जो स्वयं अपने में एक बड़ी समस्या हैं। उन्हे पति के रूप में साथी नहीं सेवक चाहिए। जो सेवक बन पाया, वह तो ठीक रहा; जो न बन पाया, असन्तुलित दाम्पत्य जीवन की दुर्बह-बोझ ढोने के लिए विवश हुआ। नाटककार इन भीषण प्रश्नों को उठाकर हमें सोचने और कुछ करने की प्रेरणा दे देते हैं और यही उनकी रचना का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

दूसरा उपाय ही क्या है?: द्विवेदी जी ने 'दूसरा उपाय ही क्या है?' शीर्षक अपने नाटक में स्त्री की बेबसी का चित्र उपस्थित किया है। सित्तो सुरेश की बाल-सखी है और घर वाले उनके प्राप्त-वयस होने पर उनको विवाह-सूत्र मे बाँध देना भी चाहते हैं। लेकिन विधि-विधान से ऐसा हो नही सका और आज सीता सुविख्यात रईसज़ादे नरेन्द्र बाबू की 'सहधर्मिणी रूपेण संस्थिता'[3] हो गयी है। सुरेश अपनी सित्तो से उसके विवाह के बाद मिलना और दो बातें करना चाहता है। लेकिन उसका मित्र महेश उसे यह कह कर रोकता है कि 'सीता अब पर-स्त्री है। अब उसकी बात सोचना भी तुम्हारे लिए पाप है, मिलना तो बहुत बड़ी बात है।'[4] इधर सुरेश है, जो अपनी ज़िद पूरी ही करता है और सीता के घर के फाटक पर आ धमकता है। सीता उससे मिलने से

१. २. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—शर्मा जी—पृष्ठ ११३, १०७

३. ४. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—दूसरा उपाय ही क्या है? —पृष्ठ १२७, १२८-१२९।

के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। अध्ययन-काल में शर्मा का सम्पर्क मिस तारा से होता है। किन्तु तारा की शादी हो जाती है—डॉ० अस्थाना से। शर्मा के (जो अब सिवीलियन आफ़िसर हो चुका है) गले मढ़ दी जाती है—देहातिन उमा। इस उमा को और-तो-और ढंग से बोलने का भी शऊर नहीं है। अपनी भोजपुरी मिश्रित खड़ी बोली में जब वह कहती है—'इतने रात को औरत बोलता है, टेसन पर से! कैसी औरत है!'[1] तब शर्मा जी के नेत्र विस्फारित हो उठते हैं और साथ ही क्षण भर के लिए देवी जी के सर्वाङ्ग पर विद्युत वेग से दृष्टिपात कर फिर प्रश्नसूचक दृष्टि से दूसरी ओर देखने लगते हैं।[2]

इधर तारा का दाम्पत्य जीवन है, जिससे न उसे सन्तोष है, न उसके पति नामधारी डॉ० अस्थाना को। डॉक्टर ने स्वीकार किया है— 'आज तीन बरस होने को आये, दो लड़के भी हो चुके, मगर मैं जितना ही उसके अन्तस्तल के पास जाने की कोशिश करता हूँ, उतना ही उसे जटिल और दुरूह पाता हूँ।'[3] उधर तारा कहती है— 'इस विवाहित जीवन के दो वर्षों में सिर्फ़ तीन बार घर से बाहर निकल सकी हूँ, सो भी खास-खास मौकों पर।'[4] विवाह के विधान ने तारा को अस्थाना की पत्नी और फिर उसके बच्चों की माँ तो बना दिया, लेकिन इस शारीरिकता के ऊपर उसे उठा नहीं सका। परिणाम है—उसके दाम्पत्य जीवन का असन्तुलन।

शर्मा, जो कुछ हुआ है, उसके लिए उत्तरदायी कुछ तो समाज को मानता है और उससे भी अधिक तारा को। उसने सब कुछ देख-सुन कर यही समझा है कि 'उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियाँ प्यार नहीं कर सकतीं और अपढ़ लड़कियाँ प्यार करना जानती नहीं।'[5] उमा का अपराध यदि कुछ है तो यही कि वह देहातिन है, फूहड़ है और इस कारण अपने सिवीलियन आफ़िसर पति शर्मा के योग्य नहीं है। उधर आधुनिका तारा है, जो दूसरे से प्यार पाना ही अपना हक समझती है लेकिन किसी को प्यार करना नहीं चाहती।[6] ऐसी लड़कियाँ पुरुष के प्रेम से मुग्ध हो सकती है पर उस मुग्धता को उनका प्यार समझना महाभ्रम है। वे अर्घ्य चाहती हैं। इसी अर्थ में वे 'देवियाँ' हैं। अर्घ्य और पूजा के प्रतिफल में पुरुष अधिक-से-अधिक 'प्रसाद' पा सकते हैं, मगर प्यार....![7] शर्मा जी ने ऐसी स्त्रियों का चरित्र-विश्लेषण करते हुए अस्थाना को सुझाया है—'जिसे स्त्री-स्वभाव कहते हैं, उसका उनमें नितान्त अभाव है। स्त्री की स्वार्थ-परायणता, तुच्छ लोलुपता, ईर्ष्या, अलंकार, प्रसाधन आदि का लोभ, तुच्छ छल-कपट, प्रतिहिंसा आदि उनमें नहीं देखोगे। वे पुरुष हैं। उन्हें स्त्री चाहिए और यदि तुम उनके अनुकूल स्त्री नहीं हो सकते तो....।'[8] स्पष्ट है कि शर्मा आधुनिकाओं को प्रेम करने की दृष्टि से अक्षम समझता है।

तारा का पति इस बात का अनुभव तो करता है कि तारा के अन्तस्तल तक

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—शर्मा जी —पृष्ठ ६४, ६४, १०३, ६७, १०६, १०६, १०६, ११०

वह पहुँच नहीं पाता लेकिन नारी-हृदय की गुत्थियों को समझ सकना भी उसके वश में नहीं है। इसी से जब शर्मा आधुनिका का विश्लेषण उसके समक्ष करने बैठता है तो वह इतना ही समझ पाता है कि शर्मा के भेजे में कहीं कोई खराबी है। वह इसी से तो शर्मा को कहता है—'समथिंग रौंग विथ योर ब्रेन'।[1]

स्पष्ट है, प्रेम के पथ पर डॉ० अस्थाना अनाड़ी है। उसकी पत्नी तारा ऐसी सुन्दर है कि किसी से उसकी तुलना असम्भव उसमें अपढ़ लड़की की-सी सरलता और सुसंस्कृत स्त्री का-सा सौहार्द्र, दोनों हैं। लेकिन वहीं तारा का प्रेम पौधा ऐसा है कि चतुर माली के हाथ पड़ कर वह फूल भी उगा सकता है और अनाड़ी के हाथ पड़ने पर वह नष्ट भी हो सकता है।[2] बेचारा अस्थाना इन बातों को क्या समझे? वह तो पति है, तारा के बच्चों का बाप! इससे ऊपर जब कभी वह कदाचित् उठना भी चाहता है तो पाता है कि उस दुर्गम-दुर्ग तक उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

इस प्रकार देहातिन उमा चतुर माली शर्मा के किसी मर्ज़ की दवा सिद्ध नहीं होती। उधर तारा का अस्थाना इतना अनाड़ी है कि वह तन से ऊपर उठ ही नहीं पाता और जो उठना चाहे भी तो तारा क्या उसके साथ सहयोग कर सकेगी? हिन्दू-समाज की विवाह-संस्था कितने सुधार की अपेक्षा रखती है, इसकी ओर इशारा करना नाटककार का उद्देश्य प्रमाणित होता है। दूसरी ओर इस युग की आधुनिकाएँ हैं, जो स्वयं अपने में एक बड़ी समस्या हैं। उन्हें पति के रूप में साथी नहीं सेवक चाहिए। जो सेवक बन पाया, वह तो ठीक रहा; जो न बन पाया, असन्तुलित दाम्पत्य जीवन की दुर्वह-बोझ ढोने के लिए विवश हुआ। नाटककार इन भीषण प्रश्नों को उठाकर हमें सोचने और कुछ करने की प्रेरणा दे देते हैं और यहीं उनकी रचना का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

दूसरा उपाय ही क्या है ?: द्विवेदी जी ने 'दूसरा उपाय ही क्या है?' शीर्षक अपने नाटक में स्त्री की बेबसी का चित्र उपस्थित किया है। सित्तो सुरेश की बाल-सखी है और घर वाले उनके प्राप्त-वयस होने पर उनको विवाह-सूत्र में बाँध देना भी चाहते हैं। लेकिन विधि-विधान से ऐसा हो नहीं सका और आज सीता सुविख्यात रईसज़ादे नरेन्द्र बाबू की 'सहधर्मिणी रूपेण संस्थिता'[3] हो गयी है। सुरेश अपनी सित्तो से उसके विवाह के बाद मिलना और दो बातें करना चाहता है। लेकिन उसका मित्र महेश उसे यह कह कर रोकता है कि 'सीता अब पर-स्त्री है। अब उसकी बात सोचना भी तुम्हारे लिए पाप है, मिलना तो बहुत बड़ी बात है।'[4] इधर सुरेश है, जो अपनी ज़िद पूरी ही करता है और सीता के घर के फाटक पर आ धमकता है। सीता उससे मिलने से

१. २. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—शर्मा जी—पृष्ठ ११३, १०७
३. ४. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—दूसरा उपाय ही क्या है?
—पृष्ठ १२७, १२८-१२९।

इन्कार करती है और कहला देती है कि 'बाबू घर पर नहीं हैं।'[१] सीता के उत्तर से सुरेश मर्माहत तो होता है लेकिन वह पहरेदार के हाथ एक पत्र लिख कर सीता के पास भेज भी देता है। उस पत्र में उसने लिखा है—'बहुत सम्भव है, मेरे जीवन सम्बन्धी सभी बातें अब अर्थशून्य होंगी—पर एकमात्र स्मृति मेरी सम्बल होगी। श्रीमती जी! शायद आपको याद हो आपको मैंने अपनी एक तसवीर दी थी, आज मैं उसे लौटा लेना चाहता हूँ। क्यों लौटा लेना चाहता हूँ—यह जान कर आपको कोई लाभ नहीं होगा।'[२]

सित्तो का पति नरेन्द्र सुरेश के अपमान के विषय में जान कर खिन्न होता है। उसे उसके प्रति सहानुभूति होती है और वह चाहता है कि सुरेश को ससम्मान बुलाया जाय। लेकिन सित्तो है कि सुरेश की चर्चा भी पसन्द नहीं करती और कहती है, यदि उसके सामने कभी सुरेश की चर्चा की गयी तो वह मायके चली जायेगी।[३]

नरेन्द्र देख रहा है कि उसकी पत्नी सित्तो के दिल का घाव कितना गहरा है। लेकिन विवाह की मर्यादा को तोड़ सकने और अपने प्रिय को फिर से प्राप्त कर सकने की सुविधा हिन्दू नारी को होती नहीं। इसलिए उसके लिए यही सम्भव है कि वह अपने हृदय पर पत्थर रख ले और समाज के कठोर विधान के आगे गर्दन झुका दे। दूसरा उपाय ही उसके लिए क्या हो सकता है? जब तक हमारे समाज में धनसम्पत्ति को प्रेम के बिरवे पर अमर-लता की तरह छा जाने की सुविधा प्राप्त रहेगी, कितने ही सुरेश और सित्तो की हत्या होती रहेगी। द्विवेदी जी इसी सत्य की व्यंजना इस नाटक में करते हैं।

सर्वस्व समर्पण : द्विवेदी जी रचित 'सर्वस्व समर्पण' एक ऐसा नाटक है, जिसमें दो प्रेमियों को इस बात का पता तब तक नहीं चलता कि वे परस्पर प्रेम करते हैं, जब तक कि एक की शादी नहीं हो जाती। विनोद का लालन पालन निर्मला के घर में बच्चे की तरह होता है। निर्मला का उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन यह घनिष्ठ सम्बन्ध प्रेम-भाव का है, उसके पीछे किसी भी रूप में सेक्स भी है इसका पता तो निर्मला को तब जा कर लगता है जब विनोद की पत्नी उमा की तेज़ निगाहें विनोद और निर्मला की स्वच्छन्दता पर पड़ती हैं।[४] उन तेज़ निगाहों के प्रबल आघात ने निर्मला को बता दिया कि अब वह सयानी हो गयी है, और वह स्त्री है, विनोद पुरुष है और एक दूसरी स्त्री का पति भी।[५] इस अनुभव ने उसके जीवन को अवसाद से भर दिया और जैसा कि विनोद के मित्र प्रेम ने समझा, 'भाभी की तेज़ निगाहों के धक्के ने निर्मला के सोये हुए प्रेम को भी जगा दिया।'[६]

---

१. २. ३. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—दूसरा उपाय ही क्या है?
—पृष्ठ १३०, १४१, १४४।

विनोद को दीखता है कि उमा उसकी और निर्मला की जीवन-नौका को एक साथ चलने नहीं दे रही है। लेकिन क्या वह निर्मला से छूट सकेगा ? उसकी आत्मा कहती है कि जीवित रहते संसार की कोई शक्ति उन दोनों को अलग नहीं कर सकती।[१] इधर उमा का स्वास्थ्य इस मानसिक तनाव की वजह से गिरता जा रहा है। निर्मला विनोद को सावधान करती है कि उत्तेजना में वह कहीं कोई ग़लती न कर बैठे।[२] विनोद अपनी बेबसी में अनुभव करता है कि पाँच वर्ष का उमा का भ्रम बीस वर्ष के निर्मला के सत्व को धक्का दे कर मिथ्या नहीं कर सकता।[३] वह पत्र लिख कर उमा को समझाता है कि निर्मला के ही आश्रित वे दोनों हैं। उससे वे उऋण नहीं हो सकते। हाँ, इतना ही किया जा सकता है कि उमा के सम्पर्क में निर्मला न आये। लेकिन जहाँ तक निर्मला और विनोद का प्रश्न है, उनका सम्बन्ध अटूट है। उमा पर इस समझाने का यही असर होता है कि वह समझती है कि उसका सर्वस्व लुट गया।[४] अब प्रेम जा कर उमा को समझाने की कोशिश करता है और उससे दो टूक बातें करता है। प्रेम का कहना है—'जो तुम स्वयं उपभोग नहीं कर सकती, उसे प्रसन्न-चित्त से दान नहीं कर सकती—यह कैसी बात है ? और यह दान भी किसके लिए करोगी ? उसके लिए, जिसको सब कुछ तुम देती रही हो इतने दिन तक ?'[५] यह तो स्पष्ट ही है कि विनोद निर्मला से छूट कर उसका होने से रहा और इसलिए उमा को पति के प्यार के नाते उसे निर्मला के लिए छोड़ना होगा। उमा पर प्रेम की बातों का असर होता है और वह निर्मला को बड़े प्यार से अपने पास बुलाती है, अपना बहुमूल्य आभूषण चम्पाकली उसे यह कहती हुई पहनाती है कि 'संसार में मेरा जो कुछ है, उसी के साथ तुम्हें बाँध दूँगी। यह हार उसी बन्धन का चिह्न है। इससे शान्ति से मर सकूँगी।'[६] लेकिन निर्मला का कहना है कि 'दैव ने जिससे हमको वंचित रखना उचित समझा है, वह मैं दूसरे को धोखा दे कर न लूँगी।'[७] राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के क्रम में विनोद और निर्मला जेल जाते हैं। उनके लौटने पर उमा एक बार फिर निर्मला को पास बुलाती है और चाहती है कि अपने जीवन की सांध्य-बेला में वह अपने सम्पूर्ण प्यार की थाती उसे सौप दे![८] यह इसलिए कि वह मरते समय विनोद के प्रेम से वंचित होना नही चाहती थी। लेकिन वह निर्मला को आशीर्वाद न दे सकी। बदले में उसके मुँह से यही निकला—'राक्षसी, तू यहाँ क्यो आयी ? तेरा यहाँ क्या है ? मैं मरूँगी नहीं, रहूँगी, रहूँगी। भाग डायन यहाँ से, अभी मुँह काला कर यहाँ से।'[९] उत्तेजना के इस क्षण में उमा का जीवन-दीप निर्वापित हो जाता है।

प्रस्तुत नाटक से विदित है कि परस्पर साहचर्य की सहज स्वच्छन्दता के बीच उस वृत्ति का अनजाने जन्म होता है, जिसे 'प्रेम' की संज्ञा प्राप्त है विनोद और उमा के विवाह के पहले न तो विनोद और न निर्मला ने कभी यह सोचा भी था कि वे एक

---

१. २. ३ ४. ५. ६. ७. ८. ९. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—सर्वस्व समर्पण—ग० प्र० द्विवेदी—पृ० १५८, १६३, १६५, १७०, १६६, १७०

दूसरे को प्यार भी करते हैं। यदि उन्हें इस बात का अनुमान होता तो शायद उमा के साथ विनोद का विवाह नहीं होता। विनोद के विवाहोपरान्त उमा की तेज़ निगाहों की सतर्कता, पत्नी के अधिकार की सजगता, विनोद और निर्मला को सत्य के दर्शन करा देती है। तीर हाथ से निकल चुका है। निर्मला के वश में यही है कि वह प्रयत्न करके विनोद और उमा, पति-पत्नी के जीवन के बीच से बाहर चली आये। लेकिन जीते जी तो यह होने से रहा। इसी से तो वह मरने की अच्छी-सी तदबीर खोजने लगती है। विनोद पुरुष है और समाज से लोहा लेने का हौसला भी उसके पास है। इसीलिए वह विवाह के भ्रम को प्रेम के सत्य को धक्का दे कर निकालने नहीं देगा। विवाह के विधान को वह भ्रम कह कर एक बड़ा प्रश्न-वाचक चिह्न खड़ा कर देता है। हमारे समाज की नयी पीढ़ी विवाह के विधान को सिर झुका कर स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन विनोद जैसी हिम्मत निर्मला में कहाँ है ? वह दैव के विधान को दुर्निवार समझ कर उसके आगे सिर झुकाना ही मुनासिब समझती है। विनोद की पत्नी उमा को निरपराध, सर्वथा निरपराध होने पर भी भुगतना पड़ता है और अन्त में उसकी जान पर बीतती है। उसकी यह कैसी दयनीयता है कि उसे अपने उसी पति के (जो उसे प्यार नहीं करता) प्यार के नाम पर अपने सुहाग के सर्वस्व को उसकी प्रेमिका के लिए अर्पित करना होता है। उमा की यह ट्रैजेडी सचमुच हृदय-द्रावक है।

समस्या-नाटककार प्रचलित रूढ़ियों पर यथावसर कशाघात करता है। प्रस्तुत नाटक में विनोद ने समाज की रूढ़ियों की अवमानना दो ढंग से की है। निर्मला उसके मामा की बेटी है[1] और उस निकट की रिश्तेदार से प्रेम अथवा विवाह की स्वीकृति समाज नहीं देता। लेकिन विनोद को इसकी थोड़ी भी परवाह नहीं है। विवाह के विधान को अपरिहार्य मानने से जब विनोद इन्कार करता है और उसे भ्रम की संज्ञा देता है तब वह अपनी उस जागरित नवीन चेतना की सूचना देता है, जो समाज की रूढ़ियों को चुनौती देने के लिए कृतसंकल्प है।

कामरेड : कामरेड शीर्षक एकांकी नाटक में भी यौन-समस्या की ही प्रस्तुति हुई है। एक दल ऐसा खड़ा होता है, जो किसी प्रकार की रूढ़ि (convention) को स्वीकार करना नहीं चाहता।[2] इस दल का कहना है कि आज ज़रूरत इस बात की है कि अपनी पुरानी तहज़ीब को नये सिरे से सजा कर उसे ऐसा जामा पहना दिया जाय कि संसार के बड़े-चढ़े मुल्कों के साथ हमारे भी कदम बढ़ते चलें। इस क्रान्तिकारी दल के तीन सदस्य हैं, रमेश, रणजीत और शीला, जो मज़दूरों के बीच काम करते हैं।

---

१. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—सर्वस्व समर्पण—पृ० १५८

२. छः एकांकी : प्रकाशचन्द्रगुप्त —कामरेड : ग० प्र० द्वि०—

रणजीत पुराने संस्कारों से अब तक छूट नहीं पाया है। वह धनी बाप का बेटा है, मोटर पर घूमता है। इस क्रान्तिकारी दल का सदस्य इसी मानी में है कि वह भाषण खूब देता है। लेकिन जब कुछ कर गुज़रने का समय आता है वह कतरा कर निकल भागता है।

रमेश सही मानी में रूढ़ि-विरोधी है। वह जानता है कि अब यह देखने का समय नहीं रह गया कि हमारा शास्त्र क्या कहता है, समाज क्या चाहता है और दुनिया क्या मानती है। ज़माने की तब्दीली की ओर भी देखना चाहिए और दिल में नयी रोशनी के लिए गुंजायश रखनी चाहिए। यह रमेश एक ऐसा समाज बनाना चाहता है, जिसमें किन्हीं खास कानूनों की पाबन्दी नहीं रहेगी।

शीला इस संस्था की सदस्या है और खूबसूरत है। उसका औरत होना और खूबसूरत होना रमेश के लिए कोई मानी नहीं रखता। उसे सिर्फ़ इतने से ही वास्ता है कि वह उसकी कामरेड है। इधर रणजीत है, जिसे इस बात की फ़िक्र है कि शीला के इतनी-इतनी रात गये रमेश के घर आने से दल को बदनामी होती है।[1] दरअसल वह औरत को सेक्स से अलग करके दिमाग़ में ला ही नहीं सकता। यहीं उसका रमेश से विरोध होता है। उसका कहना है कि कामरेड शीला को यदि रात को रमेश के यहाँ आने की ज़रूरत पड़ेगी तो उसे निःसंकोच आना ही चाहिए।[2]

बात असल में यह है कि रणजीत को रमेश और शीला की घनिष्ठता से ईर्ष्या होती है। वह स्वयं शीला से प्रेम करता है, उसे मोटर में साथ ले चलना चाहता है।

एक रात भयानक वर्षा के कारण शीला को रमेश के घर पर ही रात बितानी पड़ती है। बस, इसे देख रणजीत का पारा गर्म हो जाता है। वह शीला को रमेश के बिस्तर पर देख उबल उठता है और कहता है—'मैं चाय पिऊँगा और तुम दोनों के हाथ की, लानत है।' ऐसा कह कर वह प्याला पटक देता है। स्पष्ट है, जब ईर्ष्या के लिए अवकाश नहीं रह जाता तो रणजीत गुस्से में प्याला फोड़ता है।

रणजीत की ईर्ष्या, रमेश और शीला को कितना नुकसान पहुँचा सकती है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। रमेश की क्रान्तिकारी मान्यताएँ भला कितनी देर तक ढाल बन कर रमेश और शीला का बचाव कर सकती हैं? यहीं स्पष्ट हो जाता है कि समाज है और उसकी उन सड़ी-गली मान्यताओं में भी कितना बल है। अस्तु, शीला के आगे एक यही रास्ता बच रहता है कि वह रमेश से कहे—'रात तुम्हारे साथ रह कर अब मेरे लिए और कहाँ जगह है?'

क्रान्तिकारी दल के ये नौजवान, जो दुनिया को बदलने का सपना देखते हैं, इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के आगे प्रणत होते हैं। रमेश के साथ शीला कामरेड की स्थिति में नहीं रह पाती उसे रमेश की पत्नी हो ही जाना पड़ता है। अब रणजीत

१. २. छः एकांकी : प्रकाशचन्द्र गुप्त—कामरेड : ग० प्र० द्वि०—पृ० १२९

चाहे तो दो-चार प्याले और फोड़ ले, और कुछ वह कर नहीं सकता।

नाटककार यदि चाहता तो इन पात्रों के चरित्र को समाज के प्रति विद्रोह करने वाले व्यक्तियों के रूप में और भी निखार सकता था और तब उसको एक के बाद दूसरी कितनी ही समस्याएँ चित्रण के लिए प्राप्त हो सकती थीं। किन्तु लेखक के आगे तो बस जैसे एक ही समस्या है, एक ही ढाँचा है। एक नारी है और उसके दो दावेदार हैं और इस द्वन्द्व में ही कथावस्तु का निर्माण होता है।

प्रस्तुत नाटक में मज़दूरों की समस्या की जो क्षीण झलक मिलती है, उसकी ओर भी नाटककार ने भर नज़र नहीं देखा। यदि वह ऐसा कदाचित कर पाता तो एक नयी चीज़ दे जाता। जिस नारी-समस्या की ओर नाटककार का ध्यान केन्द्रित है, उसका एक पहलू, जो रमेश के दिमाग़ में है, अर्थात नारी—सेक्स के अलावा भी कुछ हो सकती है, उसे भी नये सामाजिक परिवेश में देखा जा सकता था। लेकिन ऐसा लगता है कि नाटककार समस्या की गहराई में जाना नहीं चाहता। इसलिए क्रान्तिकारियों की टोली मे आने के बाद भी वह कोई क्रान्तिकारी चीज़ हमें नहीं दे पाता।

'सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक' के 'दो शब्द' के प्रमाण पर ऊपर यह बताया जा चुका है कि पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी का उद्देश्य है—एक सुन्दर-सी वस्तु का निर्माण करना। इस सुन्दर-सी वस्तु के निर्माण के लिए नाटक ही लिखे जायें—आखिर इसकी कोई अनिवार्यता होनी चाहिए। कहिए कि सत्य के जिन चित्रों को द्विवेदी जी प्रस्तुत करना चाहते हैं, उनको हृदयग्राही बनाने के लिए वे कोई सरल माध्यम ढूँढ़ रहे थे। तो फिर कहानी का माध्यम वे ग्रहण कर सकते थे। लेकिन उन्होंने नाटक को चुना! 'सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक' से यह भी स्पष्ट है कि 'तकनीक के बोझ तले कला को कुचल देने'[1] के पक्षपाती द्विवेदी जी नही हैं और जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा—'वे रंगमंच और नाटक का अभिन्न सम्बन्ध नही मानते।'[2] इस स्थिति में इस बात का विचार और भी आवश्यक हो जाता है कि रंगमंच और नाटकीय विधान के प्रति ऐसा निरपेक्ष भाव रखने वाला कलाकार नाटक की रचना ही क्यों करे।

द्विवेदी जी के नाटकों में वस्तु का जो अशरीरीपन मिलता है, वह भी हमारा ध्यान खींचता है और बताता है कि द्विवेदी जी किस्सागो नहीं हैं। तो फिर वस्तु का वह सौन्दर्य कहाँ छिपा है, जिसे वे अपने नाटकों के द्वारा मुखर करना चाहते हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए डॉ० नगेन्द्र ने शायद यह लिखा है कि 'नाटक को उन्होंने उसके स्वरूप के आकर्षण के कारण ही ग्रहण किया है क्योंकि पात्र के मानस का विश्लेषण करने के लिए वह सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम है।'[3]

इस प्रकार स्थिर यह हुआ कि द्विवेदी जी अपने नाटकीय पात्रों के मानस के

---

१. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—दो शब्द—ग० प्र० द्वि०—पृष्ठ २
२. ३. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ १४०

रहस्य-पटल को उघाड़ कर किसी सुन्दर चित्र का निर्माण करते हैं और उसको नाटक का कथानक बनाते हैं।

'सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक' शीर्षक संग्रह में 'वह आयी थी', 'शर्मा जी', 'दूसरा उपाय ही क्या है ?' और अन्यत्र प्राप्त 'कामरेड,' कथानक की अमाँसलता के अच्छे निदर्शन हैं। इन नाटकों के कथानक अशरीरी होने पर भी सुन्दर हैं, यह स्पष्ट है।

द्विवेदी जी के नाटकों का विषय तत्व एक है। प्रकाशचन्द्र गुप्त जी ने कहा ही—'अ' प्यार करता है 'ब' को, 'ब' 'स', को।[1] बस, ऊपर से देखने पर तो यही दीखता है कि त्रिभुज के इन तीन कोनों में ही सारा किस्सा तमाम है। लेकिन इस सामान्य ढाँचे को ले कर जो वस्तु-निर्माण भिन्न-भिन्न नाटकों में होता है, उसका अपना विशिष्ट रंग है। यह इसलिए कि द्विवेदी जी के पात्र अपना ज़िन्दगी जीते हैं। सबकी अपनी-अपनी क्रिया है, प्रतिक्रिया है।

'सोहाग बिन्दी' की प्रतिभा और 'सर्वस्व-समर्पण' की उमा दोनों को अपने पति से उपेक्षा मिली है और दोनों ही निरपराध मरी है। लेकिन दोनों का एक टाइप नहीं है। 'सोहाग बिन्दी' की प्रतिभा का पति काली बाबू अपने कार्यालय के दायित्व के निर्वाह के प्रति इतना सजग और ईमानदार है कि बेचारे को ठीक से खाने की फ़ुर्सत नहीं मिलती। घर आ कर दो-चार कौर निगल कर फिर कार्यालय की ओर भागने की उसकी नित्य की लाचारी है। वह जानबूझ कर प्रतिभा की उपेक्षा नहीं करता! और प्रतिभा का स्वास्थ्य क्या काली बाबू की उपेक्षा से नष्ट हुआ है ? प्रतिभा तो मरी है विनोद की व्याकुल प्रतीक्षा में निराश हो कर। इधर 'सर्वस्व-समर्पण की उमा का पति विनोद है, जो अपनी प्रेमिका निर्मला से सम्बन्ध-विच्छेद कर उमा का हो जाने में सर्वथा असमर्थ है। उमा की उपेक्षा के लिए विनोद उत्तरदायी दीखता तो है लेकिन क्या वह सचमुच वैसा है ? निर्मला के साथ उसका जो सम्बन्ध है, वह आत्मिक है और इसको भी तो विनोद को उमा ने ही सुझा दिया था। विनोद सचमुच कितना निरुपाय और विवश है! गुंजायश, समझौता वह कर नही पाता। गुंजायश के लिए उसने जो रास्ता ढूँढ़ा है कि निर्मला उमा के सम्पर्क में नहीं आये,[2] वह उमा को सन्तुष्ट नही कर पाता। विनोद दूसरा कर भी क्या सकता है ?

'परदे का अपर पार्श्व' और 'दूसरा उपाय ही क्या है ?' शीर्षक नाटकों में प्रेमी पुरुषों की प्रेम की विकलता-जन्य प्रतिक्रिया की प्रस्तुति हुई है। 'परदे का अपर पार्श्व' के रमेश की प्रतिक्रिया बड़ी ही तीखी है। वह अपनी पूर्व-प्रणयिनी और आज की बाबू भगवान दास की परिणीता उर्मिला को यह अनुभव करा देना चाहता है कि

---

१. छः एकांकी—भूमिका भाग—प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त

२. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—सर्वस्व समर्पण—पृष्ठ १६३

एक पुरुष के सच्चे प्रेम के निरादर की प्रतिक्रिया कितनी भयानक हो सकती है। उसका आहत अभिमान उसे इतना निष्ठुर और हृदयहीन बनाता है कि उर्मिला की अन्तिम प्रार्थना को भी वह अनसुनी कर देता है। उसका यह अहंकार ही शिवराम दुबे को वापस भेज कर विजय पाने का उपक्रम करता है। 'दूसरा उपाय ही क्या है ?' का सुरेश इतने से ही सन्तुष्ट हो जायगा कि उसे अपना वह फ़ोटो सीता से वापस मिल जाय, जिसे उसने कभी उसे दिया था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवेदी जी के नाटकों का विषय एक है—'प्रेम की विफलता की समस्या' तथापि उनके भिन्न-भिन्न नाटकों के पात्र एक ही साँचे में ढले हुए नहीं हैं। चाहे नायक हो, चाहे नायिका सबके अपने अन्दाज़ हैं, अपनी गुत्थियाँ हैं और अपनी प्रतिक्रियाएँ हैं।

प्रेम के विषय में नाटककार की एक निश्चित धारणा है, जो इन शब्दों में मुखर होती है :

'वास्तविक प्रेम कभी मिटता नहीं चाहे उसका पात्र या पात्री जघन्य से जघन्य आचरण क्यों न करे। सिर्फ एक प्रकार का पट-परिवर्त्तन मात्र हो जाता है। पट के दोनों ही ओर जीवन की सामग्री है और दोनों ही का दर्जा बराबर का है। फ़र्क सिर्फ़ इतना ही है कि एक ओर अगर प्रेम के दृश्य या करिश्मे हैं, तो दूसरी ओर घृणा के। एक तरफ़ अगर प्रेम है तो दूसरी तरफ घृणा, पहला जितना चित्र-विचित्र और गहरा होता है, दूसरे को भी ठीक वैसा ही होना पड़ेगा।....दूसरे शब्दों में, यह असम्भव है कि जिसे सचमुच प्यार कर चुके हों, उसके प्रति किसी भी परिस्थिति में एकदम निर्विकार हो जाँय। और यदि ऐसा हो जाय, तो इसका अर्थ यह होगा कि वह सचमुच प्यार या प्रेम नहीं था, कोई और ही चीज़ रही होगी।'[१]

'वह फिर आयी थी' की मनोरमा तो इस बात का प्रमाण है कि प्रेम का यह क्रम मृत्यु के उपरान्त भी चलता रहता है। मनोरमा जीवित रहते जिस सिद्धिनाथ को न पा सकी, उसी के पास प्यार का वादा निभाने के लिए प्रेत हो कर चली आती है। 'परदे का अपर पार्श्व' प्रेम और घृणा दोनों का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। उर्मिला के प्रति अपने प्रेम में विफल हो कर रमेश यह दावा तो करता है कि वह अपने शरीर के रक्त की एक-एक बूंद से उर्मिला से घृणा करता है लेकिन उसकी अगली कहानी यही सिद्ध करती है कि वह ऐसा दावा करके सचमुच 'हिपोक्रिसी' कर रहा था। सत्य यह है कि वह उर्मिला के प्रति निर्लिप्त अथवा निर्विकार नहीं है। 'दूसरा उपाय ही क्या है ?' की सीता अपने पूर्व-प्रेमी सुरेश से मिलने से इन्कार करती है, नहीं चाहती कि उसके सामने उसकी चर्चा की जाय। यह क्या घृणा की प्रतिक्रिया है ? नहीं, सच तो यह है कि वह सुरेश से निर्लिप्त नहीं हो पाती। इधर वह नरेन्द्र की पत्नी है और इस कारण उसके सामने सुरेश से सम्बन्ध तोड़ने की विवशता है।

---

१. सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक—परदे का अपर पार्श्व—गणेश प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ ७३।

द्विवेदी जी के इन सभी नाटकों में असन्तुलित वैवाहिक जीवन का चित्र मिलता है। प्रेमियों की मनचाही शादी नहीं होती और वे जीवन भर इस विफलता की पीड़ा का बोझ ढोते हैं। नाटककार ने यह बताने का किंचित् प्रयास नहीं किया कि सिद्धिनाथ-मनोरमा, रमेश-उर्मिला, शर्मा-तारा तथा सुरेश-सित्तो को अपनी पसन्द का जीवन-साथी प्राप्त करने का भाग्य क्यों नहीं प्राप्त हुआ। इस विषय में वे मौन हैं। 'दूसरा उपाय ही क्या है ?' के सुरेश और सित्तो के तो घर वाले भी चाहते थे कि उनका विवाह हो जाय लेकिन फिर भी सित्तो सुरेश की न हो पायी।

डॉ० नगेन्द्र ने इस विषय में लेखक के मौन की कैफ़ियत लिखी है—'इस प्रेम में सर्वत्र वैषम्य है—प्राय: वैवाहिक वैषम्य, परन्तु इसके लिए समाज अथवा परिस्थिति उत्तरदायी नहीं है—यह एकदम मनोवैज्ञानिक है—अर्थात् लेखक ने इसे एक सामाजिक समस्या न बना कर, मानव-मनोविज्ञान की चिरन्तन जटिलता-माना है, और इसी दृष्टि से उसका विश्लेषण किया है—केवल विश्लेषण, मानो वह उसके स्वरूप को ही समझा सकता है, कारण को नहीं।'[१]

इस संग्रह के एकांकियों के पात्रों के वैवाहिक वैषम्य अथवा असन्तुलित दाम्पत्य-जीवन का उत्तरदायित्व समाज अथवा परिस्थितियों पर नहीं है—यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि ये अपना जीवन-साथी अपनी स्वतंत्रता के साथ चुन सकते तो कोई कारण नहीं है कि इन्होंने विफल प्रेम का दुर्वह बोझ, उसकी मार्मिक पीड़ा को स्वीकार किया होता। हाँ, इतनी बात अवश्य दीखती है कि पंडित गणेश प्रसाद द्विवेदी ने समस्या के स्वरूप की ओर ही ध्यान दिया है, उसके कारण की ओर नहीं। यह इसलिए कि कारण तो स्वयंसिद्ध है। देश की बड़ी समस्या तो यह रही ही है कि समाज की मान्यताओं में नवीन परिवेश एवं युगधर्म की माँग के अनुसार संशोधन नहीं किया गया। यह स्थिति इतनी स्पष्ट है कि नाटककार ने उसकी ओर इशारा करने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

इस प्रकार द्विवेदी जी के समस्या-नाटकों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि अपने युग के मनोविश्लेषण विषयक नवीन वैज्ञानिक अन्वेषण से वे परिचित हैं और अपने यहाँ प्रेम अथवा यौन विषयक जो आदर्श प्रचलित रहे हैं, उनका वे उसके परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते रहे हैं। उन्होंने जिस पुरुष-वर्ग को देखा है, उसका जीवन-संघर्ष बहुत ही तीव्र है, और अपने काम-काज, उद्योग-धन्धे में वह इस तरह पिला हुआ है कि उसे इस बात का भी एहसास नहीं है कि घर में उसकी कोई पत्नी भी है, भावुकता और कल्पना का उसका कोई संसार भी है। पति की इस निरपेक्षता का परिणाम नारी के मनोविज्ञान पर इस रूप में पड़ता है कि वह एक तरह से विद्रोहिणी बन जाती है और अपने से ही पूछा करती है—क्या नारी को मूक पशु की भाँति पुरुषों की यह उपेक्षा सहनी ही

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ १४०।

पड़ेगी ? विवाह का विधान क्या पति को यह अधिकार दे देता है कि वह नारी का प्रेम पाये ही ? क्या ऐसी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती, जिसके अन्तर्गत नारी को भी विवाह और प्रेम के विषय में कम-से-कम वे ही अधिकार प्राप्त हों, जिनकी बदौलत पुरुष नारी के प्रति मनमानी करता है ?' ये ही कुछ प्रश्न हैं, जो द्विवेदी जी के समस्या-नाटकों के विचार हैं। पुरुष और नारी के सम्बन्ध की इसी समस्या की प्रस्तुति द्विवेदी जी का इष्ट है।

गोविन्द वल्लभ पंत

अंगूर की बेटी

पं० गोविन्द वल्लभ पंत 'अंगूर की बेटी' में मद्यपान की समस्या की प्रस्तुति हुई है। एक धनीमानी पिता का उत्तराधिकारी पुत्र मोहन दास, माधव नामक अपने एक दुराचारी मित्र के वश हो कर अपना सर्वनाश कर लेता है। पिता से प्राप्त बैंक के सारे रुपये, शहर की सातों कोठियाँ, दोनों गाँव, लोहे का कारखाना—ये सारे-के-सारे शराब की गंगा में बह गये।[1] मोहन दास ने अपनी सती साध्वी धर्मपत्नी कामिनी के सारे गहने भी बेच डाले। इसी शराब के कारण उसकी अन्तिम सम्पत्ति—उसका मकान—भी अग्निदेव की भेंट हो गयी।

ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाले मोहनदास की शराब ने यह गत बना रखी है कि वह गंदी नाली में पड़ा रहता है और कुत्ते उसका मुँह चाटा करते हैं।[2] लेकिन उसी गंदी नाली को वह, वह स्थान समझता है, जहाँ दुनिया की आफ़त, मुसीबत, दुःख और मौत की पहुँच नहीं। अन्त में वह इस अवस्था को प्राप्त होता है कि उसे अनुभव होता है कि उसके लिए पूर्व में उपवास, पश्चिम में रात, उत्तर में ठंडक और दक्षिण में मौत सुनिश्चित है![3] जिस शराब को उसने पहले-पहल दवा के तौर पर इस्तेमाल किया था, वह धीरे-धीरे उसके प्राणों की जगह में बस गयी।[4] इस मुँह की लगी के चलते उसकी यह दुर्दशा है कि जेब के पैसे गये, रिश्तेदारों ने उसके लिए अपने दरवाज़े बन्द कर लिए और दुनिया दोस्तों से खाली हो गयी[5] और अन्त में वह अपनी ही पत्नी की हत्या करने का अपराधी भी बना।

मद्यपान की हानि का इस प्रकार निरूपण करने के उपरान्त, अर्थात् समस्या की इस रूप में प्रस्तुति के बाद नाटककार का दायित्व शेष हो जाता है। लेकिन पंत जी ने समस्या का समाधान प्रस्तुत करके आदर्श की स्थापना की है। उनका बाबा

---

१. २. ३. ४. ५. अंगूर की बेटी—गो० ब० पन्त—पृ० ६, ५, ६२, ११, ११।

बनवारी, मोहनदास को विनोद का छद्मवेश धारण करने वाली मोहनदास की धर्मभार्या के संरक्षण में ले आता है और क्रमश: शराब की मात्रा में कमी कराके अन्त में उसे इस बुरी लत को छोड़ने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार बनवारी बाबा के मार्ग-दर्शन पर चल कर कामिनी अपने कुपथगामी सुरासेवी पति को आदमी बनाती है। कथा का यह आदर्शात्मक अन्त 'अंगूर की बेटी' को 'सामाजिक नाटक' की घिसी-पिटी लकीर पर दौड़ने के लिए छोड़ देता है और समस्या-नाटक की शर्तें पूरी नहीं हो पातीं।

नाटक में माधव, प्रतिभा और विन्दु नाम के तीन अन्य०पात्र हैं, जो सिनेमा के चाक-चिक्य के प्रति दीवाने हो गये हैं। धन कमाने की बलवती स्पृहा ने माधव को प्राय: अन्धा बना दिया है। तभी तो वह मैत्री के पुनीत सम्बन्ध को भी छल, फ़रेब धोखे का रूप दे देता है। मित्र बन कर मोहनदास का सर्वनाश कराता है और अन्त में उसे कौड़ी का तीन बना कर फाँसी के तख्ते पर पहुँचा देने का सारा प्रबन्ध कर लेता है। आदमी की आदमीयत पर आज स्वार्थ कैसे हावी हो गया है, इसका माधव उदाहरण हो जाता है। माधव के दिमाग़ में दर्जनों सिनेमा कम्पनियों की योजनाएँ हैं और सैकड़ों फ़िल्मों की कहानियाँ। अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों के जाल में वह एक ओर तो मिस प्रतिभा को उलझाता है और दूसरी ओर हरिहर पंडित की बी० ए० पास बेटी विन्दु को। मिस प्रतिभा सिनेमा-जगत में एक स्थान पर पहुँच गयी है। लेकिन उसे, जो है, उससे सन्तोष नहीं है। उसकी इस दुर्बलता का लाभ माधव यह कह कर उठाता है कि उसकी कम्पनी में आ जाने से वह १७००) महीने की आमदनी कर सकती है।[२] इधर विन्दु है, जो सिनेमा को प्यार करती है[१] और 'सिनेमा के आर्ट को तरक्की देने के लिए अपनी तमाम जिन्दगी उसी में लगा देना चाहती है।'[३] वह स्पष्ट शब्दों में घोषित कर चुकी है कि वह सिनेमा के लिए संसार की उँगलियों और समाज का डर, दोनों का मुकाबला करने के लिए तैयार है।[४]

लेखक ने इन तीन पात्रों को नाटकीय कथानक में ला कर एक ऐसा अवसर बनाया है, जब कि वह सिनेमा-जगत की कतिपय विशिष्ट समस्याओं को इनके माध्यम से प्रस्तुत कर सकता था। पर ऐसा होता नहीं है। माधव की दुर्गति के उपरान्त मिस प्रतिभा अपनी नौकरी पर चली जाती है। बची विन्दु तो वह तो पहले ही माधव के चंगुल से निकल कर बनवारी बाबा के संरक्षण में आ जाती है और विनोद कुमार के होटल का प्रबन्ध-भार ग्रहण कर लेती है।[५] स्पष्ट है, नाटककार के मन में सिनेमा-जगत की समस्याओं को प्रस्तुत करने का कोई खयाल नहीं है।

विन्दु के ब्याज से आज की शिक्षिता नारी के प्रश्न को इस नाटक में उठाने की चेष्टा की गयी है। विन्दु वकील विनायक की वाग्दत्ता है। वह आधुनिका है और इससे अपने पिता की तरह अपने हर चरण के लिए वेदों से फूँक कर जगह नहीं बना

१. २. ३. ४. ५. अंगूर की बेटी—गो० ब० पन्त—पृ० ७१, २६, ३४, ३७, ५४

सकती। उसका पिता हरिहर समझता है कि विन्दु अंग्रेज़ी पढ़ कर भ्रष्ट हो गयी है और उसकी यह भ्रष्टता उसकी सात पीढ़ियों को नरक में पहुँचायेगी।[१] विनायक नहीं चाहता कि जिनको वह जुआचोर समझता है, उनकी सोसायटी में उसकी वाग्दत्ता विन्दु जाये।[२] लेकिन विन्दु विनायक के प्रेम को अपने पथ की बाधा बनने नहीं दे सकती।[३] विवाह का अर्थ यदि ऐसा बन्धन है तो विवाह उसे कदापि स्वीकार नहीं है। यहाँ दाम्पत्य-प्रेम और नारी की स्वतंत्र सत्ता के इस विषय को उठा कर एक अच्छे से समस्या-नाटक के लिखे जाने की सम्भावना विद्यमान है। किन्तु, नाटककार की वृत्ति इस में भी नहीं रमती।

विनायक की यह वाग्दत्ता पिता द्वारा परित्यक्त हो कर और माधव के चंगुल से बच कर जब विनोदकुमार के 'द न्यू होटल' की प्रबन्धिका बनती है तब विनायक के हृदय में उसके प्रति नाराज़ी और विनोदकुमार के प्रति ईर्ष्या का होना स्वाभाविक है।[४] और उतना ही सटीक है विन्दु का यह कहना—'कठोर पुरुष जाति! तुझे प्रेम करना ही नहीं आता। जब प्रेम किया तो फिर उसमें संशय के लिए जगह ही कहाँ है?'[५] पुरुष और नारी के सम्बन्ध की समस्या का एक यह रूप भी हो सकता था और नाटककार को समस्या-नाटक के लिए एक कथावृत्त यहाँ भी मिल सकता था। लेकिन समस्या के इस पहलू की ओर भी नाटककार का ध्यान नहीं गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार के आगे यदि कोई समस्या है तो वह मद्यपान और उसके परिणाम की है। डॉ० दशरथ ओझा ने भी अपने ग्रन्थ 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' में यही सुझाया है।[६] प्रश्न है, क्या यह नाटक समस्या-नाटक की शर्त निभा पाता है? नाटककार ने बनवारी बाबा के द्वारा कुपथगामी सुरापायी मोहनदास का अन्त में ऐसा परिष्कार किया है कि उसके 'सिस्टम' से 'एलकोहल' निकल जाता है।[७] इतना ही नहीं, विन्दु की गवाही है कि जब से शराबी मोहनदास ने शराब कम कर दी है, उसके मुख पर अजीब ज्योति चमकने लगी है, उसके स्वभाव में विचित्र परिवर्तन हो उठा है और उसकी तन्दुरुस्ती ने बेहद उन्नति की है।[८] स्वयं मोहनदास कहता है—'इसके सिवा एक बात मेरे अन्दर और नयी पैदा हो गयी है—वह है आत्म-विश्वास।'[९] नाटक के अन्त में मोहनदास बनवारी बाबा के पवित्र चरणों को छू कर प्रतिज्ञा भी करता है कि वह अब शराब न पियेगा।[१०] वह इससे आगे बढ़ कर उससे आशीर्वाद माँगता है कि वह अपनी इस प्रतिज्ञा पर अटल रह सके।[११]

---

१. २. ३. ४. ५. अंगूर की बेटी—गो० व० पन्त—पृ० ३६, २६, २६, ६८, ६६, ८२

६. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डॉ० दशरथ ओझा—पृ० ३५०

७. ८. ९. १०. ११. अंगूर की बेटी—गो० व० पन्त—पृ० १२०, १२०, १२७

इस प्रकार मद्यपान की समस्या का आदर्शवादी पद्धति पर समाधान यहाँ प्रस्तुत किया गया है। समस्या-नाटक का ऐसा आदर्शात्मक अन्त 'अंगूर की बेटी' को समस्या-नाटकों की टोली में निधड़क घुसने देने में स्वभावत: बाधक हो जाता है। फिर पूरे एक दर्जन गीतों की इस नाटक में जो योजना हुई है, वह भी समस्या-नाटक—'अंगूर की बेटी' की कला के सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या सिद्ध होती है।

इस नाटक में तीन नारी पात्र आते हैं—कामिनी, विन्दु और मिस प्रतिभा। कामिनी भारतीय हिन्दू नारियों की परम्परा की है। पतिप्राणा कामिनी पति के अनाचारों, अत्याचारों को सिर झुकाये सहती जाती है और अन्त में अपने पति को सत्पथ पर वापस ले आती है। कामिनी से सर्वथा भिन्न रूप है, मिस प्रतिभा का, जो त्याग नहीं, ग्रहण को मुख्य समझती है। पढ़ी-लिखी विन्दु के आगे प्रश्न है कि वह किसका आदर्श अपनाये—कामिनी का अथवा मिस प्रतिभा का। हमें लेखक से यह शिकायत है कि उन्होंने विन्दु को अपने पैरों पर खड़ा होने नहीं दिया। संसार की खुली सड़क पर उसे अपने पैरों चलने की सुविधा नहीं दी जाती और जैसे प्रसाद के नाटकों के महामहिम पात्र घटनाओं और पात्रों की गतिविधि को जैसे चाहते हैं, मोड़ देते हैं, झटका देते हैं, वैसे ही 'अंगूर की बेटी' में बनवारी बाबा है, जो लंगड़े-लूले पात्रों को अपनी बैसाखी दे देता है। इस प्रकार 'अंगूर की बेटी' में जीवन के ऊहापोह में पड़े हुए, अपनी समस्याओं के बीच आप ही अपना हाथ-पाँव पटकने वाले अथवा एक शब्द में अपनी ज़िन्दगी जीने वाले पात्र नहीं मिलते।

लेखक ने इस नाटक को सामाजिक नाटक की संज्ञा दी है। मुझे ऐसा दीखता है कि 'अंगूर की बेटी' की उन्होंने संज्ञा यों ही नहीं दे दी है। सामाजिक नाटक में समस्या-नाटक बनने की जो सम्भावना रहती है, उसके प्रति नाटककार का ध्यान चूंकि नहीं है उससे इसे 'समस्या-नाटक' की भव्यता प्राप्त नहीं हो पायी।

सुहाग बिन्दी

हिन्दू घर की 'पत्नी' की समस्या को ले कर पंडित गोविन्द वल्लभ पन्त ने 'सुहाग बिन्दी' शीर्षक एक अन्य नाटक की भी रचना की है। कुमार नामक एक स्कूल मास्टर की पत्नी विजया पति की अनुमति लिये बिना अकेली गंगा-स्नान के लिए घर से बाहर निकल पड़ती है। राह में कोई उसे बेहोश करने वाली दवा सुँघा कर मोटर में ले भागता है। आगे चल कर मोटर उलट जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप वह व्यक्ति, जो विजया को भगा ले आया था, दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है और विजया भी अस्पताल पहुँचायी जाती है। होश आने पर वह जल्द-से-जल्द अपने पति के पास पहुँचने की व्याकुलता में अस्पताल से चुपचाप भाग खड़ी होती है। लेकिन वह घर पहुँच नहीं पाती। राह में वह ज्वर-ग्रस्त होती है और अपने वे गहने भी गवाँ बैठती है, जिनके भरोसे वह घर जाने के लिए अस्पताल से निकल पड़ी थी। अबकी बार वह किसी

अखबार बेचने वाले की सहायता से एक महिलाश्रम में लायी जाती है। महिलाश्रम में उसकी बड़ी तीमारदारी की जाती है और वह रोग-मुक्त होती है। लेकिन अब उस पर महिलाश्रम के उस प्रबन्धक की भूखी आँखें गड़ती है, जो सेवा के प्रतिदान की प्राप्ति लिए व्यग्र हो रहा था। अपनी गरिमा की रक्षा के लिए विजया उस महिलाश्रम से निकल पड़ती है और अपने पिता के घर किसी स्त्री की सहायता से पहुँचती है। पिता के घर का दरवाज़ा जीवित विजया के लिए बन्द है। उसके पिता ने कहा ही—'वह प्रेत होती तो कदाचित् मैं उसे आश्रय दे देता। वह उससे भी भयानक हो गयी—वह पतित हो गयी। उसके दर्शन में पाप, छाया में विष और साँस में कीटाणु हैं!'[१] पिता से तिरस्कृत हो कर विजया पति के घर आती है। पति विजया को पहचानता तो है लेकिन उसने तो विजया के श्राद्ध के अगले ही दिन रेवा से विवाह कर लिया है। विजया परिस्थितियों के साथ समझौता करने को तैयार है। वह रेवा के विषय में कुमार को आश्वस्त करती हुई कहती है—'मै उसे अपनी बहन समझ कर सदैव प्रसन्न रखूँगी।[२] मै लड़ूँगी नहीं उससे, द्वेष न करूँगी कुछ।'[३] वह तो इसके लिए भी तैयार है कि उसे मृत समझा जाय और दासी की स्थिति में ही सही उसे अपने पति के चरणों में रहने दिया जाय। लेकिन उसके पति को यह भी स्वीकार नहीं है। वह तो रेवा से विजया की सारी स्मृतियों को छिपा कर रखना चाहता था। इससे उसने रेवा को सावधान कर दिया कि शहर में एक ऐसी पगली आयी है, जो रेवा की सौत होने का दावा करती है। इधर रेवा है, जो समस्त गृह में अपनी सौत विजया के स्पर्श, उसके पदांक ढूँढ़ती रहती है।[४] और एक दिन सचमुच विजया रेवा के पास पहुँच ही जाती है। वह उसे सब तरह से आश्वस्त करती है कि वही विजया है और वह जीवित है। रेवा के प्रश्न के उत्तर में वह यह भी बताती है कि व्यर्थ के अहंकार से ही उसने किसी को अपना पता देने में संकोच किया और उसे स्पष्ट दीखता है कि वह उसकी बड़ी भूल सिद्ध हुआ।[५] कुमार—उसके पति—ने जो व्यवहार किया है, उसका कारण भी वह जानती है। रेवा को वह बताती है कि वह बन्ध्या समझी जाती रही है और इससे यह स्वाभाविक ही है कि कुमार दूसरा ब्याह करे। रेवा विजया को अपने घर में छिपा कर रखती है और धीरे-धीरे कुमार के विजया के प्रति भाव को वह उदार बनाने की चेष्टा करती है। कुमार अनुभव करने लग जाता है कि जो छाया-मूर्त्ति उसके मानस में थी, उस पर रेवा ने बड़े कौशल से तूलिका फेर दी है।[६] इससे आगे वह बढ़ कर रेवा से कहता है—'मै विजया को ग्रहण करूँगा। उसका मुख कह रहा था, वह पवित्र है, उसने कोई अपराध नही किया।'[७] अब वह समाज के उस भय का खयाल नहीं करेगा, जिसके कारण उसने उसे पहचान कर भी घर में स्थान नहीं दिया। अब वह स्वजन, परिजन, जाति-धर्म सबका वीरता के साथ सामना करेगा।[८]

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. सुहाग बिन्दी—गोविन्द वल्लभ पंत—पृ० ७१, ७५, ७७, ३७, ९९, १०३, १०६, १०६

लेकिन विजया के भाग्य में यह मिलन-सुख बदा नहीं था। कुमार के सामने रेवा जब विजया को प्रस्तुत करती है, उस समय तक सर्प-दंश का विष उसके शरीर में पूर्णतः व्याप्त हो चुका था और सब कुछ समाप्त हो जाता है।

पंत जी के इस नाटक में नारी की स्वतंत्रता की समस्या और पुरुष-वर्ग की असहिष्णुता तथा अनाचार की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। विजया ज़रा-सी स्वतंत्रता का उपयोग करके अकेले घर से निकल पड़ती है और सर्वस्व गँवा बैठती है। पंत जी ने विजया के ब्याज से यह दिखाया है कि हमारे घरों में नारी को इतनी-सी भी स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं है। फिर हमारा समाज ऐसे भेड़ियों का समाज है कि औरत घर की देहरी लाँघ कर जैसे ही बाहर निकलती है उस पर एक के बाद दूसरे भेड़िये टूट पड़ते हैं। सेवा-व्रत का आडम्बर धारण करने वाले महिलाश्रमों के प्रबन्धक भी सेवा का प्रतिदान खोजते हैं। इस तरह, चमड़ी के नीचे सभी एक-से-एक खूंख़ार।

हमारी सामाजिक संस्था कितनी अनुदार है यह दिखाने के लिए पंत जी ने विजया का तिरस्कार उसके पिता और पति दोनों से कराया है। गंगा-स्नान का पुण्य कमाने की इच्छा से घर से बाहर जाने वाली विजया स्वयं अपने पिता की दृष्टि में पतिता है। उसके पति कुमार ने भी स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि समाज के एक कल्पित भय से उसने विजया के मरने की झूठी खबर फैला रखी थी।

असहिष्णु पुरुष-समाज के कई अंग हैं—एक ओर वह व्यक्ति है, जो बेहोश कर देने वाली दवा का उपयोग कर विजया को ले भागता है। दूसरी ओर सहानुभूति दिखा कर विजया से अनुचित लाभ उठा लेने की साथ रखने वाला अख़बार वाला अथवा महिलाश्रम का प्रबन्धक है। इन सब की एक ही जाति है, एक गोत्र है।

इस समाज के मुकाबले ममतामयी नारियाँ हैं—एक वह, जो सब तरह से विपन्न विजया को सहारा दे कर उसके पिता और फिर वहाँ से उसके पति के घर तक ले आती है और दूसरी हैं उसकी सौत—रेवा, जिसकी सहानुभूति पा कर विजया का सुख लौट आने को है। पुरुष और नारी प्रवृत्ति के इस पार्थक्य की ओर इस नाटक में स्पष्ट संकेत प्राप्त है।

नाटक की मुख्य समस्या की झलक दिखाने में नाटककार को सफलता तो मिलती है। किन्तु, ऐसा नहीं दीखता कि नाटककार ने जम कर इस समस्या पर सोच-विचार किया है। नाटककार का ध्यान नारी की स्वतंत्रता की समस्या से अधिक पुरुष-वर्ग की असहिष्णुता की ओर केन्द्रित है। विजया के प्रति पिता और पति ने जो अत्याचार किया है, उसका आदर्शवादी अन्त करके नाटककार ने जैसे यह दिखाया है कि अहंकारी पुरुष-वर्ग अपनी भूल का एहसास करने लगा है। बचा समाज। तो शायद नाटककार यह समझता है कि कुमार जैसे व्यक्तियों की अलग-अलग इकाइयाँ ही तो समवेत हो कर समाज का ढाँचा खड़ा करती हैं। इससे सर्वथा निराश होने की ज़रूरत नहीं है।

पंत जी के इन नाटकों को देख कर ऐसा अनुभव होता है कि वे समस्या को ग्रहण तो करते हैं किन्तु उसमें गहरे नहीं पैठते। और फिर समस्या का जो समाधान वे प्रस्तुत करते हैं, वह भी घिसा-पिटा ही होता है। समस्या-नाटककार की पैनी दृष्टि पंत जी को भरसक प्राप्त नहीं है और इसी से उनके वे दोनों नाटक समस्या-नाटक होने की सम्भावना रख कर भी सफल समस्या-नाटक नहीं हो पाते।

उदय शंकर भट्ट

श्री उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'विद्रोहिणी अम्बा' एक ऐसा नाटक है, जिसकी कथा तो पौराणिक है किन्तु उसमें जिस समस्या की प्रस्तुति हुई है, वह चिरन्तन है। भट्ट जी ने 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' शीर्षक अपने भाव-नाट्यों में भी इसी चिरन्तन समस्या का आरोप किया है। डॉ० नगेन्द्र ने भट्ट जी के इन नाटकों में प्राप्त समस्या का निर्देश करते हुए लिखा है : 'अधिकार-दृप्त पुरुष किस प्रकार नारी को केवल उपभोग की वस्तु मान कर उसके व्यक्तिगत और आत्मा का तिरस्कार करता रहा है—यही सत्य इन नाटकों में आज की स्त्री-स्वातन्त्र्य-भावना अथवा स्त्री-पुरुष-प्रतियोगिता से मानो बल प्राप्त कर, संघर्ष का रूप धारण कर आया है।'[1]

भट्ट जी का कहना है कि 'अनादि काल से पुरुष में स्त्री के प्रति तुच्छता का विचार रहा है। सभ्यता के उत्कर्ष में भी स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं हुआ।'[2] उनके 'विद्रोहिणी अम्बा' में ऐसी चार नारियों—'सत्यवती,' 'अम्बा,' 'अम्बिका' और 'अम्बालिका' को उपस्थित किया गया है, जो पुरुषों द्वारा उत्पीड़ित की गयी हैं। सत्यवती को वृद्ध-विवाह की कुरीति का शिकार बनाया गया है। सत्यवती की पीड़ा का अनुभव उसके ही पुत्र 'चित्रांगद' और 'विचित्रवीर्य' करते हुए कहते हैं : 'बूढ़ी उमर में एक अनन्त-यौवना से विवाह करके, अभिलाषाओं के घनघोर थपेड़े खा कर पछताते हुए आत्म विसर्जन करना और अपने पीछे बुढ़ापे के कलंक एक विधवा और दो निस्तेज, अपाहिज बालकों को छोड़ जाना समाज के प्रति अन्याय नहीं तो क्या है?'[3]

देवव्रत भीष्म के पिता शान्तनु ने अपनी वासना की पूर्ति के लिए सत्यवती के साथ विवाह किया और वह उनके दो निस्तेज पुत्रों की जननी बनी। इन्हीं अपाहिज पुत्रों के राज्याधिकार को सुरक्षित रखने के लिए देवव्रत को आजन्म ब्रह्मचारी रहने का कठिन व्रत धारण करना पड़ा। सत्यवती के ये बेटे सोचते हैं : 'किसी बूढ़े, ढलती

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ १२२
२, ३. विद्रोहिणी अम्बा—उदयशंकर भट्ट—पृष्ठ ९३, ३२

जवानी के पुरुष को क्या अधिकार है कि वह पुत्र के सुख की हत्या करके अपने सुख की कल्पना में संसार और समाज का अहित करे ?'[१] चित्रांगद तो यहाँ तक कह जाता है कि भीष्म का यह त्याग उनकी कायरता है। यदि वे वृद्ध पिता की आज्ञा का पालन न कर उनके अधर्म का साथ न देते तो इस संसार में उसके तथा उसके भाई विचित्रवीर्य जैसे निर्वीर्य, कमज़ोर और कायरों का जन्म न होता।[२] अपने निर्बल और क्षय-पीड़ित शरीर को देख कर चित्रांगद अपने मानसिक उद्वेग को रोक नहीं पाता और उसका रोम-रोम पुकार उठता है कि इस 'ऐतिहासिक अत्याचार' को अत्याचार कहे बिना वह रह नहीं सकता।[३]

सत्यवती को भी, जिसके लिए भीष्म ने इतना बड़ा त्याग किया, अन्त में यही अनुभव हुआ कि 'उसके दुर्भाग्य की अमिट रेखा में चित्रकार भीष्म का ही हाथ है।'[४] राज-पद की भूख और यौवन की न बुझने वाली प्यास ने उसे कहाँ-से-कहाँ ले जा कर पटका। लेकिन कुछ ही दिनों के बाद उसके हृदय में उस अज्ञान के प्रति तिरस्कार की, उस पद के प्रति घृणा की, और उस पतन के प्रति विषाद की भावनाएँ तीव्र-से-तीव्रतर होती गयीं।[५] आज वह अनुभव करती है कि ज़बर्दस्ती उससे कराये गये पापों की अग्नि में जो धुँआ-ही-धुँआ है—उसी में वह बैठी हुई है और उसका दम घुट रहा है।[६] इधर भीष्म है, जो कर्त्तव्य की आग में झुलस रहा है और अनुभव करता है कि उसके कारण माता सत्यवती और उसके दोनों पुत्र दुःख भोग रहे हैं।[७] अपनी इस पीड़ा को प्रकट करते हुए वह कहता है—'एक तरफ पितृ-सेवा, दूसरी तरफ प्रतिज्ञा और उसके फलस्वरूप तीन प्राणियों का असीम दुःख ! कुछ समझ में नहीं आता।'[८] स्पष्ट है, शान्तनु का वृद्ध-विवाह इन पात्रों की पीड़ा का एकमात्र कारण है। इसी से नाटककार का प्रस्ताव है कि बूढ़ों के विवाह करने की प्रथा बन्द होनी चाहिए।

काशिराज की पुत्रियों के क्रम में नाटककार ने पुरुष और नारी के सम्बन्धों की समस्या के एक दूसरे पहलू पर भी विचार किया है। काशिराज ने अपनी पुत्रियों के विवाह के निमित्त जिस स्वयंवर का आयोजन किया है, उसमें हस्तिनापुर के विचित्रवीर्य को यह समझ कर कि वह मल्लाह-कन्या सत्यवती से उत्पन्न है, निमन्त्रित नहीं किया गया है। सत्यवती ने इस अपमान का बदला लेने के लिए भीष्म को भेजा है और उसे आदेश दिया है कि वह काशिराज की कन्या का बलपूर्वक हरण करके ले आये। विचित्रवीर्य को अपनी माँ के इस निर्णय पर आपत्ति है। वह कहता है : 'इस प्रकार कन्या-हरण न्याय नहीं है। भैया बहुत अनुचित कार्य करने जा रहे हैं। जैसे कन्या निर्जीव खिलौना हो।'[९]

काशिराज के यहाँ स्वयंवर में भाग लेने के लिए दूर-दूर से राजा और राजकुमार आये हैं। उनमें कुछ लोग वृद्ध हैं। काशिराज यह समझ नहीं पाता कि बूढ़े खूसट

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८ ९. विद्रोहिणी अम्बा—उ० शं० भट्ट—
पृ० ३१, ३१, ३५, ३४, ३३, ३४, ४४, ४५, ६५

राजाओं को विवाह करने की क्या आवश्यकता है ।[1] विदूषक का प्रस्ताव है कि समाज को चाहिए कि वह नियम बना दे कि स्वयंवर की भूमि में केवल नवयुवक अविवाहित राजकुमारों को प्रवेश प्राप्त होगा ।[2] लेकिन काशिराज को विदित है कि जिस समाज में वह रहता है, उसमें बूढ़ों के विवाह करने पर किसी प्रकार पाबन्दी नहीं है तथापि इस विषय में रूढि का विरोध करके वह झंझट में फँसना नहीं चाहता है और स्वयंवर में तो कन्या को ही वर चुनने का अधिकार रहता है । इससे निषिद्ध बूढ़े खूसट अपने आप ही मार्ग से हट जायेंगे[3]—ऐसा सोच कर वह आश्वस्त हो जाता है ।

अम्बा विद्रोहिणी है । इसलिए वह रूढ़ियों को तोड़ने का निश्चय कर सकती है । अम्बालिका की शिकायत है कि पुरुष ने पराक्रम के मैदान में आज्ञा का जाल बिछा रखा है । स्त्रियाँ एक अचिन्त्य काल से उसी जाल में फँस रही हैं । नारी का स्वातन्त्र्य छिन गया है । एक बार स्त्री जब पुरुष के अधीन हो जाती है तो उसे अपने आपको भूलना पड़ता है, पुरुष की आँखों के इशारे पर उसे नाचना पड़ता है । इस प्रकार स्त्रियाँ आदि काल से पुरुषों की इच्छा और अत्याचारों का शिकार बनती आ रही हैं । इधर पुरुष के पौरुष की यही तो निशानी है कि वह स्त्री को अबला बनाये ।[4] स्पष्ट है, अम्बालिका के समक्ष पुरुष के आगे नारी की पराधीनता की समस्या है । वह देखती है, बादल अपनी मौज में घूमते हैं; बिजली उल्लास के वशीभूत हो कर कड़कती है; चुलबुलाती हवा अपनी मस्ती में झूमती है; फूल अबोध बच्चे की तरह खिलखिलाते हैं, प्रकृति में सर्वत्र यही स्वच्छन्दता है । तो फिर नारी ही पराधीनता का अभिशाप क्यों भोगे ?

ऐसे कहने के लिए पुरुष-समाज ने स्वयंवर का विधान कर नारी को अपना जीवन-साथी चुनने की स्वाधीनता दे रखी है । किन्तु, उसे यह बात अखरती भी है कि ऐसा करके उसने एक ऐसी निकम्मी प्रथा चलायी है, जिसके कारण 'पुरुष को स्त्री की दृष्टि में कृपा पात्र बनना पड़ता है ।'[5] अपनी अहमन्यता के दम्भ में पुरुष नारी को ऐसा कदर्थ जीव समझता है कि उसके क्रम में उसके आगे मानापमान का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता ।[6] स्वयंवर का यह विधान भी नारी की अधिकार-रक्षा से अधिक पुरुष के बल-विक्रम, पौरुष की परीक्षा के निमित्त ही प्रचलित है । भीष्म ने कहा ही है—'पराक्रम ही क्षत्रिय का सबसे बड़ा मूल्य है ।'[7] इसी पराक्रम का प्रदर्शन करके तो वह काशिराज की कन्याओं का हरण करके ले आया है ।

पुरुष की दृष्टि में, न तो नारी के गौरव का कोई अर्थ है और न उसके समर्पण का । भीष्म को यह बता कर कि वह शाल्व को अनुरागिनी है, जब अम्बा शाल्व के पास पहुँचती है तो शाल्व का दर्प उसे 'उच्छिष्ट'[8] मानता है । उसका अभिमान उससे कहला लेता है कि स्त्री ही संसार में एक ऐसा पदार्थ है, जो एक बार 'केवल एक बार

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. विद्रोहिणी अम्बा—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ५१-५२, ६५, ५३, ५५-५६, ५७, ५७-७७, ७८, ७८

ही स्पर्श किया जाता है ।'[1] शाल्व का निश्चय है कि उसके जैसा क्षत्रिय जूठन नहीं खा सकता ।

शाल्व के हाथों अपमानित होने वाली अम्बा अपने जीवनानुभव से यह समझ रही है कि स्त्रियों के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुष-जाति ने आज से नहीं सदा से स्त्रियों का अपमान किया है।[2] ऐश्वर्य, पद, मर्यादा के आडम्बर 'की रचना करने वाले पुरुष ने नारी के साथ सदा ही छल और विश्वासघात किया है ।' पुरुष-जाति के विषय में अम्बा कहती है—'सौन्दर्य के दीपक पर जल मरने वाले पतंगे ! रूढ़ियों के दास'[3]—इन पुरुषों का सहस्र सूर्यों के उज्ज्वल और प्रचंड प्रकाश में हजारों शपथ लेने पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता ।[4] अम्बा के चरित्र में आज की जागरित नारियों का दर्प स्पष्ट झलकता है । आज की नारी पुरुष की अकरुण आज्ञा की डोरी में बलि-पशु की भाँति बँधने को तैयार नहीं है । इस प्रकार काशिराज की विद्रोहिणी कन्या अम्बा के उपाख्यान के आधार पर नये युग की सबसे अधिक ज्वलन्त समस्या को प्रस्तुत करने का उद्योग भट्ट जी ने इस नाटक में किया है ।

अम्बिका और अम्बालिका को भी अपनी स्थिति से विद्रोह है । चतुर्दिक बसन्त का अल्हड़पन बिखरा पड़ा है, आम के पेड़ों में बौर निकल आये हैं, जिनकी सुगन्ध से कोयल मत्त हो चुकी है। लेकिन प्रकृति का यह सौन्दर्य इन हतभागिनी नारियों के लिए नहीं है । इन्हें तो सारा महल भाँय-भाँय करता हुआ दीखता है । उनके सारे जीवन को जैसे अवसाद ने घेर लिया हो ।[5]

अम्बिका समाज के उस नियम पर आपत्ति करती है, जिसके अनुसार विचित्रवीर्य जैसे असमर्थ, रोगी पुरुष के लिए एक नहीं तीन-तीन कन्याओं का हरण किया जा सकता है । स्त्रीत्व, और मनुष्यता की इस हत्या के विरुद्ध नारी यदि चाहे भी तो विरोध नहीं कर सकती । यह इसलिए कि समाज ने नारी को पुरुष की इच्छा की दासी बना रखा है और यह नियम चला रखा है कि पुरुष के आगे आत्म-समर्पण नारी का पमर धर्म है ।[6] अम्बिका ने ठीक ही कहा है—'इस अनूठे धर्म ने हमारी अभिलाषाओं की सदा से हत्या की है ।'[7]

'विद्रोहिणी अम्बा' के ये नारी-पात्र पुरुष-समाज द्वारा नारी पर होने वाले अत्याचार की परम्परा के प्रति विद्रोह करते हैं । भीष्म के प्रति इनका जो विरोध है, वह व्यक्तिगत नहीं है, वर्ग-गत है । भीष्म पुरुष-समाज का प्रतीक है और सत्यवती, अम्बा, अम्बिका तथा अम्बालिका उस पुरुष समाज के अत्याचार का शिकार हैं । डॉक्टर नगेन्द्र ने भीष्म और अम्बा के उस संघर्ष को स्पष्ट करते हुए लिखा है : 'भीष्म प्रतीक हैं अभिमानी पुरुषत्व के, अम्बा प्रतिकृति है पीड़ित किन्तु जागृत नारीत्व की !'[8]

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. विद्रोहिणी अम्बा—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ७८ ७६, ८१, ७८-७६, ८५, ८६, ८६

८. आधुनिक हिन्दी नाटक—नगेन्द्र—पृष्ठ १२३

आज का पुरुष-समुदाय अपनी अहमन्यता के दर्प में ऐंठे रहने की स्थिति में नहीं रह गया है। स्त्रियों के प्रति न्याय हो, उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त हो, समाज में उनके लिए भी आदर का स्थान सुरक्षित रहे—ये ऐसे कुछ नारे हैं, जिनको आज एक कान से सुन कर दूसरे से उड़ाया नहीं जा सकता। शायद यही कारण है कि भट्ट जी को नारियों के पक्ष में हम झुका हुआ पाते हैं। यह झुकाव इतना स्पष्ट हो गया है कि डॉ० नगेन्द्र को यह शिकायत हो गयी है कि 'स्त्री और पुरुष के इस संघर्ष को नाटककार निष्पक्ष अथवा तटस्थ हो कर नहीं देख सका।'[१]

नाटक में अम्बा, अम्बालिका और अम्बिका के जीवन की व्यर्थता के लिए भीष्म उत्तरदायी बताये गये हैं। लेकिन क्या 'सत्यवती'—एक नारी ही उसके लिए किसी मानी में कम जिम्मेदार है? सत्यवती ने अयोग्य पुरुष की पत्नी बनने के कष्ट का स्वयं जब अनुभव किया था तब वह क्यों कर काशिराज की कन्याओं के दुर्भाग्य के लिए निमित्त बनी—यह एक बड़ा सवाल है।

इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमें 'सत्यवती' के मनोविज्ञान को ध्यान में लाना होगा। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य को काशिराज ने अपनी पुत्रियों के स्वयंवर के अवसर पर इसलिए निमंत्रित नहीं किया कि वह मल्लाह की बेटी से उत्पन्न हुआ है[२] और क्षत्रियो का समाज यह सह नहीं पाता कि धीवर-कन्या से उत्पन्न विचित्रवीर्य का विवाह क्षत्रिय काशिराज की कन्या से हो।[३] यही वह समाज है, जिसने महाराजा शान्तनु को धीवर-कन्या सत्यवती के साथ विवाह करने की स्वीकृति दी थी। आज वही उस विवाह के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न विचित्रवीर्य को जातिच्युत कर रहा है। सत्यवती माँ की सारी ममता के साथ समाज के इस पाखंड के विरुद्ध खड़ी होती है। विचित्रवीर्य अपने को विवाह करने योग्य नहीं मानता। यदि उसकी चले तो वह विवाह नहीं ही करे।[४] लेकिन ऐसे विचित्रवीर्य को भी समाज के पाखड के विधान पर हैरानी है;[५] जिसके अन्तर्गत वह क्षत्रियत्व से वंचित और फलतः स्वयंवर में निमंत्रित होने के अयोग्य माना गया है। इस प्रकार इस नाटक में यदि एक ओर सत्यवती उच्च जाति वंशाभिमान के विरुद्ध खड़ी होती है तो दूसरी ओर इस विषय में समाज के पाखंड का पर्दाफ़ाश भी करती है।

प्राचीन परम्परा के नाटकों में एक विशेष प्रकार के पात्र की कल्पना होती रही है—विदूषक की। उदय शंकर भट्ट ने यद्यपि 'विद्रोहिणी अम्बा' की रचना प्राचीन पद्धति पर नहीं की है तथापि उन्होंने विदूषक के पात्रत्व की योजना की है। संस्कृत नाटकों के विदूषक-पात्रों की परम्परा का ही 'विद्रोहिणी अम्बा' का यह विदूषक भी है। लेकिन इसके विषय में नाटककार की दृष्टि नवीनता लिये हुए है। भट्ट जी का विदूषक भी

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—नगेन्द्र—पृष्ठ १२३

२. ३. ४. ५. विद्रोहिणी अम्बा—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ६५ तथा ७०, ६९, ६३, ६५

तैयार नहीं है कि वह कमला के ऊपर अनाचार करता है। उलटे वह कमला पर सन्देह करने लगता है। कमला का सेवाकार्य उसे रुचता नहीं है। हीनता के भाव से त्रस्त देवनारायण सोचता है कि कमला इस प्रकार उसके हाथ से निकलती जा रही है। कमला अनाथालय से शशिकुमार नामक एक बच्चे को ले आती है और उसे पुत्रवत् स्नेह देती है। देवनारायण को शंका होती है कि शशिकुमार कमला का ही अवैध पुत्र है और इसी पर वह उसे अपने घर से यह कहते हुए निकाल देता है—'राक्षसी, डायन, चुड़ैल, चली जा यहाँ से। मैं तेरा मुँह देखना नहीं चाहता। यह तेरा लड़का है और तू छिपाती है। कुलटा ! निकल मेरे घर से....स्त्री, तुम्हारे इस सौन्दर्य में इतना विष है यह मैं नहीं जानता था। तुम्हारी मुस्कान में इतना पाप है, यह मैने आज जाना। जाओ, जाओ। हा ! इस ज़मीदार के कुल पर इतना कलंक'।[1] किन्तु सच्ची बात कुछ और ही है। देवनारायण के ज्येष्ठ पुत्र यज्ञनारायण ने उमा नामक महिला से प्रेम किया था और शशि उनकी ही सन्तान है। अपनी सन्तान को दुनिया की नज़र के सामने अपनी कह सकने के नैतिक साहस के अभाव में यज्ञनारायण ने शशि को अनाथालय का अनाथ बना रखा है। यज्ञनारायण का यह हीन कर्म कमला को सह्य नहीं हो पाता और वह शशि के प्रति ममतामयी हो कर उसे अनाथालय से अपने घर ले आती है। यही ममता उसके लिए भयकर अभिशाप सिद्ध होती है और होम करते उसकी अंगुली जलती है। अन्त में पति की तिरस्कृता कमला आत्मघात कर लेती है। उसके आत्मघात के पश्चात् सत्य प्रकट होता है और देवनारायण पश्चात्ताप की भयंकर आग मे जलने लगता है। वह 'आग, चारों तरफ़ आग। पाप जीवन की साँसो में इतना गहरा छिपा है, जाना न था' कहते हुए मर जाता है।[2] इस प्रकार कमला अपनी बलि दे कर पुरुष की अहमन्यता पर विजय पाती है।

इस नाटक का यज्ञनारायण रईसों की-सी चोंचलेबाज़ी करके न केवल कमला का सर्वनाश करता है बल्कि स्वयं अपना भी। उसकी प्रेमिका उमा भी मर जाती है और शशि की भी मृत्यु हो जाती है। उमा का यह अन्त भी हमारे सामने समस्या का रूप छोड़ जाता है। यज्ञनारायण जैसे हीन-चरित्र के छलावे में आ कर इस कुमारिका ने अपनी ज़िन्दगी तल्ख की।

'कमला' में मुख्य समस्या के अतिरिक्त दो अन्य प्रश्न भी उठते हैं। ज़मींदार कितना बेचारा था, यह देवनारायण के निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होता है :

'जितना दुहा जाय दुहो इन जमीदारो को। जब देखो तब चन्दा। चन्दा न हुआ एक आफ़त हो गयी'।[3] इस तरह भाँति-भाँति की नोंच में पड़ा हुआ जमींदार किसानों का शोषण करने के लिए एक तरह से विवश था।

दूसरा प्रश्न अनाथालयों से सम्बन्ध रखता है। शशि का अनाथालय में उचित तरह से पालन-पोषण नहीं हो सकता—यह कमला का विश्वास है ! वह जानती है कि

---

१. २. ३. कमला—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ५०-५१, ८३, ८४, २

अनाथालय में बच्चों का जीवन-निर्माण नहीं होता, संरक्षकों के हाथ उनका शोषण होता है। कमला कहती है—'वह लड़का मेरे पास ही रहेगा। मैं इन राक्षसों के हाथों में इसे नहीं पड़ने दूँगी।'[1]

समस्या की प्रस्तुति की दृष्टि से 'कमला,' 'विद्रोहिणी अम्बा' की तरह का वज़नदार नाटक नहीं हो पाया। इतना ही कहा जा सकता है कि यह नाटक भी 'विद्रोहिणी अम्बा' की परम्परा में ही नारी और पुरुष के परस्पर संघर्ष को मुखर बनाने का प्रयासी है।

अन्तहीन अन्त : अनाथालयों के विषय में भट्ट जी का जो विचार 'कमला' में आया है, उसी का बढ़ाव हुआ है, उनके 'अन्तहीन अन्त' नामक दूसरे सामाजिक नाटक में। 'अन्तहीन अन्त' में बड़े ही स्पष्ट रूप से यह दिखाया गया है कि अनाथालयों में किस प्रकार अनाथ बच्चों का स्वार्थ-सिद्धि के लिए उपयोग किया जाता है। इस समस्या से आगे बढ़ कर भट्ट जी के आदर्शवाद ने इस नाटक में यह कल्पना भी की है कि जिन्हें हम क्षुद्र समझते हैं, वे भी परिस्थितियों से संघर्ष करके अपने को महान बनाने के लिए कभी अनुकूलता पा जाते हैं। भट्ट जी जैसे कहना चाहते हैं कि महनीयता का, धन-सम्पत्ति की समृद्धि के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। कहना नहीं होगा कि 'कमला' के यज्ञनारायण की चरित्र-हीनता ने ही भट्ट जी के आदर्शवाद को ऐसा सोचने के लिए उकसाया है। भट्ट जी मानते हैं कि दुनिया में प्रतिकूलताएँ बहुत हैं और उन प्रतिकूलताओं के वात्याचक्र में फँस कर 'कमला' और 'उमा' जैसे पात्र दुनिया की नज़र में ज़िन्दगी की बाज़ी भी हार जाते हैं। लेकिन हमें फिर भी इस संघर्ष से भागना नहीं चाहिए। संघर्ष से बल बढ़ता है और कल की प्रतिकूलताएँ आज की अनुकूलताएँ भी बन सकती हैं। भट्ट जी ने यही आस्था 'अन्तहीन अन्त' में जगाने की चेष्टा की है। भट्ट जी ने यह अनुभव अपनी ही ज़िन्दगी को झेल कर प्राप्त किया है। उन्होंने बताया है कि वे, डगमगाते हुए पथिक के सदृश जीवन-नौका ले कर संसार-सरिता में प्रविष्ट हुए थे।[2] अपनी जीवन-गत परिस्थितियों की उस भीषण प्रतिकूलता को मुखर करते हुए भट्ट जी ने लिखा है—'इस बीच के काल (१३ वर्ष की अपनी अवस्था से ले कर १९ वर्ष तक की अवस्था का काल) में अकल्पनीय प्रचंडता से भाग्य के फलाफल में जो देखा, उसकी कल्पना कर सकता हूँ कि उत्तरी ध्रुव में ही नहीं मेरे जीवन में भी निरंतर तीन-चार साल की काली-रात्रि आ गयी और यदि सूर्य निकला भी तो वह केवल मेघाच्छन्न, जैसे किनारे का दृश्य देखते-ही-देखते किसी ने तूफ़ानी नदी में तैरने-डूबने या बह जाने के लिए फेंक दिया हो।'[3] जीवन में प्रवेश करते समय भट्ट जी ने देखा—मकान उनके लिए खँडहर था और पास-पड़ोस के मनुष्य, प्रेत के अट्टहास

---

१. कमला—उदयशंकर भट्ट—पृष्ठ ६५,

२. ३. स्मृति चिह्न—शीर्षक लेख—नाटककार उदयशंकर भट्ट शीर्षक—मनोरमा शर्मा के ग्रन्थ में उल्लिखित—देखिए पृष्ठ ४, ४

गुंजित कंकाल थे।[१] जीवन की इसी प्रतिकूलता ने भट्ट जी को स्वभाव से दार्शनिक बनाया। लेकिन इन्हीं अनुभवों ने उन्हें नया जीवन भी दिया, नयी प्रेरणा भी दी।[२] 'स्मृति चिह्न' शीर्षक अपने लेख में भट्ट जी ने यह भी बताया है कि साहित्य-जगत में प्रवेश करने पर सबसे पहले उनका काम हुआ मूढ़ाग्रह को दूर करना; रूढ़ि, दुराग्रह के कोहरे में पोषित भ्रान्त धारणाओं, परम्परा के नाम से मस्तिष्क को विकृत करने वाली चेतना के तन्तुओं में बद्धमूल भ्रान्तियों को तोड़ फेंकना।[३] कहना नहीं होगा कि भट्ट जी की इसी वृत्ति ने उनको समस्या-नाटककार बनाया। सुश्री मनोरमा शर्मा को स्वयं भट्ट जी ने यह भी बताया कि वे नाटककार कैसे बने। भट्ट जी के ही शब्दों में सुश्री शर्मा ने उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

'बचपन में मैंने अभिनय अवश्य किया है, भिन्न-भिन्न नाटकों में। बाल्य-काल में रास-लीला, नौटंकी, दशहरा देखने का शौक था। मथुरा में रासलीला देखने की धुन ने तो मुझे पागल कर दिया। खाना-पीना भूल कर मैं दिन में भी रासलीला के स्वप्न देखता—ये ही कारण हैं, जिन्होंने मुझे नाटक लिखने के लिए प्रेरित किया।'[४]

निष्कर्ष यह कि भट्ट जी के व्यक्तित्व के निर्माण में जीवन की जो प्रतिकूलताएँ थीं, उन्होंने ही उनको विद्रोही बनाया है और विद्रोही नाटककार समस्या-नाटककार होने के लिए सहज सम्भावना रखता ही है।

अब हम भट्ट जी के कतिपय ऐसे एकांकी नाटकों का विचार करेंगे, जिनमें किसी-न-किसी समस्या की प्रस्तुति हुई है।

आत्मदान : 'अंधकार और प्रकाश' शीर्षक एकांकी-संग्रह में एक एकांकी संकलित है—'आत्मदान'। इस नाटक में एक ऐसे दम्पत्ति की, जो अपने अधिकारों को स्वच्छन्द भोग के लिए सुरक्षित रखना चाहते हैं, समस्या को प्रस्तुत किया गया है।

विश्वेश्वर शहर का एक धनी रईस है। उसकी पत्नी सरला पढ़ी-लिखी, सभ्य नारी है। विश्वेश्वर का मयूरी नामक एक 'सोसायटी गर्ल' से परिचय है, जो नृत्य-कला की अपनी कुशलता के कारण ख्यात है। मयूरी यह मानती है कि शादी और प्रेम अलग-अलग चीजें हैं। उसके मतानुसार शादी दो आदमियों का, गृहस्थी के लिए एक प्रकार का ठीका, अनुबन्ध है। यदि विवाह के बाद पुरुष किसी से मित्रता बनाये रख सकता है तो स्त्री भी किसी पुरुष को अपना मित्र बना सकती है। इसमें रुकावट क्यों कर हो ?[५] विश्वेश्वर मयूरी से इस विषय में पूर्ण सहमत है। वह भी मानता है कि जीवन बन्धन के लिए नहीं है। आँखें क्या एक ही चीज को देखने के

---

१. २. ३. स्मृति-चिह्न—शीर्षक लेख—नाटककार उदयशंकर भट्ट शीर्षक सुश्री मनोरमा शर्मा के ग्रंथ में उल्लिखित—देखिए पृष्ठ ४, ४, ५

४. नाटककार उदयशंकर भट्ट—सुश्री मनोरमा शर्मा—पृ० ११

५. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० श० भट्ट—पृ० ३८

लिए हैं ? उसने इसीलिए अपनी पत्नी सरला को स्वच्छन्दता दे रखी है और स्वयं वह भी बँध कर रहना पसन्द नहीं करता ।[1] सरला क्लब जाती है, सैर-सपाटे करती है, मि० माथुर जैसे अपने मित्रों के साथ टेनिस खेलती है । फिर भी सचाई यह है कि विश्वेश्वर सरला की इस स्वच्छन्दता से बहुत सन्तुष्ट नहीं है। उसे शिकायत हो जाती है कि सरला अपना सारा उत्साह, सारी प्रसन्नता और मर्मभेदी मुस्कान क्लब के लोगों में बाँट आती है । विश्वेश्वर के पल्ले पड़ता है उसका सिर-दर्द, ऋतु की परीशानी, रात का उनींदापन ! फिर भी वह सरला के मार्ग में बाधा नहीं बनता । अपनी व्यथा आप ही झेलता है । सरला को जब उसने यह आज़ादी दे रखी है तो न्याय यही है कि वह भी मयूरी और विश्वेश्वर की घनिष्ठता पर आपत्ति न करे। आखिर वह भी मनुष्य है । उसे भी मनोरंजन चाहिए, रस चाहिए, चहल-पहल, हँसी-खुशी, प्रेम का आदान-प्रदान चाहिए ।[2] ऐसे कहने को विश्वेश्वर सरला की स्वच्छन्दता के प्रति उदार है, लेकिन उसका सरला के प्रति जो प्रेम है, वह एकाधिकार चाहता है, उससे पति का अधिकार खोजता है । इधर सरला है, जो उससे कहती है—'तो क्या तुम चाहते हो कि मैं इस घर में रात-दिन पड़ी रहूँ ? मैंने तुम्हारी बेदाम की दासी बनने के लिए इतना व्यर्थ नहीं पढ़ा-लिखा है । मेरे भी कुछ अधिकार हैं । मैं उनकी रक्षा करूँगी । अब वह समय चला गया जब पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ पति को परमेश्वर मान कर उसकी सभी उचित-अनुचित बातें सहें ।'[3] स्थिति यह है कि विश्वेश्वर मयूरी को छोड़ना नहीं चाहता और सरला भी पढ़ी-लिखी आधुनिका होने के कारण अपने पति-परमेश्वर के पैरों की जूती नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में दोनों के रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं । विश्वेश्वर और सरला शादी के कारण एक प्रकार के बन्धन में हैं । इस बन्धन का कसाव कितना हो—इसका निर्धारण यदि हो सके तो पति-पत्नी अपने-अपने किनारे लगें । यही अनुभव करके विश्वेश्वर सरला को सुझाता है कि यह ठीक है कि विवाह ने दोनों को बाँध रखा है । लेकिन यह बन्धन ठीक वैसा ही तो है, जैसे एक ही निश्चित दिशा की ओर जाने वाले दो मुसाफ़िर एक गाड़ी में, एक बर्थ पर आ कर बैठ गये हों । रास्ता काटने के लिए दोनों आपस में बातें कर लेते हैं । एक दूसरे से बाँट कर खा-पी भी लेते हैं, सो भी जाते हैं । पर दोनों का हृदय-रूपी सामान जुदा-जुदा है । उसमें हाथ नहीं लगाया जा सकता । हाँ, आवश्यकता पड़ने पर, बीमारी-परेशानी में चाहें तो एक दूसरे की सहायता भी कर लें । बस ![4]

सरला विवाह के बन्धन को इतना लचीला मान नहीं पाती । उसका संस्कार

---

२. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० शं० भट्ट—पृ० ३८

१. २. आत्म दान—उ० शं० भट्ट—पृ० ४२

४. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० शं० भट्ट—पृ० ४३,

इसमें शायद बाधक है। हाँ, उसकी नयी रोशनी की शिक्षा आज़ादी ज़रूर खोजती है। इसी से उसका पक्ष है कि पति-पत्नी गृहस्थी की एक ही नाव के चलाने वाले हैं। दोनों में प्रेम होना ही है। पर ऐसा नहीं कि वह स्त्री को किसी एक पुरुष से बाँध दे। उसके हँसने-खेलने के लिए और जगह भी गुंजायश होनी चाहिए।[1]

पति-पत्नी के विवाह-बन्धन-विषयक विचारों की समीक्षा से यह प्रत्यक्ष है कि पति विवाह-बन्धन को अधिक लचीला बनाने का आग्रही है और इस अर्थ में वह अधिक उदार होने की सम्भावना रखता है। लेकिन पुरुष की अहमन्यता, उसका दर्प यह गवारा नहीं कर पाता कि मि० माथुर सरला के साथ एकान्त में 'हँसे-खेलें'। ऐसे ही एक क्षण में पति की प्रतिक्रिया बड़ी तीखी, तल्ख़ हो जाती है—जो उसके इन शब्दों में मुखर है—'मैंने निश्चय किया है, मयूरी यहीं रहेगी। तुम्हें जहाँ काला मुँह करना हो, करो, जहाँ जाना हो जाओ। छिनाल औरत।'[2] स्पष्ट है, पति अपनी प्रियतमा को पत्नी की छाती पर चढ़ाये रखने में दोष नहीं देखता, लेकिन पत्नी की स्वतंत्रता उसे खलती है। जैसे पति कहता है, मयूरी यहीं रहेगी, वैसे ही पत्नी नहीं कह सकती—मि० माथुर यहाँ हँसने-खेलने आयेंगे ही। पति जो अधिकार अपने लिए सुरक्षित करना चाहता है, वही अधिकार वह पत्नी को देना नहीं चाहता।

इस प्रकार इस एकांकी द्वारा पुरुष और नारी के समानाधिकार की समस्या को उठाया गया है, जिसके लिए आधुनिक शिक्षा ने पर्याप्त अवसर बना रखा है। सरला के स्थान पर कोई दूसरी अशिक्षिता होती तो वह 'अबलापन' की सीमा लिये हुए विश्वेश्वर के चरणों में प्रणत होती। वह उसकी छाती पर मूँग दलता रहता और वह फूटे नसीब का रोना रोती रहती।

भट्ट जी ने इस समस्या की गहराई में जा कर सत्य का दर्शन करना चाहा है। समस्या-नाटककार की प्रवृत्ति और सीमा से छूट कर वह यह सोचने लगते हैं कि विश्वेश्वर और सरला की समस्या का समाधान कैसे हो। इसी से इस एकांकी में वे सरला की पड़ोसिन, किसी प्रोफ़ेसर की पत्नी सुषमा को खीच लाते हैं, जो सरला के विवाहित-जीवन की समस्या के कारण का निर्देश करके सरला को उचित मार्ग पर लाने का उपक्रम करती है। उसका कहना है कि सरला का वैवाहिक जीवन इसलिए सफल नहीं हो पाया कि उसमें आत्म-समर्पण का अभाव है। आत्म-समर्पण का यह अभाव भी इसलिए है कि सरला की आधुनिक शिक्षा ने उसके अभिमान को उग्र से उग्रतर बनाया है। वह कहती है—'दो का एकात्म हो जाना ही प्रेम है। निर्वाह उस एकात्मकता का ही नाम है। उसमें फिर न रूप-सौन्दर्य का अभाव ही बाधा डालता है, न व्यक्तित्व दो व्यक्तियों का मिल जाना, एक हो जाना प्रेम का परिणाम है। उसकी

---

१. २. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० शं० भट्ट —पृष्ठ ४३, ४६

सीमाएँ फिर अनन्त हो जाती हैं।'[1] तो इससे सिद्ध हुआ कि दाम्पत्य-जीवन की सफलता के हेतु अपेक्षा है—'आत्मदान' की। सरला की आपत्ति है—'यह आत्मदान पहले नारी ही क्यों करे! पुरुष क्यों नहीं करे?' सुषमा का वस्तुवाद इसका उत्तर देते हुए कहता है—'इसलिए कि पुरुष आर्थिक और सामाजिक पहलू से पहले से ही मज़बूत चला आ रहा है।'[2]

इस प्रकार पुरुष और नारी की समस्या को भट्ट जी नारी की आर्थिक परवशता और सामाजिक असमानता से उत्पन्न समस्या कहना चाहते है। तो क्या हमारे लिए यह उचित नहीं होगा कि हम असमानता और विवशता की इस समस्या का ही निदान ढूंढ़ें, जिसके तले नारी पिस रही है? भट्ट जी की सुषमा प्रश्न के इस पहलू को 'गौण बात' कह कर जैसे टाल देती है।[3]

भट्ट जी के नाटकों के पीछे कहीं-न-कहीं उनका आदर्शवाद रहता है। यही कारण है कि अपने इस नाटक के अन्त में वे बताते हैं कि प्रत्येक फूल में काँटे होते हैं। सौन्दर्य के प्रत्येक छलकते प्याले में विष होता है।[4] मयूरी के छल के बाद विश्वेश्वर की आँखों पर पड़ा हुआ पर्दा उठ जाता है। विश्वेश्वर और सरला दोनों ही नशा उतर जाने के बाद अनुभव करते है कि वे भूले हुए थे। इस प्रकार भट्ट जी समस्या का आदर्शवादी हल ढूँढ़ लेते हैं। दाम्पत्य-जीवन की विफलता और उसके असन्तुलन के पीछे जो आर्थिक और सामाजिक प्रश्न हैं, उनको, जैसा कि ऊपर कहा गया भट्ट जी ने गौण कह कर टाल दिया है। उनका आदर्शवादी शायद यह कहता हो कि 'आत्मदान' के अभाव में ही वे कारण भी सामने खड़े होते हैं। जहाँ पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध स्वस्थ होता है, वहाँ अधिकार का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। यदि प्रेम हो तो ग़रीबी भी नहीं खलती। स्त्री और पुरुष के परस्पर सहयोग और अधिकार-रक्षण को ही तो हमने विवाह की संज्ञा दे रखी है।

नया नाटक : भट्ट जी का एक दूसरा एकांकी नाटक है—'नया नाटक,' जिसमें साहित्यकार की मुसीबतों की कहानी कही गयी है और चलती-फिरती कुछेक समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। इस एकांकी में जिस नाटककार की कहानी कही गयी है, उसकी मुसीबत है कि उसको लोग रात-दिन घेरे रहते हैं। किसी को उसकी रचना अपने पत्र मे प्रकाशनार्थ चाहिए तो किसी को नौकरी के लिए एक सिफ़ारिशी चिट्ठी। इससे साहित्य-सर्जन के लिए उसे इतमोनान नहीं मिल पाता। इधर पत्नी है, जो चाहती है कि वह गृहस्थी के काम में हाथ बटाये। लोगों की भीड़ के छँटने पर जो थोड़ा समय उसे साहित्य-देवता की सेवा के लिए मिल पाता है तो मकान-मालिक किराया बढ़ाने की नोटिस लिये आ धमकता है। उस सर्किल का दारोग़ा मकान-मालिक

---

१. २. ३. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ५४, ५५

४. आत्मदान—पृष्ठ ५७

इसमें शायद बाधक है। हाँ, उसकी नयी रोशनी को शिक्षा आज़ादी ज़रूर खोजती है। इसी से उसका पक्ष है कि पति-पत्नी गृहस्थी की एक ही नाव के चलाने वाले हैं। दोनों में प्रेम होना ही है। पर ऐसा नहीं कि वह स्त्री को किसी एक पुरुष से बाँध दे। उसके हँसने-खेलने के लिए और जगह भी गुंजायश होनी चाहिए।[1]

पति-पत्नी के विवाह-बन्धन-विषयक विचारों की समीक्षा से यह प्रत्यक्ष है कि पति विवाह-बन्धन को अधिक लचीला बनाने का आग्रही है और इस अर्थ मे वह अधिक उदार होने की सम्भावना रखता है। लेकिन पुरुष की अहमन्यता, उसका दर्प यह गवारा नहीं कर पाता कि मि० माथुर सरला के साथ एकान्त में 'हँसे-खेलें'। ऐसे ही एक क्षण में पति की प्रतिक्रिया बड़ी तीखी, तल्ख़ हो जाती है—जो उसके इन शब्दों में मुखर है—'मैंने निश्चय किया है, मयूरी यहीं रहेगी। तुम्हें जहाँ काला मुँह करना हो, करो, जहाँ जाना हो जाओ। छिनाल औरत।'[2] स्पष्ट है, पति अपनी प्रियतमा को पत्नी की छाती पर चढ़ाये रखने में दोष नहीं देखता, लेकिन पत्नी की स्वतंत्रता उसे खलती है। जैसे पति कहता है, मयूरी यहीं रहेगी, वैसे ही पत्नी नहीं कह सकती—मि० माथुर यहाँ हँसने-खेलने आयेंगे ही। पति जो अधिकार अपने लिए सुरक्षित करना चाहता है, वही अधिकार वह पत्नी को देना नहीं चाहता।

इस प्रकार इस एकांकी द्वारा पुरुष और नारी के समानाधिकार की समस्या को उठाया गया है, जिसके लिए आधुनिक शिक्षा ने पर्याप्त अवसर बना रखा है। सरला के स्थान पर कोई दूसरी अशिक्षिता होती तो वह 'अबलापन' की सीमा लिये हुए विश्वेश्वर के चरणों में प्रणत होती। वह उसकी छाती पर मूँग दलता रहता और वह फूटे नसीब का रोना रोती रहती।

भट्ट जी ने इस समस्या की गहराई में जा कर सत्य का दर्शन करना चाहा है। समस्या-नाटककार की प्रवृत्ति और सीमा से छूट कर वह यह सोचने लगते हैं कि विश्वेश्वर और सरला की समस्या का समाधान कैसे हो। इसी से इस एकांकी में वे सरला की पड़ोसिन, किसी प्रोफ़ेसर की पत्नी सुषमा को खींच लाते हैं, जो सरला के विवाहित-जीवन की समस्या के कारण का निर्देश करके सरला को उचित मार्ग पर लाने का उपक्रम करती है। उसका कहना है कि सरला का वैवाहिक जीवन इसलिए सफल नहीं हो पाया कि उसमें आत्म-समर्पण का अभाव है। आत्म-समर्पण का यह अभाव भी इसलिए है कि सरला की आधुनिक शिक्षा ने उसके अभिमान को उग्र से उग्रतर बनाया है। वह कहती है—'दो का एकात्म हो जाना ही प्रेम है। निर्वाह उस एकात्मकता का ही नाम है। उसमें फिर न रूप-सौन्दर्य का अभाव ही बाधा डालता है, न व्यक्तित्व दो व्यक्तियों का मिल जाना, एक हो जाना प्रेम का परिणाम है। उसकी

---

१. २. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० शं० भट्ट —पृष्ठ ४३, ४६

सीमाएँ फिर अनन्त हो जाती हैं।'[1] तो इससे सिद्ध हुआ कि दाम्पत्य-जीवन की सफलता के हेतु अपेक्षा है—'आत्मदान' की। सरला की आपत्ति है—'यह आत्मदान पहले नारी ही क्यों करे! पुरुष क्यों नहीं करे?' सुषमा का वस्तुवाद इसका उत्तर देते हुए कहता है—'इसलिए कि पुरुष आर्थिक और सामाजिक पहलू से पहले से ही मज़बूत चला आ रहा है।'[2]

इस प्रकार पुरुष और नारी की समस्या को भट्ट जी नारी की आर्थिक परवशता और सामाजिक असमानता से उत्पन्न समस्या कहना चाहते है। तो क्या हमारे लिए यह उचित नहीं होगा कि हम असमानता और विवशता की इस समस्या का ही निदान ढूँढ़ें, जिसके तले नारी पिस रही है? भट्ट जी की सुषमा प्रश्न के इस पहलू को 'गौण बात' कह कर जैसे टाल देती है।[3]

भट्ट जी के नाटकों के पीछे कहीं-न-कहीं उनका आदर्शवाद रहता है। यही कारण है कि अपने इस नाटक के अन्त में वे बताते हैं कि प्रत्येक फूल में काँटे होते हैं। सौन्दर्य के प्रत्येक छलकते प्याले में विष होता है।[4] मयूरी के छल के बाद विश्वेश्वर की आँखों पर पड़ा हुआ पर्दा उठ जाता है। विश्वेश्वर और सरला दोनों ही नशा उतर जाने के बाद अनुभव करते हैं कि वे भूले हुए थे। इस प्रकार भट्ट जी समस्या का आदर्शवादी हल ढूँढ़ लेते हैं। दाम्पत्य-जीवन की विफलता और उसके असन्तुलन के पीछे जो आर्थिक और सामाजिक प्रश्न हैं, उनको, जैसा कि ऊपर कहा गया भट्ट जी ने गौण कह कर टाल दिया है। उनका आदर्शवादी शायद यह कहता हो कि 'आत्मदान' के अभाव में ही वे कारण भी सामने खड़े होते हैं। जहाँ पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध स्वस्थ होता है, वहाँ अधिकार का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। यदि प्रेम हो तो ग़रीबी भी नहीं खलती। स्त्री और पुरुष के परस्पर सहयोग और अधिकार-रक्षण को ही तो हमने विवाह की संज्ञा दे रखी है।

नया नाटक : भट्ट जी का एक दूसरा एकांकी नाटक है—'नया नाटक,' जिसमें साहित्यकार की मुसीबतों की कहानी कही गयी है और चलती-फिरती कुछेक समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। इस एकांकी मे जिस नाटककार की कहानी कही गयी है, उसकी मुसीबत है कि उसको लोग रात-दिन घेरे रहते हैं। किसी को उसकी रचना अपने पत्र में प्रकाशनार्थ चाहिए तो किसी को नौकरी के लिए एक सिफ़ारिशी चिट्ठी। इससे साहित्य-सर्जन के लिए उसे इतमीनान नहीं मिल पाता। इधर पत्नी है, जो चाहती है कि वह गृहस्थी के काम में हाथ बटाये। लोगों की भीड़ के छँटने पर जो थोड़ा समय उसे साहित्य-देवता की सेवा के लिए मिल पाता है तो मकान-मालिक किराया बढ़ाने की नोटिस लिये आ धमकता है। उस सर्किल का दारोग़ा मकान-मालिक

---

१. २. ३. अंधकार और प्रकाश—एकांकी संग्रह—आत्मदान—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ५४, ५५

४. आत्मदान—पृष्ठ ५७

के भाई का दामाद है। इससे किराये के न बढ़ने की हालत में वह मकान खाली तो करा ही लेगा, चाहेगा तो पुलिस की हिरासत में भी पहुँचा देगा। भाड़ा भी गुजरे महीनों से ही बढ़ाना होगा। इस तरह एक नयी मुसीबत नाटककार के सामने मुँह बाये खड़ी है। मकान-मलिक के साथ नाटककार का झगड़ा होता है। नाटककार उसे धमकी देता है कि वह उसका भंडाफोड़ अखबारों में करेगा, उस पर नाटक रचेगा। भला इससे अधिक उसके वश में हो भी क्या सकता है। बाजार का भाव रोज सुरसा के मुँह की तरह बढ़ता जा रहा है। कालेज वाले नाटककार को १२½ प्रतिशत की दर से महँगाई का भत्ता देते हैं। लेकिन महँगाई क्या सचमुच साढ़े बारह प्रतिशत की दर से ही बड़ी है? नाटककार देख रहा है कि पूँजीपतियों ने साधारण लोगों का जीना मुहाल कर दिया है। वह कहता है—'जीना दूभर कर दिया है दुष्टों ने। मनुष्यता रह ही नहीं गयी है। सारा संसार पूँजीपति अजगर के मुँह में धीरे-धीरे घुस रहा है, निरुपाय, निर्बल, असहाय।'[१]

इस प्रकार इस नाटक द्वारा नाटककार ने बताया है कि सरस्वती के वरद-पुत्रों को कैसी मुसीबत है। वेतन जो मिलता है, वह महँगाई के कारण इतना स्वल्प हो जाता है कि उससे परिवार का भरण-पोषण नहीं हो सकता। वह जिस घर में रहता है, वह किराये का है और मकान-मालिक बढ़ती हुई मँहगाई का पूरा फ़ायदा उठाना चाहता है। यदि किराया बढ़ाने से इन्कार किया जाय तो मकान मालिक बेघर कर दे। सरकार का सारा तन्त्र पूँजी वाले अमीरों के पक्ष में है। इससे हालत यह हो सकती है कि मकान से भी जाओ, और पुलिस के फेर में भी पड़ो। और सबके ऊपर यह कि किराये की बढ़ी हुई राशि का भुगतान तो करना ही पड़ेगा। उसमें कोई छूट तो होती नहीं। जिस साहित्यकार की यह दशा हो, वह साहित्य-साधना क्या कर सकता है?

अभावों की दुनिया में रहने वाले इस साहित्यकार के पास उसका परिचित त्रिभुवन पहुँचता है। त्रिभुवन के यहाँ कभी इस साहित्यकार ने नौकरी की थी। लेकिन वह इतना काइयाँ मालिक सिद्ध हुआ कि वेतन के रूप में उसने १००) से १२५) कभी नही दिया। यही नहीं, बल्कि बिना नोटिस दिये उसे निकाल भी दिया। इस त्रिभुवन को साहित्यकार की सहायता की जरूरत आ पड़ी है। वह कहता है—'मुझे मालूम है, जिस आदमी के पास मैं जा रहा हूँ, उसे तुम जानते हो। मेरा परिचय भर करा दो, फिर मैं देख लूँगा।'[२] पच्चीस हज़ार के इस सौदे के लिए यदि आवश्यकता हो तो त्रिभुवन नाटककार को दो-चार सौ रुपये दे देगा।[३] अभाव की चक्की में पिसने वाले साहित्यकार के लिए यह प्रलोभन कुछ अर्थ रखता है, यह तो स्पष्ट ही है। लेकिन इस बेईमानी के लिए उसकी नैतिकता बाधक बन जाती है और वह निश्चय करता है कि वह रूखी ही खायेगा लेकिन बेईमानी में शरीक न होगा।[४]

---

१. २. ३. ४. अंधकार और प्रकाश—नया नाटक—उ० शं० भट्ट—पृष्ठ ८४, ८५, ८५, ८६

कहना नहीं होगा कि भट्ट जी ने अपने आदर्शवाद की रक्षा के लिए ही त्रिभुवन के इस प्रकरण को नाटक में प्रस्तुत किया है। यह उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब साहित्यकार का पुत्र कहता है—'हमें गर्व है कि हमारे पिता जी इतने अच्छे हैं। ईश्वर करे हम इनके चरण-चिह्नों पर चल सकें।[1]

इस छोटे-से एकांकी में इस प्रकार भट्ट जी ने आज के जीवन की कतिपय समस्याओं को उठाया है। ये समस्याएँ छोटी-छोटी समस्याएँ तो हैं लेकिन आज के जीवन पर इनका गहरा प्रभाव पड़ रहा है। मकान की समस्या बढ़ते किराये की समस्या हो कर व्यापक मँहगाई की समस्या हो रही है। आज के दिन उस आदमी के लिए ईमान की ज़िन्दगी जीना सचमुच कठिन हो गया है, जिसकी आमदनी थोड़ी है लेकिन जिसके पास ईमान जैसी कोई चीज़ है और वह उसे सँजो कर रखना चाहता है। दुनिया सिफ़ारिश की हो गयी है और सिफ़ारिश करने की भी फ़ीस चल पड़ी है। इस एकांकी के प्रधान पात्र की तरह के आदमी के लिए चारों तरफ़ प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ है, जिससे बच कर रहना सचमुच जीवट की बात है। पूँजी बटोरने की प्रवृत्ति हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या है। इसी कारण मकान-मालिक किराया बढ़ाने को कहता है अथवा त्रिभुवन साहित्यकार से सिफ़ारिशी चिट्ठी लेने आया है।

राष्ट्र की समृद्धि की सूचना जिस साहित्य से प्राप्त होती है, उसके सर्जन के लिए साहित्यकार को सुविधा प्राप्त नहीं है, यह स्वयं अपने में एक भीषण बात है। जो अज्ञानी हैं, वे तो पूँजीपति होने के लिए होड़ कर ही रहे हैं—उसकी मुसीबत यह है कि उसके पास वह इतमीनान नही, जिसमें वह ऐसे साहित्य की रचना कर सके, जिससे पूँजीवाद का भंडाफोड़ हो सके।

भट्ट जी अपने अन्य नाटकों की तरह इस एकांकी में भी समस्या के समाधान का संकेत करते हुए दीखते हैं।

समस्या का अन्त : 'समस्या का अन्त' शीर्षक एकांकी में भट्ट जी ने युद्ध की समस्या पर विचार किया है। वामरथ गण की कन्या माणविका का मद्रक गण के सेनानायक श्रुतबुद्धि के साथ प्रेम है। किन्तु दोनों गणों के आपसी सम्बन्ध बहुत ही कटु हैं। जब श्रुतबुद्धि माणविका का अपहरण करता है तो अनायास ही युद्ध का बिगुल बज उठता है और दोनों गण मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं।

युद्ध की इस समस्या का समाधान उपस्थित करती है माणविका, जो दोनो युद्ध-तत्पर सेनाओ के बीच खड़ी हो जाती है। जब वह यह देखती है कि दोनों ही पक्ष युद्ध से विमुख होने के लिए तैयार नही हैं तो वह अपना सिर काट कर रख देती है। मानो वह दोनों युयुत्सु पक्षों के लिए उपहार हो। उसी दिन उसके बलिदान के फलस्वरूप दोनों गणों का संघर्ष समाप्त हो जाता है और इस प्रकार माणविका का बलिदान चिरंजीवी हो जाता है।

१. अंधकार और प्रकाश—नया नाटक—उ० शं० भट्ट—पृ० ८६

भट्ट जी के युग की एक बड़ी समस्या युद्ध है। उसके विषय में उनका सोचना उचित ही है। युद्ध की समस्या का जो हल भट्ट जी के पास है, उसके आदर्शात्मक पहलू की ओर सहज ही ध्यान चला जाता है।

पिशाचों का नाच : 'पिशाचों का नाच' शीर्षक एकांकी में [illegible] की समस्या प्रस्तुतको किया गया है। किसी गाँव में मुसलमान गुंडे अन्ध-साम्प्रदायिकता के आवेश में आ कर उत्पात मचाते हैं। उस गाँव में आततायियों के अत्याचार के कारण एक भी वयस्क हिन्दू पुरुष स्वस्थ नहीं बचा, एक भी ऐसी स्त्री नहीं, जो अनाचार का शिकार न हुई हो और एक भी बालक ऐसा नहीं है, जो अक्षत हो। हिन्दू स्त्रियों को उठा कर मुसलमान गुडे ले गये हैं। ऐसी अपहृत महिलाओं में से कुछ का उद्धार करने का साहसपूर्ण कर्तव्य कुछ नवयुवक करते हैं। गाँव के आगे आज यह प्रश्न खड़ा है कि मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट इन नारियों को समाज में स्वीकार किया जाय या नहीं। हिन्दू रूढ़ि के पक्षधर वीरू का कहना है कि हिन्दू धर्म और समाज में विधर्मियों द्वारा दूषित इन नारियों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।[1] मणिक्य और अनिल जैसे नवीन विचार वाले युवकों के सामने सुषमा का सीधा सवाल है—'क्या यह तुम्हारा और तुम्हारे समाज का दोष नहीं है कि तुम और हिन्दू समाज के लोग गुंडों से हमारी रक्षा नहीं कर सके ?[2] शुभदा ने तो और भी ऊँचाई पर जा कर कहा है—'पाप इच्छा से होता है। अनजान में, बलात्कार से किया या कराया गया पाप, पाप नही होता'।[3] प्रश्न है, ऐसी नारियाँ फाँसी लगा कर मर भी जायें तो क्या समस्या का समाधान हो जाता है। जो इन्हें मुसलमानों के पास ही छोड़ दिया जाय तो ये कल हो हिन्दू समाज के लिए शत्रु बन बैठेंगी। और अपनी भावी सन्तान को ऐसी शिक्षा देंगी कि वह हर तरह से कमज़ोर हिन्दू जाति का नाश कर दे। ऐसी स्थिति में समाज को नष्ट होने से बचाना ही होगा। नाटककार अनिल के माध्यम से इस सामाजिक धार्मिक समस्या का समाधान करते हुए कहता है : 'ज़मीन के अनुसार घर बनते हैं, पानी पर्वत के अनुसार अपनी आकृति बनाता है। हिन्दू धर्म में भी समय के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। हम लोग जीने के लिए पैदा हुए हैं, मरने के लिए नहीं। अठारह स्मृतियों के नियम-कानून अठारह विभिन्न समयों में बनाये गये हैं। उनमे परिवर्तन हुए हैं। फिर क्या कारण है कि इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए हिन्दू समाज में कोई परिवर्तन न हो ? विचार ही मनुष्य है, विचार ही समाज। विचारों में परिवर्तन करो, समाज मे परिवर्तन होगा। जीवन ही धर्म है।'[4]

स्वतंत्रता-प्राप्ति और पाकिस्तान के जन्म के तुरत बाद जो भीषण समस्या सामने आयी थी, भट्ट जी ने उसे ही इस एकांकी में रखा है और समस्या का हल भी निर्दिष्ट किया है। हिन्दू जाति की ग्राहिका शक्ति नष्ट हो गयी है उसे पुनर्जीवित करना

---

१. २. ३. ४. समस्या का अन्त—पिशाचों का नाच—उ० शं० भट्ट —पृ० ४५, ४७, ४७, ५७

ही होगा—ऐसा लेखक का विचार है। अन्यथा देवों की यह जाति सदा-सर्वदा के लिए मिट जायेगी। देश-कालानुसार शास्त्र का संशोधन और नये शास्त्र का विधान होना ही चाहिए।

मन्दिर के द्वार पर : 'मन्दिर के द्वार पर' शीर्षक एकांकी नाटक में भट्ट जी ने हिन्दू समाज को कमज़ोर बनाने वाली एक दूसरी समस्या को उठाया है। वह समस्या है—अछूतों की। भट्ट जी यह देख कर हैरान हैं कि हिन्दू मन्दिरों में शराबी, चोर, जुआरी, रिश्वतखोर, ग़रीबों का खून चूस कर एक का चौगुना, पचगुना करने वाले सेठों के लिए जगह है, उसमें साँपों की चर्बी घी में मिला कर लोगों का स्वास्थ्य बिगाड़ कर, बेईमानी के करोड़ों रुपये कमाने वाले मनुष्य के रूप में पशु, थैलीशाहों का (पुजारी जिनके पैर के तलुवे 'सेठ जी' सेठ जी कह कर चाटने के लिए बेचैन रहते है) तो अबाध प्रवेश है लेकिन वहीं ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा, श्रद्धा रखने वाले और मन्दिर की रक्षा में अपनी जान की बाज़ी लगाने वाले हरिजन मन्दिर-प्रवेश के अधिकारी नहीं समझे जाते।[1] भट्ट जी की न्याय-प्रिय आत्मा यह देख कर विद्रोह कर उठती है और 'मन्दिर के द्वार पर' शीर्षक एकांकी नाटक के डॉक्टर के स्वर में वे पुजारी पर बरस पड़ते हैं और कहते हैं कि जो धर्म, हरि जैसे श्रद्धालु भक्त को मन्दिर के देवता की पूजा के अधिकार से वंचित रखता है, वह ज़िन्दा नही रह सकता। यदि भारतवर्ष से हिन्दू धर्म का नाश नहीं होना है तो प्रत्येक हिन्दू को मन्दिर के प्रांगण में समान अधिकार देना ही होगा।[2]

छमिया का बेटा हरि मुसलमानों के आक्रमण के समय मन्दिर की रक्षा करता हुआ घायल हुआ था। यदि वह और उसको बिरादरी के दूसरे लोग नहीं होते तो मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट हो गया होता। उसी हरि के परिवार के ऊपर अगले दिन पुजारी का डंडा इसलिए बरसता है कि वह पूजा की लालसा ले कर मन्दिर-प्रवेश करना चाहता है। कहना नहीं होगा कि हरि को मुसलमानों के वार से जितनी चोट आयी होगी, उससे कही अधिक चोट पुजारी के डंडे से आयी होगी। भट्ट जी हमें प्रेरित करते हैं कि ऐसी धार्मिक जड़ता के विरुद्ध हम सघर्ष करें।

गिरती दीवारें : 'गिरती दीवारें' भट्ट जी की एक प्रतीक रचना है। इसमें पुरानी मर्यादा की टेक निभाने वाले एक ऐसे कुलीन परिवार की कथा आयी है, जिसके अपने ही आचार-नियम है। राय साहब उस परिवार का कुलपति है। है। वह जिस कमरे को बैठक बनाये हुए है, उसमें उसके पूर्वजों के स्मृति-चिह्न हैं। उस कमरे में प्रवेश करने वाले के लिए यह पाबन्दी है कि वह बड़े अदब से तीन बार सलाम करे, धीरे बोले। उस कमरे में कोई स्त्री प्रवेश नहीं कर सकती।[3] कुलपति

१, २. समस्या का अन्त—एकांकी संग्रह—मन्दिर के द्वार पर—उ० शं० भट्ट—पृ० १५३, १५२

३. समस्या का अन्त—एकांकी संग्रह—गिरती दीवारें—उ० शं० भट्ट—पृ० २

और उसके परिवार के सदस्यों के लिए कड़ा बन्धन है कि वे पैदल बाहर नहीं निकल सकते। ये नियम ऐसे हैं, जिनका पालन कुल को करना ही होगा।

रायसाहब का छोटा बेटा प्रद्युम्न कुमार सरकारी नौकरी में आता है और उसके बाद नयी रोशनी की किरणें उस कुल में भी प्रवेश करती हैं। प्रद्युम्न की बेटी ईसाई मिस साहबा से पढ़ती है, अपने पुराने ढंग के कपड़ों को छोड़ कर अंग्रेज़ों के बच्चों जैसे कपड़े पहनती है। स्वयं प्रद्युम्न पैदल सफ़र करना शुरू करता है। एक दिन तो बुज़ुर्गों के उस कमरे में मिस साहबा भी चली जाती है।[१]

रायसाहब को लगता है कि उसके वंश की मर्यादा उसकी आँखों के सामने ही टूट रही है। वह इधर बुरे-बुरे सपने भी देखने लगा है। राम जाने क्या होता है। और अन्त में एक और भी दिन आता है जब वंश की मर्यादा की गिरती दीवारों के नीचे उसका भौतिक शरीर भी पिस जाता है।[२]

नाटककार इस प्रतीक के द्वारा यह बताना चाहता है कि समय करवट ले रहा है। अब अन्ध-विश्वासों की दीवारें भहरा कर गिरने ही वाली हैं। जो समय रहते समय की नब्ज़ नहीं पहचान सकेगा, वह पिस कर मरेगा। कहना नहीं होगा कि जीवन-मूल्यों के परिवर्तन का नक्शा नाटककार के सामने बड़ा स्पष्ट है और उसी के अनुरूप उस विषय में उसकी आस्था भी अडिग है।

भट्ट जी यह अनुभव करते हैं कि आज का हमारा जीवन समस्याओं के आल-जाल से घिरा हुआ है। समस्याएँ एक दो नहीं हैं, अनेक हैं। सबसे बड़ी बात तो यही है कि आज़ादी मिल जाने के बाद भी हमारे मानस का धरातल ऊँचा नहीं हो पाया। इस विषय में भट्ट जी तो इतने निराश हैं कि 'बहुत ऊँचा कहना कदाचित उस ऊँचाई का अपमान करना होगा। सच्ची बात तो यह है कि हमें बाज़ार में चलना, बस में बैठना, पड़ोसी से व्यवहार करना भी नहीं आया'।[३] उनके ऐसा कहने का तात्पर्य शायद यही है कि हमें यही मालूम नहीं है कि स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिक ज़िन्दगी कैसे जीते हैं। समाज और राष्ट्र के प्रति आज़ाद देश के नागरिकों के उत्तरदायित्व का जो बोध हमें आज तक नहीं हो पाया, उसे भट्ट जी स्वयं एक बड़ी समस्या मानते हैं। वे चाहते हैं कि सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक और स्वयं नैतिक दृष्टि से हमारे जीवन का परिष्कार किया जाय।'[४] कहना नहीं होगा कि देश में जब इतना कुछ करने को पड़ा हुआ है, कलाकार की साधना को सोद्देश्य होना ही होगा। कलाकार को जीवन की सच्ची चाहे वह कितनी ही तल्ख़ क्यों न हो, आलोचना करनी ही होगी और जीवन के परिष्कार के लिए प्रेरणा देनी ही होगी। भट्ट जी समझते हैं कि नाटक की विधा इस दिशा में बहुत कारगर सिद्ध होने की सम्भावना रखती है।[५]

---

१. २. समस्या का अंत—एकांकी संग्रह—गिरती दीवारें—उ० शं० भट्ट—पृ० ३२, ३२

३. ४. ५. समस्या का अन्त—प्राक्कथन—उ० शं० भट्ट—पृ० ग, ग, घ

स्पष्ट है, भट्ट जी के नाटकों की रचना के पीछे एक निश्चित उद्देश्य है। वे ऐसा मानते हैं कि रस संचार से ही नाटक का उद्देश्य नहीं हो जाता। यह इसलिए कि 'रस ही जीवन नहीं है, उसमें उद्देश्य की भी प्रधानता होनी चाहिए। बीज में फल की तरह नाटक की कथा का एक उद्देश्य होना चाहिए'।[१] सोद्देश्यता यों तो सभी प्रकार के नाटकों के लिए अनिवार्य शर्त है लेकिन समस्या-नाटकों के लिए तो वह और भी आवश्यक है।[२]

भट्ट जी ने इसी से अपने नाटकों की रचना करते समय जीवन के द्वार पर खड़े हो कर जीवन को आलोचक की आँखों से देखा है।[३] समाज की दुखती रगों को पहचानने के लिए आलोचक की मर्मभेदी दृष्टि तो चाहिए ही।

समस्याओं की गहराई में जाने की इच्छा रखने वाले इस नाटककार के लिए यह सर्वथा आवश्यक था कि वह अपने पात्रों के मानस की गहराई में जाये, उनकी विभिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करे। भट्ट जी यह समझते हैं कि वर्तमान काल में नाटक के तत्वों में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का समीकरण आवश्यक हो गया है। कोई भी नाटक, यदि मानसिक सन्तुलन एवं मनोविज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता, यदि उसमें टाइप और जन-साधारण में व्यवहृत भावुकता, व्यापार परिणति की भूलें है तो वह सहृदय-संवेद्य नहीं हो सकता।'[४]

भट्ट जी के सामने जो पात्र हैं—जिनके मनोविज्ञान की परख वे करते हैं—वे हमसे दूर नहीं हैं, बिल्कुल साधारणता के स्तर पर हैं। उनके साथ हमारा साधारणीकरण सहज ही हो जाता है। उनके पात्रों पर और-तो-और बौद्धिकता का बेठन भी नहीं चढ़ा हुआ है। 'आत्मदान' शीर्षक एकांकी के विश्वेश्वर अथवा सरला उस समाज से अवश्य आते हैं, जिसके सदस्यों को क्लब में आने-जाने की सुविधा मिली हुई है और इस दृष्टि से वे जन-साधारण से भिन्न, उच्च स्तर के हैं; आधुनिक शिक्षा-प्राप्त हैं तथापि प्रवृत्ति की दृष्टि से 'साधारण' ही हैं। इससे भट्ट जी के पात्रों की आशा-आकाक्षा, राग-विराग के साथ हमारा साधारणीकरण मजे में हो जाता है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि ऐसे पात्रों के जीवन की आलोचना करके नाटककार ने जिन समस्याओं की ओर इशारा किया है, वे समस्याएँ अन्त में हमारी ही समस्याएँ सिद्ध होती है।

हिन्दी के समस्या-नाटकों में हमें जैसे चरित्र मिलते हैं, उनकी जैसी समस्याएँ उठायी गयी हैं – उनके परिप्रेक्ष्य में भट्ट जी की चरित्र-निर्माण तथा समस्या-संकेत विषयक यह प्रवृत्ति विशेष-रूप से ध्यान खीचती हैं। समस्या-नाटकों के अधिकांश लेखकों के प्रति यह शिकायत की गयी है कि उन्होंने अपने नाटकों में जिन समस्याओं की प्रस्तुति की है, वे अति बौद्धिक हैं। सीधे शब्दों में हमारी अर्थात् जन-जीवन की नहीं हैं। उनसे

---

१. २. ३. ४. समस्या का अन्त—प्राक्कथन—उ० शं० भट्ट—पृ० च, च, क, घ

भिन्न भट्ट जो यह मानते हैं कि प्रत्येक देश की अपनी परम्परा, संस्कृति और तर्क-संगत विश्वास होते हैं, जो जाति की जड़ों तक गहरे पैठे होते हैं।[1] हमारी नाट्य कृतियों में उठायी जाने वाली समस्याओं का उस परम्परा के साथ सहज स्वाभाविक सम्बन्ध होना ही चाहिए। अपनी इस परम्परा का मर्म-दर्शन करके ही तो हम नानाविध समस्याओं को सुलझा भी सकते हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा मनोज शंकर के साथ अपने सम्बन्ध की समस्या का बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करती हुई वेहिचक यह कह सकती है कि 'मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी।' लेकिन भट्ट जी के पात्रों को ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं है। वे अपनी समस्याओं का समाधान अपने परिवेश में ही ढूँढ़ने के अभ्यासी हो सकते है, बुद्धि का बल उनको शायद नहीं है। लेकिन इसके विपरीत मिश्र जी के पात्र यह कह सकते हैं कि 'संसार की समस्याएँ .. जिनके लिए आज-कल इतना शोर मचा हुआ है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं....वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।'[2] स्पष्ट है, मिश्र जी ने जिन समस्याओं को उठाया है, वे बुद्धि-प्रसूत हैं और उनका हल भी बौद्धिक ही हो सकता है। इनके विपरीत भट्ट जी ने जिन समस्याओं को उठाया है, वे अपनी धरती के चतुर्दिक प्रसार से निकल कर आती हैं और देश तथा समाज की उन समस्याओं का समाधान देश और समाज में ही मिल सकता है। उनको ढूँढ़ने के लिए हमें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है।[3] इसी से 'सिन्दूर की होली' की 'मनोरमा' अथवा 'चन्द्रकला' जिस ढंग से अपनी समस्या का समाधान ढूँढ़ लेती हैं, उसे देख साधारण बुद्धि का पाठक-प्रेक्षक भौंचक रह जाता है। लेकिन भट्ट जी का ढंग बड़ा ही सीधा है। 'आत्मदान' शीर्षक में समस्या का जो समाधान 'सुषमा' प्रस्तुत करती है, उसे जान कर हम चौंकते नहीं बल्कि हमारा तर्क यह स्वीकार कर लेता है कि वह बड़ा सहज है। समस्या के समाधान की प्रस्तुति की दृष्टि से भट्ट जी का मिश्र जी के साथ जो यह अन्तर है, वह ध्यान देने योग्य है। इससे यही सिद्ध होता है कि भट्ट जी को अपनी मिट्टी की सोंधी गन्ध आज भी प्रिय है और उन पर कहीं बाहर से लाये किसी वाद का लबादा नहीं चढ़ा हुआ है। वे मानते हैं कि 'माँगी हुई कोई वस्तु हमारी नहीं बन सकती।'[4] उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है : 'मैं मानता हूँ, कोई भी बाह्य वस्तु, जो संस्कार परम्परा से मेरी नहीं बन गयी है, वह न तो मेरे समाज के लिए उपयोगी है, न उससे व्यक्ति का ही कल्याण हो सकता है।'[5]

नाटक में आने वाली समस्या का रूप क्या हो—इस विषय में भी भट्ट जी ने सोचा-विचारा है। वे यह मान नहीं पाते कि हमारे जीवन की जितनी भी समस्याएँ

---

१. समस्या का अन्त—प्राक्कथन—उदय शंकर भट्ट—पृष्ठ ङ

२. सिन्दूर की होली—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृष्ठ ५०

३. ४. ५. समस्या का अन्त—उदय शंकर भट्ट—प्राक्कथन—पृष्ठ ङ

हैं, वे सारी-की-सारी हमारी विकृत, असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के चारों ओर घूमती हैं, इसलिए हमारा जो भी समाधान हो, वह आर्थिक ढाँचे को मद्देनज़र रख कर ही आये। भट्ट जी का तो इस विषय में ऐसा भी निश्चय है कि और-तो-और आर्थिक समानीकरण भी हमारी समस्याओं का समाधान सिद्ध नहीं होगा। संक्षेप में भट्ट जी रोटी की समस्या को सारी समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु नहीं मान पाते और इससे लेनिन और उनका समाजवाद उनके लिए एकमात्र मसीहा नहीं हो पाते। रोटी की भूख निस्सन्देह बड़ी भूख है लेकिन भट्ट जी को यह भी ज्ञात है कि मनुष्य की एक और भी भूख है—वह है उसका आध्यात्मिक चरित्र-निर्माण, उसका सांस्कृतिक चेतनात्मक जीवन।[१] इस जीवन की माँग की पूर्ति भी कम आवश्यक कार्य नहीं है।

वर्षों की पराधीनता के अभिशाप ने हमारे जातीय जीवन में हीन परिज्ञान का भाव तो ला ही दिया है साथ ही यह भी सिखाया है कि हमारी अपनी संस्कृति में कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जिसका हम अभिमान कर सकें। राष्ट्र के उत्थान के लिए ज़रूरी है कि हम इस भ्रम का त्याग कर दें और हमारी मानसिक और बौद्धिक दासता की जंजीरें भी झनझना कर टूट पड़ें। हमने अपनी जिन विशिष्टताओं को भुला दिया है, उनका पुण्य-स्मरण हमें करना ही चाहिए। कहना नहीं होगा कि सांस्कृतिक चेतना को उत्पन्न करने का सिलसिला, जो 'प्रसाद' के नाटकों के साथ चला, उसकी गति आगे भी बनी रहे—यह भट्ट जी को इष्ट है।

व्यक्ति और समाज के प्रश्न पर भी भट्ट जी की निश्चित धारणा है। व्यक्ति को समाज की क्षुद्र इकाई बता कर वे समाज में ही खो जाना नहीं चाहते। वे मानते हैं कि समाज में जो विकृति है, वह व्यक्ति की कुचेष्टाओं का परिणाम है और इससे व्यक्ति को हम भूल नहीं सकते। भट्ट जी इससे आगे बढ़ कर इस प्रश्न पर अपनी सम्मति देते हुए कहते हैं—'व्यक्ति का व्यक्तित्व जैसे साहित्य की वस्तु है, वैसे ही वह जीवन के प्रत्येक अंग में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यही वास्तविकता है। साहित्य में इस वास्तविकता की रक्षा भारतीय परम्परा की रक्षा करना है।'[२]

ऊपर के पृष्ठों में उदय शंकर भट्ट के जिन समस्या-नाटकों का विचार किया गया है, उनके प्रमाण पर कहा जा सकता है कि जो समस्याएँ भट्ट जी द्वारा उठायी गयी हैं, वे विविध प्रकार की हैं। व्यक्ति की समस्या से ले कर जाति और सम्पूर्ण मानवता की समस्याएँ इनकी रचनाओं का विषय बनती हैं। इन नाटकों में स्थिति-चित्रण, मानव-मन का विश्लेषण और समस्या की प्रस्तुति तो है ही, समस्या-नाटकों को विदेशी परम्परा से विच्छिन्न करके उनको स्वतन्त्र व्यक्तित्व देने का उत्साह भी है। भट्ट जी ने समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की भी ईमानदार चेष्टा की है। सोद्देश्य रचना का आदर्शवाद की ओर एक स्वाभाविक झुकाव तो होता ही है। इससे इनके नाटकों की परिसमाप्ति 'आदर्श' की ओर इंगित करते हुए होती है। ●

---

१. २. समस्या का अन्त—प्राक्कथन—उदयशंकर भट्ट—पृष्ठ च

भिन्न भट्ट जो यह मानते हैं कि प्रत्येक देश की अपनी परम्परा, संस्कृति और तर्क-संगत विश्वास होते हैं, जो जाति की जड़ों तक गहरे पैठे होते हैं।[1] हमारी नाट्य कृतियों में उठायी जाने वाली समस्याओं का उस परम्परा के साथ सहज स्वाभाविक सम्बन्ध होना ही चाहिए। अपनी इस परम्परा का मर्म-दर्शन करके ही तो हम नानाविध समस्याओं को सुलझा भी सकते हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा मनोज शंकर के साथ अपने सम्बन्ध की समस्या का बौद्धिक समाधान प्रस्तुत करती हुई वेहिचक यह कह सकती है कि 'मैं तुम्हें अपना दूल्हा तो नहीं बना सकती लेकिन प्रेमी बना लूँगी।' लेकिन भट्ट जी के पात्रों को ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं है। वे अपनी समस्याओं का समाधान अपने परिवेश में ही ढूँढ़ने के अभ्यासी हो सकते हैं, बुद्धि का बल उनको शायद नही है। लेकिन इसके विपरीत मिश्र जी के पात्र यह कह सकते हैं कि 'संसार की समस्याएँ .. जिनके लिए आज-कल इतना शोर मचा हुआ है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझाई जा सकतीं....वे पैदा हुई हैं बुद्धि से और उनका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा।'[2] स्पष्ट है, मिश्र जी ने जिन समस्याओं को उठाया है, वे बुद्धि-प्रसूत हैं और उनका हल भी बौद्धिक ही हो सकता है। इनके विपरीत भट्ट जी ने जिन समस्याओं को उठाया है, वे अपनी धरती के चतुर्दिक प्रसार से निकल कर आती हैं और देश तथा समाज की उन समस्याओं का समाधान देश और समाज में ही मिल सकता है। उनको ढूँढ़ने के लिए हमें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है।[3] इसी से 'सिन्दूर की होली' की 'मनोरमा' अथवा 'चन्द्रकला' जिस ढंग से अपनी समस्या का समाधान ढूँढ़ लेती हैं, उसे देख साधारण बुद्धि का पाठक-प्रेक्षक भौचक रह जाता है। लेकिन भट्ट जी का ढंग बड़ा ही सोधा है। 'आत्मदान' शीर्षक में समस्या का जो समाधान 'सुषमा' प्रस्तुत करती है, उसे जान कर हम चौंकते नहीं बल्कि हमारा तर्क यह स्वीकार कर लेता है कि वह बड़ा सहज है। समस्या के समाधान की प्रस्तुति की दृष्टि से भट्ट जी का मिश्र जी के साथ जो यह अन्तर है, वह ध्यान देने योग्य है। इससे यही सिद्ध होता है कि भट्ट जी को अपनी मिट्टी की सोंधी गन्ध आज भी प्रिय है और उन पर कहो बाहर से लाये किसी वाद का लबादा नहीं चढ़ा हुआ है। वे मानते हैं कि 'माँगी हुई कोई वस्तु हमारी नहीं बन सकती।'[4] उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है: 'मैं मानता हूँ, कोई भी बाह्य वस्तु, जो संस्कार परम्परा से मेरी नहीं बन गयी है, वह न तो मेरे समाज के लिए उपयोगी है, न उससे व्यक्ति का ही कल्याण हो सकता है।'[5]

नाटक में आने वाली समस्या का रूप क्या हो—इस विषय में भी भट्ट जी ने सोचा-विचारा है। वे यह मान नहीं पाते कि हमारे जीवन की जितनी भी समस्याएँ

---

१. समस्या का अन्त—प्राक्कथन—उदय शंकर भट्ट—पृष्ठ ङ

२. सिन्दूर की होली—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृष्ठ ५०

३. ४. ५. समस्या का अन्त—उदय शंकर भट्ट—प्राक्कथन—पृष्ठ ङ

हैं, वे सारी-की-सारी हमारी विकृत, असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के चारों ओर घूमती हैं, इसलिए हमारा जो भी समाधान हो, वह आर्थिक ढाँचे को मद्देनज़र रख कर ही आये। भट्ट जी का तो इस विषय में ऐसा भी निश्चय है कि और-तो-और आर्थिक समानीकरण भी हमारी समस्याओं का समाधान सिद्ध नहीं होगा। संक्षेप में भट्ट जी रोटी की समस्या को सारी समस्याओं का केन्द्र-बिन्दु नहीं मान पाते और इससे लेनिन और उनका समाजवाद उनके लिए एकमात्र मसीहा नहीं हो पाते। रोटी की भूख निस्सन्देह बड़ी भूख है लेकिन भट्ट जी को यह भी ज्ञात है कि मनुष्य की एक और भी भूख है—वह है उसका आध्यात्मिक चरित्र-निर्माण, उसका सांस्कृतिक चेतनात्मक जीवन।[1] इस जीवन की माँग की पूर्ति भी कम आवश्यक कार्य नही है।

वर्षो की पराधीनता के अभिशाप ने हमारे जातीय जीवन में हीन परिज्ञान का भाव तो ला ही दिया है साथ ही यह भी सिखाया है कि हमारी अपनी संस्कृति मे कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जिसका हम अभिमान कर सकें। राष्ट्र के उत्थान के लिए ज़रूरी है कि हम इस भ्रम का त्याग कर दें और हमारी मानसिक और बौद्धिक दासता की जंजीरें भी झनझना कर टूट पड़ें। हमने अपनी जिन विशिष्टताओं को भुला दिया है, उनका पुण्य-स्मरण हमें करना ही चाहिए। कहना नही होगा कि सांस्कृतिक चेतना को उत्पन्न करने का सिलसिला, जो 'प्रसाद' के नाटकों के साथ चला, उसकी गति आगे भी बनी रहे—यह भट्ट जी को इष्ट है।

व्यक्ति और समाज के प्रश्न पर भी भट्ट जी की निश्चित धारणा है। व्यक्ति को समाज की क्षुद्र इकाई बता कर वे समाज में ही खो जाना नहीं चाहते। वे मानते हैं कि समाज में जो विकृति है, वह व्यक्ति की कुचेष्टाओं का परिणाम है और इससे व्यक्ति को हम भूल नहीं सकते। भट्ट जी इससे आगे बढ़ कर इस प्रश्न पर अपनी सम्मति देते हुए कहते हैं—'व्यक्ति का व्यक्तित्व जैसे साहित्य की वस्तु है, वैसे ही वह जीवन के प्रत्येक अंग में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यही वास्तविकता है। साहित्य में इस वास्तविकता की रक्षा भारतीय परम्परा की रक्षा करना है।'[2]

ऊपर के पृष्ठों में उदय शंकर भट्ट के जिन समस्या-नाटकों का विचार किया गया है, उनके प्रमाण पर कहा जा सकता है कि जो समस्याएँ भट्ट जी द्वारा उठायी गयी हैं, वे विविध प्रकार की हैं। व्यक्ति की समस्या से ले कर जाति और सम्पूर्ण मानवता की समस्याएँ इनकी रचनाओं का विषय बनती हैं। इन नाटकों में स्थिति-चित्रण, मानव-मन का विश्लेषण और समस्या की प्रस्तुति तो है ही, समस्या-नाटकों को विदेशी परम्परा से विच्छिन्न करके उनको स्वतन्त्र व्यक्तित्व देने का उत्साह भी है। भट्ट जी ने समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की भी ईमानदार चेष्टा की है। सोद्देश्य रचना का आदर्शवाद की ओर एक स्वाभाविक झुकाव तो होता ही है। इससे इनके नाटकों की परिसमाप्ति 'आदर्श' की ओर इंगित करते हुए होती है। ●

---

१. २. समस्या का अन्त—प्राक्कथन—उदयशंकर भट्ट—पृष्ठ च

हरिकृष्ण प्रेमी

हरिकृष्ण 'प्रेमी' प्रसाद की परम्परा के ऐतिहासिक नाटककार माने गये हैं। उन्होंने 'शिवासाधना' नामक अपने नाटक की भूमिका में अपनी नाट्य-कृतियों की प्रेरणा का उल्लेख करते हुए बताया है कि पंजाब में ज्ञान-बाँसुरी और कर्म का शंख फूंकने वाली उनकी सहकर्मिणी बहिन कुमारी लज्जावती ने उनसे एक बार कहा था कि भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं किन्तु उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। लज्जावती ने प्रस्ताव किया कि प्रेमी जी को इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। तदनुसार प्रेमी जी ने अपने नाटकों के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास किया।[१]

प्रेमी जी ने जिस युग में नाटकों की रचना आरम्भ की, उस युग में विदेशी अंग्रेज़-शासन इस देश के हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग-अलग रखने का निरन्तर प्रयत्न कर रहा था। अंग्रेज़ शासकों की शह पा कर साम्प्रदायिकता-वादी लोग दंगे कराते थे और देशवासियों के वैमनस्य का लाभ उठाते थे। ऐसे दंगे सन् १९२४ में कई स्थान पर कराये गये। ९ और १० सितम्बर को कोहाट में होने वाला दंगा तो इतिहास-प्रसिद्ध हो गया है। देश की स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय एकता एवं सांस्कृतिक सौमनस्य की अपेक्षा थी और यह तब तक सम्भव नहीं था, जब तक दोनों जातियों के बीच उदारता न आ जाये। आगे चल कर 'स्वप्न भंग' की रचना करते समय प्रेमी जी अपने रचना-उद्देश्य को और भी स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'मैंने अपने नाटकों द्वारा राष्ट्रीय एकता के भाव पैदा करने का यत्न किया है। मेरे इन लघु-यत्नों को राष्ट्र-यज्ञ में क्या स्थान मिलेगा, यह मैं नहीं जानता।'[२]

---

१. शिवासाधना—अपनी बात (भूमिका)—हरिकृष्ण प्रेमी—पृष्ठ ६

२. स्वप्न-भंग—भूमिका—हरिकृष्ण प्रेमी—पृष्ठ १

प्रेमी जी अपने ऐतिहासिक नाटकों के द्वारा यह कहना चाहते हैं कि यह मानना कि सारे-के-सारे मुसलमान बुरे होते हैं—ठीक नहीं है। उनके बीच ही हुमायूँ भी हो चुका है, जो मज़हबी कट्टरता का कायल नहीं था। 'रक्षा-बन्धन' नाटक में प्रेमी जी ने उससे कहलाया है—'हिन्दुओं के अवतारों ने और तुम्हारे पैग़म्बर ने एक ही रास्ता दिखाया है। कुरान शरीफ़ में साफ़ लिखा है कि हमने हर गिरोह के लिए इबादत का एक ख़ास रास्ता मुकर्रर कर दिया है, जिस पर वह अमल करता है। इसलिए इस पर झगड़ा न करो।'[१] इसी नाटक की कर्मवती भी जवाहर बाई से कहती है—मुसलमान भी इन्सान हैं। वे ईश्वर को खुदा कहते हैं। मन्दिर में न जा कर मस्जिद में जाते हैं। क्या इसीलिए हमें उनसे घृणा करनी चाहिए ?[२] इसी नाटक का एक दूसरा पात्र विक्रम कहता है—'हिन्दू और मुसलमान' ये दोनों ही नाम धोखा है, हमें अलग करने वाली दीवारें हैं। हम हिन्दुस्तानी हैं।[३] जिस शिवाजी महाराज को सकुचित हिन्दू जातीयता का प्रतीक इतिहास ने घोषित कर रखा है, उनके चरित्र के बड़े ही उदात्त, भव्य रूप को प्रेमी ने 'शिवासाधना' नामक अपनी रचना में प्रस्तुत किया है। उस नाटक में शिवाजी महाराज कहते है कि उनके जीवन का उद्देश्य है—भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अन्त करना, राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना।[४] कहना नहीं होगा कि प्रेमी जी अपने युग की समस्या का समाधान इतिहास में ही ढूँढ़ते हैं। अपने 'प्रकाश-स्तम्भ' शीर्षक नाटक में उन्होंने लिखा ही है—'हमें जहाँ अपने देश की वर्तमान समस्याओं का विचार करना चाहिए, वहीं अपने अतीत में वर्तमान समस्याओं के कारण खोजने चाहिएँ, वहीं से हमें उनका निदान भी प्राप्त होगा।'[५] 'रक्षाबन्धन' को 'कर्मवती' नाटककार का ही सन्देश प्रचारित करती हुई कहती है—'जब तक हम अपने व्यक्तित्व को, सुख-दुख, मानापमान को, देश के मानापमान में निमग्न न कर देंगे, तब तक उसके गौरव की रक्षा असम्भव है, तब-तक हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हो सकते।'[६]

इस प्रकार स्थिर यह होता है कि नाटककार प्रेमी जी को दृष्टि हिन्दू-मुस्लिम समस्या की भीषणता की ओर है और वे राष्ट्रीयता की भावना जगा कर मज़हबी तगदिली को दूर करना चाहते हैं। प्रेमी जी ने इस समस्या को ध्यान में रख कर 'मातृमन्दिर' शीर्षक एकांकी की रचना की थी। लेकिन वहीं 'शिवासाधना' में शिवाजी के कथन से यह भी विदित होता है कि प्रेमी जी राजनीतिक क्रान्ति के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति के आग्रही भी हैं। शायद इसी कारण अपने 'उद्धार' नामक

१. २. ३. रक्षा-बन्धन—हरिकृष्ण प्रेमी—पृष्ठ ४८, ३६, ११०
४. शिवासाधना—हरि कृष्ण प्रेमी—पृष्ठ १९
५. प्रकाश-स्तम्भ— — —पृष्ठ (ख)
६. रक्षा बन्धन — — —पृष्ठ ११

नाटक में वे आगे चल कर 'हम्मीर' का विवाह 'कमला' नामक विधवा के साथ कराते हैं। 'उद्धार' का 'हम्मीर,' 'कमला' से कहता है—'दुधमुँही बच्चियों का विवाह कर देना और उनके विधवा हो जाने पर उन्हें जीवन के सभी सुखों से वंचित रखना, इसे तुम समाज की मर्यादा कहती हो ? नहीं, कमला, यह घोर अत्याचार है। हमें समाज के पाखण्डों के विरुद्ध विद्रोह करना है।'[1] स्पष्ट है, प्रेमी जी ने अपने ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में भी अवकाश बना कर सामाजिक समस्याओं की प्रस्तुति की है, उनका समाधान ढूँढ़ा है।

प्रेमी जी की नाट्य कृतियों में 'छाया' और 'बन्धन' को सामाजिक नाटक कहा गया है और उनमें वर्त्तमान जीवन की समस्याएँ आयी हैं। 'छाया' को डॉ॰ नगेन्द्र ने प्रेमी जी का 'नवीनतम प्रयास' कहा है।[2] इस नाटक में प्रकाश नामक एक ऐसे कवि की जीवन-यापन-विषयक कठिनाइयों का उल्लेख किया गया है, जिसके गीतों पर दुनिया दीवानी होती है लेकिन कोई यह नहीं देखता कि विश्व-साहित्य को अनमोल सम्पत्ति-दान करने वाले इस कवि को अपनी पत्नी की लाज ढँकने के लिए वस्त्र और अपनी दुधमुँही बच्ची के पीने के लिए दूध ख़रीदने की भी शक्ति मिली है अथवा नहीं। विश्व-साहित्य को अपनी अमूल्य विधि से मंडित करने वाला यह कवि अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर पाता। उसके घर में चूहे दंड पेलते हैं, उसकी पत्नी के तन पर जो धोती है, वह तार-तार हो चुकी है, उसकी नन्हीं-सी बेटी दूध के लिए तड़प रही है।[3] अभावों के इस महाजाल में उलझे हुए कवि से दुनिया गीत खोजती है ! यह कैसी विडम्बना है ? प्रश्न है, प्रकाश की इस विपन्नता के लिए कौन उत्तरदायी है ? नाटककार बताते हैं कि इस भावुक कलाकार की [illegible] का अनुचित लाभ उसका प्रकाशक उठाता है, जो नाना प्रकार से उसका शोषण करता है। अपने देश के साहित्यकारों की सचमुच यह एक बड़ी समस्या है। उनका प्रकाशक साहित्य का सौदा करता है और वह पूँजीपति होता है। दूसरे पूँजीपतियों और इसमें कोई भेद नहीं है। प्रेमी जी ने यह बताया कि सभी पूँजीपतियों की ही तरह प्रकाशक भी यही चाहता है कि साहित्यकार उसका आश्रित बना रहे।[4] प्रकाशक साहित्यकार को गिन कर उतनी ही रोटियाँ दे सकता है, जिनके सहारे साहित्यकार की साँस चलती रहे। उसकी देह में खून भी बने, यह उसकी फ़िक्र नहीं हो सकती। सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि प्रकाशक दुनिया के सामने ,यह भी घोषित करने की स्पृहा मन में पालता है कि वही है, जिसकी उदारता के कारण अमुक महान कलाकर ज़िन्दा है। 'छाया' की समस्या यही है ; प्रश्न है, शोषण की परम्परा का अन्त कैसे हो ? साहित्यकार का दैन्य दूर कैसे हो ? साहित्यकार भाव-जगत का प्राणी होता है, स्वप्न सजाने वाला

१. उद्धार—ह॰ कृ॰ प्रेमी—पृ॰ ८५
२. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ॰ नगेन्द्र—पृ॰ ६२
३. ४. छाया—ह॰ कृ॰ प्रेमी—पृ॰ १३, १७

भावुक प्राणी। उससे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वह दुनियादार हो जायेगा और अपने साहित्य की कीमत का हिसाब-किताब रख सकेगा। प्रकाशक उसकी इस दुर्बलता का ही तो लाभ उठाता है और उसकी मेहनत का मीठा फल चाहता है। प्रकाश की पत्नी यह समझती है कि आज की छल-छन्द की दुनिया में भोलेपन से काम नहीं चल सकता। जब तक हम किसी ऐसे समाज की कल्पना साकार नहीं कर लेते, जिसमें खून को पसीना बनाने वाले मजदूर को, चाहे उसके हाथ में कलम हो या फावड़ा, यह इतमीनान पक्के ढंग से नहीं हो जाता कि अपनी मेहनत का लाभ उठाने का उसका अधिकार धरा हुआ है तब तक साहित्यकार को व्यवहार-ज्ञान की चिन्ता करनी ही पड़ेगी। लेकिन प्रेमी जी इस समाधान के कायल नहीं हैं। उनका आदर्शवाद यह स्वीकार नहीं कर पाता कि साहित्यकार को हिसाबी हो जाना चाहिए। इससे जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने कहा समस्या के प्रति एक काव्यगत भावपूर्ण प्रतिक्रिया के कारण वह अपनी सारी खीझ रुपये पर उतारते हुए कहते हैं—'रुपये को अपने सर न चढ़ने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का सुख न छीनने दो मनुष्यो! रुपये को मनुष्य का अपमान न करने दो मनुष्यो।'[1] नाटककार शायद यही समझता है कि सारे अनर्थों की जड़ है रुपया। इसके लोभ के कारण प्रकाशक साहित्य की नातेदारी में आ कर भी साहित्यकार का गला टोपता है और इसी रुपये के अभाव में, साहित्यकार को अपने किसी दुर्बल क्षण में हिसाबी बनने की बात सोचनी पड़ती है। तो दूषित है—यह रुपया ही। प्रेमी जी ने 'छाया' में समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह कितना अवास्तविक है, यह सहज ही विदित है। खून का स्वाद जिसके मुँह में लगा हो, उससे अहिंसा का व्रती होने की आशा जैसी असार होती है, वैसी ही प्रेमी जी की यह आशा भी है कि प्रकाशक साहित्यकार का शोषण करना छोड़ देगा। साहित्यकार के घर तिजोरी में रुपये भरे पड़े हुए हों, इसकी आशा बाँधना एक बात है और उसके भरण-पोषण के लिए पर्याप्त सुविधा हो—यह दूसरी बात है। प्रेमी जी का भावुक नायक प्रकाश इन दोनों के अन्तर को भी पहचान नहीं पाता—यही तो उसकी लोक-व्यवहार के प्रति अकुशलता है।

'वाणी-मन्दिर' शीर्षक अपने एकांकी में भी प्रेमी जी ने इसी समस्या को उठाया है। संसार को अमृत देने के के लिए स्वयं विष का घूँट पीने वाला कवि कुमार भी 'छाया' के प्रकाश के ही गोत्र का है। उसके घर में भी स्थिति यह है कि अन्न का एक दाना नही, पास में एक पैसा नदारद है और भूखी नन्हीं दूध के लिए आकुल तड़प रही है।[2] पति-परायण पत्नी और उस छोटी-सी उम्र में ही इतनी समझदार उसकी गुड़िया-सी बेटी ऐसी दुर्घटनाओं के प्रति अभ्यस्त हो गयी हैं। भूखे पेट सो

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० ६४

२. आधुनिक एकांकी संग्रह में संकलित एकांकी—वाणी-मन्दिर—
ह० कृ० प्रेमी बैकुन्ठनाथ दास—पृ० ६८

जाने पर भी कभी अपने भाग्य को ये कोसती नहीं। पति के यश को ही अपने जीवन की चरितार्थता मानने वाली पत्नी सरला ने कवि की पुस्तकों के छपवाने के लिए अपना एक-एक ज़ेवर बेच दिया।[1] इस साध्वी की बड़ी समस्या है—उसका रूप, अनिंद्य सौन्दर्य, जिसकी ओर संसार की लोलुप आँखें उठ-उठ कर आती हैं और उसे निगल जाना चाहती हैं। ग़रीब की पत्नी जो वह है! तभी तो उसका बहनोई, रायबहादुर बेटा, डिप्टी-कमिश्नर कुछ रुपयों से उसका शरीर ख़रीदने की आकांक्षा लिये उसके चारों ओर मँडराता है। सरला पूछती है—ग़रीब स्त्री को भगवान रूप क्यों देता है?[2]

कुमार उन लोगों में है, जो अपने अभावों को दुनिया के सामने नहीं रखते। मालती के शब्दों में 'वे जलते रहते हैं दीपक की तरह नीरव रह कर और संसार को प्रकाश देते हैं।'[3] कवि कुमार की पत्नी अनुभव करती है कि ऐसे हुतात्मा पर गृहस्थी का बोझ लादना ही निष्ठुरता है और वह आत्मघात करती है।[4] 'छाया' की तरह इस 'वाणी-मन्दिर' की भी समस्या है कि संसार कवि को पा कर धन्य तो होता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि कवि के पेट भी होता है। उसके बीवी-बच्चे भी होते हैं। उचित तो यह है कि जो रात-दिन अपने प्राणों का ख़ून पिला कर संसार को जीवन देता है, उसके जीवन की रक्षा का दायित्व समाज ग्रहण करे।[5] 'चन्द्रिका' ने ठीक ही कहा है—'केवल आत्म-तेज के बल पर संसार में जिया नहीं जा सकता।'[6] लेकिन संसार को इस उत्तरदायित्व का बोध ही कहाँ है? और फिर कुमार को इस 'मधुर प्रेमपूर्ण, स्नेहपूर्ण संसार' से[7] शिकायत भी कहाँ है? स्पष्ट है, 'छाया' ही की समस्या अपनी सारी सम्वेदनाओं के साथ 'वाणी-मन्दिर' में उतर आयी है और समाधान की दृष्टि

---

१. २. ३. ४. आधुनिक एकांकी संग्रह में संकलित एकांकी—वाणी-मन्दिर —ह० कृ० प्रेमी— बैकुन्ठदास दुग्गल—पृष्ठ ७१, ७१, ७५, ७७

५. विषपान की 'पुकार'—पृष्ठ १३—साहित्यिक का जीवन कितनी बड़ी कष्ट-साध्य साधना है—यह वही जानता है, जिसने यह जीवन बिताया है। देश को सदविचार चाहिए, मानसिक स्वास्थ्य चाहिए—आत्मिक भोजन चाहिए, किन्तु जिस व्यक्ति से यह सेवा लेनी है, उसकी कुछ आवश्यकताएँ भी हैं—इस ओर कौन सोचता है? यदि कोई वास्तविक साहित्य देना चाहता है तो उसे आठों पहर अध्ययन, निरीक्षण और लेखन में डूबा रहना आवश्यक है। जीविका के लिए कुछ और धंधा करे और थके हुए शरीर और मस्तिष्क से अधूरे अध्ययन-निरीक्षण के आधार पर साहित्य दे, तो इसमें पाठकों को क्या मिलेगा? जो अपना ख़ून पी कर साहित्य की सेवा कर रहे हैं—उनमें से कुछ को यश भी मिल जाता है—किन्तु यश से भौतिक शरीर अपनी शक्ति स्थिर नहीं रख सकता।

६. ७. विषपान की 'पुकार'—पृष्ठ ७९ ७९

से भी स्थिति वही है. जैसी 'छाया' में थी।

शोषण की जिस समस्या को 'छाया' में प्रेमी जी ने उठाया है, उसके ही एक भिन्न रूप को उन्होने 'बन्धन' में प्रस्तुत किया है। इस नाटक में मज़दूरों का पूँजीपतियों के हाथों जो शोषण हो रहा है, उसकी कहानी कही गयी है। इस नाटक की समस्या का समाधान गाँधीवादी प्रणाली पर ही करने का प्रस्ताव भी प्रेमी जी ने किया है।

स्पष्ट है, प्रेमी जी अपने सामाजिक नाटकों में यथार्थ को चित्रित तो करते हैं किन्तु वे आदर्श को छोड़ नहीं पाते। डॉ० नगेन्द्र का मत है कि प्रेमी जी ने अपने नाटकों में आदर्शवादिता का जो मोटा आवरण चढ़ा दिया है, उससे रसानुभूति में व्याघात उत्पन्न हो जाता है। उनकी दृष्टि में प्रेमी जी इस दोष के अपराधी हैं कि उन्होंने 'भावुकता का आदर्शीकरण करके उसका अपमान किया है। प्रेमी जी की बौद्धिक दुर्बलता ही उनके इस दोष का कारण है। ऐसा डॉ० नगेन्द्र ने बड़े खुले शब्दों में स्वीकार किया है।[1]

'वाणी-मन्दिर' में वर्मा जी (चन्द्रप्रकाश वर्मा) नामक एक ऐसे व्यक्ति को उपस्थित किया है, जो 'आनन्द' पत्रिका का सम्पादक है। यह वर्मा जी मानता है कि संसार में ऊँच-नीच कुछ नहीं है बस रुपया है केवल।[2] यही रुपया मनुष्य को ऊँचा अथवा नीचा बनाया करता है। वह राजा-रईसों को सोहबत में बैठता है, उनके साथ शराब पीता है, वेश्याओं से मन बहलाता है। सोधी-सी बात यह है कि यह धनी लोगों को उल्लू बना कर रुपया अपनी जेब में रखने वाला है। रुपयों के लिए उसे अपनी पत्नी मालती की भावना, पीड़ा की अवहेलना करके उसका सौदा करने में भी कोई झिझक नहीं हो सकती। इस विषय में स्वयं उसकी पत्नी प्रमाण है।[3] वर्मा जी को बहादुरपुर के उस दीवान साहब के लिए अपनी पत्नी मालतो को साथ लिये सिनेमा जाना है। मालतो को वह आदमी बहुत बेहूदा जान पड़ता है। इससे वह आपत्ति करती है। लेकिन जो वह न जाय तो पति के हाथों हंटर की मार खाये।[4] इस प्रकार रुपयों की भूख वर्मा जी को साक्षात् पशु बनाती है। मालती ने ठीक ही कहा है कि वह 'नामर्द' है।[5] लेकिन इस पर भी मालती उसे छोड़ नहीं सकती।[6] भारतीय नारी के सनातन संस्कार की परम्परा जो वह ढो रही है। लेकिन वहां 'चन्द्रिका' भी है, जो मालती की तरह पुरुष के हाथ खिलौना नहीं हो सकती। यह जानती है कि पुरुष अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता। वह पर्वत है और कठोरता ही उसका स्वाभाविक धर्म है। वह अपनी सखी मालती से कहती है—'पुरुष भी तो अकेले जीवन बिता देते हैं, वे पुरुषों मे हँस-खेल कर अपना जी बहला लेते हैं, ऐसा क्या हम स्त्रियाँ नहीं कर सकती ?'[7] इसी

१. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृष्ठ ६६

२. ३. आधुनिक एकांकी—बै० दा० दुग्गल—पृष्ठ ६४, ७५

४. ५. ६. ७. वाणी-मन्दिर—आधुनिक नाटक : बै० दा० दुग्गल—पृष्ठ ६४, ६५, ६७, ७२

चन्द्रिका के माध्यम से प्रेमी जी ने नर-नारी की समस्या का स्पर्श किया है। समस्या का यह जो समाधान उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह तर्क को शेष नहीं करता और वह कारगर अथवा व्यावहारिक भी नहीं है।

प्रेमी जी के ऊपर गाँधी जी के नेतृत्व में चलने वाले तत्कालीन राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन का बड़ा प्रभाव था। उस आन्दोलन ने राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए तो प्रयत्न किया ही, उसने सामाजिक क्षेत्र में भी सुधार का कार्य किया। उस काल में, जैसा कि डॉ० रामचरण महेन्द्र ने कहा, नीति ने देश-भक्ति और समाज-सेवा का रूप धारण किया था।[1] इससे प्रेमी जी के साहित्य में नैतिकता की प्रतिष्ठा हुई है। उनका कहना है कि उनके साहित्य में नैतिकता का दर्शन करके नये युग के समालोचक नाक-भौं सिकोड़ते है। किन्तु प्रेमी जी का उत्तर है कि विकृति को हम प्रगति सिद्ध करने का प्रयत्न न करें, यही ठीक है। वे जानते हैं कि साहित्यकार का समाज के प्रति कोई कर्त्तव्य होता है और वे उस कर्त्तव्य के प्रति किसी प्रकार की बेईमानी नहीं करना चाहते।[2] नैतिकता के प्रति प्रेमी जी को जो यह आग्रह है, वह उनको सामाजिक जीवन की उन समस्याओं की ओर खीच कर ले जाता है, जिन्होंने हमारे जीवन को विकृत कर रखा है। स्वभावतः प्रेमी जी का ध्यान अपने सामाजिक नाटकों में हिन्दू समाज की विवाह-संस्था की बुराइयों और उनके हानिकर प्रभावों, ऐश्वर्य-लोभ, साहित्यकारों की ग़रीबी, पाश्चात्य शिक्षा के दूषित प्रभावादि की ओर जाता है। प्रेमी जी सामाजिक विकृतियों को दूर करके एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते है, जिसमें अन्याय, अत्याचार, शोषण न हो और नीति प्रतिष्ठित हो। उनका भावुक मन शोषण के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है और वे जब यह देखते है कि साहित्यकार की अव्यावहारिकता का लाभ उठा कर उसका प्रकाशक और मज़दूरों की ग़रीबी का अनुचित लाभ उठा कर पूंजीपति तथा मिल-मालिक शोषण करते हैं तो वे विद्रोह कर उठते हैं। यही विद्रोह भाव क्रमशः 'छाया' और 'बन्धन' में मुखर होता है। प्रेमी जी की सीमाएँ, उनके युग की सीमाएँ हैं, उनके गाँधीवादी संस्कारों की सीमाएँ है। इससे उनके द्वारा प्रस्तुत समाधान प्रश्न का उत्तर नही दे पाता। प्रेमी जी की इन सीमाओं का अनुशासन उनके पात्रों के चरित्र पर भी खूब ही पड़ता है। 'छाया' के 'प्रकाश' और 'वाणी-मन्दिर' के कुमार पर प्रेमी जी के आदर्शवाद का रंग बड़ा गाढ़ा हो कर पड़ा है।

'प्रगतिवाद' के नाम पर प्रत्येक प्राचीन संस्कार के विरुद्ध युद्ध का डंका आज के अनेक साहित्यकारों ने बजाया है। प्रेमी जी भी प्राचीन कूड़े-कर्कट के समर्थक नहीं हैं। फिर भी वह यही मानते हैं कि प्राचीन होने के कारण ही कोई चीज़ बुरी है—ऐसा नही है। वे मानते है कि हमें अपने समाज के सब विषय और संस्कार आज की आवश्यकता की कसौटी पर कसने है। जो राष्ट्र-निर्माण में सहायक हों, उन्हें स्वीकार

---

१. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—रामचरण महेन्द्र—पृ० १३७
२. 'मन्दिर'—भूमिका—ह० कृ० प्रेमी—पृ० ४

करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[१] प्रेमी जी यूरोप में प्रचलित भौतिकवाद को शोषण स्वार्थपरता और भयंकर हिंसा-वृत्ति की ओर ले जाने वाला मानते हैं। वे देख रहे हैं कि सम्पूर्ण सांसारिक वैभव की प्राप्ति के बाद भी पश्चिम के देशों में जीवन की सुख-शान्ति नहीं है। अस्तु, वे उसके अनुकरण को व्यर्थ समझते हैं।[२] प्रेमी जी समझते हैं कि प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं और इसलिए जो वस्तु या विचार किसी दूसरे देश के लिए उपयोगी हो, वह भारत के लिए भी वैसा ही होगा, यह विचार भ्रम है।

यूरोप के समस्या-नाटकों की विशेषता रही है कि उनके द्वारा किसी-न-किसी विचार का पोषण होता रहा है। एक तरह से प्रचार का माध्यम भी वे हो गये हैं। प्रेमी जी भी मानते हैं कि यदि साहित्यिक श्रेष्ठ विचार नहीं देता—केवल मनोरंजन की भूख मिटाता है तो उसकी सेवाओं का अधिक मूल्य नहीं है।[३] लेकिन प्रचार और कला की सीमा का भी साहित्यकार को ध्यान रखना होगा। समाज की खामियाँ साहित्य का मसाला बनती हैं। साहित्य के द्वारा समाज की जटिल समस्याओं पर अपेक्षित प्रकाश पड़ना ही चाहिए। प्रेमी जी लेकिन यह भी कहते हैं कि साहित्यकार को यह भी देखना ही होगा कि उसकी रचना 'नीरस उपदेश' न बन जाए। उनका दावा है कि उन्होंने जो विचार दिये हैं, वे कथा पर बोझ नहीं हैं। इसी को वे कला भी कहते हैं।[४]

---

१. २. ३. ४. विषपान—भूमिका—'पुकार'—ह० कृ० प्रेमी—पृ० ६. ७
९ ९

श्री वृन्दावन लाल वर्मा

हिन्दी के ख्याति-प्राप्त ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने अच्छी संख्या में नाट्यकृतियाँ भी प्रस्तुत की हैं। उनके नाटकों में कुछ ऐसे भी हैं., जिनमें देश और समाज की समस्याओं की प्रस्तुति हुई है। इस दृष्टि से उनकी नाट्यकृतियों में 'बाँस की फाँस,' 'खिलौने की खोज' और 'धीरे-धीरे' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

बाँस की फाँस : श्री वर्मा जी को 'बाँस की फाँस' की रचना की प्रेरणा जिन दो विशेष घटनाओं से प्राप्त हुई, उनका उल्लेख उन्होंने नाटक के आमुख में किया है। हमारे समाज में आज भी जन्म-पत्रो की गणना बैठाने का क्रम चलता है और इधर परिस्थिति की विद्रूपता है कि ज्योतिषी को घूस दे कर मनोनुकूल निर्णय प्राप्त किया जा सकता है। प्रस्तुत नाटक की प्रथम प्रेरक घटना कुछ ऐसी ही है। ज्योतिषी सात सौ रुपयों का उत्कोच ले कर गणना बैठा देता है और यह भी एलान कर देता है कि जब जन्मपत्री मिल गयी तो जाति की भिन्नता का प्रश्न ही कहाँ उठता है? यह इसलिए कि जाति-पाति से भगवान बड़ा है और उसने ही ग्रह-नक्षत्र का सिलसिला बैठाया है।

नाटककार को प्रेरित करने वाली दूसरी घटना का सम्बन्ध उस पढ़ी-लिखी नवयुवती से है, जो किसी युवक के उपकार के बदले बिकने और उपकारी की पत्नी बनने के लिए तैयार नहीं है। आज हमारी यह दशा हो गयी है, पुरुष समाज इतना असहिष्णु हो गया है कि सेवा-वृत्ति भी अशुद्ध, स्वार्थ-संकुल, [illegible] हो गयी है।

वर्मा जी ने देखा है कि हमारे नवयुवक उच्छृंखल हो गये हैं। उनके आचरण मे एक प्रकार का भोंडापन आ गया है। 'बाँस की फाँस' शीर्षक नाटक के पात्र—हवलदार मेजर भीडाराम के शब्दों में वे इतने बेहूदे और बदतमीज़ हो गये हैं कि राह चलने वालों को टोकते हैं, छेड़छाड़ करते हैं, स्त्रियों के साथ इशारेबाज़ी करते हैं, उनको आँखें मारते हैं, कभी-कभी उनसे टकरा जाते है, बाज़ार में खड़े हो कर खोमचे

लूट लेते हैं, भीड़ में घुस कर मुफ़्त तमाशे देखते हैं।[1] किसी भी देश के लिए उसके नवयुवकों का ऐसा असयम, चिन्ता का विषय हो सकता है। लेकिन वर्मा जी को मालूम है कि ये ही विद्यार्थी भावना में आ कर ऐसी बड़ी बात भी कर गुज़रते है, जिस पर समाज को नाज़ हो।

'बाँस की फाँस' में फूलचन्द और गोकुल ऐसे ही दो विद्यार्थी हैं, जो अपने वर्ग की शक्ति और सीमा दोनों को ही मूर्ष करते हैं।

ग्वालियर रेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर कुछ लोग ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनमें विद्यार्थी-सम्मेलन से वापस आने वाले दो छात्र फूलचन्द और गोकुल भी हैं। वहीं पास मे ही मन्दाकिनी नाम की एक युवती, शायद छात्रा ही, भी बैठी हुई है और एक फ़ौजी, हवलदार-मेजर भीडाराम भी है। यह फ़ौजी भीडाराम रह-रह कर मन्दाकिनी को घूरता है। उसका इस प्रकार मन्दाकिनी को घूरना विद्यार्थियों को नागवार लगता है। उनके मन में उस फ़ौजी को बेवकूफ़ बनाने का उत्साह उत्पन्न होता है और वे इलाहाबाद छावनी के किसी कल्पित भोंदूराम की कहानी गड़ कर भीडाराम को बुद्धू बनाते हैं। फ़ौजी झगड़ने पर आमादा हो जाता है। लेकिन पुलिस वाले उसे चेताते हैं कि विद्यार्थियों से उलझना ठीक नहीं होता और फ़ौजी मन मसोस कर रह जाता है।

प्लेटफ़ार्म पर ही अपनी बुढ़िया माँ को सहारा दिये पुनिया आती है। यह पुनिया भीख नहीं माँगती, लोगों को अपने गीत सुना कर मज़दूरी के तौर पर गुज़ारे के लिए पैसे लेती है। भिखारिन समझ कर जब गोकुल जैसा कोई आदमी उसके साथ छेड़खानी करता है तब वह गाली देती है, ऊल-जलूल बकती है।[2] भिखारिन जैसी विपन्नता की स्थिति में रह कर भी वह अपने सम्मान की रक्षा करती है, असहिष्णु समाज की भूखी वासना का वार अपनी ज़बान की तलवार जैसी तीखी धार पर रोकती है। पुनिया और उसकी माँ को भी गाड़ी से कहीं जाना है। अस्तु, वे भी मन्दाकिनी के साथ ही उसी गाड़ी में सवार होती हैं, जो थोड़ी ही देर बाद दुर्घटना-ग्रस्त हो जाती है। पुनिया और मन्दाकिनी दोनों ही घायल हो कर अस्पताल पहुँचती हैं, जहाँ उनको स्वस्थ करने के लिए थोड़े-से खून और खाल की ज़रूरत पड़ती है। फ़ौजी भोडाराम पुनिया के लिए अपना थोड़ा-सा रक्त देने को तैयार हो जाता है। वह बदले मे उससे शादी करना चाहता है। लेकिन जब खाल देने की बात उठती है तब वह विवाह का भी खयाल छोड़ कर भाग खड़ा होता है। मन्दाकिनी की प्राण-रक्षा के लिए कुल चार औंस खून चाहिए और उसके लिए फूलचन्द तैयार खड़ा है। पुनिया ग़रीब है, एक तरह से भीख ही माँगा करती है और फिर ज़बान की ऐसी तेज़-तर्रार कि उसके साथ विवाह करने की बात भी कौन सोच सकता है? लेकिन जैसा कि वर्मा जी ने नाटक के आमुख मे कहा कि हमारे इसी असहिष्णु, असंयमी विद्यार्थी समाज में ही कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी दीख जाते हैं, जो भावना में आ कर बड़ी बात कर गुज़रते हैं। गोकुल एक ऐसा ही

१, २. बाँस की फाँस—वृन्दावन लाल वर्मा—पृष्ठ १५, १३

विद्यार्थी सिद्ध होता है। वह पुनिया की प्राण-रक्षा के लिए रक्त और चर्म दोनों ही देने के लिए तत्पर हो जाता है।

मन्दाकिनी के स्वस्थ होने पर फूलचन्द उसके आगे शादी का प्रस्ताव रखता है। चार औंस खून दे कर उसकी सहायता करने के बाद फूलचन्द अपने को शादी के लिए हकदार मान बैठता है। मन्दाकिनी को न विवाह करने से इन्कार है और न फूलचन्द के साथ विवाह करने से ही। लेकिन वह यह अनुभव करती है कि माता-पिता के आशीर्वाद के बिना विवाह अधिक अंशों में अभिशाप ही सिद्ध होता है।[1] इसलिए फूलचन्द को चाहिए कि वह उसके माता-पिता से विवाह-विषयक बात-चीत करे। मन्दाकिनी पढ़ी-लिखी हो कर भी विवाह के विषय में अपनी, नारी की, स्वतंत्रता का आग्रह नहीं रखती। वह फूलचन्द से साफ़-साफ़ कह देती है कि यदि उसके माँ-बाप ने नाहीं कर दी तो उसकी नाहीं अभी से समझी जाय।[2] मन्दाकिनी अपने माता-पिता, कुटुम्ब, संस्कृति का और फलतः स्वयं अपना तिरस्कार नही कर सकती।[3] फूलचन्द ने उस पर बड़ी कृपा की है। लेकिन फिर भी 'डिब्बे में बिस्तर रख देने से और चार औंस खून दे देने से स्त्रियाँ खरीदी नही जा सकती'[4]—ऐसा उसका सुनिश्चित मत है।

मन्दाकिनी और फूलचन्द के इस वृत्तान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्मा जी यह उचित नही समझते कि अपने विवाह के विषय में कन्या को अबाध स्वतंत्रता दी जाय। फिर वह यह भी मानते है कि विवाह कोई सौदा नही है, जो थोड़े-से उपकार का प्रत्युपकार हो जाय। फूलचन्द जैसे भोंडे लोग विवाह की पवित्रता और उच्चता का अनुभव ही नहीं कर पाते। इस नाटक के द्वारा वर्मा जी ने इस अभाव की ओर इशारा किया है। हमें तो ऐसा दीखता है कि उनके सामने यह समस्या नहीं है कि विवाह के विषय में नारी पराधीन है और उसे अपने जीवन-साथी के चुनाव के लिए पूर्ण स्वतंत्रता का न्यायोचित अधिकार प्राप्त होना ही चाहिए, बल्कि वे तो इस स्वतंत्रता को ही स्वयं एक बड़ी सामाजिक समस्या मानते हैं। इस नाटक की मन्दाकिनी के विचारों पर नाटककार के विचारों की छाया सुस्पष्ट है।

विवाह किसी उपकार का प्रतिदान नही हो सकता—इस तथ्य को लेखक ने पुनिया के वृत्तान्त से भी समर्पित कराया है। वह यह नहीं जानती कि किस आदमी ने उसके लिए अपना ख़ून और चमड़ा दिया है। उसे बताया जाता है कि हवलदार-मेजर भीडाराम उसको अपना ख़ून देने आया था और बदले में वह उसके साथ विवाह करना चाहता था। यह बात सुनते ही वह भभक उठती है और कहने लगती है—'मिट्टी का भदूना। गोबर का कंडा। काठ का ठूँठ। अपाहिज कोढ़ी। मैं सचेत होती तो उसके गले को फाड़ डालती।'[5] लेकिन वह उत्सुक है यह जानने के लिए कि आखिर उसके लिए इतना कुछ करने वाला वह देवोपम व्यक्ति कौन है और जब वह गोकुल के विषय में सब कुछ जान लेती है तो इतना ही कह पाती है कि 'अब क्या दूँ ? गाली तो

१. २. ३. ४. ५. **बाँस की फाँस—वृ० ला० वर्मा—पृष्ठ ३७, ३१, ४१, ४५**

मेरे भीतर अब रही नहीं है। मुझ भिखारिन के पास रक्खा ही क्या है देने को ?"[1] पुनिया की माँ जब इस विषय में पूर्ण आश्वस्त हो जाती है कि पुनिया के लिए इतना कुछ करने वाले गोकुल के चरित्र में लफ़ंगापन नहीं है तो वह गोकुल के प्रस्ताव को स्वीकार कर अपना बेटी उसे सौंप देती है। वर्मा जी का विवाह-विषयक आदर्श क्या है—यह पुनिया के प्रकरण से ही विदित होता है। वे चाहते हैं कि हमारा युवक समाज जन्मपत्री, नक्षत्र-गणना, दान-दहेज आदि से ग्रस्त विवाह-संस्था के प्रति विद्रोह करे। लेकिन वह यह भी चाहते हैं कि इस विवाह को अभिभावकों का आशीर्वाद भी प्राप्त हो, अनुभव हीनता उनके जीवन को किसी प्रमाद का शिकार न बनाये।

इस प्रकार, इस नाटक में विवाह की समस्या पर विचार करके वर्मा जी ने एक स्वस्थ मार्ग की ओर संकेत किया है।

खिलौने की खोज : प्रस्तुत नाटक का मुख्य पात्र सलिल नाम का एक डॉक्टर है, जिसने गठिया रोग के विशेषज्ञ के रूप में बड़ी ख्याति प्राप्त कर रखी है। आज वह जीवन से हार-थक कर मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। सलिल का अपनी बाल-सखी सुरूपा से प्रेम था। किन्तु नियति ने उन्हें मिलने न दिया और सुरूपा हो गयी सेठ सेतूचन्द की धर्मपत्नी। पिता की लाडली बेटी सुरूपा भी विवाह का विरोध न कर सकी और उसकी इच्छा की बलि हो गयी। विवाहोपरान्त उसकी स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नही हुआ। अपने असन्तुलित दाम्पत्य जीवन की विकृतियों से ग्रस्त और उससे भी अधिक अपने प्रेमी के प्यार से वंचित सुरूपा चिड़चिड़ी हो जाती है। वह नहीं चाहती थी कि वह माँ बने। लेकिन अपने बेटे केवल की माँ भी उसे बनना ही पड़ा।

इधर डॉक्टर सलिल मरने के लिए फौज में भर्ती हुआ। लेकिन यहाँ भी वह मर न सका। अब वह यक्ष्मा से पीड़ित हो कर उसी तलगाँव में आया है, जहाँ उसकी सुरूपा बसती है। इस गाँव में आ कर वह सेठ सेतूचन्द के एक मकान का किरायादार हो कर नन्दिनी नामक नर्स और राम टहल नामक नौकर के साथ रहने लगता है।

डॉक्टर सलिल के पास चाँदी का एक खिलौना है—नारी मूर्ति। इस खिलौने का रहस्य नन्दिनी अथवा रामटहल पर प्रकट नही है। लेकिन डॉक्टर सलिल के लिए वह मूर्ति खिलौना मात्र नही है। उसके साथ एक बड़ी ही मदिर-मोहक स्मृति जुड़ी हुई है। इस खिलौने पर सुरूपा की मूर्ति अकित है और उसे कभी सुरूपा के पिता ने गढ़वाया था। सलिल ने सुरूपा के घर से उसको चुरा लिया था। सुरूपा के विवाह के बाद सलिल के जी में आया कि वह उस खिलौने को वापस कर आये। किन्तु, लोभ ने ऐसा नहीं होने दिया।

भुवन नाम का एक दूसरा डॉक्टर गठिया के रोग से पीड़ित होता है। जब उसे यह विदित होता है कि डॉ० सलिल तलगाँव में रहता है तब वह उससे चिकित्सा कराने

---

१. बाँस की फाँस—वृ० ला० वर्मा—पृष्ठ ४७

वहीं ग्रा जाता है । भुवन के लिए मकान चाहिए ग्रौर इसी कारण डॉ० सलिल सेठ सेतूचन्द को ग्रपने घर बुलाता है । सेठ के संग उसका बेटा केवल भी सलिल के घर ग्राता है ग्रौर चाँदी के उस खिलौने को लेता जाता है । ग्रवश्य ही इस खिलौने को देख सुरूपा को पुरानी बातें याद हो गयी होंगी ।

तलगाँव में सूखा पड़ता है ग्रौर किसानों में बेचैनी फैलती है । गाँव में एक पाखंडी साधु रहता है जिसका नाम है—'चिमटानन्द' । यह चिमटानन्द गाँव के भोले-भाले किसानों से भूत-प्रेत, देवी-देवता की व्यर्थ की पूजा करवाता है ग्रौर पुत्तू लाल नामक व्यक्ति की सहायता से इस धन्धे में खूब फ़ायदा उठाता है । डॉक्टर सलिल को गाँव की जड़ता देख कर बड़ी पीड़ा होती है । वह गाँव की सेवा के लिए एक सेवा-मंडली खड़ी करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप चिमटानन्द से उसका संघर्ष होता है । जो डॉ० सलिल मरने के लिए गाँव के एकान्त में ग्राया था, वही ग्राज ज़िन्दा रहना चाहता है ताकि वह भुवन को रोग-मुक्त कर सके ग्रौर तलगाँव की जनता को जड़ता, ग्रज्ञानता ग्रौर कठमुल्लेपन से ऊपर उठा सके ।

इस प्रकार इस नाटक में यह दिखाया गया है कि प्रेम की विफलता से हताश, निराश हो कर निष्क्रिय हो जाना, ज़िन्दगी की सार्थकता नहीं है । डॉ०सलिल जैसे लोगों की जिजीविषा बढ़ा कर लोक-सेवा के रचनात्मक कार्यक्षेत्र में उतरना चाहिए । डॉ० सलिल का ग्रनुभव बताता है कि मनोबल को सबल बनाने से ग्रनेक वैयक्तिक ग्रौर सामाजिक व्याधियों का शमन किया जा सकता है । इस मनोबल को बढ़ा कर जैसे सलिल स्वस्थ होता है, वैसे ही भुवन, सुरूपा ग्रादि भी स्वास्थ्य-लाभ कर सकते हैं, नयी ज़िन्दगी पा सकते हैं । जीवन में करने को बहुत कुछ पड़ा हुग्रा है । इसलिए ज़िन्दगी से भागना ग़ैर-मुनासिब है ।

'खिलौने की खोज' की समस्या विफल प्रेम से उत्पन्न जड़ता की समस्या है । नाटककार इस समस्या के साथ ही उलझा नही रहता बल्कि वह निष्क्रियता से ग्रपने पात्र को ऊपर उठा कर सक्रियता को ग्रोर उन्मुख कर देता है । वह समझता है कि हमारा सामाजिक उत्तरदायित्व हमें इस बात की स्वीकृति नही दे सकता कि हम जीवन से विमुख हो जायँ । देश में करने के लिए बहुत कुछ पड़ा हुग्रा है । ऐसी स्थिति में हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना ग्रथवा बन्द कमरे में ग्रपने प्रेम की विफलता पर ग्राँसू बहाना, ज़िन्दगी से इन्कार करना है, भगवान की सृष्टि के प्रति ग्रपने दायित्व की ग्रवहेलना करना है । सुरूपा भी ग्रपने जीवन से सन्तुष्ट नही है, वह हो भी नही सकती है । यह सहज स्वाभाविक है कि वह उस पुरुष की पत्नो नही होना चाहेगी, जिससे वह प्रेम नही करती ग्रौर जब उसे इस बात के लिए विवश होना पड़ता है तो यह भी स्वाभाविक ही है कि वह चिड़चिड़ी हो जाय । लेकिन उसे जीना तो है ही । इसलिए परिस्थितियों के साथ उसे भी समझौता करना ही होगा ।

धीरे-धीरे : 'धीरे-धीरे' शीर्षक नाटक में वर्मा जी ने एक राजनीतिक समस्या की प्रस्तुति की है। सन् १९३५ के भारत शासन विधान के अन्तर्गत राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रान्तीय क्षेत्र में शासन-भार ग्रहण किया था। यद्यपि प्रस्तुत नाटक में पद ग्रहण कर सत्तारूढ़ होने वाली संस्था का नाम कांग्रेस न कह कर, 'राष्ट्र संघ' कहा गया है तथापि नाटककार का इशारा राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर ही है।

सत्तारूढ़ 'राष्ट्र संघ' की ओर से गोपाल जी, कन्हैया जी और मुबारक अली कानून सभा के अधिकारी अर्थात् मंत्री पद पर अधिष्ठित हैं और दयाराम सदस्य मात्र अर्थात् विधान-सभा सदस्य (एम० एल० ए०) है।

'राष्ट्र संघ' के सत्तारूढ़ होते ही राज्य में उत्साह की एक नयी लहर उमड़ पड़ती है और यह सर्वथा स्वाभाविक भी है। किन्तु एक समस्या यह खड़ी हो गयी है कि विभिन्न दिशाओं में जागृति की उस लहर का अनुचित प्रवाह होने लगा है। पराधीनता के युग में किसानों और मज़दूरों का निहित-स्वार्थ-वर्ग के हाथों शोषण हुआ करता था। किसानों का शोषण ज़मींदार करते थे और मिल के मज़दूरों का, मिल-मालिक। सत्ता के हाथ में आ जाने के बाद यह उचित ही था कि देश-सेवकों का ध्यान इन शोषितों की ओर जाय।

किसानों और मज़दूरों के शोषण के इस सवाल को संस्था के छुट भैये अपनी नेतागिरी के स्वार्थ की सिद्धि के लिए साधन बना लेते हैं और 'सरकार अपनी है' इस भरोसे कानून तोड़ने लगते हैं। ऐसा ही एक नेता है, बड़ा गाँव का सगुनचन्द, जो किसानों में उत्तेजना फैला कर उक्त गाँव के ज़मींदार, राव गुलाब सिंह के जंगल में किसानों के साथ घुस जाता है और ज़मींदार के हक़ की परवाह न करते हुए पेड़ काटने लगता है। सगुनचन्द ने क्षण भर के लिए यह नहीं सोचा कि जंगल के अधिकार के विषय में कानूनी स्थिति क्या है। उसने यह भी नहीं विचारा कि जंगल के पेड़ों को काटने से क्या हानि हो सकती है। जोश और दंभ में आ कर वह राज्य के मंत्रीपद पर आसीन कन्हैया जी से उलझ जाता है और उसके कार्यालय से बाहर निकाला जाता है। दया-राम को भी शायद यह सह्य नहीं हो रहा है कि उसके ही साथी गोपाल जी, कन्हैया जी और मुबारक अली मिनिस्टर हों और वह एक मामूली-सा एम० एल० ए०। प्रतिस्पर्द्धा के कारण वह अपने साथियों के विरुद्ध मोर्चा करने के उद्देश्य से किसान सभा का संगठन करता है, समाजवाद का नारा बुलन्द करता है और क्रान्ति के लिए लाल झंडा हाथ में पकड़ लेता है। नाटककार ने बताया है कि दयाराम के समाजवाद के पीछे किसी महत् उद्देश्य के प्रति निष्ठा नहीं है। उसकी बुनियाद में है—स्वार्थ और द्वेष।

इतिहास का प्रमाण है कि सन् १९३५ के बाद उन प्रान्तों में, जहाँ कांग्रेस ने पद्ग्रहण किया था, समाजवाद का नारा स्वयं कांग्रेसियों ने ही बुलन्द किया था और परिणाम स्वरूप कांग्रेस, दक्षिण और वाम-पंथियों के दो गुटों में (जिन्हें क्रमशः गांधीवादी

ग्रौर समाजवादी कहा गया था) विभक्त हो गयी थी।

वाम-पंथ दक्षिण पंथ को दकियानूस, प्रतिक्रियावादी और श्रीमानों का अन्तिम आश्रय कह कर बदनाम करता था और अपने को शोषितों का एकान्त आश्रय घोषित करता था। ऐसा नहीं है कि सत्तारूढ़ गोपाल जी और कन्हैया जी को किसानों और मज़दूरों के प्रति होने वाले शोषण का अन्त अभीष्ट नहीं था। उनका कहना है कि उनकी सरकार किसानों और मज़दूरों के हित के लिए जो कुछ सम्भव है, करती ही है। लेकिन कुछ लोगों की नेतागिरी की हवस सब किये कराये पर पानी फेर देती है। ऐसे स्वार्थी लोग ईर्ष्या और द्वेष के कारण मजदूर संघ की टट्टी की ओट में शिकार करना चाहते हैं। सत्तारूढ़ व्यक्ति की विवशता है कि क्रान्ति करने के पहले क्रान्ति के लिए साधन तो इकट्ठे होने दीजिए, नहीं तो फ्रांस की तरह एक महीने में तीन बार सरकार बदलने की नौबत आ जायेगी। ऐसे लोग सन्तुलित मस्तिष्क और संयत आचरण पर बल देते हैं और दुःख के साथ अनुभव करते हैं कि हिन्दुस्तान के शिल्प के हरियाते हुए पौधे को, जिसमें अभी कोंपलें ही आ रही हैं, मज़दूरों के कुछ भ्रान्त लोग झुलसा देना चाहते हैं। यही हाल स्वार्थी किसान-नेताओं का भी है। उनको थोड़ा-सा भी धैर्य नहीं है। ज़रूरत इस बात की है कि ऐसे असंयमित तत्वों का नियंत्रण किया जाय और देश हित का खयाल कर आवश्यकनानुसार अपने साथियों के साथ भी कड़ाई बरती जाय।

नाटककार जैसे यह कहना चाहता है कि स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता के लिए लायसेन्स नहीं हो सकती है। कोई भी राष्ट्र बेलगाम घोड़े की तरह उच्छंृखल हो कर उन्नति नहीं कर सकता। अधिकार पर कर्त्तव्य का, दायित्व का नियंत्रण तो होना ही चाहिए। मज़दूरों और किसानों को कष्ट है, उनका शोषण किया जाता है, वे विपन्न हैं—यह सब ठीक है। लेकिन उनकी समुन्नति तो एकबारगी ही किसी जादुई चिराग से सम्भव होगी नहीं। तो फिर, हम शासन को थोड़ा समय क्यों न दें। हमारे पास बस जोश है लेकिन शासन के पास तो जोश के साथ होश भी है। अस्तु, हमें धीरे-धीरे ही आगे की ओर बढ़ना होगा।

नाटककार के इस विचार के विषय में दो मत नहीं हो सकते। यह इसलिए कि अपनी नानाविध-समस्याओं का हल हम एकबारगी नहीं कर सकते। सदियों की पराधीनता के अभिशाप से उत्पन्न कठिनाइयां को हमें दूर कहना है लेकिन तदर्थ साधन-सम्पन्नता भी होनी चाहिए ही। हमें यह समझ लेना होगा कि राष्ट्रीय समस्यायों का समाधान व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमा में रह कर नहीं किया जा सकता।

श्री वृन्दावन लाल वर्मा के जिन नाटको की चर्चा ऊपर की गयी है, उनमे दो में सामाजिक और अन्तिम में राजनीतिक समस्या की प्रस्तुति हुई है।

'बाँस की फाँस' शीर्षक नाटक से यह प्रकट है कि वर्मा जी विवाह सम्बन्ध स्थिर करते समय ग्रह-नक्षत्र की गणना को सर्वथा अनावश्यक समझते हैं। उन्हें मालूम

है कि ज्योतिषी घूस ले कर गणना बैठा दिया करते हैं। यदि घूस की पूरी रकम ज्योतिषियों को मिल जाय तो वे विवाह के लिए जाति-भिन्नता की बाधा को भी टाल दे सकते हैं। जन्मपत्री का मिलाना तो उनके बाँये हाथ का खेल ठहरा और जब भगवान की दी हुई जन्म-कुण्डली मिल गयी तो जाति-बाधा की क्या हस्ती ? वर्मा जी को ऐसे पाखंडी ज्योतिषियों पर क्रोध आता है और उन पर भरोसा रखने वाले भोले-भाले लोगों पर तरस।

वर्मा जी का विचार है कि वर और कन्या के माता-पिता की सहमति और उनके आशीर्वाद के साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थिर होता है, वही कल्याणप्रद सिद्ध होता है। विवाह की संस्था को वे अत्यन्त पवित्र संस्था समझते हैं। इससे वे मानते हैं कि उसे ले कर किसी प्रकार की सौदेबाज़ी नहीं होनी चाहिए। 'बाँस की फाँस' शीर्षक नाटक की मन्दाकिनी और पुनिया का इस विषय में जो विचार है, वही नाटककार का निजी विचार है। वर्मा जी को यह देख कर कष्ट-सा होता है कि आज सेवावृत्ति भी शुद्ध नहीं रह गयी है, उसका दामन थामे वणिक्-वृत्ति खड़ी हो जाती है। हमारे सार्वजनिक जीवन की यह एक बड़ी समस्या है। पुनिया के बहाने वर्मा जी ने एक ऐसे परिवार की कहानी कही है, जो परिस्थितियों के कशाघात के कारण विपन्न तो हो गया है लेकिन अपने स्वाभिमान के संस्कार को नष्ट होने नहीं देना चाहता। पुनिया दो रोटियों के लिए मुँहताज तो है, लेकिन वह भीख नहीं माँगती, गीत गा कर अपनी मज़दूरी माँगती है। लेकिन हमारा समाज है कि उसे अपने मान के साथ जीने नहीं देगा। फ़ौजी भीडाराम, गोकुल और न जाने कितने लोगों की भूखी नज़रों का शिकार पुनिया को होना पड़ता है। यदि पुनिया अपने पास गाली और तीखी ज़बान की ढाल न रखे तो पता नहीं उसे किस नरक में धकेल दिया जाय।

वर्मा जी ने देखा है कि हमारा विद्यार्थी-समाज बड़ा ही उच्छृङ्खल हो गया है और यह स्थिति किसी भी राष्ट्र के लिए शुभ नहीं हो सकती। फिर भी वे विद्यार्थियों से सर्वथा निराश नहीं हो गये हैं। उनको विश्वास है कि उनमें बहुत-सी सम्भावनाएँ हैं और यदि उनकी सद्वृत्तियों को जगा दिया जाय तो बहुत कुछ हो जाय।

स्पष्ट है, 'बाँस की फाँस' की समस्या में कोई विशेषता नहीं है, समस्या को उभारने और उसके परिणाम-स्वरूप मस्तिष्क के मथित-चालित होने का अवसर उसमें बहुत थोड़ा ही आ पाया है। अस्तु, 'बाँस की फाँस' को एक महत् उपलब्धि नहीं कहा जा सकेगा। दूसरे नाटक 'खिलौने की खोज' की मूल समस्या, व्यक्ति की समस्या है, उसके प्रेम की विफलता की समस्या है। वर्मा जी की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने व्यक्ति की इस समस्या को राष्ट्र की समस्या में अन्तर्भुक्त कर दिया है। निष्कर्ष के रूप में वे यह प्रेरणा जगाना चाहते हैं कि व्यक्ति को अपने राग-विराग से ऊपर उठ कर समाज के साथ एकमेव हो जाना चाहिए। सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए ही

तो डॉ० सलिल को जिजीविषा बढ़ानी पड़ती है और दूसरे पात्रों को भी प्रेरित करना पडता है कि वे भी अपना मनोबल बढ़ायें और जो ज़िन्दगी मिली है, उसे जियें।

इन दोनों ही नाटकों में समस्या का हल आदर्शवादी पद्धति पर प्रस्तुत किया गया है। वर्मा जी को यथार्थ के चित्रण मात्र से सन्तोष नहीं होता। इसी से तो समस्या की प्रस्तुति के बाद वे अपने कार्य की समाप्ति नहीं मानते। वे समस्या का निदान प्रस्तुत कर दर्शकों तथा पाठकों का मार्गनिर्देश भी करना चाहते हैं। उनके राजनीतिक समस्या-नाटक 'धीरे-धीरे' में भी यही बात है। सत्ताधारी दल के छुटभैयों की नेतागिरी की हवस को वे अशुभ समझते हैं और देशहित का ध्यान कर उनकी उच्छृङ्खलता पर अंकुश डालने की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं।

भगवती प्रसाद बाजपेयी

छलना

भगवती प्रसाद बाजपेयी के 'छलना' शीर्षक नाटक की प्रस्तावना में आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने वर्तमान युग की समस्याओं की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि कृषि-जीवी सभ्यता के क्षेत्र से निकल कर मनुष्य व्यावसायिक सभ्यता के क्षेत्र में जब से आया तभी से उसके पुराने आदर्श पड़ने लगे हैं और नयी सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज में वैयक्तिता का बोलबाला हो गया है। इस नयी सभ्यता की विचित्रता यह भी है कि मनुष्य का सामाजिक जीवन जटिल-से-जटिलतर हो गया है। इस प्रकार एक ओर तो वैयक्तिकता का ज़ोर बढ़ रहा है और दूसरी ओर व्यक्ति का सामाजिक जीवन अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है।[1] वर्तमान युग की यह सबसे बड़ी समस्या है कि आज व्यक्तिगत जीवन में बन्धनहीनता और पारिवारिक जीवन में सामाजीकरण का ज़ोर है। द्विवेदी जी के अनुसार इस विलक्षण स्थिति का परिणाम यह हुआ है कि 'एक ओर प्रेम-विवाह, परीक्षणात्मक विवाह और तलाकों की धूम है तो दूसरी तरफ़ रंधनशालाएँ टूट रही हैं और होटल आबाद हो रहे हैं। सूइयों में ज़ंग लग रहा है और फ़ैक्टरियाँ बढ़ रही हैं; बच्चे घट रहे हैं और मातृ-सेवा-सदनों की बाढ़ आ गयी है।'[2] सभ्यता की इस स्थिति से सभी विचारशील मनुष्य भविष्य की चिन्ता से व्याकुल हैं और इस समस्या का समाधान व्यग्र हो कर ढूंढ़ रहे हैं।

पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी के 'छलना' नाटक में युग की इसी समस्या पर विचार किया गया है। प्रस्तुत नाटक के नायक—इन्टरमीडिएट कॉलिज के अल्प-वेतन-भोगी हिन्दी अध्यापक—बलराज की पत्नी कल्पना को अपने वर्त्तमान जीवन के प्रति तीव्र असन्तोष है। पति की छोटी-सी आमदनी में उसका गुज़ारा नहीं होता। भीषण गर्मी

१. २. छलना—प्रस्तावना (३)—पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

में उसे बिना पंखे के रहना पड़ता है। पति ने उसे वचन दिया था कि आने वाली गर्मी में वह घर में बिजली लगवा लेगा। लेकिन परीक्षा की उत्तर पुस्तकों को जाँचने के पारिश्रमिक की राशि उसे समय पर न मिली। इससे वह कल्पना को बिजली के पंखे का सुख अब तक प्राप्त न करा सका।[1] बलराज अपनी पत्नी के प्रति अपने उत्तरदयित्व के विषय में असावधान नहीं है और यथाशक्ति उसका निर्वाह भी करता है।[2] लेकिन कल्पना वह नारी है, जिसकी इच्छाओं का अन्त नहीं है। यह प्राप्त से संतुष्ट न हो कर अप्राप्य के लिए झगड़ती है, रोती है। वह बाह्याडंबर के मोहावरण का परित्याग नहीं कर सकती और कल्पित दु:ख की पीड़ा का अनुभव करके व्यग्र होती है। उसे देख कर बलराज हैरान है कि आज की सभ्यता ने कल्पना जैसे लोगों को किस ग़लत रास्ते पर छोड़ दिया है। दोषी एक कल्पना ही नहीं है। आज ज़माना ही ऐसा आ गया है कि प्रत्येक व्यक्ति कल्पित दुखों[3] का पहाड़ अपने ऊपर लादे चलता है। आज हम अपने से कहीं अधिक विपन्न लोगों को देख विधाता को इसके लिए धन्यवाद नही देते कि उसने हमें ग़रीबी की मार से बचा लिया। बल्कि हम अपने से थोड़े ही अधिक सम्पन्न व्यक्ति को देख घोर मुसीबत का अनुभव करने लगते हैं। आज हमारे जीवन से सन्तोष की वृत्ति ही हट गयी है। बलराज सभ्यता के इस विकास पर हैरान है।[4] बलराज से भिन्न उसकी पत्नी कल्पना यह नहीं जानती कि शारीरिक भोग से परे आत्मिक आनन्द नाम की कोई चीज़ होती है।[5] वह विवाह को अतृप्त वृत्तियों की तृप्ति का साधन भर समझती है। इसी से वह इस बात पर चिढ़ती है कि इस महीने वह अपने लिए हार नहीं बना पायेगी अथवा कोई कीमती साड़ी नहीं खरीद सकेगी। अनियंत्रित महत्वाकांक्षाओं का वात्याचक्र उसे उड़ाये फिरता है और वह अपने पति के प्रति इस तरह अनुदार हो जाती है कि जैसे कहने ही जा रही हो, 'जब तुम निर्वाह भर के लिए भी रुपया पैदा नहीं कर सकते तो विवाह करने की ही क्या ज़रूरत थी।'[6] ऐहिक सुखों के उपभोग को जीवन की चरितार्थता मानने वाली कल्पना अपने अभावों को देख अपनी स्थिति के प्रति विद्रोहिनी हो जाती है। उसे अपने पति से गहरी शिकायतें हो जाती हैं। विरोध में अपनी वैयक्तिक स्वाधीनता का जयघोष करती हुई वह बलराज से कहती है—'तुम पार्क में घूमने जा सकते हो; मित्रों में मनोविनोद कर सकते हो; नाटक, सरकस और सिनेमा देख सकते हो।....किन्तु स्त्री तो जड़ पदार्थ है न! खुली वायु में घूमना-टहलना, सखियों का संसार बनाना, उनमें मिलना और उनके साथ कहीं आना-जाना, घूमना और अपने लिए आवश्यक वस्त्राभूषणों की याचना करना स्त्री के लिए कभी भी, न आवश्यक है, न आनन्दकारक। तुम यही न कहना चाहते हो?'[7] यही नहीं, विद्रोहिणी कल्पना यह चाहती है कि बालिकाओं को ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे समर्थ हो कर स्वावलम्बी हों, पति पर

---

१. २। ३. ४. ५. ६. ७. छलना—भ० प्र० बाजपेयी—पृष्ठ ७, ३३, ३, १४-१५, ३४, ३२, ३३

निर्भर न हों, पुरुष-समाज के लिए वे ज्वाला की मूर्ति हों और उसका संहार ही उनका एकमात्र लक्ष्य हो।[1]

प्रस्तुत नाटक में कामना नामक एक दूसरी स्त्री भी आयी है। इस कामना को डॉ० नगेन्द्रने 'नारी के बाह्य-रूप की तस्वीर' कहा है और बताया है कि वह अधूरी—चंचल, विमुग्ध और मोहक है।'[2] यह कामना, अवकाश प्राप्त जज—मि० टंडन की ग्रैजुएट कन्या और विलास की दोस्त है। उसने बताया है कि 'वह सदा एक भ्रमित पथिक की भाँति भटकती रही है। लोगों ने उसे अपने कपटाचरण का शिकार बनाया है'[3] और जीवन में उसने जितना कुछ देखा और भोगा है, उसके प्रमाण पर अब वह यही समझ पायी है कि 'पुरुष जाति से परे नारी की गति नहीं है'।[4] कामना जानती है कि कल्पना का जीवन-विषयक अनुभव कच्चा है। इस अर्थ में वह अबोध है।[5] वह पुरुष-समाज का संहार करना चाहती है लेकिन यह नही जानती कि यह असम्भव है और साथ ही स्वयं नारी के हितों के विरुद्ध भी है। यह इसलिए कि नारी पुरुष से स्वाधीन हो कर पूर्ण नहीं हो सकती। उसे पूर्णता की प्राप्ति के लिए पुरुष की अनिवार्य अपेक्षा है। कामना यह भी मानती है कि स्वयं पुरुष भी नारी-शक्ति के बिना अपूर्ण होता है।[6] इसलिए पूर्ण होने के लिए दोनों को परस्पर सहयोग करना ही पड़ेगा। कामना का जीवनानुभव कल्पना की ही तरह जब कच्चा था तब वह भी पुरुष को नारी जाति के लिए एक अभिशाप ही समझती थी। लेकिन फिर उसके विचार बदले और उसने यही उचित समझा कि वह बिना सोच-विचार किये, बिना मीन-मेख किये अपने को पुरुष के आगे अर्पित कर दे।[7]

कामना और कल्पना के प्रमाण पर यह सिद्ध होता है कि आज की नारी पुरुष के पैरों की जूती बन कर रहना नहीं चाहती—इसमें उसका स्वाभिमान कुंठित होता है। लेकिन वह यह नहीं जानती कि नारी स्वाधीन हो कर, पुरुष की बेड़ी से मुक्त हो कर, कैसे रहे। इसी से कामना स्वाधीनता का विचार त्याग कर फिर पुरुष के आगे अर्पिता हो जाती है। कल्पना को कामना का अनुभव प्राप्त नहीं है। इसलिए वह कुछ समय तक चक्कर काटने के लिए विवश है।

अपनी छोटी-सी आदमनी से कल्पना को बलराज जब सन्तुष्ट न कर सका तब वह पैसे पैदा करने के उद्देश्य से बम्बई चला जाता है। वहाँ से वह दो सौ रुपये प्रति-माह कल्पना के पास भेज देता है ताकि कल्पना को जीवन-यापन-विषयक संघर्ष झेलना न पड़े। इस प्रकार कल्पना को एक अवसर मिलता है, जब वह स्वाधीन हो कर रह सकती है। पुरुष का उसके ऊपर कोई अंकुश नहीं है। लेकिन इस पर भी वह सुखी नहीं है।

ऐहिक सुख-भोग को जीवन का चरम फल समझने वाली कल्पना को

---

१. छलना—भ० प्र० बाजपेयी—पृष्ठ ४७
२. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ६०
३. ४ ५. ६. ७. छलना—भ० प्र० बाजपेयी—पृष्ठ ४६, ४७, ४८ ४८,४८

विलास भी अपने से उलझाये न रख सका, जिसको आधुनिकाओं को अपनी ओर खींच लेने की चुम्बक-शक्ति प्राप्त थी। इससे यह मालूम होता है कि आधुनिक स्त्री विद्रोहिणी हो कर भी विवाहिता के संस्कार को छोड़ नहीं पाती। कल्पना को अपनी पति से लाख शिकायत हो लेकिन अन्ततः वह पत्नी है और इस सीमा का विस्मरण वह नहीं कर पाती। यह भी यही सिद्ध करता है कि आज की नारी पुरुष से स्वतंत्र होना तो चाहती है लेकिन वह यह नहीं जानती कि स्वतंत्र हो कर रहे कैसे। डॉ० नगेन्द्र ने सुझाया है कि कल्पना विलास को इसलिए प्राप्त नहीं हुई कि उसमें कल्पना को वह पौरुष नहीं दीखा, जिसके आगे नारी प्रणत होती है।[1] डॉ० नगेन्द्र के अनुसार बलराज में वह पौरुष था और इसी से कल्पना उससे असन्तुष्ट हो कर भी उसके प्रति श्रद्धा रखती है ?[2] हमें तो ऐसा दीखता है कि कल्पना को बलराज के उस पौरुष से भी शिकायत है, जो अपनी विवाहिता पत्नी की एषणाओं को तृप्त न कर सके। उसने कहा ही है कि बात कहने की नही है लेकिन यदि वह सोचे-कहे कि बलराज में अपनी पत्नी को सुखी रख पाने की शक्ति-सम्पन्नता नहीं थी तो विवाह ही उसने क्यों किया—तो यह कहाँ ग़लत है।[3] स्थिति यह है कि एक ओर कल्पना की महत्वाकांक्षा उसे अपनी मामूली-सी गृहस्थी में सुखी नहीं होने देती और अपने पति से असन्तुष्ट बनाती है तथा दूसरी ओर उसका संस्कार उसे विलास की काम-पुत्तलिका बनने से रोकता है। इस प्रकार वह दोनों ओर से छली जाती है। वह नहीं जानती वह क्या करे। नाटककार ने कल्पना के इस द्वन्द्व के सहारे आज की सभ्यता के उस निकट द्वन्द्व को मुखर किया है, जिसकी ओर पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने नाटक की प्रस्तावना में इशारा किया है।

आज के युवा-समाज का लक्ष्य ही अनिर्दिष्ट है। कल्पना नहीं जानती कि उसे कहाँ जाना है। जीवन के अनुभवों से बहुत कुछ सीखने वाली कामना का लक्ष्य भी वैसे ही अनिर्दिष्ट है। विलास का जीवन भी लक्ष्य-हीन है। वह मृग-मरीचिका के पीछे सारी ज़िन्दगी दौड़ता रहा है और उसी के पीछे अन्त में जान भी गँवा डालता है। इन पात्रों के जीवन का कोई आदर्श नहीं है। इससे इनका जीवन भाग-दौड़ का है और इनमें कोई सुखी नही है। आज की सभ्यता की यही सबसे बड़ी विडम्बना (ट्रैजेडी) है।

इस नाटक में चम्पी नामक एक और स्त्री आयी है, जिसे उसके पति ने घर से निकाल दिया है और आज वह भीख माँग कर गुज़ारा करती है। अपने ही समान दूसरे भिखमंगों के बीच वह सड़क के किनारे, खुले आकाश के नीचे रातें गुज़ारती है। पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने यह प्रश्न खड़ा किया है कि अपनी परिस्थितियों से समझौता कर लेने वाली चम्पी को क्या हम कल्पना के प्रश्न का उत्तर कह सकते हैं। वह चम्पी न तो कामना की तरह सुशिक्षिता है और न कल्पना की तरह प्रबुद्ध आधुनिका। इससे नारी के अधिकारों के विषय में उसे कोई चिन्ता नहीं है। उसके हृदय में विलास की

---

१. २. आधुनिक हिन्दी नाटक—डॉ० नगेन्द्र—पृ० १७

कोई कल्पना अवशिष्ट नहीं है। कामना और कल्पना के मुकाबले उसका जीवन अधिक सन्तोषपूर्ण है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में, 'उसका जीवन आधुनिक नारियों की भाँति, न कर्महीन और एकाकी है और न लक्ष्यहीन, उच्छृंखल।'[1] द्विवेदी जी ने बताया है कि आज की मुख्य समस्या तो यह है कि मध्यवित्त परिवार का पति बहुत व्यस्त है और पत्नी एकदम कर्महीन। आज पत्नी को रंधनशाला से छुट्टी मिल गयी है, बच्चों से फ़ुर्सत है, व्रत-उपवास के बखेड़े में वह पड़ती नहीं, भजन-भाव से कोई रिश्ता नहीं। ऐसी स्थिति में प्रश्न है, वह करे क्या?[2] इनके विपरीत चम्पी है, जो जीवन के लिए संघर्ष करती है और परिस्थितियों के साथ समझौता करके किन्हीं अर्थों में सुखी भी है, कम-से-कम कल्पित अभावों के भार के नीचे कल्पना की तरह पिसती तो नहीं। तो क्या चम्पी की अवतारणा नारी-जीवन के आदर्श की प्रतिष्ठा के निमित्त हुई है? नहीं, उसे यदि नारी-जीवन का सहज आदर्श कहा जायगा तो जैसा कि आचार्य द्विवेदी ने कहा—'आधुनिक पाठक विद्रोह के साथ कहेगा—अज्ञान निर्द्धारित सन्तोष से ज्ञान-चालित असन्तोष हजार गुना श्रेष्ठ है।'[3] हमें तो ऐसा लगता है कि नाटककार ने सन्तोष-वृत्ति की एक हल्की-सी झाँकी प्रस्तुत करने के उद्देश्य से चम्पी की अवतारणा की है। दुख उसके जीवन में कम नहीं है। इस दुख को वह कर्म-संघर्ष में पड़ कर भुलाती है। नाटककार कहना चाहते है कि कर्महीन जीवन दुख की अनुभूति को और भी तीव्र करता है। चम्पो से उसकी कर्मण्यता और उसकी सन्तोषवृत्ति यदि आधुनिक स्त्री ग्रहण कर सके तो उसे थोड़ी राहत मिलेगी। फिर भी हमारी सभ्यता की जो मुख्य समस्या है—जिसका अनुभव आज के प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को होता है—उसके समाधान का संकेत चम्पी के चरित्र में नहीं है—यह कहना भी एकदम ठीक है। द्विवेदी जी ने कहा ही है—'चम्पी लेखक का समाधान नहीं है।'[4] सबसे बड़ी बात तो यही है कि चम्पी के आगे यह समस्या ही नहीं है, जो कल्पना के आगे है अथवा स्वयं युग के आगे है।

'छलना' को नाटककार ने, 'पुरुष, नारी, कल्पना, कामना, निद्रा, विलास आदि भाववृत्तियों का एक कला पूर्ण रूपक'[5] कहा है। इसके पात्र सामाजिक धरातल पर खड़े हो कर भी भावों के प्रतीक हैं। इस तरह इसमें एक ओर आधुनिक युग की एक बड़ी समस्या—पुरुष और नारी के सम्बन्धों की समस्या—की प्रस्तुति हुई है तो दूसरी ओर इस प्रश्न का विचार भी किया गया है कि आज मनुष्य का जीवन इतना दुखी क्यों है।

प्रश्न की तात्कालिकता को नाटककार ने सतही तौर पर छुआ है। नारी और पुरुष का संघर्ष बाजपेयी जी को एक तरह से व्यर्थ दीखता है पुरुष यदि अपनी अहमन्यता में यह समझे कि नारी हीन है तो वह निश्चय ही भूल करता है। नारी, पुरुष के जीवन में

---

१. २. छलना—प्रस्तावना (२) पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० ढ

३. ४. छलना—प्रस्तावना (२) पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृ० ङ

५. छलना—पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी—मुख-पृष्ठ

उदित हो कर उसे पूर्ण बनाती है, ऊपर उठाती है । इस नाटक में नारी को पुरुष की प्रेरणा, साधना और अन्तरात्मा की ज्योति[1] के रूप में उपस्थित किया गया है । 'छलना' का नवीन अपने ही उदाहरण से इस सत्य का अनुभव करते हुए कहता है—'नारी में ही वह शक्ति और क्षमता है कि मेरा जैसा पशु भी मनुष्य बन सकता है ।'[2] और फिर कल्पना की पवित्रता के तेजबल के कारण हो तो विलास की वासना क्षार होती है । इस प्रकार नारी-शक्ति ही इन पुरुष-पात्रों के अधूरेपन को दूर हटा कर उन्हें पूर्ण बनाती है । ऐसी नारी की पुरुष को कितनी अपेक्षा है, नहीं कहा जा सकता ।

नाटककार ने कल्पना के प्रमाण पर यह भी बताया है कि आज की नारी पुरुष से स्वतंत्र हो कर रहने की इच्छा तो रखती है लेकिन सत्य यह है कि वह रह नहीं सकती । कामना ने इस सत्य को अपने जीवन के विविध अनुभवों के सहारे बहुत अच्छी तरह समझ लिया है और पुरुष जाति के संहार की कामना करने वाली विद्रोहिणी कल्पना भी तो अन्ततः यही समझ पाती है कि वह अपने पति के बिना नहीं रह सकती । कहना नहीं होगा कि स्त्री-पुरुष की समस्या को नाटककार, न तो मुखर कर पाया और न उसका कोई उचित समाधान ही ढूँढ़ पाया । इसी से हम ऐसा समझते है कि प्रश्न को उसने सतही तौर पर ही ग्रहण किया है ।

नाटक का मूल प्रश्न पुरुष और नारी के सम्बन्धो की समस्या नहीं है । मुख्य प्रश्न तो यह है कि वर्तमान सभ्यता में आदमी विकास क्यों नही कर पा रहा है, आज हमारा जीवन इतना दुःखपूर्ण क्यों है। नाटककार का कहना है कि आज का हमारा जीवन आदर्श-हीन हो कर निर्लक्ष्य हो गया है। यही निर्लक्ष्यता कल्पना के हृदय में एषणाओं का तूफ़ान खड़ा करती है, उसे विलास के इर्द-गिर्द चक्कर काटने के लिए विवश करती है और प्राप्त से असन्तुष्ट बना कर अप्राप्य की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ाती है । विलास की कभी तृप्त न होने वाली यही आकांक्षा उसे अपनी गृहस्थी के प्रति विद्रोहिणी भी बनाती है । भौतिकता की यही अतृप्ति कामना को भी यहाँ-से-वहाँ भरमाती है और विलास भी इसी मृग-मरीचिक की भेंट चढ़ जाता है । 'छलना' के इन सारे पात्रों के मुकाबले खड़ा है बलराज, जो आदर्श का मूर्त रूप है । वह जानता है कि कामनाओं की कोई सीमा नही होती और मनुष्य की शक्ति की एक निश्चित सीमा है । बलराज अपने से सन्तुष्ट है, अपने आप में पूर्ण भी है ।[3] यह इसलिए कि उसे यह मालूम है कि मनुष्य की कामना क्या वस्तु होती है और उसकी मरीचिका में पड़ कर आदमी कितना दुःख भोगता है । इससे वह कामना के आगे घुटने नहीं टेकता[4] कल्पना की रंगीनी में अपने को नहीं ले जाता । वह अभावों से परे हो जाता है[5] और इसलिए दुःख की मलिन छाया उसे स्पर्श कर मथित-चालित नहीं कर पाती । अपने से सन्तुष्ट, अपने में पूर्ण इस आदर्श व्यक्ति के संसर्ग में आ कर कामना के सारे उतरोल भाव शान्त पड़ जाते हैं, जिन्दगी का एक किनारा उसे मिल जाता है । इस आदर्श की प्रतिभिज्ञा के

उपरान्त कल्पना के हृदय के सारे उद्वेग शान्त पड़ जाते हैं। उसके आगे से अन्धकार का पर्दा हट जाता है[1] और वह यह अनुभव करती है कि शारीरिक भोग के परे जो आत्मिक आनन्द होता है, वही मुख्य है। इस आदर्श के जीवन में उदित होते ही विलास अन्तर्धान हो जाता है। इसी से नाटकीय कथा यह बताती है कि बलराज के पहुँचते ही विलास आत्मघात कर लेता है। और उधर कल्पना की गवाही है—'मैं सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं को देख कर उनको प्राप्त करने के लिए तरस रही थी। मैं सोचती रहती थी, क्या ऐसा भी कोई दिन होगा, जब मैं इन सारी प्यारी वस्तुओं का उपभोग करूँगी! किन्तु मैंने अनुभव किया, उनके बिना इस वस्तुओं की प्राप्ति का कोई महत्व नहीं है। नितान्त क्षुद्र हैं ये!'[2]

इस प्रकार नाटककार ने बताया है कि हम यदि अपने जीवन के आदर्श को स्थिर कर लें, अपनी सीमाओं को पहचान लें और जीवन को उसकी सीमाओं के साथ ग्रहण कर लें तो फिर हमें, न तो अपने से शिकायत होगी और न किसी दूसरे से हमारा संघर्ष ही होगा। अपनी आकांक्षाओं को अनन्त बना कर जब व्यक्ति चलना चाहता है तब उसका दूसरों के साथ संघर्ष अनिवार्यतः होता है। बलराज इसी से यह चाहता है कि हमारी आकांक्षाएँ थोड़ी हों। कहना नहीं होगा कि नाटककार उद्दाम लालसाओं के व्यक्तिवाद का विरोधी है और वह 'जियो और जीने दो,' के आदर्श का पोषक है। आज की भाग-दौड़ वाली सभ्यता से उसे इसीलिए विरोध है और वह चाहता है कि मनुष्य एक ऐसे समाज का विधान करे, जिसका आधार न्याय और प्रेम हो।

●

१. २. छलना—भ० प्र० बाजपेयी—पृ० १०४, १०५

पंडित रामदीन पांडेय

मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार) के ग्रियर भूमिहार ब्राह्मण कॉलेज (सम्प्रति, लंगट सिंह कॉलेज) के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष पंडित रामदीन पांडेय ने कुछ ऐसे एकांकी नाटक लिखे, जिनमें समाजगत स्थितियों की ओर संकेत किया गया है ?[1] अपने संकलन 'जीवन-ज्योति' के प्राक्-कथन में पंडित जी ने बताया है कि इन नाटकों के लिखने की प्रेरणा उनको भारतीय समाज और संस्कृति से प्राप्त हुई ।[2]

संकलन के 'बलिदान' और 'परख' के कथानक पंडित जी को अपने ही कॉलेज के वातावरण से प्राप्त हुए थे—ऐसा हमारे जैसे उनके निकट-परिचय के व्यक्तियों का विश्वास है ।

बलिदान : राष्ट्र के बन्धन-मोचन के लिए जो संघर्ष चला था, उसमें बिहार के छात्रों ने बड़ा शानदार हिस्सा बटाया था । उन दिनों मुज़फ़्फ़रपुर के ग्रियर भूमिहार ब्राह्मण कॉलेज के ऊपर सरकारी नियंत्रण था और उसके प्राचार्य तथा प्राध्यापक सरकारी नौकर थे । इधर उसमें पढ़ने वाले छात्रों के आगे देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा आचार्य कृपलानी जैसे लोगों का, जो इस कॉलेज के प्राध्यापक रह चुके थे, आदर्श था । इससे राष्ट्रीय आन्दोलन की [illegible] लहर भी उमड़ कर कॉलेज के किलेनुमा भवन की ऊँची, मज़बूत दीवालों से जा कर टकराती थी और आये दिन हड़ताल हुआ करती थी । अपने अनुभव की सच्ची घटनाओं के प्रमाण पर पंडित जी ने इस एकाकी की कथा का निर्माण किया है । उनके 'बलिदान' शीर्षक एकांकी में कथा आयी है कि ऐसे ही किसी अवसर पर कॉलेज के प्राचार्य महोदय की सुख-शान्ति खतरे मे पड़ गयी । विद्यार्थियों ने किसी दिन निश्चय किया कि वे कॉलेज मे हड़ताल रखेंगे और कॉलेज के हॉल (सभास्थल) के शिखर पर अवस्थित ध्वज-दंड पर—जिस पर प्राचार्य महोदय खास-खास अवसरों पर अंग्रेज़ों का यूनियन जैक टाँगते थे—राष्ट्र-ध्वज-तिरंगा लहरायेंगे । बस बात-की-बात में सीढ़ी का बन्द कपाट खुल गया और

१, २. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—प्राक्-कथन—पृष्ठ ग, घ

विद्यार्थियों का विजयी-विश्व तिरंगा लहरा उठा। वर्ग-कक्ष सूने पड़ गये और सरकार-विरोधी नारों से कॉलेज का प्रांगण गूँज उठा। प्राचार्य जी को लगा कि बस सरकार खतरे में पड़ गयी और वे अपनी ओर सरकार की सहायता के लिए [illegible] पुलिस बुला लेते हैं। इधर उनके अनुशासन में पड़े प्रोफ़ेसर लोग दस-पाँच राष्ट्रद्रोही, अंग्रेज़-परस्त मुसलमान छात्रों को वर्ग-भवन मे उलझाए रखने के लिए विवश है। प्राचार्य के संकेत पर विद्यार्थियों का दमन शुरू हो जाता है। इस दमन का अन्तिम परिणाम भुगतना होता है विमल नामक छात्र-नेता को, जो देश को आज़ादी के लिए अपने सुनहले भविष्य का बलिदान करता है।

पंडित जी को जिस दमघोंटू वातावरण में अध्यापनकार्य करना पड़ता था, उसकी समस्या है कि क्या कोई शिक्षण-संस्था सरकारी नियंत्रण में पड़ कर शिक्षण-संस्था नहीं रह जाती और सरकारी मुहकमा बन जाती है? शिक्षक सरकारी नौकर हो कर क्या शिक्षक के महान उत्तरदायित्व से मुक्त हो कर सरकारी यंत्र का एक पुर्ज़ा हो जाय? पंडित जी की दृष्टि में शिक्षण-संस्था की अपनी एक गरिमा होती है—उसके प्रांगण की अपनी ही एक पवित्रता होती है और शिक्षा का उद्देश्य ही होता है शिक्षार्थी को प्रबुद्ध-मानस बनाना। पंडित जी ने सखेद देखा है कि प्राचार्य को पुलिस अधिकारी के याद दिलाने पर भी इस बात का अनुभव नहीं होता कि शिक्षण-संस्थाओं में डंडे के ज़ोर से काम लेना अनुचित है। अपने ही अहाते में अपने ही विद्यार्थियों पर पुलिस से लाठी-प्रहार कराना अमानुषिक है।[1] लेकिन प्राचार्य को तो तब तक चैन नहीं है, जब तक छात्र-नेता दो-तीन वर्ष के लिए कैद में डाल न दिये जायें। अपने कॉलेज को चलाने के लिए उसे सरकार की मदद से राष्ट्रभक्त छात्रों को बर्बाद करना ही होगा—ऐसा उसका दृढ़ विश्वास है।[2] इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसे अपनी संस्था के अपने अधीनस्थ कर्मचारियों और गम्भीर वर्मा जैसे प्राध्यापकों को झूठी गवाही देने के लिए विवश करना ही पड़ेगा। पंडित जी को गम्भीर वर्मा की दयनीय विवशता पर पीड़ा होती है। लेकिन बेचारा गम्भीर वर्मा भी करे तो क्या करे? उसको प्राचार्य ने साफ़-साफ़ कह दिया है—आप यह भी गाँठ बाँध लें कि यदि आप की गवाही के कारण यह मुकदमा खराब हुआ तो आपकी बिदायी इस विद्या-मन्दिर से सदा के लिए हो जायेगी।[3] इस पर बेचारा गम्भीर, साहब को कैसे नाखुश कर सकता है? उसको भी दो रोटियाँ चाहिएँ और फिर अपने आश्रितों को वह कहाँ रख आये! पंडित जी के आगे समस्या है कि ऐसी शिक्षण-संस्थाओं से भला कौन-सा उद्देश्य पूरा हो सकता है? देश के बुद्धिजीवियों की जहाँ ऐसी दुर्गति हो, वहाँ भविष्य के लिए कौन-सी आशा बची रहती है? कहना नहीं होगा कि पंडित जी का विवेक स्थिति के प्रति विद्रोह करता है और प्रेरणा देता

---

१. २. ३. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—अपने आहाते में लाठी का प्रहार, वह भी अपने लड़कों पर! इसे आप पसन्द करेंगे? पृष्ठ १६, १६, २०

कि झूठ के इस कारखाने की कलई वे खोल कर रख दें। 'बलिदान' इसी प्रेरणा का परिणाम है।

स्वयं पंडित जी बिहार शिक्षा-सेवा के सरकारी नौकर थे। लेकिन सरकारी नौकर हो कर सरकारी नौकर की लीक से हट कर ऐसे विचार रखने वाले को 'टैक्टलेस' ही तो समझा जा सकता था। पंडित जी ने अपने 'परख' शीर्षक एकांकी में अपने ही जैसे एक 'टैक्टलेस,' अनाड़ी अध्यापक की कथा कही है।

परख : पूर्णेन्दु नामक एक कुशाग्र-बुद्धि, मेधावी तथा परिश्रमी अध्यापक है, जो अपने पद पर तक बग्र स्थायी नियुक्ति पाकर पदस्थापित नहीं हो पाया है। वह एक ऐसे मुफ़स्सिल कॉलेज में काम करता है, जहाँ वह शोध नहीं कर पाता। उसके अपने कॉलेज में न ऐसा कोई प्रतिभावान् योग्य अध्यापक है, जिसके मार्ग-दर्शन पर चल कर वह शोध-कार्य कर सके और न पुस्तकालय ही इतना समृद्ध है कि वह स्वयं अपने बल पर आगे बढ़े। इसलिए वह चाहता है कि उसे राजधानी के कॉलेज में स्थानान्तरित कर दिया जाय। इसी आकांक्षा को लिये हुए वह शिक्षा-विभाग के निदेशक महोदय के (जो अंग्रेज़ हैं और जिनके अधीन पूर्णेन्दु को कार्य करने का अवसर पहले भी मिल चुका है) यहाँ उपस्थित होता है। उसके प्राचार्य को उसके इस आचरण पर आपत्ति है कि वह बिना उनसे आज्ञा लिये शिक्षा-निदेशक से मिलने आया। प्राचार्य की आँखों पर चढ़ जाने के कारण पूर्णेन्दु को अपनी आठ वर्षों की नौकरी से ग्रीष्मावकाश की अवधि में थोड़े समय के लिए अलग होना पड़ता है और इस प्रकार उसकी सेवा का क्रम टूट जाता है और तदनुसार अपनी वेतन-वृद्धि की आठ किश्तों से उसे वंचित होना पड़ता है। प्राचार्य ने चिढ़ कर उसकी सेवा-पुस्तिका में गुप्त विवरण यह दे दिया है कि वह अपने विभागीय अध्यक्ष से झगड़ता है और साथ ही अपने सहयोगियों के प्रति भी संयत आचरण नहीं रखता। इस प्रकार यह विद्याव्यसनी मेधावी अध्यापक सिर्फ़ इस कारण मुसाबत में फँस जाता है कि उसे अपने प्राचार्य को ख़ुश रखने की चतुराई नहीं आती। स्थिति यह है कि शिक्षा-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी—डी० पी० आई० यह जानते-समझते हुए भी कि पूर्णेन्दु बहुत ही अध्ययनशील व्यक्ति है, प्रतिभावान है और सब तरह से स्वयं केन्द्रीय कॉलेज में विभागाध्यक्ष होने योग्य है, उसे प्राचार्य के गुप्त विवरण की मार से बचा नहीं पाता। सेवा-पुस्तिका के गुप्त विवरण की ऐसी ही महिमा है। पंडित जी ने नाटक में आगे यह भी बताया है कि यदि गुप्त विवरण प्रतिकूल हो तो वह फिर कैसे ठीक होता है। पूर्णेन्दु प्राचार्य की सेवा में एक दिन शुद्ध घी पहुँचाता है, उनकी कन्या के लिए कीमती बढ़िया साड़ी और अँगूठी भेंट करता है और आनन-फानन में उसका दुःख दूर हो जाता है। शिक्षा-विभाग में होने वाली इन मनमानियों को पंडित जी ने उनकी सारी विकृतियों के साथ देखा था और यह सब कुछ देख-सुन कर वे जैसे विह्वल हो उठते थे। स्वयं पंडित जी राजधानी में पहुँच कर अपना शोध-कार्य सम्पन्न करने का सपना ही देखते-देखते सेवा-निवृत्त हो गये। इस नाटक की समस्या की ओर

संकेत करते हुए डॉ० रामचरण महेन्द्र ने कहा है—'परख' एकांकी में भारतीय 'ऑफ़िशियल' जीवन की व्यंग्यात्मक झाँकी उपस्थित की गयी है। शिक्षा-विभाग जैसे पवित्र कार्यालय में भी चाँदी अपना-महत्व रखती है और कैसे जीवन को विकृत कर देती है यह चित्रित किया गया है।[१] समस्या तो इसके भी आगे बढ़ कर यह है कि एक शिक्षक से अपेक्षा क्या की जानी चाहिए—उसे मेहनती, ईमानदार एवं प्रतिभावान अध्यापक होना चाहिए अथवा यह सब छोड़ उसे प्राचार्य का ख़ुशामदी टट्टू होना चाहिए। स्पष्ट है कि शिक्षक के पास ख़ुशामद करने के लिए समय नहीं हो सकता और ख़ुशामदी टट्टू को अपनी योग्यता को बढ़ाने की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। शायद उसके पास पढ़ने-लिखने के लिए समय भी नहीं होगा। तो क्या, यह दोष हमारे उस ज़माने के शिक्षा-विभाग के अंग्रेज़ अधिकारियों का दिया हुआ था? नहीं, 'परख' नाटक के अंग्रेज़ डायरेक्टर मि० शॉ को तो हिन्दुस्तानी आदमियों की अतिशयोक्ति, उनके तिल के ताड़ बनाने, राई को पर्वत कहने पर आपत्ति ही है।[२] अंग्रेज़-शासन लाख बुरा था लेकिन मर्यादा के प्रति उसका एक प्रकार का आग्रह सदा रहा करता था। बुरे दरअसल हिन्दुस्तानी अधिकारी थे, जो ख़ुशामद करते थे और चाहते थे कि दूसरे भी उनकी ख़ुशामद करें। अंग्रेज़ अधिकारी मूलशंकर जैसे व्यक्ति के हिमायती नहीं हो सकते थे। उनकी दृष्टि में प्राचार्य-पद का अधिकारी प्रो० ध्रुव जैसे लोग ही थे, जिनकी ख्याति देश की सीमा लाँघ कर विदेशों में फैल गयी हो। वे पूर्णेन्दु जैसे उदीयमान नवयुवक की सब तरह की सहायता कर सकते थे, उसे प्रोत्साहित कर आगे बढ़ाते थे। वे मूलशंकर की तरह घी, साड़ी और अँगूठी की तुला पर अपने अधीनस्थ कार्यकर्त्ताओं की प्रतिभा नहीं तौलते थे। स्पष्ट है, पंडित जी को जो शिकायत है, वह अपने ही देश-वासियों से है। यह इसलिए कि वे अंग्रेजों की कुर्सी पर पहुँच कर अपना धर्म, ईमान कर्त्तव्य और-तो-और मनुष्यता भी खो देते थे। ऊपर विवेचित दोनों नाटकों से यही संकेत मिलता है।

जीवन का एक पृष्ठ : कॉलेज के छात्रों से घनिष्टतम परिचय होने के कारण पंडित जी को उनके गुण-दोषों का पक्का पता था। 'जीवन का एक पृष्ठ' एकांकी में उन्होंने शैलेन्द्र नामक एक ऐसे धनी-मानी छात्र को प्रस्तुत किया है, जो स्थिर-चित्त नहीं है। कभी तो सोचता है कि शंकर, विवेकानन्द और ऋषि दयानन्द की भाँति ब्रह्मचर्य के बल से जीवन में बहुत ऊपर उठ जाय और कभी सोचता है कि वैवाहिक जीवन भी जीवन की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके विकास के मार्ग में बाधक कहाँ है?[३] सच्ची बात तो यह है कि वह पाखंडी है। बाहर से सदाचार का ढोंग रचता है और भीतर दुष्प्रवृत्तियों का शिकार बना रहता है। एक ओर तो

---

१. हिन्दी एकांकी—उद्भव और विकास—डॉ० रामचरण महेन्द्र—पृष्ठ ४०५

२. ३. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—पृष्ठ २७, ३७

ब्याह के नाम से चिढ़ता है और दूसरी ओर जब उसके मित्र उसे समझाते हैं कि आधुनिक लोकाचार्यों की दृष्टि में 'जर, जमीन और जोरू'—ये ही जीवन के सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य समझे जाते हैं तो उनसे सहमत होते हुए कहता है—तुम्हारे कथन में तर्क है।[1] यह शैलेन्द्र ऐसा घुटा हुआ है कि हेमलता नामक कॉलेज की मनस्विनी छात्रा के नाम गुप्त रूप से चिट्ठियाँ भेजता है। पंडित जी इस शैलेन्द्र को अपनी क्षणिक दुर्बलता से ऊपर उठाते हैं। उसे अपने किये पर पछतावा होता है और वह भी समझ जाता है कि पर-स्त्री को माँ और बहन के रूप में ही देखना चाहिए। यही नहीं, बल्कि शैलेन्द्र का मित्र शंकर उसे यह भी बताता है कि छात्रों को परिमित भोजन, सीधी-सादी पोशाक तथा सरल जीवन अपनाना चाहिए। गुरु, अतिथि, विद्वान की पूजा करना भी हमारा कर्त्तव्य है।[2]

इस विवरण से स्पष्ट है कि पंडित जी यह समझते हैं कि जब कॉलेज में लड़के-लड़की साथ पढ़ेंगे तो ऐसा सम्भव है कि शैलेन्द्र जैसा कोई छात्र हेमलता जैसी किसी छात्रा के नाम चिट्ठी लिख दे। उसके इस अपराध का दंड फिर क्या हो ? पंडित जी दंड के पक्षधर नहीं हैं। वे चाहते हैं कि ऐसे दुर्वृत्त छात्र के सद्विवेक को जगाया जाय, उसे अनुभव कराया जाय कि उसने कैसा अपराध किया है। छात्रों के समाज में दंड-विधान की सार्थकता और उपयोगिता के प्रति पंडित जी का विश्वास नहीं है।

इस नाटक में पंडित जी ने शैलेन्द्र के नौकर को एक निश्चित उद्देश्य से प्रस्तुत किया है। नौकरों को गाली देना, उनको मारना-पीटना उस ज़माने के रईसों का नित्य-कर्म था। देश में आजादी की लहर के उमड़ने के परिणाम-स्वरूप सदा के सताये हुए इन नौकरों को भी अपने अपमान पर आपत्ति करने का होसला होने लगा। शैलेन्द्र का नौकर कहता ही है—'रौवें हंटर देखले हईं कि और केहु। सँभर कर बोलीं—न तो हमरो मुँह से एक-दू गो सलोक निकल जाई। अब ऊ जमाना पार भइल। अधिक लाल ताँत न होईं। नही तो हमहूँ कुछ करे खातिर तैयार हो जाइब।'[3] कहना नहीं होगा कि देश में व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में अपने अपमान पर आपत्ति करने का भाव और बल आ गया है।

प्रेम का पागलपन : पंडित जी अनुभव कर रहे थे कि ज़माना ठीक बदल रहा है। आने वाले ज़माने में आभिजात्य अपने में कोई गुण नहीं रह जायेगा और उसको सीढ़ी के सहारे उन्नति के मार्ग पर नहीं बढ़ा जा सकेगा। अपने इसी विचार को 'प्रेम का पागलपन' शीर्षक एकांकी में पंडित जी ने रखा है। उस नाटक का युवराज अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि 'समाज में निम्न-स्तर में उत्पन्न होने के कारण एक हेय नहीं समझा जा सकता और न दूसरा उच्च धरातल में स्थित होने के कारण अर्चनीय हो सकता है। चरित ही मनुष्य को देव और दैत्य के रूप में परिणत कर देता है।'[4]

---

१. २. ३. ४. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—पृ० ३८, ४४, ४२, ५५

टायफ़ॉड : हमारे समाज में अल्प-वयस लड़के-लड़कियों का जो विवाह होता था, पंडित जी उसे पसन्द नहीं करते। 'टायफ़ॉड' शीर्षक एकांकी में निर्मला की सखी कहती ही है—'एक तो कली के खिलने के पूर्व उसे स्नेह-सूत्र में बाँध देते हैं और दूसरे उस कली के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण का भी सृजन नहीं करते।'[1] जागरण की चेतना का प्रभाव कोमल-मति इन कलियों को भी प्रभावित कर रहा है और वे भी आज इस बात की फ़िक्र नहीं करती कि द्विरागमन के पूर्व पत्नी के पति से मिलने जाने पर पुरातनपंथी बुरा मानेंगे। निर्मला अकेली ही घर से पति से मिलने के लिए चल पड़ती है। वह डट कर कहती है मर्दों को कोई दुम तो होती नहीं। जो पुरुष कर सकता है, उसे स्त्री भी करने में समर्थ है। स्पष्ट है, निर्मला नये विचारों से प्रभावित है और समाज के दोषों को अंगीकार कर चलने वाली अवश अबला नहीं है।

पंडित जी ने इस नाटक में सरकारी अस्पतालों के यथार्थ को भी खोल कर रख दिया है। डॉक्टर रोगो की परवाह नहीं करते। जिस रोगी से पैसे मिलते हैं, उसकी सारी तीमारदारी होती है, दूसरे रोगी जियें कि मरें इससे अर्थ-पिशाच सरकारी डॉक्टरों को कोई मतलब नहीं होता। डॉक्टरों का इस अर्थ में ऐसा पतन हो जाता है कि अपने सगे-सम्बन्धियों को भी वे पूछते नहीं, सिर्फ़ इसलिए कि उनसे वे पैसा नहीं पा सकते। समस्या-नाटककारों को अपने समाज से जैसी शिकायत रहती है, पंडित जी को भी वैसी ही शिकात है।

उलट-फेर : पंडित जी के इन नाटकों की रचना के समय तक देश में प्रान्तीय क्षेत्र में स्वशासन की परम्परा चल पड़ी थी। जनता के जाने-माने नेता सरकार बना कर बैठ गये थे। केन्द्र में भी अस्थायी अन्तरिम सरकार बन चुकी थी और जनता ने अपनी इस सरकार से बड़ी-बड़ी उम्मीदें बाँध रखी थीं। सरकार चलाने वाले लोग त्याग-मूर्ति गाँधी जी के अनुयायी थे। इससे आशा तो की जाती थी कि देश में न्याय रहेगा, शान्ति रहेगी। लेकिन ऐसा कुछ उलट-फेर हो गया कि गाँधी जी के चेले ही 'असाधु और स्वार्थी' सिद्ध[2] होने लगे। पंडित जी के 'उलट-फेर' नाटक में राजदेव प्रसाद नामक एक कांग्रेसी नेता का उल्लेख हुआ है। यह राजदेव धारा-सभा का सदस्य है, ज़िले के हाकिमों पर इसकी धाक है। वह इस प्रभाव का दुरुपयोग करता है; न्याय-विधान में हस्तक्षेप करता है और आज उसकी पाँचों उँगलियाँ घी में है। हरभंगपुर रियासत में उसकी बीवी के नाम से सैकड़ों बीघे जमीन रैयती हो गयी है, जंगल का ठीका भी उसे मिल गया है और साथ ही दो-चार लारियाँ भी इसके सगे-सम्बन्धी चलाने लगे हैं। ऐसे उत्पथगामियों की संख्या दिनानुदिन बढ़ रही है और यह संख्या-वृद्धि देश के लिए एक बड़ी समस्या हो रही है। इस नाटक का पुलिस साहब तो इतना भिन्ना गया है कि कहता है कि 'इस कांग्रेसी राज्य में काम करना कठिन हो गया है। मेरी तो रह-रह कर यही इच्छा होती है कि मैं इस पद से हट जाऊँ।'[3]

१, २, ३. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—पृष्ठ ६०, ७१, ८०

न्याय के लिए जो तन्त्र है, वह खुले ग्राम पैसों पर बिकता है। मजिस्ट्रेट है, जो ईमान का पूरा शत्रु है। ऐसी स्थिति में साधारण जनता कोदई की तरह यही समझ सकती है कि गाँव, न कभी सुखी रहा है और न सुखी होगा।[1] फिर भी आशा की एक किरण कहीं मुस्का रही है। इस नाटक के देवदास ने उसे देखा है। तभी तो वह कहता है—'जिन कांग्रेसियों को तुमने देखा है, वही कांग्रेस नहीं हैं। कांग्रेस एक विराट संस्था है। उसमें जो बड़े-बड़े नेता हैं, विवेक से भरे हैं। उनकी साधुता, सहृदयता, न्याय-परायणता पर देश को नाज़ है।'[2] वह समझता है कि पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आज़ाद, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त, राजेन्द्र बाबू तथा जय प्रकाश जी जैसे उच्च कोटि के नेता देश की जनता के आश्वासन हैं और उनके भरोसे हम यह समझ सकते हैं कि इस उलट-फेर का भी उलट-फेर होगा।

इस नाटक से विदित होता है कि पंडित जी जनता की भावनाओं के कितने निकट रहे हैं। वे यह विश्वास रखते हैं कि राजदेव प्रसाद जैसे पापियों के पाप का अन्त होगा और देश में स्वराज्य का पुण्य-प्रसाद सुराज भी आयेगा।

'उलट फेर' नाटक में पण्डित जी ने जो कांग्रेस के छुटभैयों के प्रति तीव्र आक्रोश और बड़े नेताओं के प्रति आस्था की भावना प्रकट की है, उसे और भी स्पष्ट शब्दों में उन्होंने अपने 'पाप का पतन' शीर्षक एकांकी में इस प्रकार उपस्थित किया है :

'स्वर्ग का केन्द्रीय मन्त्री-मण्डल तो आदर्श-जीवन की ओर चलने का प्रयास भी करेगा, पर स्वर्ग के अनेक खण्डों के मन्त्री-मण्डल अपना-अपना काम साधने में ही निमग्न रहेंगे। प्रान्त की उन्नति न सोच अपने सम्प्रदाय और अपने स्वजनों से लाभ के ही काम करेंगे।'[3]

पाप का पतन : 'पाप का पतन' पण्डित जी का रूपक-पद्धति पर रचा हुआ एकांकी नाटक है। इसमें यह बताया गया है कि देवों का राज्य इसलिए नष्ट हो गया कि अप्सराओं की संगति में उनके पुण्य का क्षय हो गया था और वे अपनी-अपनी पूजा कराने के विशेष अनुरागी हो गये थे। इनको अपदस्थ कर दैत्यों ने स्वर्ग पर शासन करना शुरू किया। उनके शासन-काल में विज्ञान का इतना विकास हुआ कि उसे देख बुद्धि चकरा जाती थी। दनु-पुत्रों ने जल, थल, पर्वत, गगन, अग्नि सब पर अपना आधिपत्य जमा लिया। वे क्षण भर में स्वर्गगा पर पुल बाँध देते और बँधे पुलों को एक क्षण में ध्वस्त कर देते। दानवों ने देवराज इन्द्र को बुला कर कहा कि वे कुछ शर्तो पर अमरावती का शासन-भार उनको सौंपने को तैयार हैं। दानवों की शर्तें थीं कि—देवलोक में देववाणी का प्रयोग न हो कर राक्षसी भाषा का व्यवहार होगा—वही भाषा राजकाज तथा शिक्षा का माध्यम होगी और उसमें ही रचित पुस्तकों का अध्यापन देवलोक की शिक्षण-संस्थाओं में होगा। देवलोक की संरक्षा के लिए असुर सैन्यवाहिनी रहेगी और सेना में किसी देव को नियुक्त न किया जायेगा।

---

१. २. ३. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—पृष्ठ ८६, ८३, १०६-७

देव-लोक का शासन करने के लिए दानव अपने बीच से एक उपेन्द्र की नियुक्ति करेंगे और जनता को वाणी की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। कहना नहीं होगा कि पण्डित जी का संकेत अंग्रेज़ों की ओर है, जिन्होंने भारत की आज़ादी को मटियामेट कर दिया था और शासन-सुधार के नाम पर कभी राँगे की दुअन्नी से अधिक भारत को देना नहीं चाहा। भला कौन स्वाभिमानी व्यक्ति अपनी आज़ादी को इस प्रकार सीमित करने के लिए तैयार हो? पण्डित जी के आगे प्रश्न है कि इस अन्यायी, अधर्मी शासन को कैसे ख़त्म किया जाय। इस असुर-शासन की बड़ी बुराई तो यह है कि इसने शासितों के उद्योग-धंधे, धर्म-कर्म, आचार-व्यवहार सब को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला है। देवपुत्र भी राक्षसों की वेष-भूषा, टोप, कोट, पतलून, गलफाँसी—सभी लगाने लगे हैं। हवन के धुएँ का स्थान चुरुट, सिगार और सिगरेट के धुँए ने ले लिया है। ऐसी विषम परिस्थिति में संघ-शक्ति ही कुछ कर सकती है। इसी से पण्डित जी का प्रस्ताव है कि संघ-शक्ति का आवाहन किया जाय। इस संघ-शक्ति को विष्णु का चक्र, ब्रह्मा का ब्रह्मास्त्र, शिव का पाशुपतास्त्र, इन्द्र का वज्र एक साथ प्राप्त होंगे। इस शक्ति के अवतीर्ण होते ही दानव यह समझ जाते हैं कि उनके दिन लद गये और उनको स्वर्ग छोड़ना ही होगा। तथापि वे यह सोच कर पूर्ण आश्वस्त हैं कि देवों के राज्य-लाभ के बाद उनका राज्य तो नहीं रह जायगा लेकिन फिर भी उनकी महिषासुरी सभ्यता और संस्कृति बनी रहेगी। इस नाटक के महिषासुर ने कहा ही है—'देव स्वतन्त्र भी हो जायेंगे, तो भी हमारी ही शासन-पद्धति से काम लेंगे। हमारे ही अस्त्र-शस्त्र और सांग्रामिक कला का अनुसरण करेंगे। मेरे राक्षसों के चले जाने के बाद तुम्हारे देश के मन्त्री, शासक और राजदूत सभी हम लोगों के ही ऐसा जीवन-यापन करेंगे। हम लोगों के सदृश ही अपने-अपने कमरों को सुसज्जित रखेंगे। खूब रुपये वेतन के रूप में लेंगे। हम लोगों से भी अधिक चन्दा तुम्हारे स्वर्ग के निवासियों से लिया जायगा। अभी तो तुम्हारे स्वर्ग को नमक, तेल, वस्त्र और अन्न मिलते भी हैं—ये सभी दुष्प्राप्य हो जायेंगे।'[1]

महिषासुर की ये पंक्तियाँ आज के सन्दर्भ में कितनी सत्य हैं।

'पाप का पतन' में इस प्रकार एक ओर अंग्रेज़ों के शासन का विरोध है और दूसरी ओर इस ख़तरे की आशंका भी है कि स्वराज्य मिलने पर भी हमारी संस्कृति, परम्परा अनादृत रहेगी और जीवन की कठिनाइयाँ बढ़ जायेंगी। अंग्रेज़ों से हमने उनके गुण तो लिये नहीं, उनके अवगुण सीख लिए। ऐसा नहीं है कि उनमें सारे-के-सारे अवगुण ही अवगुण थे। उनमें गुण भी थे—जैसे उनका संगठन सुदृढ़ था, उनकी एकता और शासन-पद्धति श्लाघ्य थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि वे जनमत का सम्मान करना जानते थे। हमने उनके इन गुणों को जो ग्रहण कर लिया होता तो हमारा बड़ा मंगल होता।

पण्डित रामदीन पांडेय के इन विवेचित नाटकों से विदित होता है कि पण्डित

---

१. जीवन-ज्योति—पं० रामदीन पांडेय—पृष्ठ १०५

जी ने अपने नाटकों का कथानक अपने सामने के समाज से लिया। जिस वातावरण में उन्होंने जीवन-यापन किया, उसकी विकृतियों ने उनके भावुक निष्ठावान हृदय को आन्दोलित किया और जीवन की प्रवहमान सरणि के प्रति उनके मन में तीव्र विरोध-भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने देखा कि शिक्षण-संस्थाएँ अपनी मर्यादा खो चुकी हैं, उन पर ऐसे लोगों का आतंक है, जो और चाहे जो भी हों शिक्षक नहीं हैं। विजय शंकर, मूलशंकर और गम्भीर वर्मा पण्डित जी के सामने समस्या-रूप थे और पण्डित जी उनकी शिक्षण-संस्था में विद्यमानता को ही अभिशाप समझते थे। अपने कॉलेज से बाहर जब पण्डित जी की नज़र अपने गाँव की ओर गयी तो वहाँ भी उन्होंने राजदेव प्रसाद जैसे उत्पथगामी कांग्रेसियों को देखा, ऐसे अफ़सरों को देखा, जिन्होंने जनता का जीना ही दूभर कर दिया है। पण्डित जी ने अत्यन्त दुःख के साथ यह भी देखा कि सरकारी नियन्त्रण में आ कर और-तो-और अस्पताल भी बिगड़ जाते हैं, पण्डित जी के सामने ये जो समस्याएँ हैं, वे दिन-रात जनता को प्रभावित करती हैं और उसको आस्थाहीन बनाती है। जनता की यह आस्थाहीनता हमें कहाँ ले जायेगी—नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पण्डित जी हमें सोचने-विचारने के लिए प्रेरित करते हैं, उकसाते हैं कि हम कुछ ऐसा करें, जिससे स्वराज्य व्यर्थ न हो जाय, शिक्षा का उद्देश्य ही न नष्ट हो जाय।

समस्या को उभार कर रख देने के बाद नाटककार का उद्देश्य और दायित्व शेष हो जाता है—ऐसा पंडित जी नहीं मानते। विमल का बलिदान विजयचन्द्र पर एक-न-एक दिन असर डालेगा—ऐसी आस्था पण्डित जी को है। मूलशंकर के हाथों में कॉलेज का शासन सदा-सर्वदा के लिए नहीं रहेगा—उनको प्रो० ध्रुव जैसे विद्वान और सच्चे अर्थ में शिक्षक के लिए अपना स्थान खाली करना ही होगा, पूर्णेन्दु को शोध-कार्य के लिए पूरा अवसर दिया जायगा—ऐसी आस्था पण्डित जी को है। परिस्थितियाँ चाहे जितनी भी विषम हों, पण्डित जी जानते हैं, वे बदलेंगी। फिर गाँव की स्थिति भी बदलेगी। बड़े-बड़े त्यागी तपस्वी नेताओं का देश में विद्यमान होना इसके लिए आश्वासन है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आस्थाहीनता के इस युग में भी पण्डित जी की आस्तिकता उन्हें आस्थावान ही बनाये रहती है। तभी तो पण्डित जी समस्या को प्रस्तुत करने के साथ ही समाधान के संकेत भी कर जाते हैं।

●

पृथ्वीनाथ शर्मा

श्री पृथ्वीनाथ शर्मा ने भी शिक्षित मध्यवर्ग की पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं को अपने नाटकों का रचना-विषय बनाया है। इनके नाटकों में 'दुविधा,' 'साध' और 'अपराधी' विशेष रूप से ध्यानाकर्षण करते हैं।

'दुविधा' में सुधा नामक एक आधुनिका की समस्या उठाई गयी है। अपनी योग्यता, भावुकता, भारतीय सभ्यता और अपने रूप की विजय-दुन्दुभि बजा कर वह अभी विलायत से लौट कर आयी है। इस उच्च शिक्षा-प्राप्त महिला की समस्या है कि वह प्रेम को समझ ही नहीं पाती। उसके प्रेमी उसके हाथ के खिलौने हैं। लाड़-पले बालक की भाँति वह उनसे खेलती है, मन ऊबने पर किसी खिलौने की वह गर्दन मरोड़ कर फेंक देती है तो किसी के हृदय की पसलियाँ ही मुट्ठी में ले कर मसल डालती है और फिर किसी की ओर देख कर ज़रा-सा मुस्का भी देती है। इस प्रकार उसका प्रेम समय काट लेने और दिलबहलाव कर लेने का साधन भर है। 'वह चापलूसी को प्रेम कहती है और सच्चे प्रेम को ज़रा-सा भी पहचान नहीं पाती।'[1]

सुधा का परिचय विलायत में बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करने वाले केशव से है। केशव उसके रूप और उसकी भावुकता का प्रेमी तो है ही, उसके पिता की अतुल सम्पत्ति का लोभी भी है। सच्ची बात तो यही है कि वह सुधा की सम्पत्ति का कामी ही अधिक है, सुधा के जिस रूप, गुण पर वह अपने को मुग्ध दिखाता है, उस पर कदाचित् आँच आ जाय तो उसके आकर्षण का जादू छू-मन्तर हो जाय।[2]

केशव के प्रति सुधा का जो आकर्षण है, वह भावुकता की प्रेरणा है और केशव की चापलूसी ने उसे सुझा दिया है कि उससे अच्छा वर उसे खोजे भी न मिलेगा।[3] उसके पास ही विनय भी है, जिसके साथ उसका परिचय है और कभी उसने भी उसका ध्यान खींचा था। यह विनय केशव का निकट-मित्र भी है और जानता है सुधा जिस केशव को सोना समझ कर पकड़ने के लिए उड़ी जा रही है, वह मिट्टी के लोंदे से अधिक

---

१. २. ३. दुविधा—पृथ्वीनाथ शर्मा—पृष्ठ ७-८, १७-१८, १९

नहीं है। पर यह सब वह खुल कर सुधा से कहे भी कैसे ? उसकी दुविधा है कि वह स्वार्थी समझा जायगा और वह किसी स्वार्थ के वशीभूत हो कर सुधा को अन्ध-कूप में गिरने से बचाना नही चाहता। इधर सुधा है, जिस पर केशव के छलावे का रंग गाढ़ा हो गया है और वह विनय की हल्की चेतावनी को विनय का बदला समझती है।[1]

लेकिन इतने पर भी उसकी अन्तरात्मा उसे कहती है कि केशव से विवाह करके शायद वह कहीं कोई भूल कर रही है। सुधा के पिता का पक्ष है कि उसके समान सुसंस्कृत उच्च शिक्षा-प्राप्त लड़की के लिए अन्तरात्मा का सहारा लेना उपहासास्पद, लज्जाजनक है। इस नये ज़माने में तर्क और बुद्धि को प्रमुखता मिलनी चाहिए, न कि भावुकता को।[2] विनय के प्रयत्न से केशव का कच्चा चिट्ठा खोलने के लिए मोहिनी, केशव की परिणीता पत्नी, अपने बच्चे के साथ सुधा के समक्ष उपस्थित हो जाती है। सुधा को मालूम होता है कि केशव इतना क्षुद्र है कि उसने पत्नी और बच्चे का परित्याग इसलिए किया है कि उसके श्वसुर ने उसे विलायत में पढ़ने का खर्च नहीं दिया। स्पष्ट है, केशव का प्रपंच, छल और उसकी चापलूसी सुधा के परिष्कृत विचार और उच्च-शिक्षा-संस्कार पर विजयी हो जाते, यदि मौके पर विनय ने सुधा को बचा नहीं लिया होता।

सुधा को आधुनिक शिक्षा और बुद्धि-युग की विकृतियों से ग्रस्त स्वच्छन्द प्रकृति, अपने मन की रानी के रूप में इस नाटक में प्रस्तुत करके शर्मा जी यह सुझाना चाहते हैं कि ऐसी नारियों की क्या दुर्दशा होती है। वे अनुभव करते हैं कि सुधा जैसी नारी सहज ही छली जाती है। केशव आज के चालाक, अर्थ-लोलुप स्वार्थी पुरुष का प्रतीक है। विनय की अवतारणा शर्मा जी ने अपने आदर्शवाद के आग्रह से ही की है और अन्त तक उसे आदर्शवादी रखा है। सुधा जब अपने से, अपने बुद्धिवाद से, उच्च शिक्षा-संस्कार और अपनी आधुनिकता से ऊब जाती है तब अपने कवित्वमय जीवन को एक विवाहित स्त्री के रसहीन और झंझटों से भरे जीवन पर न्योछावर[3] करने का निश्चय करती है और विनय की ओर झुकती है। विनय भी पहले तो सुधा के इस समर्पण को स्वीकार करता दीखता है लेकिन बाद में वह चेत जाता है। उसके हृदय में 'प्रेम' और 'आत्माभिमान' में द्वन्द्व छिड़ जाता है।[4] उसे अपनी निर्धनता और सुधा के ऐश्वर्य के बीच कहीं मिलन-बिंदु नज़र नहीं आता[5] और उससे भी बड़ी बात तो यह है कि उसे यह मानते बनता नहीं है कि उसने केशव के छलावे से सुधा को स्वार्थवश उबारा है। विनय का पक्ष तो यह है कि उसने जो कुछ किया है—सुधार के जोश में किया है, एक विवाहित अबला अर्थात् मोहिनी को अनर्थ से बचाने के लिए किया है।[6] तो फिर वह सुधा का पुरस्कार क्यों कर चाहे !

'दुविधा' के विनय के विषय में डॉ० दशरथ ओझा ने 'हिन्दी नाटक : उद्भव

---

१. २. ३. ४. ५ ६. **दुविधा—पृथ्वीनाथ शर्मा—पृष्ठ** २२, २७, ५८, ६२, ६२, ४६

और विकास' में लिखा है—'अकर्मण्यता के साथ-साथ उसमें नैराश्य-जनित व्याकुलता और असन्तुलित आत्माभिमान भी है।'[1] पर विनय को अकर्मण्य कहते बनता नहीं है। उसने ही तो नाटक के कथानक को एक निश्चित मोड़ दिया है। यदि वह न होता तो केशव के स्वार्थ के हाथों सुधा का सर्वनाश हो गया होता। हाँ, यह ठीक है कि सुधा से वह विवाह नहीं करता। किन्तु, उसे तदर्थ अकर्मण्य नहीं कहा जा सकता। वह इस सत्य से भाग नहीं सकता कि वह ग़रीब है और सुधा से उसका विवाह, न तो उसे सुखी बना पायेगा और न सुधा को। माना, सुधा बड़े बाप की बेटी है, जीवन-यापन की कठिनाई उसके पति को नहीं हो सकती। लेकिन अपनी पत्नी का टुकड़ाखोर होते, उसका पौरुष भी तो लांछित हो सकता है। और सच्ची बात तो यही है कि सुधा ने विनय को कभी प्यार किया भी तो नहीं। उसने भरे मजमें में विनय की पीठ ठोंक कर जो बधाई दी, वह तो बस प्रान्तीयता के जोश का फल था।[2] आज सुधा उसकी ओर जो आकृष्ट हो रही है, उसके मूल में भी तो प्रेम नहीं है, केवल परिस्थितियों का स्वीकार है। विवाह दो हृदयों का लेन-देन है, अनन्त वर्षों के लिए दो आत्माओं का सम्मिलन है। इसके अभाव में सुधा से विवाह का प्रश्न ही विनय के सम्मुख नहीं उठ सकता।

'दुविधा' में इस प्रकार एक ऐसी आधुनिका की कथा कही गयी है, जो प्रेम का मर्म नहीं जानती, बुद्धि और तर्क को अंतरात्मा के ऊपर मानती है और परिणामतः जीवन की बाज़ी हारने के लिए विवश है। नाटककार का आदर्शवाद उसे समय रहते खन्दक में गिरने से बचा लेता है और उसे सुझाता है कि आधुनिकता उत्तेजना है, छाया को पकड़ने का विराट उद्योग है और बाहर से चाहे वह कितना ही कवित्वपूर्ण दीखे, भीतर से खाली-खाली है। डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा है—'सुधा का अन्त तक द्विविधा में पड़ा रहना, अन्त तक अविवाहिता आधुनिक नारियों के मनोभाव का सूचक है।'[3] यह ठीक है कि सुधा अन्त तक अविवाहिता रहती है। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि वह विवाह करना चहती है और जिस विनय से वह विवाह करना चाहती है, वह विवाह से मुकर जाता है। सुधा का चरित कहीं भी यह व्यंजित नहीं करता कि वह आधुनिका की भाँति विवाह को बन्धन मान कर विवाह करना नहीं चाहती। उसने केशव के साथ विवाह करने का निश्चय किया ही था और आज वह विनय के साथ विवाह करने के लिए तैयार है ही। अवश्य ही सुधा उन आधुनिकाओं की परम्परा में नहीं है, जो बिना विवाह किये ही ज़िन्दगी गुज़ार देने का ख़याल रखती हैं। सुधा की समस्या भिन्न कोटि की ही है। ऊपर उस समस्या का विचार किया जा चुका है।

साथ : शर्मा जी का 'साध' शीर्षक एकांकी भी आधुनिका की ही समस्या ले कर सामने आता है। इस नाटक की कुमुद, विवाह करके अपनी स्वच्छन्दता को

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा—पृष्ठ ३८८
२. दुविधा—पृथ्वीनाथ शर्मा—पृष्ठ २३
३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा—पृष्ठ ३८८

आधुनिक स्त्रियों की विविध सामाजिक समस्याओं को उठाया गया है। आज आधुनिकाएँ स्वतंत्र जीवन की अभिलाषिणी हो गयी हैं। उनका अहं हमारे लिए समस्या हो रहा है। शर्मा जी उनकी आँखों मे अँगुली डाल कर उन्हें सुझाते हैं कि हमारी परम्परा भिन्न है, जीवन-आदर्श भिन्न हैं और उनकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार शर्मा जी के नाटकों के पीछे एक नैतिक आदर्श की प्रेरणा है, अपनी संस्कृति के रक्षण का आग्रह है। सबसे बड़ी बात वे यह सुझाते हैं कि आज की नारियों ने अधकचरे ज्ञान के बल पर हमारे समाज को बदलने का जो असम्भव तथा शायद अवांछनीय प्रयास करना शुरू किया है, वह अप्रकृत है। स्वयं उनके हित के विरुद्ध है। सत्य को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण न करके, वे अनर्थ ही करेंगी। शर्मा जी ने बताया है कि त्रिया-हठ और विदेशी सभ्यता की अन्ध-अनुकृति का परिणाम कभी शुभ नहीं होगा।

अपराधी : शर्मा जी ने 'दुविधा' तथा 'साध' के अतिरिक्त 'अपराधी' शीर्षक एक और नाटक भी लिखा है, जिसका विचार समस्या की प्रस्तुति करने वाले नाटकों के क्रम में होना चाहिए। 'अपराधी' का नायक है—एक भावुक नवयुवक अशोक, जिसका दिन अपने बनाये हुए सपनों को उधेड़ते-बुनते चला जाता है और रात उन सपनों को देखते बीत जाती है। पिता और माता के स्वर्गारोहण के बाद वह अपने चाचा के संरक्षण में है, जो उसे हाकिम बनाना चाहता है जबकि वह खुद कविता और कहानी लिखना अपना जीवनोद्देश्य बनाना चाहता है। यह नौसिखुआ आदर्शवादी भावुक युवक एक चोर को, उसकी आँखों में भय और करुणा देख कर और यह खयाल कर कि जाने किन परिस्थितियों का शिकार हो कर उसने चोरी की, लोगों की नज़र बचा कर भागने देता है और स्वय भीड़ के लोगों द्वारा चोर समझा जाता है। इस प्रकार पुस्तक-जगत में रहने वाला यह अनुभवहीन युवक लांछन तथा नाना प्रकार के प्रवादों का शिकार होता है। अपनी प्रेमिका लीला के प्रयत्न के बावजूद वह कानून के चंगुल से छूटने में असफल सिद्ध होने हो जा रहा था कि असली चोर न्यायालय में आ कर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। वह यह सह नहीं पाता कि अशोक जैसा एक उच्च-हृदय, महान व्यक्ति उसके पापों का दंड भोगे।

कथा की यह आदर्शात्मक परिणति ऊपर से देखने पर समस्या के लिए गुंजायश नही रखती। लेकिन फिर भी यह सत्य है कि इस नाटक में समस्या आयी है। हमारा कानून ऐसा अंधा है कि वह बस अपराध को देखता है। इसका विचार वह नहीं करता कि अपराधी अपराध करने क्यों गया, तद्विषयक उसकी कोई विवशता भी थी या नही। हमारे न्याय-विधान को तो कानून की रक्षा करनी है। इसके लिए किसी को सज़ा मिलनी ही चाहिए—चाहे सज़ा पाने वाला, अशोक जैसा नितान्त निरपराध व्यक्ति ही क्यों न हो। स्पष्ट है, न्यायालयों में न्याय नहीं किया जाता, कानून की रक्षा की जाती है। शर्मा जी ने कानून की इसी समस्या को अपने इस नाटक में प्रस्तुत किया है। निरपराध अशोक को दंडाधिकारी की सहानुभूति और उसकी यह

आस्था कि अशोक निरपराध है तथा रायबहादुर जैसे समर्थ वकील की मेहनत भी निरपराध सिद्ध नहीं करा पाती। कानून को यही तो पहेली है कि न्यायाधीश अपनी आत्मा की गवाही पर भी कुछ नही कर सकता। यह तो कहिए कि 'आभा', के भावुक आदर्शवाद ने उसके प्रेमी को प्रेरित किया जो उसने अपना अपराध स्वीकार किया और उसे सशक्त तर्क के बल पर सत्य भी प्रमाणित किया। नही तो बेचारे अशोक का तो सर्वनाश ही हो गया होता।

अशोक की कहानी से जो निष्कर्ष रायबहादुर निकालता है कि 'संसार की कुरूपता और क्षुद्रता में सुन्दरता को ढूंढ़ने का प्रयास नहीं करना चाहिए क्योंकि वह सदा विफल होगा,'[1] हमारे आगे की कोई साधारण समस्या नहीं है। क्या आदमी की दुनिया ऐसी ही हो गयी है कि उसमें सदाशयता और उच्च मनोभावों के लिए जगह नहीं रह गयी हैं? शर्मा जी हमें आश्वस्त करते हैं कि नहीं—सर्वथा ऐसा नहीं है। आया और उसके प्रेमी जैसे छोटे कहे जाने वाले लोगों की दुनिया से अभी तक सद्वृत्तियों ने अवकाश नहीं ले लिया है।

इस प्रकार शर्मा जी अनास्था के युग में एक आस्थावान कलाकार ठहरते हैं। इनके नाटकों में सामाजिक जीवन की विकृतियों का चित्रण तो होता है लेकिन उनका उद्देश्य होता है सामाजिक सुधार। भारत की प्राचीन सभ्यता के प्रति शर्मा जी को निष्ठा है और वे मानते हैं कि उसकी विजय-दुन्दुभी पश्चिम में भी बजनी ही चाहिए। लेकिन वे यह नहीं मान पाते कि भारत की सभ्यता वही है, जिसे 'दुविधा' की सुधा ने समझ रखा है और जिसकी उसने यूरोप रहते समय धूम मचा दी थी। सुधा स्वयं उस सभ्यता को नहीं जानती। इसीलिए तो वह जीवन का दाँव हार जाती है। पश्चिम की नकल को भी शर्मा जी पसन्द नहीं करते। शायद इसी से 'दुविधा' की रत्नप्रभा विवाह के बाद 'हनीमून' मनाने के बहुत पक्ष में नहीं दीखती।[2]

शर्मा जी के नाटकों में जो समस्याएँ आयी हैं, वे नारियों की हैं। पश्चिम से उमड़ कर आता हुआ प्रभाव नारी-समाज को भारतीयता से दूर खींचे लिये जा रहा है और पुरुष हतप्रभ हो रहा है। पुरुष-समाज यह अनुभव कर रहा है कि नारी समाज में जो नयी चेतना आयी है, नये विचार फैल रहे हैं, वे हितकर नहीं हैं। नारियों की बहक को देख हतप्रभ यह पुरुष-वर्ग दबी जबान में ही सही अपने भारतीय आदर्शों की दुहाई देता है और मन से चाहता है कि पश्चिमी सभ्यता के चाकचिक्य के भ्रम को नारी-वर्ग भी समझ ले ताकि हमारे घर रहने की जगह बने रहें। इसी से तो स्वयं व्यक्तित्वहीन रह कर भी 'दुविधा' के विजय और 'साध' के अजित भारतीय आदर्श को जीवित रखना चाहते हैं।

●

१. २. अपराधी—पृथ्वीनाथ शर्मा—पृष्ठ ३५, ३२

भगवती चरण वर्मा

हिन्दी के प्रख्यात उपन्यासकार, कवि और कहानीकार श्री भगवती चरण वर्मा को नाटककार की भी प्रतिभा प्राप्त है। उन्होंने कई अच्छे नाटक लिखे हैं और उनमें जन-जीवन की समस्याओं की प्रस्तुति की है। 'बुझता दीपक' शीर्षक उनके एकांकी संग्रह से विदित होता है कि सन् १९३६ से ही वह इस दिशा में प्रयोग कर रहे थे।

बुझता दीपक : वर्मा जी के नाटकों में समस्या की दृष्टि से 'बुझता दीपक' सर्व-प्रमुख है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद अपने देश में जो कतिपय समस्याएँ मुख्य रूप से उभर कर आयीं, उनमें से कुछेक की प्रस्तुति इस एकांकी में हुई है। देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई में जिन त्यागियों ने अपना सर्वस्व न्योछावर किया था, उनकी जाति का एक व्यक्ति राधेश्याम शर्मा, नाटककार के सामने है। इस तपोनिष्ट कांग्रेस-कार्यकर्ता ने सुषमा नामक एक महिला से अपने यौवन-काल में प्रेम किया था। किन्तु, राष्ट्र-सेवा का व्रत लेने के कारण दोनों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वे देश के बन्धन-मुक्त होने के पहले विवाह न करेंगे। सुषमा विदेश-प्रवास में चली गयी और शर्मा देश के मुक्ति-आन्दोलन में प्राणपण से लगा रहा। स्वतन्त्रता के उपरान्त सुषमा स्वदेश वापस आती है। उसकी कल्पना है कि शर्मा अपने प्रान्त में, या तो मंत्री पद पर आसीन होगा अथवा उसके नीचे संसद-सचिव के पद पर। उसका एक शानदार बँगला होगा और उसमें वह अपने पुण्य-कर्म का उचित फल भोग रहा होगा। लेकिन यहाँ तो हाल यह है कि शर्मा की वही पुरानी धज है, वह आज भी अपने उसी पुराने मकान में रहता है और वह भी रेहन पड़ा हुआ है।[1] हाँ पद के नाम पर उसे स्थानीय कांग्रेस का अध्यक्ष-पद प्राप्त है। नाटककार शर्मा के ब्याज से यह संकेत करता है कि कांग्रेस के तपे-तपाये सोने जैसे कार्यकर्ताओं को आज कोई पूछने वाला नहीं है। शासन पर उनका पंजा पड़ा हुआ है, जिनका देश के लिए त्याग या तो क्षुद्र

---

१. बुझता दीपक—भ० च० वर्मा—पृष्ठ ५७-५८

है अथवा एकदम नहीं है। इसका कारण यह है कि देश, विदेशियों की गुलामी से निकल कर धन के पिशाच की गुलामी में फँस गया है[१] और फलस्वरूप राधेश्याम जैसे चरित्रवान और ईमानदार कांग्रेस-जन के लिए राजनीति के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं रह गया है। सुषमा पूछती है कि देश ने शर्मा को उसके त्याग और बलिदान के लिए कौन-सा पुरस्कार दिया ? समस्या के दो पहलू है—एक तो यह है कि शर्मा को उसके त्याग और बलिदान के बदले देश की उपकृत जनता से कुछ नहीं मिला और दूसरा यह कि आज जिन्होंने शर्मा को राजनीति के क्षेत्र में अपदस्थ कर रखा है और जिनके हाथ में राजकीय शक्ति है, उनके हृदय में त्याग और बलिदान का वह भाव विद्यमान नहीं है, जिसके बूते पर देश के स्वातन्त्र्य-युद्ध में हम एक के बाद दूसरा मोर्चा जीतते गये थे।[२]

शर्मा के आगे सुषमा जब ये दोनों सवाल खड़े करती है तो शर्मा उसे समझाता है कि देश अभी इतना सम्पन्न तो नहीं हुआ कि उसके जैसे हरेक त्याग और बलिदान करने वाले आदमी को वह सुख-सम्पत्ति के रूप में पुरस्कार दे सके।[३] राज-शक्ति के ऊपर कब्ज़ा जमा कर रखने वाले अपने साथियों के त्याग और बलिदान के भाव के विषय में वह और-तो-और अपनी सुषमा से भी विचार-विमर्श नहीं करना चाहता और उसे अप्रिय प्रसंग[४] कह कर टाल देता है। स्पष्ट है, उसके साथियों के हृदय से त्याग-भाव आज हट चुका है और शर्मा यह सब देख कर विकल है।

राधेश्याम यह अनुभव करता है कि कांग्रेस का सत्व आज निर्बल हो चुका है, कांग्रेस-जनों की सद्भावना मर चुकी है। शक्ति ईमानदार कार्यकर्ताओं के साथ से निकल कर अकल्याणकारी और विध्वंसक तत्वों के हाथ में पड़ चुकी है। सेवा का स्थान स्वार्थ ने ले लिया है। अवसरवादिता को खुल कर खेलने का अवसर मिल गया है।[५] परमेश्वर और प्रभातकुमार जैसे स्वार्थी, मज़दूर-संगठन के नेता बने हुए हैं। उनको मज़दूरों से कोई प्रेम नहीं। वे तो मिल-मालिक शिवलाल मोटानी के पाप की कमाई में अपना हिस्सा भर खोजते हैं।[६] राधेश्याम की भला वहाँ कैसे जगह हो सकती है, जहाँ मिल-मालिक और मज़दूर-नेताओं के बीच ,स्वार्थ का सौदा हो रहा हो। शर्मा देख रहा है कि कांग्रेस-जन अपने को वेच रहे हैं और वह ऐसा अनुभव कर दुःखी होता है।

कांग्रेस-जन संस्था में अपने प्रभाव का दुरुपयोग भी करने लगे हैं। चोरबाज़ारी और रिश्वतख़ोरी के मामले में फँसे हुए कालीप्रसाद और शिव सेवक के ऊपर से सरकारी मुकदमा उठा लेने का प्रस्ताव ले कर कृष्ण कुमार नामक शर्मा का सहयोगी उसके सामने उपस्थित होता है। शर्मा का पक्ष है कि यदि कोई व्यक्ति ईमानदारी से सरकारी दुकान चला कर अपना भरण-पोषण करता है तो ठीक है। लेकिन ऐसा न करके चोरबाज़ारी करता है तो उसे कानून का दण्ड भोगना ही चाहिए। इस विषय में वह इतना निष्ठावान है कि अपने भान्जे को भी अपवाद नहीं होने देगा।[७] लेकिन उसके

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. बुझता दीपक—भ० च० वर्मा—पृष्ठ ५६, ६०, ६०, ५६, ७७, ८१, १०४

ही साथी स्वार्थवश न्याय-विधान में हस्तक्षेप करते हैं और कानून को अपनी राह चलने नहीं देते। यदि वह उनका विरोध करे तो खतरा है कि सस्था के अपने पद से भी अपदस्थ हो जाय। कृष्ण कुमार जैसे नेताओं की शक्ति की बड़ी महिमा है—यह वह जानता है। स्पष्ट है, परमिट और लायसेन्स की इस दुनिया में राधेश्याम शर्मा जैसे उदात्त चरित्र कार्यकर्ता के लिए कोई जगह नहीं हो सकती। नाटककार के आगे समस्या है कि निष्ठा, चरित्र और ईमान के इस बुझते दीपक की ज्योति के निर्वापित होने के बाद कांग्रेस का क्या होगा—देश का क्या होगा? कहना नहीं होगा कि यह प्रश्न अपनी सारी विकरालता के साथ आज हमारे सामने खड़ा है और समाधान माँग रहा है। इस नाटक के शर्मा ने प्रश्न का हल बताते हुए कहा है कि बुझते हुए दीपक का खयाल छोड़ा जाय, उसकी ओर न देखा जाय, उससे कोई आशा न की जाय वरन् दूसरा दीपक जलाया जाय।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि हम समझें, मुख्य बात यही है कि प्रकाश का लोप न हो। दीपक बदलता है तो सोच न किया जाय। स्पष्ट है, नाटककार यह समझ गया है कि कांग्रेस अपनी उपयोगिता खो चुकी है; हमें और एक ऐसी संस्था बनानी है, जो जीवन का प्रकाश हो।

दो कलाकार : 'बुझता दीपक' संग्रह में 'दो कलाकार' शीर्षक एक और एकांकी है, जो हमारा ध्यान खींचता है। इस नाटक में यह बताया गया है कि हमारे कलाकारों की कैसी दयनीय स्थिति है। चिड़ियाखाने जैसे मकान में उन्हें गुज़ारा करना पड़ता है और उसमें भी रहने के लिए उन्हें छल-छन्द करना पड़ता है।

सेठ बुलाकीदास के किसी मकान में किरायेदार बन कर चूड़ामणि नामक कवि और मार्तंड नामक चित्रकार रहते हैं। तंगी के कारण किराये की रकम भर नहीं पाते। दुनिया इनकी मजबूरी का अनुचित लाभ उठाना चाहती है। मार्तंड के जिस चित्र का दाम होना चाहिए पचास रुपया, उसे कुल सात रुपल्ली में रामनाथ खरीद लेना चाहता है[2] और इसको ले कर दोनों का झगड़ा होता है। बात यहाँ तक बढ़ जाती है कि मार्तंड रामनाथ के घर से अपने बनाये चित्र के बदले रामनाथ के पिता के विलायत से बन कर आने वाला चित्र उठा कर चल देता है और उस चित्र की दुर्दशा कर देता है। रामनाथ यह देख कर तड़प उठता है कि उसके पिता के उस चित्र से उनकी नाक ही ग़ायब कर दी गयी है।[3] मार्तंड रामनाथ को धमकी देता है कि यदि उसने उसके बनाये चित्र की उचित कीमत के ५० रु० नहीं दिये तो वह घूम-घूम कर कहता फिरेगा कि रामनाथ ने अपने दानी-मानी पिता की नाक ही काट ली।[4] रामनाथ को अपने स्वर्गीय पिता की नाक की रक्षा के लिए मार्तंड को पचास रुपये गिन देने पड़ते हैं।

इधर इसके कवि मित्र चूड़ामणि का शोषण करता है उसका प्रकाशक परमानन्द। चूड़ामणि ने जब यह देखा कि वह अपने मक्कार प्रकाशक के आगे निरुपाय

---

१. बुझता दीपक—भ० च० वर्मा—पृष्ठ १०७
२. ३ ४. दो कलाकार—भ० च० वर्मा—पृष्ठ ४, १२, १३

है तो उसने उसकी घड़ी उठा ली और अब उसने अपना सारा आक्रोश 'परमानन्द-पुराण' लिख कर प्रकट किया है। इस [illegible] पुराण की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

झूठ, दगाबाज़ी, मक्कारी, दुनिया के जितने छल छन्द,
नहीं बचे हैं इनसे कोई धन्य प्रकाश परमानन्द
उनकी बीवी मना रही है हो जाये वह वह जल्दी राँड।[1]

भला अब परमानन्द की क्या मजाल, जो वह बात बढ़ाये ? इसी तरह इन दोनों कलाकारों ने बुलाकीदास से भी निपटारा किया। मार्तंड उसे बताता है कि वह उसका एक चित्र तो बनायेगा लेकिन उसके चेहरे पर नाक का होना या न होना इस बात पर निर्भर है कि वह बुलाकी दास के इस मकान में रहता है या नहीं।[2] इसी तरह चूड़ामणि का भी कहना है कि परमानन्द पुराण किसी समय भी बुलाकी-पुराण बन सकता है।[3]

इस प्रकार इस एकांकी में कलाकारों की तंगी की समस्या प्रस्तुत की जाती है और बताया जाता है कि हमारा सामाजिक ढाँचा इतना सड़ गया है कि कलाकारों को अपनी सारी भाव-प्रवणता और अपने संस्कार की सारी उच्चता को ताक पर रख कर अपनी भौतिक आवश्यकताओं के दबाव के कारण मक्कारी पर उतरना पड़ता है। कलाकारों की यह स्थिति सचमुच चिन्ता का विषय है।

वर्मा जी चाहते हैं कि हमारे समाज की यह दयनीयता की स्थिति बदले। कलाकारों को जीवन-यापन के लिए मक्कारी और फ़रेब पर न उतरना पड़े, प्रकाशक आज जैसे लेखक का शोषण करता है, आगे के ज़माने में वह वैसा न कर सके।

वर्मा जी ने 'सबसे बड़ा आदमी' जैसे कुछ और चुटकुले भी लिखे—किन्तु समस्या की प्रस्तुति की दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं दीखता। उपरि-विवेचत 'बुझता दीपक' ही एक ऐसा नाटक है, जो वर्मा जी को समस्या-नाटककारों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करता है।

१. २. ३. दो कलाकार—भ० च० वर्मा—पृष्ठ ११, १४, १४

श्री जगदीश चन्द्र माथुर

श्री जगदीश चन्द्र माथुर एक ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने हमें यह सुझाया है कि यदि एक हज़ार वर्षों के बाद आज हम अपने रूपक-साहित्य और रंगमंच को पुनर्जीवित करना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि उत्तर भारत में नाटक, मात्र अध्ययन की सामग्री बन कर न रह जाय तो हमें यह याद रखना होगा कि यह क्रिया भी आप-ही-आप नहीं हो जायेगी। माथुर जी का कहना है कि-तदर्थ राष्ट्र और समाज, संस्कृति-क्षेत्र के नेता और शासन, सभी को परम्परा, परिस्थिति और उपकरणों को ध्यान में रखते हुए नये रंगमंच की रूप-रेखा निश्चित करनी है और योजनाबद्ध रूप में साधन एकत्रित कर रंगमंच के आन्दोलन को चलाना है।[1] माथुर जी का विश्वास है कि 'सिनेमा के प्रचंड वैभव के बावजूद हमारे रंगमंच का पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है क्योंकि सिनेमा मनोरंजन की चाह को तो पूरा करता है, परन्तु संस्कारों के भार से दबी और भूखी-सी अभिनय की आदिम प्रवृत्ति को पूरा-पूरा मौका नहीं देता।'[2] और फिर सिनेमा के पर्दे पर चलती-फिरती और जादूगरी से बोलने वाली मूर्तियों के प्रदर्शन के समय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होना उतना ही दूभर है, जितना किसी स्वप्न-सुन्दरी से नाता जुड़ना।[3]

आज यह सर्वथा स्वाभाविक है कि हमारे नाटककार एक सर्व-स्वीकृत परम्परा और नाट्य शैली की अवतारणा के लिए प्रयास करें। किन्तु यहीं एक बड़ी भूल भी उनसे हो रही है। वे ऐसा समझते हैं कि हमारे नाटक का यह मैदान साफ़ है, हम जैसी इमारत चाहें खड़ी कर ले सकते हैं। इसी से वे अभिनय कला की तलाश में चक्कर काट रहे हैं। उन्होंने प्राचीन संस्कृत नाटक तथा रंगमंच की अपनी उस परम्परा का, जिसको सदियों के अन्तराल के बाद भारतेन्दु जी ने उबारा था, सर्वथा विस्मरण कर दिया है और नाटक-रचना के क्षेत्र में वे पश्चिम की ग़ुलामी तक करने को जैसे तैयार

---

१. २. ३. उदय की बेला में हिन्दी रंगमंच और नाटक—कोणार्क (ज० च० माथुर)—परिशिष्ट-२—पृ० १०७-८, ६३ ६३-६४

है। माथुर जी ऐसा अनुभव करते हैं कि कुछ नाटककार ऐसे हैं, जो प्रायः शून्य में सेज लगा कर किसी काल्पनिक रंगमंच से मिलने की तैयारी कर रहे हैं तो कुछ ऐसे हैं, जो कोरे सम्वादों के चमत्कार को नाट्य-गति का स्थान दे कर सन्तुष्ट होते हैं। फिर कुछ ऐसे हैं, जिनके हर पात्र नाटककार की ही ज़िन्दगी जीते हैं, उसके विचारों के भाषण करते हैं।[१]

यूरोप में इब्सन के बाद नये समस्या-नाटकों की जो परम्परा चली है, उसे नवीनता के आग्रही कुछ नाटककार हिन्दी-क्षेत्र में एकदम उतार देना चाहते हैं। वे एक पल के लिए रुक कर यह सोचना भी नहीं चाहते कि इब्सन, गॉल्सवर्दी और बर्नार्ड शॉ जैसे पश्चिमी नाटककारों की रचना के पीछे उस अविच्छिन्न नाट्य-[illegible] की परम्परा का बल है, जिसे हम 'यूनानी नाटक-परम्परा' के नाम से जानते हैं। इसके अतिरिक्त इन पश्चिमी समस्या-नाटककारों को यूरोप के प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक शास्त्रकारों और साहित्य के नियमों के निर्धारकों, जैसे अरस्तू, बेन जॉनसन, गेटे, ब्रैडले आदि की वह धरोहर प्राप्त है, जो हमारी नहीं है और न कभी हो सकती है। फिर हमारे यहाँ 'पीपल्स थियेटर' का सिलसिला उठ खड़ा हुआ, जिसने रूस को अपना प्रेरणा-क्षेत्र मान लिया। माथुर जी कहते हैं कि 'मध्यवर्गीय नवयुवक, जिन्होंने शहरों में रह कर, पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों के आधार पर अपनी विचार-शैली निर्धारित की थी, यह सोचने लगे कि जैसे रूस में जनता का नाटक पार्टी की प्रेरणा से खूब पनपा, वैसे ही हमारे यहाँ भी हो जायगा।[२]

इस प्रकार हमारे नये नाटककार या तो इब्सन की परम्परा की नकल कर रहे हैं या फिर रूसी नाट्य-परम्परा की। माथुर जी इन दोनों प्रकार के नकलचियों से से असन्तुष्ट हैं। वे जानते हैं कि 'आकाश की जिस धारा ने धरती के नीचे प्रवाहित होने वाले सोतों से नाता नहीं जोड़ा, वह ऊपर ही ऊपर ढल जाती है।'[३] हमारे नाटकों में यथार्थ को आना ही चाहिए और हमारे रंगमंच को भी यथार्थवादी होना है। लेकिन हमें यह भी याद रखना है कि हमारे नाटकों को अपनी ही मिट्टी से रस ग्रहण करना होगा। हमें यह भी मान लेना चाहिए कि हमारा भावी रंगमंच बहुमुखी होगा—उसकी शैली में विविधता आवश्यक रूप से रहेगी![४] अस्तु, किसी एक सर्वमान्य परम्परा का आग्रह—शक्ति का अपव्यय है।

माथुर जी रंगमंच की पद्धतियों और नाट्य-साहित्य की शैलियों के निर्धारण का द्विविध कार्य एक साथ करना चाहते हैं। इन दोनों कार्यों को वे समानान्तर रेखाओं की तरह चलाना चाहते हैं।[५] तकनीक के क्षेत्र में माथुर जी ने क्या कुछ किया है अथवा वे क्या कुछ करना चाहते हैं, इसका विचार प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्यत्र किया जायेगा। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि माथुर जी ने आधुनिक सभ्यता और समाज—विशेषतः

१. २. ३. ४ ५. उदय की बेला में हिन्दी रंगमंच और नाटक—कोणार्क जगदीशचन्द्र माथुर— परिशिष्ट-२—पृ० १०६, ६६. १०८, १०६

है। माथुर जी ऐसा अनुभव करते हैं कि कुछ नाटककार ऐसे हैं, जो प्रायः शून्य में सेज लगा कर किसी काल्पनिक रंगमंच से मिलने की तैयारी कर रहे हैं तो कुछ ऐसे है, जो कोरे सम्वादों के चमत्कार को नाट्य-गति का स्थान दे कर सन्तुष्ट होते हैं। फिर कुछ ऐसे हैं, जिनके हर पात्र नाटककार की ही ज़िन्दगी जीते है, उसके विचारों के भाषण करते हैं।[1]

यूरोप में इब्सन के बाद नये समस्या-नाटकों की जो परम्परा चली है, उसे नवीनता के आग्रही कुछ नाटककार हिन्दी-क्षेत्र में एकदम उतार देना चाहते हैं। वे एक पल के लिए रुक कर यह सोचना भी नहीं चाहते कि इब्सन, गॉल्सवर्दी और बर्नार्ड शॉ जैसे पश्चिमी नाटककारों की रचना के पीछे उस अविच्छिन्न नाट्य-साहित्य की परम्परा का बल है, जिसे हम 'यूनानी नाटक-परम्परा' के नाम से जानते हैं। इसके अतिरिक्त इन पश्चिमी समस्या-नाटककारों को यूरोप के प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक शास्त्रकारों और साहित्य के नियमों के निर्धारकों, जैसे अरस्तू, बेन जॉनसन, गेटे, ब्रैडले आदि की वह धरोहर प्राप्त है, जो हमारी नहीं है और न कभी हो सकती है। फिर हमारे यहाँ 'पीपल्स थियेटर' का सिलसिला उठ खड़ा हुआ, जिसने रूस को अपना प्रेरणा-क्षेत्र मान लिया। माथुर जी कहते है कि 'मध्यवर्गीय नवयुवक, जिन्होंने शहरों में रह कर, पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों के आधार पर अपनी विचार-शैली निर्धारित की थी, यह सोचने लगे कि जैसे रूस में जनता का नाटक पार्टी की प्ररणा से खूब पनपा, वैसे ही हमारे यहाँ भी हो जायगा।[2]

इस प्रकार हमारे नये नाटककार या तो इब्सन की परम्परा की नकल कर रहे हैं या फिर रूसी नाट्य-परम्परा की। माथुर जी इन दोनों प्रकार के नकलचियों से से असन्तुष्ट हैं। वे जानते हैं कि 'आकाश की जिस धारा ने धरती के नीचे प्रवाहित होने वाले सोतों से नाता नहीं जोड़ा, वह ऊपर ही ऊपर ढल जाती है।'[3] हमारे नाटकों में यथार्थ को आना ही चाहिए और हमारे रंगमंच को भी यथार्थवादी होना है। लेकिन हमें यह भी याद रखना है कि हमारे नाटकों को अपनी ही मिट्टी से रस ग्रहण करना होगा। हमें यह भी मान लेना चाहिए कि हमारा भावी रंगमंच बहुमुखी होगा—उसकी शैली में विविधता आवश्यक रूप से रहेगी![4] अस्तु, किसी एक सर्वमान्य परम्परा का आग्रह—शक्ति का अपव्यय है।

माथुर जी रंगमंच की पद्धतियों और नाट्य-साहित्य की शैलियों के निर्धारण का द्विविध कार्य एक साथ करना चाहते हैं। इन दोनों कार्यों को वे समानान्तर रेखाओं की तरह चलाना चाहते हैं।[5] तकनीक के क्षेत्र में माथुर जी ने क्या कुछ किया है अथवा वे क्या कुछ करना चाहते हैं, इसका विचार प्रस्तुत प्रबन्ध में अन्यत्र किया जायेगा। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि माथुर जी ने आधुनिक सभ्यता और समाज—विशेषतः

---

१. २. ३. ४ ५. उदय की बेला में हिन्दी रंगमंच और नाटक—कोणार्क जि० च० माथुर— परिशिष्ट-२—पृ० १०६, ६६. १०८, १०६

मध्यवर्ग की नानाविध समस्याओं को निकट से परखा है, उनकी मुसीबतों, परेशानियों का अनुभव किया है । इस कारण उनके नाटकों का रचना-विषय, मध्यवर्ग का हास-रुदन है, उसकी आशा-आकांक्षा, कसक-तड़प है । मध्य-वर्ग की समस्याओं के चतुर चितेरे माथुर जी इसी नाते समस्या-नाटककारों के बीच परिगणित किये जा सकते हैं । यहाँ हम फिर से यह कह देना चाहते हैं कि समस्या-नाटककार हो कर भी माथुर जी 'इब्सनवादी' अथवा 'शॉ-वादी' कहाना पसन्द नहीं करेंगे । दूसरे समस्या-नाटककारों के साथ इनका यह भेद स्पष्ट है ।

श्री जगदीश चन्द्र माथुर के एकांकी नाटकों में निम्नलिखित समस्या चित्रण की दृष्टि से विशेष रूप से विचार करने योग्य है :—'रीढ़ की हड्डी,' 'मकड़ी का जाला,' 'खँडहर' ।

उपर्युक्त नाटकों की रचना क्रमश: अक्टूबर १९३९, जुलाई १९४१ और सितम्बर १९४३ ई० में हुई थी । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सन् १९४८ और १९५३ की अवधि के मध्य माथुर जी ने 'ओ मेरे सपने' शीर्षक संग्रह में संकलित होने वाले 'घोंसले,' 'खिड़की की राह,' 'कबूतरखाना,' 'भाषण' और 'ओ मेरे सपने'—इन पाँच एकांकियों की (जिन्हें उन्होंने 'एक व्यस्त सरकारी जीवन के कोनों में दुबके हुए दो-चार फ़ुरसत के क्षणों की देन'[1] की संज्ञा दी है) भी रचना की । प्रस्तुत प्रबन्ध में जो काल-सीमा स्थिर की गयी है, उसके कारण इस नये एकांकी नाटकों की आनुषंगिक चर्चा ही की जा सकती है ।

अब हम यह देखेंगे कि माथुर जी ने अपने एकांकियों में किन समस्याओं की प्रस्तुति की है और उनका रूप क्या है ।

रीढ़ की हड्डी : 'रीढ की हड्डी' शीर्षक एकांकी में मध्य वर्ग की एक बड़ी समस्या की प्रस्तुति हुई है । पश्चिम के लोगों से परिचय होने के बाद देश में पश्चिमी शिक्षा के प्रसार-प्रचार की धूम मची । १९वीं शताब्दी में देश में जो वैचारिक क्रान्ति हुई, उसने [illegible] को और भी गतिशील कर दिया । परिणाम हुआ कि पुरुषों के साथ-साथ नारियों ने भी पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करना शुरू किया । आरम्भ में इस पश्चिमी शिक्षा का परिणाम बहुत स्वस्थ नहीं दीखा । पढ़े-लिखे वर्ग की स्थिति ऐसी हो गयी कि वह केवल शरीर से भारतीय रह गया—उसका और सब-कुछ विदेशी हो गया । धीरे-धीरे स्थिति ऐसी आ गयी कि लोगों को पश्चिमी शिक्षा अखरने लगी । जीविका के प्रश्न के कारण पुरुषों को अंग्रेज़ी शिक्षा ग्रहण करने की लाचारी थी । इससे पुरुषों के संदर्भ में आधुनिक शिक्षा का तिरस्कार सम्भव नहीं था । लेकिन जब औरतें शिक्षिता हो कर अंग्रेजी अखबार पढ़ने लगीं और 'पॉलिटिक्स' वगैरह पर बहस करने लगी तब ऐसा लगा कि गृहस्थी की नाव डूब गयी । पुरातनता की परम्परा और उसके संस्कार से समाज को तब तक मुक्ति नहीं मिल पायी थी । इससे नारी-शिक्षा का

---

१. ओ मेरे सपने—निवेदन—ज० च० माथुर—पृष्ठ ८

विरोध शुरू हुआ। स्थिति ऐसी हो गयी कि विद्यालयों में पढ़ने वाली बालिकाओं का मिलना कठिन हो गया और स्त्री-शिक्षा के प्रसार की आकांक्षा रखने वालों को तरह-तरह के प्रलोभन देने पड़े। पुरुष और स्त्री के क्षेत्र अलग-अलग हैं, कुछ बातें दुनिया में ऐसी हैं, जो सिर्फ़ मर्दों के लिए हैं—ऐसा कह कर पश्चिमी आधुनिक शिक्षा से नारी-वर्ग को वंचित रखने का उद्योग आरम्भ हुआ। ऐसा कहा जाने लगा कि पश्चिमी शिक्षा भारत की ललनाओं के लिए हितकर नहीं है। प्रस्तुत नाटक के गोपाल प्रसाद कहते ही हैं—'जनाब, मोर के पंख होते हैं, मोरनी के नहीं, शेर के बाल होते हैं शेरनी के नहीं।'[१] उसकी हाँ-में-हाँ मिलाता हुआ रामस्वरूप भी कहता ही है—'जी हाँ, और मर्द के दाढ़ी होती है, औरत के नहीं।'[२]

रामस्वरूप ने अपनी बेटी उमा को बी०ए०तक की शिक्षा दी है और यही उसकी मुसीबत का कारण है। गोपाल प्रसाद खुद पढ़ा-लिखा है, वकील है, सभा सोसायटियों में जाता है, मगर अपने बेटे के लिए बहू चाहता है ऐसी, जो ज्यादा पढ़ी-लिखी न हो।[३] हालत यह है कि आज बेटी वालों को इस बात पर पछतावा हो रहा है कि उन्होंने अपनी कन्या को सुशिक्षिता क्यों बनाया[४] और वर-पक्ष के सामने यह झूठ बोलना पड़ता है कि लड़की अधिक पढ़ी-लिखी हुई नहीं है।[५] पढ़ी-लिखी लड़कियों से समाज को जो शिकायत है, उसे गोपाल प्रसाद ने बड़े साफ़ ढंग से इस प्रकार बताया है—'जी हाँ, साफ़ बात है साहब, हमें ज़्यादा पढ़ी-लिखी लड़की नहीं चाहिए। मेम-साहब तो रखनी नहीं, कौन भुगतेगा उनके नखरों को? बस हद-से-हद मैट्रिक पास होनी चाहिए।'[६] गोपाल प्रसाद का बेटा शंकर, जिसके लिए वधू का चुनाव हो रहा है, भी कह देता है—'कोई नौकरी तो करानी नहीं।'[७]

इधर लड़की की माँ अपनी परेशानी में यही सोचती है कि वह ज़माना ही ठीक था, जब उसका विवाह हुआ था। वह कहती है—'अपना ज़माना अच्छा था। 'आ' 'ई' पढ़ ली, गिनती सीख ली और बहुत हुआ तो स्त्री-सुबोधिनी पढ़ ली।'

लेकिन ज़माना आगे भाग आया है। गोपाल प्रसाद जैसा दकियानूस भी इतना तो चाहता ही है कि उसकी होने वाली पुत्र-वधू कम-से-कम मैट्रिक पास हो, थोड़ा गाना बजाना भी उसे आये, पेंटिंग-सिलाई की भी शिक्षा उसे प्राप्त हो।[९] उसका विरोध बहुत पढ़ी-लिखी लड़कियों से है—साधारण पढ़ी-लिखी मैट्रिक-पास से नहीं।

नयी रोशनी के कारण उमा जैसी लड़कियाँ बेज़बान गाय बनी रहना नहीं सह पातीं और जब उन्हें लगता है कि वे भी क्रय-विक्रय की कोई वस्तु मानी जा रही हैं तो वे तीव्र विरोध कर उठती हैं। उमा ने कहा ही है—'क्या जबाब दूँ बाबूजी! जब कुर्सी-मेज़ बिकती है तब दुकानदार कुर्सी-मेज़ से कुछ नहीं पूछता, सिर्फ़ खरीदार को दिखला देता है। पसन्द आ गयी तो अच्छा है, वरना....।'[१०] उमा का स्वाभिमान यह

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. भोर का तारा—जगदीश चंद्र माथुर — पृष्ठ १०४, १०४, ९६, ९४. ९४-९५ १०३, १०३. ९३ १०६. १०७.

देख कर आहत होता है कि गोपाल प्रसाद ने उसे सौदे की वस्तु समझा और उसी भाव से वे उसे परख रहे हैं। वह खुले शब्दों में नारी-वर्ग के विरोध को वाणी देती है और हमारे आगे समस्या के मुख्य पहलू को प्रस्तुत करती हुई कहती है :

'ये जो महाशय मेरे खरीदार बन कर आये हैं, इनसे ज़रा पूछिये कि क्या लड़कियों के दिल नहीं होता ? क्या उनके चोट नहीं लगती ? क्या वे बेबस भेड़-बकरियाँ हैं, जिन्हें कसाई अच्छी तरह देख-भाल कर खरीदते हैं' ?[१] उसका कहना है कि उसने बी० ए० पास किया है और इसमें न कोई पाप है, न चोरी है, जो वह शर्मिन्दा हो।[२]

हमारा पुरुष-वर्ग लड़की से तो एक के बाद न जाने कितनी अपेक्षाएँ रखता है लेकिन लड़के की योग्यता के विषय में वह कोई शर्त नहीं रखना चाहता। इसी गोपाल प्रसाद का हाल लीजिए। रामस्वरूप की कन्या उमा को अपनी पुत्र-वधू बनाने के पहले वह इतना मीन-मेख कर रहा है, नाप-तौल कर रहा है और उधर उसका बेटा शंकर ऐसा है, जिसकी रीढ़ की हड्डी ही नहीं है, लड़कियों के होस्टल के इर्द-गिर्द घूम कर और अपमानित हो कर मानो वह अपनी रीढ़ की हड्डी खो चुका है। इसी नीच और कायर अपदार्थ के विवाह के लिए इतनी नाप-तौल हो रही है। अपना माल तो ठीक नहीं और बाप चला है इतने नखरे ले कर बहू की खरीदारी करने ! उमा परिस्थिति की इसी विद्रूपता को मुखर करती है।

यह उमा पुरुष के साथ नारी के समानाधिकार की बात नहीं उठाती। लेकिन इतना तो चाहती ही है कि पुरुष-वर्ग नारी को बेजान न समझे—हीन, अपदार्थ न समझे। ज़माना टीम-टाम का है और आज-कल की लड़कियों के सहारे ही पाउडर का कारबार चलता है।[३] लेकिन उमा है, जिसे टीम-टाम, बनाव-सिंगार से न जाने किस जन्म की नफ़रत है। स्पष्ट है, उमा पढ़ी-लिखी हो कर भी वैसी आधुनिका नहीं है, जिसके नखरे उठाने में आदमी की तबाही हो जाय। फिर भी वह अभिशप्त है—केवल इसलिए कि उसने बी० ए० तक पढ़ा है। उसके अभिशाप के इस न्याय की ओर भी हमारी दृष्टि जाती ही है।

हमारी विवाह-संस्था के एक दूसरे दोष की ओर भी नाटककार की नज़र जाती है। वर-पक्ष और कन्या-पक्ष सम्बन्ध स्थिर करने तो चलते हैं, लेकिन वणिक-वृत्ति ले कर। गोपाल रामस्वरूप के घर आ कर कहता ही है—'अच्छा तो साहब फिर बिज़िनेस की बातचीत हो जाय।'[४] और चूँकि यह व्यवहार 'बिज़िनेस' है, इससे दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को ठगने की चेष्टा करते है। गोपाल प्रसाद इस बात को छिपाता है कि उसका बेटा दृढ़ और पुरुषार्थ सम्पन्न नहीं है[५] और रामस्वरूप गोपाल प्रसाद से यह छिपाता है कि उसकी लड़की बी० ए० पास है और पढ़ने की मेहनत से उसकी आँखें कमज़ोर

---

१. २. ३. ४. ५. भोर का तारा—ज० च० माथुर
—पृष्ठ १०७, ९४, १००, १०१,

हो गयी हैं।[१] हमारी यह कैसी दयनीयता है कि खून की रिश्तेदारी करते समय भी हम स्वच्छ-हृदय ले कर नहीं बैठते।

मकड़ी का जाला : 'मकड़ी का जाला' शीर्षक एकांकी में माथुर जी ने सम्पत्ति-संचय और ऐश्वर्य-कामना के मकड़ी के जाल में उलझ कर अपनी सबसे बड़ी निधि को खो देने वाले एक व्यक्ति की समस्या उठायी है। भोलानाथ नामक एक व्यक्ति है, जो पहले नितांत निर्धन था और बीस साल पहले उसका कमला नामक युवती से अनायास ही प्रेम हो गया था।[२] जीवन के अभाव ने उसे सुझाया कि पहले वह धनी बन ले फिर प्रेम कर लेगा। जवानी की उस उमंग के लिए भोलानाथ उन्नति के मार्ग में बैल की तरह जुत जाता है।[३] आज वह इतनी सारी कम्पनियों का हिस्सेदार है और उसके पास बेशुमार दौलत है। लेकिन सच्ची बात यह है कि उसका जीवन रेगिस्तान हो गया है। उसने दौलत पाने के लिए अपनी सबसे प्यारी निधि—अपनी प्रेमिका के प्यार—को गंवा दिया है। उसने अपने दिल से प्यार को, संगीत को और सौन्दर्य-भाव को निर्वासित कर दिया है।[४] उसकी कमला के टप-टप बरसते आँसू अब टपकना भी भूल गये हैं। इस प्रकार निर्धन भोलानाथ पूँजीपति तो बन जाता है लेकिन वही प्यार के नाते निर्धन भी हो जाता है। उसके सामने कॉलेज से निकला हुआ एक 'स्मार्ट' नवयुवक नौकरी माँगने आता है और उसका नाम है चन्द्रभान। यह नवयुवक समझे हुए है कि ज़िन्दगी में शायरी भी ज़रूरी है। अरमानों की उसकी भी एक दुनिया है और वह चाहता है कि भोलानाथ उसकी सहायता करे ताकि वह भी जीवन में उन्नति कर पाये। भोलानाथ को ऐसे नौजवानों को, जिनकी आँखों में भविष्य नाच रहा हो, ठोस दुनिया से टकराते देख कर एक प्रकार का लुत्फ़ आता है।[५] उसने उसे अपनी नौकरी में रख तो लिया है लेकिन उसे वह व्यावहारिकता, ज़िन्दगी की कुछ सीख भी दे देना चाहता है। भोलानाथ की सीख है कि चन्द्रभान को खुली धूप में नंगी आँखों से चीज़ों को देखने की आदत डालनी चाहिए।[६] ज़िन्दगी एक कठोर मालिक है और उसके दिल में दया नहीं है, वह सिर्फ़ काम लेना जानती है। मिन्नतों का उसके ऊपर कोई असर नहीं होता। गाने और रोने पर वह मोहित नही होती।[७] सीधी सी बात यह है कि जो जितना ही अपने जज़बात को दबा सकता है, वह उतनी ही तरक्की कर सकता है।[८] इसलिए चन्द्रभान को कविता भुलानी होगी। इस प्रकार भोलानाथ उस नादान युवक के सपनों को तोड़ देना चाहता है। लेखक के शब्दों में सुन्दरता के मंदिर के एक और उपासक को भ्रष्ट कर देना चाहता है।[९] इसी में भोलानाथ अपनी विजय समझता है। यह इसलिए कि किसी की लालसा को चकनाचूर करने में इसे आत्म-पीड़न का सुख मिलता है।

---

१. भोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर—पृष्ठ १०५

२. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. भोर का तारा—मकड़ी का जाला—
| ज० च० माथुर—पृष्ठ १७-१८ १७-१८, १५ ४, ६, ८, ९, १२,

हो गयी हैं।[1] हमारी यह कैसी दयनीयता है कि खून की रिश्तेदारी करते समय भी हम स्वच्छ-हृदय ले कर नही बैठते।

मकड़ी का जाला : 'मकड़ी का जाला' शीर्षक एकांकी में माथुर जी ने सम्पत्ति-संचय और ऐश्वर्य-कामना के मकड़ी के जाल में उलझ कर अपनी सबसे बड़ी निधि को खो देने वाले एक व्यक्ति की समस्या उठायी है। भोलानाथ नामक एक व्यक्ति है, जो पहले नितांत निर्धन था और बीस साल पहले उसका कमला नामक युवती से अनायास ही प्रेम हो गया था।[2] जीवन के अभाव ने उसे सुझाया कि पहले वह धनी बन ले फिर प्रेम कर लेगा। जवानी की उस उमंग के लिए भोलानाथ उन्नति के मार्ग में बैल की तरह जुत जाता है।[3] आज वह इतनी सारी कम्पनियों का हिस्सेदार है और उसके पास बेशुमार दौलत है। लेकिन सच्ची बात यह है कि उसका जीवन रेगिस्तान हो गया है। उसने दौलत पाने के लिए अपनी सबसे प्यारी निधि—अपनी प्रेमिका के प्यार—को गंवा दिया है। उसने अपने दिल से प्यार को, संगीत को और सौन्दर्य-भाव को निर्वासित कर दिया है।[4] उसकी कमला के टप-टप बरसते आँसू अब टपकना भी भूल गये हैं। इस प्रकार निर्धन भोलानाथ पूँजीपति तो बन जाता है लेकिन वहीं प्यार के नाते निर्धन भी हो जाता है। उसके सामने कॉलेज से निकला हुआ एक 'स्मार्ट' नवयुवक नौकरी माँगने आता है और उसका नाम है चन्द्रभान। यह नवयुवक समझे हुए है कि ज़िन्दगी में शायरी भी ज़रूरी है। अरमानों की उसकी भी एक दुनिया है और वह चाहता है कि भोलानाथ उसकी सहायता करे ताकि वह भी जीवन में उन्नति कर पाये। भोलानाथ को ऐसे नौजवानों को, जिनकी आँखों में भविष्य नाच रहा हो, ठोस दुनिया से टकराते देख कर एक प्रकार का लुत्फ़ आता है।[5] उसने उसे अपनी नौकरी में रख तो लिया है लेकिन उसे वह व्यावहारिकता, ज़िन्दगी की कुछ सीख भी दे देना चाहता है। भोलानाथ की सीख है कि चन्द्रभान को खुली धूप में नंगी आँखों से चीज़ों को देखने की आदत डालनी चाहिए।[6] ज़िन्दगी एक कठोर मालिक है और उसके दिल में दया नही है, वह सिर्फ़ काम लेना जानती है। मिन्नतों का उसके ऊपर कोई असर नहीं होता। गाने और रोने पर वह मोहित नही होती।[7] सीधी सी बात यह है कि जो जितना ही अपने जजबात को दबा सकता है, वह उतनी ही तरक्की कर सकता है।[8] इसलिए चन्द्रभान को कविता भुलानी होगी। इस प्रकार भोलानाथ उस नादान युवक के सपनों को तोड़ देना चाहता है। लेखक के शब्दों में सुन्दरता के मंदिर के एक और उपासक को भ्रष्ट कर देना चाहता है।[9] इसी में भोलानाथ अपनी विजय समझता है। यह इसलिए कि किसी की लालसा को चकनाचूर करने में इसे आत्म-पीड़न का सुख मिलता है।

---

१. भोर का तारा—जगदीश चन्द्र माथुर—पृष्ठ १०५

२. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. भोर का तारा—मकड़ी का जाला—

यह आनन्द उसकी भूखी आत्मा की माँग पूरी करता है।[१] उसकी अन्त:चेतना उसे धिक्कारती है और आवेश के एक क्षण में वह पुकार उठता है—'उससे (चन्द्रभान से) कह दो कि अगर उसे बचना है तो वह दूर भाग जाय—दूर बहुत दूर!' लेकिन भोलानाथ को तो अर्थपिशाच ने ग्रस्त कर रखा है, वह मकड़ी के जाले में फँस चुका है और जैसे आप फँसा हुआ है, वैसे ही वह चन्द्रभान जैसे दूसरे लोगों को उस जाल में फँसा कर छोड़ने के लिए विवश है।[२]

स्पष्ट है, भोलानाथ ने जीवन को जैसा समझा है, उसमें कहीं कोई भूल है। घने बादल पर चूना फेरने वाला जैसे असफल सिद्ध होता है, वैसे ही वह असफल है और शायद सदा रहेगा भी।

इस एकांकी में इस प्रकार यह दिखाया गया है कि अर्थ-पिशाच, ज़िन्दगी के प्रकृत-रूप को तिरोहित कर देता है और व्यक्ति, सम्पत्ति की एषणा में, अपना वह सब कुछ खो देता है, जो सुन्दर है, स्वाभाविक है। नाटककार ने साथ ही यह भी संकेत किया है कि भौतिकवाद ने आज हमारे जीवन को इतना विकृत कर दिया है कि हमें यह अनुभव करना पड़ता है कि यदि संसार में जीना है तो भावुकता, कोमलता और सौन्दर्यप्रियता को छोड़ना होगा। भोलानाथ ने कहा ही है—'तुम नौकरी करने आये हो, कोई खिलवाड़ करने के लिए नहीं। कविता, प्यार, गीत....छि: ! जानते हो तुम ज़िन्दगी के द्वार पर खड़े हो।'[३]

खँडहर : 'खँडहर' शीर्षक एकांकी में नन्दलाल और मकबूल नामक निम्न-मध्य-वर्ग के ऐसे दो व्यक्तियों की कहानी कही गयी है, जो 'प्यार, मिठास और खूबसूरती से हाथ धो बैठे हैं।'[४] रात के अँधेरे में जैसे रंगीन शाम खो जाती है, वैसे ही काम, मेहनत और फ़िक्रों की ज़िन्दगी में इश्क और उसकी याद इनके जीवन से ग़ायब हो गयी है।[५] नन्दलाल किसी दफ़्तर में किरानी है और मकबूल प्रूफ़रीडर। इनकी ज़िन्दगी की हालत यह है कि 'दफ़्तर में मालिक से कभी बिज़िनेस के अलावा कोई बात नहीं; घर में बीवी से फ़िक्रों के अलावा और कुछ ज़िक्र नहीं'।[६] दफ़्तर में मालिक अथवा आफ़िसर की घुड़कियाँ और घर लौटने पर बीवी-बच्चों की बीमारियाँ, वही नौकरानी नदारद और मकान वाले के तक़ाज़े।[७] साहब इधर नाराज़ रहता है; बीवी की फटकार इधर सुननी पड़ती है। परकैंच परिन्दे की मानिन्द इनके जज़बात फड़फड़ा कर रह गये।[८] अपनी इस ज़िन्दगी से, जिसमें मशीन की तरह एक-सी गति से काम, एक-सी गति से खाना-पीना, सोना, बच्चे पैदा करना और उनकी परवरिश में, तीमारदारी में मर खटना[९] ही इनके लिए बदा हो तो इन्हें संतोष क्योंकर हो सकता है? लेकिन

१. भोर का तारा—मकड़ी का जाला—ज० च० माथुर—पृष्ठ १४
२. ३. भोर का तारा—संग्रह—ज० च० माथुर—पृष्ठ २१, ७
४. ५. ६. ७. ८. ९. भोर का तारा—खँडहर—ज० च० माथुर—पृष्ठ ६२, ६६, ६१, ५९, ६१, ६१

नहीं, इस ज़िन्दगी की इन्हें आदत पड़ गयी है।[1] आरम्भिक दिनों में इनके दिलों में 'बाग़ी ख़यालात[2] पैदा होते थे लेकिन पाँच-दस बरस में वे भी काफ़ूर हो गये। इस प्रकार आज ये हवा और धूप की नियामतों से दूर, अँधेरे में सरकने वाले कीड़े-मकोड़ों जैसे हो गये हैं।[3] लेकिन कभी इनकी भी ज़िन्दगी थी, इनके भी अरमान थे। कभी इनमें भी वह जादू था, जो किसी को इनकी ओर खींच ले। नन्दलाल की प्रेमिका नलिनी और मकबूल की माशूका नरगिस इनकी ओर बेताब पहाड़ी नदी की तरह बढ़-कर आयी थीं और ये बेबस किनारों की तरह उस उठान से दूर भाग न सके थे। लेकिन इन प्रेमियों के बीच धन-ऐश्वर्य की दीवार खड़ी थी, दुर्गम दुर्ग की तरह। नन्दलाल की पढ़ाई, माँ की बीमारी और भाइयों की परवरिश की समस्या के कारण शेष हो गयी और फिर वह 'बाबू' बन गया। मकबूल की प्रेमिका किसी बड़े व्यापारी की पत्नी बनी और नलिनी भी नन्दलाल से बिछुड़ गयी। इस प्रकार दोनों ही प्रेम में निराश हो कर और ज़माने से हार कर ज़िन्दगी की सड़क पर धूल फाँक रहे हैं और उस धूल के गुबार में अतीत के सुहावने मनभावने दिनों की याद भी धुँधली पड़ गयी है।[4] मकबूल का प्रश्न है कि क्या हमारे ये अरमान यों ही दबे हुए, ठुकराये हुए पड़े रहेंगे?[5]

नहीं, संयोग ने नन्दलाल के दफ़्तर के चपरासी यूसुफ़ और उसकी चहेती बनजारिन अमीना के माध्यम से उन्हें अपनी प्रेमिकाओं से विलक्षण ढंग से मिलाया और उनके हृदय का राग भी युसुफ़ के गीत 'आज हमारे मन की रानी प्यार जगाने आयेगी' की धुन के साथ स्वर मिलाने का अवसर पा सका। लेकिन अगले ही दिन दोनों को अपनी नौकरी भी खोनी पड़ी।

यूसुफ़ आदमी है, धरती का बेटा है। उसमें हिम्मत है कि वह अपनी चहेती के साथ भाग खड़ा हो। लेकिन मकबूल और नन्दलाल तो यह भी नहीं कर सकते। ये दोनों बाबू जो हैं। उनके पास इज़्ज़त है, उनको फ़िक्र और ठोकरों और हिम्मत-पस्ती की ज़ंजीरों ने बाँध रखा है,[6] बाँध ही नहीं जकड़ रखा है और इसलिए वे यूसुफ़ नहीं बन सकते। चाँदनी की दौलत सचमुच इनके लिए नहीं है। घर और ख़ूबसूरती के अरमान इनके लिए सिर्फ़ सपने हैं।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि 'मकड़ी का जाला' शीर्षक में नाटककार ने जिस शाप की छाया को देखा था, मकबूल और नन्दलाल को उसने ही ग्रस्त कर लिया है और उन्हें बरबाद कर दिया है। चित्र का दूसरा पहलू हमें देखने को मिलता है— नलिनी और नरगिस की जीवन-गाथा में। नरगिस की शादी होती है एक शिक्षित और अमीर कुटुम्ब में। वह एक बड़े बँगले में रहती है। दर्जनों नौकर-चाकर हैं। हर तरह का आराम भी उसे हासिल है। लेकिन दुनिया की नज़र में तकदीर वाली यह नरगिस, जैसे ज़िन्दगी की अँधेरी कोठरी में कैद है।[7] उधर नलिनी है, जिसकी तबीयत

---

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. भोर का तारा—खँडहर—ज० च० माथुर—पृष्ठ ६०, ६१, ६२, ६८, ६८ ८७, ७५-७६

उचट-उचट कर आज भी भागती है अपने सपनों की ओर, उस भोले और भावुक नौजवान की ओर, जो बाढ़ की नदी में बढ़ते हुए झाड़ की तरह उसके किनारे पर पल भर के लिए अटका, उलझा और फिर बाढ़ के बहाव में ही कहीं खो गया।[1] लेकिन बड़े घरों की इन औरतों को, जिनकी उम्र आधी बीत चुकी है, जिनके बाल-बच्चे हैं अपनी नेकनामी का खयाल तो रखना ही होगा।[2] यह उनकी विवशता है। समाज से ये भी द्रोह नहीं कर सकतीं भले ही इनकी ज़िन्दगी तल्ख़ हो जाय। इस प्रकार मध्य-वर्ग के ये चलते-फिरते इन्सान जीते जी मरने वाले शहीद ठहरते हैं। चाहिए तो इन्हें खँडहर कह लीजिए। इनकी ऐसी दयनीयता है कि इनके प्राणों की तपन, न तो बाहरी दुनिया को ही झुलसाती है और न इनको ही जला कर खाक बना सकती है।[3] प्रश्न है, आख़िर इनकी परम्परा कब तक चलती रहेगी? नाटककार ने इस रचना में इसी प्रश्न-चिह्न को हमारे समक्ष वृहद् आकार दे कर खड़ा कर दिया है!

डॉ० रामचरण महेन्द्र ने माथुर जी की इस कृति को उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना कहा है।[4] वे कहते हैं—'गुप्त मनोभावों तथा दमित अनुभूतियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण यहाँ बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है।'[5]

मध्य-वर्ग की कतिपय अन्य समस्याओं की प्रस्तुति नाटककार ने अपनी अगली रचना 'ओ मेरे सपने' में की है। नाटककार ने हमें पहले ही यह बता दिया है कि 'ओ मेरे सपने' संग्रह के नटखट एकांकियों में, न कोई गहन दर्शन है, न किन्हीं प्रबल प्रेरणाओं का आघात-प्रतिघात है और न किन्हीं उदात्त आदर्शों की आवेशपूर्ण अभि-व्यंजना ही है। सामाजिक विषमताओं का निदर्शन उनमें अवश्य किया गया है लेकिन जिन कमज़ोरियों का खाका उनमें खींचा गया है, उन पर जैसा कि माथुर जी ने बताया खड्गहस्त और कुंचित-भ्रू हो कर प्रहार नहीं किया गया है बल्कि उनके अतिरंजित स्वरूप—अर्थात् कैरिकेचर को सामने रख कर पाठक और दर्शक को उनके बेडौलपन से परिचित कराया गया है।[6]

मध्यवर्ग की एक समस्या है—बहुत बच्चों की समस्या। 'घोंसले' शीर्षक एकांकी में इसी समस्या की प्रस्तुति हुई है। इस नाटक की समस्या को दो प्रधान पात्रों, जगमोहन और विजय के माध्यम से उपस्थित किया गया है।

जगमोहन अपने कॉलेज-जीवन के समय ऐसा छबीला सरदार था, जिसके लिए कॉलेज की लड़कियों के सारे अच्छे-अच्छे कटाक्ष रिज़र्व रहते थे। वह सदा कोयल की तरह रहने में विश्वास करता था—घोंसले और अंडों से कोई सरोकार रखना नहीं चाहता था। उसका सिद्धान्त था कि यदि सभ्यता को बचा कर रखना है तो कानून के

---

१. २. ३. भोर का तारा—खँडहर—ज० च० माथुर—पृष्ठ ७७, ७७, ८८

४. ५. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—पृष्ठ १८५, १८५

६. ओ मेरे सपने—निवेदन—ज० च० माथुर—पृ० ८

बल पर शादियों को रोक देना होगा। यह इसलिए कि शादी वह दीवार है, जो मनुष्य की आत्मा-रूपी अनारकली के चारों तरफ़ चुनी जाती है और मनुष्य उसके बीच घुट कर मर जाता है। लेकिन वही बाँका सरदार आज अस्पताल के मैटर्निटी वॉर्ड के बाहर फ़ैसले को प्रतीक्षा करते अभियुक्त की तरह खड़ा है और सुनता है कि उसकी पत्नी ने दो बच्चे एक साथ जने। इधर दूसरा है विजय, जो आपबीती कहते हुए कहता है—'जब दूसरी लड़की हुई तो हम लोगों ने कहा, चलो, पहली के साथ खेलने के लिए सहेली चाहिए। तीसरी हुई तो सोचा, एक स्पेयर पार्ट भी तो हो। जब चौथी का नम्बर आया तो क्या कह कर तसल्ली पाते? कहा कि चलो, शुरू-शुरू में ही इन झंझटों से निबट लें, आगे फ़ुरसत रहेगी।' विजय की समझ में—'पहला बच्चा ख़ुशी का आलम, दो बच्चे ख़तरे की घंटी; तीन बच्चे, बस भई; चार बच्चे, ख़ुदा की पनाह और पाँच बच्चे —मा त म।'

'कबूतरख़ाना' शीर्षक एकांकी में मध्यवर्गीय दम्पति रतन और कंचन के जीवन-संघर्ष की कठिनाई का विवरण मिलता है। छोटी आमदनी और बढ़ा हुआ ख़र्च! इसी की परेशानी में दम्पति को जीवन ही विस्मृत हो जाता है। पेन्डिंग बिल, नोटिस, पेड-अप, नाम से कबूतरख़ाने में जो तीन ख़ाने हैं, उनको करीने से सजाने में ही रतन की सारी शक्ति शेष हो जाती है। इसलिए उसे यह भी याद रखने की सुविधा नहीं है कि उसकी शादी की साल-गिरह किस दिन है।

'खिड़की की राह' बर्नार्ड शॉ के 'कैन्डिडा' की छाया ले कर रचित एकांकी है। इसमें प्रवीण नामक एक युवक आता है, जो 'सफल जीवन की पुस्तक' को गीता मान कर अपने को भावी जीवन के लिए तैयार कर रहा है। उसकी प्रेमिका है उर्मिला, जिसके सम्मान में उसने एक छोटी-सी पार्टी का आयोजन किया है। इसी पार्टी में प्रवीण का कच्चा रोगन, दिलीप नामक म्यूज़िक मास्टर के हाथों खुल जाता है और उर्मिला प्रवीण को साफ़-साफ़ कह देती है—'जीवन के किनारे से तुमने कुछ काँच के टुकड़े उठा लिये हैं, जिन्हें तुम आदर्श कहते हो और जिन्हें जोड़-जोड़ कर तुम अपने लिए एक दर्पण-सा बना रहे हो। क्या उस दर्पण की तुम्हारी छाया-मूर्ति को मैं असलीयत समझूँ? तुम प्रेम करते हो मुझसे नहीं, उस छाया-मूर्ति से, जो तुम्हारा कार्टून है। लेकिन मैं तो आदमी से शादी करना चाहती हूँ, कार्टून से नहीं।'[1] और उसे दिलीप के रूप में वह आदमी नजर आता है। उर्मिला ऐसी औरत नहीं हो सकती, जिसको उसका पति अपनी पवित्रता और नेकनीयती के ढकोसले के नीचे सदा-सर्वदा से लिए दबा कर रखे। वह विद्रोहिणी है और प्रवीण की कल्पना के प्रतिकूल, ऐश-पसन्द आधुनिका हो कर भी एक म्यूज़िक मास्टर से विवाह करने का निश्चय कर सकती है।

इस प्रकार माथुर जी के इस एकांकी की नायिका उर्मिला, एक ओर मध्य-वर्ग के युवक-समाज के खोखलेपन का पर्दाफ़ाश करती है और उसकी दयनीयता को सूर्य के

---

१. ओ मेरे सपने—ज० च० माथुर—पृ० ५६

प्रकाश में ला खड़ा करती है और दूसरी ओर यह भी सूचना देती है कि नारी-समाज, भाग्य भरोसे बैठने, ठोकर खाने और सब-कुछ सहते रहने से इन्कार भी करने लगा है।

ऊपर के विवरण से यह विदित है कि माथुर जी आज के मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ के चतुर चितेरे हैं। उसकी अनेकानेक समस्याओं पर उनकी भावुक दृष्टि पड़ी है। अस्तु, उनके नाटकों का कथानक उस मध्य-वर्ग से लिया गया है, जो आज की दुनिया में सबसे अधिक बेचारा है। यह मध्य-वर्ग सामाजिक मर्यादाओं को परम्परागत रूढ़ियों के मकड़ी के जाल मे फँसा हुआ है। सबसे अधिक जागरूक होने के कारण सारी दुनिया का बोझ भी इसी वर्ग पर पड़ा हुआ है। 'रीढ़ की हड्डी' का रामस्वरूप अपनी बेटी को आधुनिक शिक्षा दिये बिना रह नहीं सकता और गोपाल प्रसाद का पुरातन रूढ़ियों का मोह, ग्रैजुएट लड़की को अपने घर पुत्र-वधू के रूप में लाने नहीं देगा। 'रीढ़ की हड्डी' की उमा हिन्दू-घरों की बेटियों की परम्परा ढोती तो है, उसे किसी अर्थ मे आधुनिका भी नहीं कहा जा सकता लेकिन उसका स्वाभिमान उस समय फुँफकार उठता है; जिस समय वह देखती है कि उसके होने वाले ससुर और पति उसे खरीदारी का कोई सौदा समझते है। आज के तरुण समाज में नवचेतना का जो प्रसार हो रहा है, जिसके परिणाम-स्वरूप वे क्रान्ति के लिए जैसे तत्पर हो रहे हैं, उसकी माथुर जी उपेक्षा नही कर सकते थे। 'खँडहर' के मकबूल, नन्दलाल और यूसुफ़, तीनों के जीवन में ऐसा एक अवसर आता है, जब वे चाहें तो अपनी प्रेमिका के साथ समाज की तीखी नजरों से भाग भी सकते हैं। लेकिन चाँदनी की मादकता का लाभ केवल यूसुफ़ ही उठा पाता है। यह इसलिए कि मकबूल और नरगिस, नन्दलाल और नलिनी अधेड़ है, बाबू-वर्ग के हैं, अपनी ज़िम्मेवारियों के आगे लाचार है और यूसुफ़ तथा अमीना जवान हैं, निम्न-वर्ग के हैं। कहिए, धरती की सन्तान हैं। इनकी मजबूरियाँ इनकी गर्दन नहीं पकड़ सकतीं। यह मध्य वर्ग ऊपर से चाहे जितना ही केसर-कुंकुम-मण्डित हो, भीतर से एकदम खोखला है, झनझन! 'कबूतरख़ाना' का रतन, इसी खोखलेपन का प्रतीक है। वैसे उसका बैंक के साथ हिसाब चलता है, वह बड़े लोगों की तरह चेक काट सकता है, पुर्ज़ों पर घर में सामान मँगा सकता है लेकिन बिलों की अदायगी के लिए या तो उसे अपना फ़ाउन्टेन पेन बेचना होगा अथवा अपनी पत्नी कंचन का वायलिन। इज़्ज़त जुगाते-जुगाते यह वर्ग बेइज़्ज़त हो रहा है। इसकी पीड़ा का अनुभव सचमुच कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है अथवा कोई अत्यन्त भावुक सम्वेदनशील कलाकार।

माथुर जी मध्य-वर्ग की समस्याओं की प्रस्तुति अपने नाटकों में करते हैं और इसलिए उनको समस्या-नाटककार कहना ही चाहिए। लेकिन माथुर जी की अपनी निजता है। वे समस्या का यथार्थ और हृदयग्राही चित्रण तो करते हैं लेकिन समस्या के विचार का भार वहन करने भर के लिए निर्जीव पात्रों को जन्म नहीं देते। समस्या-नाटकों में विचार-पक्ष इतना प्रबल रहता है कि पात्र विचारों के प्रतीक हो जाते हैं हैं और फिर विवाद अथवा भाषण-उपदेश का क्रम चलता है। माथुर जी ने अपने

नाटकों में इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि उनके पात्र अपनी ज़िन्दगी जियें, कथोप-कथन विवाद का रूप न ले और नाटक का कथ्य ऊपर से थोपा हुआ न लगे।

डॉ० रामचरण महेन्द्र ने माथुर जी के इस वैशिष्ट्य की ओर इशारा करते हुए बताया है :—'उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके नाटक केवल समस्या-नाटक मात्र बन कर नहीं रह जाते। पात्रों में कोई भी उनका माउथ-पीस बन कर नहीं रह जाता, उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व और चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट चित्रित की जाती हैं।'[१]

१. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास—रामचरण महेन्द्र—पृष्ठ १८४

चतुर्थ अध्याय | समस्या नाटकों का स्थापत्य

समस्या-नाटकों का स्थापत्य

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रसादोत्तर-काल के जिन हिन्दी नाटकों का विचार, किया गया है, उन्होंने संस्कृत के परम उन्नत नाट्य-शास्त्र और शिल्प के रिक्थ से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की है। हिन्दी के नाटक-साहित्य को एक सुनिश्चित भूमि पर प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम कृतिकार—स्वयं भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटक, संस्कृत की नाट्य-परम्परा से अलग हट कर नये कृति-संकल्प के साथ रचे गये। हिन्दी-नाटकों की रचना करते समय संस्कृत-नाटकों की शिल्प-परम्परा का अनुवर्तन करने को वे श्रम का अपव्यय समझते थे। उन्होंने अपना मत स्थापित करते हुए लिखा है—'अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मण्डली को नितान्त अरुचिकर है; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्य गण की हृदय-हारिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि हृदयकाव्य प्रणयन करना उचित नही है। अब नाटक में कहीं आशी: प्रभृति नाट्यालंकार, कही 'प्रकरी' कहीं 'विलोभन' कहीं 'संफेट' कहीं 'पंचसन्धि' या ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी-नाटक में इनका अनुसन्धान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रख कर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन लक्षण रख कर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।'[1]

बाबू श्यामसुन्दर दास जैसे भारतेन्दु के आलोचकों ने उनकी नाट्य-कला का रूप-निर्धारण करते हुए कहा है कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में, न तो भारतीय पद्धति का अनुकरण किया है और न यूरोपियन पद्धति का; बल्कि दोनों की कुछ-कुछ बातों का, यथारुचि पारसी नाटक-कम्पनियों और बंगला के प्रचलित नाटकों के अनुकरण पर, उपयोग किया है। इस कथन की व्यंजना बहुत ही स्पष्ट है। किन्तु हम ऐसे कथनों के

१. भारतेन्दु-ग्रन्थावली—पहला भाग—ब्रजरत्न दास—पृ० ७२२ (परिशिष्ट)

प्रमाण पर निश्चय ही भारतेन्दु की नाट्य-पद्धति को सही पहचान नहीं कर पाते। अवश्य ही भारतेन्दु का उद्देश्य किसी प्रकार की पँचमेल मिठाई तैयार करने का नहीं था। उन्होंने जो किया, वह था—अपने समय की बदली हुई लोक-रुचि का विचार करके शास्त्रीय नाट्य-नियमों की जटिलता को दूर करना और प्राचीन पद्धति में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन करके उसे अपने नाटकों के शिल्प के रूप में अंगीकार करना।

भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच की दुर्गति को अपनी आँखों देखा था और प्रतिक्रिया के भाव से प्रेरित हो कर हिन्दी के लिए स्वतन्त्र रंगमंच की स्थापना का शुभारम्भ भी किया था। उन्होंने यह चेष्टा भी की कि उनकी इस नवीन नाट्य-कला में वह सब कुछ हो, जिसकी हमें ज़रूरत थी। भारतेन्दु का विश्वास था कि अतीत और वर्तमान के आलोक में ही भविष्य की कल्पना की जा सकती है और इसलिए हमारे नाटकों को अपनी परम्परा से, न तो बिल्कुल मुँह मोड़ लेने की ज़रूरत है और न नवीन मान्यताओं को अंगीकार करते समय उसे हिचक ही होनी चाहिए। फिर जैसा कि 'प्रसाद' जी ने कहा—'पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़ कर नये को नहीं पाया है।'[1]

भारतेन्दु जी ने जिस स्वतन्त्र नाट्य-शिल्प और रंगमंच की ओर संकेत किया था और जिसकी स्थापना के लिए उन्होंने सतत् प्रयास किया, उसकी चेतना को सजीव बनाये रखने का उद्योग उत्तर-भारतेन्दु-युग में होना चाहिए था। लेकिन यूरोप के रोमान्टिक नाटकों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण वैसा प्रयत्न जारी न रह सका और हिन्दी के उस स्वतन्त्र रंगमंच का बिरवा पोषण-तत्व के अभाव में, असमय काल-कवलित हो गया।

यूरोप के रोमान्टिक नाटकों का यह प्रभाव लाला सीताराम रचित शेक्सपियर के नाटकों के रूपान्तरों अथवा गंगा प्रसाद श्रीवास्तव द्वारा मोलियर के नाटकों के अनुवाद के माध्यम से हिन्दी को प्राप्त हुआ—ऐसा कहना सर्वथा इतिहास-विरुद्ध होगा। सच्ची बात तो यह है कि उसी ज़माने में बंगला के डी० एल० राय के नाटकों की धूम मची और हिन्दी वालों के लिए भी उनके आकर्षण की अवहेलना करना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा हो गया। यूरोप के रोमान्टिक नाटकों का प्रभाव हिन्दी-क्षेत्र में इन्हीं राय महोदय के नाटकों के माध्यम से आया।

हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का उदय एक महत्वपूर्ण घटना है। वे भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य-शिल्पों की विशिष्टताओं से पूर्णतः परिचित थे। वे एक ओर हिन्दी नाटकों के शिल्प की स्वतन्त्रता और मौलिकता के आग्रही थे और दूसरी ओर भारतेन्दु ही की भाँति नवीन प्रभावों को ग्रहण कर उसे पूर्ण बनाना भी चाहते थे। इसी से उन्होंने भी अपने नाटकों का एक ऐसा शिल्प खड़ा किया, जिसमें भारतीय और यूरोपीय दोनों नाट्य-शैलियों की विशेषताओं का समन्वय हुआ। उन्होंने

---

१. काव्य-कला और अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ १०८ (रंगमंच)

प्राचीन शास्त्रीय रूढ़ि का तिरस्कार कर, 'नान्दी,' 'सूत्रधार,' 'भरतवाक्य' आदि की जटिलताओं का, अपने नाटकों से परिहार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने संस्कृत नाट्य-शास्त्र की वर्जनाओं की अवमानना करके हत्या, युद्ध, मृत्यु आदि के वर्जित दृश्यों की योजना भी अपने नाटकों में की। पाश्चात्य रोमान्टिक नाटकों की भाँति अपने नाटकों में उन्होंने शील-वैचित्र्य, संघर्ष, भावों के घात-प्रतिघात आदि का सन्निवेश किया। भारतीय और पाश्चात्य प्रणालियों का समन्वय करके उन्होंने कार्य-अवस्थाओं का निर्वाह इस खूबी के साथ किया कि दोनों प्रणालियों की मुख्य शर्तें पूरी हो गयी। उन्होंने नवीनता के आग्रह के कारण दृश्य-योजना और अंक-विभाजन की पश्चिमी पद्धति का ही अनुकरण किया। इस प्रकार उन्होंने ऐसे नाटकों की रचना की, जिनका शिल्प भारतीय और यूरोपीय मान्यताओं के एकीकरण की विशेषता से युक्त हो कर गठित हुआ था।

किन्तु, 'प्रसाद' की ये ही विशेषताएँ नहीं हैं, कुछ दूसरी भी हैं। रंगमंच के विकास के इतिवृत्त के ज्ञान ने प्रसाद को यह सुझाया था कि पुराचीन काल में काव्य रंगमंच की नियमानुकूलता को स्वीकार करने के लिए कभी बाध्य नहीं हुआ। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि काव्य के विकास ने ही रंगमंच के विकास का भी दिशा-निर्देश किया था। 'प्रसाद' जी ने इतिहास की इस गवाही पर घोषित किया कि 'प्रत्येक काल में काव्य अथवा नाटक के लिए ही रंगमंच होते हैं, न कि रंगमंच के लिए नाटक अथवा काव्य।'[१] इससे भी अधिक खुल कर उन्होंने कहा कि 'रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यावहारिक है।'[२]

'प्रसाद' जी ने हिन्दी में नाटक-रचना की अगति अथवा मन्थर गति के लिए रंगमंच के अभाव को उत्तरदायी समझा और उन्होंने इस बात पर परिताप प्रकट किया कि जड़ की इस बात की उपेक्षा करके आलोचक नाटककारों की इसलिए खबर लेते हैं कि उन्होंने हिन्दी-नाटकों के भांडार को इतना छूँछा बना रखा है।

रंगमंच का यह जो अभाव हिन्दी को था, उसके लिए किसी हद तक हमारा वह प्रमाद उत्तरदायी था, जिसके कारण हम भारतेन्दु के रंगमंच को जीवित नहीं रख सके और वह पनपने के पहले ही अकाल-मृत्यु को प्राप्त हुआ। फिर उसके ऊपर एक कारण यह था कि पारसी नाटको के मंच को भी इंग्लैंड के 'कीन' जैसे किसी प्रतिभाशाली रंगरंचक की सहायता प्राप्त नहीं हुई, जो रंगमंच में पुरावृत्त की खोजों के आधार पर नवीन प्रयोगों की योजना कर सके और जिससे नाटक-रचना को बल मिले। पश्चिम में नाटकों की रचना को नाटक-विषयक-शिक्षा देने वाले आलोचना-ग्रन्थों से भी बड़ी प्रेरणा मिली थी। अपने यहाँ तब की बात तो छोड़िये, आज भी वैसा कुछ कहाँ होता है? इसी बीच सिनेमा का ज़ोर बढ़ा। उसका सस्तापन, बाज़ारूपन और कला-

१. २. काव्य-कला और अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ १०३, ११०

विषयक भोंडापन नाटकों के स्वस्थ विकास के लिए प्रतिरोधक बना।

परिस्थितियों की ऐसी प्रतिकूलता में 'प्रसाद' की नाट्य-कृतियाँ 'पठनीय कथा-कृतियाँ' ही बन सकती थीं, 'नाटक' नहीं। हम ऊपर यह कह आये हैं कि प्रसाद जी ने अपनी नाट्य-कृतियों के काव्यत्व पर अधिक बल दिया, नाटकत्व पर कम। और फिर छायावाद के इस मूर्धन्य कवि से हम यह आशा भी कैसे कर सकते हैं कि वह अपनी छायावादी मनोवृत्ति और उसके संस्कार को नाटकों की रचना करते समय कहीं छिपा कर रख देगा? इस प्रकार काव्य और कथा के सुन्दर समाहार के कारण 'प्रसाद' की नाट्य-कृतियाँ उपन्यास की रोचकता तथा काव्य की गम्भीरता एवं दोनों की शील-निरूपण-सम्पदा का प्रतीक तो बन पायीं, नाटक की शर्तें पूरी न कर सकीं। इन सब का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि 'प्रसाद' के नाटक नाट्य-शिल्प की दृष्टि से, न तो प्राचीन क्रम में लिखे गये लगते हैं और न वे भविष्य के नाटकों के शिल्प का पुरोवाक् ही प्रस्तुत कर सके। आलोचकों और पाठकों ने यही समझ कर उनसे सन्तोष कर लिया कि वे पढ़ने के लिए हैं, खेलने के लिए नहीं। नाटक और रंगमंच की यह भिन्न-देशता किसी भी तरह शुभ नहीं मानी जा सकती।

हाँ, 'प्रसाद' की कृतियों में एक 'ध्रुवस्वामिनी' है, जो इस विषय में अपवाद है। उसके रूप में 'प्रसाद' जी ने एक ऐसी समर्थ कलाकृति प्रस्तुत की है, जो यह सूचित करती है कि 'प्रसाद' का नाटककार-रूप अब पूर्ण सजग हो गया है। इसी का परिणाम है कि 'प्रसाद' का 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक सच्चे अर्थों में नाटक सिद्ध होता है। उसमें अभिनेयता का वैशिष्ट्य तो है ही, उसके शिल्प ने समस्या-नाटक की भी बहुत सारी विशेषताओं को समायत्त किया है। दुर्भाग्यवश यही 'प्रसाद' की अन्तिम नाट्य-कृति है और इस प्रकार हिन्दी में सच्चे अर्थों में जिस नाटककार का उदय होने जा रहा था, वह दिन का प्रकाश देख न पाया।

हिन्दी नाटकों और रंगमंच की जो दुर्दशा थी, उसके विरुद्ध सबसे पहले आवाज़ उठायी 'मणि गोस्वामी' नामक लघु नाटक के रचयिता प्रो० कृपानाथ मिश्र ने। उन्होंने हिन्दी नाटकों की हीनता के लिए कलकत्ता के भ्रष्ट-रुचि मारवाड़ी समाज को दोषी ठहराया और यह सुझाया कि हिन्दी नाटक-साहित्य को यदि ज़िन्दा रहना है तो उसे अपना कलेवर बदलना होगा।

'प्रसाद' के नाटकों में एलिज़ाबेथ-कालीन अंग्रेज़ी रोमान्टिक नाटकों की जो प्रवृत्तियाँ डी० एल० राय के नाटकों के प्रभाव के कारण आ गयी थीं, उनका जम कर विरोध प्रसादोत्तर-काल के नाटककारों—विशेषत: लक्ष्मी नारायण मिश्र ने किया। मिश्र जी ने समझा कि 'शेक्सपियर के अनुकरण पर अपने देश में भावुकता की गन्दी प्रवृत्ति फैल गयी है और उस गन्दी प्रवृत्ति के सबसे बड़े प्रतिनिधि नाटककार हैं—डी० एल० राय।'[1] उन्होंने राय महोदय का यह विरोध इसलिए किया कि 'उनके नाटकों में

---

१. मुक्ति का रहस्य—लक्ष्मी नारायण मिश्र (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ)—पृ० १९.

जीवन की वास्तविकता नहीं है, उनकी भाषा में बनावट है और बनावटी भावुकता, सुख, दु:ख, प्रेम, घृणा, जय, पराजय के सारे-के-सारे चित्र झूठे हैं। द्विजेन्द्र को मनुष्य-चरित्र में या तो शुभ्र प्रकाश दीखा अथवा घोर अन्धकार। विरोधी उपकरणों का द्वन्द्व या सामंजस्य दिखलाना उनके वश के बाहर था। मिश्र जी की शिकायत है कि राय के चरित्र-निर्माण की एक बड़ी त्रुटि यह है कि उनके पात्र एकरस होते हैं। जो भले हैं, वे अन्त तक भले रहते हैं, बुराई उनके पास फटकती भी नहीं और जो बुरे हैं, वे ऐसे गर्हित हैं, ऐसे अभिशप्त हैं कि भलाई की क्षीण झलक भी उनको कभी नहीं मिल सकती। मिश्र जी की बुद्धि में यह कल्पना मिथ्या है, जीवन और जगत के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी से उन्होंने कहा कि द्विजेन्द्र लाल राय से बढ़ कर 'अन्त:करण का अन्धा साहित्यकार' उनकी दृष्टि में दूसरा नहीं आया।[1] इस प्रकार मिश्र जी ने द्विजेन्द्र की नाट्य-परम्परा का तिरस्कार किया और प्रस्ताव किया कि हिन्दी के नाटककारों को द्विजेन्द्र की मिथ्या भावुकता और रोमांस की गन्दगी की ओर से आँखें फेर कर स्वतंत्र और व्यक्तिगत साधना की ओर झुकना चाहिए।[2] मिश्र जी ने 'प्रसाद' का भी विरोध किया और कहा कि उनके नाटकों में जो कथानक आये हैं, वे तो अवश्य ही भारतीय इतिहास के अतीत के गौरव पर आधारित हैं, किन्तु प्रसाद ने चरित्रों के निर्माण में भारतीय जीवन-दर्शन की उपेक्षा भी की है। मिश्र जी के इस प्रसाद-विरोध का मूल कारण यह है कि प्रसाद जी ने द्विजेन्द्र की कला का अनुकरण किया था और द्विजेन्द्र की कला शेक्सपियर की वह कला थी, जिसका पश्चिम में यह कह कर तिरस्कार किया जा रहा था कि वह मनोविज्ञान तथा यथार्थ के सर्वथा प्रतिकूल है।

मिश्र जी की शिकायत है कि 'हमारे अधिकांश लेखक ज़िन्दगी की ओर से आँखें बन्द कर कल्पना और भावुकता का मोह पैदा कर जिस नये जगत का निर्माण कर रहे हैं, उसमें ज़िन्दगी की धड़कन नहीं है। मनुष्य की आत्मा की बात कौन कहे, वहाँ तो मनुष्य का रक्त-मांस भी नहीं मिलता।'[3] मिश्र जी का दावा है कि उनके नाटक मौलिक एवं स्वाभाविक हैं, वे भास और कालिदास की परम्परा में हैं और उनमें भारतीयता की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। किन्तु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनको भी यूरोप का अनुकरण करने वाला बताया।[4] मिश्र जी इस आक्षेप पर जैसे तिलमिला उठे। यूरोप के अनुकरण का संभार स्वीकार करने में उनको बड़ी पीड़ा हो रही थी लेकिन वे करते भी तो क्या? इसीलिए सत्य को स्वीकार करते समय वे व्यक्तिगत आक्षेप के स्तर पर उतर आये। यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है—'यूरोप के संघर्ष के कारण हमारी ऊपरी वेश-भूषा में जिस प्रकार कुछ परिवर्तन आया है या जिस प्रकार स्वयं शुक्ल जी अंग्रेज़ी कोट पहन कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाते हैं, उतना

१. २. ३. मुक्ति का रहस्य—लक्ष्मी नारायण मिश्र (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ?)—१८, पृष्ठ २२, १४

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ५५४

ही ऊपरी प्रभाव मेरे नाटकों पर पश्चिम का पड़ा है।'[1] मिश्र जी को इस बात का कष्ट है कि शुक्ल जी ने उनके साथ न्याय नहीं किया और वे प्रसाद जी के पक्ष में ही झुके रहे। वे लिखते हैं—'आचार्य शुक्ल ने मेरे उन नाटकों में यूरोप का अनुकरण देखा, जिनमें इस देश के [illegible] की मान्यताएँ नहीं बिगड़ीं और वे प्रसाद जी को नाटकों में उन सारे व्यापारों की छूट दे गये, जो सब ओर से विदेशी हैं। कला और साहित्य के माध्यम से जो जीवन की जय न बोल कर मृत्यु की जय बोलता रहा, जिसके नाटक दुःखान्त और मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं—आचार्य शुक्ल की दृष्टि उस पर न पड़ी यह विस्मय है।'[2] इन सारी बातों से इतना तो स्पष्ट ही है कि मिश्र जी के नाट्य-शिल्प पर 'इब्सन' तथा 'शॉ' की मान्यताओं का प्रभाव अवश्य है, भले ही इस खरी बात को स्वीकार करने में उनको जो भी कठिनाई हो रही हो। मिश्र जी का इस विषय में यह कहना है कि उनके नाटकों के ऊपरी आकार-प्रकार, भाषा, सम्वाद, व्यंग्य आदि पर अवश्य ही थोड़ा प्रभाव इब्सन और उसके बाद के नाटककारों का है, लेकिन उनकी आत्मा भारतीय है और वे भास और कालिदास की परम्परा में हैं, न कि पश्चिमी समस्या-नाटकों की। वे मानते हैं कि वस्त्र का अनुकरण भी अनुकरण ही है, लेकिन वह उतना बड़ा अपराध नहीं, जितना बड़ा अपराध है—आत्मा का अनुकरण।[3] वे लिखते हैं—'नये वस्त्रों में कोट, पैन्ट और टाई में भी जिस प्रकार अभी हम भारतीय हैं, उसी प्रकार साहित्य के नये रूपों में भी अच्छा होगा, हम भारतीय बने रहें।'[4] मिश्र जी भारतीय बने रह सके या नहीं—यह प्रश्न अलग है; इतना तो स्पष्ट ही है कि उनके नाटक क्रमशः पाश्चात्य समस्या-नाटकों के शिल्प के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अनवरत प्रयत्नशील रहे हैं। 'मुक्ति का रहस्य' के पुरोवाक—'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ?' में मिश्र जी ने स्वीकार किया है कि 'संन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' में उन्होंने जो प्रयोग आरम्भ किया था, वह इस 'मुक्ति का रहस्य' में जा कर पूरा हुआ है।[5] मिश्र जी ने इस प्रयोग की सिद्धि—नाटक के आकार की संक्षिप्तता और रंगमंच की स्वाभाविकता—इन दो बातों में मानी है।[6] मिश्र जी के नाटकों में पात्रों का जो सामासीकरण हुआ और फिर उन्होंने काव्यत्व का जो निरास किया है, उन्हें डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने उनकी कला का निखार बताया है। 'सिन्दूर की होली' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'मिश्र जी के नाटकों में, न तो अनेक पात्र हैं, न गाने या कविता-पाठ की सामग्री और अनावश्यक दृश्यों का परिवर्तन। कुछ शुरू के नाटकों में कहीं कुछ अनावश्यक बातों के विस्तार का दोष आ गया था, किन्तु अब वह धीरे-धीरे जा चुका है।'[7]

पात्र-संयोजन तथा अंकों एवं दृश्यों की संतुलित योजना में मिश्र जी को सफलता-पर-सफलता अवश्य मिलती गयी है, किन्तु वहीं नाट्य-कला और रंगमंच का व्यावहारिक

---

१. २. ३. ४. ५. ६. मुक्ति का का रहस्य—ल० ना० मिश्र (मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ?)—पृष्ठ २६, २७, २६, २८, २२

७. सिन्दूर की होली—ला० ना० मिश्र—पृष्ठ ७

अनुभव न होने के कारण उनके नाटक अभिनेय नहीं बन पाये और उनमें अपेक्षित चुस्ती, संक्षिप्तता, शिप्रता, प्रभावान्विति तथा शिल्प का अर्थगत आकलन नहीं हो पाया। उपेन्द्रनाथ अश्क ने मिश्र जी की उपलब्धियों का आकलन करते हुए कहा है—'श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र 'प्रसाद' के समकालीन हैं, पर उन्होंने अपनी प्रेरणा 'शॉ' से ली और समस्या-प्रधान बौद्धिक नाटक लिखे। लेकिन क्योंकि स्टेज से उनका उतना सम्बन्ध न था इसलिए उनके नाटक केवल उलझे, लम्बे सम्वाद बन कर रह गये। उनमें नाटकीयता न आ पायी और इसी कारण वे कभी खेले न जा सके।'[1] समासतः मिश्र जी के नाटक भी विषय तथा शिल्प की दृष्टि से नवीन होने पर भी प्रसाद के नाटकों की भाँति अन्ततः पठनीय कृति ही हो सके, रंगमंचीय नहीं।

हमें मिश्र जी से यह शिकायत हो सकती है कि उन्होंने इस बात का विस्मरण कर दिया कि कला का विकास क्रमशः होता है और फिर उन्होंने नये शिल्प के ग्रहण करने में थोड़ी जल्दबाज़ी कर दी। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक के शिल्प को यदि विकसित होने का अवसर दिया गया होता तो प्रसादोत्तर काल के नाटकों के विषय में यह आक्षेप शायद नही होता कि वह पश्चिम का अनुकरण मात्र है। मिश्र जी ने सचमुच बड़ा उतावलापन दिखाया। उन्होंने इस बात को भी ध्यान से हटा दिया कि जिस पश्चिमी नाट्य-शिल्प से उन्होंने प्रभाव ग्रहण किया है, उसका विकास दो-चार दिनों में नहीं हुआ, उसने अपने आज के रूप को प्राप्त करने के लिए न जाने कितनी मंज़िलें पार की हैं और इतनी दीर्घकालावधि मे अपने को सँवारा है।

मिश्र जी ने जैसे डी० एल० राय और 'प्रसाद' के विषय में कहा कि उन पर शेक्सपियर का भूत सवार था, वैसे ही तो स्वयं उनके विषय में 'प्रसाद' जी की ओर से कहा जा सकता था कि 'युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम खोज मे 'इब्सनिज़्म' का भूत उनके आगे वास्तविकता का भ्रम दिखाता है।'[2] समय का दीर्घ अतिक्रमण कर उनका शिल्प विकसित हुआ होता तो उसके प्रति ऐसा आक्षेप व्यर्थ हो जाता। उनके जैसे नाटककारों के विषय में 'प्रसाद' को यह आपत्ति कि 'जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्तमान सभ्यता का जो सर्वोत्तम है—अनुकरण करना चाहिए, तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है'[3]—ऐसी नहीं है, जिसे बकवास कह कर टाल दिया जाय। 'मुक्ति का रहस्य' की रचना के १६ वर्ष बाद इस आक्षेप का मर्म स्वयं मिश्र जी की समझ मे आ गया था और उन्हें अपने पूर्व-कथन में संशोधन करते हुए कहना पड़ा—'इस नाटक की भूमिका 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?' में, उस समय जो कुछ लिखा गया, स्वीकार करता हूँ, वह मेरा बुद्धिवाद नही था। कहना मुझे यह था कि साहित्य और कला में पश्चिम

१. अलग-अलग रास्ते—ऐतिहासिक पक्ष—उ० ना० अश्क—पृ० १६

२. ३. काव्य कला और अन्य निबन्ध—जयशंकर प्रसाद—पृष्ठ १०७ १०८

का अनुकरण न कर, हमें अपने भाव-लोक का अनुसरण करना है।'[1]

समस्या-नाटककार के रूप में ख्याति-प्राप्त करने वाले दूसरे महत्वपूर्ण नाटककार हैं—सेठ गोविन्द दास। सेठ जी के नाट्य-साहित्य का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। उन्होंने 'इब्सन' की परम्परा के नये पश्चिमी नाटकों से प्रेरणा ग्रहण की है और इस अर्थ मे वे 'इब्सन' के अनुयायी हैं। 'इब्सन' के अतिरिक्त जिन अन्य पाश्चात्य नाटककारों से सेठ जी ने प्रभाव ग्रहण किया है, उनमें मुख्य हैं—स्वीडेन के 'स्ट्रिन्डबर्ग' और अमेरिका के 'ओ' नील'।

सेठ जी का अध्ययन बड़ा ही व्यापक और गम्भीर है। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रों के अध्ययन से उनको एक बड़ा लाभ यह हुआ कि वे यदि एक ओर भारतीय पद्धति की जटिलताओं को समझ सकते थे तो दूसरी ओर पश्चिमी नाट्य-शिल्प की उन विशेषताओं को छाँट ले सकते थे, जिनको हिन्दी नाटकों में ले आने से वे हिन्दी नाट्य-शिल्प को निखार सकते थे। सेठ जी अपने विचारों से पूरे भारतीय हैं। इसलिए यह आशा तो की ही जा सकती है कि वे भारत की निजता को बनाये रखेंगे।

सेठ जी ने भारतीय और पाश्चात्य नाटकों के शास्त्र-ग्रन्थों का अनुशीलन करके नाट्य-कला के विषय में अपना निजी मत स्थिर किया और उसे 'नाट्य-कला मीमांसा' के रूप में प्रस्तुत किया। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने कहा है कि जिस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय काव्य-शास्त्र को अपने सामने रख कर पश्चिमी काव्य कला का परिचय दिया, उसी प्रकार सेठ गोविन्द दास ने भारतीय नाट्य-शास्त्र को अपने आगे रख कर पश्चिमी नाट्य-कला का विवरण प्रस्तुत किया है।[2]

'इब्सन' की ओर सेठ जी के झुकाव का एक कारण यह है कि उन्होंने नाटक में स्वाभाविकता लाने के लिए अश्राव्य और नियतश्राव्य दोनों तरह के स्वगत कथनों का अपने नाटकों से बहिष्कार किया था। 'इब्सन' की इस पद्धति की युक्ति-युक्तता का निर्देश करते हुए सेठ जी ने लिखा है—'स्वगत-कथन से अधिक अस्वाभाविक बात नाटकों में और कोई नहीं हो सकती।'[3] सेठ जी के ऐसा कहने का कारण है कि वे स्वयं नाटकों में स्वाभाविकता लाने से आग्रही रहे हैं।

सेठ जी प्रयोगशील कलाकार हैं और इतने निरभिमान हैं कि आलोचकों की आलोचना का बुरा नहीं मानते, बल्कि उनसे कुछ ग्रहण करने के लिए सतत् तत्पर रहते हैं। अपने कई नाटकों के प्रकाशन के बाद डॉ० नगेन्द्र के ऐसा कहने पर कि उनके नाटकों का अन्तर्संघर्ष बड़ा ही दुर्बल होता है, उन्होंने 'ग़रीबी या अमीरी' नाटक

१. मुक्ति का रहस्य—ल० ना० मिश्र—पृ० २५ (उन्नीस वर्ष बाद)
२. भारती—शान्तिप्रिय द्विवेदी—पृष्ठ ५२ (सेठ गोविन्ददास नाट्य कला तथा कृतियाँ—रामचरण महेन्द्र—पृष्ठ १६ पर उल्लिखित)
३. तीन नाटक—सेठ गोविन्द दास—भूमिका (प्राक्कथन) पृष्ठ २०

में अपने नाट्य-शिल्प पर स्वयं पुनर्विचार किया और अपनी सारी पूर्व प्रतिष्ठित मान्यताओं में संशोधन किया। 'ग़रीबी या अमीरी' में उन्होंने स्वगत कथन का प्रयोग किया और यह भी कहा कि यदि यह नाटक ('ग़रीबी या अमीरी') सफल हुआ तो उसकी सफलता का सारा श्रेय उसके स्वगत कथनों को प्राप्त होगा और यदि वह असफल हुआ तो उसके लिए स्वगत कथन ही उत्तरदायी होंगे।[१] स्पष्ट है, इस नाटक की रचना के समय तक आ कर सेठ जी को यह सूझ गया था कि पात्र की मनःस्थिति का उद्घाटन का काम स्वगत कथन से बड़ी आसानी से पूरा किया जा सकता है। इस विषय में उन्होंने और भी खुल कर कहा है—'मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि अश्राव्य स्वाभाविक तरीके से लिखा जा सकता है और उसके बिना कुछ आन्तरिक भावों एवं अन्तर्द्वन्द्व का ठीक प्रकाशन कठिन ही नहीं, असम्भव है।'[२] अपने इस नये सिद्धान्त-स्वीकार के लिए सेठ जी ने 'ओ' नील' के नाटक 'स्ट्रेन्ज इन्टरल्यूड' में प्राप्त होने वाले अश्राव्य और नियत श्राव्य-दोनों ही ढंग के स्वगत कथनों का हवाला दिया। वे अब यह मान लेते हैं कि अश्राव्य और नियतश्राव्य दोनों प्रकार के स्वगत कथन पात्र के आन्तरिक भावो और द्वन्द्वों को प्रकाश में लाने के लिए लिखे जाते हैं और कला में आन्तरिक भावों एवं द्वन्द्वों का प्रकाशन ही सबसे मुख्य वस्तु है।[३] 'ग़रीबी या अमीरी' में आ कर सेठ जी के शिल्प-विषयक विचार निश्चित रूप से बदल गये और इस सत्य को उन्होंने खुल कर स्वीकार भी किया। इस प्रकार सेठ जी एक ऐसे प्रयोग-धर्मी नाटककार ठहरते हैं, जो निरन्तर प्रयोग करता चला जा रहा है।

सेठ जी ने प्रस्ताव किया है कि हमें अपने रंगमंच के उत्थान के निमित्त विज्ञान से प्राप्त होने वाली सुविधाओं का लाभ उठाना चाहिए।[४] वे यह नहीं मानते कि सिनेमा के प्रचार से नाटक की रचना का बाधित हो जाना एक अनिवार्य स्थिति है। वे तो अमेरिका के प्रमाण पर यही कहते हैं कि सिनेमा की उन्नति नाटक के पुनरुद्धार का निमित्त बना करती है। हाँ, उसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि रंगमंच भी वैज्ञानिक अविष्कारों का लाभ उठाये। उन्होंने इस दृष्टि से घूमने वाले मंच (रिवॉल्विग स्टेज), माइक्रोफ़ोन तथा लाउड-स्पीकर, बिजली के समुचित प्रकाश की व्यवस्था, वृहत् और लघु दो यवनिकाओं तथा उपक्रम और उपसंहार-पटों की योजना का प्रस्ताव किया।[५] सेठ जी ने यह प्रस्ताव भी किया है कि नाटक की कला को सिनेमा की कला से सहायता भी लेनी चाहिए। वे कहते हैं कि 'युद्ध, चुनाव, मेले इत्यादि के दृश्य, नाटकों में भी सिनेमा के द्वारा दिखाये जायं तो कहीं अधिक स्वाभाविक दीख पड़ेंगे और उनसे मन पर प्रभाव भी अधिक पड़ेगा।'[६]

प्रस्तुत प्रकरण में सेठ जी के इन मौलिक सुझावों का विचार हम यथावसर

---

१. २. ३. ग़रीबी या अमीरी—सेठ गोविन्ददास—भूमिका—पृष्ठ ८, ७, ७

४. ५. ग़रीबी या अमीरी—निवेदन—सेठ गोविन्द दास पृष्ठ ८, ८

६. तीन नाटक—प्राक्कथन पृष्ठ ३९, ३२

आगे करेंगे। सेठ जी नाटक और रंगमंच के बीच सम्बन्ध-समन्वय तो करना चाहते हैं लेकिन वे यह नहीं मान पाते कि जो नाटक खेलने योग्य न हों, वे नाटक ही नहीं है। स्पष्ट है कि वे पाठ्य-नाटकों को भी नाटक ही कहना चाहेंगे।[1]

शैली और रूप-गठन की दृष्टि से उपेन्द्रनाथ अश्क अपने किसी पूर्ववर्ती भारतीय नाटककार की अपेक्षा 'मेतरलिंक', 'स्ट्रिन्डबर्ग' और 'ओ' नील जैसे वातावरण-प्रधान मनोवैज्ञानिक नाटक लिखने वाले विदेशी नाटककारों के अधिक निकट पड़ते हैं।[2] लेकिन पश्चिम के इन नाटककारों के साथ उनकी इस निकटता का यह अभिप्राय नहीं है कि अश्क ने अन्तर और बाह्य दोनों के लिए पश्चिमी नाटककारों के रिक्थ को ही स्वीकार किया है। अश्क ने साफ़-साफ़ कहा है कि पश्चिम के इन नाटककारों से उनकी प्रकृति भिन्न पड़ती है।[3] उनसे अश्क की प्रकृति-भिन्नता को स्पष्ट करते हुए डॉ० धर्मवीर भारती ने कहा 'अश्क अपने नाटकों में स्ट्रिन्डबर्ग जैसी गहराई और तीखापन तो लाना चाहते हैं लेकिन उनकी जैसी काली अन्धकार-भरी निराशा से बचने का प्रयास करते हैं।'[4] अश्क ने अपनी एतद्विषयक मान्यता को इन शब्दों में स्थिर किया है—'मैं पश्चिमी प्रयोगों अथवा प्रवृत्तियों की अधकचरी नकल के पक्ष में नहीं हूँ। रूपाकार या दृष्टि हम बाहर से ले सकते है, पर अनुभूतियाँ नितान्त हमारी होनी चाहिएँ वरना हिन्दी नाटक के विकास के बदले हम उसके ह्रास के हो कारण बनेंगे।'[5] कहने का अभिप्राय यह है कि अश्क ने बाह्य शिल्प के लिए पश्चिम में होने वाले प्रयोगों का आधार तो लिया, किन्तु अभिव्यक्ति सोलहो आने उनकी अपनी है। इस विषय में एक बात ध्यान में रखनी होगी। अश्क के सर्जन-काल तक आ कर निचाट भारतीयता को कई विशेषताएँ मिल गयी थीं। कम-से-कम मध्यवित शिक्षित परिवारों में भारतीयता को नया रूप-रंग मिलने लग गया था। जाने या अनजाने कई सम्वेदनाएँ इस रूप और अर्थ के साथ आकार और आयाम प्राप्त करती जा रही थीं कि उन्हें सहज ही भारतीय अथवा अभारतोय खटालों में डाल देना सम्भव नहीं हो पा रहा था। यह तथ्य अश्क के किंचित् पूर्ववर्त्ती नाटककार भुवनेश्वर की कृतियों से प्रमाणित हो जाता है। भुवनेश्वर ने मध्यवित्त शिक्षित परिवारों की जिन सम्वेदनाओं का उद्‌घाटन किया है, वे निश्चय ही किताबी नहीं थीं। अश्क ने अपने नाटकों में जिस नये स्वर को अर्थ दिया है, वह सन् १६३० के बाद भारत में पश्चिमी शिक्षा-संस्कार तथा संघर्ष के कारण अवश्य ही धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हो रहा था। हम यह भी सोच सकते हैं कि भुवनेश्वर की ही तरह अत्यन्त ताजे और घोर सामयिक, किन्तु इसी कारण असामयिक

---

१. ग़रीबी या अमीरी—निवेदन—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ३२
२. कैद और उड़ान—व्याख्या—धर्मवीर भारती—पृष्ठ २६
३. नाटककार अश्क—पृष्ठ ३४७
४. कैद और उड़ान—व्याख्या—पृष्ठ २६
५. नटरंग : वर्ष १ : अंक ४—दिसम्बर १९६५—पृष्ठ ४०

लगने वाले, नाटककार सग्रादत हसन मन्टो के संग-साथ ने ग्रश्क की प्रवृत्तियों को उकसाया होगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ग्रश्क के यह कहने का—कि नाटक में ग्राने वाली ग्रनुभूतियाँ हमारी ग्रपनी होनी चाहिएँ—यह संकेत नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वे प्रकारान्तर से पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र की तरह भारतीयता की दुहाई दे रहे हैं ग्रौर ग्रपने नाटकों को भास ग्रौर कालिदास की परम्परा में प्रतिष्ठित करने के लिए व्यग्र हैं। ग्रश्क के ग्रागे रास्ता बहुत साफ़ है। वे जीवन-विषयक ग्रपनी ही ग्रनुभूतियों की ग्रभिव्यक्ति करते हैं ग्रौर रूपाकार ग्रथवा दृष्टि के लिए पश्चिमी प्रयोगों का सहारा लेते हैं। ग्रश्क को इसी कारण ग्रपनी पूर्वघोषित मान्यताग्रों में संशोधन करने की ग्रावश्यकता नहीं पड़ती।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने ग्रपने विशाल ग्रध्ययन, गम्भीर चिन्तन ग्रौर व्यापक ग्रनुभवों के बल पर हिन्दी नाटकों की कला को एक स्वस्थ भूमि पर प्रतिष्ठित करने का ग्रभिनन्दनीय प्रयास किया है। वे ऐसे ग्राधुनिक नहीं बन सकते थे, जो हर विलायती चीज़ को नायाब मान लें। उन्होंने चेताया कि हमें इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि कहीं ऐसा न हो कि पश्चिम का चाक-चिक्य हमारी ग्राँखों की रोशनी छीन कर ऐसी चीजें हमारे गले मढ़ दे, जिनको हमें नहीं लेना है। वे मानते हैं कि नाटककार जीवन का ग्रभिन्न सखा होता है। लेकिन जब उन्होंने यह देखा कि ग्रधिकांश ग्राधुनिक नाटककार मनुष्य को भूल कर वर्ग के पीछे पड़ गये हैं ग्रौर वे नाटक के ग्रभिनयात्मक सौन्दर्य ग्रौर वस्तु-विन्यास के कलापूर्ण मार्ग से हटते-से जा रहे हैं तो उन्होंने उनको लक्ष्य कर यह खरी बात भी कह दी कि हमारा ग्रति ग्राधुनिक साहित्य जिस उच्छृंखलता के साथ जा रहा है, उसमें मुझे भय है, कोई भी उत्तरदायित्व की भावना नहीं जान पड़ती। वह सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है; किन्तु पुनर्निर्माण के लिए कोई मार्ग निर्धारित नहीं करता।'[1] वर्मा जी को शिकायत है कि ऐसे प्रगतिशील कलाकारों ने ग्रपने प्रचारात्मक दृष्टिकोण से साहित्य की चारुशीलता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। वे चाहते हैं कि वास्तविक वस्तु-स्थिति के प्रदर्शन के समय भी हम ग्रपनी सुरुचि को सुरक्षित रखें।[2] उन्होंने इस विषय में ग्रपनी दृष्टि स्पष्ट करते हुए कहा—'मैं कलात्मकता के पक्ष में वहीं तक हूँ, जहाँ तक कि वह जीवन की वस्तुस्थितियों को कुरुचिपूर्ण ग्रौर नीरस होने से बचाती है।'[3] वर्मा जी को पश्चिमी नाट्य-कला से प्रभाव ग्रहण करने से इन्कार नहीं है; लेकिन वे उन प्रभावों को समझ-बूझ कर ही ग्रहण करना चाहते हैं। वे पश्चिम के 'शॉ' जैसे नाटककारों की सम्वाद-कुशलता ग्रौर वार्तालाप से घटनाग्रों के गूढ़-से-गूढ़ ग्रारोहों ग्रौर ग्रवरोहों की उनकी दृश्य-योजना से प्रेरणा ग्रवश्य लेना चाहेंगे किन्तु 'ग्रो'-नील,' 'हेरॉल्ड राविंस्टीन' ग्रौर 'रोनाल्ड जोन्स' जैसे 'एक्सप्रेशनिस्ट' कहे जाने वाले नाटककारों की तरह मन के एक्सरे फोटोग्राफ़र बनना

१, २, ३. रेशमी टाई—(मेरा अनुभव) डॉ० राम कुमार वर्मा—पृष्ठ ६, ६ १२,

नहीं चाहेंगे और न उनकी तरह पात्रों की सूक्ष्म कल्पना को पकड़ कर रंगमंच पर कौतूहल उत्पन्न करना चाहेंगे।[1] उनका विश्वास है कि इन नाटककारों ने इस शैली की 'अति' कर दी है और परिणामतः उनके नाटकों की समस्त कलात्मकता ही खो गयी है।[2] उनके विषय में अपनी सम्मत्ति देते हुए वर्मा जी ने यह भी कहा कि 'भूत-प्रेत की तरह उनके भाव प्रेक्षक के सामने आते हैं और ज्ञात होता है कि वे लोग चाकू ले कर मन का एक भाग फाड़ कर रंगमंच पर रख देंगे।' पश्चिमी नाटककारों में 'मेतरलिंक' उन्हें इस अर्थ में अधिक श्लाध्य दीखे।

वर्मा जी का कृति-संकल्प यह है कि वे अपनी रचनाओं से जनता को साहित्यिक बनाना चाहते हैं और उसकी रुचि का संस्कार करना चाहते हैं। अतएव उनकी कल्पना के नाटककारों को एक साथ निर्माता, आलोचक और विचारक होना होगा और उसे जीवन के ऊँचे धरातल पर ले जा कर प्रतिष्ठित करना होगा।[4] वर्मा जी के नाटक पाठ्य तो हैं ही, वे अभिनेय भी हैं। यह इसलिए सम्भव हो सका है कि जब कभी नाटक की कल्पना उनके हृदय में आती है, उनके मानस पर रंगमंच पहले ही आ खड़ा होता है और उसी की माँग के अनुसार वे कथानक के पात्रों को मशीन के पुर्ज़ों की की भाँति यथास्थान ला देते हैं और इस प्रकार फ्रेम में जड़े हुए चित्र की तरह उनके नाटक की कल्पना काग़ज़ पर उतर आती है।[3]

श्री जगदीश चन्द्र माथुर का विचार है कि भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच के उत्थान के हित जो प्रथम प्रयास किया था, उसका लगाव प्राचीन संस्कृत रंगमच से था। किन्तु, हमारे देश के १९वीं सदी के सुधारकों तथा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के सेनानियों की आदर्शवादी निग्रह-भावना तथा भाषा के क्षेत्र में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में चलने वाला शुद्धता और इतिवृत्तात्मकता का आन्दोलन किसी-न-किसी रूप अथवा परिस्थिति में भारतेन्दु की रस-प्रवाहिनी निर्झरणी के लिए मरुस्थल-तुल्य प्राणान्तक सिद्ध हुआ।[4] आज उस अधूरे यज्ञ की परिणति होनी चाहिए। वे यह भी मानते हैं कि जहाँ स्वाधीन भारत के लिए राजनैतिक एकता की ज़रूरत है, वहाँ भारतीय संस्कृति के लिए विविधता अपेक्षणीय है।[5] इसी से वे प्रस्ताव करते हैं कि यथार्थवादी अव्यावसायिक, उनके शब्द में 'शौकीन' 'रंगमंच, प्राचीन नाट्य-परम्परा से प्रेरित किन्तु आधुनिक व्यावसायिक साधनों से सम्पन्न नागरिक रंगमंच और परिमार्जित और संशोधित रूप में देहाती रंगमंच के विनियोग से हिन्दी रंगमंच की रूपरेखा खड़ी की जाय।[6] उनका विश्वास है कि सिनेमा के प्रचंड वैभव के बावजूद

---

१. २. ३. रेशमी टाई—(मेरा अनुभव)—डॉ राम कुमार वर्मा—पृ० १३, १४, १८

४. साहित्य सन्देश—(हिन्दी के नाटककार और उनके नाटक—अपनी-अपनी कलम से) जुलाई—अगस्त १९५६ पृ० १०१-१०२

५. ६. कोणार्क—परिशिष्ट-२ —जगदीशचन्द्र माथुर —पृ० ९७, ९५, १०४

हमारे रंगमंच का पुनरोदय अवश्यम्भावी है। वे भारतीय सिनेमा को भावी हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंच की प्रयोगशाला कहना चाहते हैं और इस बात को नहीं मान पाते कि सिनेमा के उदय ने नाटक के विकास पर वज्रपात कर दिया है। उनको लगता है कि हिन्दी के नाटकों में जो नये प्रयोग हो रहे हैं, उनके पीछे रंगमंच की सामर्थ्य नहीं है। लेकिन वे यह भी नहीं चाहते कि जब तक रंगमंच खड़ा न हो जाय, नाटक की रचना बन्द कर दी जाय, प्रत्युत् वे तो चाहते हैं कि रंगमंच की पद्धतियों और नाट्य साहित्य की शैलियों के निर्धारण के दोनों कार्य समानान्तर रेखाओं की तरह चलें।[1] इसके साथ यह भी जरूरी होगा कि नाटक-लेखन की कला के नियमों का संकलन तथा नाटककारों के लिए शिक्षा-केन्द्रों का आयोजन भी किया जाय।[2] प्रो० कृपानाथ मिश्र ने भी इस कार्य की आवश्यकता पर बल दिया था। माथुर जी उनका समर्थन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार पाश्चात्य नाटककारों के लिए 'अरस्तू,' 'बेन जान्सन,' 'गेटे,' 'ब्रैडले' तथा कतिपय अन्य आधुनिक आलोचकों के नाट्य-कला विषयक सिद्धान्त मानसिक पृष्ठभूमि का काम करते है, उसी प्रकार की किसी शास्त्रीय मानसिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा, हमारे नाटककारों को भी है। इसी से हमें इस दिशा में भी उद्योग करना ही होगा।

हिन्दी के उपर्युक्त श्रेष्ठ नाटककारों के नाट्यकला और रंगमंच-विषयक विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत कर हम यह कहना चाहते हैं कि सच्ची बात यह है, हमारे यहाँ नये नाटको के द्वारा नये नाट्य-शिल्प की प्रतिष्ठा का जो उद्योग हो रहा है, वह आज तक प्रयोग-स्थिति में ही है और उसमें प्रयोग-परीक्षण के लिए अभी पर्याप्त अवसर बना हुआ है। समस्या-नाटको से अभी तक यही हो पाया है कि नाटक काव्य-विधा से उबर कर गद्य-विधा बनने मे कृत-कार्य हो गया है। इस रूप में उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ मुखर हो चली हैं।

अब हम हिन्दी के कुछ जाने-माने समस्या-नाटककारों की कतिपय ख्यात नाट्य-कृतियों के प्रमाण पर उन प्रवृत्तियों की पहचान करने की चेष्टा करेंगे।

वस्तु-संगठन : जी० एस० फ्रेज़र ने शॉ के नाटकों के विषय में टिप्पणी देते हुए लिखा है कि समस्या-नाटक में जीवन्त और मूर्च्छित कर देने वाले आयोजन ही नहीं होते, अपितु वह युग की प्रमुख विचार धाराओं तथा ज्वलन्त प्रश्नों के विषय में एक प्रकार की प्रवाही अभ्युक्ति भी हुआ करता है।[3] कहने का तात्पर्य यह है कि समस्या-नाटकों मे घटित और चर्चित घटनाएँ कथा का विषय नहीं बनती बल्कि आये दिन की ज़िन्दगी का एक अध्याय कही से कट कर नाटकीय कथावस्तु का निर्माण कर देता है और किसी दूरी तक बढ़ कर अकथित-अप्रथित सिलसिले से जुड़ा हुआ हो कर, अविच्छिन्न भाव से विच्छिन्न हो जाता है।

पश्चिमी समस्या-नाटकों से प्रेरणा ग्रहण करने वाले हिन्दी के समस्या-नाटक-

---

१. २. कोणार्क—परिशिष्ट—जगदीश चन्द्र माथुर—पृ० १०६ ११०
३. द मॉडर्न राइटर ऐन्ड हिज़ वॉर्ड—जी० एस० फ्रेज़र—पृ० १३२

कारों ने भी जो कथानक चुने, वे भी इसी अर्थ में जीवन्त और ज्वलन्त प्रश्नों के कथानक हैं कि उनमें पुरानी प्रथित घटनाओं की अपेक्षा ज़िन्दगी की मौजूदा दौर की कहानी कही गयी है। सेठ गोविन्द दास ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा कि 'प्रत्येक कलाकार की कृति में हमें उसके समय के समाज का किसी-न-किसी प्रकार का चित्र अवश्य ही देखने को मिलता है।'[१] पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी अपने आलोचक मित्र को बताया है—'मैंने जो अनुभव किया है, देखा है, उसे इस नाटक के रूप में तुम्हारे सामने रख देता हूँ यथार्थ, ज्यों का त्यों, ईमानदारी के साथ।'[२] मिश्र जी ने इससे आगे बढ़ कर कहा कि 'जिसे जीवन की कल्पना करनी है, जीवन का निर्माण करना है, जीवन की अभिव्यक्ति करनी है, वह इतिहास के गड़े मुर्दे नहीं उखाड़ता। व्यक्ति के जीवन पर देश और काल की समस्याओं का प्रभाव पड़ता है।'[३] अश्क के 'क़ैद और उड़ान' की व्याख्या करते हुए डॉ० धर्मवीर भारती ने उनके विषय में भी इसी तथ्य की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है—'कलाकार (अश्क) अपनी विकृतियों की सीमाओं में घिरा हुआ व्यक्तिवादी कलाकार नही है। उसने समाज की यथार्थ परिस्थितियों का विश्लेषण किया है और सतत सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि मे (नारी) समस्या का निदान ढूँढ़ा है।'[४] अश्क के नाटकों में कथानक की यह विशेषता गतिशील कथाओं तक ही सीमित नहीं है बल्कि उन्होंने स्थिर अतीतप्राय कथाओं का संयोजन भी गत्यात्मक कथानक के रूप में किया है। उनके द्वारा 'अंजो दीदी' में बीस वर्ष के लम्बे समय के अन्तराल को निपुणता से बाँध लेना सचमुच एक नवीन अनुभव है।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी के समस्या-नाटककार समान रूप से जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों पर अपनी नाट्य-कृतियों में विचार करते हैं। नाटक में उपस्थित होने वाले प्रश्नों के विषय में उनकी मान्यताओं का निजी होना भी सहज सम्भव है। और फिर प्रश्नो के यथार्थ रूप को समझ सकने की क्षमता भी एक अलग प्रश्न है।

सेठ गोविन्द दास के समस्या-नाटकों को ही लीजिये तो यह स्पष्ट हो जाय कि इस शक्ति का क्या अर्थ होता है। उनके कथानकों के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे वर्तमान जैसे प्रतीत तो होते हैं लेकिन उनमें अधिकांश सच्चे अर्थों में, न तो वर्तमान हैं, न यथार्थ ही। एक सुखी आदमी के द्वारा सुखी लोगों के जीवन के बारे में दुःख की अननुभूत कल्पना से उनकी सर्जना हुई है। उन कथानकों में आकार है, अनुकार नहीं। उनमें संघर्ष के लिए कोई अवसर ही नहीं आ पाता और इसी कारण वे जीवन्त समस्या-नाटक नही दे पाते। समस्याओं के विषय में सेठ जी की धारणा

---

१. तीन नाटक—(प्राक्कथन)—सेठ गोविन्द दास—पृष्ठ ८

२. ३. संन्यासी—(अपने आलोचक मित्र से)—लक्ष्मी नारायण मिश्र —पृष्ठ ५, २

४. कैद और उडान—व्याख्या—पृष्ठ १५

सम्भवत: यह है कि वे समस्या इसलिए दीखती हैं कि उनका गाँधीवादी ढंग से समाधान नहीं कर लिया गया है, अर्थात् सेठ जी की समस्याएँ गाँधीवादी आधान के अभाव में समस्याएँ बनती हैं।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के वक्तव्यों में इस बात पर बार-बार जोर दिया गया है कि भावुकता एक दूषित और गन्दी प्रवृत्ति है और नाटक से उसका बहिष्कार अवश्यमेव होना चाहिए। किन्तु, मिश्र जी के नाटकों में उनके इस आधान के विपरीत भावुकता का मुक्त प्रवाह प्राप्त होता है। 'सिन्दूर की होली' में चन्द्रकला का वैधव्य-वरण, माहिर अली का अपराधांगीकरण, मुरारीलाल का उस व्यक्ति के बेटे के लिए इतना कुछ करना, जिसकी हत्या उसने चन्द हज़ार रुपयों के लोभ से की थी, अथवा 'मुक्ति का रहस्य' में आशा देवी द्वारा पाप को भावुकता की उस हद तक स्वीकारना या ज़हर खाने की भावुकता के साथ अपने पापाचार के साथ समझौता करना यदि भावुकता की गन्दी प्रवृत्ति का बहिष्कार कहे जायेंगे तो पता नहीं फिर भावुकता किसे कहेंगे ? मिश्र जी के नाटकों के पात्र ही केवल भावुक नहीं होते, उनके क्रिया-व्यापार के द्वारा आयोजित अधिकांश प्रसंग भी भावुकतापूर्ण होते है।

इस प्रकार स्थिति यह हो जाती है कि मिश्र जी के नाटकों में कथानकों को खड़े होने के लिए उसी भावुकता के सहारे को पकड़ने की लाचारी हो जाती है, जिसका विरोध करने की प्रतिज्ञा के साथ उनकी सृष्टि हुई है। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि मिश्र जी के कथानकों में जो शैथिल्य मिलता है, उसका कारण यह नहीं है कि यथार्थ को प्रस्तुत करने में उनसे कोई चूक हो जाती है बल्कि उसका कारण यह है कि सेठ गोविन्द दास की ही भाँति मिश्र जी का अनुभव-क्षेत्र भी या तो अत्यन्त परिमित है या शुद्ध काल्पनिक। मिश्र जी के नाटकों में पढ़ी-लिखी महिलाओं की लम्बी कतार तो खड़ी हो जाती है लेकिन उनके बुद्धिवाद को चरितार्थता सिद्ध होती है बुद्धि के साथ बुद्धिहीनता के उनके आचरण से।

इन दोनों के मुकाबले अश्क हैं, जिनका कथानक-चयन कहीं अधिक पूर्ण और कलात्मक सिद्ध होता है। भावुकता की सच्चे अर्थ मे कमी और व्यंग्य के समुचित संयोजन एव व्यक्ति तथा समाज के संघर्ष की भाषा को ठीक से समझ लेने के कारण उनके कथानकों में ग़ज़ब की सादगी और प्रभविष्णुता मिलती है। अश्क के नाटकों में काल, स्थान तथा अभिनय की एकता को इस बारीक कुशलता के साथ अनुग्रथित किया गया है कि हिन्दी नाटकों के बीच उनका वैशिष्ट्य सहज हीं मुखर हो जाता है। अश्क कथानक के चयन में बाजीगर की-सी कुशलता का परिचय देते है। उनके कथानक उद्देश्य या पात्र के धक्के से आगे नहीं बढ़ा करते बल्कि पिघले हुए रंग की कटोरी की तरह अचानक उलट जाने पर भी कलाकार की सफलता के कारण अपेक्षित आकार प्राप्त कर लेते हैं। इस विषय में 'उड़ान' का कथानक एक सशक्त प्रमाण है। डॉ० धर्मवीर भारती ने उसकी चर्चा करते हुए लिखा है कि 'उड़ान' में अश्क ने 'मायावी'

शैली से काम लिया है।[1] उनके नाटकों की व्यंग्योक्तियाँ भी बहुधा कथानक को अपेक्षित ठोस आधार प्रदान करती हैं। इस प्रकार अश्क के नाटकों में कथानक का उपयोग शिल्प की सारी सम्भव चतुराइयों के साथ हुआ है। उनके कथानकों का संगुम्फन समस्या-नाटक की भावुकतामुक्त सादगी के साथ तो हुआ है लेकिन उनमें समस्या-नाटक के अनुरूप मूर्ति-भंजन के लिए अपेक्षित युयुत्सा का अभाव भी मिलता है। इस लिए समस्या-नाटक के कथानक की किसी घिसी-पिटी कसौटी पर अश्क के नाटकों के कथानक खरे नहीं भी उतर सकते हैं और यह कह कर उनकी आलोचना भी की जा सकती है कि उनमें वह तीखापन नहीं है, जो समस्या-नाटक के कथानक में होना चाहिए। किन्तु, जहाँ तक प्रभाव का सवाल है, यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनमें उसकी कोई कमी नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि उनमें 'विमर्श' के केन्द्र की कमी होती है। लेकिन उसका भी एक कारण है। वह यह कि अश्क प्रभाव के लिए अकेले कथानक का भरोसा नहीं करते। प्रभाव उत्पन्न करने के लिए कभी वे वातावरण और पात्र का समुचित उपयोग करते हैं और कभी सांकेतिकता के बल पर प्रभाव-सृष्टि कर लेते हैं। उनके कथानकों में इसी कारण एक प्रकार का अशरीरीपन भी मिलता है, कहिए कहानी की भनक भर वे दे पाते हैं और सारा नाटक पढ़ जाने के बाद कुछ पात्र और कुछ वस्तु-स्थितियाँ ही हमारे सामने उभर कर आते हैं, कहानीपन नहीं। कथानक के उपयोग का यह शिल्प काफ़ी जटिल है। लेकिन चेखव जैसे समर्थ कलाकारों ने कहानी तक में इसका उपयोग किया है। कथानक का अशरीरीपन समस्या-नाटक का विहित शिल्प रहा है। अतः अश्क की आलोचना इसलिए नहीं की जा सकती कि वे किस्सागो नहीं हो सके।

हिन्दी समस्या-नाटकों के कथानकों की एक बड़ी विलक्षणता यह है कि उनमें एकसूत्रता का अभाव मिलता है। उनमें एक साथ अनेक समस्याओं की प्रस्तुति की जाती है, जिसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि कथानक उलझ जाता है और नाटककार का ध्यान बिखर जाता है। अनावश्यक परिस्थितियों, कथानक-भंगिमाओं तथा पात्रों का जुटान, कथा को घिसे-पिटे सन्दर्भों का आकलन मात्र बना देता है। सेठ जी का 'प्रकाश' इसका अच्छा निदर्शन है। मिश्र जी के नाटकों के विषय में भी यह कथन दूर तक चरितार्थ है। उनके 'सिन्दूर की होली' को हम इस विषय में विचार करने के लिए ले सकते हैं। उसमें एक साथ प्रेम, विवाह, वैधव्य उत्कोच, अपराध, न्याय-विधान आदि की अनेकानेक समस्याएँ खड़ी की गयी हैं। समस्याओं की इस भीड़ के कारण कथा के तन्तु इतस्ततः भागते रहे हैं, प्रत्येक समस्या का स्पर्श करने के लिए नाटककार को दिशान्वेष की बेचैनी का अनुभव करना पड़ा है और अन्तिम परिणाम यही हुआ है कि कथा में जटिल उलझाव आ गया है। 'मुक्ति का रहस्य' का कथानक अपेक्षाकृत अधिक सीधा-सादा है। लेकिन हत्या, प्रेम, अपराध-चेतना पाप-

१. कैद और उड़ान—व्याख्या—डा० धर्मवीर भारती—पृष्ठ ३२

पुण्य, पट्टीदारी आदि की समस्याएँ एक साथ जुट कर इस सीधी-सादी कथा में भी पेची-दगी भर जाती हैं। सेठ जी के अधिकांश समस्या-नाटकों के कथानक सरल हैं। फिर भी वे दुर्बल ही हैं। उनकी यह दुर्बलता समस्या-वैविध्य-जनित नहीं है, समस्या की तीव्रता या उद्वेलन से उत्पन्न होने वाले तेज अर्थात् अन्तर्द्वन्द्व के अभाव का परिणाम है। अश्क का व्यक्तिगत अनुभव तथा कलात्मक दृष्टिकोण सुथरा है। इसलिए उनके नाटकों के कथानक समस्या की विविधता की स्थिति में भी उलझते नहीं। उलझन या अन्तर्द्वन्द्व के विनियोग हेतु अश्क ने मनोवैज्ञानिक पेंचों से काम लिया है। इस प्रकार, उनकी कला की निपुणता उनके नाटकों में मिलने वाले समस्या-वैविध्य को इस बात की गुंजायश नहीं देती कि वह कथानक को उलझा दे या जटिल बना दे।

इन नाटककारों ने कथानक को गति देने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के चातुर्य का उपयोग किया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र का कथानक क्रमशः, धीरे-धीरे मूल समस्या की ओर उन्मुख होता है। बीच में अनजानी, अपरिचित समस्याएँ पैदा होती चलती हैं और बहस-मुबाहसे की शैली वाली सम्वाद-योजना के कारण बीच में उठने वाली ये समस्याएँ भी अर्थ प्राप्त करने लगती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि मूल समस्या दुर्बल और क्षीण होने लगती है। ऐसे अवसर पर मिश्र जी दृश्य-परिवर्तन करा देते हैं अथवा अन्य किसी पात्र का प्रवेश कराते हैं ताकि मूल समस्या जीवित रहे। मिश्र जी के नाटकों में दो पात्रों को बहुत देर तक एक साथ रख कर उनसे परस्पर लम्बा वार्तालाप तो कराया जाता है किन्तु तीसरे पात्र या प्रसंग को उपस्थिति के द्वारा क्षिप्र-क्षिप्र प्रसंगों या भाव-परिवर्त्तनों को योजना भरसक नहीं करायी जाती। यदि करायी भी जाती है तो बहुत ही कम। ऐसा भी होता है कि किसी रहस्य-ग्रन्थि में उलझा हुआ व्यक्ति अनेक परिचितों के लिए भी रहस्य-ग्रन्थि बन जाता है। मिश्र जो के नाटकों में कथानक की उलझन, पात्रों के पारस्परिक अविश्वास से उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं है कि मिश्र जी के पात्रों का झूठ-मूठ अविश्वास किया जाता है, वे विश्वासघात करते भी हैं।

मिश्र जी के नाटकों की कथा जब काफ़ी उलझ जाती है और दूर तक व्याप्त रहने वाले पताका-व्यापार (कथा नहीं) या क्षिप्र गति से सम्पन्न हो जाने वाले प्रकरी-व्यापारों के द्वारा एक ऐसी स्थिति भी आती है कि सारे ऐसे पात्र, जो परस्पर विश्वास-सूत्र में सम्बद्ध हैं, अपने अविश्वासों की कैफ़ियत माँगने-देने लगते हैं। तदर्थ अपराधांगी-करण या स्मृति-कथा, मूर्च्छा, पागलपन, प्रलाप या उन्माद की नट-क्रिया सम्पन्न करायी जाती है। यह स्थिति नाटक के अन्त में आती है और अत्यन्त जटिल और पुष्ट ग्रन्थि के रूप में प्रस्तुत होती है। ऐसे क्षण में कार्य की स्थिति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और नाटकीय कथा का मोचन-रहस्य उस गुब्बारे की तरह पचक जाता है, जिसमें से हवा निकल गयी हो। अब वह रहस्य-रहस्य बना नहीं रहता। इस प्रकार मिश्र जी के कथानकों का तन्त्र-विधान एक ऐसे करघे की भाँति होता है, जिस पर ताने-बाने मनमाने

ढंग से लिपटे रहते हैं और वे ताने-बाने काफ़ी उलझे हुए भी होते हैं। लेकिन ताने-बाने से बाहर लटका हुआ एक ऐसा सूत्र भी होता है, जो प्रायः बेमानी तो दीखता है किन्तु सारे सूत्रों को सुलझाने का रहस्य भी गँठियाये रहता है।

सेठ गोविन्द दास के नाटकों में कथानक का कोई रहस्य-बिन्दु नहीं होता। इसीलिए उनके कथानक में कुतूहल भी नहीं होता। उनके कथानकों से ऐसा विदित होता है कि कुछ प्रयोग-धर्मी लोग एक विशेष उद्देश्य से, एक खास मतलब से ज़िन्दगी के साथ प्रयोग करते हैं और जान-बूझ कर किसी आरोपित विवशता का लबादा अपने ऊपर डाले, उपदेश देने की मुद्रा में गाँधीवादी आदर्श को चमका कर खड़ा कर देते हैं। उनके सभी प्रसिद्ध नाटकों में एक-न-एक ऐसा व्यक्ति अवश्य आता है, जो गाँधीवाद का झंडा लिये चलता है। सेठ जी के नाटकों में कथानक का विकास प्रायः उस शैली में होता है, जिसमें रवि वर्मा के चित्र ठोस आकृति प्राप्त करते हैं। हुसैन अथवा रामकुमार की तरह रंगों के संयोजन या किसी विशिष्ट अंग को प्रकाशित (एक्सपोज़) करके अर्थपूर्ण आकृति प्रदान करने वाली कला-क्षमता सेठ जी के कथानकों में नहीं पायी जाती।

अश्क के कथानकों की विशेषता उनकी अमाँसलता है। 'अलग-अलग रास्ते' में इसकी कैफ़ियत देते हुए नाटककार ने कहा है—'नाटक में कथानक का अभाव है। पर यह अभाव साहित्य के सभी अंगों में दिखायी पड़ रहा है। क्योंकि आज का साहित्य कोरे चमत्कार या अकल्पित उपलब्धि का मनोरंजक विवरण नहीं, वह अपने समय के अधिक निकट खिसक आया है।'[1] अश्क के कथानक, सच पूछिए, तो एकांकी अथवा लघु-नाटक के ही कथानक होते हैं। इसलिए असम्बद्ध व्यापारों के द्वारा भी वे अर्थ-प्रदान करने की चेष्टा करते हैं और सफल भी होते हैं। बातचीत के द्वारा व्यंग्य और उपहास से भरी हुई पैनी टिप्पणियाँ उनके कथानकों में किन्हीं खास वस्तुस्थितियों का निर्माण कर देती हैं। यदि अश्क के नाटकों में कोई कथा होती है तो वह पिघले हुए रूप में पात्रों के चेहरे को भिगोती है, उनकी अभिनय-मुद्राओं को सँवारती है और उनकी भृकुटि-रेखाओं किंवा उनके सम्पूर्ण अंग-संचालन को द्योतित कर देती है। अश्क की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने कथानक के विस्तार के साथ काल की गति की शर्त को अस्वीकार किया है। सभी श्रेष्ठ नाटकों में दस-बीस या सम्पूर्ण जीवन की कथा को दो-तीन घंटों की कथा बना कर प्रस्तुत किया जाता है। अश्क की यह खूबी है कि वे इस संक्षेपण-कला को समय-श्रेणी पर चढ़ने ही नहीं देते। बीस वर्ष या सौ वर्ष यदि एक घंटे या दो घंटे में उतर कर नाटक में आता है तो इसलिए नहीं कि बीस या सौ के अनुपात को एक या दो के मान-चिह्न के द्वारा नाटककार को संकेतित करना होता है। काल की अनन्त सतह पर कोई व्यापार बीस वर्षों का परिणाम भी हो सकता है और एक क्षण का भी। यह भी हो सकता है कि यह परिणाम साथ के बीस वर्ष या एक

१. अलग-अलग रास्ते—उपेन्द्रनाथ अश्क—पृ० ५२

क्षण के किसी सिलसिले से जुटा हुआ नहीं भी हो । सच्ची बात तो यह है कि सन्, तारीख या दिन किसी घटना या व्यापार के लिए, न कारण होते हैं, न उसके लिए उत्तरदायी ही । व्यापार मनुष्यों का होना है । इसलिए अश्क ने कालक्रम के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार करते हुए लम्बे समय में अनवरत घटित होने वाली क्रिया को यदि इच्छा हुई तो एक क्षण में और फिर एक क्षण की क्रिया को यदि उन्होंने चाहा तो घंटों में तान दिया है । अश्क के कथानक रबर की तरह लचीले, नाटककार की इच्छानुसार घटने-बढ़ने वाले तथा पात्रों की चेतना-शक्ति के अनुसार तनने-सिमटने वाले होते हैं । ऐसा भी होता है कि अश्क काल, स्थान आदि का कोई विवरण प्रस्तुत ही नहीं करते । 'उड़ान' में उन्होंने ऐसा ही किया है ।

भुवनेश्वर के कथानक किसी अनवरत क्रिया का एक खंड-विशेष होते हैं । इन खंडों का कथा के आगे और पीछे से वास्ता तो ज़रूर होता है, किन्तु इस वास्ते का कोई वास्ता भुवनेश्वर से नहीं होता । ड्राइंग-रूम में बैठे हुए लोग या आमंत्रित मित्र की दावत के लिए बीवी की प्रतीक्षा करता हुआ कोई व्यक्ति या सारी जीवन-शक्ति को ऊसर की तरह बना देने वाले व्यक्तियों के संकलन उनके नाटकों की कथा के तार बुन देते हैं । भुवनेश्वर की कथाएँ समतल, सपाट और घुमाव से मुक्त होती हैं । भुवनेश्वर सम्वादों और क्रियाओं के द्वारा अर्थ व्यक्त करते हैं । उनके नाटकों की कथावस्तु बड़ी मामूली होती है । लेकिन मामूली-सी कथा से वे ग़ैर मामूली बात कहने के आदी हैं और उनकी इस विशेषता के कारण उनकी साधारण-सी कथाएँ असाधारण बन जाती हैं । सचमुच भुवनेश्वर से पास राख को विभूति बना देने का विरल कौशल है । उनके लिए हर क्रिया अभिनय होती है और उनकी अति साधारण-सी बातचीत—संकेत, अर्थ इत्यादि से लबालब भरा हुआ कूट पद । यह स्वाभाविक ही है कि भुवनेश्वर के नाटकों के कथानक सीधे-सरल साधारण-से दैनन्दिन जीवन के व्यापार हों । उनकी कथाओं में कम-से-कम उलझन है और फिर उनमें पात्रों की अधिकता, पूर्व दीप्ति (फ़्लैश बैक) या कथा को आगे-पीछे घुमाने वाली स्मृति या स्वप्न जैसी नट-क्रियाएँ भी नहीं होतीं ।

पात्र

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि नाटक में जितना महत्व कथानक का होता है, उतना ही महत्व चरित्र का होता है । एक अर्थ में तो कथानक से भी अधिक महत्व चरित्र का हो जाता है । कथानक चरित्र का निर्माण नहीं कर सकता । रचयिता को ऐसे लोगों की खोज-ढूँढ़ करनी पड़ती है, जो कहानी में प्राण भर दें । इधर पात्र हैं, जो कथानक का निर्माण कर सकते हैं, करते भी हैं ।[1] इसी से देशी-विदेशी सभी नाटकों में वातावरण और वस्तु-सम्पादन के योग के लिए पात्रों की अनिवार्यत: सृष्टि की गयी है ।

पहले यह कहा जा चुका है कि पश्चिमी समस्या-नाटकों के प्रमाण पर यह

१. ए प्राइमर ऑफ़ प्ले राईटिंग—केनेथ मैकगोवाँ—पृ० ७९

विदित होता है कि नाटक का नायक अपने उच्चासन से उतर कर साधारणता के धरातल पर खड़ा हो जन-समाज की भीड़ में जैसे खो जाता है। हिन्दी के समस्या-नाटकों में भी नायक के प्रथित अर्थ का बहिष्कार हुआ है। अब स्थिति यह हो गयी है कि नाटक का कोई भी पात्र कथा का भार-वहन करते हुए किसी भी दूरी तक जा सकता है और यह बिल्कुल ज़रूरी नहीं रह गया है कि मुख्य या विशेष प्रमाणित होने वाले पात्र का (जिसे हम प्रथित अर्थ में नायक समझते हैं) क्रिया-व्यापार भी अपेक्षया अधिक हो। सम्भव है, इस प्रमुख पात्र में अन्य पात्रों की अपेक्षा कुलीनता, न्याय-विवेक सौजन्य अथवा 'नेता' की संज्ञा नही मिलती। कभी-कभी तो ऐसा भी सम्भव होता है कि जो पात्र मंच पर भी नहीं आता अथवा विरले आता है, उसे ही कथा के नेतृत्व का अधिकांश श्रेय मिल जाता है। उदाहरण के लिए मिश्र जी के 'सिन्दूर की होली' के रजनीकान्त का नाम ले सकते हैं।

इन नाटकों की पात्र-कल्पना की एक दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि नायक की कल्पना के तिरोभाव के बाद उसकी अनुकरणीय महत् वृत्तियाँ एकाधिक पात्रों में बँट जाती हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना है कि वितरण की यह क्रिया नाटक के श्रेष्ठ पात्र अथवा नायक के द्वारा सम्पन्न नही होती, स्वयं नाटककार किसी एक व्यक्ति के गुणों को कई पात्रों में बिखेरता है। इसका एक परिणाम यह भी होता है कि व्यक्ति-पूजा को बाधा मिलती है। इसी कारण समस्या-नाटकों के पात्रों में दैवीगुण नहीं आते, वे साधारण-से मनुष्य ही रहते हैं।

पंडित लक्ष्मी नारायण मिश्र ने 'संन्यासी' की भूमिका में लिखा है—'चन्द्रगुप्त और अशोक, बोनापार्ट और कैसर के दिन चले गये। अब उस रोशनी की ज़रूरत नहीं, जो आँखों में चकाचौंध पैदा कर किसी ओर देखने नहीं देती। ज़रूरत है उस रोशनी की, जिसका सहारा ले कर हम कुछ आगे बढ़ सकें, उन चरित्रों की, जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धड़कन में मिल सके।'[1] 'इब्सन' ने अपने नाटकों के द्वारा नाटकों में स्वाभाविकता लाने का जो आन्दोलन किया था, अवश्य उसकी प्रेरणा मिश्र जी के इस मत के पार्श्व में है। नाटक में स्वाभाविकता लाते समय जो सबसे बड़ी बाधा हो सकती थी, वह ऐतिहासिक पात्रों को ले कर ही हो सकती थी। इतिहास के साथ आखिर नाटककार कितनी स्वतन्त्रता ले सकता था? इससे यही उचित और सम्भव था कि ऐतिहासिक वृत्तों को समस्या-नाटक में सर्वथा छोड़ दिया जाय और वर्तमान जीवन से ही कथानक का चयन हो। इसी सत्य की ओर सेठ गोविन्ददास ने संकेत करते हुए कहा है—'धार्मिक और ऐतिहासिक नाटकों में नेता की अत्यधिक प्रधानता रह सकती है। परन्तु सामाजिक नाटकों के सभी पात्र गृहस्थ होने के कारण तब तक नेता को प्रधानता नहीं मिल सकती, जब तक वह किसी विशिष्ट सामाजिक

---

१. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ २-३

दल का प्रतिनिधि न हो।'[1]

सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकीय पात्रों को अच्छाई और बुराई के खाते में बाँट कर प्रस्तुत किया है। अच्छाई और बुराई को एक ही पात्र में दिखा पाना उनके लिए सम्भव नहीं हो सका है। वे समस्या के अनुरूप समस्या-चरित्र (प्राब्लेम कैरेक्टर) की अवतारणा भी न कर सके। वे बहुत दूर तक पुराने शील-निरूपण की प्रणाली को ले कर ही चल सके हैं। हाँ, दैवी पात्रों में भी स्वाभाविकता के तत्व भरने का प्रयास उन्होंने अवश्य किया है, जिसके क्रम में उनको स्वप्न आदि की योजना करनी पड़ी है।

किन्तु, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अच्छाई और बुराई के खातों में पात्रों को बाँटने के बजाय एक ही पात्र में पाप और पुण्य दोनों को सहेजने का प्रयत्न किया है। कम-से-कम ऐसा दावा उन्होंने ज़रूर किया है। वे घोषित करते हैं—'मैंने जान-बूझ कर मनोरंजन के लिए या धोखा देने के लिए किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है। मैंने अपने चरित्रों को ज़िन्दगी की सड़क पर ला कर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में हो कर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए आगे बढ़ते गये हैं और मैं बराबर एक सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूँ।'[2]

मिश्र जी ने अपने पात्रों के द्वारा जो यह बौद्धिक प्राणायाम कराया है, वह क्रान्तिकारी प्रयत्न जान पड़ता है। उनके अधिकांश पात्र क्रान्ति के लिए पैदा होते हैं और पाप-पुण्य की आपा-धापी में पिसते-टूटते क्रान्ति करना चाहते हैं। यह भी उतना ही सच है कि मिश्र जी के पात्र किसी क्रान्ति की पूर्व योजना ले कर नहीं आते। मिश्र जी ने कहा—'वे (उनके पात्र) क्रान्ति ले कर पैदा नहीं हुए। प्रेमचन्द के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति है—उनके अन्त में। यह सच है कि उन्होंने भी क्रान्ति की है। सामाजिक, राजनीतिक नियमों की अवहेलना की है। किन्तु कब? विरोधी उपकरण जब ज़िन्दगी की राह रोक कर खड़े हो जाते हैं।'[3] इस प्रकार मिश्र जी के पात्र ज़िन्दगी की दैनन्दिन क्रियाएँ करते चलते हैं और अन्त में कहीं जा कर यह पता चलता है कि वे अनजाने इसलिए संघर्ष कर रहे थे कि उन्हें क्रान्तिकारी परिणति प्राप्त करनी थी। मिश्र जी ने डी० एल० राय, 'प्रसाद' और स्वयं समस्या-नाटककार सेठ गोविन्द दास से भिन्न सचमुच प्रकाश और अन्धकार, सद्वृत्तियों और दुष्प्रवृत्तियों, पाप और पुण्य की भिन्न स्थितियों को एक साथ सूत्रबद्ध करके एक ही पात्र में [illegible] की दूर तक चेष्टा की है। फिर भी ऐसा नहीं है कि उनके सभी पात्रों में अच्छाई और बुराई का सन्तुलन बना ही रह गया है। क्रियाशील अथवा प्रमुख लगने वाले पात्रों का संघर्ष जिन विरोधी पात्रों के साथ कराया गया है, उनमें

१. तीन नाटक—प्राक्कथन—सेठ गोविन्द दास—पृ० १७

२. ३. संन्यासी—अपने आलोचक मित्र से—लक्ष्मी नारायण मिश्र—
—पृ० ८, ८

अन्ततः अच्छाइयों का अनुपात इतना अधिक हो गया है कि उनके प्रत्येक नाटक में कई पात्र अपनी अनद्वृत्तियों और अपने राक्षसपन से उबर नहीं सके हैं। 'राक्षस का मन्दिर' का मुनीश्वर एक ऐसा ही पात्र है। ऐसे पात्र बुराई को अच्छाई के छल और तर्क के साथ लिये चलने का उद्योग करते हैं और अन्त में पोल खुल जाने पर सर्वथा असहाय, करुण और अपने ही घर में निर्वासित हो जाते हैं। 'सिन्दूर की होली' के मुरारी लाल का चरित्र-निर्माण कुछ इसी प्रकार हुआ है।

हम मिश्र जी की प्रशंसा इसलिए कर सकते हैं कि उनके क्रूरकर्मा पात्र बुराई के रास्ते अच्छाई को ओढ़ लेते हैं, अन्त तक बुराई की जिन्दगी जीते हुए भी अच्छाई को झटक कर फेंकना नहीं चाहते। इस प्रकार खलत्व से युक्त होने पर भी उनके ऐसे पात्रों को मनुष्यता का मान मिल ही जाता है। 'मुक्ति का रहस्य' का डॉ० त्रिभुवन नाथ आशा देवी का अन्तिम शरण-स्थल हो कर हमारे सामने इसी भूमिका के साथ उपस्थित होता है।

अश्क के नाटकों में चरित्र की यष्टि बड़ी लचीली होती है। उनके सभी पात्रों का व्यक्तित्व बाह्य व्यवस्था और परिस्थितियों से अविच्छिन्न दीखता है। अश्क के नाटकीय पात्र अपनी क्रियाओं के द्वारा अपना निर्माण कर लेते हैं और वे ही आपसी बातचीत के द्वारा मुख्य कथा को रचते भी चलते हैं।

'भारतेन्दु' और 'प्रसाद' ने विष्कम्भक जैसी योजनाओं के प्रयोग के प्रति तो कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी लेकिन सूच्य-कथांश को व्यक्त करने के लिए उन्होंने सम्वादों और कभी-कभी पात्रों का भी आयोजन किया। 'प्रसाद' के'स्कन्दगुप्त' में धातु सेन का उपयोग इसी क्रम में हुआ है। 'अजातशत्रु' का जीवक भी सूच्य-कथांश को ही व्यक्त करने वाला पात्र है। समस्या-नाटकों में सूच्य-कथांश को प्रकट करने के लिए अतिरिक्त पात्रों की अवतारणा अथवा सम्वाद-प्रयोग की प्रथित रीति का प्रायः अस्वीकार किया जाता है। मिश्र जी तथा सेठ जी के अनिवार्य पात्र ही, (अतिरिक्त पात्र नहीं) लम्बी बातचीत के द्वारा कथा-सूत्र को इस प्रकार समेटते चलते हैं कि बड़ी आसानी से उनके नाटकों में आये हुए ऐसे सम्वादों को छाँटा जा सकता है, जो समस्या-निरूपण या शील की प्रतिष्ठा की दृष्टि से तो अनावश्यक होते हैं लेकिन कथा का सम्वहन करने वाले सिद्ध होते हैं। अश्क ने अपने नाटकों में पात्रों का उपयोग इस ढंग से किया है कि शायद ही उनका कोई पात्र कथा सुनाता हुआ चलता है। भुवनेश्वर ने अपने पात्रों को स्वतन्त्र और असम्बद्ध इकाई के रूप में खड़ा किया है। उनका कोई पात्र किसी दूसरे पात्र की क्रिया से न तो विचलित होता है, न विह्वल। लेकिन भुवनेश्वर का पात्र चेतन होता है। जो कुछ उसके इर्द-गिर्द हो रहा है, उसको वह अच्छी तरह जानता-समझता है। दूसरे पात्रों के वक्तव्य से भी उसकी इकाई ही दृढ़ होती है। अश्क ने आवश्यक, अपेक्षित वस्तु-स्थितियाँ खड़ी की हैं। परिस्थितियों की अर्गलाओं को तोड़ने के लिए पात्र भी उन्होंने खड़े किये हैं। उनके विपरीत भुवनेश्वर के पात्र परिस्थितियों से स्वयं अपने

को तोड़ते हैं और इस तरह उनका एक पात्र दूसरे के लिए पात्र से अधिक परिस्थिति अथवा सन्दर्भ-रूप ही होता है। भुवनेश्वर का प्रत्येक पात्र अपने लिए अपने किये का जितना परिणाम होता है, दूसरे के किये हुए का भी उतना ही फल होता है। भुवनेश्वर के पात्र इतने स्थिर हैं कि यदि उन्हें उठा कर किसी मरुस्थल में भी खड़ा कर दिया जाय और उनको स्वगत कथन के लिए अवसर दिया जाय तो वे अपना निर्माण ठीक उसी रूप में कर सकते हैं, जिस रूप में वे जन-समाज के कोलाहल में करेंगे।

समस्या-नाटकों के पात्र समसामयिक लोक-जीवन के यथार्थ से तो अवश्य लिये जाते हैं लेकिन उनके विषय में यह भी हमें याद रखना होगा कि वे अतीत और भविष्य से मुक्त हो कर वर्तमान और केवल वर्तमान में नहीं रहा करते। बात यह है कि हम जिसे वर्तमान समझते हैं, वही तो प्रतिक्षण व्यतीत होता जाता है। और फिर समस्या-नाटक के पात्रों की नज़र भविष्य की ओर टँगी न रहे तो उनकी सार्थकता ही क्या ? इससे यह कहना एकांगी होगा कि समस्या-नाटक के पात्र केवल वर्तमान में रहते हैं। सच्ची बात तो यह है कि वे वर्तमान में रह कर अतीत को जीते है और भविष्य के लिए संघर्ष करते हैं।

समस्या-नाटक के पात्र इसीलिए काफ़ी गतिशील होते हैं और कभी-कभी परिवर्तनशील भी। समस्या-नाटककार पात्र की अन्तर्वृत्तियों का परिवर्तन नहीं दिखाया करता। परिवर्तन का अर्थ उसके सामने बस इतना ही है कि कुछ ऐसी कोशिश की जाय कि पात्र की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ ही परिस्थितियों या व्यक्तियों से टकरा कर विशिष्ट रूप में उद्घाटित हो जायें।

समस्या-नाटक में किसी महामहिम पात्र को खड़ा कर उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से किसी राक्षस को मनुष्य बनाने की कृत्रिम योजना नहीं स्वीकार की जाती। सेठ जी के नाटकों तक के विषय में यह कथन सिद्ध है। उनके नाटक में आवश्यक रूप से मिलने वाला गाँधीवादी पात्र भी किसी दूसरे को गाँधीवादी बनाने का काम नहीं करता। इन नाटकों में ऐसा भी नहीं होता कि अचानक ज्ञान-चक्षु के खुल जाने से कोई दुरात्मा, सपाट महात्मा बन जाय। हाँ, मिश्र जी के नाटक 'मुक्ति का रहस्य' में यह योजना अवश्य मिलती है कि पात्र निरुपायावस्था में ध्वंस से बचने के लिए अपनी नियति के साथ समझौता कर लेता है। इस नाटक के उमाशंकर की यही भूमिका है।

हिन्दी के समस्या-नाटकों में स्त्री-पुरुष, तरुण-वृद्ध, नेता, सुधारक, त्यागी, अनुरागी, भावुक, कर्मठ—कई ऐसी भंगिमाओं के पात्र प्रस्तुत हुए हैं, जिनमें लैंगिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक और चारित्रिक अन्तर है। ये पात्र वर्तमान समाज या कुटुम्ब के घेरे में घिरने का बिना बोध किये हुए चलते तो हैं लेकिन यदि उस घेरे से कभी ये टकरा जाते हैं तो इनकी वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्विक—सारी क्रियाएँ अत्यन्त तीव्र हो उठती हैं। प्रेम, ईर्ष्या, क्रोध, जैसी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ तथा विवाह, वैधव्य, अपराध-चेतना, पाप, पुण्य, जैसी सामाजिक और नैतिक प्रतिक्रियाएँ

सब मिल-जुल कर इनका निर्माण करती हैं। इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि इन पात्रों में वैयक्तिकता और सामाजिकता की संहिति परिलक्षित हो। इनके व्यक्तिगत या निजी और सार्वजनिक—दो रूप हो सकते हैं। लेकिन समस्या-नाटककारों ने इन दोनों चेहरों की नकाबें उतार कर प्रमाणित किया है कि ये चेहरे, चेहरे नहीं थे, बस मुखौटे भर थे।

समस्या-नाटकों के पात्रों को हम चाहें तो कतिपय वर्गों में बाँट सकते हैं। कुछ पात्र ऐसे होते हैं, जो समस्या के कारण होते हैं और अपने सुख-भोग, सन्तोष, दुराग्रह अथवा स्वार्थ-मोह के कारण दृढ़ और अधिकारी आकार में खड़े होते हैं। ऐसे पात्र प्राय: वय-प्राप्त, अनुभव-धनी, परम्परा-भोगी प्रौढ़ होते हैं। उनके हाथ में व्यवस्था के संचालन का सूत्र होता है। चँकि उनके ही कारण समस्या खड़ी होती है, इससे उनमें खलत्व का आरोप किया जाता है। यहाँ यह स्मरण कर लेना होगा कि पुराने नाटकों के 'नायकों' के महत् गुणों का वितरण जिस प्रकार समस्या-नाटक के एकाधिक पात्रों के बीच कर दिया जाता है, उसी प्रकार पुराने नाटकों के 'खलनायक' की दुष्प्रवृत्तियों और दुर्गुणों का वितरण भी कुछ पात्रों के बीच किया जाता है। भयानक प्रवृत्तियों का वितरण करते समय व्यवस्था के सूत्र-संचालकों को त्रासद-तत्वों से मुक्त करना अधिक आवश्यक हो जाता है। यह इसलिए कि उनको दृढता पर ही वह चाँदमारी सम्भव होती है, जिसे नाटककार तरुण, भावुक अथवा तार्किक पात्रों के माध्यम से करना चाहता है। ये ही खलप्राय पात्र उठती जवानी के सारे आक्रोश का लक्ष्य बनते हैं। इसलिए यह आवश्यक होता है कि इन पात्रों की चमड़ी और सम्वेदना गैंडे की खाल की तरह कुंद, गिजगिजी लेकिन साथ ही खूब मजबूत भी हो। मिश्र जी के 'सिन्दूर की होली' का मुरारी लाल, सेठ गोविन्द दास के 'हिंसा या अहिंसा' का दुर्गादास और अश्क के 'अंजो दीदी' की अंजो, ऐसे ही पात्र हैं। दूसरे वर्ग में वे पात्र आते हैं, जो तरुण हैं और महत्वाकांक्षी भी। उनके अपने आवेग होते हैं, अपनी सम्वेदनाएँ होती हैं और वे यह समझते हैं कि उनकी पीढ़ी के पहले सब कुछ बेठीक था और इससे उनको युयुत्सुवृत्ति अपना कर उसके विरुद्ध जेहाद करना चाहिए। ऐसे पात्रों की युयुत्सा-वृत्ति कभी तो नियन्त्रित होती है और कभी दूसरे को लक्ष्य बना लेने के कारण हिंसक भी हो उठती है। सेठ जी के विद्रोही पात्र पहली कोटि में और मिश्र जी के दूसरी कोटि में पड़ते हैं। मिश्र जी के नाटकों में सारी लम्बी बहसें इसी प्रकार के पात्रों यथा, चन्द्रकला, मनोरमा मनोज शंकर, आशा देवी आदि से करायी जाती हैं। 'अंजो दीदी' के श्रीपत और नीरज भी ऐसे ही पात्र हैं। तीसरे वर्ग के पात्र अच्छाई-बुराई के निष्कलुष साक्षी होते हैं। जैसे कि 'सिन्दूर की होली' का माहिर अली अथवा अंजो के पति इन्द्र नारायण हैं। इन पात्रों का चरित्र बहुत साधारण तो होता है लेकिन इनके प्रयोग से नाटक की समस्या अर्थ प्राप्त करती है।

सम्वाद : 'द कन्सट्रक्शन ऑफ़ ए प्ले' के लेखक रेचेल क्राथर ने कहा है कि नाटक में सम्वाद, पात्रों को उसी प्रकार प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार बिजली अपनी कान्ति से अन्धकाराच्छादित भूमि को ।[1] उनके कहने का तात्पर्य यह है कि समर्थ सम्वादों के द्वारा नाटकीय कथा का सूत्र आगे बढ़ता है, कथा के पात्र विविक्त होते हैं और पात्रों के भावों का प्रकाशन होता है । इस प्रकार सम्वाद समस्या का उद्घाटन करने वाली कथावस्तु की प्रगति, चरित्र के विकास और भाव-व्यंजना में सहायक ही नहीं अपितु निमित्त बनते हैं । सम्वाद की चातुरी से समर्थ नाटककार वर्षों के अंतराल को क्षण में समेट लेता है । मीलों तक फैली हुई क्रिया-स्थितियाँ बँधे-बँधाये मंच पर सम्वाद की कलात्मकता के ही सहारे अपने समास के द्वारा अपने व्यास को प्रकट कर पाती हैं । जीवन-मरण के प्रश्न के आल-जाल में उलझे हुए लोग सम्वाद के ही द्वारा उन सूत्रों को तानते हैं, जो जीवन के चुने हुए क्षिप्र अंशों की सहायता से सम्पूर्ण जीवन को व्यक्त करते हैं । यह कह देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि अभिनय के क्षेत्र में सम्वाद का महत्व वाचिक क्रिया तक ही सीमित होता है । किन्तु वहीं यह भी है कि आहार्य, अंगज आदि सभी प्रकार की अभिनय-स्थितियाँ वाणी के द्वारा ही अर्थ प्राप्त करती हैं । नाटक की अर्थ-योजना का अधिकांश दायित्व सम्वाद में ही केन्द्रित होता है । वातावरण-निर्माण या व्यक्ति नाम जैसी आरम्भिक क्रियाएँ भी सम्वाद की सहायता से ही मुखर होती हैं । अभिव्यक्ति की दिशा में जो महत्व भाषा का होता है, नाटक की दिशा में वही महत्व सम्वाद का समझना चाहिए । साहित्य की अन्य विधाओं में कृती को यह सुविधा प्राप्त है कि वह अपना निजी अभिमत प्रस्तुत करता चले; किन्तु नाटक में कथ्य, अकथ्य, सूच्य, सोच्य, अभिलष्य, कल्पित, व्यंग्य इत्यादि की अभिव्यक्ति के सभी कोण वक्तव्य अथवा सम्वाद के द्वारा ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

सम्वाद की यह अनिवार्यता ही नाटकों में सम्वाद-प्रयोग के क्षेत्र में अराजकता का कारण भी बनती है । संकलन-त्रय के प्रकृत-संगठन के लिए ऐसी सम्वाद-भंगिमाओं का प्रयोग होता रहा है, जिनसे सम्वाद की वास्तविकता को बराबर आघात सहन करना पड़ा है । 'इब्सन' ने सम्वाद की वास्तविकता तथा परम्परा-मुक्त प्रकृति पर बल दिया है । सेठ गोविन्द दास ने तदर्थ 'इब्सन' की बड़ी प्रशंसा की है । 'इब्सन' द्वारा अश्राव्य और नियत श्राव्य दोनों प्रकार के कथनों का बहिष्कार सेठ जी को बड़ा भाया । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सेठ जी ने 'गरीबी या अमीरी' में आ कर एतद्विषयक अपनी पूर्व-प्रतिष्ठित प्रणाली का पल्ला छोड़ कर स्वगत भाषणों को ही नाटक की शक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया ।

पंडित लक्ष्मी नारायण मिश्र की इस विषय में घोषणा यह है—'मैंने स्वगत की प्रणाली को अस्वाभाविक समझ कर छोड़ दिया है । पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है, उतना सहायक

१. द कन्सट्रक्शन ऑफ़ ए प्ले—रेचेल क्राथर—पृष्ठ १२७

स्वगत नहीं।'[1] मिश्र जी ने अपने सम्वादों में स्वाभाविकता लाने के लिए स्वगत कथन के प्रयोग का बहिष्कार भले ही किया हो पर सचाई यह है कि उनके सम्वादों में स्वाभाविकता नहीं आ पायी है। अश्क ने उनकी आलोचना करते हुए यह ठीक ही कहा है कि रंगमंच से उनका सम्बन्ध न होने के कारण उनके नाटक उलझे हुए सम्वाद बन कर रह गये हैं और इसीलिए वे रंगमंच पर खेले भी न जा सके।[2]

हिन्दी के समस्या-नाटकों के अध्ययन से यह अवश्य प्रकट होता है कि उनके रचयिताओं ने स्वाभाविक सम्वाद-लेखन का प्रयत्न अवश्य किया है और उसके लिए स्वगत भाषण के बोझ को नाटकों पर से उतारने की भरपूर चेष्टा भी उन्होंने की है। यह दूसरी बात है कि वर्षों के प्रयोग के बाद सेठ गोविन्द दास जैसे नाटककार का एतद्विषयक संकल्प झूठा हो गया और वर्षों के अभ्यस्त नाट्य-लेखन तथा आशंसा-स्तुति के बाद रंगमंचीय अनुभव के अभाव में मिश्र जी के सम्वाद उलझी हुई बहस बन कर रह गये। ऐसा भी हुआ है कि कुछ नाटककार सूक्तियों और आघातक व्यंजनाओं के फेर में पड़ कर नाटक के सम्पूर्ण अर्थ और प्रभाव की स्थापना में ही विफल हो गये। सम्वादों में सच्ची स्वाभाविकता का निर्वाह बहुत दूर तक अश्क के नाटकों में ही देखा जाता है। अश्क ने स्वगत-कथन का प्रयोग एकदम नहीं किया है—ऐसा नहीं है। हाँ, उनके नाटकों में स्वगत का प्रयोग बहुत कम ही हुआ है और उनका स्वगत कथन-प्रयोग भी बहुत स्वाभाविक और नाटक की गति के अनुकूल है। अश्क के ये प्रयोग सिद्ध करते हैं कि ऐसा नहीं है कि स्वगत-कथन के प्रयोग से नाटक का सौन्दर्य नष्ट हो ही जाय।

अब हम समस्या-नाटककारों की सम्वाद-विषयक उपलब्धियों को ध्यान में रख कर कतिपय तथ्य प्रस्तुत करना चाहेंगे।

सेठ गोविन्द दास के नाटक दृश्य-विधान की दृष्टि से साफ़-सुथरे हैं। उन्होंने समझदारी के साथ रंगमंच, ध्वनियन्त्र, प्रकाश-व्यवस्था, यवनिका इत्यादि का प्रयोग किया है। लेकिन अर्न्तसंघर्ष की कमी तथा नाटकीय व्यवस्था के असन्तुलित होने के कारण उनके सम्वाद सपाट बन कर रह गये हैं। वे लम्बे सम्वादों का प्रयोग करते हैं, जिसके कारण उनके सम्वाद नाटकीय एकालाप (ड्रामेटिक मोनोलाग) बन जाते हैं। क्षिप्र और चुटुल सम्वाद सेठ जी के नाटकों में इतने सीधे ढंग से लिख दिये गये हैं कि उनका सारा प्रभाव ही जाता रहा है। पढ़े-लिखे लेकिन कुन्द ज़ेहन लोगों की बातचीत में जैसे केवल वर्णनात्मकता हुआ करती है, व्यंजकता नहीं होती, वैसे ही सेठ जी के शिक्षित पात्र भी व्यंजकताशून्य वर्णन करते हैं, बोलते नहीं। सेठ जी के 'ग़रीबी या अमीरी' नाटक में एक प्रसंग आता है, जहाँ नाटकीय शिल्प की संरचना में स्वगत-कथन के महत्व के विषय में विचार किया गया है। उस नाटक का विद्याभूषण कहता है—'मैंने 'सालिलाकी' और गानों को यह सिद्ध करने के लिए दिखाया है कि नाटक की

१. मुक्ति का रहस्य—मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?—ल० ना० मिश्र—पृ० २३
२. अलग-अलग रास्ते—ऐतिहासिक पक्ष—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृ० १६

स्वाभाविकता की रक्षा करते हुए इन चीज़ों का नाटक में सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है।'[1] जिस आगन्तुक को लक्ष्य कर विद्याभूषण ने यह कहा, वह क्षमा माँगते हुए भाग खड़ा होता है और कहता है—'मैं नाटक' पढ़ चुका हूँ और मुझे खेद है कि हम इसे प्रकाशित न कर सकेंगे।'[2] इस प्रकरण को हम इस अर्थ में व्यंजक समझते हैं कि इसमें विद्याभूषण के माध्यम से स्वयं नाटककार असफलता के हेतुओं को सफलता के तत्व के रूप में प्रयुक्त करते और उनका आलोचक मन उस प्रयोग की विफलता को भी उनके सामने प्रकट कर देता है।

सेठ जी के सम्वादों में मिलने वाले शैथिल्य का एक कारण यह भी है कि उनमें व्यंग्य और विनोद का घोर अभाव है। जिन सूक्तियों के आधिक्य के कारण मिश्र जी के सम्वाद प्रसंग के तल पर चिपके-चिपके-से लगते हैं, उन्हीं सूक्तियों के नितान्त अभाव ने सेठ जी के सम्वादों को फटे हुए पोस्टर की तरह बेमानी और प्रभावहीन बना दिया है। चरित्र-उद्घाटन और समस्या-प्रस्तुति की क्षमता भी सेठ जी के सम्वादों में नहीं के बराबर है। बहुत दूर तक उनके सम्वादों की भाषा प्रायः एक-रस है। 'प्रसाद' के तत्सम-शब्द-बहुल सम्वादों की भाषा के विषय में यह आक्षेप किया जाता रहा है कि उसमें पात्रानुकूलता की कमी है। कुछ ऐसा ही हम सेठ जी के सम्वादों के विषय में भी कह सकते हैं। 'प्रसाद' और सेठ जी में इस विषय में यदि कोई अन्तर हो सकता है तो यही कि जहाँ 'प्रसाद' का कोश तत्सम-कोश है, वहीं सेठ जी का तद्भव। जैसे 'प्रसाद' के दांड्यायन से ले कर मालविका तक की भाषा एक ही कोश से निर्मित है वैसे ही सेठ जी के पात्रों में अचला तथा विभावती से ले कर विद्याभूषण तक की भाषा एक है। सेठ जी पात्रोचित भाषा का मतलब शायद यही लेते हैं कि गँवई गँवार पात्र को लोक-भाषा का व्यवहार करना चाहिए, अंग्रेज़ी ठाठ में रहने वाले की हिन्दी में विलायती तमाशा होना चाहिए और भिन्न प्रान्तों के पात्रों को अपनी मातृ भाषा में बोलना चाहिए।

पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र ने 'प्रसाद' के विरोध में ही सही, अपने छायावादी-संस्कार को भुलाने की सायास साधना की है और नाटक को विधा का वरण भी उन्होंने इसी कारण किया है। लेकिन नाट्य-कला की दीक्षाजन्य जानकारी तथा रंगमंच के अनुभव के अभाव के कारण उनके सम्वादों में कला का निखार नहीं मिलता। मिश्र जी ने कविता के प्रभावों से मुक्त होने के प्रयास में रूखी, कहिए नीरस भाषा का प्रयोग किया। इसलिए उनके सम्वाद शॉ के 'कैन्डिडा' नाटक के उस कवि-पात्र की बातचीत की तरह हो गये हैं जो 'फ्रेज़र' के शब्दों में 'पंचम श्रेणी के विज्ञापन-बाज़ों की भाँति वर्ण-संकर भाषा'[2] का प्रयोग करता है। मिश्र जी को स्वयं अपने इस प्रयत्न के प्रति असन्तोष हुआ करता है और इसीलिए दो चार कथावाही सम्वादों के प्रयोग के बाद वे चमत्कारक सम्वादों के प्रयोग-मोह से ग्रस्त हो जाते हैं। खलील जिब्रान की तरह सूक्ति-वचन कराने

---

१. २. ग़रीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृ० १०७

२ द मॉडर्न राइटर्स एंड देयर वर्क—जी० एस० फ्रेज़र—पृ० १३३

में मिश्र जी से कोई भी टक्कर नहीं ले सकता। मिश्र जी के पात्र, चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, सूक्ति-प्रयोग का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं देते। अकेले 'सिन्दूर की होली' में पचासों सूक्तियाँ कही गयी होंगी। इस नाटक के मनोज शंकर और मनोरमा ने इस अर्थ में बड़ी विशिष्टता प्राप्त की है। उनकी सूक्तियों के उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं :

'शिक्षा और कला का सम्बन्ध कुछ नहीं है। कला का आधार तो है विश्वास और शिक्षा का सन्देह।'[1] और फिर—'यह विधवा। आप नहीं जानते या शायद जानते भी हैं, अग्नि है, हलाहल है। कोई भी पुरुष इसे छू कर या पी कर जी नहीं सकता।'[३]

स्पष्ट है कि मिश्र जी ने अपने सम्वादों में जान डालने के लिए सूक्ति-वाचन किया है। यह दूसरी बात है कि उनके सूक्ति-वचनों में अपेक्षित वाग्-वैदग्ध्य नहीं आ पाया। यदि उनके सूक्ति-वचनों में वाग्-वैदग्ध्य आ भी जाता तो भी यह बात तो रह ही जाती है, यह आशंका तो बनी ही रहती है कि ऐसे सूक्ति-वचन प्रेक्षकों का ध्यान नाटक के मुख्य प्रतिपाद्य से खींच कर अपनी ओर केन्द्रित करके नाटक के स्थापत्य को शिथिल कर सकते हैं। इसी से तो आर० एम० बुसफील्ड ने सुझाया है कि सच्चे नाटकीय सम्वाद-लेखन की कला इस बात में है कि नाटककार चरित्र से अलग कटे हुए चुटुल सूक्ति-वचनों और व्यंग्य को दबा कर रखे।[२]

मिश्र जी की दूसरी दुर्बलता यह है कि वे कहानी को धीरे-धीरे खिसकने नहीं देते। उनके नाटकों में एक साथ दो-तीन पात्र एकत्र हो कर ऐसी लम्बी बहस करते हैं, जिसका नाटक के कथा-विन्यास से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। मिश्र जी चाहते तो ऐसे पात्रों के बीस-बीस सम्वादों की दो-तीन बना सकते थे और उनके अनावश्यक बोझ से नाटक को बचा सकते थे। उनके सम्वादों में व्यंग्य का भी बड़ा अभाव है। उनके सम्वाद किसी गोल चक्कर के इर्द-गिर्द भटकते हुए दिखायी पड़ते हैं। इसी चक्कर में कहीं समस्या छिपी रहती है, जो धीरे-धीरे सम्वादों के माध्यम से स्रवित होती हुई नहीं दिखायी पड़ती; बल्कि अचानक किसी विश्वासघात अथवा अपराधांगीकरण के साथ एकबारगी निकल पड़ती है। मिश्र जी के नाटक बातचीत की शैली में लिखे हुए आख्यान जैसे होते हैं और आख्यान भी ऐसा, जिसमें हर आदमी कहता है, यह भी चिन्ता नहीं करता कि दूसरा उसकी बात सुन भी रहा है या नहीं। उसे इस बात की तो जैसे परवाह ही नहीं होती कि मंच के नीचे कुछ दूसरे लोग भी हैं, जिनके लिए ही पात्र को बोलना होता है।

सम्वाद-लेखन की दृष्टि से उपेन्द्र नाथ 'अश्क' हिन्दी के समस्या-नाटककारों में सर्वाधिक सफल माने जाते हैं। श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने उनके सम्वादों के विषय में कहा है। 'अश्क के सम्वाद इसलिए असाधारण हैं कि उनमें नदी की धारा की भाँति परिस्थितियों के ढलाव के अनुकूल ही उत्तर-प्रत्युत्तर चलते हैं। दरबारी ढंग का वाहवाही

१. ३. सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृ० ३३, ५३
२. द प्लेराइट्स आर्ट—रॉजर० एम० बुसफ़ील्ड—पृ० १४८

वाला सम्वाद यहाँ नहीं है। उनकी नायिकाएँ शास्त्रार्थी पंडितों की भाँति सूत्र-गुम्फन नहीं करतीं। अश्क के पात्र असाधारण इसलिए हैं कि साधारण व्यक्तियों की तरह वे तकिया-कलामों का प्रयोग करते हैं, बातचीत करते-करते उलझन में पड़ जाते हैं, खंडित वाक्यावलियाँ उनके मुख से झरती हैं, अधसुनी भंगिमाएँ बिखरी पड़ी रहती हैं और गम्भीर बातचीत में वे छोटी-सी चर्चा छेड़ देते हैं।'[1]

अश्क के सम्वादों की एक विशेषता यह भी है कि उनमें कथानयन, शील-निरूपण और भाव-व्यंजना की अद्‌भुत शक्ति पायी जाती है। इसे ही लक्ष्य कर डॉ० धर्मवीर भारती ने कहा—'नाटककार ने सम्वाद में ऐसे संकेत रखे हैं, जिनसे पात्र के चरित्र का पूरा विकास, वर्तमान-स्थिति, उसके अन्तर्मन के छिपे हुए संस्कार और उसकी अवचेतन प्रतिक्रियाएँ सभी झलक जाती हैं।'[2] अश्क अपने सम्वादों के द्वारा कार्य-व्यापार को भी एक निश्चित गति और अर्थ प्रदान करते हैं। उनके सम्वादों में ऐसे नट-बिन्दुओं की योजना हुई है, जिनसे वातावरण और हृदय-विधान के चित्र भी उतर आये हैं। इस प्रकार अश्क रंगमंच-निर्देशक को भी बहुत सारी झंझटों से बरी कर देते हैं। अश्क के सम्वादों में सूक्तियाँ कम आयी हैं लेकिन हास्य-व्यंग्य और परिहास का प्रयोग उन्होंने इस कौशल के साथ किया है कि यथार्थ की सारी तिक्तता सम्वादों के द्वारा ही विविक्त हो जाती है। मात्रानुकूल सम्वाद-लेखन में अश्क के मुकाबिले के लिए किसी दूसरे समस्या-नाटककार को खड़ा नही किया जा सकता। हर पात्र की मानसिक प्रक्रिया और शारीरिक आदतों को सम्वादों में ढाल देना अश्क के लिए नितान्त सहज है। 'अंजो दीदी' की अंजो की पाबन्दी-पसन्द अभिजात-प्रवृत्ति की सारी कठोरता, यांत्रिकता और ऊबा देने वाला विद्रूप उसके केवल एक तकियाकलाम—'नाना जी कहते थे'—से व्यक्त हो जाता है। पात्रानुकूलता की एक भिन्न प्रक्रिया अश्क भाषा के स्तर पर दिखाते हैं। यहाँ पात्रों की प्रवृत्ति के बहुत अर्थ नहीं होते, वहाँ अश्क स्थूल प्रतिक्रियाओं का निदर्शन कराने के लिए बोलियों के स्थानीय रंग के द्वारा सम्वाद में जान डालने की चेष्टा करते हैं। पंजाबी, मारवाड़ी पात्रों की अवतारणा के अवसर पर अश्क उनके जातीय गुणों के साथ-साथ उनकी भाषिक शैलियों को भी सम्वादों में ढाल देते हैं। ऐसा ही वे भोजपुर क्षेत्र के पात्रों तथा बम्बई के पात्रों के साथ भी करते हैं। इसी से नाटक 'बोलियों के अजायबघर'[3] भी कह दिये गये हैं। भाषा पर अश्क का विलक्षण अधिकार है। कभी-कभी अश्क अपने सम्वादों के द्वारा कथा के उद्देश्य या चरित्र के आत्म-बोध को भी सबल प्रतीकों के सहारे व्यक्त करते हैं। 'अंजो दीदी' में एक ऐसा उदाहरण मिलता है। अंजो राधू से कहती है—'घड़ी टूट गयी राधू। शायद मैंने इसे ज्यादा चाभी दे दी।'[4]

१. नाटककार अश्क—अश्क के नाटक—जगदीश चन्द्र माथुर—पृष्ठ १८
२. कैद और उड़ान—व्याख्या—डॉ० धर्मवीर भारती—उ० ना० अश्क पृष्ठ २८
३. नाटककार अश्क—पृ० ७५-७६
४. अंजो दीदी—उपेन्द्रनाथ अश्क—पृ० १०६

यहाँ अंजो प्रकारान्तर से अपने अनुशासन की सनक की यांत्रिकता का परिणाम स्वीकार करती हुई-सी दिखायी पड़ती है।

भुवनेश्वर सम्वादो के प्रयोग में बहुत तीखे, जितने साफ़-सुथरे उतने ही गहरे और टेढ़े भी हैं। जैसे एकत्र हो कर लोग बराबर मतलब की ही बातें नहीं किया करते, असम्बद्ध वाक्यावलियाँ भी बोला करते हैं और उनके वैसे बोलने के पीछे कोई-न-कोई मानसिक सतह भी जुटी ही रहती है, वैसे ही भुवनेश्वर के पात्र अपनी असम्बद्ध उक्तियों के जरिये अपना कोई-न-कोई अभिप्राय प्रकट किया करते हैं। 'ऊसर' में ऐसा एक उदाहरण मिलता है। वहाँ संवाद के रूप में एक असम्बद्ध उक्ति आयी है—'कमरा, बाथरूम, सेक्स—शाह नजफ़ रोड ! क्या कहना है !'[1] यह सम्वाद निश्चय ही दीखता तो अर्थहीन है, लेकिन सच्ची बात तो यह है कि नैतिकता के घुलते हुए दैन्य की इससे सुन्दर व्यंजना हो ही नहीं सकती। इसी अस्फुट सम्वाद के आधार पर मिस्टर सिवेल निर्णयात्मक ढंग से कहता है—'आने वाली जेनरेशन चाहे वह बिल्लियों की हो या सर्पों की, हमसे अच्छी होगी।'[2]

ऊपर के विवरण से यह प्रकट होता है कि हिन्दी के समस्या-नाटकों की सम्वाद-योजना के विषय में किसी प्रकार की निश्चित स्थापना तो प्रस्तुत नहीं की जा सकती किन्तु इतना निश्चित है कि हिन्दी के सभी समस्या-नाटककारों ने सम्वाद की बोझिल शैली से मुक्त होने का यथाशक्य प्रयास अवश्य किया है। हे, हो, प्रिय, प्राण, नाथ जैसे आमंत्रक सम्बोधनों का समस्या-नाटकों में सम्पूर्णतया अभाव पाया जाता है। 'प्रसाद' के स्कन्दगुप्त ने नन्दन की 'बसन्त श्री' और 'अमरावती की शची' कह कर जिस देव सेना का स्मरण किया था, वह यदि इन समस्या-नाटककारों में से किसी का हाथ पड़ जाय तो उसे हम शाहनजफ़ रोड पर बाथरूम के भ्रम (इल्यूजन) में भटकती हुई ही पा सकेंगे। समस्या-नाटकों की सम्वाद-योजना की मौलिक विशेषताओं में स्वगत कथनों का [illegible] सूक्ति-वाचन या वाग्वैदग्ध्य से उबरने की चेष्टा, सांकेतिकता, शील-निरूपण, कथानयन और अभिप्राय की अभिव्यक्ति का संग्रथित आयोजन आयत्त करने के प्रयत्न आदि की चर्चा की जा सकती है।

समस्या नाटकों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके सम्वादों की विशेषता यह भी है कि प्रारम्भ में कतिपय सम्वादों के द्वारा नाटकीय स्थिति का, चुनाव कर लिया जाता है। फिर उसी के आधार पर वस्तु-निर्माण का प्रश्न खड़ा किया जाता है और क्रमशः निरूपण, अवरोध विकास और अपकर्ष की श्रेणियों में सम्वाद-स्तर बिठा दिये जाते हैं। सम्वादों के द्वारा ही चुनी हुई घटनाएँ और घटनाओं पर पात्र-प्रतिक्रियाओं का आयोजन किया जाता है कथ्य की अनेक तहें सबल सांकेतिक और प्रतीकात्मक सम्वादों के द्वारा निर्दिष्ट की जाती है और क्रमशः चरमोत्कर्ष पर ले

१. यवनिका-एकांकी-संग्रह—ऊसर—सं० श्री कामेश्वर शर्मा—पृ० ८४
२. यवनिका—ऊसर—सं० श्री कामेश्वर शर्मा—पृ० ७७

जा कर उत्तेजक प्रभावकारी सम्वादों का संगठन किया जाता है। विमर्श की स्थिति चाहे नही भी आये, अवरोहन को कुछ ताना अवश्य जाता है। इस प्रकार ऐसे सम्वादों की योजना की जाती है, जो प्राचीन नाटकों की अवमर्श सन्धि के नूतन अभिप्राय को इंगित करते हैं। विमर्श के बाद ही गत्यात्मक सम्वाद लिख कर कथा के तिरोधान का आयोजन किया जाता है। यह तिरोधान कुतूहल की स्थिति में होता है और हर सम्भव कथ्य को समाप्त होने वाली सीमा के पहले ही तराश कर किसी तिर्यक सम्वाद के द्वारा उद्देश्य का संकेत कर दिया जाता है। हिन्दी के समस्या-नाटकों में इस प्रकार स्थिति सूचक, निरूपक, उत्कर्षक, अवमर्षक और तिर्यक आदि कई प्रकार के कथानयी, चरित्र-सम्वाहक सम्वादों का प्रयोग दिखायी पड़ता है।

गीतों का बहिष्कार

पुराने नाटकों में शिल्पगत ऐसे अनेक विधान होते थे, जिनके कारण नाटक, जीवन का अनुकार बनने के बदले जीवन का तमाशा हो जाते थे। समस्या-नाटकों की रचना करते समय नाटककारों का ध्यान इस बात की ओर गया और उन्होंने नाटकीय स्थिति के चुनाव, समस्य का उद्घाटन तथा कथा-विन्यास के लिए नये प्रतिमान खड़े किये। उसके साथ ही सम्वाद-रचना की स्वाभाविकता पर जोर देते हुए उन्होंने आहार्य, अंगज और सात्विक अभिनय प्रकारों को भी यथाशपथ सम्वाद की विशेषता में ही अन्तर्भुक्त कर दिया। शास्त्रीय नाटकों में आहार्य-पक्ष वेश-भूषा से तो सम्बद्ध होता ही है, नट-मुद्राओं (नृत) तथा नृत्यों का प्रयोग भी अलंकरण के लिए ही हुआ करता है! अंगज अभिनय की दृष्टि से उन्हीं शरीर-क्रियाओं का महत्व हो सकता है, जो कथानयी पात्रों के द्वारा सम्पन्न होती हैं। इनसे बाहर के लोगों से यदि इसे सम्पन्न कराया जाता है तो निश्चय ही उसकी योजना नाटक से बाहर की हो जाती है। पुराने नाटकों में नृत्य के सहायक-तत्व के रूप में वाद्य और संगीत का भी प्रयोग किया जाता था। वाद्य और संगीत से व्यक्त होने वाले भावों को अर्थ की स्पष्टता प्रदान करने के हेतु काव्य अथच् गीतों का प्रयोग होता था। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनपेक्षित न होगा कि वाद्य और संगीत से हमारा अभिप्राय नृत और नृत्य को योग देने वाले ध्वनि-आयोजन से है। संघर्ष, क्रोध, करुणा, भाव-संकेत या नियति की अपरिहार्यता को व्यक्त करने के लिए जो ध्वन्यात्मक संगठन होता है वह रंग-निर्देश का वह भाग होता है, जो नेपथ्य-भाग से सम्बन्धित हुआ करता है। मूल मंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले वाद्य-संगीत को ही हम गीत के परिसर के रूप में ले रहे हैं।

समस्या नाटककारों ने स्वाभाविकता के नाम पर गीतों का बहिष्कार करते हुए गीत के परिसर का बहिष्कार किया था। इब्सन के नाटकों को लक्ष्य करके डॉ० एस० पी० खत्री का यह कथन कि 'उनमें न तो कवित्व के तत्व रहते हैं, न वक्तृता की चीख-पुकार! उनमें कोई विशेष साहित्यिकता भी नहीं होती।'[1] समस्या-नाटकों के आधान

१. नाटक की परख—डॉ० एस० पी० खत्री—पृ० ६४

के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'इब्सन' ने जिस साहित्यिकता का बहिष्कार किया था, वह गीत और गीत के परिसर दोनों से सम्बन्धित थी।

समस्या नाटकों की इस विशेषता को स्पष्ट करने के लिए यह उचित दीखता है कि 'प्रसाद' के नाटकों पर एक नज़र डाल ली जाय। प्रसाद के सभी नाटकों में गीत और नृत्य का आयोजन किया गया है। 'प्रसाद' ने अपने आकर्षक नारी-चरित्रों को अपेक्षित कोमलता और भावुकता प्रदान करते हुए उन्हें गीत, संगीत और नृत्य से सँवारा है। देवसेना, सुरमा, सुवासिनी, कोमा, मालविका, वाजिरा न केवल नृत्य, संगीत से अनुराग रखती हैं बल्कि उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार की गीतात्मक तरलता है। समस्या-नाटककारों ने गीत-नृत्य का बहिष्कार करने के क्रम में ऊपर-ऊपर से भरे हुए गीत-नृत्य के बहिष्कार के साथ ही पात्रों ने व्यक्तित्व के अन्तर में निहित लयात्मकता का भी निराश किया। इसी से समस्या-नाटकों के नारी-पात्र बहुधा तार्किक रूखे चिन्तन में डूबे हुए दिखाया पड़ते हैं। प्रमाणित है कि गीत-नृत्य के बहिष्कारों का नाटकों के बाह्य ग्रथन पर ही प्रभाव नहीं पड़ा है, अपितु सम्पूर्ण नाटकीय आयोजन के आभ्यन्तर को भी इस प्रवृत्ति ने मथा, माँजा और संवारा है। समस्या-नाटककारों ने जिन दिनों ये प्रयत्न प्रारम्भ किये, उन दिनों के लिए ये अवश्य ही साहसी प्रयास थे।

सेठ गोविन्द दास ने 'इब्सन' की प्रशंसा करते हुए यह जो लिखा है कि—'नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए जो दूसरी बात 'इब्सन' ने की है, वह है नाटकों से पद्य, कविता और नृत्य का बहिष्कार'[1]—वह निश्चय ही एतद्विषयक उनके अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा भी है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी 'मुक्ति का रहस्य' को भूमिका में यही आदर्श अपने लिए भी स्वीकार किया है। वे लिखते है—इस नाटक में एक भी गीत नहीं है। सम्भवतः कुछ लोग सोचेंगे, नाटक बिना गीत के कैसे होगा। मेरी राय में गीत रखना कोई बहुत ज़रूरी नहीं है।'[2] लेकिन स्वयं मिश्र जी ने इसी भूमिका में आगे चल यह कहा कि—'नाटक में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ, जहाँ तक उसे जीवन में देख पाता हूँ। जिस किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव में संगीत की ओर देखूंगा, उसके द्वारा दो-चार गीत गवा देना मैं ठोक समझूँगा।'[3]

स्पष्ट है कि मिश्र जी का गीतों के बहिष्कार का पूर्व निश्चय कायम नहीं रहता। मिश्र जी के नाटकों में जो कलात्मक आयोजन है, उसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके 'मुक्ति का रहस्य' में गीतो का बहिष्कार संयोगवश ही होता है, सप्रयत्न नहीं। आशा देवी के चरित्र में जो भावुकता है, वह गीत की तरलता से किसी मानी में तरल नहीं है। 'सिन्दूर की होली' में मनोजशंकर बाँसुरी लिए हुए बार-बार

१. तीन नाटक—प्राक्कथन—सेठ गोविन्द दास—पृ० २२
२. ३. मुक्ति का रहस्य—लक्ष्मी नारायण मिश्र—पृ० २२, २३

जो खून उगल देता है, उसे निरी बौद्धिकता नहीं कहना चाहिए। मनोरमा के हाथ में कला की जो कूँची है, वह केवल रंगों और चित्रपटों को ही नहीं सँवारती बल्कि स्वयं उसके अपने चरित्र को भी उतना ही रँगती, रचती है, जितना उसको गीत, संगीत अथवा नृत्य से रचा जा सकता है। चन्द्रकला अपनी भावुकता से अपने पिता मुरारीलाल को जो अपने ही घर में निर्वासित कर देती है, उसे किसी गीत अथवा कविता से किस अर्थ में कम कहा जा सकता है? मिश्र जी सब कुछ कहने के बाद भी अन्ततः एक छायावादी कवि ही रहते हैं। उनके नाटकों में भले ही कविता अथवा गीत न आयें, उनके कई चरित्र छायावादी गीत तथा लय के रंग में आपादमस्तक डूबे हुए हैं।

सेठ गोविन्द दास के चरित्रों में गीतात्मक लय का अनुपात स्वल्प है। लेकिन फिर भी यह नहीं कह सकते कि उन्होंने गीतों का बहिष्कार किया है। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि उन्होंने गीतों का प्रचुर प्रयोग किया है। प्रसाद जी की देवसेना और सेठ जी की अचला में बहुत अन्तर कहाँ है। राग-रागिनियों से भरे-पूरे गीत उनके नाटकों में इतने आये हैं कि गीत-कवित्व के बहिष्कार का उनका दावा कागज़ी रह जाता है।

अश्क के नाटकों से भी गीतों का निष्कासन एक निश्चित सीमा तक ही हो पाया है। उनके चरित्र और नाटकों का वातावरण खूब कलात्मक होता है। हाँ, यह है कि उन्होंने गीत और नृत्य की सारी भंगिमाओं को नाटक के शिल्प-तंत्र पर एक फ़ालतू चीज़ के रूप में बैठाये रखने के बदले सम्पूर्ण तन्तु को झीने पर्दे की तरह फैला रखने में विश्वास किया है। श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है—'वस्तुतः अश्क के नाटकों पर कवि-सुलभ सांकेतिकता, एक झीने बादल की तरह आवृत्त रहती है। उसी तह में उनकी नियंत्रित भावुकता है और है अनुपम सौन्दर्य-सृष्टि।'

इस प्रकार सिद्ध यह है कि समस्या-नाटकों के शिल्प की घोषित योजना की दृष्टि से गीत का बहिष्कार एक अनिवार्य शिल्प-तान्त्रिक एषणा है। लेकिन भारतीय नाटकों के संस्कार तथा प्रायः सभी नाटककारों के कवि होने के कारण इस आधान का आंशिक निर्वाह ही सम्भव हो सका है।

हाँ, समस्या-नाटककारों में एक भुवनेश्वर हैं, जिन्होंने स्थूल गीतों की वर्जना का निर्वाह तो अपने नाटकों में किया ही है, साथ ही अपने चरित्रों को भी लयात्मकता और भावुकता से मुक्त करके रखा है।

देश-काल : हिन्दी के समस्या-नाटकों के साथ देश-काल की बात समसामयिकता की शर्त के साथ जुड़ी रहती है। यह भी इसलिए कि वे ऐतिहासिक कथानकों के छूँछेपन के प्रतिकूल अद्यतनता के उद्देश्य के साथ निर्मित होते हैं। समस्याओं के लिए समकालीनता का बोध नितान्त आवश्यक है; क्योंकि कोई भी समस्या किसी विशेष समय और स्थान की होती है। अतीत होने पर इन समस्याओं का प्रभाव अत्यन्त क्षीण हो जाता है। समस्या-नाटकों के आलोचकों का यह आक्षेप है

कि चूँकि समस्या-नाटक में तात्कालिकता की प्रमुखता रहती है इससे उसका अस्थायी होना लाज़िमी है और फिर उसी से महत्वहीन भी। इस आक्षेप का उत्तर दिया है एरिक बेन्टले ने, जिसने कहा कि 'महान कला सार्वभौम होती है किन्तु सर्वभौम होने के पूर्व वह पूरी तरह स्थानीय रहती है। उस पर कुछ विशेष लोगों तथा उनकी जीवन-प्रणाली के हस्ताक्षर होने चाहिएं।'[१] हम यह कह सकते हैं कि देश और काल का बोध केवल तात्कालिक सचाई नहीं है, प्रत्युत् वह सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक सचाई का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ भी है। अतीत होने के पूर्व हर सचाई तात्कालिक होती है। हिन्दी के समस्या- नाटककारों ने इसीलिए 'तत्काल' में रह कर युग-बोध को भी आत्मसात् किया और अपने युग से नाटकीय पृष्ठों को पूरा माँज कर कालातीत बनाने का भी उद्योग किया।

हिन्दी के समस्या-नाटकों में समय और स्थान दोनों की इकाइयों का कुशलता-पूर्वक प्रयोग किया गया है। सेठ गोविन्द दास के नाटकों में तो स्थान का विवरण पूरे भौगोलिक तथ्यों के साथ प्राप्त होता है। उनके नाटक 'ग़रीबी या अमीरी' में स्थान-पृष्ठ अफ्रिका महादेश के नेटाल प्रान्त के एक फ़ार्म से आरम्भ हो कर डरबन में लक्ष्मीदास के एक कक्ष से होता हुआ जहाज़ के एक कैबिन तक पहुँचता है। फिर वहाँ उस केबिन तक आता-जाता है। कथा के विकास के साथ वह बम्बई के एक फ़्लैट में पहुँचता है। उससे आगे बढ़ कर वह महाबलेश्वर तक जाता है, फिर डरबन लौट आता है। उसके बाद बम्बई के एक गदे होटल की एक छोटी-सी कोठरी से ले कर मध्य प्रदेश के एक गाँव तक फैल जाता है। इसी प्रकार उस नाटक में समय भी सन्ध्या, दोपहर, रात—कई इकाइयों में विभक्त दिखायी पड़ता है। लेकिन यह सारा देश-काल एक ऐसे युग-सूत्र में बँटा हुआ है कि ऐसा नहीं लगता कि स्थान का विस्तृत परिसर देश-काल की इकाइयों को खंडित कर देता है। जो असुविधाएँ हैं वे रंगमंच की हैं।

लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों में स्थान की इकाई अपेक्षाकृत अधिक संगठित है। 'सिन्दूर की होली' में मुरारी लाल का बँगला अपने अंग-प्रत्यंग के साथ स्थान-बोध की एक तानता को संगठित किये हुए है। मिश्र जी के कई नाटकों में स्थान-गत इकाई एक ही भौगोलिक केन्द्र में गठित है। समय के सूत्र उनमें इस तरह से गूँथ दिये गये हैं कि एक युग को अधिकांश सम्वेदनाएं, तर्क और समस्याएं प्रस्तुत हो कर क्षण, घड़ी, घंटा, पहर के बिखराव को झुठला देती है।

अश्क के नाटकों में देश-काल की तात्कालिता और स्थानीयता तो है ही, नाटकीय शिल्प में उनको इतने कौशल से गूँथा गया है कि कई वर्ष केवल कुछ घंटों की क्रियाओं में विविक्त हो जाते हैं। स्थान के परिवर्तन भी बड़े ही न्यून तथा परस्पर अनुबद्ध भूमियों के हैं। डॉ० धर्मवीर भारती ने अश्क के देश-काल-संगठन की प्रशंसा करते हुए कहा है—'अश्क समय, स्थान, अभिनय की एकता का तो इतनी

१. ह्वाट इज थियेटर—एरिक बेन्टले—पृ० १८

कुशलता से निर्वाह इन नाटकों में कर ले गये हैं कि उनकी टेकनीक पर आश्चर्य होता है।'[1] अश्क की यह कला उनके ऐसे नाटकों में दिखायी पड़ती है, जहाँ देश-काल की बाध्यता नहीं है। 'उड़ान' में देश-काल का संगठन इतनी समर्थता के साथ हुआ है कि आलोचक को उसे 'मायावी शैली' की संज्ञा से विभूषित करना पड़ा है।[2] अंजो दीदी में बीस वर्षों के समय को एक ही स्थान पर संगठित कर दिया गया है। देश-काल को नाटकीय-शिल्प में उतार लेने में अश्क को कमाल की सफलता मिली है। अश्क न केवल अपने युग और अपने स्थान अर्थात् अपने अनुभवों को नाटकीय आकार देते हैं—प्रत्युत रंगमंच की सुविधाओं का ध्यान रखते हुए समय और स्थान को समस्या में बाँध कर अभिनय-मंच पर भी बाँध डालते हैं। वस्तुतः अश्क देश-काल को तृतीय आयाम में ले जा कर बैठा देते हैं।

इस प्रकार हिन्दी के समस्या-नाटकों में देश-काल की तात्कालिकता कहीं असंगठित दृश्य-परिवर्तनों में बिखरी हुई दिखलायी पड़ती है, कहीं विभिन्न दृश्य-परिवर्तनों के बावजूद एक ही स्थान में केन्द्रित रूप में प्रस्तुत होती है और कहीं देश-काल के बिखराव को दृश्य-विधान की कला के द्वारा प्रदर्शन-काल की केन्द्रीयता में ही बाँध दिया गया है। देश-काल के समसामायिक, नाटकीय और रंगमंचीय तीनों ही अर्थ क्रमशः विकसित होती हुई कला के रूप में निर्मित हुए हैं। इसी विशेषता के कारण युग की अनेक समस्याएँ, अनेक आमंत्रण और अनेक प्रश्न-चिह्न अत्यन्त मुखर हो कर समस्या-नाटकों में कलात्मक आकार पा गये हैं।

रंग संकेत

कविता मे प्रेरणा और विधा के मध्य जिस अन्तराल की कल्पना की जाती है, वही अन्तराल नाटक में रंग-संकेत होता है। रंग-संकेत में नाटककार के मानस-बिम्ब, उद्देश्य चरित्र, स्वप्न और घटना-विन्यास के सारे सूत्र क्रम से व्यवस्थित होते हैं। रंग-संकेत नाटककार के मन में अनवरत रूप से बनते हुए नट-प्रकरण की सूचना देते हैं तथा निर्मित हो जाने वाले प्रारूप को भी परस्पर अनुबद्ध और गुम्फित करते हैं। इस प्रकार नाटक को रचना-प्रक्रिया और शिल्प दोनों से रंग-संकेत का अनिवार्य सम्बन्ध हुआ करता है।

रंग-संकेत का प्रयोग यों तो पुराने ढेवे के नाटकों में भी होता रहा है, तथापि समस्या-नाटकों में ही उसे वास्तविक महत्व प्राप्त हुआ। पुराने नाटकों में रंग-संकेत नेपथ्य-योग के लिए आया करता था। उसमें न साहित्यिकता होती थी और न नाटकीयता। उसका सर्जनात्मक क्षण से भी कोई विशेष सम्बन्ध नहीं हुआ करता था। कहना चाहिए, सर्जनात्मक क्षण के व्यतीत हो जाने पर ही रंग-संकेत दिये जाते थे।

---

१. २. कैद और उड़ान—(व्याख्या—डॉ० धर्मवीर भारती) उ० ना० अश्क —पृ० २७, ३२

पुराने नाटकों में रंग-संकेत किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा भी प्रस्तुत कराये जाते थे, जिसमें सर्जन-क्षमता या नाटकीय बिम्ब-सर्जन की शक्ति हो ही नहीं; अधिक-से-अधिक थोड़ी-सी नट-धर्मिता या सूत्र-संचालन की समझदारी हो।

के० मैकगोवाँ ने अपनी पुस्तक 'ए प्राइमर ऑफ़ प्ले राइटिंग' में रंग-संकेतों की साहित्यिकता और विशिष्टता को नवीन उपलब्धि बताते हुए कहा है कि 'बीसवीं शताब्दी के परिवर्तन-कोण पर शॉ उन नाटककारों में एक हैं, जिन्होंने 'सेट' पात्र तथा रंग-निर्देशों से सम्बद्ध वर्णनों को प्रकृत तथा साहित्यिक सुगन्धि भी दी है। यह शायद इसलिए कि उन्होंने अनुभव किया कि उनके नाटक रंगमंचीय होने की अपेक्षा पठनीय अधिक हैं।'[1] इस अभिमत से सूचित है कि नाटकीय-शिल्प में रंग-संकेतों का अनिवार्य साहित्यिक महत्व हुआ करता है। इसीलिए यह भी कहा जाता रहा है कि रंग-संकेत उपन्यास, कविता और कहानी से अनुराग रखने वाले लोगों के मनोरंजन के उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। किन्तु, इससे बड़ी सचाई तो यह है कि रंग-निर्देश का बाह्य कलेवर दिग्दर्शकों के मन में नाटकीय बिम्ब की रचना के लिए अधिक प्रयत्नवान रहता है। उसकी रोचकता और रंजकता का सम्बन्ध नाटक के अप्रस्तुत विधान से है, जिसके अन्तर्गत रंगस्थल की व्यवस्था, चरित्रों की बाह्य-भूषा, आन्तरिक प्रतिक्रिया, भाव-मुद्रा, कथा- नियोजन और संकलन-त्रय आदि के विधान आते हैं। सम्वाद की क्षमता के चुक जाने पर अभिव्यक्ति के लिए जो अंश बच जाता है, उसे भी रंगनिर्देश के माध्यम से ही आकार दिया जाता है।

हिन्दी के समस्या-नाटकों मे रंग-निर्देश के विषय में किन्हीं स्थायी नियमों का निर्धारण नहीं हुआ है। उनमें समय और स्थान-[illegible] संकेत साधारणतः सर्वत्र मिल जाते हैं। उसके बाद कोष्ठकों में ग्रथित लम्बे संकेत, ऋतु-वर्णन, वातावरण निर्माण, कर्मशीलता, किसी पात्र या नाटकीय प्रक्रिया का विस्तृत विवरण और स्वयं नाटककार के साहित्यिक सपनों से सम्बद्ध उसकी टिप्पणियाँ आदि भी मिलते हैं। कभी-कभी ऐसे भी दूर व्यापी वर्णन प्राप्त होते हैं, जिनको, न तो रंगमंच पर उतारा जा सकता है और न नेपथ्य से ही उनकी सूचना दी जा सकती है। इस विषय में प्रमाण के लिए सेठ गोविन्द दास के नाटक 'ग़रीबी या अमीरी' से एक उदाहरण लिया जा सकता है। उक्त नाटक का एक रंग-संकेत इस प्रकार है : 'ज़मीन पर काम करने वाले मज़दूर भारतीय होने पर भी भिन्न-भिन्न वर्ण के हैं, कुछ श्याम, कुछ गेंहुए और कुछ गोरे। इनके रंग और रूपों से इनमें अधिकांश मद्रास और गुजरात प्रान्त के अधिक पड़ते हैं। कुछ हिन्दी भाषा-भाषी भी।'[2]

स्पष्ट है कि इस रंग-संकेत में दिखायी पड़ने वाली बातें कहीं स्थान में देखी गयी हैं और कहीं भाषा में। यदि गुजराती की आकृति एक विशेष भौगोलिकता से

---

१. ए प्राइमर आफ प्ले राइटिंग—के० मैकगोवा—पृ० १४४

२. गरीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृ० १५

सीमाबद्ध हो तो फिर दिल्ली से ले कर बिहार तक फैली हुई हिन्दी भाषा-भाषी जनता की आकृति भी इसी तरह भिन्न भौगोलिक विशेषताओं के संग ही आँकी जानी चाहिए थी। कम-से-कम इतना तो स्पष्ट ही है कि इस रंग-निर्देश से हिन्दी भाषा-भाषी के आकार का कोई स्वरूप खड़ा नहीं होता। यदि शुद्ध रंग-संकेत के रूप में इसकी प्रस्तुति हुई है तो सिद्ध है इसका कोई साहित्यिक उपयोग नहीं हो सकता। अधिक-से-अधिक पुराने नाटकों की तरह इससे नेपथ्य-योग की उपयोगिता सिद्ध हो सकती है। वर्णन-प्रधान होने के कारण सेठ जी के रंग-संकेत कथानयन तथा घटना-संयोजन की क्षमता अवश्य रखते हैं। किन्तु, उनके रंग-संकेत सांकेतिकता की उस शर्त को निभा नहीं पाते, जिनके कारण समस्या-नाटकों के रंग-संकेतों को बहुमान मिला है अथवा नाटकीय शिल्प की समग्रता में उनको एक सुनिश्चित स्थान प्राप्त हुआ है। सेठ जी के अधिकांश रंग-संकेतों में रंगमंच की कल्पना ही अधिक मुखर हो पायी है। यह इससे प्रभावित है कि वे विस्तापूर्वक मंच-सज्जा की एक-एक छोटी बड़ी इकाई का विवरण प्रस्तुत करते हैं। सेठ जी के वक्तव्य का एक अंश है—'मैंने अपने आधुनिक नाटकों के खेलने के लिए एक विशाल रंगमंच को अपनी कल्पना में रख इन नाटकों की रचना की है। रंगमंच में वर्तमान आविष्कारों का उपयोग प्रधान स्थान रखता है। और यदि न हो तो नाटक सिनेमा से 'कम्पीट' कर ही नहीं सकता।'[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेठ जी के मन में नाटक के कथ्य से कहीं अधिक स्पष्ट है रंगमंच की रूपरेखा। अपने 'तीन-नाटक' की नाट्य मीमांसा में उन्होंने सविस्तार रंगमंच के महत्व पर प्रकाश डाला है, और रंगमंच की सुविधा के अनुरूप नाटक लिखने पर जोर दिया है। रंगमंच की सुविधा को ही ध्यान में रख कर उन्होंने नाटक और सिनेमा की कला के योग का प्रस्ताव भी किया है। अस्तु, यह स्वाभाविक ही है कि उनके रंग-संकेत में रंगमंच के स्वरूप को विकृत करने वाले तथ्यों का अधिक उपयोग हो। डॉ० रामकुमार वर्मा ने रंग-संकेतों के विषय में लिखा है कि वास्तव में उनके समावेश से दिग्दर्शकों का काम प्रायः समाप्त-सा हो गया है और पात्रों का कार्य प्रायः आधा-सा रह गया है।[2] वर्मा जी का यह अधिमत सेठ जी के रंग-संकेतों के विषय में अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है।

पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के रंग-संकेत, सेठ जी की ही भाँति रंगमंच के रूपाकार, सामग्री-सज्जा और पात्रों की भंगिमाओं की तालिका प्रस्तुत करते हैं। उनके रंग-संकेतों में बहुधा ऐसी परिस्थितियाँ भी अंकित की जाती है, जो क्रिया-व्यापार कही जायेंगी। उन्हें मूक अभिनय का अंश भी कहा जा सकता है और मिश्र जी का पूरा आग्रह मूक अभिनय-दशाओं की अभिव्यक्ति के लिए भी है। पात्रों की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने के क्रम में वे ऐसी क्रियाओं की तालिका प्रस्तुत करते हैं, जो पात्रों के मनोविज्ञान की व्यंजना करती है। इस बात के प्रमाण के लिए

१. गरीबी या अमीरी—सेठ गोविन्द दास—पृ० ८
२. एकांकी कला—डा० रामकुमार वर्मा—पृ० २६-२७

उनके 'सिन्दूर की होली' नाटक के इस रंग-संकेत को उपस्थित किया जा सकता है—'एकाएक कुर्सी पर बैठ कर चित्र से अपना मुँह ढँक लेती है। मनोरमा उसके पास आ कर उसके सिर पर हाथ रखती है। धीरे-धीरे उसके बालों पर हाथ फेरने लगती है। मुरारी लाल का प्रवेश। चन्द्रकला जल्दी से उठती है। चित्र को मेज़ पर रख कर शीघ्रता से उनकी ओर देख कर भीतर निकल जाती है।' स्पष्ट है कि इस रंग-संकेत में मूक अभिनय-दशाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

मिश्र जी के नाटकों में चरम संघर्ष या अपराध-चेतना जैसी अति-मानसिक स्थितियों निरूपण करते समय जिन रंग-संकेतों का उपयोग हुआ है, वे भी शारीरिक भंगिमाओं का ही अधिक निरूपण करते हैं। लगता है कि मिश्र जी को इस बात की पूर्ण प्रतीति है कि रंग-संकेतों के उपयोग का उद्देश्य रंगमंच-व्यवस्था के ही निमित्त है। रंग-संकेतों को चंचल साहित्यिकता से अनुबद्ध कर, नाटक के शब्द-शब्द में जो एकतन्तुता प्रदान की जाती है, उसकी ओर मिश्र जी का ध्यान नहीं गया है।

मिश्र जी के रंग-संकेत कई प्रकार के हैं। लम्बे-लम्बे रंग-निर्देश, जो प्रायः दृश्यारम्भ में आते हैं, रंगमंच की वस्तु-इकाइयों तथा पात्रों की मुद्राओं का वर्णन करते हैं। दूसरे प्रकार के रंग-संकेत वे हैं, जो प्रवेश और प्रस्थान से सम्बद्ध होते हैं। उनके नाटकों में ऐसे ही रंग-संकेत बहुत अधिक व्यवहृत हुए हैं, जो सम्बादों के बीच में मुद्रा-अंकन, अंग-संचालन, दृष्टि-निक्षेप अथवा भावयोग से सम्बद्ध हैं। ऐसे रंग-संकेत, जो पात्र के द्वन्द्व का उद्घाटन कर सकें मिश्र जी के नाटकों में बिरले ही मिलते हैं। 'सिन्दूर की होली' में मुरारी लाल के भय और आवेश को व्यक्त करने लिए केवल एक रंग-संकेत आया है, जहाँ क्रिया निरूपण के साथ ही आकृति का रंग बदलने वाली दशाओं का भी अंकन किया गया है।[1]

इस प्रकार मिश्र जो के रंग-संकेत अति साधारण कोटि के ठहरते हैं। उनमें न तो साहित्यिकता के गुण मिलते हैं और न वे वैशिष्ट्य, जिनके कारण समस्या-नाटकों में रंग-संकेत को इतना महत्व प्राप्त हुआ है। रंगमंचीय अनुभव के अभाव के कारण मिश्र जी के बहुत सारे रंग-संकेत ऐसे विवरण मात्र बन कर रह गये हैं, जो सम्वादों के द्वारा न कहे जाने योग्य कथनों का हिसाब बैठा लेते हैं। उनके रंग-संकेतों में उस कला का निखार नहीं पाया जाता, जिसकी बदौलत भौगोलिकता सिमट कर मंच में केन्द्रित हो जाय अथवा काल के अनेक वर्ष कुछेक घंटों में गुँथ जायँ। और फिर वे पात्रों को वैसी सहायता भी नहीं दे पाते, जिससे समस्याओं की आपा-धापी में लगे हुए होने पर भी वे अपने चरित्र का विन्यास कर पायें।

अश्क के रंग-संकेत बहुत दूर तक साहित्यिकता और संकलन-त्रय के संयोजन में सफल हुए हैं। उनकी विशेषता यह भी है कि वे न केवल दिग्दर्शक के लिए दृश्य-संकेत प्रस्तुत करते हैं बल्कि पाठक के मानस-पट पर भी नाटकीय वातावरण को खचित

१. द्रष्टव्य—सिन्दूर की होली—ल० ना० मिश्र—पृष्ठ ५६

कर देते हैं और फिर उनसे औपन्यासिक वर्णन का रस भी प्राप्त होता है। अपने रंग संकेतों में जान डालने के लिए अश्क ने प्रतीकों का सशक्त प्रयोग किया है। इससे उनके रंग-संकेतों की अर्थद्योतन-शक्ति बढ़ जाती है।

'उड़ान' के चौथे दृश्य में अश्क ने एक रंग-संकेत प्रस्तुत करते हुए लिखा है—'प्रात: की बेला है। सूर्य निकलने में अभी बहुत देर है और वातावरण पर एक हल्का-सा धुँधलका छाया हुआ है। हवा बन्द है, और एक विचित्र प्रकार की घुटन, एक विलक्षण उत्सुकता वातावरण पर छायी हुई है।'[1]

इस रंग-संकेत में ऐसे अर्थपूर्ण प्रसंगों का उद्घाटन किया गया है, जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रूप से न तो रंगमंच-विधान से हो सकता है, न चरित्र-चित्रण से, न कथानक से। प्रत्युत सम्पूर्ण नाट्य-विधान में नट और सामाजिक के द्वारा जो बोध-प्रक्रिया यहाँ-से-वहाँ तक सबको व्याप्त करती है, उसी से उसका सम्बन्ध होता है। ज़ाहिर है कि यह रंग-संकेत नाटकीय रस की स्थापना करता है। यह रस भी ऐसा है, जिसके विषय में प्रश्न उठे कि उसके साथ साधारणीकरण किसका होता है? इस प्रकार अश्क अपने कई नाटकों में रंग-संकेत को ऐसा प्रकर्ष प्रदान करते हैं कि वह साधारण निर्देश न हो कर नाट्य-शिल्प का एक अनिवार्य अंग हो जाता है और वस्तु, नेता और रस तीनों को समान रूप से आलोकित करता है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी वैसे ही रंग-संकेतों का विधान किया है। 'चारुमित्रा' में एक जगह उन्होंने कहा है—'समस्त वातावरण में शान्ति और सौन्दर्य है, जो कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग होता है। लेकिन फिर शान्त हो जाता है। जैसे एकांकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख उठे, लेकिन फिर उसी मार्ग पर चलने लगे।'[2] इस रंग-संकेत में कथ्य को मूर्त्त करने की इतनी क्षमता है कि यह कह देने की प्रेरणा होती है कि हमारे नये नाटककारों ने रंग-संकेतों पर भी लगभग उतना ही बल दिया है, जितना सम्वाद और अभिनय-मुद्राओं पर।

भुवनेश्वर ने तो अपने सांकेतिक सम्वादों की जटिलता तथा नाटक के खुरदरेपन को चिकना बनाने के लिए भी रंग-संकेतों का प्रयोग किया है। उनके रंग-संकेत सम्वाद के सारे अभावों को पूरा करते हैं, सारी क्रिया-स्थितियों को आयोजित करते हैं और उनसे आगे बढ़ कर नाटक के सारे अभिप्राय को ही मुखर करते हैं। उनके 'ऊसर' नाटक का अन्तिम सम्वाद बीच से टूट कर रंग-संकेत के आधार में ही चुक जाता है। अकेलेपन, उदासी या 'ऊसर' का ऊसर अभिप्राय—सबके सब अन्तिम रंग-संकेत में, जिसमें कहा गया है—'युवक कुछ देर तक टहलता है, फिर भीतर चला जाता है। स्टेज पर सिर्फ ट्यूटर रह जाता है और वह एक कुर्सी पर अधजली सिगरेट निकाल

---

१. उड़ान—उपेन्द्र नाथ अश्क—पृष्ठ १४६

२. चारुमित्रा—डॉ० रामकुमार वर्मा—पृष्ठ २१

कर जलाता है।'[1] अभिव्यक्त हो जाते हैं। अधजली सिगरेट, ट्यूटर का अकेलापन— ये ही ऐसे दो आयोजन हैं, जिनमें नाटक की समस्या, समस्या की अन्विति तथा प्रभाव —तीनों ही एकत्र हो जाते हैं।

इस प्रकार हिन्दी के समस्या-नाटकों में रंग-निर्देश शिल्पगत अनिवार्यता के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। हाँ, यह अवश्य है कि उसकी साहित्यिकता और उनके प्रयोग की सफलता नाटककारों की निजी शक्तिसम्पन्नता पर स्थिर रही है।

कोष्ठकों में बंधे रहने के कारण रंग-संकेतों के विषय में यह भ्रम रहा है कि वे अंश पठनीय नहीं हैं, वक्तव्य की दृष्टि से वे उतने आवश्यक नहीं हैं, जितना आवश्यक सम्वाद होता है। लेकिन समस्या-नाटकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि कोई पात्र सम्वाद बोल कर समस्या की प्रस्तुति अथच अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने में तभी कृतकार्य होता है, जब सम्वाद की तरह ही रंग-संकेतों के सूत्रों को उसने आयत्त कर लिया हो। इस प्रकार नाटक अपनी अभिव्यक्ति के लिए सम्वाद और रंग-संकेत दोनों का सहारा लेने लगता है। रंग-संकेतों ने अवनिका-विधान की अस्वाभाविकता को भी बहुत दूर तक हटा दिया है। पुराने नाटकों में सूच्य-कथांशों की सहायता से घटनाओं के अर्थ को जोड़ लेने की जो चेष्टा की जाती थी, उसे नये नाटकों के रंग-संकेत काफ़ी आसानी से देते हैं। अब 'सेट' को ही इस तरह व्यवस्थित कर लिया जाता है कि नाटक, रचयिता के वांछित अभिप्राय के अनुसार प्रस्तुत हो जाता है। अब रंग-संकेतों को कस कर प्रस्थान और प्रवेश को मानसिक और शारीरिक कारणों से संयुक्त कर दिया जात है। इस प्रकार रंग-संकेतों की सफल योजना के कारण नाटक सचाई के इतने निक आ गये हैं कि वे आज केवल सत्य का भ्रम ही उत्पन्न नहीं करते अपितु सत्य क उद्घाटन भी करने लगे हैं।

ग्रन्थन

नाट्य-प्रणाली के नियमबद्ध होने के कारण पुराने नाटकों का ग्रंथन इतन सुनिश्चित हुआ करता था कि नाटककार शिल्प की चिन्ता करते समय ग्रंथन को ध्या में लेता ही नहीं था। वस्तु परिवर्तन और नाटकों की स्वाभाविकता के जिन आधान को स्वीकार करके समस्या-नाटकों की रचना हुई, उनका प्रभाव ग्रंथन पर भी पड़ा। जीवन की अतिव्यस्तता तथा समय की बढ़ती हुई कमी के कारण नाटकों के स्थूल आकार को संक्षिप्त होना ही था। 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'स्कन्दगुप्त' की तुलना में उनके 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का आकार अकारण ही संक्षिप्त नहीं हुआ। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के नाटकों की आकारगत संक्षिप्तता का कारण युग की एतद्विषयक माँग तो है ही, साथ ही समस्या-नाटक का वह शिल्प भी है, जिसका ध्यान इन नाटककारों ने रखा है। बड़े नाटकों के

१. यवनिका—एकांकी संग्रह—डॉ० कामेश्वर शर्मा—पृष्ठ ८५

मुकाबले एकांकी नाटकों की लोकप्रियता इसी बात का स्पष्ट प्रमाण है। बात यह है कि समस्या-नाटक वास्तविकता को ले कर चलते हैं और वास्तविकता इतनी रूखी होती है कि उसे देर तक झेला नहीं जा सकता।

अश्क ने 'आधुनिक नाटक की रुझान' शीर्षक अपने निबन्ध में लम्बे नाटकों की असुविधाओं का उल्लेख कर, प्रकारान्तर से यही स्थापित किया है कि ग्रन्थन-शिल्प की संक्षिप्तता समस्या-नाटकों की व्यावहारिक और ठोस सचाई है।

हिन्दी समस्या-नाटकों में ग्रन्थन की संक्षिप्तता तो रखी ही गयी है, पुराने नाटकों के नान्दी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य, काव्यात्मक अंश आदि का भी पर्याप्त बहिष्कार किया गया है। अब आरम्भ में पात्र-परिचय प्रस्तुत कर स्थान, समय के अति संक्षिप्त संकेत के साथ नाटक के अंक और दृश्य का प्रारम्भ किया जाता है। रंग-संकेतों के द्वारा पात्रों की मुद्राएँ तथा वातावरण की रचना की जाती है और अचानक ऐसे सम्वाद प्रारम्भ किये जाते हैं, जिनसे नाटकीय स्थिति को रचना हो जाय। 'सेट' का पूरा उपयोग कर लेने के बाद यवनिका पतन होता है तथा नये दृश्य की योजना की जाती है। फिर दूसरे और तीसरे अंकों में कथा को गति देने वाले अति आवश्यक और सांकेतिक दृश्यों की अवतारणा होती है और नाटक को अपेक्षित सीमा तक फैला कर उसकी परिसमाप्ति की जाती है।

सामान्यत: समस्या-नाटकों में तीन से अधिक अंक नहीं पाये जाते। दृश्य भी एक अंक में एक या दो से अधिक नहीं रखे जाते। इस प्रकार अब पुराने नाटकों का पंच-अंकीय विधान लगभग आधे पर आ कर टिक गया है। स्थान, समय और क्रिया की संगठित अन्विति को जो महत्व मिला है, उसके कारण सूच्य-कथांश या तो लुप्त हो गये हैं अथवा नितान्त विरल हो गये हैं।

कुतूहल के साथ अग्रसर होने वाली प्रक्रिया को घोल कर आज के नाटकों के सम्पूर्ण विधान में बिखेर दिया गया है जिसके फलस्वरूप नाटक में कुतूहल को व्यक्त करने वाली नट-ग्रन्थियाँ खुल गयी हैं। नाटकीय कथा की परिसमाप्ति इस रूप में संघटित की जाती है कि वह न तो अस्वाभाविक दीखती है और न अप्रत्याशित ही।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में प्राय: तीन अंकों की योजना होती है और उनके नाटकों का क्रम होता है—पात्र परिचय, अंक-दृश्य में बँधे हुए रंग-निर्देश, सम्वाद और पटाक्षेप। अश्क के नाटकों में दो अंक भी दिखायी पड़ते हैं। उनके नाटकों की विशेषता इस बात में है कि उनकी परिसमाप्ति कुछ मुद्राओं के निर्देश के साथ होती है। सेठ गोविन्ददास ग्रन्थन की दृष्टि से बहुत ही भिन्न पड़ते हैं। उनके नाटकों में गीत, नाच जैसी बहुत सारी चीजें मिलती हैं। अंकों और दृश्यों की संख्या भी काफी बड़ी होती है। एक अंक में सात-सात दृश्यों की योजना भी वे कर गये हैं। अपने 'ग़रीबी या अमीरी' नाटक में उन्होंने पुराने नाटकों के नान्दी, प्रस्तावना आदि की परिवर्तित भंगिमा का उपयोग एक तरह से किया है। उस नाटक को वस्तु की दृष्टि

से समस्या-नाटक मानते हुए भी ग्रन्थन-शिल्प की दृष्टि से पुराने नाटकों की परम्परा में रखना पड़ेगा।

डॉ० राम कुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी एकांकी नाटकों के जनक माने जाते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि उनके नाटकों के आधार पर एकांकी नाटकों के ग्रन्थन-शिल्प की रूपरेखा स्थिर हो। डॉ० वर्मा ने गीतों का प्रयोग किया है और उन्होंने समस्या-नाटकों की इस तरह की एकाधिक वर्जनाओं की अवहेलना भी की है। उनके नाटकों का अन्त प्राय: सम्वाद से होता है। डॉ० वर्मा ने अपने किसी-किसी नाटक का अन्त सम्वाद से न करा कर लम्बे रंगे-निर्देश से भी कराया है।

भुवनेश्वर के एकांकी समस्या-नाटकों के ग्रन्थन शिल्प की दृष्टि से अधिक स्पष्ट हैं। उन्होंने तो इस बात की भी चिन्ता नहीं की है कि पात्रों के नाम और परिचय तक दिये जायें। उनके नाटक का लम्बे रंग-निर्देश के साथ आरम्भ होता है और कभी-कभी तो गृह-स्वामी, लड़का, युवक, ट्यूटर, मोटी रमणी जैसी जातिवाची (व्यक्तिवाची नहीं) इकाइयाँ ही नाटक के सारे सम्वाद बोल जाती हैं। भुवनेश्वर के नाटकों का अन्त सम्वाद से नहीं होता। उनका अन्त होता है रंग-संकेत तथा दूरवेधी प्रतीकों से।

इस प्रकार सूचित यह है कि हिन्दी के समस्या-नाटकों का शिल्प नाट्य-शिल्प के पुराने प्रतिमानों का बहिष्कार एवं उनमें अपेक्षित संशोधन कर कथानक, पात्र, सम्वाद, देश-काल, रंग-संकेत, और ग्रन्थन विषयक नये आदर्श ले कर खड़ा हुआ है। भविष्य में इस नवीन नाट्य-शिल्प के और भी अधिक सँवरने की पर्याप्त सम्भावनाएँ है।

पंचम अध्याय | समापन

समापन

समस्या-नाटक में जीवन की विभिन्न सामाजिक समस्याओं को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया जाता है। समस्या-नाटककार के ध्यान में वह समसामयिक लोक-समाज होता है, जिसकी एक इकाई वह स्वयं हुआ करता है। समस्या के तिक्त पक्ष को नाटककार व्यक्तिगत रूप से भोगता है और अपने आसपास के लोगों को भी भोगते हुए देखता है। इससे समस्या-नाटक में अनुभूत पीड़ा की प्रतिक्रिया और तज्जन्य आक्रोश की अन्विति हो जाया करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि समस्या-नाटककार की कृति में समाज की आनन्दविधायिनी घटनाओं के प्रति एक प्रकार की निरपेक्षता और उदासीनता पायी जाती है। समस्या-नाटककार प्रायः उन्हीं तत्वों को प्रत्यक्ष करता है, जिनके अस्वस्थ प्रभाव के कारण जीवित समाज में घुन लगा रहता है। इस प्रकार मूलतः सामाजिक नाटककार होते हुए भी समस्याग्रही नाटककार सामाजिक नाटक की स्थिर कक्षाओं को तोड़ता है और उन बिन्दुओं को ही सज्यं और भाष्य मानता है, जो संघर्ष को आमंत्रित करते हैं, बाधाएँ और कठिनाइयाँ बन कर प्रबुद्ध मानस को किसी नये आयाम की कल्पना अथवा विद्यमान घिनौनी स्थिति का जम कर विरोध करने के लिए उकसाते हैं। समस्या-नाटककार को एक आयोजित अथवा अनायोजित प्रतिबद्धता ग्रहण करनी पड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप वह विकृतियों पर निर्मम कशाघात करता है और वैसा करते समय वह व्यंग्य और उपहास को अपना अस्त्र बनाता है। व्यंग्य और उपहास की अन्विति के कारण समस्या-नाटकों में एक ग़ज़ब का ज़ोर आ जाता है। चूंकि समस्या-नाटक की सम्वेदना यथार्थ से प्रत्यक्ष होती है, समस्या-नाटककार यथार्थवादी भी होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में यह स्वीकार किया गया है कि हिन्दी के समस्या-नाटकों की रचना इब्सन और शॉ जैसे पश्चिमी नाटककारों के अनुकरण पर छायावाद-युग में प्रारम्भ हुई। इसे छायावाद की काव्यात्मक ऊहा का अप्रत्याशित विरोध भी कहा जा सकता है। इसलिए कि समस्या नाटकों के वस्तु-संकलन, संवाद-आयोजन, परिस्थिति-

निर्देश, चरित्र-प्रस्तावना और भाषा-विन्यास जैसे सभी तत्व छायावाद के काव्य-पक्ष के प्रतिकूल विरस गद्य के रूप में स्थिर हुए। प्राय: व्यंग्य-मूढ़ से छायावाद ने एक ऐसी साहित्यिक ऊब पैदा कर दी थी, जिसे परवर्ती प्रगतिशील सम्वेदना के द्वारा तो तोड़ा ही गया, समकालीन कथा-साहित्य और विशेषत: समस्या-नाटकों के द्वारा भी भंग किया गया।

भारतेन्दु युग के नाटकों में भी तत्कालीन समस्याओं के प्रति एक प्रकार की सजग चेतना पायी जाती है। समसामयिक चिन्तन के प्रति प्रतिबद्धता अकाव्यात्मक रुक्षता के साथ व्यंग्य तथा अन्यापदेश स्वयं भारतेन्दु के नाटकों में भी मिलते हैं। इसीलिए पश्चिमी अनुकृति का पूर्ण अभाव रहने पर भी भारतेन्दु-युग के नाटक समस्या-नाटकों के कथ्य का अभिस्ताव बड़े मजे से कर देते हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक युग की अपनी कुछ समस्याएँ होती हैं, जिनके साथ जागरूक कलाकार को उलझना पड़ता है। ऐसे कलाकार बर्नर्ड शॉ की तरह यह सोचते हैं कि जो कलाकार अपने और अपने युग के विषय में लिखता है, वही सबके लिए और सदा के लिए लिखता है।[1] इसी स्थापना के आग्रह पर इस ग्रन्थ में संस्कृत के भास, शूद्रक, कालिदास प्रभृति कालातीत नाटककारों के कतिपय नाटकों का अध्ययन करते हुए उनमें निहित सामाजिक और वैयक्तिक प्रश्नों के अनुसन्धान का प्रयत्न किया गया है।

कवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुशीलन करने पर यह सहज ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि महाकवि ने अपने युग की एक विकट समस्या की प्रस्तुति एक पुराख्यान के फलक पर की है। लगभग ऐसा ही प्रयत्न जयशंकर प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में भी है, जिसमें एक ऐतिहासिक घटना के परिप्रेक्ष्य में प्रेम और विवाह के उचित दाय का प्रश्न उठाया गया है।

समस्या-नाटकों की परम्परा को भारतीय वाङ्मय के अतीत के पृष्ठों के अनुक्रम से जोड़ लेने पर यह प्रश्न सहज ही खड़ा हो जाता है कि क्या हिन्दी समस्या-नाटक भारतीय वाङ्मय के रिक्थ-क्रम में ही हैं? नहीं, ऐसा नहीं है; क्योंकि हिन्दी समस्या-नाटकों का वस्तु-संकलन-सम्बन्धी जो सादृश्य परम्परा के अभिनिवेश में मिलता है, वह एक सनातन प्रवृत्ति भर है। जहाँ और जितनी दूर तक समस्या नाटक सामयिक सनातन से अनुबद्ध हैं, वहीं और उतनी ही दूर तक संस्कृत नाटकों की प्रश्न-छेदन क्रिया से उनका मेल है। 'मालविकाग्निमित्र' में स्पष्ट संकेत है कि नाटक 'लोकचरितदर्शन' है। लेकिन यह संकेत सामाजिक नाटक की विशेषताओं को जितना भाषित करता है, उतना समस्या-नाटकों की नहीं। एक-पात्री 'भाणों' में व्यंग्य की जो वर्णना उपलब्ध

---

1. The man who writes about himself and his own time is the only man who writes about people and about all time.:

: The Quintessence of G. B. S.—The Wit and Wisdom of Bernard Shaw—S. Winston—page 33.

होती है, उसमें समस्याओं के संकेत तो अवश्य मिलते हैं लेकिन 'भाणों' में समस्या-नाटकों की गंभीरता और लक्ष्यानुरूप सम्प्रेषण नहीं मिलते । विटों के संवाद समस्याओं का निरूपण तो अवश्य करते हैं, किन्तु नाटक में उनकी स्थिति अंगो के रूप में ही होती है । संस्कृत-नाटकों के कथानक की परिणति आदर्श की स्थापना के साथ होती है । चरित-संस्कार अथवा प्रेम के भव्य आदर्श को लक्ष्य मान कर ही भास अथवा कालिदास ने वसन्तसेना अथवा शकुन्तला जैसे पात्रों के उद्धार और मुक्ति का प्रश्न खड़ा किया है । इसलिए प्रभाव के स्तर पर वे नाटक पाठक-प्रेक्षक को मुग्ध तो कर देते हैं लेकिन उनमें वह चुभन और आक्रोश नहीं है, जो परवर्ती हिन्दी समस्या-नाटकों का प्रथम व्यावर्तक उपलक्षण है । संस्कृत के विवेचित नाटकों में जीवन के ज्वलन्त प्रश्नों की प्रस्तुति तो अवश्य हुई है लेकिन ध्यातव्य यह भी है कि उनकी रचना के समय मनुष्य और उसके परिवेश के बीच वैसा संघर्ष और द्वन्द्व नहीं था, जैसा पश्चिमी 'प्रॉब्लेम प्ले' अथवा स्वयं हिन्दी समस्या-नाटकों के रचयिताओं के सामने था । इसलिए संस्कृत नाटककारों की वृत्ति उतनी युयुत्सु नहीं थी, जितनी इब्सन, शॉ, भुवनेश्वर अथवा अश्क की है । फिर संस्कृत-नाटकों में समस्या की प्रस्तुति के साथ-साथ सोत्साह समाधान-विषयक संकेत भी दे दिये गये हैं । यह बात भारतेन्दुकालीन नाटकों के विषय में भी सिद्ध है । लेकिन पश्चिमी समस्या-नाटकों के रचयिता समाधान की चिन्ता अपना कर्त्तव्य-कर्म नहीं समझते । बल्कि कहना तो यह चाहिए कि वे पाठक-प्रेक्षक के समक्ष समस्या को खड़ा कर खिसक जाते हैं और तब फिर रह जाते हैं पाठक-प्रेक्षक और समस्या के आल-जाल और बस ।

समस्या-नाटक शब्द अंग्रेज़ी के 'प्रॉब्लेम प्ले' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है और वह प्रसादोत्तर काल के उन नाटकों के लिये रूढ़ हो गया है, जिनकी रचना इब्सन और बर्नर्ड शॉ जैसे पश्चिमी नाटककारों की प्रेरणा से हुई । इस ग्रन्थ में पहले यह बताया जा चुका है कि यूरोप की किन परिस्थितियों में समस्यामूलक नाटकों का प्रणयन हुआ । उस विवरण से यह प्रकट है कि समस्या-नाटकों में उसी असंतोष और उद्वेग को वाणी प्राप्त हुई, जो वहाँ आर्थिक समुन्नति के फलक पर उदित हुआ था । यह भी कहना नहीं होगा कि पश्चिम के समस्या-नाटकों की सफलता के पीछे नवोदित बुद्धिवाद की प्रेरणा थी । इधर दूसरी ओर भारतवर्ष चिरकाल से निपट निरक्षरता और कठमुल्लेपन की स्थिति में पड़ा हुआ था । भारतेन्दु की प्रबुद्ध मनीषा को इस बात का गहरा परिताप था कि परम उन्नत अंग्रेज़ जाति के सान्निध्य में आ कर भी भारतवर्ष अज्ञानांधकार में पड़ा हुआ है । इसी से उन्होंने शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर इतना बल दिया था । वे सोचते थे कि शिक्षा के प्रसार से हमारे समाज-देश की बहुत सारी विकृतियाँ अपने आप दूर हो जायेंगी । यूरोप से भारतवर्ष की भिन्नता इस बात में थी कि जहाँ यूरोप नवीन ज्ञान-विज्ञान से आलोकित हो गया था, वहाँ भारतवर्ष में तद्विषयक उद्योग अपनी प्रारम्भिक स्थिति में था । कालान्तर में शिक्षा-संस्कार के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में

भी जागरण का महोच्चार हुआ और भारतेन्दु का यह सोचना ठीक सिद्ध हुआ कि शिक्षा के विकास से ही हमारी सारी समस्याओं का समाधान होगा। फिर भी सचाई यह है कि अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी सम्पर्क के बावजूद हमारा समाज न तो यूरोप जैसा जग ही पाया था और न व्यंग्य करने अथवा झेलने की बौद्धिक शक्ति-सम्पन्नता ही तब तक उसे प्राप्त हो सका थी। इसी से यहाँ का प्रबुद्ध मानस बहुत ज़ोर लगाता था तो सामाजिक विकृतियों का पर्दाफ़ाश करता था। ऐसा लगता है कि जीवन की बहुत सारी तीखी सचाइयों का उसे पता भी नहीं था। यही कारण है कि हिन्दी के के समस्या-नाटकों में बौद्धिक तीक्ष्णता और व्यंग्य-संवेदना का बहुलांश में अभाव है। उनमें व्यंग्य की जो थोड़ी रेखायें उभरी हैं, वे भी बहुत दूर तक कुन्द और सपाट हैं। सम्प्रेषण के स्तर पर उनमें तिलमिला देने वाली विवक्षा का अभाव है। बहुत हुआ तो वे फूहड़ मजाक अथवा निन्दा का रूप ले पाती हैं।

पश्चिम में शेक्सपियर के नाटकों की प्रतिक्रिया में समस्या-नाटकों का प्रणयन हुआ था। लक्ष्मी नारायण मिश्र जैसे हिन्दी के समस्या-नाटककारों ने भी द्विजेन्द्र लाल राय तथा जयशंकर प्रसाद के नाटकों के विरोध में नयी कृतियाँ प्रस्तुत कीं। लेकिन मिश्र जी को यह बात याद नहीं रह सकी कि शेक्सपियर के नाटकों की यूरोप में प्रायः चार सौ वर्षों तक धूम मची रही। समय के इस कालव्यापी अन्तराल ने शेक्सपियर के नाटकों के गुण-दोष को सामने आने की उचित अनुकूलता प्रदान की। इसलिए नये नाटककारों का शेक्सपियर विरोध अप्रत्याशित या अस्वाभाविक नहीं दीखा। हिन्दी के समस्या-नाटकों के रचयिताओं को यह अनुकूलता नहीं मिली। जिन प्रसाद जी के नाटकों के विरोध में मिश्र जी के समस्या-नाटक लिखे गये, उनको रंगमंच पर उतरने की सुविधा ही प्रायः नहीं मिली और फिर उन्होंने अपने पाठकों को उतना और वैसा उबाया भी नहीं था कि उनके प्रति होने वाले विरोध को स्वाभाविकता प्राप्त हो जाय। इसलिए जहाँ इब्सन और शॉ के नाटकों में बड़ी स्वाभाविकता और सहजता मिलती है, वहाँ मिश्र जी का कथ्य आरोपित, उधार लिया हुआ-सा दीखता है। शायद इसी से मिश्र जी जैसे समस्या-नाटककारों के विषय में यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि वे अपने समसमायिक जीवन के अतिशय प्रबुद्ध, सजीव और गंभीर सामाजिक हैं अथवा नहीं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है इब्सन तथा शॉ के नाटकों में समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता। लेकिन हिन्दी के कतिपय श्रेष्ठ माने जाने वाले समस्या-नाटककारों ने इस विषय में निम्न मार्ग का अवलंबन किया है। इस प्रकार वे बहुत दूर तक पुराने संस्कृत-नाटकों तथा भारतेन्दु के नाटकों के रिक्थ-क्रम में ही आ जाते हैं। जिन बिन्दुओं पर समस्या-नाटक सामान्य नाटकों से अलग पड़ते हैं, उन्हीं बिन्दुओं पर वे पश्चिमी समस्या-नाटकों के समानान्तर अथवा सदृश दीखते है। पश्चिमी समस्या-नाटकों के प्रभाव की अन्विति हिन्दी समस्या-नाटकों पर स्वरूप गठन

के रूप में ही अधिक विविक्त हुई है।

अनुसंधान के क्रम में यह दिखाया गया है कि नवीन प्रणाली के समस्या-नाटकों की रचना का श्रीगणेश प्रो० कृपानाथ मिश्र के लघु नाटक 'मणि गोस्वामी' से हुआ। दुर्भाग्यवश इस महत्वपूर्ण कृति की ओर न तो विज्ञ समालोचकों का ही ध्यान गया और न नाटककारों का ही। अनुसंधान की निष्ठा की प्रेरणा से ग्रन्थ में इस कृति को उचित मूल्य देने का प्रयत्न किया गया है। छायावाद-रहस्यवाद के पलायन के विरुद्ध जिस प्रकार की घोषणा के साथ पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के समस्या-नाटकों का प्रणयन हुआ, उस प्रकार की कोई घोषणा धूम-धड़ाके के साथ 'मणिगोस्वामी' के रचयिता ने नहीं की। शायद यही कारण है कि हिन्दी के समस्या-नाटकों के प्रवर्तक के रूप में पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र को प्रतिष्ठा मिल गयी है।

एक बात ध्यान देने की यह भी है कि मिश्र जी ने छायावाद-रहस्यवाद के पलायनवाद और निरर्थक काल्पनिकता आदि के विरुद्ध जो जेहाद खड़ा किया, वह अघोषित रूप से तत्कालीन कृतियों की प्रेरणा बन चुका था। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य तथा प्रसाद के नाटकों में जीवन को समझने और उसमें प्रवृत्त होने की महती प्रेरणा विद्यमान है। इसलिए मिश्र जी कला के मूल में जब तक जीवन की व्यापक भावना नहीं रहती वह पूरी भी नहीं हो पाती। कला की सफलता जीवन को पकड़ने में, उसमें मिल जाने में है, उससे विद्रोह करने में नहीं,[1] अथवा कला का अन्तःस्वप्न की फुलवारी में नहीं होता, उसका अन्त तो होता है जीवन-समुद्र के उस किनारे, जहाँ आँधी है, वज्र है, बिजली और उल्कापात है—जहाँ मानव-जीवन की विषमताएँ एक के बाद दूसरी भयंकर लहरों के रूप में उठती हैं[2]—जैसे वक्तव्य बहुत मौलिक और निमंत्रक नहीं ठहरते। प्रसाद के 'चाणक्य' और प्रेमचन्द्र के 'होरी' में जो जिजीविषा या यथार्थ बोध है, वही और यदि सत्य को कह दिया जाय तो उससे भी कम पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के उद्घोषित संकल्पों में है। वास्तव में मिश्र जी ने छायावाद-रहस्यवाद युगीन काव्य में प्रचलित कायिक तथा मानसिक विलास, कल्पनातिशयता, निरर्थक शब्द-वैभव तथा नारी-विषयक प्रचलित दृष्टिकोण का ही विरोध किया। उनका विरोध काव्य-प्रदेश की उस अप्रतिम सौन्दर्यवती नारी मूर्ति से है, जो अपना रीतिकालीन पूर्वजाओं की भाँति पुरुष की विलास-पुत्तलिका बनी हुई थी और चार हाथ की सेज को जीवन का फल समझने की बेवकूफ़ी किये जा रही थी। मिश्र जी ने अपने समस्या-नाटकों में मुख्यतः मध्यम वर्ग की शिक्षित आधुनिकाओं की समस्याओं के उद्घाटन का प्रयत्न किया है। ऐसे उनके नाटकों में आधुनिक समाज और व्यक्ति की कुछ इतर समस्याओं का भी निरूपण हुआ है किन्तु वे प्रासंगिक रूप में ही आयी हैं, मुख्य बन

१. मुक्ति का रहस्य—मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?—लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ २

२. राक्षस का मन्दिर—मेरा दृष्टिकोण—लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृष्ठ १

कर नहीं। मिश्र जी ने अपने नाटकों की लम्बी भूमिकाओं में अपने को बुद्धिवादी प्रमाणित करने का सायास प्रयत्न किया है। किन्तु व्यंग्य के अभाव तथा सामाजिक विकृतियों के प्रति अहिंसक उदासीनता के कारण उनका बुद्धिवाद शॉ से उधार लिया बन कर रह गया है, उसमें मौलिकता की दीप्ति नहीं आ पायी है। जीवन की गहन समस्याओं में पैठ नहीं होने के कारण उनके समस्या-नाटक स्तरीय हो कर रह गये हैं। उनके समस्या-नाटकों के उत्तरवर्ती नाटक इस बात को सिद्ध करते हैं कि पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र की रचना-प्रक्रिया मूलतः ऐतिहासिक नाटककार की ही है। उनके सम्पूर्ण रचना-प्रवाह को एकत्र लक्ष्य करने पर उनके समस्या-नाटक लहर में टकराते हुए द्वीपों की तरह जान पड़ते हैं।

सेठ गोविन्ददास ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि वे इब्सन के अनुयायी हैं। लेकिन उनकी रचनाओं के परिशीलन से यह धारणा स्थिर होती है कि समस्याओं की तिक्तता में न तो उनकी गति है न वे उसके आस्वाद से ही परिचित है। वे प्रत्येक समस्या के लिये गाँधीवादी विश्वास के अभाव को कारण-रूप स्वीकार करते हैं और उसके समाधान के हेतु गांधीवादी परिणामों की ओर लक्ष्य करते हैं, जैसे गाँधीवादी के धन-ऋण के क्रम में ही सृष्टि में सब कुछ हो रहा है और सृष्टि को सब कुछ होता है। बहुत दूर तक उनकी रचनाओं में एक प्रचारक का जोश भी दिखाई पड़ता है। कदाचित इसीलिए उनके नाटकों का कथानक और शिल्प, प्रभाव के शीर्ष तक पहुँचते-पहुँचते शिथिल हो जाया करते हैं।

भुवनेश्वर ऐसे कृती नाटककार हैं, जिन्होंने अपनी कृतियों में समस्या के वास्तव को प्रकृत रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके नाटकों का सम्पूर्ण आयोजन किसी भी श्रेष्ठ पश्चिमी समस्या-नाटक से सहज ही तुलनीय हो सकता है। भुवनेश्वर दूरदर्शी नाटककार थे, इसीलिए उन्होंने सन् १९३५-३६ में लिखते हुए सन् १९६०-६५ की समस्याओं का सही-सही चित्र अंकित कर लिया था। व्यक्ति के अस्तित्व की समस्या को उन्होंने उतनी ही तीक्ष्णता से अनुभव किया था जितनी तीक्ष्णता के सार्त्र, कामू, कॉलिन विल्सन, ज्याँ जेने जैसे नाटककार और विचारक अनुभव कर रहे थे। सचमुच भुवनेश्वर अपने युग में आने वाले कल के लेखक थे। दुर्भाग्यवश वे अपनी पहचान बताये बिना ही खो गये।

पंडित गणेश प्रसाद द्विवेदी, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री हरिकृष्ण प्रेमी, पं० गोविन्दवल्लभ पंत, डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा, पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी, श्री भगवती चरण वर्मा तथा पं० पृथ्वीनाथ शर्मा प्रयोगधर्मी नाटककार कहे जा सकते हैं। यह सच हैं कि उनके नाटकों में समस्या नाटकों की विलक्षणता को आयत्त करने की भरपूर चेष्टा मिलती है लेकिन यह भी उतना ही सच है कि इनके समक्ष समस्या-नाटक का स्वरूप और अर्थ सही मानी में व्याकृत नही था।

उपेन्द्र नाथ 'अश्क' हिन्दी के सफल समस्या-नाटककार हैं। समस्याओं की गहराई

और उनके प्रत्येक सम्भव नटकोण को अश्क जी ने तीक्ष्णता के साथ जाना पहचाना और प्रस्तुत किया है है। कथ्य और प्रस्तुति का बड़ा ही सानुपात सन्तुलन अश्क की नाट्य-कृतियों में मिलता है। वस्तु, सम्वाद, उद्देश्य और भाषा—सभी दृष्टियों से उनकी कृतियाँ ऐसे समझदार की कृति जान पड़ती हैं, जिसने समस्याओं के तिक्त पक्ष को स्वयमेव भोगा है और उसकी नाटकीयता को नाटकीयता के साथ रचा है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने समस्या-नाटक लिखने की प्रतिज्ञा करके कोई नाटक नहीं लिखा; न उन्होंने यही इच्छा प्रकट की कि उन्हें हिन्दी का 'शॉ' अथवा 'मेटरलिंक' समझा जाए। समस्या-नाटककारों की वर्णिका में प्रायः उनका उल्लेख भी नहीं किया जाता। लेकिन यह भी तो एक खरी सचाई है कि हिन्दी, के नये ढंग के एकांकी नाटकों की सारी इमारत जिन डॉ० वर्मा की बुलन्दी पर खड़ी है, उनके नाटकों का उल्लेख किये बिना हिन्दी के नये नाटकों की कोई पहचान ही नहीं करायी जा सकती। डॉ० वर्मा साफ़-सुथरे शिल्प में नाटकों की रचना करते हैं और रगमंच की प्रयोगशाला में माँज कर उन्हें सफल कृति बना देते हैं। तन्त्र विषयक स्पष्टता उनके नाटको की समस्या-नाटकों के तन्त्र तक उठा ले जाती है। समस्या-नाटकों के कलेवर से अधिकाश को डॉ० वर्मा ने आयत्त किया है। कदाचित इससे अधिक उनका कोई अभिप्रेत भी नहीं था। यह इसलिए भी कि वे हिन्दी नाटकों के निजीपन के आग्रही रहे हैं।

श्री जगदीशचन्द्र माथुर शिल्प-सज्जा तथा अभ्यर्थ-सम्पादन की दृष्टि से आधुनिक नाटककारों में बराबर स्मरण किये जाते रहे हैं। आधुनिक रंगमंच के शास्त्र को उन्होंने सोच-समझ कर विवेचित-विश्लेषित किया है और यथाशक्ति अपनी कृतियों को अनुरूप व्यवस्था दी है। वे न केवल एक सफल नाटककार हैं प्रत्युत् नाट्य-कला के सुधी समीक्षक और प्रचारक-प्रसारक भी हैं। समस्या-नाटकों की रचना-प्रक्रिया को उनके विश्लेषणों से पर्याप्त बल प्राप्त हुआ है। स्वयं माथुर जी अपने नाटकों में गद्यात्मक संवाद तथा अभिनय मुद्राओं के उपयोग के आग्रही रहे हैं।

इस ग्रन्थ में समस्या-नाटकों के शिल्प का यथा-स्थान विश्लेषण किया गया है। जाने-माने नाटककारों की ख्यात नाट्य-कृतियों के प्रमाण पर समस्या-नाटकों के शिल्प का व्याकरण स्थिर किया गया है। इस क्रम में रंग-निर्देश, मंच-विधान आदि के साथ नाटकीय प्रतिपाद्य के अन्तः सम्बन्धों का भी निर्धारण किया गया है। मंच से आगे बढ़कर हिन्दी के समस्या-नाटक अब उस भूमि पर अवस्थित हो गये हैं कि उनके शिल्प की निजता का उद्घोष किया जा सके।

शोध के क्रम में विचार और विवेचन के लिये उन्हीं समस्या-नाटकों को चुना गया, जिनकी रचना १९४७ के पूर्व अर्थात् स्वाधीनता के पूर्व हो चुकी थी। यह इसलिए कि सन् १९४७ के १५ अगस्त की तारीख देश के इतिहास में युगान्तकारी और युगान्तरकारी तिथि सिद्ध हुई है। देश के बन्धन-मोचन की क्रान्ति उसी दिन लब्धि-प्रकर्ष पर पहुँची थी और उसी दिन से इतिहास का एक नया अध्याय भी खुला।

उसी दिन से राष्ट्र ने नये संकल्प, नये दायित्व और नये आयोजन के साथ एक नया मोड़ लिया था। इस ऐतिहासिक क्षण के साथ हमारे परिवेश और सम्बोध में एक निश्चित परिवर्तन हुआ। अतः क्षण के परिवर्तित अर्थ को नयी दृष्टि से ही पकड़ कर विश्लेषण करना सम्भव था यदि इस तिथि के बाद प्रकाशित कृतियों को भी अध्ययन का विषय बनाया गया होता तो नयी प्रतिबद्धता के कारण प्रबन्ध का तारतम्य अस्त-व्यस्त हो जा सकता था।

रेडियो के प्रसार ने आज नाट्य-निर्माण तथा नाट्य-शिल्प के लिए नयी शर्तें प्रस्तुत की हैं। अभिनय-मुद्राओं का स्थान आज ध्वनि-भंगिमाएँ ले रही हैं। सारे सात्विक आहार्य, अंगज अनुभव कंठ की ओर निर्यातित हो गये हैं। अतः नाटक की वस्तु तथा व्यक्ति दोनों के लिए नये प्रतिमानों का निर्धारण हो रहा है। प्रबन्ध के तारतम्य की दृष्टि से इस ध्रुव की ओर स्वागत की ही दृष्टि रखी जा सकती है, विश्लेषण की नहीं।

आकर साहित्य

संस्कृत ग्रंथ

कालिदास — मालविकाग्निमित्र
भास — चारुदत्तम् (टीकाकार : डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित)
डॉ० मोतीचन्द (सं०) — शृंगार-हाट
शूद्रक — मृच्छकटिक

हिन्दी-ग्रंथ

उपेन्द्रनाथ अश्क — अलग-अलग रास्ते
उड़ान
अंजो दीदी
क़ैद
चरवाहे
छठा बेटा
तूफ़ान के पहले
देवताओं की छाया में
पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ
पक्का गाना
स्वर्ग की झलक
उदय शंकर भट्ट — अंधकार और प्रकाश
कमला
विद्रोहिणी अम्बा
समस्या का अंत

डॉ० कामेश्वर शर्मा — यवनिका
कौशल्या अश्क — अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व
कृपानाथ मिश्र — मणि गोस्वामी
गोपाल कृष्ण कौल (सं०) — नाटककार अश्क
गणेश प्रसाद द्विवेदी — सोहाग बिन्दी तथा अन्य नाटक
गोविन्द वल्लभ पंत — अंगूर की बेटी
सुहाग बिन्दी
जयशंकर प्रसाद — एक घूंट, कामना, काव्य-कला और अन्य निबंध
ध्रुवस्वामिनी
विशाख
जमुना दास मेहरा — पाप-परिणाम
जी० पी० श्रीवास्तव — मार-मार कर हकीम
जगदीश चन्द्र माथुर — ओ मेरे सपने ।
कोणार्क
भोर का तारा
डॉ० दशरथ ओझा — हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास
द्विजेन्द्र लाल राय — कालिदास और भवभूति
धनंजय भट्ट 'सरल' (सं०) — भट्ट नाटकावली
डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री (सं०) — साहित्यिक निबंधावली
डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (सं०) — हिन्दी साहित्य कोश
डॉ० नगेन्द्र (सं०) — सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ
डॉ० नगेन्द्र — आधुनिक हिन्दी नाटक
नन्द दुलारे बाजपेयी — आधुनिक साहित्य
नलिन विलोचन शर्मा — मान दंड-१
परमेश्वरी लाल गुप्त — प्रसाद के नाटक
पद्म सिंह 'कमलेश' — मैं इनसे मिला
प्रेमचन्द — गोदान
चिट्ठी-पत्री-२
विविध प्रसंग-३
प्रकाश चन्द्र गुप्त (सं०) — छः एकांकी
पृथ्वीनाथ शर्मा — अपराधी

पृथ्वीनाथ शर्मा	—	साध
बदरीनाथ भट्ट	—	कुरुवन-दहन
		विवाह-विज्ञापन
बैकुंठ नाथ दुग्गल (सं०)	—	आधुनिक एकांकी-संग्रह
ब्रजरत्नदास (सं०)	—	भारतेन्दु-ग्रंथावली (खंड १ और २)
भुवनेश्वर	—	कारवाँ
भगवती प्रसाद बाजपेयी	—	छलना
भगवती चरण वर्मा	—	बुझता दीपक
भगवती शरण उपध्याय (सं०)	—	हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ
मनोरमा शर्मा	—	नाटककार उदयशंकर भट्ट
मिश्र बन्धु	—	नेत्रोन्मीलन
राधाकृष्ण दास	—	दुःखिनी बाला
रामचन्द्र शुक्ल	—	हिन्दी साहित्य का इतिहास
रामचरण महेन्द्र	—	हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास
		सेठ गोविन्द दास : नाट्यकला तथा कृतियाँ
रामनरेश त्रिपाठी	—	दिमाग़ी ऐयाशी
रामदीन पांडेय	—	जीवन-ज्योति
रामकुमार वर्मा	—	एकांकी कला
		ऋतुराज
		चारुमित्रा
		पृथ्वीराज की आँखें
		पांचजन्य
		रम्यरास
		रेशमी टाई
लक्ष्मी नारायण मिश्र	—	आधी रात
		मुक्ति का रहस्य
		राजयोग
		राक्षस का मन्दिर
		वत्सराज
		सिन्दूर की होली
		संन्यासी
वृन्दावन लाल वर्मा	—	खिलौने की खोज
		धीरे-धीरे

वृन्दावन लाल वर्मा — बाँस की फाँस
डॉ० श्याम सुन्दर दास — भारतेन्दु नाटकावली (भाग प्रथम और द्वितीय)
शिवदान सिंह चौहान (सं०) — युगछाया
डॉ० श्री कृष्ण लाल — आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
डॉ० श्रीपति शर्मा — हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव
सेठ गोविन्द दास — अष्टदल
आत्म-निरीक्षण (प्रथम, द्वितीय, तृतीय और दशम भाग)
एकादशी
कुलीनता
ग़रीबी या अमीरी
तीन नाटक
बड़ा पापी कौन ?
महत्व किसे ?
सिद्धान्त स्वातंत्र्य
संतोष कहाँ ?
सुख किसमें ?
स्पर्द्धा
सप्तरश्मि
हिंसा या अहिंसा
डॉ० सोमनाथ — हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास
डॉ० हरदेव बहरी सं० — श्रेष्ठ एकांकी-संग्रह
हसरत — गंगावतरण
हरिकृष्ण प्रेमी — उद्धार
छाया
प्रकाश-स्तम्भ
रक्षा-बंधन
विष-पान
शिवा-साधना
स्वप्न-भंग

पत्रिकाएँ

आलोचना—नाटक विशेषांक
क ख ग—अक्टूबर १६६४
नटरंग—वर्ष १ : अंक ४
माध्यम—वर्ष २ : अंक १०
साहित्य संदेश—जुलाई-अगस्त १६५६
समालोचक—सितम्बर १६५६

अंग्रेज़ी ग्रंथ

A. B. Keith —The Sanskrit Drama.
C. E. Baugham —Types of Tragic Drama.
Eric Bentley —What is Theatre ?
G. S. Fraser —The Modern Writer and His World.
G. T. Deshpande —Indian Drama.
George Bernard Shaw —Cymbeline
Mrs. Warren's Profession.
On the Rocks.
Pygmalion.
Plays Unpleasant.
H. K. Jones —A Renaissance of the English Drama.
Harold Habson —Working at Midnight.
J. C. Mathur —Hindi Drama and Theatre.
L. Cazamian —A History of English Literature.
Lawrence —Shakespeare's Problem Comedies.
Publications Division —Indian Drama.
Ramden Balmford —The Problem Play and Its Influence on Modern Life and Thought.
Reachel Crowther —The Construction of a Play.
Roser M. Bushfield —The Playwrite's Art.
R. C. Gupta —The Problem Play.
S. Winston —The Wit and Wisdom of Bernard Shaw.

शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
अनुक्रम (द्वितीय अध्याय) —		समसायिक	समसामयिक
निवेदन—१	९	रहता	रखता
३	७	संकार	संस्कार
२०	३३	उनका	इनका
२२	पादटिप्पणी	darma	drama
२३	११	उसे	इसे
२७	१६	रस	इस
३२	१६	राज्यलक्ष्मी	राजलक्ष्मी
३५	७	महौषधिसे	महौषधिके
३७	१४	आपति	आपत्ति
३८	२६	मंडलयों	मंडलियों
४७	५	बाभ्क	बोभ्क
४८	८	हव	वह
४८	१५	भारतसन्तानक	भारतसन्तानकी
५०	१८	अंग्रेज़ों से साथ	अंग्रेज़ों के साथ
५१	११	इस देश का अंग्रेज	अंग्रेज इस देश का
५२	पादटिप्पणी १	वही	भारतेन्दु ग्रंथावली—ब्रजरत्नदास
५६	१६	सबै	सजै
६३	२१	टट्टू	टट्टू
६४	२७	नहीदृश	नहिदृश
६४	३०	ग्रीषण	ग्रीषम
६६	१३	इनको कला	इनकी कला
६७	८	रंगमंच का	रंगमंच को
६७	१०	जैसे	ऐसे
७१	२	तात्कालीन	तत्कालीन
७१	२१	नानाविधि	नानाविध
९१	८ और ११	व्यवहारिक	व्यावहारिक

९३	४	उसके राजा	उसके लिए राजा
९८	३	के पस्पक्ष	की भूमिका
१०१	८	अवभय स्नान	अवभृथ स्नान
१०३	३४	निर्बल के राम	निर्बल के बल राम
१०४	२६	भारतीयों को	भारतीयों की
१०५	१६	मरोर	मरोड़
१०६	२२	भारतीयी करण	भारतीय करण
१०७	१६	उमरे	उमड़े
११२	२१	पलापन	पलायन
११४	१९	विचार	विचारों
११५	पा० टि०	बॉफ इंगलिश	ऑफ द इंगलिश
११६	६	उत्तेजना	उत्तोदना
११६	११	समस्यानाटकारों	समस्यानाटककारों
११८	२२	दबाने को	दबाने की
११९	२३	प्रकार को	प्रकार की
१२१	५	पलेविन	प्लेविन
१२३	२९	शल्प	शिल्प
१२४	३४	प्रज्ञ-प्रेक्षक-समान	प्रज्ञ-प्रेक्षक-समाज
१२६	२८	उन्यज्जित	उन्मज्जित
१३०	११	कटुक्तियों	कटूक्तियों
१३७	९	मैं	में
१४२	७	उसका	उसकी
१४२	२६	किये हुए	किये हुई
१५५	पा० टि० ३	मेरी	मेरा
१५८	पा० टि० ३-४	दृष्टिकोरा	दृष्टिकोण
१६६	१०	को कथा	की कथा
१६८	पा० टि० २	लट	लूट
१७२	३०	मनुषत्व	मनुष्यत्व
१७७	९	व्यंग	व्यंग्य
	१३	उभार कर	उभर कर
१८४	१८	उसेनी	उसने
	१९	नह	नहीं

२०७	३२	श्रादशों	श्रादर्शों
२०८	,,	पैसों से	पैसों के
२१३	२५	पर	(हटा दें)
२१५	१०	न की	न कि
२१७	२६	से निधन	के निधन
२२४	३३	पाता	जाता
२३०	१६	मिनिस्टरों को	मिनिस्टरों की
२३६	६	चुनाव-श्रायोग से	चुनाव-श्रायोग ने
२३७	६	निष्कलषता	निष्कलुषता
२४४	१८	सकता	सकती।
	३०	कान-सा	कौन-सा
२४५	२२	घुस आगे	घुस आये
२४६	१६	नाटफ	नाटक
	२९	करने बाद	करने के बाद
२५३	५	घाहता	चाहता
	८	वमूलते	वसूलते
२५४	१५	ठना	बैठना
२५५	९	मज	मज़े
२५६	१	ऐसे पद्धति	ऐसी पद्धति
	३१	पूर्वार्द्ध के	पूर्वार्द्ध की
	पा० टि० १	खाश्र	खाश्रो
२६१	५	यहा कि	कहा कि
	१७	उर्पाजित	उपार्जित
२६२	१८	श्रयण	श्रवण
२७०	१०	रघु की	रघु
२८९	११	अधिकारों की	अधिकारों को
३०३	२४	होता कि	होता है कि
३०६	२०	श्रालिननबद्ध	श्रालिगन बद्ध
३०९	१	क्या जिसने	क्या है जिसने
	२९	कथा स्पष्ट	कथा से स्पष्ट
३१५	२३	संग्रहीत	संगृहीत
	२७	ऐसे जिनका	ऐसे हैं जिनका

३१७	२३	जीवन के	जीवन की
३५१	२०	अनुस्थून	अनुस्यूत
३५६	२६	चोथते	चांपते
३६४	१८	कुता	कुत्ता
३६५	१	स्थर	स्वर
	७	पुराई	पुरानी
३६७	५	उज्जवल	उज्ज्वल
४०५	२३	जेल जाते	जेल जाते हैं
४१४	१३	के दिमा	के दिमाग
४२३	१७	दीखता	दीखता है
	२४	पमर	परम
	२६	की शिकार	का शिकार
४२६	२६	नह	नहीं
४३४	५	प्रस्तुत को	को प्रस्तुत
४४६	६	मूर्ष	मूर्त्त
४५७	४	पुराने आदर्श	आदर्श पुराने
	५	वैयक्तिता	वैयक्तिकता
४५८	४	उत्तरदयित्व	उत्तरदायित्व
४६०	३	अपनी	अपने
	५	पुरष	पुरुष
४६२	५	होती	होती ही
	२४	मृग-मरीचिक	मृग-मरीचिका
४७५	२४	चहनी	चाहता
४८२	५	प्रकाश	प्रकाशक
	६	वह वह जल्दी	वह जल्दी
४८६	२७	इधर	उधर
	२६	च्चे	बच्चे
	३०	इनके	जिनके
	३०	इन्हें	उन्हें
४६१	२२	कैरिकेचर की	कैरिकेचर को
५०३	२	शिप्रता	क्षिप्रता
५०६	१६	यह है	यह है कि

५१३	६-७	अन्तंद्वन्द्व	अन्तर्द्वन्द्व
	३१	मोचन	गोपन
५१४	३३	साथ के	समय के
५१५	७	नाटककार की	नाटककार के
५२०	१५	मुक्त	युक्त
५२३	६	करते	करते हैं
	पा० टि० २	राइटर्स एंड देयर वर्क	राइटर एंड हिज वर्क
५२५	१२	हृदय-विधान	दृश्य-विधान
	१६	मात्रानुकूल	पात्रानुकूल
	२२	यहाँ	जहाँ
५२६	१८	अभाव	निरास
	२०	किसी का	किसी के
५२७	१५	यथाशपथ	यथाशक्य
	१६	नृत	नृत्त
	२५	नृत	नृत्त
५२८	११	पात्रों ने	पात्रों के
	१२	निराश	निरास
	१४	बहिष्कारों	बहिष्कार
	३२	में तरल	में कम तरल
५३०	३	सर्वभौम	सार्वभौम
	१६	उस केबिन तक	इस केबिन से उस केबिन तक
५३३	११	प्रभावित	प्रमाणित
	१२	विस्तारपूरर्वक	विस्तारपूर्वक
	२२	विकृत	विवृत्त
	२५	अधिमत	अभिमत
५३४	८	स्थितियों निरूपण	स्थितियों का निरूपण
५३५	२०	एकांकी	एकाकी
५३६	५	उनके	उसके
	१२	अपनी अभिव्यक्ति के लिए	अपने अभीप्सित की अभिव्यक्ति के लिए
	१३	लगता	लगा

		अवनिका	जवनिका
	१६	मे देते है	देते हैं
	२१	लग	लगे
५३७	८	बहिष्कार	निराग
	३१	नाच	वाद्य
५४४	५	हो सका	हो सकी
	७	हिन्दी के	हिन्दी
	३०	निम्न	भिन्न
५४५	१५	मिश्रजी	मिश्रजी के
५४६	३१	विलक्षणाना	विचक्षणता
५४७	२	किया है है।	किया है।
	१४	कलेवर से	कलेवर के
	२७	उस	इस
		अवस्थित	अवस्थित-से
		उनके	इसके
५५२		हरदेव बहरी	हरदेव बाहरी
५५४		Harold Habson	Harold Hobson
		The Playwrite's	The Playwright